

कृष्णादास संस्कृत सीरीज २०२

मनुस्मृतिः

‘मेधातिथि’ भाष्य, ‘सविमर्श’ ‘मणिप्रभा’ हिन्दीटीकासहिता

हिन्दी टीकाकार

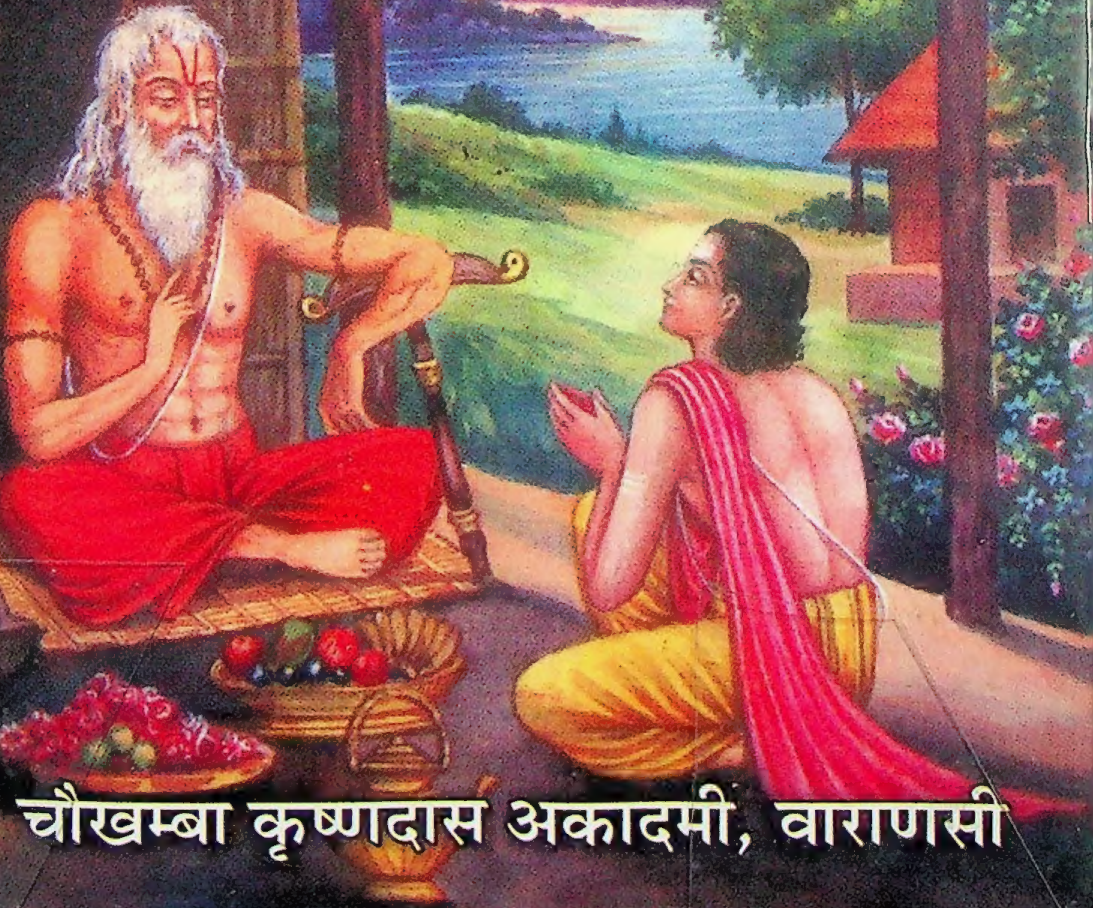
पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

शुभाशंसा लेखक

प्रो. श्रीनारायण मिश्र

सम्पादक

कैशव किशोर कश्यप



चौखम्बा कृष्णादास अकादमी, वाराणसी





कृष्णदास संस्कृत सीरीज

२०२

मनुस्मृतिः

‘मेधातिथि’ भाष्य, सविमर्श ‘मणिप्रभा’ हिन्दीटीकासहिता

द्वितीयो भागः

(अध्यायः ७-१२)

हिन्दी टीकाकार

पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

सम्पादक

केशव किशोर कश्यप

संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शुभाशंसालेखक

प्रो० श्रीनारायण मिश्र

पूर्व सङ्काय-प्रमुख

कला-सङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि०सं० २०६३, सन् २००७ ई०

ISBN : 81-218-0220-2 (द्वितीयो भागः)

81-218-0221-0 (सेट)

© चौखम्बा कृष्णदास अकादमी

पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक

पोस्ट बाक्स नं. १११८

के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

निकट गोलघर (मैदागिन)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : (०५४२)२३३५०२०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

गोलघर (मैदागिन) के पास

(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)

पोस्ट बाक्स नं. १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : २३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२ एवं २३३५०२० (आवास)

Fax : 0542-2333458

e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Web-site : www.chowkhambaseries.com

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

202

MANUSMṚTI

With 'Medhātithi' Sanskrit, & 'Maṇiprabhbā' Hindi Commentaries

Volume. II
(Chapters 7-12)

Hindi Commentary By
Pt. Sri Hargovind Shastri

Edited By
Keshav Kishor Kashyap
Department of Sanskrit
Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Foreworded By
Prof. Srinarayan Mishra
Ex-Dean
Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi



CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

ISBN : 81-218-0220-2 (Vol. II)
81-218-0221-0 (Set)

© CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Varanasi - 221001
(INDIA)
Phone : (0542) 2335020

Can be had also from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
P. Box 1008, Varanasi-221001 (INDIA)
Phone { Off. : 2333458,
Resi. : 2334032 & 2335020

Fax : 0542-2333458

e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Web-site : www.chowkhambaseries.com

विषयानुक्रमणिका

॥ ॥ ॥ ॥ ॥

(सप्तम से द्वादश अध्याय पर्यन्त)

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
सप्तम अध्याय		विनयी होना	१८
राजधर्म का कथन	१	अविनय-निन्दा तथा विनय-प्रशंसा	१८
कृतसंस्कार राजा का प्रजारक्षण	१	अविनय से नष्ट होने का दृष्टान्त	१८
इन्द्रादि के अंश से राजा की सृष्टि	३	विनय से समृद्धिमान् होने का दृष्टान्त	१९
राजा की प्रशंसा	३	विद्याग्रहण	१९
राजापमान का निषेध	४	इन्द्रियजय	२१
प्रायोजनानुसार राजा की विविधरूपता	४	क्रोधजन्य व्यसनों का त्याग	२१
राजद्वेष का कुपरिणाम	५	व्यसनों में आसक्ति से हानि	२१
राजकृत नियम का उल्लंघन	६	कामजन्य दश व्यसनों के नाम	२२
दण्ड की सृष्टि	६	क्रोधजन्य आठ व्यसनों के नाम	२२
दण्डभय से स्व-स्वभोगप्राप्ति	७	लोभ का त्याग	२३
अन्यायियों को दण्ड देना	७	अतिकष्टदायक व्यसन	२३
दण्ड की प्रशंसा	८	उक्त सात व्यसनों में पूर्व-पूर्व	
उचित दण्ड से प्रजानुरञ्जन	९	का अतिकष्टदायकत्व	२४
दण्ड न देने से अव्यवस्था	९	मृत्यु से भी व्यसन का अधिक	
दण्ड की पुनः प्रशंसा	१०	कष्टदायकत्व	२५
दण्डप्रयोक्ता स्वरूप	१२	मन्त्रियों की नियुक्ति	२६
अनुचित दण्ड प्रयोग से हानि	१३	मन्त्रियों को नियुक्त करने में कारण	२७
दण्डप्रयोग के अयोग्य व्यक्ति	१४	सन्धि विग्रहादि-विचार	२८
दण्डप्रयोग के योग्य व्यक्ति	१४	अपने हितकर कार्य का अनुष्ठान	२९
दण्डप्रयोग का प्रकार	१५	ब्राह्मण मन्त्री	२९
न्यायी राजा की प्रशंसा	१५	अन्य मंत्रियों की नियुक्ति	३०
अन्यायी राजा की निन्दा	१६	कोश तथा रनिवास के कार्य करनेवाले	३०
वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा	१७	दूत की नियुक्ति	३१

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
श्रेष्ठ राजदूत का लक्षण	३१	सैनिक अभ्यास आदि की	
सेनापति आदि के कार्य	३३	नित्यकर्तव्यता	५१
दूतप्रशंसा	३३	सर्वदा दण्डयुक्त रहना	५२
दूत के अन्य कार्य	३४	कपट का त्याग	५२
राजा के निवास योग्य देश	३४	प्रकृति-भेद आदि को गुप्त रखना	५३
राजा के निवास योग्य दुर्गों के नाम	३५	पूर्णतः विश्वास न करना	५३
गिरिदुर्ग की श्रेष्ठता	३६	बगुले आदि के समान अर्थचिन्तनादि	५३
उक्त दुर्गों के निवासी जीव	३६	विजय में बाधक वशीकरण	५४
दुर्ग की प्रशंसा	३६	सामादि की असफलता में	
दुर्ग को अस्त्र-शस्त्रयुक्त बनाना	३७	दण्डप्रयोग	५५
दुर्ग के बीच में राजभवन-निर्माण	३८	साम एवं दण्ड की प्रशंसा	५५
सवर्णों के साथ में विवाह	३८	राज्यरक्षा	५५
पुरोहित आदि का वरण	३९	प्रजापीडन से राज्यभ्रंशादि	५६
यज्ञ करना	३९	राज्यरक्षा से सुख-समृद्धि	५६
कर-ग्रहण	३९	ग्रामपति आदि की नियुक्ति	५६
अध्यक्षों की नियुक्ति	४०	ग्राम के दोष को बड़े अधिकारी	
ब्राह्मणों की वृत्तिदान	४०	से कहना	५७
ब्राह्मणों को वृत्तिदान की प्रशंसा	४१	ग्रामकार्यों का अन्य राजमन्त्री	
वेदपारग ब्राह्मण को देने का		द्वारा निरीक्षण	५८
अनन्त फल	४१	प्रतिनगर में उच्चपदाधिकारियों	
सत्पात्र में दान की प्रशंसा	४३	को नियुक्त करना	५९
युद्ध से विमुख होने का निषेध	४४	उक्त उच्चाधिकारी का कार्य	५९
राजा का श्रेष्ठ धर्म	४४	घूसखोरों से प्रजा की रक्षा	५९
युद्ध में विमुख न होने से स्वर्ग-		घूसखोरों की सम्पत्ति का हरण	
प्राप्ति	४४	और राज्यबहिष्कार	६०
कूट शस्त्रादि के प्रहार का निषेध	४६	दास-दासियों का वेतन एवं स्थान	६०
युद्ध में मारने के अयोग्य शत्रु	४६	उक्त वेतन का प्रमाण	६०
युद्ध से विमुख होने की निन्दा	४८	व्यापारियों का कर	६१
युद्धविजयी योद्धा को प्राप्त जीता		थोड़ा-थोड़ा कर लेने में दृष्टान्त	६१
गया धन	४९	पशु, सुवर्ण तथा धान्य	
राजा का सामान्यतः कर्तव्य	५०	का ग्राह्य कर	६२
अप्राप्त को प्राप्त करने की		वृक्ष, मांस आदि का ग्राह्यकर	६२
इच्छा आदि	५१	श्रोत्रियो से ग्रहण का निषेध	६३

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
श्रोत्रिय के क्षुधापीड़ित होने से राज्य में पीडा	६३	सन्धि के २ भेद	७८
श्रोत्रिय के लिए वृत्ति-कल्पना	६३	विग्रह के २ भेद	७८
श्रोत्रिय-रक्षा से राजा की आयु		यान के २ भेद	७९
आदि की वृद्धि	६३	आसन के २ भेद	७९
शाक आदि के विक्रेताओं से		द्वैध के २ भेद	८०
स्वल्पतम कर	६४	संश्रय के २ भेद	८०
शिल्पी आदि से कार्य करवाना	६४	सन्धि-विग्रह आदि के योग्य समय	८१
कर त्याग तथा अधिक कर		बलवान् का संश्रय	८३
लेने का निषेध	६४	मित्र, उदासीन आदि बढ़ाने का निषेध	८३
कार्यानुसार तीक्ष्ण या मृदु होना	६५	भावी आदि के गुण-दोष का चिन्तन	८४
श्रान्त होने पर प्रधानमन्त्री		राजनीति का सामान्य लक्षण	८५
की नियुक्ति	६५	शत्रु पर अभियान की विधि	८५
चोर आदि से प्रजाओं की रक्षा	६६	उक्त समय से भिन्न काल में	
प्रजापालन की श्रेष्ठता	६६	भी अभियान	८६
मन्त्रणा का समय	६६	शत्रु-सेवी मित्रादि से सावधानी रखना	८८
मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा	६७	व्यूह-रचना	८८
एकान्त में गुप्त मन्त्रणा	६७	समतल आदि भूमि में युद्धप्रकार	९२
मन्त्रगुप्ति का उत्तम फल	६८	व्यूह के आगे रखने योग्य सैनिक	९२
मन्त्र समय में जड़, मूकादि		सैनिकों का उत्साहवर्द्धन	
को हटाना	६८	तथा परीक्षण	९३
जड़ादि से मंत्र भेद की शङ्का	६८	परराष्ट्र पीडन	९३
धर्मार्थकाम का चिन्तन	६९	तडागादि का भेदन	९४
दूत भेजने आदि का चिन्तन	६९	शत्रु की प्रकृतियाँ के भेदन	९४
अष्टविध कर्मादि का चिन्तन	७०	सामादि तीन उपायों से विजयप्रयत्न	९५
मध्यमादि राजाओं के प्रचार		उपायत्रय के अभाव में युद्ध	९५
का चिन्तन	७४	विजय लाभ के बाद का कर्तव्य	९६
राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ	७५	शत्रु के वंशज को राज्यदान तथा	
राजमण्डल की ७२ प्रकृतियाँ	७५	समयक्रिया	९६
अरि आदि के लक्षण	७५	धार्मिक कार्यों को पूर्ववत्	
सामादि से वशीकरण	७६	चलाना आदि	९७
षड्गुणों का चिन्तन	७६	करग्रहण कर सन्धि करना	१०१
सन्ध्यादि के २-२ भेद	७७	पार्ष्णिग्रहादि का विचारकर	
		युद्ध यात्रा	१०१

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
मित्र-प्रशंसा	१०१	ब्राह्मणादि-क्रम से व्यवहार-दर्शन	१२५
श्रेष्ठ मित्र के गुण	१०२	स्वर, वर्ण आदि से अन्तश्चेष्टाज्ञान	१२५
शत्रु के गुण	१०२	उक्त विषय में कारण कथन	१२६
उदासीन के गुण	१०२	नाबालिग तथा वन्ध्या स्त्री आदि	
आत्मरक्षार्थ भूमि आदि का त्याग	१०२	के धन की राजा द्वारा रक्षा	१२६
आपत्तियों में उपयोग का प्रयोग	१०३	जीवित स्त्रियों का धन लेनेवाले	
राजा का भोजन-काल	१०४	का शासन	१२९
अन्नादि भोज्य पदार्थों की परीक्षा	१०६	अस्वामिक धन की रक्षा का समय	१२९
रानियों के साथ विहार	१०६	अस्वामिक धन का परिचय-	
सैनिकादि का निरीक्षण	१०७	पूर्वक लेना	१३०
गुप्तचरों की बातों को सुनना आदि	१०७	अस्वामिक धन के लिए असत्य	
वाद्यश्रवण, भोजन एवं शयन	१०८	बोलने पर दण्ड	१३१
मुख्य मन्त्री से राजकार्य कराना	१०८	अस्वामिक धन से ग्राह्य राजकर	१३१
		चौरों को दण्ड	१३२
अष्टम अध्याय		चोरी किये गये धन में से	
व्यवहारदर्शनेच्छु राजा का		ग्राह्य राजभाग	१३२
न्यायालय में जाना	१०९	परधन को अपना कहनेवाले को	
कुल—देशानुसार कार्यदर्शन	११२	दण्ड	१३३
राजा के अभाव में ब्राह्मण द्वारा		विद्वान् ब्राह्मण सम्पूर्ण धन	
व्यवहार निर्णय	११८	का अधिकारी	१३३
तीन सदस्यों के साथ न्याय करना	११८	भूगर्भ से प्राप्त धन का अधिकारी	१३४
सभा-लक्षण	११९	चुराये गये धन का वितरण	१३५
अधर्म होने पर सदस्यों के दोष	११९	जाति-देशादि के अनुसार व्यवस्था	१३५
सभा में सत्यभाषण करना	११९	राजा को विवाद खड़ा करने	
असत्य बोलनेवाले को		का निषेध	१३७
दण्डित करना	१२०	अनुमान से विवाद-निर्णय	१३८
धर्मरक्षा करना	१२०	सत्यादि से व्यवहार-दर्शन	१३८
व्यवहार ठीक न देखने से अधर्म	१२२	सदाचार-पालन	१३९
अधर्मी को दण्डित करने पर	१२२	ऋण ग्रहण करने पर	१४०
व्यवहार देखने में शूद्र का निषेध	१२३	ऋण प्राप्त करने के उपाय	१४१
शूद्र के धर्मप्रवक्ता होने से राष्ट्रसंकट	१२४	बल से धन वसूल करनेवाले-	
लोकपालों को प्रणाम कर		ऋणदाता को अनिषेध	१४१
व्यवहार आरम्भ	१२४	ऋण लेकर अपलाप करने पर	१४३

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
ऋण लेकर अपलाप करने पर	१४३	ब्राह्मणादि साक्षी से प्रश्नविधि	१६५
ऋणदत्त धन का अधिकारी		असत्य गवाही देने से दोष	१६६
होने के कारण	१४४	सत्य की प्रशंसा	१६६
वादी को दण्डादि	१४८	असत्य की निन्दा	१६७
असत्य धनपरिमाण बतलाने		पुनः सत्य की प्रशंसा	१६८
पर दण्ड	१४९	विषयभेद से सत्य का फल	१६८
साक्षी-संख्या	१५०	निन्दित ब्राह्मण से शूद्रवत् प्रश्न	१७२
साक्षि-कथन	१५०	धर्मबुद्धि से असत्य साक्षि के	
साक्षी के योग्य व्यक्ति	१५०	दोषाभाव	१७३
साक्षी के अयोग्य व्यक्ति	१५२	उक्त असत्य बोलने पर प्रायश्चित्त	१७७
स्त्री आदि के मुकदमे में स्त्री		तीन पक्ष तक साक्षी के साक्ष्य	
आदि को साक्षी बनाना	१५५	नहीं देने पर पराजय	१७९
धन-ग्रहणादि से भिन्न व्यवहारों		साक्षी के यहाँ आपत्ति आने पर	१८०
में साक्षी	१५५	साक्षी के अभाव में शपथ से निर्णय	१८०
अभाव में बालक आदि को		शपथ द्वारा निर्णय करने में	
साक्षी बनाना	१५६	सहेतुक दृष्टान्त	१८१
साहसादि कार्यों में साक्षिपरीक्षा		असत्य शपथ में द्वेष	१८१
का निषेध	१५७	असत्य शपथ का प्रतिप्रसव	१८२
साक्षियों के परस्पर विरुद्ध		ब्राह्मणादि से सत्यादि का शपथ	१८३
कहने पर कर्तव्य	१५८	कार्यपेक्षा से शूद्रादि से शपथ	१८३
साक्षी को सत्यभाषण करना	१५८	शपथ में शुद्धि का ज्ञान	१८४
असत्य साक्षित्व में दोष	१५९	उक्त विषय में प्राचीन दृष्टान्त	१८४
श्रुतसाक्षी	१५९	असत्य प्रतीत होने पर पुनर्विचार	१८५
निलोभ साक्षी की श्रेष्ठता	१६०	लोभादि से साक्ष्य की असत्यता	१८६
साक्षी के स्वाभाविक वचन		लोभादि से साक्ष्य देने पर	
की प्रमाणिकता	१६१	दण्ड विशेष	१८६
साक्षी से प्रश्न करने की विधि	१६१	बार-बार असत्य गवाही देने	
साक्षियों को सत्य बोलना	१६२	पर दण्ड	१८७
सत्य की श्रेष्ठता	१६३	दण्ड के दश स्थान	१८८
साक्षिरूप स्वात्मा के अपमान		दश दण्ड-स्थानों के नाम	१८८
का निषेध	१६४	अपराधादि के अनुसार दण्डविधान	१८९

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
धर्मविरुद्ध दण्ड की निन्दा	१८९	बलात्कार से किये गये	
अदण्ड्यके दण्ड तथा दण्ड्य के		की अमान्यता	२२४
त्याग से हानि	१९०	प्रातिभाव्यादि का निषेध	२२४
वाग्दण्ड, धिग्दण्डादि	१९०	अग्राह्य धन लेने का निषेध	२२५
त्रसरेणु आदि का परिमाण (तौल)	१९१	अग्राह्य अर्थ के लेने आदि में दोष	२२५
प्रथम आदि साहस का प्रमाण	१९४	ग्राह्य धन लेने आदि से लाभ	२२६
ऋण लेने पर दण्डनियम	१९४	समानभाव से शासन	२२६
सूद (व्याज) का प्रमाण	१९४	अधर्मपूर्वक शासन से हानि	२२७
वर्ण के अनुसार सूद लेना	१९५	धर्मपूर्वक शासन से लाभ	२२७
रेहन रखने पर सूद लेने का निषेध	१९६	स्वेच्छा से धन लेने पर दण्ड	२२७
गोप्य बन्धक के भोग का निषेध	१९७	धनाभाव होने पर काम से ऋणपूर्ति	२२८
बन्धक तथा मंगनी में ली गई		धरोहर रखना	२२९
वस्तु का परावर्तन	१९८	लेने के प्रकार से धरोहर वापस देना	२२९
गौ आदि के भोगने पर भी		साक्षी के अभाव में धरोहर	
अधिकार का निषेध	१९९	का निर्णय	२३०
दश वर्ष भोगने पर स्वामीत्वनाश	२००	पुत्रादि को धरोहर देने का निषेध	२३२
उक्त वचन का अपवाद	२०४	धरोहर स्वयं लौटाने पर राजादि	
तीन पीढ़ियों तक बन्धक के		का कर्तव्य	२३३
भोगने पर	२०५	मुहरबन्द धरोहर देने पर	२३४
बन्धक भोगने पर आधा सूद	२०५	धरोहर के चोरी आदि होने पर	२३४
दुगुने से अधिक सूद का निषेध	२०६	धरोहर नहीं वापस करने आदि	
सूद का प्रकार	२०९	पर सामादि से निर्णय तथा दण्ड	२३५
कागज (हैण्डनोट आदि) बदलना	२११	छल से दूसरे का धन हरण करने	
स्थान तथा समय का भाड़ा	२११	पर दण्ड	२३६
दर्शक प्रतिभू रहने पर	२१४	उक्त धरोहर के विषय में असत्य	
प्रतिभू आदि का ऋण पुत्र न देवे	२१५	बोलने पर दण्ड	२३७
ऋण देना स्वीकार कर प्रतिभू		धरोहर देने तथा वापस करने का	
होने पर	२१६	प्रकार	२३७
निर्दिष्ट प्रतिभू के मरने पर	२१७	बिना स्वामित्व के बेचने पर दण्ड	२३८
मत्त आदि के ऋण की अदेयता	२१८	आगमसहित भोग की प्रमाणता	२४०
कुटुम्बार्थ गृहीत ऋण की देयता	२२२	सर्वप्रत्यक्ष खरीदने पर मूल प्राप्ति	२४०

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
मिलावटी वस्तु बेचने पर दण्ड	२४१	भेड़-बकरी के भेड़िया द्वारा	
दूसरी कन्या को दिखाकर		अपहरण करने पर	२६०
उससे भिन्न दूसरी के साथ		ग्रामादि के पास त्याज्य गोचर	
विवाह कराने पर	२४२	भूमि का प्रमाण	२६१
पगली आदि कन्या के साथ		उक्त गोचर भूमि में फसल नष्ट	
विवाह कराने पर	२४२	करने पर	२६१
पुरोहित की दक्षिणा देने में	२४३	अन्य खेत में पशु के चरने पर	
दक्षिणा देने के बाद काम छोड़ने पर	२४३	दण्ड विधान	२६२
अध्वर्यु आदि की दक्षिणा	२४४	साँड़ आदि के चरने पर दण्डाभाव	२६३
सम्मिलित कार्य करने पर	२४६	राजदेय भाग की हानि करने पर	२६४
दानद्रव्य को लौटाने का नियम	२४७	सीमा का विवाद होने पर	२६५
उक्त नियमानुसार वापस नहीं देने		गुप्त वस्तुओं को सीमा	
पर दण्ड	२४७	पार रखना	२६६
स्वस्थ कर्मचारी को काम नहीं		उपभोग के द्वारा सीमा निर्णय	२६७
करने पर दण्ड	२४८	सीमा के साक्षियों की प्रामाण्यता	२६८
समय (शर्त) भंग करने पर दण्ड	२५०	सीमा के साक्षियों के कथन को	
क्रय-विक्रय करने पर मूल्य वापस		लिखना	२६९
लेना या देना	२५२	सीमा के साक्षियों से शपथ कराना	२६९
बिना कहे दोषयुक्त कन्या का दान		असत्य कहने पर दण्ड	२६९
करने पर दण्ड	२५३	उक्त साक्षी के अभाव में कर्तव्य	२७०
कन्या के असत्य दोष कहने		उन वनेचरों के नाम	२७०
पर दण्ड	२५३	एकग्रामवासियों में सीमा-विवाद	
दोषयुक्त कन्या की निन्दा	२५४	होने पर	२७१
सप्तपदी	२५५	असत्य वक्ता ग्राम-सामन्तों को दण्ड	२७२
पशु के स्वामी तथा रक्षक		बल से गृहादि के स्वाधीन करने	
का विवाद	२५६	पर दण्ड	२७२
दुग्ध वेतन का निर्णय	२५७	सबके अभाव में राजा द्वारा	
पशु के नष्ट होने पर दण्ड	२५८	सीमा निर्णय	२७२
पशु का अपहरण होने पर	२५९	कटु वचन कहने पर दण्ड	२७३
स्वयं मरे पशु के कान		ब्राह्मण से कटु वचन कहने	
आदि दिखाना	२५९	पर दण्ड	२७३

विषय	पृ० सं०
क्षत्रियादि से कटु वचन कहने पर ब्राह्मण को दण्ड	२७४
समवर्ण वालों से कटु वचन कहने पर दण्ड	२७४
द्विज को कटु वचन कहनेवाले शूद्र को दण्ड	२७५
नाम तथा जाति कहकर कटु वचन कहनेवाले शूद्र को दण्ड	२७६
अभिमान से धर्मोपदेश करनेवाले शूद्र को दण्ड	२७६
शास्त्र, देशादि की निन्दा करने पर दण्ड	२७६
काना, लँगड़ा आदि कटु वचन कहने पर दण्ड	२७७
माता आदि की निन्दा करनेवाले को दण्ड	२७७
ब्राह्मण-क्षत्रियों के परस्पर उक्ता-क्रोश करने पर दण्ड	२७८
वैश्य-शूद्रों के परस्पर उक्ताक्रोश करने पर दण्ड	२७८
दण्डपारुष्य का निर्णय	२७९
द्विज को मारनेवाले शूद्र के लिए दंड	२८०
ब्राह्मण के साथ एकासन पर बैठने पर शूद्र को दंड	२८०
थूक आदि से ब्राह्मण का अपमान करनेवाले शूद्र को दंड	२८१
चर्मभेदनादि में दंड-विधान	२८२
वृक्ष आदि के काटने पर दंड-विधान	२८२
पीडानुसार दण्ड-व्यवस्था	२८३
आहत के स्वस्थ होने तक का व्यय दिलवाना	२८३

विषय	पृ० सं०
वस्तु के नष्ट करने पर दण्ड विधान	२८४
चर्मादिनिर्मित पदार्थादि को नष्ट करने पर दण्डविधान	२८४
रथादि के नष्ट होने पर दण्डाभाव	२८५
सारथि की मूर्खता से किसी के मरने पर स्वामी को दण्ड	२८६
सारथि के चतुर होने आदि अवस्था में दण्डविधान	२८६
अन्यान्य अवस्थाओं में दण्डविधान	२८७
शिक्षार्थ स्त्री-पुत्रादि के लिए दण्ड	२८९
चोर के लिए दण्डविधान	२९०
चोरनिग्रह राजकर्तव्य	२९०
चोर से अभय करने का फल	२९०
राजा को धर्माधर्म के षष्ठांश की प्राप्ति	२९१
अरक्षक करग्रहीता की निन्दा	२९२
अधार्मिक का तीन प्रकार से निग्रह	२९३
पाप-निग्रह तथा सज्जनानुग्रह का फल	२९४
वादी-प्रतिवादी तथा बाल-वृद्धादि के आक्षेप को सहना	२९४
उक्ताक्षेप सहने आदि का फल	२९४
ब्राह्मण के सुवर्ण को चुरानेवाले का कर्तव्य	२९५
शासन नहीं करानेवाले राजा का दोष	२९५
दूसरे के पाप की प्राप्ति	२९७
दण्ड प्राप्ति से पाप मुक्ति	२९७
कुएँ की रस्सी आदि चुराने पर दण्ड	२९८
धान्यादि चुराने पर दण्ड	२९९
सुवर्ण, वस्त्रादि चुराने पर दण्ड	२९९
स्त्री, पुरुषादि चुराने पर दण्ड	३००

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
बड़े पशु आदि के चुराने पर दण्ड	३०१	‘स्त्री-संग्रहण’ का लक्षण	३१६
सूत, रुई आदि चुराने पर दण्ड	३०२	स्वयं पुरुष के पास स्त्री के	
पुष्पादि के चुराने पर दण्ड	३०३	आने पर	३१७
निरन्वयादि वस्तु चुराने पर दण्ड	३०३	स्त्रीसंग्रहणकर्ता शूद्र को दण्ड	३१७
‘साहस’ तथा ‘स्तेय’ का लक्षण	३०४	भिक्षुकादि के परस्त्री-भाषण की	
उपभोग्य सूत्रादि तथा त्रेताग्नि		अनिन्दनीयता	३१९
चुराने पर दण्ड	३०४	निषेध करने पर परस्त्री-भाषणकर्ता	
चोर का हाथ कटवाना आदि	३०५	को दण्ड	३१९
अधार्मिक पिता आदि को भी		नटादि की स्त्री के साथ	
दण्डनीयता	३०६	भाषण निर्दोष	३१९
गुण-दोषज्ञ शूद्रादि चोर को दण्ड	३०६	कन्या-सम्भोग करने पर	३२०
वनस्पतियों के मूलादि की अस्तेयता	३०७	अङ्गुलिक्षेपण से कन्या को दूषित	
चोर के हाथ से दक्षिणादि लेने		करने पर दण्ड	३२२
पर दण्ड	३०८	व्यभिचारिणी स्त्री को दण्ड	३२३
दो गन्ना लेनेवाले द्विज पंथिकादि		व्यभिचारी पुरुष को दण्ड	३२४
को दण्डाभाव	३०८	कलङ्कित पुरुष के पुनः अपराध	
बिना बँधे पशु आदि के अपहरणकर्ता		करने पर दण्ड	३२४
को दण्ड	३०९	अरक्षितादि स्त्री के साथ शूद्रादि	
साहसकर्ता का निग्रह राजकर्तव्य	३१०	को दण्ड	३२५
वाक्यपारुष्यादि से साहस की		ब्राह्मणों के साथ सम्भोग करने-	
अधिक सदोषता	३१०	वाले ब्राह्मण को दण्ड	३२७
साहसिक क्षमा की निन्दा	३११	मुण्डनमात्र ही ब्राह्मण का	
साहसिक की अनुपेक्षा	३११	प्राणदण्ड	३२७
द्विज का शस्त्रग्रहणकाल	३११	ब्राह्मणवध का निषेध	३२८
आततायी को तत्काल मारना	३१३	असुरक्षित क्षत्रिया के साथ सम्भोग	
आततायी का लक्षण	३१३	करनेवाले वैश्य को दण्ड	३३०
परस्त्रीदूषण में दण्ड	३१४	असुरक्षित क्षत्रिया आदि के	
परस्त्रीदूषण में दण्ड	३१५	साथ सम्भोग करनेवाले	
परस्त्री के साथ एकान्त में भाषण		ब्राह्मण को दण्ड	३३०
करने पर	३१५	शूद्रादि के धन को कोष में रखने	
उक्त विधान का अपवाद	३१६	का निषेध	३३०

विषय	पृ० सं०
चौरादिहीन राज्यवाले राजा की प्रशंसा	३३१
पुरोहित तथा यजमान का करने पर दण्ड	३३१
माता आदि का त्याग करने पर दण्ड	३३२
ब्राह्मणों के शास्त्रीय विवाद में राजा के हस्तक्षेप का निषेध	३३२
सामाजिक भोजन के विषय में दण्डविधान	३३३
करग्रह से मुक्त करने योग्य व्यक्ति	३३४
धोबी को कपड़ा धोने का विधान	३३५
सूत को बुनकर कपड़ा देने का विधान	३३५
विक्रेय वस्तु के कर ग्रहण का प्रमाण	३३६
प्रतिषिद्ध वस्तु का निर्यात करने पर दण्ड	३३६
असमय में विक्रयादि करने पर दण्ड	३३७
विदेश में विक्रय करने का मूल्य निर्णय	३३७
मूल्य निर्धारण	३३८
तराजू, बाट आदि की जाँच	३३८
नाव का भाड़ा	३३८
गर्भिणी आदि नाव भाड़ा से मुक्त	३४०
मल्लाह के दोष से सामान नष्ट होने पर	३४०
वैश्यादि से व्यापारादि कराना	३४१
क्षत्रिय-वैश्य के दासकर्म का निषेध	३४१
शूद्र से दासकर्म कराने का विधान	३४२

विषय	पृ० सं०
दासत्व से शूद्र की अमुक्ति	३४२
दास के सात प्रकार	३४३
भार्या, दासादि के अपने धन का अभाव	३४४
वैश्य तथा शूद्र से अपना-अपना कर्म कराना	३४५
प्रतिदिन आय-व्यय का निरीक्षण	३४६
व्यवहार को यथावत् देखने का फल	३४६

नवम अध्याय

स्त्री-पुरुष के धर्म	३४७
स्त्री-रक्षा	३४७
अवस्थानुसार स्त्री-रक्षा के अधिकारी	३४८
पिता-पत्यादि के निन्दनीय होने का कारण	३४९
अरक्षित स्त्रियों से हानि	३४९
स्त्री-रक्षा से आत्मा की रक्षा	३४९
दुर्बल पत्यादि को भी स्त्री-रक्षा करना आवश्यक	३५०
स्त्री-रक्षा से सन्तानादि की रक्षा	३५०
‘जाया’ शब्द का अर्थ	३५०
पत्यनुकूल सन्तानोत्पत्ति	३५१
बलात्कार से स्त्री-रक्षा की असम्भवता	३५१
स्त्री-रक्षा के उपाय	३५१
धर्मज्ञान द्वारा स्त्री-रक्षा	३५२
स्त्रियों के छः दोष	३५२
स्त्रियों का स्वभाव	३५३
स्त्रियों की समन्त्र क्रिया का निषेध	३५४
व्यभिचार-प्रायश्चित्त	३५४

विषय	पृ० सं०
पतिगुणानुकूल स्त्री गुण होना	३५६
पतिसंसर्ग से स्त्री के श्रेष्ठ होने का दृष्टान्त	३५७
प्रजाधर्म-कथन	३५७
स्त्री-प्रशंसा	३५८
अव्यभिचार का सत्फल	३५९
व्यभिचार का कु-फल	३५९
बीज तथा क्षेत्र का बलाबल	३५९
बीज-प्राधान्य	३६१
बीज प्राधान्य में दृष्टान्त	३६१
क्षेत्र के अप्राधान्य में दृष्टान्त	३६२
पर-स्त्री में बीजवपन का निषेध	३६३
उक्त विषय में वायु कथित गाथा की प्रमाणता	३६४
क्षेत्र स्वामी के पुत्राधिकारी होने में अन्य दृष्टान्त	३६५
स्त्री-पुरुष की एकता	३६६
विक्रय या त्याग से स्त्रीत्व से अमूर्ति	३६६
भाग-विभाजनादि का एक बार कर्तव्य	३६७
क्षेत्र प्राधान्य में अन्य दृष्टान्त	३६८
स्त्री-धर्म	३७१
भ्रातृपत्नी-सम्भोग से पतित होना	३७१
नियोग प्रकरण	३७१
नियोग-नियम तथा द्वितीय पुत्रोत्पादन का निषेध	३७२
मतान्तर से नियोग द्वारा द्वितीय-पुत्रोत्पादन का विधान	३७३
नियोग में कामवासना से सम्भोग की निन्दा	३७४

विषय	पृ० सं०
नियोग-निन्दा	३७४
वर्णसङ्कर काल	३७६
वाग्दत्त कन्या के पति के मरने पर	३७८
उक्त कन्या के पुनर्दान का निषेध	३७८
सप्तपदी के पूर्व दोषवती कन्या का त्याग	३७९
दोषवती कन्या को देने पर त्याग	३८०
स्त्री-वृत्ति की व्यवस्था कर परदेश गमन	३८०
पति के परदेश जाने पर स्त्री का कर्तव्य	३८०
परदेश गये पति की प्रतीक्षा का समय	३८१
द्वेषयुक्त स्त्री की प्रतीक्षा का समय	३८३
वक्ष्यमाण स्त्री के रहते दूसरा विवाह करना	३८४
रोगिणी तथा पतिपरायणा होने पर दूसरा विवाह करने से स्त्री के कुपित होने पर	३८५
स्त्री के मद्यपान करने पर राजदण्ड	३८५
वर्णानुसार स्त्रियों का दाय-विभाजनादि	३८६
सजातीया स्त्री के साथ धर्म कार्य का विधान	३८६
गुणी वर के लिए कन्यादान विधान	३८७
निर्गुणी वर के लिए कन्यादान का निषेध	३८८
स्वयंवरण का समय	३८८
स्वयंवरण में पति-पत्नि की निर्दोषता	३८८
स्वयंवरणावस्था में पितादि के भूषण आदि का त्याग	३८९

विषय	पृ० सं०
ऋतुमती-विवाह में कन्या-पिता के लिए द्रव्य देने का निषेध	३८९
कन्या-वर की आयु का नियम	३८९
विवाह की आवश्यकता	३९०
स्त्री के साथ धर्मकार्य विधान	३९१
कन्या-शुल्क देने वाले पति के मरने पर	३९१
कन्यामूल्य लेने का निषेध	३९२
वाग्दान करके दूसरे को कन्या का दान निषेध	३९२
संक्षेपतः स्त्री-पुरुष का धर्म	३९३
स्त्री-पुरुष का कर्तव्य	३९३
दायभाग	३९३
दाय विभाजन-काल	३९४
सम्मिलित रहने पर ज्येष्ठ भाई की प्रधानता	३९४
ज्येष्ठ-प्रशंसा	३९४
बड़े-छोटे भाइयों के परस्पर व्यवहार	३९५
ज्येष्ठ भाई के अपने योग्य वर्ताव न करने पर	३९५
सम्पत्ति-विभाग में हेतु	३९६
पैतृक धन में से ज्येष्ठादि का 'उद्धार' द्रव्य-भाग	३९७
तीन से अधिक भाइयों में पितृ-धन विभाजन	३९८
एक भी श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाई का भाग	३९८
समान गुणी होने पर उत्तोद्धार का निषेध	३९९
सम तथा विषम भाग	३९९
घोड़े आदि के विषम होने पर ज्येष्ठ भाई का भाग	४०१

विषय	पृ० सं०
क्षेत्र के साथ विभाग होने पर अनेक माताओं की सन्तान में	४०२
ज्येष्ठत्व	४०३
सजातीय माताओं से उत्पन्न पुत्र में जन्म से ज्येष्ठत्व	४०४
जन्म से ज्येष्ठत्व का अन्य प्रमाण	४०५
पुत्रिकाकरण	४०५
पुत्रिका करने में पुराना इतिहास	४०६
माता का निजी धन कन्या का भाग	४०७
'पुत्रिका' के पुत्र को धन लेने का अधिकार	४०७
'पुत्रिका' तथा औरस पुत्र का विभाग	४०८
पुत्रहीन पुत्रिका के धन का अधिकारी	४०९
'पुत्रिका' के दो भेद	४११
पुत्र तथा पौत्रादि का धन भाग आदि	४१२
'पुत्र' शब्द का अर्थ	४१२
पौत्र तथा पौत्रिकेय की समानता	४१३
पौत्रिकेय (दौहित्र) कृत श्राद्ध करने में	४१३
गुणीदत्तक पुत्र को भाग का अधिकार	४१४
दत्तकपुत्र को पूर्व पिता के धन पाने का अधिकाराभाव	४१५
कामजादि पुत्र को पितृ-धनभाग प्राप्ति का अधिकार	४१५
क्षेत्रज पुत्र को पितृ-धन प्राप्ति का अधिकार	४१७
अनेकजातीय माताओं में उत्पन्न पुत्रों का भाग	४१८

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
शूद्रा पुत्र का दशमांशमात्र भाग	४२१	'पाराशव' पुत्र का लक्षण	४३२
अविवाहिता-शूद्रा के पुत्र के भाग		दासीपुत्र का समान भाग	४३२
का निषेध	४२२	'क्षेत्रज' आदि पुत्र, पुत्र	
सजातीय अनेक माताओं में		के प्रतिनिधि	४३३
उत्पन्न पुत्रों का भाग	४२३	'औरस' पुत्र के रहने का 'दत्तक'	
शूद्र की शूद्रामात्र स्त्री तथा		आदि का निषेध	४३३
शूद्रपुत्रों का समान भाग	४२३	एक भाई के पुत्र से सब भाइयों का	
दायाद तथा अदायाद का		पुत्रवान् होना	४३४
बान्धवत्व	४२४	एक पत्नी के पुत्र से अन्य	
द्वादशविध पुत्रों में ६ दायाद-		पत्तियों का पुत्रवती होना	४३४
बान्धव-पुत्र	४२४	श्रेष्ठ क्रम से पुत्रों का पितृ-धन	
द्वादशविध पुत्रों में ६ बान्धव पुत्र	४२५	का भागी होना	४३५
औरस पुत्र से क्षेत्रजादि पुत्रों		क्षेत्रज आदि पुत्रों को पिता के धन	
की हीनता	४२५	का भागी होना	४३५
औरस तथा क्षेत्रज पुत्र के विभाग		क्षेत्रजादि पुत्रों को पितामह के धन	
का निर्णय	४२५	का भागी होना	४३५
क्षेत्रज पुत्र के बाद औरस पुत्र के		सपिण्डादि का धन पाने का	
उत्पन्न होने पर विभाग	४२६	भागी होना	४३६
बारह प्रकार के पुत्रों में 'औरस'		सब के अभाव में ब्राह्मण का	
पुत्र का लक्षण	४२७	अधिकार	४३७
'क्षेत्रज' पुत्र का लक्षण	४२९	ब्राह्मणेत्तर धन का राजा अधिकारी	४३७
'दत्तक' पुत्र का लक्षण	४२९	मृत-पति का नियुक्तपुत्र अधिकारी	४३७
'कृत्रिम' पुत्र का लक्षण	४३०	औरस तथा पौनर्भव पुत्रों का स्व-	
'गूढ' पुत्र का लक्षण	४३०	स्वपितृधन का अधिकार	४३८
'अपविद्ध' पुत्र का लक्षण	४३०	माता के धन के अधिकारी	४३८
'कानीन' पुत्र का लक्षण	४३१	स्त्री धन के ६ प्रकार	४३८
'सहोद' पुत्र का लक्षण	४३१	सपुत्र-स्त्री धन के अधिकारी	४३९
'क्रीत' पुत्र का लक्षण	४३१	सन्तानहीना स्त्री के धन का	
'पौनर्भव' पुत्र का लक्षण	४३१	अधिकारी	४३९
'पुनर्भू' स्त्री का लक्षण	४३२	साधारण से स्त्रीधन करने	
'स्वयंदत्त' पुत्र का लक्षण	४३२	का निषेध	४४०

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
स्त्री-भूषणों की अविभाज्यता	४४०	कितवादि को राज्यनिर्वासन	
नपुंसक आदि को भाग का		में कारण	४५०
अनधिकार	४४०	उपहासार्थ भी द्यूत का निषेध	४५०
नपुंसकादि के क्षेत्रज पुत्र को		द्यूतकारक का राजेच्छानुसार दण्ड	४५१
धन-प्राप्ति का अधिकार	४४०	दण्ड देने में असमर्थ होने पर	४५१
अविभक्त धन के अधिकारी	४४१	स्त्री, बाल आदि को दण्ड	४५१
विद्यादि प्राप्त धन की अविभाज्यता	४४२	राजनियुक्त अधिकारी को कार्य न	
सशक्त भाई के भागग्रहण में		करने पर दण्ड	४५२
उपेक्षा करने पर	४४३	कपटपूर्वक लेखादि लिखने वालों	
अविभाज्य धन	४४३	को दण्ड	४५२
पितामह के अप्राप्त धन का		धर्मपूर्वक किये कार्यादि का	
अविभाजन	४४४	अपरिवर्तन	४५३
पुनः सम्मिलित किये धन का		अधर्मपूर्वक किये गये कार्यादि	
अविभाजन	४४४	का परिवर्तन	४५३
विदेशादिगत भाई के भाग का		चतुर्विध महापातकी	४५४
लोपाभाव	४४५	प्रायश्चित्त नहीं करने वाले महा-	
वञ्चक ज्येष्ठ भाई का उद्गाराभाव	४४६	पातकियों को दण्ड	४५४
विकर्मियों को भाग की अप्राप्ति	४४६	महापातकी ब्राह्मण को दण्ड	४५६
पिता के जीवित रहने पर उपार्जित		महापातकी क्षत्रियादि को दण्ड	४५६
धन का समभाग	४४७	महापातकी के धनग्रहण का निषेध	४५७
पितृधन विभाजन होने के बाद		महापातकियों के धन नहीं लेने	
पुत्रोत्पन्न होने पर	४४७	की प्रशंसा	४५७
सन्तानहीन पुत्र के धन		ब्राह्मण को पीड़ित करनेवाले	
का अधिकारी	४४८	को दण्ड	४५८
ऋण तथा धन का समान विभाग	४४८	वध्य को छोड़ने से दोष	४५८
अविभाज्य वस्तु	४४८	कण्टकोद्धार करना राजा का कर्तव्य	४५९
द्यूतकर्म	४४९	आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधन	
द्यूतादि का निषेध	४४९	का फल	४६०
द्यूत तथा समाह्वय के लक्षण	४५०	चौरादि के शासन नहीं करने	
द्यूतादि करने वालों को दण्ड	४५०	पर दोष	४६०
कितवादि का देशनिर्वासन	४५०	निर्भय राज्य की समृद्धि	४६१

विषय	पृ० सं०
प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चौर का ज्ञान	४६१
प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चोर के लक्षण	४६१
उन द्विविध चोरों का शासन	४६३
दण्डाभाव में पापनिवारण की	
असमर्थता	४६३
चोरों का अन्वेषण करना	४६३
उन चोरों को पकड़ने का उपाय	४६४
चुराये गये धन का पता	
न लगाने पर	४६५
चोरों के आश्रयदाताओं को दण्ड	४६५
अपराधी सीमारक्षकों को दण्ड	४६५
धर्मभ्रष्ट धर्मजीवि ब्राह्मण को दण्ड	४६५
चौरादि के उपद्रव निवारणादि में	
सहायक नहीं होने वाले को दण्ड	४६६
राजकोष के चोर आदि को दण्ड	४६६
संध मारनेवाले चोर को दण्ड	४६६
गिरहकट चोर को दण्ड	४६७
चोरों के सहायक तथा चोरित	
धन लेने वालों को दण्ड	४६७
तडागादि के तोड़ने वालों को दण्ड	४६७
अन्नागारादि तोड़नेवालों को दण्ड	४६८
व्यक्तिगत तडागादि के तोड़ने	
वाले को दण्ड	४६८
राजमार्ग को गन्दा करने पर दण्ड	४६८
अज्ञ चिकित्सक को दण्ड	४६९
संक्रम तथा प्रतिमादि तोड़ने	
पर दण्ड	४७०
शुद्ध पदार्थ को दूषित करनेवाले	
को दण्ड	४७०
विषम व्यवहार करने पर दण्ड	४७१
बन्धनगृह को राजमार्ग पर बनवाना	४७१

विषय	पृ० सं०
प्राकार आदि तोड़नेवाले को दण्ड	४७१
अभिचार कर्म करने वाले को दण्ड	४७२
दूषित बीज आदि बेचने पर दण्ड	४७२
चोर सोनार को दण्ड	४७३
खेती के साधन हल आदि का	
चुराने आदि पर दण्ड	४७३
सात प्रकृतियाँ या सप्ताङ्ग राज्य	४७४
सात प्रकृतियों में पूर्व-पूर्व	
की श्रेष्ठता	४७५
त्रिदण्डवत् सात प्रकृतियों	
की समानता	४७५
स्वपरशक्ति का ज्ञान	४७६
कार्यारम्भ में राज्य का कर्तव्य	४७६
उद्योगशील को श्रीप्राप्ति	४७७
राजा को युगकथन	४७७
इन्द्रादि के तेज के समान आचरण	
करना राजा का कर्तव्य	४७८
राजा को इन्द्रादि के तेज के	
समान आचरण करने का प्रकार	४७८
इन उपायों से चोर का निग्रह करना	४८०
ब्राह्मणों को क्रुद्ध करने का निषेध	४८०
ब्राह्मण-प्रशंसा	४८१
मूर्ख ब्राह्मण का भी पूज्यता	
में दृष्टान्त	४८१
ब्राह्मण में क्षत्रिय को शान्त होने	
के दृष्टान्त	४८२
तेजस्वी क्षत्रिय द्वारा भी ब्राह्मण	
को पीड़ित करने का निषेध	४८२
ब्राह्मण-क्षत्रिय का परस्पर	
सहायकत्व	४८३
पुत्र को राज्य सौंपकर युद्ध में	
प्राणत्याग करना राज्यकर्तव्य	४८३

विषय	पृ० सं०
वैश्य-शूद्र के कर्मविधान का कथन	४८४
वैश्य के धर्म	४८४
मणि आदि के मूल्य का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य	४८५
बीजादि का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य	४८६
वस्तुओं की सारासारतादि का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य	४८६
अन्न देना वैश्य का कर्तव्य	४८७
शूद्र का धर्म	४८७
द्विज सेवादि से शूद्र को उत्तमजातिलाभ	४८७

दशम अध्याय

केवल ब्राह्मण को अध्यापनाधिकार	४८९
ब्राह्मण को सब वर्णों का स्वामित्व	४९०
द्विजवर्ण कथन	४९१
सजातीय कथन	४९२
पिता की जाति के समान जाति होना	४९६
अनुलोमज वर्णसङ्करों का कथन	४९७
उक्त षड्विध पुत्रों का हीनत्वकथन	४९८
प्रतिलोमज वर्णसङ्करों का कथन	४९८
क्षत्ता तथा वैदेहक की स्पर्शयोग्यता	४९९
अनन्तरादि वर्ण की स्त्री में उत्पन्न पुत्र का मातृजातीय संस्कार	४९९
अन्यान् वर्ण सङ्कर जातियों का कथन	५००
हीन वर्णसङ्कर	५००
'व्रात्य' संज्ञक पुत्र	५०१
व्रात्य ब्राह्मण से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति	५०१

विषय	पृ० सं०
'व्रात्य' क्षत्रिय से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति	५०२
'व्रात्य' वैश्य से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति	५०२
वर्णसङ्कर सन्तान के उत्पन्न होने में कारण	५०२
यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य पुत्र	५१०
तप तथा वीर्य के प्रभाव से जातिश्रेष्ठता	५११
क्रियालोप से जातिहीनता	५११
क्रियालोप से शूद्रत्वप्राप्त जातियाँ	५१२
दस्यु जातियाँ	५१२
वर्णसङ्करों के कर्म	५१३
इन वर्णसङ्करों का निवास-स्थान	५१४
चण्डाल तथा श्वपाक के कर्मादि	५१४
चण्डाल तथा श्वपचों के साथ भाषणादि का निषेध	५१५
स्वोत्पादक गुण का त्यागाभाव	५१७
वर्णसङ्कर की निन्दा	५१७
ब्राह्मणादि के लिए वर्णसङ्करों का प्राण-त्याग श्रेष्ठ	५१७
वर्णचतुष्टय के सामान्य धर्म	५१८
सप्तम जन्म में नीच सन्तान को ब्राह्मणत्वादि की प्राप्ति	५१९
दो वर्णसङ्करों से श्रेष्ठत्व का निर्णय	५२१
उक्त विधान में दृष्टान्त	५२२
बीज तथा क्षेत्र के बलाबल में मतभेद तथा निर्णय	५२२
बीजप्राधान्य में दृष्टान्त	५२३
कर्मानुसार समानता और असमानता का अभाव	५२३
षट् कर्म करना ब्राह्मणों का कर्तव्य	५२४

विषय	पृ० सं०
ब्राह्मणों के षट् कर्म	५२४
ब्राह्मण-जीविकार्थ कर्मत्रय	५२५
क्षत्रियों के कर्म	५२५
वैश्यों के कर्म	५२६
क्षत्रियों तथा वैश्यों के जीविकार्थ कर्म तथा धर्म	५२६
ब्राह्मणादि वर्णत्रय के विशिष्ट कर्म	५२६
आपद्धर्म के कर्म	५२७
कृषि आदि का बलाबल कथन	५२८
ब्राह्मण-क्षत्रियों द्वारा अविक्रेय वस्तु	५२९
स्वोत्पादित तिल का तत्काल विक्रय	५३१
तिल-विक्रयादिनिन्दा	५३२
लाक्षादि विक्रय-निन्दा	५३२
परस्पर बदलने योग्य पदार्थ	५३३
श्रेष्ठ जातीयवृत्ति निषेध	५३४
श्रेष्ठ जाति की वृत्ति करनेवाले को दण्ड	५३४
परधर्मसेवन-निन्दा	५३४
वैश्य आपद्धर्म	५३५
शूद्र के आपद्धर्म	५३५
आपत्ति में ब्राह्मण को हीन से दानादि-ग्रहण	५३६
आपद्रुत ब्राह्मण का निषिद्धाध्यापनादि से दोषहीनता	५३७
उक्त दोषाभाव में पुरातन दृष्टान्त	५३७
प्रतिग्रह-निन्दा	५३९
प्रतिग्रह निन्दा में कारण	५३९
प्रतिग्रहादि का पापनाश	५३९
शिल तथा उज्छ से जीविका	५४०
राजा से धन-याचना	५४०
भूमि गौ आदि में पूर्व-पूर्व अल्पदोषता	५४१

विषय	पृ० सं०
सप्तविध धर्मयुक्त धनागम	५४१
जीवन के दस हेतु	५४२
ब्राह्मण-क्षत्रिय को सूद लेने का निषेध	५४३
राजाओं के आपद्धर्म	५४३
आपत्ति में वैश्यों से ग्राह्य राजकर	५४४
शूद्र के आपद्धर्म	५४५
शूद्र के लिए ब्राह्मणसेवा श्रेष्ठ	५४५
शूद्र की वृत्ति नियत करना	५४५
सेवक शूद्र के लिए उच्छिष्ट अन्नादि देना	५४६
शूद्र का मन्त्रहीन धर्मकार्य	५४६
शूद्र को धनसंग्रह करने का निषेध	५४८
अध्याय का उपसंहार	५४८

एकादश अध्याय

नवविध स्नातक के लिए दान देना	५५०
नवविध स्नानकों को वेदी के भीतर सिद्धात्र देना	५५१
भिक्षा प्राप्त धन से द्वितीय विवाह का निषेध	५५२
परिवार वाले वेदज्ञ ब्राह्मण को दान देना	५५२
सोमयाग के अधिकारी	५५२
परिवार का पालन बिना किए दान देने से दोष	५५३
एकाङ्गहीन यज्ञपूर्त्यर्थ वैश्य आदि से धन लाना	५५४
छः उपवास के बाद नीच से भी अन्न लाना	५५७
ब्राह्मण के धन लेने का निषेध	५५८
दुष्टों से धन लेकर सज्जनों को देना	५५८

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
यज्ञादि के लिए चोरी करनेवाले		सुवर्णचौर्यादि से कुनखि-	
ब्राह्मण को दण्ड निषेध	५५९	त्वादि होना	५७३
क्षुधापीडित ब्राह्मण के लिए		पाँच महापातक	५७५
वृत्ति कल्पना	५५९	ब्रह्महत्या के समान कर्म	५७५
यज्ञार्थ शूद्र से भिक्षा का निषेध	५६०	मद्यपान के समान कर्म	५७६
यज्ञार्थ धन लेकर बचाने का निषेध	५६०	सुवर्ण चुराने के समान कर्म	५७६
देव तथा ब्राह्मण के धनहरण		गुरुपत्नी सम्भोग के समान कर्म	५७६
का निषेध	५६०	उपपातक कथन	५७७
सोमयाग नहीं कर सकने पर		जातिभ्रंशकारक कर्म	५८२
वैश्वानर याग करना	५६१	वर्णसङ्कर करनेवाले कर्म	५८३
यज्ञ में समर्थ को अनुकूल करने		अपात्र करनेवाले कर्म	५८३
का निषेध	५६२	मलिन करनेवाले कर्म	५८३
सोमयाग का प्रतिनिधि	५६२	ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त	५८४
ब्राह्मणादि को स्वशक्ति से		गर्भ तथा यजमान क्षत्रिय-वैश्यादि	
शत्रुविजय करना	५६२	की हत्या का प्रायश्चित्त	५९२
ब्राह्मण के लिए शत्रु-निग्रह		आत्रेयी का लक्षण	५९३
का उपाय	५६३	साक्षी में असत्यभाषणादि करने	
ब्राह्मण से दूषित वचन कहने		पर प्रायश्चित्त	५९३
का निषेध	५६४	सुरापान का प्रायश्चित्त	५९४
कन्या तथा मूर्खादि को अग्निहोत्र		मदिरा पीने में दोष का कारण	५९६
करने का निषेध	५६५	सुरा-भेद तथा उसे पीने का निषेध	५९६
दक्षिणा में अश्व को देना	५६६	मद्य-पान से ब्राह्मणत्वनाशादि	५९९
कम दक्षिणा देने का निषेध	५६६	सुवर्ण चुराने का प्रायश्चित्त	६००
अग्निहोत्र नहीं करने पर प्रायश्चित्त	५६७	गुरुस्त्री-गमन का प्रायश्चित्त	६०२
शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र		अवकीर्ण का प्रायश्चित्त	६०८
का निषेध	५६७	अवकीर्णी का लक्षण	६०८
प्रायश्चित्त के योग्य मनुष्य	५६८	वायु आदि के उद्देश्य से	
कर्तव्य प्रायश्चित्त में मतभेद	५७०	हवन करने में कारण	६०९
प्रायश्चित्ती से संसर्ग का निषेध	५७२	जातिभ्रंशकर कर्म का प्रायश्चित्त	६१०
प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ	५७३	सङ्करीकरणादि का प्रायश्चित्त	६१०
कुरूप होने में कारण	५७३	क्षत्रियादि के वध का प्रायश्चित्त	६११

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
अनिच्छा से क्षत्रियघाती ब्राह्मण		शुक्तपानादि का प्रायश्चित्त	६२४
को प्रायश्चित्त	६११	सूकरादि के मल-मूत्रादिक भक्षण	
क्षत्रियवध का अन्य प्रायश्चित्त	६१२	का प्रायश्चित्त	६२४
वैश्यवध का अन्य प्रायश्चित्त	६१२	शुष्क मांसादि-भक्षण का प्रायश्चित्त	६२५
शूद्रवध का प्रायश्चित्त	६१२	व्याघ्रादि भक्षण का प्रायश्चित्त	६२५
बिल्ली आदि के वध का प्रायश्चित्त	६१३	ब्रह्मचारी को मासिक श्राद्धान्त	
साँप तथा नपुंसक को मारने		खाने पर प्रायश्चित्त	६२६
का प्रायश्चित्त	६१५	ब्रह्मचारी को मधुमांसादि खाने पर	
सूअर आदि के वध का प्रायश्चित्त	६१५	प्रायश्चित्त	६२६
हंसादि के वध का प्रायश्चित्त	६१५	मार्जार आदि का जूठा आदि	
घोड़ा आदि के वध का प्रायश्चित्त	६१६	खाने पर प्रायश्चित्त	६२७
बाघ आदि के वध का प्रायश्चित्त	६१६	अभक्ष्यभक्षित पदार्थ का	
व्यभिचारिणी ब्राह्मणी स्त्री आदि		वमन करना	६२७
के वध का प्रायश्चित्त	६१६	धान्यादि चुराने पर प्रायश्चित्त	६२८
सर्पादिवध का अन्य प्रायश्चित्त	६१७	मनुष्य आदि के चुराने पर प्रायश्चित्त	६२९
हड्डीवाले आदि जीवों के वध		अल्पमूल्य की वस्तु चुराने पर	
का प्रायश्चित्त	६१७	प्रायश्चित्त	६२९
पेड़, लता आदि काटने पर प्रायश्चित्त	६१८	मिठाई, सवारी आदि चुराने	
अन्न आदि में होनेवाले जीवों के		पर प्रायश्चित्त	६२९
वध का प्रायश्चित्त	६१९	तृण-काष्ठ आदि चुराने पर प्रायश्चित्त	६३०
खेती आदि से ओषधिनाशादि		मणि, मोती आदि चुराने पर प्रायश्चित्त	६३०
का प्रायश्चित्त	६१९	रूई, रेशम आदि चुराने पर प्रायश्चित्त	६३१
अमुख्य सुरापान का प्रायश्चित्त	६२०	सोदर भगिनी आदि के साथ	
सुरा के वर्तन का जल पीने		सम्भोग करने का प्रायश्चित्त	६३१
पर प्रायश्चित्त	६२१	फुआ की पुत्री आदि के साथ	
सुरा-स्पर्शादि करने पर प्रायश्चित्त	६२१	सम्भोग करने का प्रायश्चित्त	६३२
मद्यप के मुख का गन्ध सूँघने		उक्त तीनों बहनों से विवाह	
पर प्रायश्चित्त	६२२	का निषेध	६३२
मल-मूत्र-भक्षणादि का प्रायश्चित्त	६२२	अमानुषी के साथ सम्भोग करने	
पुनः संस्कार में त्याज्य	६२३	पर प्रायश्चित्त	६३३
अभक्ष्य-भक्षणादि का प्रायश्चित्त	६२३	पुरुषादि के साथ मैथुन करने	
		पर प्रायश्चित्त	६३४

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
चाण्डाली आदि के साथ		प्रायश्चित्त का विधान नहीं कहे	
सम्भोग करने पर प्रायश्चित्त	६३४	गये दोषों पर	६५२
व्यभिचारिणी स्त्री का विरोध		प्राजापत्य (कृच्छ्र) व्रत की विधि	६५४
और प्रायश्चित्त	६३५	कृच्छ्रसान्तपन व्रत की विधि	६५५
चण्डाली सम्भोग का प्रायश्चित्त	६३७	अतिकृच्छ्र व्रत की विधि	६५५
पतित-संसर्गादि से पतित होना	६३८	तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि	६५६
उक्त कर्म का प्रायश्चित्त	६३९	पराकृच्छ्र व्रत की विधि	६५६
ज्येष्ठ महापातकी का 'उद्धार' छोटे		(पिपीलिकामध्य) चान्द्रायण व्रत	
भाई को मिलना	६४२	की विधि	६५७
प्रायश्चित्त किये हुए संसर्ग	६४२	यवमध्य चान्द्रायण की विधि	६५७
पतित-स्त्रियों के लिए अन्नादि देना	६४३	यतिचान्द्रायण व्रत की विधि	६५८
प्रायश्चित्त नहीं करनेवालों से		शिशुचान्द्रायण व्रत की विधि	६५८
संसर्गत्यागादि	६४४	चान्द्रायण व्रत का महत्त्व	६५९
बालघाती आदि का त्याग	६४४	उपर्युक्त व्रतों में सामान्यतः	
ब्रात्यादि प्रायश्चित्त	६४५	कर्तव्य कर्म	६५९
निन्दित के उपार्जित धन का त्याग	६४६	पाप कहने आदि से पापनिवृत्ति	६६२
असत्प्रतिग्रह का प्रायश्चित्त	६४७	पापानुताप से पापनिवृत्ति	६६३
ब्रात्ययाजनादि का प्रायश्चित्त	६४८	शुभ कर्म करने का उपदेश	६६३
शरणागत त्याग आदि का प्रायश्चित्त	६४९	पापकर्म की निन्दा	६६४
कुत्ता आदि के काटने पर प्रायश्चित्त	६४९	मन को प्रसन्न होने तक	
कुत्ते के सूँघे आदि पदार्थों की शुद्धि	६४९	प्रायश्चित्त करना	६६५
अपाङ्ग्य की शुद्धि	६४९	तप की प्रशंसा	६६५
ऊँटगाड़ी आदि पर चढ़ने		वर्णक्रम से तप	६६६
का प्रायश्चित्त	६५०	तप का लक्षण	६७०
जलरहित होकर तथा जल में		वेदाभ्यासादि से महापातकादि	
मूत्रादि त्याग करने का प्रायश्चित्त	६५०	का नाश	६७०
वेदोक्त कर्मादि के त्याग का प्रायश्चित्त	६५०	गुप्त पापों का प्रायश्चित्त	६७१
ब्राह्मण को अपमानित करने		मद्यपान का प्रायश्चित्त	६७२
का प्रायश्चित्त	६५१	सुवर्ण स्तेय का प्रायश्चित्त	६७२
ब्राह्मण को मारने के लिए उद्यत		गुरुपत्नी सम्भोग का प्रायश्चित्त	६७३
होने पर दोष	६५२	स्थूल तथा सूक्ष्म पापों का प्रायश्चित्त	६७३
ब्राह्मण को गुरेरने का प्रायश्चित्त	६५२	अग्राह्य दान लेने आदि का प्रायश्चित्त	६७४

विषय	पृ० सं०	विषय	पृ० सं०
विविध पापों का प्रायश्चित्त	६७४	धर्म में मन को लगाना	६९१
जल में मल-मूत्र त्याग करने		त्रिविध गुणकथन	६९२
आदि का प्रायश्चित्त	६७४	अधिक गुण के अनुसार	
महापातकादि का प्रायश्चित्त	६७५	देह का होना	६९२
अघमर्षण मन्त्र की प्रशंसा	६७६	सत्त्वादि गुणत्रय के लक्षण	६९२
ऋग्वेद प्रशंसा	६७६	सत्त्वगुण का लक्षण	६९३
ऋग्वेदादि के अभ्यास से		रजोगुण का लक्षण	६९३
सर्वपाप मुक्ति	६७७	तमोगुण का लक्षण	६९४
'त्रिवत्' का लक्षण	६७७	सात्त्विक गुण का लक्षण	६९४
		राजसिक गुण का लक्षण	६९५
द्वादश अध्याय		तामसिक गुण का लक्षण	६९५
महर्षियों का भृगुजी से प्रश्न	६७९	संक्षेप में तामस गुण का लक्षण	६९६
भृगुजी का महर्षियों को उत्तर	६८१	संक्षेप में राजस गुण का लक्षण	६९६
शुभाशुभ कर्मों के फल	६८१	संक्षेप में सात्त्विक गुण का लक्षण	६९६
मन को कर्मप्रवर्तकत्व	६८१	पुनः सत्त्वादि गुणत्रय का अति-	
दश लक्षणवाले कर्मों में		संक्षिप्त लक्षण	६९७
त्रिविध मानसिक कर्म	६८२	गुणत्रय से त्रिविध गतियों की प्राप्ति	६९७
चतुर्विधवाचिक कर्म	६८३	कर्मादिवश अप्रधान नवधा गतियाँ	६९८
त्रिविध शारीरिक कर्म	६८३	जघन्य तामसी गति	६९८
मानसिक आदि कर्मों का		मध्यम तामसी गति	६९८
फलभोक्ता मन आदि	६८४	उत्तम तामसी गति	६९८
शारीरिक आदि कर्मों के फल	६८४	जघन्य तामसी गति	६९९
क्षेत्रज्ञ आदि का परिचय	६८६	मध्यम राजसी गति	६९९
जीवात्मा का परिचय	६८६	उत्तम राजसी गति	६९९
जीवों की असङ्ख्यता	६८८	जघन्य सात्त्विकी गति	७००
परलोक में पाञ्चभौतिक शरीर		मध्यम सात्त्विकी गतियाँ	७००
का होना	६८८	उत्तम सात्त्विकी गति	७०१
उनका भोग के बाद अन्तरात्मा		पाप से निन्दित गति पाना	७०२
में लीन होना	६८९	पापविशेष से गतिविशेष की प्राप्ति	७०२
धर्म के अधिक होने से		ब्रह्मघाती को कुत्ते आदि की	
स्वर्गमुख होना	६९०	योनि-मिलना	७०३
पाप के अधिक होने से यम-		मद्यपि ब्राह्मण को कृमि आदि	
यातना होना	६९१	की योनि मिलना	७०३

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥



राजधर्म का कथन—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।

सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥

भाष्य—धर्मशब्दः कर्तव्यतावचन इत्युक्तम् । यद्राज्ञा कर्तव्यं तदिदानीमुच्यते इति प्रतिज्ञा । कर्तव्यं च दृष्टार्थं षाड्गुण्यादि, अदृष्टार्थमग्निहोत्रादि । तत्रेह प्राधान्येन दृष्टार्थमुपदिश्यते । तत्रैव च राजधर्मप्रसिद्धिः ।

राजशब्दस्तु नेह क्षत्रियजातिवचनः किं तर्हीभिषेकाधिपत्यादिगुणयोगिनि पुरुषे वर्तते । अत एवाह । **यथावृत्तो भवेन्नृपः** । 'नृप' ग्रहणेन जनपदैश्वर्यवतोऽधिकारमाह ।

प्रमाणान्तरमूला ह्यत्र धर्मा उच्यन्ते, न सर्वे वेदमूलाः । अन्यमूलत्वे च यदत्र धर्मशास्त्राविरुद्धं तदुच्यते । तथा च कात्यायनः “अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमात्रजेदिति” ।

यथावृत्तः यद्वृत्तं यत्प्रकारं वाऽस्येति च बहुव्रीहिः । अन्यपदार्थो राजा । यथार्थप्राधान्येऽव्ययीभावः स्यात् । **वृत्तं** परिपालनार्थं व्यापारोऽदृष्टार्थश्च ।

सम्भवश्चोत्पत्तिः । स उक्तो “राजानमसृजत्प्रभुः” इत्यादिना ।

परमा—प्रकृष्टा सिद्धिर्विजिगीषोरैकाधिपत्यम् ।

राजवृत्तस्य फलप्रतिज्ञेयम् ॥१॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि— मैं) राजा (अभिषिक्त नृपति) के आचार, उत्पत्ति और इस लोक तथा परलोक में होनेवाली उत्तम सफलता होवे ऐसे राजधर्म (दृष्टादृष्ट कर्तव्य) को कहूँगा ॥१॥

कृतसंस्कार राजा का प्रजारक्षण—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥

भाष्य—‘ब्रह्म’ वेदः । तत्र श्रुतः संस्कारो ‘ब्राह्मः’ । स वेदाध्ययन जन्यो ग्रहणवतोऽर्थलक्षणो वेदस्य; स्वाध्यायविधिनिर्वर्त्य इत्यर्थः । उपनयनं तु ब्रह्मग्रहणार्थत्वाद्-

ब्राह्मपति युक्तम् । तथा च वक्ष्यति (४३ श्लो०) “त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यामिति” । इतरथा विदितवेदितोपदेशः स्यात् । गर्भाधानादि स्मृतिशास्त्रादष्टाचत्वारिंशसंस्कारम् ।

क्षत्रियेणेति । एतेन क्षत्रिय एव राज्याधिकारीति सूचितम् । क्षत्रियाभावे तदतिदेशोऽपि ग्राह्यः । अन्यथा प्रजालोपः स्यादिति भावः ।

सर्वस्य करदस्य दीनानाथादेश्च ।

अस्येति स्वविषयवासिनां यथास्वं जनपदपुरनिर्देशः ।

यथान्यायम् । न्यायः शास्त्रं धर्मशास्त्ररूपम्, नार्थशास्त्रमौशनसादिप्रणीतम्, तमनतिक्रम्य ।

परिरक्षणं परिपालनम् । अपायपरिहारः, दुर्बलानां बलवद्भिरनभिभवः, शास्त्रमर्यादानतिक्रमश्च । दुःखत्राणं **परिरक्षा** । शास्त्रातिक्रमे चादृष्टं दुःखम् । अतस्तदनतिक्रमे राजभयेन रक्षिता भवन्ति । राजदण्डे दुःखमिति चेन्महतो नरकादिदुःखाद्राजदण्डनमल्पीयः ।

कर्तव्यमिति विधिः ।

अधिकारश्चाष्टमे निरूपितः ॥२॥

हिन्दी—शास्त्रानुसार वेद को प्राप्त (उपनयन संस्कार से युक्त) क्षत्रिय (अभिषिक्त राजा) न्यायपूर्वक (अपने राज्य में रहनेवाली) सब प्रजा की रक्षा करे ॥२॥

विमर्श—इस वचन से क्षत्रिय का ही मुख्यतः प्रजापालन कर्तव्य बतलाया है । आपत्तिकाल में ब्राह्मण भी क्षत्रिय-वैश्यवृत्ति कर सकता है; वैश्य क्षत्रियवृत्ति कर सकता है और शूद्र भी क्षत्रिय-वैश्यवृत्ति कर सकता है; किन्तु ब्राह्मण शूद्रवृत्ति और शूद्र ब्राह्मणवृत्ति आपत्तिकाल में भी नहीं कर सकते, इसी विषय को आगे (१०।८१-८३) में कहेंगे । महर्षि नारद^१ ने भी यही कहा है ।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥

हिन्दी—इस संसार को बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से (प्रजाओं के)

१- 'तथाह नारदः—

‘न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् ।

वृषलः कर्म ब्राह्मं च पतनीये हि ते तयोः ॥

उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।

मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥

रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।’ इति (म०मु०)

इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान् ने राजा की सृष्टि की ॥३॥

इन्द्रादि के अंश से राजा की सृष्टि—

इन्द्रानिलयमाकाणामग्रेष्ठ वरुणस्य च ।

चन्द्रवित्ते शयोश्चैव मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः ॥४॥

भाष्य—विद्रुते पीडितेऽप्रतिष्ठिते वा । प्रभुः प्रजापतिः । स्तुतिरियम् ॥३॥

अनिलो वायुः । वित्तेशो धनपतिर्वैश्रवणः । मात्रा अवयवाः । शाश्वतीः सार-
भूताः । निर्हत्य निष्कृष्य ॥४॥

हिन्दी—(ईश्वर ने) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का
सारभूत नित्य अंश लेकर (राजा की सृष्टि की) ॥४॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।

तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥

भाष्य—एषामिन्द्रादीनां सुरश्रेष्ठानां मात्राभिस्तेजोशैर्निर्मितस्तस्माद्धेतोरभि-
भवति दुर्निरीक्ष्यमुखो भवति । तेजसा हेतुना ।

निष्कृष्य निर्मित उत्पादितः यतः ‘कृषि’रुत्पादने धातुर्वर्तते । तेनापायावधित्वान्-
मात्राभ्य इति पञ्चमी तृतीया वा पठितव्या ॥५॥

हिन्दी—चूँकि राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से रचा गया है, इस कारण
यह (राजा) से सब जीवों को अभिभूत (पराजित) करता है ॥५॥

राजा की प्रशंसा—

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षुषि च मनांसि च ।

न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

भाष्य—तपति तपतीव सम्मुखोऽशक्यदर्शनत्वादेवमुच्यते । तदाह । न चैनं
भुवि शक्नोति । ब्राह्मणजात्युत्कृष्टा ब्रह्मवर्चस्विनोऽपि नैनमभिमुखं वीक्षितुं शक्नु-
वन्ति । तदुक्तं “तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्” ॥६॥

हिन्दी—यह राजा देखनेवालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतप्त करता
है । अतः पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं होता ॥६॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।

स कुबेरः स वरुणः स चेन्द्रः स्वप्रभावतः ॥७॥

भाष्य—अग्न्यादिदेवतानां मात्राशयत्वात्तच्छक्तियोगितयैवमुच्यते ।

प्रभावोऽलौकिकी या शक्तिः ॥७॥

हिन्दी—यह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्निरूप है, वायुरूप है सूर्य रूप है, चन्द्ररूप है, धर्मराज (यम) रूप है, कुबेररूप है और चन्द्र रूप है ॥

राजापमान का निषेध—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

भाष्य—मनुष्योऽयमित्येवं बालोऽपि भूमिपो राजा नावमन्तव्यः । किंतर्हि? महती काचिदेष्टा देवतैतेन मानुषेण रूपेण स्थितेति । अतो दृष्टेनापि दोषेण राजन्य-वशा न युज्यते ॥८॥

हिन्दी—(अतएव) 'यह मनुष्य ही तो है' ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान न करे; क्योंकि यह राजा के रूप में बड़ा देवता (दैवीशक्ति) स्थित रहता है ॥८॥

विमर्श—बालक राजा का भी अपमान करने से बड़े देव के अपमान करने का दोष होता है, अतः बालक राजा का भी अपमान न करे, फिर वयस्क एवं वृद्ध राजा के लिए क्या कहना ? इस वचन से राजापमान करने का अदृष्ट दोष कहा गया है ।

एकमेव दहत्यग्निंरं दुरुपसर्पिणम् ।

कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥९॥

भाष्य—अस्य विधेरर्थवादश्लोका एते । राजधर्मोऽपि सन् सर्वपुरुषार्थोऽयम् ।

योऽग्निं हस्तादिना स्पृशति, समिद्धस्याप्यन्तिकवर्ती भवति, स 'दुरुपसर्पी' नरः प्रमादस्खलितो दह्यते । राता तु क्रुद्धः सपुत्रधनदारबान्धवं दहति । कुलं— ये केचिद् ज्ञातयः स्वजनाश्च तानप्यपराधसम्बन्धात्पशुभिर्धनसञ्चयैश्च सह नाशयति ॥९॥

हिन्दी—(अब राजापमान का दृष्ट दोष कहते हैं—) अग्नि केवल असावधानी से स्पर्श करनेवाले को ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि (क्रुद्धराजस्वरूप अग्नि) चिरसञ्चित पशु तथा धन के सहित समस्त कुल (वंश) को ही जला देती है ॥९॥

प्रायोजनानुसार राजा की विविधरूपता—

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।

कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥१०॥

भाष्य—नैतन्मन्तव्यं बन्धुर्मे राजा सुहृद्वेति । “कस्य राजा भवेन्मित्रं कानि मित्राणि राजनि ।” प्रयोजनापेक्षया च शत्रौ मित्रवदाचरन्ति मित्रे शत्रुवत् । तथाऽशक्ताः कञ्चिदपराधं क्षमन्ते, शक्तिं प्राप्योन्मूलयन्ति । एवं देशकालावपि । अतो 'धर्मसिद्ध्यर्थं'

कार्यसिद्ध्यर्थं ‘विश्वरूपं’ कुरुते । क्षणान्मित्रं क्षणेन शत्रुः, नैकरूप एव राजा भवति ।

अतो न विश्वसितव्यं राजनि । मैत्र्याद्वाल्लभ्यात्सौजन्याद्वा तत्तुल्यवयोदृष्ट्या न वर्तितव्यम्, अपि तु सर्वदा नयेन द्रष्टव्यः ॥१०॥

हिन्दी—वह (राजा) प्रयोजन के अनुसार कार्य तथा शक्ति का वास्तविक विचार करे। धर्म (कार्य) सिद्धि के लिए बार-बार अनेक रूप धारण करता है ॥१०॥

विमर्श—स्वयं असमर्थ रहने पर क्षमा करता (दब जाता— चुप रह जाता) है फिर समर्थ होकर समूल नष्ट कर देता है; और एक ही व्यक्ति में प्रयोजन (अपने मतलब) के अनुसार कभी शत्रुता, कभी मित्रता और कभी उदासीनता रखता है, अतः अपने को राजा का प्रियपात्र कदापि नहीं समझना चाहिये ।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥

भाष्य—प्रसन्न आराधनया श्रियं ददाति । क्रुद्धो मृत्युना योजयति । अतः श्रीकामे-नाराधनीयः । न केवलं श्रिया योजयति, यावदस्य शत्रवः सन्ति तानपि पराक्रम्य परि-तोषितो हन्ति । अतः शत्रुवधकामेन यथावत्परिचरणीयः ।

पद्मा । श्रीः पर्यायोऽपि पद्माशब्दो महत्त्वप्रतिपादनार्थः प्रयुक्तः, महतीं श्रियं ददातीत्यर्थः । एते चार्था राज्ञः प्राप्यन्ते । यतः **सर्वतेजोमयोऽसौ** अग्न्यादित्यचन्द्रमसां तेजो बिभर्ति ॥११॥

हिन्दी—जिस (राजा) की प्रसन्नता से लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मरण रहते हैं, अतः वह राजा सर्वतेजोमय है ॥११॥

राजद्वेष का कुपरिणाम—

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।

तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

भाष्य—प्रत्यवायाद्यथा नश्यति जनो नैवमभिप्रेतार्थलोभेनातः पुनःपुनराह । तं राजानं यो द्वेष्टि, प्रातिकूल्येन वर्तते तस्मिन् स त्वसंशयं नश्यति । तस्य ह्याशु विनाशाय । अन्यः कश्चिदपराधं क्षमते अशक्यराजनिवेदनेन । तत्र व्यवहारभागस्य धनपरिक्षयो भवति । भूतोऽप्यर्थः साक्षिणां चित्तवैचित्र्यादन्यथात्वमायाति— इत्यपेक्ष-माणः कश्चित्क्षमेतापि । राजा तद्विनाशार्थमपराधेन मनसि स्थितेन बाध्यत एवासौ शक्ति-मत्त्वाद्वाज्ञः प्रयतमानस्य स्वतन्त्रविरोधो जायते ॥१२॥

हिन्दी—जो कोई अज्ञानवश होकर राजा के साथ द्वेष करता है, वह निःसन्देह

शीघ्रः ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि राजा उसके विनाश के लिए मन को नियुक्त करता (चेष्टायुक्त होता) है ॥१२॥

राजकृत नियम का उल्लंघन—

तस्माद्धर्म्यभिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।

अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥

भाष्य—यतः सर्वतेजोमयो राजा तस्माद्धेतोरिष्टेषु वल्लभेषु मन्त्रिपुरोहितादिषु कार्यगत्या धर्मं कार्यव्यवस्थां शास्त्राचाराविरुद्धां व्यवस्येन्निश्चित्य स्थापयेन्न विचालयेत् । सा तादृशी राज्ञोऽनुज्ञा नातिक्रमणीया । ‘अद्य पुरे सर्वैरुत्सवः कर्तव्यः । मन्त्रिगेहे विवाहो वर्तते । तत्र सर्वैः सन्निधातव्यम् । तथा पशवो नाद्य सैनिकैर्हन्तव्याः । न शकुनयो बन्धयितव्याः । नर्तिका धनिकैराराधनीया एतावन्त्यहानि’ ।

एवमनिष्टेष्वपि । ‘एतेन संसर्गो न कर्तव्यः । एतस्य गृहे प्रवेशो न देयः’ ।

एवंविधोऽत्र धर्मः पटहघोषादिना राज्ञोऽऽदिष्टो नातिक्रमणीयः । न त्वग्निहोत्रादि-धर्मव्यवस्थायै वर्णाश्रमिणां राजा प्रभवति । स्मृत्यन्तरविरोधप्रसङ्गात् । अविरोधे चास्मिन्विषये वचनस्यार्थवत्त्वात् ॥१३॥

हिन्दी—अत एव वह राजा (शास्त्रमर्यादा के अनुसार) अपेक्षित कार्यों में जिस धर्म की व्यवस्था करता (जिस कानून को बनाता) है, उसे नहीं चाहनेवालों को अनिष्ट (अनभिलषित) भी उस धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिये अर्थात् उस कानून को तोड़ना नहीं चाहिये ॥१३॥

दण्ड की सृष्टि—

तदर्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।

ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥१४॥

भाष्य—उक्ता राजोत्पत्तिः । दण्डोत्पत्तिरिदानीमुच्यते ।

तस्मा इदं तदर्थम् । राज्ञः प्रयोजनसिद्धये दण्डमसृजदीश्वरः प्रजाप्रतिः ।

को राज्ञोऽर्थो दण्डेन ?

उच्यते । गोप्तारं सर्वभूतानाम् । ‘गोप्ता’ रक्षिता दण्ड एव । न दण्डेन विना राजा रक्षितुं शक्नोति । अतो राजत्वसिद्ध्यर्थ एव दण्डः सृष्टः ।

धर्ममात्मजं ब्रह्मतेजोमयमिति दण्डस्तुतिः । न यागदानादि ‘धर्मः’, किं तर्हि दण्ड एव ।

न चायं प्राणधनहारित्वादधर्मो विज्ञेयः, अपि त्वेष एव धर्म आत्मजः शरीरादेव

जातः प्रजापतेः ।

न च पाञ्चभौतिकः, किं तर्हि ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितः ।

‘पूर्व’ राजसृष्टेः ॥१४॥

हिन्दी—उस (राजा) की कार्यसिद्धि के लिए भगवान ने सम्पूर्ण जीवों के रक्षक, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्मा के तेजोमय दण्ड की सृष्टि की ॥१४॥

दण्डभय से स्व-स्वभोगप्राप्ति—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।

भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥

भाष्य—तस्य दण्डस्य भयात् । सम्बन्धिमात्रविवक्षायां भयहेतुत्वं नास्तीति षष्ठी । दण्डभ्यात्स्थावराणि भूतानि भोगाय फलकुसुमच्छायादिभिर्भागार्थं कल्पन्ते, तत्समर्था भवन्ति । यो हि स्थावरः फलं न ददाति स परिशोष्यते । न चेत्परिशुष्यति, सर्वतो व्याप्तदेशत्वाच्छित्वाऽगारीक्रियते ।

एतया वृक्षोपमया दण्ड्यस्य राजापथ्यकारिणः पुरुषस्यैवं कर्तव्यम्, छेदन-मूलोत्पाटनादिना दण्डः प्रणेयः ।

स्थावरग्रहणं स्तुत्या दृष्टान्तार्थमीदृशोऽयं दण्डो यत्स्थावरा अपि दण्ड्यन्ते, किं पुनश्चराः । न तु स्थावराणां दण्डोऽयमित्येषा बुद्धिरस्ति ।

स्वधर्मान्न चलन्ति अकाले न पुष्यन्ति न प्रसुवते ॥१५॥

हिन्दी—उस (दण्ड) के भय से स्थावर तथा जङ्गम सभी जीव (अपने-अपने) भोग (को भोगने) के लिए समर्थ होते हैं और अपने-अपने धर्म (राजनियम) से विचलित (भ्रष्ट) नहीं होते हैं ॥१५॥

विमर्श—बलवान् व्यक्ति से पीड़ित दुर्बल व्यक्ति अपने भोग को नहीं भोगने पाता और वह बलवान् व्यक्ति भी अपने से बलवान् दूसरे किसी व्यक्ति से पीड़ित होकर भोग को नहीं भोग सकता; इस प्रकार सर्वत्र अव्यवस्था का साम्राज्य छा जाता है । जङ्गम पशु, पक्षी और स्थावर वृक्ष, लतादि जीव भी बलवान् व्यक्ति से किये गये मारण तथा छेदन आदि के द्वारा अपने-अपने भोग को नहीं भोगने पाते । इसके लिए ही राजदण्ड की रचना की गयी, जिससे समस्त जीव अपने-अपने कर्म को नियत रूप से करते रहें ।

अन्यायियों को दण्ड देना—

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चाबेक्ष्य तत्त्वतः ।

यथार्थतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

भाष्य—अन्यायवर्तिनो ये राजापथ्यकारिणो महामात्यादयस्तेषामयं दण्ड उच्यते । अन्येषां तु परस्परव्यवहारिणाम् 'अनुबन्धं परिज्ञाये'त्यत्रोच्यते । तत्रैव चायं श्लोको व्याख्यातः ।

विद्याऽत्राधिका सा च वेदार्थविषया ।

यथार्हतः यथार्हं यो यस्य योग्य इत्यर्थः ।

सम्प्रणयेत् प्रवर्तयेत्कुर्यादिति यावत् ।

एतत्सर्वमवेक्ष्य निरूप्य तत्तदपेक्षो दण्डः कर्तव्यः । अन्यथाप्रणीतो राज्ञो दृष्ट-
मनर्थमावहेत् ।

दृष्टादृष्टभेदेन स्वप्रकृतिजनपदभेदेन सप्तमाष्टमयोर्दण्डमातृकाश्लोकयोर्भेदः ॥१६॥

हिन्दी—(राजा) देश, काल, दण्डशक्ति और विद्या (जिस अपराध के लिए जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक-ठीक विचारकर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियों में शास्त्रानुसार दण्ड को प्रयुक्त करे अर्थात् अपराधियों को उचित दण्ड दे ॥१६॥

दण्ड की प्रशंसा—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।

चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥

भाष्य—स एव वस्तुतो राजा । तस्मिन्सति राजशक्तिः ।

स एव पुरुषः । येन बलीयसोऽपि पुरुषान् स्त्रीवन्त्यकृत्य वशीकरोति ।

स नेता । कार्याणि तेन नीयन्ते ।

शासिता । शासनं राजाज्ञा, तस्याः शासनीभावः दण्डे सति । धर्मतः कर्तृत्व-
मौपचारिकम् ।

चतुर्णामाश्रमाणां यो धर्मस्तत्र **स प्रतिभूरिव** । यथा प्रतिभूश्चलितुं न ददाति,
तद्वदण्डोऽपि ॥१७॥

हिन्दी—वह दण्ड ही राजा है (क्योंकि दण्ड में ही राज करने की शक्ति है) वह दण्ड पुरुष (मर्द) है (और अन्य सभी लोग उस दण्ड के विधेय) (विनय ग्रहण में शासनीय) होने से स्त्री तुल्य हैं), वह दण्ड नेता है (उस दण्ड के द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं; अतः वह नेता— प्राप्त करानेवाला है), वह दण्ड शासन करनेवाला है (क्योंकि दण्ड की आज्ञा से ही सब अपने-अपने कर्म में संलग्न हैं) और वह दण्ड चारों आश्रमों (६।८७) के धर्म के प्रति (जामिन्दार, मध्यस्थ मनु आदि महर्षियों के द्वारा) कहा गया है ॥१७॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥

भाष्य—न राजा शास्त्रं शास्ति कर्तव्याकर्तव्ययोर्विधिनिषेधयोः किं तर्हि दण्डे एव ।

दण्ड एवाभिरक्षति बलवद्भयो दुर्बलान् । सुप्तेषु राजपुरुषेषु दण्डभयादेव न यथाकामं लोको व्यवहरति ।

द्विविधो दण्डो राजदण्डो यमदण्डश्च ॥१८॥

हिन्दी—दण्ड ही सब प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही सब (प्रजाओं) की रक्षा करता है, सबके सोते रहने पर दण्ड ही जागता है (क्योंकि उसी दण्ड के भय से चोर आदि चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करते); विद्वान् लोग दण्ड को धर्म (का हेतु) समझते हैं ॥१८॥

उचित दण्ड से प्रजानुरञ्जन—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥

भाष्य—**धृतः प्रणीतः** प्रवर्तितः समीक्ष्य पूर्वोक्त कालाद्यपेक्ष्य समीक्ष्य रञ्जयत्यनुरागं प्रजासु जनयति। विपरीतं प्रणीयमानो न केवलं स्वकार्यं न करोति, यावदुरूपयुक्तो विषवद्विनाशयत्यर्थं जनस्य ॥१९॥

हिन्दी—शास्त्रानुसार यथावत् विचार कर दिया गया दण्ड सब प्रजाओं को अनुरत करता है और बिना विचार किये धनलोभ या प्रमाद से दिया गया दण्ड सब तरफ से (धन-जन का) नाश करता है ॥१९॥

दण्ड न देने से अल्पवस्था—

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥२०॥

भाष्य—अप्रणयनादण्डस्य ये बलवत्तरा बलीयांसो बलेनाधिका महाप्राणतया शस्त्रहस्तमनुष्या भूयस्त्वेन वा, ते दुर्बलानपक्ष्यन् शूले मत्स्यानिव । यथा मत्स्या शूलाक्रियन्ते भोजनार्थमेवमशक्तो जनोऽधिकशक्तिभिरुपहीयेत, धनशरीरदारहरणादिना । तस्मादण्डार्हानतन्द्रितोऽनलसो दण्डयेत् । ‘कुतो मया समीक्षा शक्या कर्तुं, नैव दण्डं करोमीति’ नैवं बुद्धिः कर्तव्या ॥२०॥

हिन्दी—यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड के योग्यों (अपराधियों) में दण्ड का

प्रयोग नहीं करता, तो बलवान् लोग दुर्बलों को, जैसे मछलियों को लोहे के छड़ में छेदकर पकाते हैं, वैसे पकाने लगते— ॥२०॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वाऽवलिह्याद्धविस्तथा ।

स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥२१॥

भाष्य—श्वकाकादयोऽप्यत्यन्ताधमा देवैः सह संस्पर्धेरन् । देवेभ्यो दातव्यं हविश्चरुपुरोडाशादि तत्ते अद्युर्यदि दण्डेन न निवार्येरन् ।

अन्यदपि **यत्स्वाम्यं** स्वस्वामिभावः स न स्यात् । जायापत्योः, पितापुत्रयोः । जायायाः पतिर्न स्यात्स्वातन्त्र्येण स्त्रियः प्रवर्तेरन् ।

अधरोत्तरम् । यत्‘अधरं’ वृषलादि तत् ‘उत्तरं’ प्रधानं स्यात् । यदुत्तरं ब्राह्मणादि तदवरतां निकृष्टतामियात् । शूद्रा धर्ममुपदिशेयुः । वैदिको धर्मो नानुष्ठीयेत ॥२१॥

हिन्दी—(यदि राजा अपराधियों में दण्ड-प्रयोग नहीं करता, तो) कौवा पुरोडाश (यज्ञात्र) को खाने लगता, कुत्ता हविष्यात्र को चाटने लगता (अनधिकारी वेदबाह्य मूर्ख यज्ञ को दूषित करने लगते), किसी पर किसी का प्रभुत्व नहीं रह जाता (बलवान् दुर्बल की सम्पत्ति छीन या लूटकर स्वयं मालिक बन बैठता) और नीच लोग ही बड़े बनने लगते ॥२१॥

दण्ड की पुनः प्रशंसा—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।

दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्धोगाय कल्पते ॥२२॥

भाष्य—स्वभावेनैव प्रकृत्यैव **शुचिः** शुद्धो धर्मार्थकामेषु स तादृशो नरो **दुर्लभः**, दुःखैर्लब्धुं शक्यः । किन्तु **दण्डजितो** दण्डेन जीयते, पथि स्थाप्यते । तद्भयान्न यथाकामं प्रवर्तते ।

जगद्धोगायेति प्रागुक्तमेव ॥२२॥

हिन्दी—सब लोग दण्ड से जीते गये हैं (दण्ड के भय से ही नियमित होकर अपने-अपने कार्य में लगे हैं), (बिना दण्ड के) स्वभाव से ही शुद्ध मनुष्य दुर्लभ हैं, दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार (अपने-अपने धनादि को) भोगने के लिए समर्थ होता है ॥२२॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥

भाष्य—ये देवाः पर्जन्यो वायुरादित्य इत्यादयः । भोगाय कल्पन्ते शीतोष्ण-

वर्षैर्निर्यतैरोषधीः पाचयन्ति । तद्दण्डभयाशङ्किनः । अन्यथा किमिति सूर्याचन्द्रमसौ धातृपर्जन्यौ वा स्वस्मात्कार्यकालान्नियतान्न विचलेताम् । कदाचिद्वे अहनी त्रीणि वा नोदियात्सूर्यः, सति स्वातन्त्र्ये । दण्डात्तु बिभ्यन्नातिक्रामति मर्यादाम् । तथा च श्रुतिः—

“भयात्सूर्यः प्रतपति भयात्तपति चन्द्रमाः । भयादग्निश्च वायुश्चेति” ।

दानवादयश्च यदिदमखिलमहर्निशं न जगदुपघ्नन्ति, दण्डमाहात्म्यमेतत् । पतङ्ग-वयांसि गृहमण्डनाः शुकसारिकादयो यद्बालानामक्षिणो नोत्पाटयन्ति श्येनकाककङ्क-गृध्रादयो यज्जीवतो नादन्ति तदप्येवमेव ।

उरगाः सर्पाः केवलं क्रोधविषात्मकाः सम्भूय सर्वे न दशन्ति सर्वं प्राणिजातं तद्दण्डसामर्थ्यम् ।

अतः स्तुतिरेषोच्यते । यद्देवादयो महर्धिका अचेतना वा स्वमर्यादातो न विचलन्ति भयात् किं पुनर्मनुष्याः ।

अत्र श्लोकः पूर्वैः पठितः ।

“दृष्ट्वा तु दैन्यं वनपाटलानां पुष्पप्रगल्भं कुटजप्रहासम् ।

सम्बन्धदानेन तदा जहास, नीचोऽपि रन्ध्रं प्रहरत्यवश्यम्” ॥ इति ॥२३॥

हिन्दी—देव (इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु आदि), दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प (नाग)— वे भी (परमात्मा के) दण्ड के भय से पीड़ित होकर भोग (वर्षा आदि) करने के लिए प्रवृत्त होते हैं ॥२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥२४॥

भाष्य—दण्डस्य विभ्रमोऽकरणमन्यायेन वा करणम् । तस्मिन्सति सर्ववर्णा दुष्येयुः । इतरेतरस्त्रीगमनेन संकरप्रवृत्तेः सेतयो मर्यादाः । ताः सर्वा भिद्येरन् । सर्व-मर्यादापरिलोपः स्यादित्यर्थः । ब्राह्मणाश्च शूद्रवद्वर्तेरञ्छूद्राश्च ब्राह्मणवत् । अतश्च सर्व-लोकप्रकोपः स्यात् । त्रयोऽपि लोका इतरेतरं वृष्ट्यातपादिना नोपकुर्युः ॥२४॥

हिन्दी—दण्ड के विभ्रम (अभाव या अनुचित प्रयोग) से सब वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) दूषित (परस्त्री— सम्भोग से वर्णसङ्कर) हो जाँय, सब मर्यादाएँ (चतुर्वर्गफल प्राप्ति का कारणभूत नियम) छिन्न-भिन्न हो जायें और सब लोगों में (चोरी, डाका, व्यभिचार आदि से) क्षोभ उत्पन्न हो जाय ॥२४॥

१. तदुक्तं कठोपनिषदि— ‘भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥’ इति ।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।

प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

भाष्य—एतद्द्वयं मनुष्याणां प्रशस्ततमम् । अतस्तेनासता रूपकभंग्या स्तौति ।
द्विरूपो दण्डः, दुःखदो भयदश्च । भयहेतुत्वं श्यामतया, दुःखहेतुत्वं लोहिताक्षत्वेन ।
परिसमाप्ता दण्डस्तुतिः ।

दण्डोऽवश्यं कर्तव्यः । स च देशाद्यपेक्षयेति । अन्यः सर्वोऽर्थवादः ।

नेता चेत् । 'नेता' दण्डस्य नायकः । **स चेत्साधु पश्यति** । सुनिरूपितं देशकाला-
दिकं कृत्वा पालयति । तत्र प्रजा न मुह्यन्ति न केनचिद्दोषेण युज्यन्ते ॥ २५ ॥

हिन्दी—श्याम वर्ण (शरीरवाला), लाल नेत्रोंवाला (दण्ड का स्वरूप ऐसा शास्त्रों में वर्णित है) और पापनाशक दण्ड जिस देश में विचरण करता (राजा आदि शासकों के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है) है, उस देश में यदि नेता (राजा आदि शासक) उचित दण्ड देता है तो (वहाँ रहनेवाली) प्रजा दुःखित नहीं होती है ॥ २५ ॥

दण्डप्रयोक्ता स्वरूप—

तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।

समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

भाष्य—इदं सम्प्रणेतुः साधुदर्शनं सत्यवादिता समीक्ष्यकारिता प्राज्ञता त्रिवर्गे कौशलं च ।

सत्यवादी, यः शास्त्रानुसारितया दण्डं कृत्वा कुतश्चिन्महाधनत्वं विज्ञाय न तं वर्धयति, न च वल्लभस्य रागादवनं करोति ।

प्राज्ञो देशादीनां बाध्यबाधकभावार्थमवस्थाविशेषज्ञः । कदाचिद्देशेन कालो बाध्यते कालेन वा देशः । उभौ वा तौ विद्याशक्ती तयोश्च परस्परमुत्सर्गापवादभावज्ञः । कार्य-
वशादर्थश्च बाधक एव बाध्यतामित्यतः प्राज्ञत्वमुपयुज्यते । धर्मादीनां च गुरुलघुता-
भावः । स्वल्पो यत्र धर्मस्तस्मिन्साध्यमाने महाननर्थो भवति, तत्र धर्मस्त्यज्यते । प्राय-
श्चित्तेन समाधास्यत इत्येवमादि बोद्धव्यम् ॥ २६ ॥

हिन्दी—(मनु आदि महर्षियों ने) उस दण्ड प्रयोग करनेवाले राजा (या अन्य राज-
नियुक्त शासक) को सत्यवादी, विचारकर करनेवाला, बुद्धिमान् और धर्म तथा अर्थ का
जानकार होना बतलाया है ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।

कामान्यो विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

भाष्य—कामान्धः रागप्रधानः । विषमः क्रोधनः । समत्वेन दण्डपातनेन शत्रौ मित्रे च वर्धते । क्षुद्रः छलान्वेषादण्डेनैव निहन्यते । प्रकृतिकोपेनादृष्टेन वा दोषेण ॥२७॥

हिन्दी—उस (दण्ड) का यथायोग्य प्रयोग करता हुआ राजा (या राज-नियुक्त पुरुष) त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) से समृद्धियुक्त होता है (और इससे विपरीत) विषयाभिलाषी, क्रोधी, क्षुद्र (नीच स्वभाव होने से विना विचार किये दण्ड प्रयोग करनेवाला) राजा दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है (अमात्यादि प्रकृति के कोप होने पर नष्ट हो जाता है) ॥२७॥

अनुचित दण्ड प्रयोग से हानि—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

भाष्य—सुमहद्यत्तेजः स दण्डः ।

अकृतात्मभिः शास्त्रेण गुरुपासनया सहजेन वा विनयेन येऽनभिविनीतास्तैर्दुर्धरः, न शक्यते सम्यक् प्रणेतुम् ।

नैवं मन्तव्यमाज्ञामात्रेण दण्डः प्रणीयते का तस्य दुर्धरता ? यतो यस्तत्र न जागर्ति प्रयत्नवान्न भवति तं प्रमादिनं सबान्धवं दण्डो हन्ति । न शरीरेण केवलेन राजा नश्यति, यावत्पुत्रपौत्राद्यन्वयेन सह ॥२८॥

हिन्दी—अति तेजस्वी तथा असंयत आत्मावालों से दुर्धर (कठिनता से धारण करने योग्य) दण्ड धर्म से भ्रष्ट (अनुचित दण्डप्रयोग करनेवाले) राजा को बान्धव सहित नष्ट कर देता है ॥२८॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।

अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥२९॥

भाष्य—देशाद्यनपेक्षया यत्र दण्डः प्रणीयते तत्र सराजकस्य जनपदस्य तिर्यक्-कस्थावरसहितस्य नाशः । ततो मन्त्रिभिर्जनपदैश्च राजा विज्ञापनीयः । त्यक्तव्यो वा तादृशो देशः ।

देवमुनयः पीड्यन्ते । इतःप्रदानजीवना देवाः । अस्मिंश्चानुष्ठानाद्युच्छेदान्नष्टा एव देवमुनयः । तथा च पुराणकारैः—

“वर्णाश्रमेभ्यः स्थित्वा तु लोकेऽस्मिन्यः प्रवर्तते ।

स्वर्गादौ देवयोनीनां स्थितिहेतुः स वै स्मृतः ॥” इति ।

प्रथमात् श्लोकादारभ्य यावदयं श्लोकस्तत्रायमर्थसंग्रहः । समवृत्तेन क्षत्रियेण जनपदपरिपालनं कर्तव्यम् । तच्च दण्डेन विना न भवतीति स देशाद्यपेक्षयाऽवश्यं निपुणतो निरूप्य स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वा यथाशास्त्रं प्रणेयः । अन्यथा तु प्रवृत्तावुभयलोक-नाशः । अन्यः सर्वोऽर्थवादः ॥२९॥

हिन्दी—फिर अर्थात् सबान्धव राजा को नष्ट करने के बाद (बिना दोष का विचार किये प्रयुक्त किया गया दण्ड) किला, राज्य चराचर के सहित पृथ्वी तथा अन्तरिक्षगामी मुनियों एवं देवताओं को (यज्ञादि भाग न मिलने से) पीड़ित करता है ॥२९॥

दण्डप्रयोग के अयोग्य व्यक्ति—

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥

भाष्य—सहायसंग्रहार्थं प्रकरणमिदानीमारभ्यते ।

यस्य च निरूपणा वक्ष्यमाणा तत्सहायादिगुणयोगिनश्चार्यसभ्यसेनापतिदण्डाधिकारिणो न सन्ति, तेन स्वयमेव निःशङ्कं नयकालगुणसम्पन्नेनापि न्यायतो न प्रणेतुं शक्यः । 'न्यायः' शास्त्रानुसारिणी देशाद्यपेक्षया च व्यवस्था । अतः सहायाः शोभनाः कर्तव्याः । यथा स्वयं मूढो विचित्तोऽसंस्कृतबुद्धिरस्ति सक्तो विषयेषु लुब्धो धन-विनियोगं यथावन्न करोति तेन तादृशेनैतैर्दोषैर्युक्तेन न सम्यक् ध्रियते, एवमसहायेनापीति तात्पर्यम् । यस्तु विपरीतस्तेन शक्यते ॥३०॥

एष एवार्थो वैपरीत्येनोच्यते—

हिन्दी—असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञान-हीन और विषयों में आसक्त (राजा आदि) के द्वारा न्यायपूर्वक दण्डप्रयोग नहीं किया जा सकता है ॥३०॥

दण्डप्रयोग के योग्य व्यक्ति—

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।

प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३१॥

भाष्य—शुचिरलुब्धः । सत्यसन्धः सत्यप्रधानः । सत्यमेव पुरोधाय सर्व-क्रियासु प्रवर्तते स विजितेन्द्रियः । अजितेन्द्रियस्य कुतः सत्यम् । यथाशास्त्रमनुसरति वर्तते । सुसहायः शोभनाः सहायो अस्येति । अमूर्खैर्भक्त्यनुरक्तैः सहायैर्युक्तः । धीमता प्राज्ञेन । योऽसौ मूढः प्रागुक्तस्तस्यायं प्रतिपक्षतयोक्तः ।

अतः पञ्चभिर्दोषैर्हीनस्तावद्भिरेव गुणैर्युक्तो दण्डप्रणयनेऽधिकृतो दृष्टादृष्टफलाति-शयभागभवतीति श्लोकद्वयस्यार्थः ॥३१॥

हिन्दी—धनादि के विषय में शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करने-वाला, अच्छे सहायकोंवाला और बुद्धिमान् (राजा आदि) के द्वारा दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है ॥३१॥

दण्डप्रयोग का प्रकार—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्दृशदण्डश्च शत्रुषु ।

सुहृत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

भाष्य—पितृपितामहादिक्रमागतो देशो व्यपदेशहेतुः । काश्मीरकस्य काश्मीरः, पाञ्चालस्य पाञ्चालाः **स्वराष्ट्रम्** । तत्र **न्यायप्रवृत्तो** न्यायेन वर्तेत, न्याययोगाद्वृत्त-न्यायः । अतो बहुव्रीहिः । न्यायवृत्तिरिति वा पाठः ।

एतत्पूर्वसिद्धमनूद्य शत्रुषु **भृशदण्डता** विधीयते । परराष्ट्राणि पुनः पीडयेन्न तत्र विघ्नाद्यपेक्षणीयम् । राष्ट्रीयोपरोधो वा । तथाकुर्वतः प्रताप उपजायते । प्रतापधनस्य शत्रवो नमन्ति ।

ब्राह्मणेषु सर्वत्र क्षमान्वितः । अपराधेष्वपि साम्ना दण्डः प्रयोज्यः, न क्रोधेन ।

परराष्ट्रवासिनोऽपि राष्ट्रघातकाले यदि शक्यन्ते रक्षितुं तदा न हन्यन्ते ।

स्निग्धेषु सुहृत्सु अजिह्वोऽकुटिलबुद्धिः कार्यसिद्धिकृत्तत्कार्यप्रधानः स्यात् । समानाभ्युदयप्रत्यवायाः सुहृदः ‘स्निग्धाः’ ॥३२॥

हिन्दी—अपने राज्य में न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रों में सरल व्यवहार करे और (छोटे अपराध करने पर) ब्राह्मणों में क्षमा को धारण करे ॥३२॥

न्यायी राजा की प्रशंसा—

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।

विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥

भाष्य—प्रक्रान्तवृत्तेः स्तुतिरियम् ।

शिलोञ्छेनापि जीवतोऽत्यन्तक्षीणकोशस्य विस्तीर्यते यशः प्रथते । ततश्च परराष्ट्राणि स्वयं नमन्ते स्वराष्ट्रिकश्चानुरागादविचलितो भवति ॥३३॥

हिन्दी—इस प्रकार व्यवहार न्याय से (दण्ड प्रयोग) करनेवाले, शिलोञ्छ (४।५ टिप्पणी) वृत्ति से भी जीविका करनेवाले अर्थात् ऐश्वर्यहीन भी राजा का यश पानी में तेल की बूँद के समान संसार में फैलता है ॥३३॥

अन्यायी राजा की निन्दा—

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।

संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥३४॥

भाष्य—अतो वृत्ताद्विपरीतस्य चलितस्य ।

अत्र हेतुरजितात्मता । यथाशास्त्रमनियतात्मा यः ॥३४॥

हिन्दी—इस (७।३१) के प्रतिकूल दण्ड प्रयोग करनेवाले, अजितेन्द्रिय राजा का यश पानी में घी के बूँद के समान संक्षिप्त होता (घटता) है ॥३४॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥

भाष्य—स्वधर्माणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता । स्वधर्मनिष्ठानामपालने राज्ञः प्रत्यवायः । धर्मच्युतास्तु यदि केनचिदुपहन्येरन् न तत्र राज्ञोऽतीव दोष इति स्वे स्वे धर्म इत्यनेन दर्शयति ।

अथवा 'न' शिल्प्यते— 'अनिविष्टानामिति' । ये तु शास्त्रान्मित्राद्युपदेशाद्वा स्वधर्मायत्ताः न तेषां राजा द्वैधेन वर्तेत ।

वर्णग्रहणं स्त्रीबालवृद्धानां रक्षार्थम् । न हि ते आश्रमस्थाः ।

आश्रमग्रहणं तर्हि किमर्थम् ?

प्राधान्यार्थम् । ब्राह्मणवसिष्ठवत् ।

प्रयोजननिर्देशो वाऽयम् । आश्रमसन्ध्योपासनादिधर्माच्चलितुमेषात्र देयः । न चैवं दण्डाद्यपघातः कर्तुमैतेषां देयः । इतरथा बाधापरिहारः । एवं 'रक्षा' विज्ञेया । सन्ध्योपासनाद्यकरणेषु नामान्यस्य कस्यचिद्भवति (?) द्विरूपा राज्ञः कर्तव्यतेति वर्णाश्रमग्रहणम् । एतदेवोक्तं "वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेदिति" ॥३५॥

हिन्दी—अपने-अपने धर्म में संलग्न सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करनेवाले राजा को ब्रह्मा ने बनाया है ॥३५॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।

तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥

भाष्य—वक्ष्यमाणावबोधार्थः श्लोकः ।

तेन राजा सभृत्येन तदीयैः सहायैर्यत्कर्तव्यं प्रजारक्षणार्थं तदिदानीमुच्यते ॥३६॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) भृत्यों (अपने अधीनस्थ,

अमात्यादि) के साथ प्रजा की रक्षा करनेवाले राजा का जो-जो कर्तव्य है, वह-वह क्रम से शास्त्रानुसार मैं आप लोगों से कहूँगा ॥३६॥

वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा—

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।

त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥३७॥

भाष्य—प्रातरुत्थाय शयनं त्यक्त्वा यथाविधानं कृतसन्ध्योपासनः, प्रथमं ब्राह्मणानां दर्शनं दद्यात् । **उपासनमन्तिकोपवेशनकुशलप्रश्नादिकरणम् ।**

परिः पादपूरणः ।

तिष्ठेत्तेषां च शासने । आज्ञाकरणं तेषां ‘शासनम्’ । यदि कस्यचिदुपकाराया-विशेष्युस्तद्विरुद्धं न शङ्क्यम्, नाप्यनर्थकमनुतिष्ठेत् ।

त्रैविद्यवृद्धान् । तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तदधीतिनः **त्रैविद्या** रूढ्या ऋग्वेदादिवेदत्रयाध्यायिन उच्यन्ते । **विदुषस्त्वर्थवेदिनश्च ।** एवं विधा ये ब्राह्मण-स्तानुपासीत तदीयमाज्ञां कुर्यात् । **वृद्ध्यस्त्रैविद्यानां श्रेष्ठाः** प्रकर्षवन्तोऽध्ययन-विज्ञानयोः ॥३७॥

हिन्दी—राजा (प्रतिदिन) प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुःसामके ज्ञाता और विद्वान् (नीतिशास्त्र के ज्ञाता) ब्राह्मणों की सेवा करे और उनके शासन में रहे (उनके कहने के अनुसार कार्य करे) ॥३७॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।

वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥३८॥

भाष्य—वृद्धान्वयस्थब्राह्मणान् । एतदपूर्वं अन्यत्पूर्वसिद्धं **विप्रानित्यादि ।**

शुचीन् निरुपाधीन् । एतदप्यपूर्वम् । यथैवाध्ययनविज्ञाने उपास्यत्वकारणमेवं शुचित्वमपि ।

द्वितीयश्लोकार्थार्थवादः ।

रक्षोभिः । रक्षांसि निर्दयानि महाबलानि सर्वधर्मशून्यानि । तान्यपि वृद्धसेविनं पूजयन्ति ॥३८॥

हिन्दी—(ज्ञान तथा तपस्या से) वृद्ध, वेदज्ञाता और शुद्ध हृदयवाले उन ब्राह्मणों की नित्य सेवा (आदर-सत्कार) करे; क्योंकि वृद्धों की सेवा करनेवाले की राक्षस (क्रूर प्रकृति वाले) भी पूजा करते हैं (फिर मनुष्यों की क्या बात है) ॥३८॥

विनयी होना—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्माऽपि नित्यशः ।

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥३९॥

भाष्य—वृद्धसेवायाः प्रयोजनमाह ।

तेभ्यो विद्वद्ब्राह्मणेभ्यो वृद्धेभ्यः विनयं राजवृत्तमधिगच्छेच्छिक्षेत् ।

विनीतात्मा । यद्यपि स्वयंबुद्ध्याऽपि विनीतोऽर्थशास्त्रैर्वा, तथापि वृद्धोपदेशे यत्नवान् स्यात् । दृष्टकर्माणः । शास्त्रज्ञेभ्यो निपुणतराः । अथवा पाटवातिशयजननार्थं विनीतेनापि स्वभावतो वृद्धेभ्य आर्येभ्य आत्मा विनेयः । स्वभावशुद्धस्य सुवर्णस्य तेजःसंयोगादिनाऽऽधीयमानसंस्कारो विशुद्धतररूपवानसौ दृश्यते ।

अस्य विनयाधानस्य फलं न विनश्यतीति ॥३९॥

हिन्दी—उन (वृद्ध ब्राह्मणों) से पहले से विनययुक्त भी राजा सर्वदा (और अधिक) विनय सीखे; क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता है ॥३९॥

अविनय-निन्दा तथा विनय-प्रशंसा—

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिग्रहाः ।

वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥४०॥

भाष्य—पूर्वोक्त एवार्थः श्लोकत्रयेण दृढीक्रियते ।

अविनीताः सपरिग्रहा नष्टाः । पुत्रदारहस्त्यश्वादिपसम्पत्परिग्रहः ।

ये तु विनयिनः, न ते राष्ट्रं प्राप्य हारयन्ति । यावत्ते दूरस्था वनस्था अपि, कोशहीना अपि, राज्यं प्रतिपेदिरे लब्धवन्तः ॥४०॥

हिन्दी—अविनय के कारण बहुत-से राजा घोड़ा, हाथी आदि साधनों के सहित नष्ट हो गये और विनय के कारण वन में रहनेवाले (घोड़ा, हाथी आदि साधनों से रहित) भी राज्यों को पा गये (अतः विनयी होना परमावश्यक है) ॥४०॥

अविनय से नष्ट होने का दृष्टान्त—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।

सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥४१॥

भाष्य—उभयत्राप्युदाहरणानि लोकसिद्धानि वर्णयन्ति । एतानि महाभारतादावाख्यानानि ज्ञेयानि ॥४१॥

हिन्दी—अविनय के कारण वेन, नहुष, पिजवन के पुत्र, सुदा, सुमुख और नेमि राजा नष्ट हो गये ॥४१॥

विनय से समृद्धिमान् होने का दृष्टान्त—

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।

कुबेरश्च धनैश्चर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥४२॥

भाष्य—ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ।

“ननु राज्याधिकारे को ब्राह्मण्यप्राप्त्युपन्यासावसरः ? राष्ट्रप्राप्तिरेव यथापूर्वं वर्णयितव्या” ।

उच्यते । धनैश्चर्यादपि जात्युत्कर्षो दुष्प्रापः सर्वाधिकारहेतुत्वात् ।

“ननु च कथं तस्य विनयो हेतुः ? षाड्गुण्यप्रयोगः अप्रमादः अतिव्ययवर्जनं अलोभः व्यसनासेवनं एवमादीनि ‘विनयः’ । तदेतद्ब्राह्मण्यस्यैकमपि न कारणम् । तपो हि तत्र कारणत्वेन श्रुतं विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामित्येवमादि” ।

उच्यते । नार्थशास्त्रोक्तवनीतिर्नयः । किं तर्हि ? शास्त्रीयो विधिलोकाचारश्च । शास्त्रे च तपसा जात्युत्कर्षो जन्मान्तरे प्राप्यते इति विहितमेव । विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं तु तस्मिन्नेव जन्मनि क्षत्रियस्य सत इत्याख्यातमेव ॥४२॥

हिन्दी—विनय के कारण पृथु और मनु ने राज्य, कुबेर ने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने (क्षत्रिय होकर भी) ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया ॥४२॥

विद्याग्रहण—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यात् दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥४३॥

भाष्य—विद्यामिति द्वितीयान्तपाठेऽधिगच्छेदित्यनुषञ्जनीयम् ।

समाप्तब्रह्मचर्यस्य राज्योपदेशात् त्रय्यर्थाधिगमेन तन्निष्पत्तेरभ्यासार्थोऽयमुपदेशः ।

त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, तामधीयते । त्रैविद्यास्तेभ्यस्त्रयीमृगवेदादिवेदत्रयं विद्यात् । सन्दिग्धेषु पदार्थेषु वेदेभ्यो निर्णयं कुर्यात् । तैः सह वेदार्थं चिन्तयेदिति यावत् । न राजत्वाभिमानान्मदावलेपेन सर्वज्ञोऽहमिति बुद्ध्या संदिह्यमानानर्थानुपेक्षेत ।

दण्डनीतिं च । दण्डविषया नीतिः । “दण्डो दमनमित्याहुः” येन शत्रवः स्व-प्रकृतयो किंयवासिनश्चान्यायकारिणो दम्यन्ते स दण्डोऽमात्यादिसम्पत् । नीतिस्तस्य प्रयोजनं तत्र विधिस्तं शिक्षेत । तद्भियश्चाणक्यादिग्रन्थविद्भयः ।

शाश्वतीमिति स्तुतिः ।

यद्यपि दण्डनीत्याऽप्यस्य सर्वलोकः शक्यते ज्ञातुम्, अन्वयव्यतिरेकमूलत्वाद-

स्यार्थस्य, तथाऽप्यबुधबोधनार्थानि तानि शास्त्राणि, बुधानां च संवादाधीनानि, युक्तो दण्डनीतिशास्त्राधिगमः ।

एवं **आन्वीक्षिक्यपि** तर्कविद्यार्थशास्त्रादिका । **आत्मविद्या**ऽध्यात्मविद्या । विशेषण-विशेष्ये वा पदे । आत्मने या हिताऽऽन्वीक्षिकी सा तर्काश्रया । तां शिक्षेत् । सा ह्युप-युज्यते व्यसनाभ्युदयोपरमचित्तसंक्षोभोपशमाय । या तु बौद्धचार्वाकादितर्कविद्या सा नातीवकृत्वा क्वचिदुपयुज्यते । प्रत्युतास्तिव्यमुपहन्ति, यो नातिनिपुणमतिः । यदा तु स्वतन्त्रामान्वीक्षिकीं वेद, तदा तस्य दूतसंवादादिषु वाक्यवैशद्यानामुपयोगो नोपहास्यो भवति ।

वार्तारम्भाश्च पण्यानामर्थपरिज्ञानं वाणिज्यकौशलम्, समयेन बार्हस्पत्येन तत्र परिज्ञानं **वार्ता** । तन्निमित्ता आरम्भा 'वार्तारम्भाः' । वार्तास्वरूपं ज्ञात्वा तद्विषयकार्या प्रवृत्तिः 'आरम्भः' ।

एतल्लोकतो विद्यात् । वणिज्याजीवनोऽत्र 'लोको'ऽभिप्रेतः । ते हि तत्र कुशला भवन्ति । **लोकत** इति च पूर्वयोरनुषङ्गः कर्तव्यस्तेन सर्वत्र तद्विद्ध्य इति लभ्यते ॥४३॥

हिन्दी—(राजा) त्रिवेदों के ज्ञाता विद्वानों से त्रयी विद्या, नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या और लोकव्यवहार से वार्ता विद्या को सीखे ॥४३॥

विमर्श—'त्रयी' विद्या से धर्म विषयक ज्ञान होता है, उसे वेदज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणों से ग्रहण करना चाहिए । 'दण्डनीति' विद्या से नीति और अनीति— अर्थशास्त्र का ज्ञान होता है । 'आन्वीक्षिकी' विद्या से विज्ञान— तर्कविज्ञान का ज्ञान होता है । 'आत्मविद्या' से उन्नति तथा दुःख में क्रमशः हर्ष तथा शोकका निग्रह (रुकावट) होता है और 'वार्ता' विद्या से अर्थ और अनर्थ— खेती, व्यापार एवं पशुपालन आदि के लिए धनादि संग्रह तथा तद्विषयक उपायों का ज्ञान होता है । किसान, व्यापारी आदि से सीखना चाहिए । शास्त्रकारों ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति; इन चार विद्याओं को धर्म स्थिति का कारण बतलाया है१।

१. तदुक्तं कामन्दके—

'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।

विद्या होताश्चस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥' इति ।

तासां विषयानाह तत्रैव । तद्यथा—

'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।

अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति ।

इन्द्रियजय—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्विवांनिशम् ।

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४४॥

भाष्य—इन्द्रियजस्य ब्रह्मचारिधर्मेण सर्वपुरुषार्थतयोपदिष्टस्य पुनरिहोपदेशो राज-
धर्मेण मुख्योऽयं विनय इति ज्ञापयितुम् । तदिदमाह जितेन्द्रिय इत्यादि । सर्वस्यैतत्-
प्रसिद्धं अजितेन्द्रियस्य न प्रजा वशे तिष्ठन्ति ।

योगस्तात्पर्यम् ।

दिवानिशमहोरात्रम् ॥४४॥

हिन्दी—(राजा) इन्द्रियों को जीतने में सर्वदा प्रयत्नशील रहे; क्योंकि जितेन्द्रिय
(राजा) प्रजाओं को वश में रखने के लिए समर्थ होता है ॥४४॥

क्रोधजन्य व्यसनो का त्याग—

दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।

व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥

भाष्य—इदमपरमिन्द्रियजयोपदेशस्य प्रयोजनम् ।

अजितेन्द्रियस्य दुष्परिहराणि व्यसनानि दुरन्तानि । दुःखकरोऽन्तोऽवसानं येषाम् ।
प्रथमं प्राप्तिकाले सुखयन्ति व्यसनानि, पश्चात्तु वैरस्यं जनयन्ति । ततो ‘दुरन्तानि’
उच्यन्ते ।

अथवा दुष्प्रापोऽन्त एषाम् । न हि व्यसनिनस्ततो निवर्तितुं शक्नुवन्ति ।

कामाद्धेतोः समुत्थानं जन्म येषाम् ॥४५॥ एषा वर्णने प्रयोजनमाह गुरुलघुभावञ्च ।

हिन्दी—(राजा) कामजन्य दश तथा क्रोधजन्य आठ, अन्त में दुःखदायी व्यसनो
को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दे ॥४५॥

व्यसनो में आसक्ति से हानि—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।

वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥४६॥

भाष्य—अर्थधर्मवियोगेन व्यवहित् आत्मवियोगः ।

क्रोधजेषु सर्वैर्वियुज्यत इति विशेषः ॥४६॥

तानीदानीं व्यसनानि स्वनामतो दर्शयति—

हिन्दी—क्योंकि कामजन्य व्यसनो (७।४७) में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट

हो जाता है और क्रोधजन्य व्यसनों (७।४८) में आसक्त राजा आत्मा से ही भ्रष्ट (स्वयं नष्ट) हो जाता है ॥४६॥

कामजन्य दश व्यसनों के नाम—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।

तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥४७॥

भाष्य—आखेटकार्थो मृगवधो मृगया । अक्षस्तद्विषयक्रीडा । एतयोस्त्वनर्थ-
त्वं प्रसिद्धम् ।

दिवास्वप्नः कर्मानुष्ठानकाले कर्मस्वव्यापारः । न दिवाशब्देनाहरेव विवक्षितम् ।
तदुक्तं “जागर्तव्ये प्रसुप्तकेति” । अथवा मुख्य एव ‘दिवास्वप्नः’ । स हि प्रतिषिद्धः
सर्वकार्यविधाती । स च दर्शनार्थिनामन्येषां तदसम्पत्तेर्द्वेष्यताजनकः प्रजासु ।

परिवादः रहसि परदोषावर्जनम् । तेन सर्वाः प्रकृतयो विरज्यन्ति । अपरिवाद्यानां
च परिवादेऽधर्मः स्थित एव ।

स्त्रियो मद इत्येतयोरनर्थरूपता सुप्रतीता ।

तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि । वृथाट्या अप्रयोजनमीषत्प्रयोजनं वा इतस्ततश्च
परिभ्रमणम् ।

दश परिमाणो दशकः । कामजः काम इच्छा, ततो जायते । विशिष्टसुखोप-
भोगार्थो वा अनुभूतविशेषाद्वा जायमान ‘कामजः’ ॥४७॥

हिन्दी—मृगया (शिकार), जुआ, दिन में सोना, पराये की निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति,
मद (नशा-मद्यपान आदि), नाच-गाने में अत्यासक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण; ये
दश कामजन्य व्यसन हैं ॥४७॥

क्रोधजन्य आठ व्यसनों के नाम—

पैशुन्यं साहसं द्रोह इर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् ।

वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥४८॥

भाष्य—अमात्यादितो ये सुकृतबान्धवास्तत्र यन्निगोपनीयं तस्य प्रकाशनं पैशुन्यम् ।
साहसं ज्यायसो नीचकर्मणि विनियोगः । स्वल्पेनैवापराधेन कराधानं कारा-
वरोधो वा ।

द्रोह उपांशुवधः ।

तत्रोपघातो वा जीवत एवेर्ष्या ।

सर्वसाधारणस्य विषयस्य साधारण्यव्यावृत्तिः, असहनं वा गुणिनाम्, गुणेषु

दोषाविष्करणं, असूया ।

अर्थदूषणं अर्थानामदानं हरणं वा ।

वाग्दण्डपारुष्ये प्रसिद्धे ।

क्रोधो द्वेषः । तत्प्रधाना एतत्कुर्वन्ति ॥४८॥

हिन्दी—चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरे के गुण को न सहना), असूया (दूसरों के गुणों में दोष बतलाना), अर्थदोष (धनापहरण या धरोहर आदि को वापस नहीं करना), कठोर वचन और कठोरदण्ड; ये आठ क्रोधजन्य व्यसन हैं ।

लोभ का त्याग—

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।

तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥४९॥

भाष्य—“उक्तं तावत्कामस्य व्यसनवर्गस्य लोभो मूलम् । विषयोपभोगस्पृहा कामः, इच्छा अभिलाषो लोभः इत्यनर्थान्तरं यतः । क्रोधजस्य कथं लोभो मूलं येनोच्यते तज्जावेतावुभौ गणाविति” ।

उच्यते । नात्र लोभकारणता तयोर्वर्गयोरभिप्रेता । किं तर्हि । वर्गद्वयतुल्यता लोभस्य । यमेतानि सर्वाणि व्यसनान्यनर्थमुपजनयन्ति तमेवैको लोभो व्यसनहीनस्यापि । तदुक्तं “लोभः सर्वगुणानिव” इति । अत उपचारत एतदुक्तं तज्जावेताविति । यदि लोभो न जायेत कथं समानफलानि स्युः । कारणदोषो हि कार्यदोषं भासयति । अतस्तत्कार्यत्वा-द्व्यसनेषु चेदोषः, ध्रुवं कारणस्याप्यसौ दोष उक्तो भवति ।

अथवा लुब्ध एव पैशुनादिबहिष्कार्येष्वभिष्वङ्गं गच्छति । इतरस्तु स्वल्पके विषये अनुनयेन वोपशाम्यति । सेयमुपचाराल्लोभमूलता व्यसनवर्गद्वयस्योच्यते ॥४९॥

हिन्दी—सब विद्वान् लोग इन दोनों (कामज व्यसन-समुदाय तथा क्रोधज व्यसन-समुदाय, दे० ७।४७-४८) की जड़ जिसको जानते हैं, उस लोभ को यत्नपूर्वक जीतें अर्थात् छोड़ दें; क्योंकि ये दोनों (कामजन्य तथा क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय) उस (लोभ) से उत्पन्न होनेवाले हैं ॥४९॥

अतिकष्टदायक व्यसन—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।

एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥५०॥

भाष्य—दिवा स्वप्नादिभ्योऽस्य चतुष्कस्य गणस्य बहुदोषतरत्वं प्रसिद्धमेव ॥५०॥

हिन्दी—कामजन्य व्यसन-समुदाय में (७।४७) में मद्यपान, जूआ, स्त्रियाँ, और मनु ॥ ४

शिकार (आखेट) इन चारों को क्रमशः अत्यन्त कष्टदायक जाने ॥५०॥

दंडस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।

क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥५१॥

भाष्य—अयमपि **त्रिकः** पैशुनादिभ्यः पापीयानिति सुप्रतीतम् ॥५१॥

हिन्दी—क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय (७।४८) में दण्ड-प्रयोग, कटुवचन और अर्थदूषण (अन्याय से दूसरों की सम्पत्ति हड़प लेना); इन तीनों को क्रमशः सर्वदा अतिकष्टदायक जाने ॥५१॥

उक्त सात व्यसनों में पूर्व-पूर्व का अतिकष्टदायकत्व—

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥५२॥

भाष्य—पानद्यू तयोः पानं गरीयः । तत्र हि संज्ञाप्रणाशः, अनुन्मत्तस्योन्मत्तत्वम्, अप्रेतस्य प्रेतत्वम्, कौपीनप्रकाशनम्, श्रुतप्रज्ञाप्रहाणम्, मित्रहानिः, सद्भिर्वियोगः, असद्भिश्च सम्प्रयोगः, गीतादिष्वर्थघ्नेषु प्रसङ्गः, रतमन्त्रप्रकाशनं च, मानिनोऽप्युपहास्यता, गम्भीरप्रकृतेरपि यत्किञ्चनवादिता मदवेगेनेति, पानदोषाः । द्यूते तु जितमेवाक्षविदुषा, अनक्षज्ञस्यापि पाक्षिकः पराजयः ।

स्त्रीद्यूतव्यसनयोर्द्यूतव्यसनं गरीयः । येन तदेव जितं द्रव्यं तस्यापि विषं भवति । तथा च तन्निमित्तो वैरानुबन्धो जयः, साधारणः केवलं पराजयः, भुक्तनाशः । मूत्रपुरीषवेगधारणाच्च शरीरे शैथिल्यं व्याधिनिदानमेव । तेन क्षुद्रादिभिः स्वपीडातिशयात् । मातर्यपि च मृतायां दीव्यत्येव । कृतकृत्येषु च न सुहृद्भिरपि कृष्यते । तप्तायसपिण्डवत् परद्रव्याणि परिहरतो न प्रत्ययते च । क्षुधिते दुर्गतेऽन्नाद्युपपत्त्युपेक्षा विषयता सर्वगुणसम्पन्नस्यापि तृणवदवज्ञायेत । इति द्यूतदोषाः । स्त्रीव्यसने त्वपत्योत्पत्तिः प्रतिकर्मभोजनभूयिष्ठानुभवनं धर्मार्थपरिग्रहः । शक्या च स्त्री राजहिते नियोक्तुमपवाहयितुं वा ।

स्त्रीमृगयाव्यसनयोः स्त्रीव्यसनं गरीयः । अदर्शनं कार्याणाम्, स्त्रीव्यसनसंगेन राजकार्येषु च निर्वेदः, कालातिपातनम्, धर्मलोपः, पानदोषानुबन्धः, अर्थघ्नेषु चानृतादिषु प्रसङ्ग इति । मृगयायां तु व्यायामः पित्तश्लेष्मबन्धः, मेदादिनाशः, चले स्थिरे वा काये लक्ष्यपरिचयः, प्रहरणे वैशारद्योपजननं ग्राम्यजनपरिजश्चेति ।

एवं कामजस्य चतुष्कस्य वर्गस्य स्ववर्गे पूर्वं पूर्वं पापीयः ।

क्रोधजस्यापि च दण्डपातदोषानुबन्धः अर्थघ्नेष्वेवानृतादिषु संगः ।

दण्डपातवाक्पारुष्ययोर्दण्डपातनं गरीयः । दण्डपातने हि शरीरविनाशादशक्यं

प्रतिसंधानम् । वाक्पारुष्ये त्वमर्षजः क्रोधाग्निः शक्यते दानमानाम्भोभिः शमयितुम् ।

वाक्पारुष्यार्थदूषणयोर्वाक्पारुष्यं गरीयः । तेजस्विनो हि पारुष्यवचनचित्तसंक्षोभे भयं नासादयन्ति । तथा च प्रवादः—

“स्थिरं साध्वसितं काण्डं भित्वा वाऽस्थिप्रवेशितम् ।

विशल्यमङ्गं कुर्वन्ति न वाचो हृदयादपि ॥”

“रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।

वाचा दुरुक्तं बीभत्सेन संरोहति वाक्क्षतम् ॥”

भाग्यायत्तत्वादर्थस्येति न तेजस्विनोऽर्थदूषणं गणयन्ति ।

एवमेतयोर्वर्गयोः पूर्वस्य पूर्वस्य गरीयस्त्वं निदर्शितम् ॥५२॥

हिन्दी—सम्पूर्ण राजमण्डल में रहनेवाले इन सात व्यसन-समुदाय (चार काम-जन्य व्यसन समुदाय-दे० ७।५० और तीन क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय दे० ७।५१) में से पूर्व-पूर्व (अगले की अपेक्षा पहलेवाले) को जितेन्द्रियपुरुष गुरुतर अधिक कष्टदायक समझे ॥५२॥

विमर्श—कामजन्य १० व्यसनसमुदाय पहले (७।४७) कह चुके हैं, उनमें भी चार को अधिक कष्टदायक (७।५०) कहा है; किन्तु इन चारों (मद्यपान, जूआ, स्त्री-सेवन और आखेट) में भी आगे वाले की अपेक्षा पहले वाला भारी अनिष्ट कारक है अर्थात् आखेट की अपेक्षा स्त्री-सेवन, स्त्री-सेवन की अपेक्षा, जूआ, जूए की अपेक्षा मद्यपान अतिकष्टदायक है । इसी प्रकार क्रोधजन्य आठ व्यसनसमुदाय पहले (७।४८) कह चुके हैं, उनमें भी तीन को अधिक कष्टदायक (७।५१) कहा है, किन्तु इन तीनों (दण्ड प्रयोग, कटुवचन और अर्थदूषण) में भी आगेवाले की अपेक्षा पहलेवाला अधिक अनिष्ट-कारक है अर्थात् अर्थदूषण की अपेक्षा कटुवचन तथा कटुवचन की अपेक्षा दण्डप्रयोग अधिक कष्टदायक है । इसका विशेष स्पष्टीकरण ‘मन्वर्थमुक्तावली’ में देखना चाहिये ।

मृत्यु से भी व्यसन का अधिक कष्टदायकत्व—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।

व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनो मृतः ॥५३॥

भाष्य—यद्यपि मृत्युव्यसने सर्व हरेताम् तथाप्येवं विशेषः । मृत्युरस्मिंल्लोके सर्वहरः । व्यसनं पुनरिह चामुत्र च । तदिदमाह । व्यसन्यधोऽधो व्रजति नरकं गच्छतीत्यर्थः ।

‘व्यसनि’ शब्देन अत्यन्तोऽभ्यास एतद्वर्गविषय उच्यते । अतश्चाभ्यास, प्रति-षिध्यते । न त्वीषदासेवनम् । व्यसनभूता ह्येते धर्मार्थकामप्राणहरा भवन्त्यन्यस्यापि

पुरुषस्य, किं पुना राज्ञः । किं च असेवनमप्ययुक्तं पानादीनामशक्यं वेति । यतोऽ-
भ्यासप्रतिषेधः ॥५३॥

हिन्दी—(व्यसन तथा मृत्यु-दोनों के कष्टकारक होने पर भी) मृत्यु की अपेक्षा व्यसन अधिक कष्टकारक है; क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरकों में (एक के बाद दूसरे नरक में) जाता है और मरा हुआ व्यसन रहित पुरुष स्वर्ग में जाता ॥५३॥

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।

सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् ॥५४॥

भाष्य—पितृपितामहान्वयागता बहुसुतधनबान्धवाः प्रकटगोभूमिधनास्तद्देश-
वासिनो **मौलाः** । ‘मूलं’ प्रतिष्ठा, तत्र भवा ‘मौलाः’

शास्त्रविदः । ‘शास्त्रं’ शासनं भृत्यविज्ञानम् । तेनान्येऽपि गुणा गृह्यन्ते । तद्यथा ।
प्राज्ञः दृढकारी धारयिष्णुर्दक्षः वाग्मी प्रबलः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः
शुचिर्दानशीलः योग्यसत्त्वयुक्तः स्तम्भचापलहीनः प्रियो वैरिणामकर्तेति ।

शूरशब्देन राजकार्ये शरीरकलत्रापत्यधनादिष्वपि निरपेक्ष उच्यते । तथा मरणेऽ-
भीरुः । युद्धोत्साही । एक एव परिभवभयाद्बहुभिर्विरुध्यते । दृढप्रहारी बलवान् ।

लब्धलक्षाः । परिदृष्टकर्मतामनेनाह । दृष्टखङ्गव्यापाराः कृतार्थाधिकाराः अनु-
भूतमन्त्रिभूमयः ।

कुलोद्गतान् कुलांकुशनिगृहीता ह्यकार्ये न वर्तन्ते ।

सचिवान् सहायान् ।

नित्यमेते राज्ञः पार्श्ववर्तिनो भवेयुः ।

सप्त वाऽष्टौ वा । नियमोऽयं येन चाल्प एकचित्ता भवन्ति । ततश्च राजमन्त्र
उद्धाटितः स्यात् । बहूनामपि मन्त्रभेदः । तस्मादेतावन्त एव कर्तव्याः ।

सुपरीक्षितान् धर्मार्थकामभयोपधाभिः । सेयं परीक्षोच्यते । पुरोहितः— स्वकार्ये
राज्ञा व्याजेनाधिक्षिप्तः बहुनाऽर्थसम्प्रदानेनाप्तपुरुषैरेकैकममात्यमुपजपेत् राजविना-
शाय— ‘एतच्च सर्वमन्त्रिभ्यो रोचते, अथ कथं भवते’ इति प्रत्याख्याने ‘धर्मोपधा-
शुद्धः’ सेनापतिः केनचिदपदेशेन पूर्ववदधिक्षिप्तः बहुना च सम्प्रदानेनाप्तपुरुषै-
रेकैकममात्यमुपजपेत् राजविनाशाय— ‘एतच्च सर्वमन्त्रिभ्यो रोचते, अथ कथं भवते’
इति प्रत्याख्याने ‘धर्मोपधाशुद्धः’ । सेनापतिः केनचिदपदेशेन पूर्ववदधिक्षिप्तः बहुना
च सम्प्रदानेनाप्तपुरुषैरेकैकममात्यमुपजपेत् राजविनाशाय— ‘एतच्च सर्वमन्त्रिभ्यो

रोचते, अथ कथं भवते इति प्रत्याख्याने ‘अर्थोपधाशुद्धः’ परिव्राजिका अन्तःपुरे लब्धविश्वासा एकैकममात्यमुपजपेत्— ‘सा राजमहिषी भवन्तं कामयते कृतसमागमोपायेति’ प्रत्याख्याने ‘कामोपधाशुद्धः’ । राजप्रयुक्ता एव केचित्पुरुषाः प्रवादमाविष्कुर्युः, ‘कृतसमयैरमात्यै राजा हन्यत’ इति । उपलब्धप्रवादः पुरोहितस्याप्तः कश्चिदमात्येषु मन्त्रं श्रावयेत्— ‘इमं प्रवादमुपश्रुत्य भवतां निग्रहो राज्ञा क्रियत’ इति । तेषामेव चान्यतमः पूर्वमेव कृतसंवित्कः प्रत्येकं राजामात्येषूत्साहयेत् । तत्र ये प्रत्याचक्षते ते ‘भयोपधाशुद्धाः’ ।

अथवा मौलांस्तावत्कुर्यादर्थप्रमादकर्तृ संनिधातृन् । ये अर्थ ग्रामेभ्यः समाहरन्ति समाहतं च रक्षन्ति विनियुज्जते च । सर्वथाऽर्थव्यवहारिणो ‘मौलाः’ कर्तव्या इत्युक्तं भवति । शास्त्रविदो बुद्धिसचिवा मन्त्रिणः । शूरान् बलाध्यक्षान् ।

लब्धलक्षानित्यादि सर्वेषां विशेषणमेकैकस्य ।

समुदितपरीक्षा च योक्ता राजविषया राजामात्येषूत्साहनमिति, सा न युक्तेति मन्यन्ते । एष एव हि शुद्धिभेदो भवेदमात्यानाम् । तस्मादन्या काचित्स्त्री साध्वी प्रयोज्या अन्यश्च विनाशविषय उदाहार्यः ॥५४॥

हिन्दी—(राजा) वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, निशाना मारनेवाले (शस्त्र चलाने में निपुण), उत्तम वंश में उत्पन्न और परीक्षित (शपथ ग्रहण आदि से परीक्षा किये गये) सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे ॥५४॥

मन्त्रियों को नियुक्त करने में कारण—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।

विशेषतोऽसहायेन किं न राज्यं महोदयम् ॥५५॥

भाष्य—यत्सामान्यं गृहस्थस्य गृहकृत्यं गोऽश्वादिपालनं सुकरमिति स्थितम् । स एव गां पालयति स एव दोग्धि । न शक्यमेतदेकेन कर्तुम् । तदप्येकेन दुष्करं विशेषतोऽसहायेन दुष्करमशक्तेन न शक्यं कर्तुम् । कथं ह्येको गां चारयति कथं च भार्या रक्षतु । राज्यं तु प्रतिमहारंभमुदयकर्म, तद्योगः फलवांश्च । अपेक्षमाणस्य महत्फलमुदेति । न चैकेन षाड्गुण्यं वेदितुं शक्यम् । तस्मादात्मसमाः परीक्षिताः सहायास्तेषु तेषु कार्येषु कर्तव्याः ॥५५॥

हिन्दी—जो कार्य सरल है, वह भी एक आदमी के लिए कठिन होता है । विशेषकर महान् फल को देनेवाला राज्य असहाय (अकेले राजा) से कैसे सुसाध्य हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता अतः राजा को पूर्व श्लोक में वर्णित गुणोंवाले मन्त्रियों को नियुक्त करना चाहिए) ॥५५॥

सन्धि विग्रहादि-विचार—

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।

स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

भाष्य—तैर्बुद्धिसचिवैर्मुख्यैश्चार्थाधिकारिभिः सह सामान्यं, यत्रातिरहस्यं तच्चिन्तयेत्सन्धिविग्रहम् । 'किं सन्धिः सम्प्रति युक्तोऽथ विग्रहः'— उभयत्र गुणदोषान्विचारयेत् । इदं कर्तव्यावधारणं तु स्वबुद्ध्या कुर्याद्यथाऽस्य परप्रयोज्यता न भवति ।

इदं चापरं चिन्तयेत्— स्थानम् । तच्चतुर्विधम्, दण्डकोशपुरराष्ट्राणि । तत्र दण्डो हस्त्यश्वरथपदातयः । तेषां प्रतिकर्म पोषणरक्षणादि चिन्त्यम् । न ह्यसमाधानं प्रधानम् । तथा कोशस्य हेमरूप्यबाहुल्यं प्रचुररूप्यताआयव्ययलक्षणं च । कोशस्य यानि न्यायस्थानानि तानि न व्ययितव्यानि न विलम्बनीयानि भृत्यानाम् । तथा राष्ट्रस्य देशपर्यायस्य स्वाजीव आत्मसंधारणं परसंधारणेन नदीवृक्षाः पशवः शत्रुद्वेषाक्रान्तप्रायः गुप्तिगोचरः पशुमान् अदेवमातृकः आपदि च दण्डकरग्रह इत्येवमादि । पुरस्य वक्ष्यति "तत्स्यादायुधसम्पन्नमिति" (७.७५)

अथवा स्थानं स्वदेशाच्चाप्रच्यवनम् ।

एवं समुदयोऽपि चिन्त्यः । तत्र कृषिर्त्रजगुल्मस्थानानि वाणिज्यशुल्कदण्ड इत्येवमादि ।

गुप्तिं स्वराष्ट्रगतां वक्ष्यति ।

लब्धप्रशमनं च देवताश्रमविद्यावतां धार्मिकाणां च मानदानत्यागायोगः उदितानां चाभ्यनुज्ञानं सर्वबन्धनमोक्षः । अनुग्रहो दीनव्याधितानाम् । उत्सवानां चापूर्वाणां प्रवर्तनम् । प्रवृत्तानामनुवृत्तिः ।

यच्च कोशदण्डोपाधिकमधार्मिकचरित्रं तदपनीय धर्मव्यवहारान् स्थापयेत् । अधर्मचारित्रमकृतमन्यस्य कृतं वाऽन्यैः प्रवर्तयेत् । न वा धर्मकृतं चान्यैर्निवर्तयेदिति ।

एवं स्थानादीनि चिन्त्यानि ॥५६॥

हिन्दी—(राजा) उन मन्त्रियों के साथ में सन्धि-विग्रह (षड्गुण), स्थान, समुदय, गुप्ति और मिले हुए का उपयोग, इनका चिन्तन (सलाह-मसविरा अर्थात् परामर्श) करे ॥५६॥

विमर्श—सन्धि आदि ६ 'गुण' (७।१६०) हैं । दण्ड, कोश (खजाना), नगर और राज्य; ये ४ 'स्थान' हैं, यहाँ पर हाथी-घोड़ा, रथ एवं पैदल यह चतुरङ्गिणी सेना का पालन-पोषण 'दण्ड' चिन्ता, कोष के आय-व्यय का विचार 'कोश' चिन्ता, नगर (राजधानी) की रक्षा 'पुर' चिन्ता और राज्य के निवासी प्रजा एवं पशु आदि का चिन्तन

‘राज्य’ चिन्ता है । धान्य (विविध प्रकार के धान, गेहूँ, चना आदि अन्न) तथा सुवर्ण चाँदी आदि खनिजों की उत्पत्ति का स्थान ‘समुद्रय’ है । आत्मरक्षा (७।२१९) तथा राष्ट्ररक्षा (७।११३) ‘गुप्ति’ है । प्राप्त हुए धन-धान्य का सत्कार्य में व्यय तथा रक्षण ‘लब्ध-प्रशमन’ है । इन सबका विचार राजा को मन्त्रियों के साथ करना चाहिये ।

अपने हितकर कार्य का अनुष्ठान—

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।

समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥

भाष्य—तेषां पृथक्पृथगेकैकस्य रहस्यमभिप्रायं हृदयनिहितं भावमुपलभ्य सम-स्तानां संहतानाम् । यत्कारणं कश्चित्पुरुषः परिषदि अप्रतिभानवान्भवति, रहसि प्रगल्भः, कश्चित्परिषदासादितप्रज्ञः । ततश्च तान्समस्तान्मृच्छेत् ।

ततः स्वयं यद्युक्ततरं हितमात्मने तद्व्यवस्येद्विदध्यात् । तत्प्रामाण्यं तेषामेवा-न्यतमेनोपदिष्टं वा यदप्रत्यनीकं निर्दोषं च ॥५७॥

हिन्दी—(राजा) उन (मन्त्रियों) के अभिप्राय को (एकान्त में) अलग-अलग तथा सबों के अभिप्राय को इकट्ठा जानकर अपना हितकारी कार्य करे ॥५७॥

ब्राह्मण मन्त्री—

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।

मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥५८॥

भाष्य—विपश्चिता विदुषा अर्थशास्त्रज्ञेन । परं मन्त्रमत्यन्तं गोपनीयं मन्त्रयेत् । षाड्गुण्ययुक्तम् । अधिकतरप्रज्ञो हि ब्राह्मणः, धार्मिकत्वाच्च विश्वसनीयः ॥५८॥

हिन्दी—राजा उन मन्त्रियों में से विद्वान् धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मण के साथ षड्गुण (७।१६०) से युक्त श्रेष्ठ मन्त्र (गुप्त विचार) की मन्त्रणा (विचार-विनि-मय) करे ॥५८॥

नित्यं तस्मिन्समाश्रितः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ।

तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥

भाष्य—तादृशि ब्राह्मणे सर्वराष्ट्रमण्डलं निक्षिप्य विश्वस्तो राज्यसुखं भुञ्जीत च । तेन सह विनिश्चित्य यानासनादि कर्म व्यवहारसंग्रहादि समाचरेत् ॥५९॥

हिन्दी—राजा उस (विद्वान् तथा धर्मात्मा ब्राह्मण) पर पूर्ण विश्वास कर (उसे) सब काम सौंप दे, तथा उसके साथ निश्चय कर बाद में कार्य का आरम्भ करे ॥५९॥

अन्य मंत्रियों की नियुक्ति—

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।

सम्यगर्थसमाहर्तृन्सुपरीक्षितान् ॥६०॥

भाष्य—यदुक्तं 'सप्त चाष्टौ वेति' तस्यायमपवादः ।

अर्थसमाहर्तृन्संनिधार्तृन्सुपरीक्षितानुपधाभिः कुर्यात् ॥६०॥

हिन्दी—(राजा इसके अलावे) दूसरे भी शुद्ध (वंशपरम्परा से शुद्ध या घूस आदि न लेने से शुद्ध हृदयवाले), बुद्धिमान्, स्थिरचित्त (आपत्ति-काल में भी नहीं घबड़ानेवाले या किसी के दबाव या लोभ होने पर भी राज-हित में ही दृढ़ रहनेवाले), सब प्रकार न्यायपूर्वक धन-धान्य उत्पन्न करनेवाले सुपरीक्षित मंत्रियों को नियुक्त करे— ॥६०॥

निर्वर्ततास्य यावद्विरितिकर्तव्यता नृभिः ।

तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥

भाष्य—सर्व एते मन्त्रज्ञा विचक्षणाः विद्वांसश्चाधिकारिकाः कर्तव्याः । दक्षान् भयसंनिधानेऽप्यवसादहेतावत्युत्साहवन्तः ।

अतन्द्रितान् अनलसान् । उक्तं चाध्यक्षप्रचारे

“बुद्धिमाननुरक्तश्च युक्ता धर्मार्थकोविदः ।

शुचिर्दक्षः कुलीनश्च मन्त्री यस्य स राज्यभाक् ॥

तस्मिन्निक्षिप्य कार्याणि भोगसंगी न नश्यति ।

राजवश्यविधिस्तेन दानानुग्रहणैरिति” ॥६१॥

हिन्दी—इस (राजा) का कार्य जितने मनुष्यों से पूरा हो; आलस्य रहित, कार्य करने में उत्साही और काम के जानकार उतने ही मनुष्यों को (मन्त्री पद पर) नियुक्त करे ॥६१॥

कोश तथा रनिवास के कार्य करनेवाले—

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्भूतान् ।

शुचीनाकरकर्मान्ते भीरून्तन्निवेशने ॥६२॥

भाष्य—अर्थे आयव्ययव्यवहारे । शुचीनर्थेष्वस्पृहान्नियुञ्जीत ।

तान्यर्थस्थानान्युदाहरणेन दर्शयति । आकरकर्मान्ते इति । 'आकराः' सुवर्णरूप्याद्युत्पत्तिसंस्कारस्थानानि, 'कर्मान्ता' भक्ष्यकार्पासावापादयः ।

अंतर्निवेशने— अन्तःपुरभोजनशय्यास्त्रीगृहाणि । भीरवस्तत्र नियोज्याः ।

शूरा हि राजानमेकाकिनमुपजप्ता हन्युः । **दक्षाः** सर्वेऽपि व्युत्थानशीलतया द्वन्द्वोपरिपातमपरिगणय्य स्वामिनः कार्यं काले नातिपातयन्ति ॥६२॥

हिन्दी—(राजा) उन (मन्त्रियो) में से शूरवीर, उत्साही, कुलीन या कुलक्रमागत, शुद्धचित्त (घूस न लेनेवाले और चोरी अर्थात् गवन नहीं करनेवाले) मन्त्रियों को धन-धान्य के संग्रह करने में (सोने आदि के खानों तथा अन्न उत्पादक स्थानों में) और भीरु (डरनेवालों) को महल (रनिवास, भोजन-गृह, शयन, गृह आदि) में नियुक्त करे ॥६२॥

दूत की नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।

इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥

भाष्य—दूतस्यायमधिको गुणः इङ्गिताकारचेष्टज्ञता । परविषये राज्ञो मन्त्रिणां च संधित्सतामिङ्गितानि । दूतस्यादरेण सम्परिग्रहः, विश्वसनम्, मुहुर्मूहुः सम्पूर्णतद्वाक्यस्य तस्य चाभिनन्दनम् । एतानि विपर्यस्तान्युपेक्षेत । आकारः शरीरवैकृत्यं म्लानिर्मुखस्य वर्णवैकृत्यम् । तूष्णींभावो दीर्घोष्णनिःश्वासता । एवमादिविकारैर्देन्यं सूचयति— ‘अस्ति काचिदापदस्य तेनायं विवर्ण’ इति । वाक्यवैशारद्यम्, शारीरसंस्कारः, प्रसन्नमुखता एवमादि हर्षं सूचयति ।

शुचिः स्त्रीगतेऽर्थे । गमनविशेषैर्यतः स्त्रीसम्बन्धे मन्त्रभेदः परिभवश्च ॥६३॥

हिन्दी—(राजा) सभी शास्त्रों का विद्वान्; इङ्गित (वचन तथा स्वर अर्थात् काकु आदि अभिप्रायसूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनता का सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता) और चेष्टा (क्रोधादि का सूचक नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा, करना आदि) को जाननेवाले, शुद्धहृदय (राजधन को अधिक व्यय करना स्त्री-आसक्ति, द्यूत, मद्यपान आदि से रहित); चतुर तथा कुलीन दूत को नियुक्त करे ॥६३॥

श्रेष्ठ राजदूत का लक्षण—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।

वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥

भाष्य—अनुरक्तः अहार्यो भवति । दक्षः देशकालौ नातिक्रमति । स्मृतिमान् । अमुषितस्मृतिप्रसङ्गेन स्वामिसंदेशं कथयति । देशकालवित् । देशकालौ ज्ञात्वाऽन्य-दप्यसंदिष्टं तत्कालयोग्यं कथयति । वपुष्मान्वीकृतिः । प्रियदर्शनत्वात्त्रिपुणमुचिं वक्ति । वीतभीः अनेन निपुणमुच्यते । वाग्मी संदेशस्योत्तरे प्रतिवचनसमर्थो भवति ॥६४॥

उक्तानां दूतगुणानां सम्पादनप्रयत्ने प्रयोजनमाह—

हिन्दी—अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्ति वाला, देश और काल का जानकार, सुरूप, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है ॥६४॥

विमर्श—दूत के अनुरक्त होने से शत्रुराजा के लोगों से भी मेल-मिलाप रहने से अधिक कार्यसिद्धि होगी, शुद्ध (स्त्री तथा धन की आसक्ति से रहित) होने से धन या स्त्री आदि के लोभ से स्वामिकार्य का नाशक नहीं होगा, चतुर होने से अवसर (मौका) पर नहीं चूकेगा, स्मरणशक्तिवाला होने से संदेश को नहीं भूलेगा, देश और काल का जानकार होने से देश-कालानुसार अपने विचार से भी कार्य कर लेगा, सुरूप होने से उनके वचन का प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा, निर्भय होने से अप्रिय तथा कठोर संदेश कहने में भी नहीं चूकेगा और वाग्मी होने से सुन्दर शास्त्र से संस्कृत एवं युक्तियुक्त वचन कहेगा, ऐसे राजदूत से राजकार्य की अवश्य सिद्धि हो जायेगी ।

[सन्धि विग्रहकालज्ञान्समर्थनायतिक्षमान् ।

परैरहार्याज्छुद्धांश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥१॥]

[हिन्दी—(राजा) सन्धि, विग्रह (आदि षड्गुण— ७।१६०) तथा समय को जाननेवाले, समर्थ, आयति (आनेवाला समय) में समर्थ और धर्म, अर्थ तथा काम से शत्रुओं के द्वारा अपने पक्ष में नहीं किये जानेवाले (राजदूतों को नियुक्त करे) ॥१॥]

[समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः ।

कुलीनान्वृत्तिसम्पन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥२॥]

[हिन्दी—अपना पक्ष प्रबल करने के लिए सब शास्त्रों का ज्ञाता और कोशवृद्धि के लिए कुलीन, अच्छी जीविका (वेतन) वाले तथा निपुण (राजदूतों को नियुक्त करे) ॥२॥]

[आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानलोलुपान् ।

नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥३॥]

[हिन्दी—आय तथा व्यय करने में कुशल (उचित आय को नहीं छोड़नेवाला तथा अनुचित व्यय को नहीं करनेवाला), गणितज्ञ, निर्लोभ, धर्मयुक्त और अच्छी तरह कार्य एवं अर्थ का विचार करनेवाले (राजदूतों को नियुक्त करे) ॥३॥]

[कर्मणि चातिकुशलान्लिपिज्ञानायतिक्षमान् ।

सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥४॥]

[हिन्दी—कार्य (को करने) में अत्यन्त चतुर, (अनेक) लिपियों को जाननेवाले, भविष्यकाल के लिए समर्थ, सबका विश्वासपात्र, सच्चा, सब कार्यों में निश्चित (राजदूतों को नियुक्त करे) ॥४॥]

[अकृताशाँस्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः ।

कार्य कामोपधाशुद्धान् बाह्यभ्यन्तरचारिणः ॥५॥]

[हिन्दी—आशा नहीं रखनेवाले स्वामी मुझे कार्य-सिद्धि होने पर कुछ हिस्सा देंगे, या बड़ा पारितोषिक देंगे, ऐसी आशा नहीं रखनेवाले— अन्यथा स्वामी की कार्यसिद्धि होने पर आशानुसार न मिलने से वही राजदूत भारी विरोधी हो सकता है तथा यदि आशा नहीं रखेगा तब सदा अनुकूल ही रहेगा, कालज्ञ (अवसर नहीं चूकनेवाले), प्रसङ्गानुसार कार्य करनेवाले; कार्य, काम तथा उपधा (धरोहर) में सच्चे और बाहर भीतर आने-जानेवाले दूतों को नियुक्त करे ॥५॥]

[कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च ।]

[हिन्दी—समीप (मन्त्री आदि) के कार्य में तथा अन्तःपुर (रनिवास) की यथावत् रक्षा करने में दूतों को नियुक्त करे।]

सेनापति आदि के कार्य—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥

भाष्य—अमात्ये सेनापतौ दण्डो हस्त्यादिबलमायत्तम्, तदिच्छया कार्येषु प्रवृत्तेः

दण्डे वैनयिकी । यो विनेयः स्वपरराष्ट्रगतः स दण्ड्यो यतः । विनयाश्रिता ‘वैनयिकी’ । ‘क्रिया’ कार्यम् ।

नृपतौ कोशराष्ट्रे आयत्ते । सञ्चयस्थानं ‘कोशः’ ‘राष्ट्रं’ जनपदः । द्वे च ते पराधीने न कर्तव्ये । स्वयमेव विलम्बनीयफलग्रासाच्च (?) ।

दूते सन्धिविपर्ययौ । प्रियवचनेन स्वामिकार्यप्रदर्शनेन ‘सन्धिः’ । तद्वैपरीत्येन ‘विग्रहः’ । एतदुभयं दूतायत्तम् ॥६५॥

एवं दूतार्थानुवादः । एष एवार्थः पुनरुच्यते ।

हिन्दी—सेनापति के अधीन दण्ड (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सेना), दण्ड के अधीन विनयकार्य (सबको विनम्र-वश में रखना), राजा के अधीन कोष तथा राज्य और दूत के अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं ॥६५॥

दूतप्रशंसा—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्येव च संहतान् ।

दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥६६॥

भाष्य—दूतः संधत्ते । यथोक्तम् । संहतानेकीभूतान्स एव भिनन्ति । अनुक्त-

मपि प्रियं संदिशति— प्रतिकूलमनाचरितमित्यादि । सुवर्णादिद्रव्यमप्रतिश्रुतमित्याह, एवं भिनत्ति दूतः ।

तदेतत्कर्मान्तरमुपदिष्टम्, येन राजानो भिद्यन्ते । वाक्पारुष्यापन्ना एवं सम्भवन्ति ॥६६॥

अन्यदपि दूतकार्यं दर्शयति ।

हिन्दी—दूत ही (शत्रु से) मेल करा देता है और मिले हुए (शत्रु) से विग्रह करा देता है; दूत वह कार्य कर देता है, जिससे (मिले हुए भी) मनुष्य (परस्पर में) फूट जाते हैं ॥६६॥

दूत के अन्य कार्य—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।

आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥

भाष्य—स दूतो यातव्यस्य राज्ञः कृत्येषु कार्येषु ॥६७॥

हिन्दी—वह (राजदूत) इस (शत्रुराजा) के कृत्यों (कर्तव्य अर्थात् धन, स्त्री, पद या राज्य भाग के द्वारा राजदूतों को वश में करना आदि) में शत्रुराजा के अनुचरों के इङ्गित (अभिप्रायसूचक बात और स्वर आदि) तथा चेष्टाओं (हाथ, मुख, अंगुलि आदि की इशारे वाली) से (शत्रुराजा के) क्षुब्ध या लुब्ध भृत्यों में (शत्रुराजा के) आकार (मुख की प्रसन्नता या उदासीनता आदि), इङ्गित, चेष्टा और चिकीर्षित (अभिलषित कार्य) को मालूम करे ॥६७॥

बुध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥६८॥

हिन्दी—शत्रु राजा के चिकीर्षित (अभिलषित कार्य) को ठीक-ठीक मालूम कर वैसा प्रयत्न करे जिससे अपने को कष्ट न हो ॥६८॥

राजा के निवास योग्य देश—

जाङ्गलं सत्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।

रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥

हिन्दी—(राजा) जाङ्गल, धान्य और अधिक धर्मात्माओं से युक्त आकुलतारहित, (फल-फूल, लता-वृक्षादि से) रमणीय, जहाँ आस-पास के निवासी नम्र हों, ऐसे अपनी आजीविका (सुलभ व्यापार, खेती आदि) वाले देश में निवास करे ॥६९॥

विमर्श—जिस स्थान में बहुत अधिक पानी न हो (अधिक पानी न बरसता हो या

अधिक बाढ़ न आती हो), खुली हवा हो, सूर्य का प्रकाश पर्याप्त रहता हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो, उसे ‘जाङ्गल देश’^१ कहते हैं ।

राजा के निवास योग्य दुर्गों के नाम—

धन्वदुर्ग महीदुर्गमब्दुर्ग वार्क्षमेव वा ।

नृदुर्ग गिरिदुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥७०॥

भाष्य—उक्तप्रकारेण द्विगुणोत्सेधेनैष्टकेन शैलेन द्वादशहस्तादूर्ध्वमुद्धतेन ताल-मूलेन कपिशिर्षचिताग्रेण दृढप्रणाल्या परिकृतं धनुर्दुर्गम् । महीदुर्गमगाधेनाश्रयणी-त्येन चोदकेन परिवेष्टितं दुर्गम् ।

समन्ततोऽर्धयोजनमात्रं घनमहावृक्षान्वितं वार्क्षम् ।

चतुरङ्गबलाधिष्ठितं प्रवरायुधवीरपुरुषप्रायं नृदुर्गम् ।

गिरिपृष्ठे दुरारोहमेवैकमार्गानुगतमन्तर्नदीप्रस्रवणोदकं गिरिदुर्गम् ॥७०॥

हिन्दी—(राजा) धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रयकर नगर (राजधानी) में निवास करे ॥७०॥

विमर्श—धन्वदुर्ग—कम से कम बीसकोस तक पानी (और हरियाली एवं वृक्ष, घास आदि) से रहित रेतीली भूमि युक्त स्थान हो । महीदुर्ग— ईंट-पत्थर आदि उभड़-खाबड़ (बहुत ऊँचे-नीचे) होने से विषम, युद्ध के लिए अयोग्य तथा गुप्त गवाक्ष (छोटे-छोटे छिद्रवाले जंगले) वाले परकोटा आदि से युक्त भूमि वाला स्थान । जलदुर्ग— चारों तरफ बहुत दूर तक अगाध जल से भरा हुआ स्थान । वृक्षदुर्ग— कम से कम चार कोश तक सघन बड़े वृक्षों, कंटिली झाड़ियों एवं लताओं तथा विषम नदी-नाले आदि से युक्त देश । मनुष्यदुर्ग— चारों तरफ हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सेना एवं दूसरे बहुत मनुष्यों से सुरक्षित स्थान । गिरिदुर्ग— अत्यधिक कठिनाई से चढ़ने योग्य तथा अधिक संकीर्ण मार्ग होने के कारण बहुत कठिनाई से प्रवेश करने योग्य नदियों, झरनों आदि वाले पहाड़ों से युक्त स्थान ।

इस श्लोक में वर्णित राजनिवासयोग्य स्थानों में यह ‘भारतवर्ष’ अत्यन्त सुरक्षित है, जिसके तीन दिशाओं में सुदूर तक अगाधजलपूर्ण हिन्दमहासागर आदि समुद्र तथा शेष उत्तर दिशा में उच्चतम शिखर वाला हिमालय पर्वत— जिसमें खैबर का दर्रा तथा

१. तदुक्तम्—

‘अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।

स ज्ञेयो जाङ्गलो देशी बहुधान्यादिसंयुतः ॥’ इति । (म०मु०)

बोलन अत्यन्त संकीर्ण हैं। किन्तु भारत पाकिस्तान रूप में देश-विभाजन हो जाने से अब वह प्राकृतिक अजय्य सीमा भारत की नहीं रही।

गिरिदुर्ग की श्रेष्ठता—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।

एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥

हिन्दी—(राजा) सब प्रयत्न से गिरिदुर्ग का आश्रय करे; क्योंकि इन दुर्गों (७।७०) में से अधिक गुणयुक्त होने से गिरिदुर्ग श्रेष्ठ होता है ॥७१॥

उक्त दुर्गों के निवासी जीव—

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाप्सराः ।

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

भाष्य—आद्यानि त्रीणि धनुर्दुर्गादीनि । आश्रिताः आश्रयं कृतवन्तः । मृगाः । गर्ताश्रया गर्गरनकुलादयः । अप्सरा ग्राहकूर्मादयः । एषां दुर्गाणां तदाश्रितानां च यादृशा गुणदोषास्तादृशा एव राज्ञामपि भवन्तीति प्रदर्शनार्थम् ।

त्रीण्युत्तराणि । प्लवङ्गमाः कपयः ॥७२॥

हिन्दी—इन दुर्गों (७।७०) में से पहले वाले तीन दुर्गों में (धन्वदुर्ग, महीदुर्ग और जलदुर्ग में) मृग, विलों में रहनेवाले (चूहा, खरगोश आदि) तथा जलचर (मगर आदि) और अन्त वाले तीन दुर्गों में, (वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग और गिरिदुर्ग में) वानर, मनुष्य तथा अमर (देव) क्रमशः निवास करें ॥७२॥

विमर्श—धन्वदुर्ग में मृग, भूमिदुर्ग में चूहा तथा खरगोश आदि बिल में रहनेवाले जीव, जलदुर्ग में मगर, बड़ी-बड़ी मछलियाँ आदि जलचर जीव-वृक्षदुर्ग में वानर (व्याघ्र, सिंह आदि), मनुष्यदुर्ग में मनुष्य (हाथी, घोड़ा रथ एवं पैदल सेना तथा अन्यरक्षक समूह) और गिरिदुर्ग में देवता (किन्नर, गन्धर्व आदि) निवास करें ।

दुर्ग की प्रशंसा—

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नापहिंसन्ति शत्रवः ।

तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥

भाष्य—दुर्गविधानप्रयोजनश्लोकोऽयम् ।

अत्यल्पबला अपि दुर्गाश्रिता महाबलैररिभिर्न सहसा शक्यन्तेऽभिभवितुमतो दुर्गा-श्रयो युक्तः ॥७३॥

हिन्दी—जिस प्रकार इन (धन्व आदि) दुर्गों में रहनेवाले इन (मृग आदि) को शत्रु

(व्याध आदि) नहीं मार सकते हैं, उसी प्रकार दुर्ग में निवास करनेवाले राजा को शत्रु नहीं मार (जीत) सकते हैं ॥७३॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥७४॥

भाष्य—सुप्रसिद्धमेतद्दुर्गप्रयोजनम् ।

प्राकारदृष्टान्तेन गिरिदुर्गबलमेतदिति । तदयुक्तम्, महीदुर्गऽपि प्राकारसम्भवात् । तस्मात्सर्वेषां दुर्गाणां तत्प्रयोजनं स्वबुद्ध्या रूप्यते ॥७४॥

हिन्दी—(जिस कारण से) किले में रहनेवाला एक धनुर्धारी (योद्धा) सौ योद्धाओं से और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओं से लड़ता है, इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशंसा करते हैं ॥७४॥

[मन्दरस्यापि शिखरं निर्मानुष्य न शिष्यते ।

मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां तनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥६॥]

[हिन्दी—मनुष्य रहित मन्दर का शिखर भी नहीं बचता (शत्रुओं से पराजित होता है), अतएव ब्रह्मा के पुत्र मनु ने मनुष्यदुर्ग को श्रेष्ठ कहा है ॥६॥]

दुर्ग को अस्त्र-शस्त्रयुक्त बनाना—

तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।

ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥७५॥

भाष्य—आयुधैः खड्गप्रासादिभिः सम्पन्नमुपेतम् । आयुधग्रहणं वर्मशिरस्त्राणो-पस्कारादेरन्यस्यापि युद्धोपकरणस्य प्रदर्शनार्थम् ।

धनं रूप्यसुवर्णादीनि ।

वाहनानि रथाश्वादयः ।

शिल्पिभिर्यन्त्रावाहतक्षप्रभृतिभिः ।

यवसेन ।

ब्राह्मणैर्मन्त्रिपुरोहितैरन्यैर्वा । दण्डिकापोतेन (?) ध्वजशङ्कया कदाचिन्नृपधर्म-साहाय्येन प्रवर्तन्ते ।

प्रदर्शनार्थत्वाच्च भिषगौषधाद्यपेक्षेता संरोहणाद्युपयोगि संनिधापयितव्यम् ॥७५॥

हिन्दी—उस (किला) को हथियार (तलवार, धनुष आदि), धन (सुवर्ण, चाँदी आदि), धान्य (गेहूँ, चावल, चना आदि), वाहन (हाथी, घोड़ा, रथ, ऊँट आदि),

ब्राह्मणों, कारीगरों, यन्त्रों, चारा (घास, भूसा, खरी, कराई आदि) पशुओं के भोज्य पदार्थों) और जल से संयुक्त रखे ॥७५॥

दुर्ग के बीच में राजभवन-निर्माण—

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ।

गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७६॥

सुपर्याप्तम् । यावदात्मनो राज्ञो राजपुत्रकोशायुधाश्चागारादिषूपयुज्यते । गुप्तं बहु-
कक्षाकम् । गृहं कारयेत् । सर्वर्तुकं सर्वर्तुमाल्यफलैः शोभितम् । सर्वे ऋतवो यत्रेति ।
ऋतुशब्देन तत्कार्याणि पुष्पफलादीनि लक्ष्यन्ते ।

‘सर्वर्तुगमिति’ पाठे सर्वानृतूनाच्छति प्राप्नोतीति व्युत्पत्तिः । अर्थस्तु स एव । यो
यत्र भवति स तेन व्याप्त इत्युच्यते ।

शुभ्रं सुधाधवलितम् ।

जलवृक्षसमन्वितं धारागृहोद्यानवनसम्पन्नम् ॥७६॥

हिन्दी—राजा उस (किले) के बीच में (स्त्री-गृह, देव मन्दिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवनों के अलग-अलग होने से) बड़ा, (खाई, परकोटा अर्थात् चहार-दीवारी, सेना आदि से) सुरक्षित (सब ऋतुओं में फलने-फूलनेवाले वृक्ष, गुल्म और लता आदि से युक्त होने से) सब ऋतुओं के अनुकूल, (चूना, रंग आदि से उप-लिप्त होने से) शुभ्र, (वावली, पोखरा) जलाशयों तथा पेड़ों से युक्त अपना महल (राज-भवन) बनवावे ॥७६॥

सवर्णों के साथ में विवाह—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्या सर्वणां लक्षणान्विताम् ।

कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥७७॥

भाष्य—तद्गृहमाश्रित्य भार्या तत्र सहायार्थं महतः कुलादुद्वोढव्या । एतत्सम्बन्धेन संरक्षणार्थम् ।

सवर्णामित्यादावुच्यते तत्राक् प्रदर्शितम् ।

हृद्यां मनोरमां कान्तिलावण्ययुक्ताम् ।

रूपं संस्थानम् । गुणा वचनाचरणादयः । तैरन्वितां युक्ताम् ॥७७॥

हिन्दी—(राजा) उस महल में निवास कर स्वजातीय, शुभलक्षणोंवाली, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, हृदयप्रिय तथा रूप एवं गुण से युक्त स्त्री से विवाह करे ॥७७॥

पुरोहित आदि का वरण—

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।

तेऽस्य गृह्याणिकर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥७८॥

भाष्य—सत्यपि द्वितीयानिर्देशेन प्राधान्यावगमे विवक्षितमेवैकत्वम्, अन्यत्राप्युपादानात् । यूपं छिनत्ति भार्या विन्देतेतिवत् ।

ऋत्विजो वृणुयात् । तेषां च सङ्ख्या श्रुतित एवावगन्तव्या । गुणाश्च “नातिस्थूलो नातिकृशः नातिदीर्घो नातिह्रस्वः नातिवृद्धो नातिबालः— सप्तपुरुषान् विद्यात पोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिः समनुष्ठितोभयभावान् । तान् प्रति नाब्राह्मण्यमाशङ्क्यते— विद्वान्याजयति” इत्यादि ।

गृह्याणि कर्माणि शान्तिस्वस्त्ययनादीनि । वैतानिकानि वैहारिकाणि त्रेत्राग्निविषयाणि ॥७८॥

हिन्दी—(राजा आथर्वण विधि से) पुरोहित और यज्ञ कर्म करने के लिए ऋत्विज् को वरण करे तथा वे लोग (पुरोहित तथा ऋत्विक्) इस (राजा) के शान्तिकर्म तथा यज्ञ कर्म को करते रहें ॥७८॥

यज्ञ करना—

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।

धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥७९॥

भाष्य—आप्तदक्षिणैर्भूरिदक्षिणैः पौण्डरीकादिभिः ।

भोगान् धनानि च । वस्त्रगन्धविलेपनादयो भोजनविशेषाश्च ‘भोगाः’, ‘धनानि’ सुवर्णादीनि ।

नित्यमेव तद्दानमिच्छन्ति ।

धर्मार्थं तस्योत्पत्त्यर्थमेव ॥७९॥

हिन्दी—राजा बहुत दक्षिणा वाले (अश्वमेध, विश्वजित् आदि) अनेक यज्ञों को करे और धर्म के लिए ब्राह्मणों को (स्त्री, गृह, शय्या, वाहन आदि) भोग— साधक पदार्थ तथा धन देवे ॥७९॥

कर-ग्रहण—

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेहलिम् ।

स्याच्चाग्रायपरो लोके वर्तेत पितृवत्पु ॥८०॥

भाष्य—बलिं करं धान्यादीनां षष्ठाष्टमादिभागमाप्तैरर्थादुपधाशुद्धैः ।

यथोक्तमाग्रायपरश्च स्यात् । आगमप्रधानतर्कशास्त्राण्याश्रयेत् ।

अथवा पारम्पर्यागतमेव भागं गृहीयान्नाधिकम् ।

वर्तेत पितृवञ्चषु । करदेष्वन्येषु च स्नेहबुद्ध्या वर्तेत ॥८०॥

हिन्दी—(राजा) विश्वासपात्रों से वार्षिक कर वसूल करावे और लोगों से (कर लेने) में न्याययुक्त बर्ताव करे और मनुष्यों में (राजा) पिता के समान बर्ताव करे ॥८०॥

अध्यक्षों की नियुक्ति—

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।

तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरञ्चणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥

भाष्य—उध्यक्षा अधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तान्कुर्यात् । विविधान् बहुप्रकारान् मृदूनुग्रान् धार्मिकान् अर्थार्जनपरांश्च ।

तत्र तत्र सुवर्णकोष्ठागारे पण्यकुप्यकर्मस्वधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तान् शुल्क-
नौहस्त्यश्वरथपदात्यादीन् विपश्चितः स्थापयेत् ।

सर्व एते अमात्यगुणसम्पद्युक्ता विज्ञेयाः । यथोक्तमध्यक्षप्रचारे “तेऽध्यक्षाः सर्वाणि कार्याण्यवेक्षेरन्नन्येषां नृणां तत्स्थानोपयोगिनां कार्याणि कुर्वताम्, हस्त्यध्यक्षेण हस्ति-
पकाः अश्वाध्यक्षेण तुरङ्गमाद्याः, गवाध्यक्षेण कर्षणादयः” ॥८१॥

हिन्दी—(राजा) उन-उन कार्यों (सेना, कोष संग्रह, दूतकार्य आदि) में अनेक प्रकार के अध्यक्षों को नियुक्त करे तथा वे अध्यक्ष इस राजा के सब कार्यों को देखा करे ॥८१॥

ब्राह्मणों की वृत्तिदान—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।

नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥

भाष्य—गुरुकुलेऽधीतावगतवेदार्था गार्हस्थ्यं प्रतिपित्सवो धनेन पूजयितव्याः ।

इदमपि नैय्यमिकदानम् । अत एवाह नृपाणामक्षय इति । नित्यत्वादक्षयो यावज्जीविकः । काम्यत्वे चाफलभावि निवर्तते । यदुक्तं ‘सांतानिकं यक्ष्यमाणमिति’ (११-१), तदेवेदम् ।

अन्ये त्वाहुः । तत्रार्थिभ्यो दानं विहितम् । इह त्वनर्थिनामधिकारात् विधानमात्रया वस्त्रयुगादिदानेन च नराणां पूजा कर्तव्या । तथा चाह विप्राणां पूजको भवेदिति ।

निधिरिव निधिः, उत्तमफलत्वात् ।

ब्रह्मसंनिहितो ब्राह्मः ॥८२॥

हिन्दी—(राजा) वेदाध्ययन के बाद गुरुकुल से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाले ब्राह्मणों की पूजा (धन-धान्य-गृहादि को देकर आदर-सत्कार) करे; क्योंकि यह ब्राह्मण राजा का अक्षय निधि (खजाना) कहा गया है ॥८२॥

ब्राह्मणों को वृत्तिदान की प्रशंसा—

न तं स्तेना च चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।

तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥८३॥

भाष्य—ब्राह्मणेभ्यो योऽर्थो दत्तः, न तं स्तेना आटविकादयोऽमित्राश्च शत्रवो हरन्ति । न भूमिष्ठमिव विस्मृत्य प्रातिभाव्येन वा नश्यति ॥८३॥

हिन्दी—उस (सत्पात्र ब्राह्मण में दिये गये दान रूप कोष) को चोर नहीं चुराते, शत्रु नहीं छीनते और वह नष्ट नहीं होता है, अतएव राजा ब्राह्मणों में अक्षय कोष रखे (ब्राह्मणों को दान दे) ॥८३॥

न स्कन्दति न च्यवते न विनश्यति कर्हिचित् ।

वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥८४॥

भाष्य—एषं एवार्थोऽवश्यानुष्ठेयः प्रकारान्तरेण पुनरुच्यते । अग्नौ अद्भूयते तत्कदाचित् **स्कन्दत्यधः** पतति हूयमानम्, तथा **च्यवते** पुरोडाशादि क्षामतया । ततश्च कर्मवैगुण्याद्विनश्यति शिष्टानाम् । इदं तु यद् ब्राह्मणेभ्यो दानं न तस्यैते दोषाः सन्ति । अत एवाह । **वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यः** अग्नौ होमेभ्य इत्यर्थः । मुख्यार्थवृत्त्या कर्मनामधेय-मेवाग्निहोत्रशब्दस्तदा चादिग्रहणं व्याख्येयम् ।

मुखे हुतमिति । पाणिरेव ब्राह्मणस्य मुखं “पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृत” इति वचनात् । **वरिष्ठं श्रेष्ठम्** ।

अर्थवादश्चायं न पुनर्होमनिन्दैव ॥८४॥

हिन्दी—अग्नि में हवन किये हविष्य (क्षीरात्र, घृत आदि हवनीय पदार्थ) की अपेक्षा ब्राह्मण के मुख में किया गया हवन (ब्राह्मण को दिया गया दान) न भीक नीचे गिरता है, न कभी सूखता है और न कभी नष्ट होता है (अतः अग्नि होत्रादि कर्म की अपेक्षा ब्राह्मण को दान देना श्रेष्ठ है) ॥८४॥

वेदपारग ब्राह्मण को देने का अनन्त फल—

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।

आचार्ये शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥८५॥

भाष्य—“विप्रेभ्य इति च प्रकृतम् । तथा च प्रागप्युक्तम् (३।९६) “वेदतत्त्वार्थ-

विदुषे ब्राह्मणायेति । न च यथाश्रुतदानफलोपपत्तिः । कीदृशं हि तत्साम्यं— जातितः परिमाणतः उपकारतो वा । यदि तावज्जातितस्तदिति, औषधपानोद्देशेन देवलेभ्यो दत्तं खाद्यदानं दुःखायैव स्यात् । तित्तकटुकषायानि प्रायश औषधानि विरेचनीयानि, न प्रीतिजननानि । अथ परिमाणतः, तत्रापि यदि द्रव्यमनपेक्ष्य केवलपरिमाणासाम्यम्, सुवर्णं दत्तं तत्परिमाणं ताम्रं लभ्येत, अन्यद्वा मृत्काष्ठादि । अथ जातितः परिमाणतश्च, तत्र प्रागुक्ता एव दोषाः । अथोपकारतः, तत्रापि हि यदि तज्जातीय एवोपकारः व्याधिनिवृत्तिरौषधोपकारः । असति च व्याधौ फलस्य विनिवृत्तिरतो व्याधिनिवृत्तिफलकेनौषधदानेन व्याधिराक्षेप्तव्यः । सुसमं वा अन्यदुःखं इति प्राप्तम् । तस्मात् यथा निवीतं मनुष्याणां उपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इत्युपव्यानविशेषान्निवीतादयो न पृथग्वाक्यानि तथेदमपि द्रष्टव्यम् ।”

अत्रोच्यते । नात्राख्यातश्रवणमस्ति, सर्वेषां समत्वात् । तत्र यद्यर्थवादः ‘सहस्रं वेदपारग’ इति तदर्थवादोऽस्तु । अथायं विधिः, विध्यन्तरशेषभावात्सर्वत्र विधिरभ्यपेतव्यो विशेषाभावात् । निवीतादिषु तूपव्ययत इत्यत्राख्यातदर्शनात् तदर्थस्य विधिविषयत्वयोग्यत्वाभावादेकत्वावगमाच्च युक्तार्थवदेव तर्हानुक्तो विशेषः । यत्तु नाब्राह्मणेभ्यो दानमस्तीति तद्विस्मृतं भवेत् । दीनानाथादिभ्यः सर्ववर्णेभ्यो दानस्य विहितत्वात् । एतान्येव च विधायकानि वाक्यानि ब्राह्मणेभ्यो राज्ञां दानस्य ।

यत्तूक्तं “यथाश्रुतफलानुपपत्तिः सर्वप्रकारेणास्याभ्युपगम्यमानत्वादिति” ।

अत्रोच्यते । लौकिकीयं वाचोयुक्तिः **सममिति** । यल्लोके नात्युत्कृष्टं तदेव मुच्यते । समलवणाः सक्तव इति । उपकारापेक्षा च ‘द्विगुणमिति’ संख्याश्रुतिर्यावत्तस्योपकारस्तावद्द्विगुणो भवति । न तद्द्रव्यप्राप्तिर्नापि तज्जातीय एवोपकारः, किंतु प्रीत्यतिशयोत्पत्तिः । न चेह फलविशेषश्रुतिर्येनेयमाशङ्कापि स्यात्किं तदेव द्रव्यं प्राप्येत उत स एवोपकार इति । अश्रुतफलविशेषेषु स्वर्गः फलम् । किंच तिलादिदाने प्रजाप्तिः फलं श्रूयते । तत्र का द्रव्यसाम्याशङ्का । तस्माच्चायमप्यर्थ उत्तरोत्तरोऽत्र च पात्रातिशयदानात् फलातिशयसिद्धिः । तथा चाह “पात्रस्य हि विशेषेणेति” (८६) ।

ब्राह्मणब्रुवे ब्रुवशब्दः कुत्सायाम् । जातिमात्रब्राह्मणोऽध्ययनादिगुणहीन इत्यर्थः । **आचार्यः** उपनेता । **वेदपारगोऽध्ययनश्रवणाभ्यां** वेदस्यान्तं गतः ॥८५॥

हिन्दी—ब्राह्मणभिन्न (क्षत्रिय आदि) में दिया गया दान सामान्य फल वाला, ब्राह्मण क्रिया से रहित अपने को ब्राह्मण कहनेवाले ब्राह्मण में दिया गया दान दुगुने फल वाला, विद्वान् ब्राह्मण में दिया गया दान लाखगुने फलवाला और वेद-पारगामी ब्राह्मण में दिया गया दान अनन्त फलवाला होता है ॥८५॥

सत्पात्र में दान की प्रशंसा—

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धाधानतयैव च ।

अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥८६॥

भाष्य—पातयतेऽधर्मकर्मणः, पात्यमानं वा त्रायत, इति पात्रं सम्प्रदानम् । अथवा घृततैलाद्याधारः पात्रमुपचारादिदमपि पात्रम् । अत्रापि हि द्रव्यं निधीयते । आह च (७।८२) “नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयत” इति । तस्य विशेषो भेदः सगुणनिर्गुणत्वादितः । तेन हेतुना दानस्य फलमवाप्यते ।

अल्पं वा । गुणवते वृत्तस्वाध्यायसम्पन्नाय दत्तं बहु, निर्गुणाय त्वल्पम् ॥

हिन्दी—विद्या तथा तपसे युक्त पात्र की अपेक्षा से (सुपात्र को प्राप्तकर) श्रद्धा से दिये गये दान के फल को परलोक में मनुष्य प्राप्त करता है ॥८६॥

विमर्श—सामान्य, मध्यम या उत्तम पात्र के अनुसार ही श्रद्धा एवं भक्ति से युक्त होकर दिये गये दान का क्रमशः सामान्य या उत्तम फल मनुष्य को परलोक में मिलता है । अतएव सत्पात्र को दान देना सर्वश्रेष्ठ है ।

देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।

पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥७॥

भाष्य—तत्र देशः स्वनिवासदेशादन्यो जानपदः । दूरदेशप्रोषितायां सन्निहित-त्वादत्तमस्य हेतुरुपधातः । यज्ञप्रवृत्तस्य केनचिदंगेन न्यूनता ग्रहोपराग इत्येवमादिः । **विधानम्** । उदकपूर्वकस्वस्तिवाचनसंस्कारातिशयो भावप्रसाद इत्यादि ।

द्रव्यं गोभूहिरण्यादि । **श्रद्धा** प्राप्त्यभिलाषातिशयः, ‘कथमिदं मे निवर्ततेति बुद्धि-संतानः ।’

प्रेत्येति । क्रियासमनन्तरं फलोत्पत्तेरनियममाह, न पुनर्जन्मान्तरफलतामेव । वैदिकानां कर्मणां फल एव कामस्य नियमावगमात् ॥८६॥

हिन्दी—देश-काल के अनुसार श्रद्धा से युक्त जो द्रव्य सत्पात्र में दिया जाता है, वही धर्म का प्रसाधन (उत्तम साधन या भूषण) है ॥८॥

[एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज उदाहृतः ।

जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥७॥]

[**हिन्दी**—राजा का सम्पूर्ण यही धर्म कहा गया है कि युद्ध से धन को जीतकर ब्राह्मणों को दान कर दे ॥७॥]

युद्ध से विमुख होने का निषेध—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।

न निवर्तेत संग्रामात्क्षेत्रं धर्ममनुस्मरन् ॥८७॥

भाष्य—सर्वोपायपरिक्षये राज्ञो विहितं युद्धम् । तत्र संग्रामभूमिगतस्याहतस्य सम-
न्यूनाधिकबलेनोपेक्षाप्रतिषेधार्थमिदं पदम् । न मन्तव्यं निकृष्टबलं न हन्मीति ।

अथवा ये शत्रव आटविकादयः प्राक्स्थितां मर्यादामतिलंघ्य देशमुत्क्रामन्ति
शत्रुभिर्वा राज्ञः संदधते, न चेत्ते युद्धेन विना नियन्तुं शक्यन्ते,— तदा निकृष्टबलै-
रपि तैर्योद्धव्यमेव । यद्यपि तैरसौ शब्देन नाहूतो वस्तुतस्तत्त्वाहूत एव भवति ।

एष हि क्षत्रियाणां धर्मः यदाहूतः प्रकृतैस्तैर्युद्धे सर्वेण सह योद्धव्यमेव । जातिवयः
शिक्षापुरुषकारादि नापेक्षितव्यम् । एष धर्मः स्मर्तव्यः ॥८७॥

हिन्दी—प्रजाओं का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम (बल वाले
शत्रुओं) के बुलाने (युद्ध के लिए ललकारने) पर ('क्षत्रिय युद्ध से विमुख न होवे' इस)
क्षत्रिय-धर्म को स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न होवे ॥८७॥

राजा का श्रेष्ठ धर्म—

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

भाष्य—त्रयाणां धर्माणां तुल्यफलत्वाय श्लोकोऽयम् ॥८८॥

हिन्दी—युद्ध से (डरकर) नहीं भागना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की
सेवा करना; राजाओं का अत्यन्त कल्याण करनेवाला (धर्म) माना गया है ॥

युद्ध में विमुख न होने से स्वर्गप्राप्ति—

आहबेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥८९॥

भाष्य—आहूयन्ते युद्धार्थमितरे यत्र वीराः स आहवः संग्रामः । मिथः स्पर्ध-
माना अन्योन्यं परस्परं जिघांसन्तो हननेच्छवः युध्यमानाः प्रहरन्तः परं शक्त्या
परया शक्त्या यथाबलमित्यर्थः । छांदसत्वात्परेत्यस्य स्थाने परमिति रूपम् । अपराङ्-
मुखा युध्यमाना इति सम्बन्धः । स्वर्गं यान्ति ।

“ननु च राज्यलोभात्प्रवृत्तानां दृष्टस्य फलस्य सम्भवात्कुतः स्वर्ग उच्यते” ।

वक्ष्यमाणयुद्धनियमापेक्षः स्वर्गः । न हि तेषां नियमानामन्यत्रयोजनमस्ति । ‘न
कूटैरायुधै’रित्यादिना त्यक्तराज्यस्यापि शक्तप्रणिपातेन तदनुजीवनसम्भवात् भवेत् ।

तस्मादर्हस्तत्फलसम्भवः । अथवा निश्चिते पराजये निराशस्य युद्धावतरणम्, तच्च स्वर्गायैव । अस्मादेव वचनान्नात्मत्यागनिषेधस्य विषयोऽयम् ।

महीक्षितो मण्डलेश्वरा न पुनस्तदनुजीविनः । तेषां हि स्वाम्यर्थैव प्रवृत्तिर्न स्वार्था । अतश्च कुतस्तेषां फलसम्बन्धः, ऋत्विजामिव दक्षिणापणेन परिक्रीतानाम् । एवमेषामपि भृतिपरिक्रीतानां कुतः स्वर्गादिफलोत्पत्तिः ।

ननु च अविशेषेणैतदुक्तम् (५।९७) “उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञ” इति । तथा—

“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।

परित्राड्योगयुक्तश्च शूरश्चाभिमुखो हतः ॥” इति ।

तथा भारते युद्धप्रेक्षिणामपि स्वर्गः संदर्शितः । **मन्त्रलिङ्गानि** च सन्ति “ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनुत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्च देवापि गच्छतात् ॥” सहस्रदक्षिणानां यजमानानां शूराणां च रणशिरसित्यक्तप्राणानां महाफलत्वं दर्शयन्ति । ‘ये युध्यन्ते’ न च मरणायैव क्रीयन्ते । नहि सम्परिग्रहकालेऽयमुपसंवादोऽस्ति । यथा होत्रोद्गात्रादीनां स्वप्रवचनसमाख्यानियतात्विज्यपदार्थानुष्ठानायैव वरणम् । तस्मात्प्रभुकार्येद्देशेन यन्मरणं तदनुक्रान्तफलायैव । न च परप्रयुक्तात्कर्मणोऽन्यस्य फलं नास्ति । अश्वमेधावभृथे हि ब्रह्मघ्नस्य स्नानादयजमानस्यैव शुद्धिः ।

अत्रोच्यते । प्रजार्ये युद्धे प्राणत्यागो धर्मायैव । यदुक्तम् ‘उद्यतैराहव’ इति, तदा भृतिपरिक्रीतस्यास्वतंत्रस्य यस्य वा ‘कुर्विति’ प्रयाणं रण इत्येव परिकरो बद्धस्तदपेक्षमेतत् यज्ञसंस्थावचनम् । एवंभूतश्चाभिमुखो हत इति ।

अथवा नरकाभाव एव ‘सूर्यमण्डलभेदन’ युद्धयमानस्य भविष्यति । यत्र विषयान्तरे-श्वरेण राज्ञा परस्य राज्ञो विषयो हन्यते भज्यते जनो लुप्येतत्र तदर्थं युद्धे प्राणत्यागो धर्मार्थः । अन्धंतमो हि नरके तदभावात्सति प्राकाशये सूर्यमण्डलभेदनवचनम् । सूर्यमण्डलं भिनत्ति, उपरिष्ठाल्लोकानाप्नोति, नाधःप्रपततीत्यर्थः । भृतिपरिक्रीतस्य प्रभोः संग्रामे समुपस्थिते, तमेव जहतो नरकनिपतनम्; तदर्थं युध्यमानस्य भर्तृपिण्डानृण्यं गतवतो दुष्कृतेनाप्रतिबध्यमानस्य स्वैः सुकृतैर्युक्त एव स्वर्गादिलाभः । अत उक्तं “सद्यः संतिष्ठते यज्ञ” इति । अव्यवधानेन यज्ञफलमविशेषश्रुतौ स्वर्गमवाप्नीती-त्यर्थः । एवं भारतेऽपि भृतिपरिक्रीतानां स्वर्गफलावाप्तिवचनमुपपद्यते । युद्धप्रेक्षिणां तु स्वर्गावाप्तिरर्थवाद एव । अथवा बहुषु जीवनोपायेषु सत्सु यच्छस्त्रेण जीवनं ततो नियमात्स्वर्गः ।

यत्तु न मरणाय क्रीयन्त इति, शस्त्रभृतां भृतिदाने नान्यद्युद्धात्प्रयोजनमस्ति,

विशेषानुपदेशात्— 'सर्वकार्योद्यताः, सर्वप्रकारं मदर्थः सम्पादनीय' इति परिक्रीयन्ते— तत्र यदा युद्धमुपस्थितं भवति, तदा आ शरीरपातात्प्रभोरर्थः कर्तव्यः, तथाऽऽनृण्यं भवति । अनुपस्थिते तु युद्धे यदि भृत्यस्य मरणं भवति, तदा सर्वेऽनृणा एव । उद्युक्ते ह्यसौ तत्कार्ये तादृश एवास्योपसंवादः । युद्धकाले योद्धव्यं भवतीति लिङ्गदर्शनमपि तूपपद्यत एव ।

अश्वमेधावभृथे तु स्पष्टं दचनं 'तस्मात्समागमे तेषामिति' । इह तु युद्धसाध्य-मिति विशेषः ॥८९॥

हिन्दी—युद्धों में परस्पर प्रहार (चोट) करने की इच्छा करते हुए, अपार शक्ति से युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरने से) स्वर्ग को जाते हैं ॥८९॥

कूट शस्त्रादि के प्रहार का निषेध—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।

न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥९०॥

भाष्य—तानिदानीमदृष्टार्थान्नियमान्दर्शयति ।

कूटानि यानि बहिःकाष्ठमयान्यन्तर्निशितशस्त्राणि ।

कर्णिनः । शरा ये शल्यस्य मूले मध्ये वा कर्णाकारैः फलकैः क्रियन्ते । ते हि प्रविष्टा दुरुद्धरा भवन्ति । उहियमाणाः प्रहारैरभिन्नमपि शरीरैकदेशं भिन्दन्ति ।

दिग्धा विषोपलिप्ताः ।

अग्निना ज्वलितमादीपितं तेजोमयफलकं येषाम् ।

एतैर्न योद्धव्यम् ॥९०॥

हिन्दी—युद्ध करता हुआ (राजा या कोई योद्धा) कूटशस्त्र (बाहर में लकड़ी आदि तथा भीतर में घातक तीक्ष्ण शस्त्र या लोहा आदि से युक्त शस्त्र); कर्णिके आकारवाला फल (बाण का अगला भाग), विषादि में बुझाये गये, अग्नि से प्रज्वलित अग्रभागवाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे ॥९०॥

युद्ध में मारने के अयोग्य शत्रु—

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।

न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥९१॥

भाष्य—रथस्थेन रथारूढ एव हन्तव्यः, स्थलस्थितो न हन्तव्यः ।

क्लीबो नपुंसकः, पौरुषहीनो वा ।

अन्यत्र दृढ आसीन उपविष्टो रथपृष्ठे भूमौ वा ।

तवास्मीति वदति यस्तमपि न हन्यात् । शब्दनियमोऽत्र न विवक्षितः । दीनं वदन्नेवंजातीयकैरपि— शब्दैः ‘स्त्वदीयोऽहं त्वामाश्रितोऽस्मीति’— न हन्तव्यः ॥९१॥

हिन्दी—(रथ पर बैठा हुआ) योद्धा भूमि पर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और ‘मैं तुम्हारा हूँ’ ऐसा कहते हुए (शरणागत) योद्धा को न मारे ॥९१॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।

नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

भाष्य—न नग्नम् । ‘न भग्नमिति’ वा पाठः ।

विसन्नाहस्य प्रतिषेधात्रग्रस्य प्राप्तिरेव नास्ति । तेन शिरस्त्राणाद्यभावेनैकदेशेन नग्नतया नग्नो द्रष्टव्यः । भग्नस्यापि परावृत्तप्रतिषेधात्संमुखस्थोऽपि, ‘त्वया सह न युध्येय-मिति’ वक्ति, स नानुबन्धनीयोऽवश्यं योद्धव्यमिति ।

नायुध्यमानं पश्यन्तम् । यः प्रेक्षक एव केवलः स न हन्तव्यः । यस्तु प्रेक्षते युध्यते च, न तत्र प्रतिषेधः ।

परेण समागतः । अन्येन सह युध्यमानोऽन्येन न हन्तव्यः ॥९२॥

हिन्दी—सोये हुए, कवच से रहित, नंगा, शस्त्र से रहित, युद्ध नहीं करते हुए, (केवल युद्ध को) देखते हुए (जैसे— युद्ध-संवाददाता आदि) और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े हुए योद्धा को न मारे ॥९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।

न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥९३॥

भाष्य—आयुधव्यसनमायुधकृच्छ्रमायुधभङ्गः, कुण्डलिभावः खङ्गस्य, ज्याछेद इत्येवमादिस्तं प्राप्तम् ।

आर्तः हतपुत्रभ्रातादिः ।

भीतं मुखरागादिना विज्ञाय, शस्त्रसम्मुखमपि ।

परावृत्तं प्रत्यावृत्य स्थितम् ।

एते नियमाः ।

प्रतिषेधपक्षे प्रत्यवायः । तदा च स्वर्गप्राप्तिवचनमर्थवादः ।

किं पुनरत्र युक्तम् ।

पुरुषार्थः प्रतिषेधः । “न कलङ्गं भक्षयेत्” इतिवत् । तथा हि नञो मुख्यार्थवृत्तिता भवति ।

सतां धर्ममिति । शिष्टानामेष आचार इत्याह अनुस्मरन्निति ॥९३॥

हिन्दी—अपने शस्त्र-अस्त्र के टूटने आदि से दुःखी, पुत्र आदि के शोक से आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्ध से विमुख योद्धा को सज्जन क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करता हुआ (राजा या कोई भी योद्धा) न मारे ॥९३॥

युद्ध से विमुख होने की निन्दा—

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।

भर्तुर्यदुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

भाष्य—नैवं मन्तव्यं— परावृत्तो यदि हन्यते तदा, दृष्टव्यं हतस्तु नेति,— किंतिर्हि परावृत्तमात्रनिबन्धनं दोषवचनम् । किं च न परावृत्तहतेनेयं बुद्धिः कर्तव्या— ‘अनुभूतखङ्गप्रहारोऽस्म्यनृणः कृतभर्तुकृत्य’ इति । तथाविधाः प्रहारा न कस्मैचिदर्थ-येति दोषातिशयदर्शनेन दर्शयति भर्तृसम्बन्धदुष्कृतमिति । यच्च वचनमुत्तरत्र तदीय-सुकृतग्रहणमिति, तदर्थवादः । न ह्यन्येन कृतं शुभमशुभं वाऽन्यस्य सम्भवति । न च सुकृतस्य नाशः । किन्तु महता दुष्कृतेन प्रतिबन्धे चिरकालभाविता सुकृतस्य फलस्य उच्यते ॥९४॥

हिन्दी—युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥९४॥

विमर्श—गोविन्दराज के मत से यहाँ पर युद्ध से पराङ्मुख व्यक्ति का पाप विवक्षित है तथा मेधातिथि के मत से यह वचन अर्थवाद (युद्ध से विमुख न होने के लिए विशेषता प्रदर्शकमात्र) है; किन्तु ये दोनों मत मनु भगवान् के अभिप्राय से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य हैं । युद्ध से विमुख हुए योद्धा को शत्रु के प्रहार करने पर यह नहीं समझना चाहिये कि ‘मैं स्वामी के लिए युद्ध में शत्रु का प्रहार सहकर स्वामी से ऋणमुक्त हो रहा हूँ ।’ मन्वर्थमुक्तावलीकार का मत है कि— ‘दूसरे के पाप या पुण्यकर्म विशेष से उससे भिन्न पुरुष को प्राप्त होना मनुभगवान् (७।८९) को भी सम्मत है ।’ ‘यह तथ्य अग्रिम श्लोकोक्तवचन में क्रमशः पाप तथा पुण्य प्राप्त करने का उल्लेख केवल अर्थवाद मात्र है, किसी का पुण्य या पाप दूसरे को प्राप्त नहीं होता; किन्तु पाप या पुण्य में एक के प्रबल होने पर दूसरे का भोग चिरकाल में प्राप्त होता है’ यह ‘नेने शास्त्री’ का मत है ।

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।

भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥९५॥

भाष्य—यच्चास्य सुकृतं किञ्चिद्भर्ता तत्सर्वमादत्त इति ।

अमुत्रार्थमुपार्जितम् । अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थः । अर्श आदित्वादच् । अमुत्रामुष्मिल्लोके यत्प्रयोजनं तदर्जितम् । तदस्य निष्फलं भवति ।

अमुत्रार्थोऽस्येति वा अमुत्रार्थं व्यधिकरणो बहुव्रीहिर्गमकत्वात्प्रयोजकत्वाच्च ॥९५॥

हिन्दी—डरकर युद्ध से पराङ्मुख होने पर शत्रु से अभिहत योद्धा का परलोक के लिए उपार्जित जो कुछ पुण्य है, वह सब स्वामी (उस योद्धा को वेतन देनेवाला राजा आदि) प्राप्त कर लेता है ॥९५॥

युद्धविजयी योद्धा को प्राप्त जीता गया धन—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्त्रियः ।

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

भाष्य—कुप्यं शयनासने ताम्रभाजनादि ।

यो यज्जयति तस्य तत् । राज्ञः स्वामित्वाद्यहणे प्राप्ते तदपवादार्थमेतत् । सुवर्णरूप्यभूम्यावासकादि राज्ञ एव । एवमर्थं परिगणनम् । आयुधसंवाहनादि राज्ञ एव । धान्यादीनां पृथगुपादानाद्धनशब्देन गोमहिष्यादिकमुच्यते । तथा राजधनं चार्धमिति प्रयुज्यते ॥९६॥

हिन्दी—रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु (गौ, भैंस आदि), स्त्रियाँ (दासी आदि), सब तरह के द्रव्य (गुड़, नमक आदि) और कुष्य (सोना-चाँदी के अतिरिक्त अन्य ताँबा-पीतल आदि द्रव्य) को जो योद्धा जीतकर लाता है; वह उसी का होता है । (सोना, चाँदी, भूमि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएँ राजा की होती हैं) ॥९६॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥९७॥

[भृत्येभ्यो विजयेदथान्नैकः सर्वहरो भवेत् ।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥९८॥]

भाष्य—येन यज्जितं तेन तद्गृहीतव्यमित्यस्यायं विशेष उच्यते ।

स्वयमुद्धारं राज्ञे तद्युरुत्तमद्रव्यमुद्धृत्य दद्युरित्यर्थः । न सर्वं तैर्गृहीतव्यमिति ।

एषा वैदिकी श्रुतिः । “इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा” । इत्याद्युपक्रम्य “स महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरतेति” ।

राज्ञा वा पृथग्जये स्वयंजये यत्रायं विभागो नास्त्यनेनायं ग्रामो जितः, एष च परकीयः सामन्तादिः सर्वेण सर्वं उत्खातमूलः सकृत्कृतः, तत्र राज्ञा लब्धप्रशमनन्यायेन भृत्याः संविभजनीयाः ॥९७॥

हिन्दी—(युद्ध में विजय करनेवाले योद्धा) 'राजा के लिए उद्धार (सोना, चाँदी जवाहरात तथा हाथी, घोड़ा^१ भी देवें' यह वैदिक वचन है और राजा विजयी योद्धाओं के लिए सम्मिलित रूप में जीतकर प्राप्त किये द्रव्यों में से प्रत्येक पुरुषार्थ के अनुसार विभाग देवे) ॥९७॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।

अस्माद्धर्मात्रं च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥९८॥

भाष्य—उपसंहारोऽयम् ।

'योधाः' योद्धारस्तेषां धर्मो योधधर्मः ।

अनुपस्कृतः अगर्हितः । अविकृतो वा । अत एवाह सनातनः— स्वेच्छया प्रवर्तितो विकृतः स्यात् ।

न च्यवेत न चलेत । सर्वदाऽनुतिष्ठेत् । क्षत्रियग्रहणं मुख्यस्तस्यात्राधिकार इति दर्शयितुं न त्वन्यस्य तत्स्थानापन्नस्य नायं धर्म इति ॥९८॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) अनिन्दित योद्धाओं का यह सनातन धर्म (मैंने) आप लोगों से कहा, युद्ध में शत्रुओं को मारता हुआ राजा इसे न छोड़े ॥९८॥

राजा का सामान्यतः कर्तव्य —

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्रयत्नतः ।

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥९९॥

भाष्य—न क्षत्रियः संतुष्टः स्याद्ब्राह्मणवत्किन्त्वलब्धार्जने यत्नं कुर्यात् । अर्जितं च धनं रक्षेत्रक्षितं च वर्धयेत्कोशसंचयं कुर्यात् । ततः पात्रेभ्यो दद्यात् । न यथायं व्ययं कुर्यात् । तदुक्तं "आयादल्पतरो व्यय" इति ॥९९॥

हिन्दी—(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए भूमि तथा सुवर्ण आदि) को पाने की इच्छा करे, प्राप्त (भूम्यादि) की यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किये गये को बढ़ावे और बढ़ाये हुए (द्रव्य, भूमि आदि) को सत्पात्रों में दान कर दे ॥९९॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥१००॥

१. 'वाहनं च' इति गौतमवचनात् (म०मु०)

'उद्धारदाने च श्रुतिः— 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' इत्युपक्रम्य 'स महान् भूत्वा देवता अब्रवीत्तदुद्धारं समाहरत' इति ।' (म०मु०)

हिन्दी—(राजा) चार प्रकार के पुरुषार्थों का यह प्रयोजन जाने तथा आलस्यरहित होकर सर्वदा इसका पालन करे ॥१००॥

अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा आदि—

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।

रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥१०१॥

भाष्य—पुरुषस्य येऽर्थास्तेषां प्रयोजनं चतुर्विधम् । चतस्र एताः क्रियास्तत्र प्रयोज्याः, अर्जनरक्षणवर्धनदानानि ।

उपकारवचनोऽर्थशब्दः । पुरुषार्थसिद्ध्यर्थमेतत्प्रयोजनम् । तस्य चतुर्विधस्य प्रसक्तस्य नित्यमनुष्ठानं कुर्यात् ॥१००-१०१॥

हिन्दी—(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोना, चाँदी, भूमि, जवाहरात आदि) को दण्ड के द्वारा (शत्रु को दण्ड देकर या जीतकर) पाने की इच्छा करे, प्राप्त (मिले हुए सोना आदि उक्त) द्रव्यों की देख-भाल करते हुए (रक्षा किये गये) उनकी वृद्धि से (जल-स्थल-मार्ग आदि के व्यापार आदि करके) बढ़ाये और बढ़ावे गये (उन द्रव्यों) को सत्पात्रों में दान कर दे ॥१०१॥

सैनिक अभ्यास आदि की नित्यकर्तव्यता—

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।

नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसारिः ॥१०२॥

भाष्य—उद्यतो दण्डोऽनेनेत्युद्यतदण्डः । उद्यत उद्युक्तः अव्यापार इति यावत् । तत्र हस्त्यादिबलं नित्यं योग्याभिरभिविनयेत् । शिक्षा वाहनदमनादिभिर्विधेया । करण-योग्या अभ्यासाश्च । तद्वाहनादिषु वस्त्राभरणसंस्कार इत्यादिरुद्यतदण्डता । तथा कुर्वतोऽ-स्योत्साहशक्तियोगो मण्डले प्रकाशोभवति ।

तथा नित्यं विवृतपौरुषः । विवृतं प्रकाशतामागतं पौरुषं कर्तव्यम् । सन्धिपालाट-वीस्थानादिष्वाप्तपुरुषैरधिष्ठिताः सन्निरुद्धाः कवचिनः सततं जागरणार्थं नियोज्याः ।

नित्यं सम्वृतसंवार्यः । सम्वरणीयं संगोपनीयमात्मगतं कृत्वा तत्स्थानं संवृतं कर्तव्यमुपग्रहेण परोपजापरक्षणेन च ।

नित्यं छिद्रानुसरणेन, सर्वं शत्रोः कृत्यपक्षं ज्ञात्वा झटिति तदुपजापः ॥१०२॥

हिन्दी—(राजा) दण्ड सर्वत्र उद्यत रखे (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल— इस प्रकार चतुरङ्गिणी सेना को सर्वदा परेड करवाकर उनका अभ्यास बढ़ाता रहे) अपने पुरुषार्थ (सैनिकादि शक्ति) को प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य (अपने विचार,

राजकार्य एवं चेष्टा आदि) को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्र (सेना या प्रकृति के द्वेष आदि दुर्बलता) को सर्वदा देखता रहे ॥१०२॥

सर्वदा दण्डयुक्त रहना—

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥१०३॥

भाष्य—अनन्तरस्य फलम् ।

सर्वं जगदुद्विजते बिभेति । प्रतापख्यातिर्भवति चेति । तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्वप्रकृतीः परांश्च दण्डेनैव प्रसाधयेत् । एवं यत्नवतो भीताः शत्रवो नमन्त्य-यत्नेनैव ॥१०३॥

हिन्दी—सर्वदा दण्ड (चतुरङ्गिणी सेना की शक्ति) से युक्त रहनेवाले (राजा) से सब संसार डरता है। अतएव राजा सब लोगों को दण्ड द्वारा ही वश में करे ॥

कपट का त्याग—

अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया ।

बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं सुसम्वृतः ॥१०४॥

भाष्य—माया छद्म । तेन न वर्तेत । अविश्वसनीयस्तथा स्यात् । न च पर-प्रकृतीरज्ञातरूपा उपजपेत् । अरिणा प्रयुक्तां च मायां यथावद्बुध्येत । बुद्ध्या ज्ञात्वोप-जापं कुर्यात् ।

तत्र कृत्यपक्षश्चतुर्विधः । क्रुद्धलुब्धभीतावमानितैः ।

तत्र येन कृतं शिल्पं किंचिदुपकारो वा दर्शितः, तौ विप्रलभ्येते प्रसादेन नियोज्येते अवमन्येते वा । तदर्थोऽपि तत्समानः शिल्पोपकारी क्रुध्यति, नास्यास्मदीयं शिल्पमुप-कारो वोपयुज्यते । तादृशा उपजापसहा भवन्ति । तथा वाल्लभ्येनोपगृहीतः, पश्चान्माना-धिकाराभ्यां भ्रष्टः, प्रवासितबन्धुतातद्वल्लभः प्रसभमभिपूज्य स्वीकृतः, सकुल्यैरन्तर्हितः, सर्वस्वमाहारितस्तत्समानकर्मविद्योऽन्यः पूज्यते सोऽवधीर्यते इत्येवमादिः क्रुद्धः ।

केनचित्कृतं पैशुन्यं तत्समानदोषेभ्यो दण्डितं अन्तर्भ्रमदण्डपाताः सर्वाधिकार-स्थाः सहसोपचितार्था इत्यादि लुब्धवर्गः ।

परिक्षीणः कदर्यो व्यसनी बहुऋण इत्यादिर्भीतवर्गः ।

आत्मसम्भावितः शत्रुपूजामर्थितः नीचैरुपहतः तीक्ष्णः साहसिको भोगेनासंतुष्ट इत्येवमादिरवमानितवर्गः ।

एतत्परस्योपजपेत् आत्मनश्च रक्षेत् ॥१०४॥

हिन्दी—(राजा) सर्वदा (मन्त्री आदि के साथ) निष्कपट बर्ताव करे कपट से किसी प्रकार वर्ताव न करे (कपट वर्ताव करने से राजा सबका अविश्वासपात्र हो जाता है) और स्वयं सब व्यवहार को गुप्त रखता हुआ शत्रु के कपट को (गुप्तचरों के द्वारा) मालूम करे ॥१०४॥

प्रकृति-भेद आदि को गुप्त रखना—

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य च ।

गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विक्त्रमात्मनः ॥१०५॥

भाष्य—एष एवार्थः पुनरुच्यते ।

तथा यत्नातिशयं कुर्याद्यथा परस्य छिद्रमन्विच्छेदात्मनश्च रक्षेत् । य एवं क्रुद्धादिः कापटिकादिचारपुरुषैर्ज्ञायते स एवात्मीयोऽनुनीयत इति ।

कूर्मवदङ्गं गूहेद्रक्षेद्विक्त्रमात्मनः । परोपजापात्स्वच्छिद्ररक्षणं महाप्रयोजनमित्येतदनेनाह ॥१०५॥

हिन्दी—(राजा ऐसा यत्न करे कि—) इस (राजा) के छिद्र (अमात्य आदि के साथ फूट) शत्रु न मालूम करे और राजा स्वयं शत्रु के छिद्र को मालूम करता रहे । कछुआ जैसे अपने अङ्गों (मुख एवं पैरों) को छिपा लेता है, वैसे ही (राजा भी) अङ्गों (स्वामी अमात्य, राष्ट्र, किला, कोष, सेना और मित्र— इन सात अङ्गों^१) को गुप्त रखे और कदाचित् आपस में कोई छिद्र (मन्त्री आदि प्रकृति के फूट जाने से कोई दोष) हो जाय तो उसे दूर कर दे ॥१०५॥

पूर्णतः विश्वास न करना—

[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।

विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥१०६॥]

[हिन्दी—(राजा) अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से ही नाश कर देता है ॥१०६॥]

बगुले आदि के समान अर्थचिन्तनादि—

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।

वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥१०७॥

भाष्य—यथा अप्सु दुर्गाश्रयमपि मत्स्यबलं स्वभावतस्तद्ग्रहणार्थं बकः पर्यु-

१. कामन्दके— ‘स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।

परस्परपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥’ इति ।

दासनपरतया तद्ग्रहणोपायं ध्यानादियोगादासादयति एवमर्थचिन्ताभियोगातिशयेन सुदुष्पापा अप्यर्था आसाद्यन्त इति मत्वा न निर्वेदं गच्छेत् ।

यथा च शशोऽल्पकायत्वाच्छक्नोति निष्पतितुमुपरि संघादपि, तथा एकोऽप्य-
सहायः सर्वतः समुत्थितसामन्तप्रकोपोऽशक्तोऽवस्थातुं दुर्गेऽरिसम्पातं कृत्वा तस्माद्वि-
निष्पतेद्गुणवति संश्रयार्थम् ।

यथा च वृकः पशुग्रहणाभियोगाद् बालप्रमादमासाद्यावलुम्पते, एवं स्वरक्षापर इति
मत्वा तद्ग्रहणाभियोगो न मोक्तव्यः, भविष्यति स कालो यत्रायं वृकवदवलुं पिष्यते ।

यथा सिंहो महाकायानपि हस्त्यादीन्हन्ति पराक्रमोत्साहशक्तियोगात्, एवं मह-
दरिबलमिति न भेतव्यम्, अल्पप्राणेनापि कदाचिदुत्साहवता महाप्राणो निहन्यत
इति ॥१०६॥

हिन्दी—(राजा) बगुले के समान अर्थचिन्तन करे, सिंह के समान पराक्रम
करे, भेड़ियों के समान शत्रु का नाश करे और खरगोश के समान (शत्रु के घेरे से) निकल
जाय ॥१०६॥

विमर्श— बगुला जिस प्रकार अतिचञ्चल एवं जल में रहनेवाली मछलियों को
भी एकाग्रचित्त होकर पकड़ लेता है, वैसे ही राजा भी अत्यन्त विचारित तथा सुरक्षित
अर्थ के विषय में एकाग्रचित्त होकर विचार करे । सिंह जैसे स्वल्पकाय होने पर भी
बलवान् तथा विशालकाय मतवाले हाथियों पर पराक्रम करता है तथा क्षुद्र पशुओं पर
भी पूर्ण शक्ति से ही आक्रमण करता है; वैसे ही राजा भी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर शत्रु
पर आक्रमण करे । भेड़िया जिस प्रकार गोपाल आदि से अत्यन्त सुरक्षित पशु के बच्चों
को जरा-सी असावधानी होने पर झपटकर ले जाता है, उसी प्रकार राजा भी शत्रु के थोड़ी
भी असावधानी करते ही उसका नाश करने लगे और खरगोश जिस प्रकार व्याध आदि
से घिरे रहने पर भी उनसे छिप या भागकर किसी सुरक्षित स्थान का आश्रय लेता है,
उसी प्रकार राजा भी प्रबल शत्रुओं के द्वारा आक्रान्त होने पर अवसर देख उसके पंजे से
निकलकर किसी बलवान् राजा का आश्रय ले ।

विजय में बाधक वशीकरण—

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।

तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥१०७॥

भाष्य—ये परिपन्थिनः प्रतिपक्षतया वर्तन्ते वशमानेतव्याः । न त्वानुकूल्येन ये
वर्तन्ते । तेऽपि सामादिभिः पूर्वम्, न प्रथमत एव दण्डेन ॥१०७॥

हिन्दी—इस प्रकार विजय करते हुए राजा के विजय में जो बाधक (राजा) हों, उन

सबों को साम आदि उपायों से वश में लावे ॥१०७॥

सामादि की असफलता में दण्डप्रयोग—

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।

दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥१०८॥

भाष्य—सामादिभिरशक्या दण्डेन वशमानेतव्या इति यदुक्तं तदिदं दण्डेन प्रसह्याभिभूय शनकैर्यादृशो दण्डोपक्रमस्तेन । न साहसिकतया ॥१०८॥

हिन्दी—यदि वे (विजय में बाधक राजा) पहले तीन उपायों (साम, दाम और भेद) से (अपनी हरकतों को) नहीं छोड़ें तब दण्ड से ही उनको बलपूर्वक वश में करे ॥१०८॥

साम एवं दण्ड की प्रशंसा—

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।

सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥

भाष्य—वक्ष्यमाणानां सामादीनामुपायानां सामदण्डौ निगद्येते प्रशस्यतया । सति साम्नि क्षिप्रं कम्पो न भवति । दण्डे तु सर्वसिद्धिः ॥१०९॥

हिन्दी—पण्डित (राजनीतिज्ञ विद्वान्) साम आदि चारो उपायों (साम, दाम, भेद और दण्ड) में से सर्वदा राज्य की वृद्धि के लिए साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥१०९॥

राज्यरक्षा—

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।

तथा रक्षेत्रूपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥११०॥

भाष्य—ये राजानमभिद्रुहन्ति तेषां ये सुहृद्बान्धवाः, सम्बन्धोपसर्पिणो वा, न ते विनाशयितव्याः, यदि न तत्कार्याभ्यन्तराः । य एव दुष्टास्त एव निग्राह्या, न तत्सम्बन्धिन इत्येतन्निर्दातृदृष्टान्तेन प्रतिपाद्यते ।

यथा धान्यकक्षयोः सहोत्पन्नयोरत्यन्तसहितयोरपि नैपुण्येन धान्यं रक्षति कक्षम-
ुद्धरति । एवं स्वराष्ट्रे यावन्तस्तेषां सुहृदावपि, तयोर्दोषवान्यः स एव निग्राह्यः, न यः
सुसङ्गतोऽपि । अतः साध्वसाधुविवेकेन साधवो रक्ष्या असाधवो निग्राह्याः ॥११०॥

हिन्दी—जिस प्रकार निकीनी (सोहनी) करनेवाला (किसान खेत में से) घास को उखाड़ता है और धान्य को बचाता है, उसी प्रकार राजा राज्य की रक्षा करे और शत्रुओं का नाश करे ॥११०॥

प्रजापीडन से राज्यभ्रंशादि—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्शयत्यनवेक्षया ।

सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥

भाष्य—यस्तु राजा पूर्वोक्तविवेकमकृत्वा मोहेनानवेक्षया स्वराष्ट्रं कर्शयति स दण्डैः सह भ्रश्यत्यचिराद्राज्याज्जनपदाननुरागेण प्रकृतिकोपेन जीविताच्च । साहसि-
कैरेकाकिभिरपि जीवितनिरपेक्षैर्हन्यते ॥१११॥

हिन्दी—जो राजा मोहवश अपने राज्य की देख-रेख न करके धनग्रहण करता है (प्रजा की रक्षा न करके भी अन्यायपूर्वक उनसे अनेक प्रकार का कर लेता है), वह शीघ्र ही राज्य से भ्रष्ट हो जाता है और बान्धव-सहित जीवन से भ्रष्ट हो जाता है (सपरिवार मर जाता है) ॥१११॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनं यथा ।

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११२॥

भाष्य—स्वराष्ट्रेऽत्यन्तमवहितेनानुराग उत्पादनीयस्तद्धि शरीरस्थानीयम् । शरीरे कर्शितेऽपथ्यभोजनरुक्षभोजनादिभिर्यथा प्राणा उत्क्रामन्ति, एवं राष्ट्रकर्शनादपि ॥११२॥

हिन्दी—जिस प्रकार शरीरधारियों के प्राण (भोजनादि के अभाव से) शरीर के क्षीण होने से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार राज्य के पीड़ित करने से राजाओं के भी प्राण (प्रकृति-कोप आदि से) नष्ट हो जाते हैं (अतः राजा का कर्तव्य है कि यथावत् राज्य की रक्षा करता रहे) ॥११२॥

राज्यरक्षा से सुख-समृद्धि—

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।

सुसंगृहीतराष्ट्रे हि पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥

भाष्य—‘संग्रहो’ रक्षाविधानम् । सुसंगृहीतं रक्षाविधानेन वशीकृतं परिपालितं वा येन स्वराष्ट्रं स पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥

हिन्दी—राज्य की रक्षा के लिए राजा नित्य इन उपायों को करे; क्योंकि अच्छी तरह राज्य-रक्षा करनेवाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता (उन्नति करता) है ॥११३॥

ग्रामपति आदि की नियुक्ति—

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥

भाष्य—द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये गुल्मं कुर्यात् । गुल्मो रक्षितृपुरुषसमूहस्तेनैवाधिष्ठितं

संग्रहं कुर्यात् । तद्युक्तमधिष्ठातारं पुरुषं कुर्यात् । अधिकारी संग्रह इहोच्यते ।

एवं त्रयाणां पञ्चानां च ।

अथवा राजभाव्यार्थग्रहणस्थानं संग्रहः ॥११४॥

हिन्दी—(राजा) राज्य की रक्षा के लिए दो-दो, तीन-तीन या पाँच-पाँच गाँवों के समूह का एक-एक रक्षक नियुक्त करे और सौ गाँवों का एक प्रधान रक्षक नियुक्त करे ॥११४॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।

विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥

भाष्य—एकैकस्मिन् ग्रामेऽधिपतिं कुर्यात् । तदुपरि दशग्रामपतिम् । एवं सर्वत्र ॥११५॥

हिन्दी—(राजा) एक-एक, दश-दश, बीस-बीस, सौ-सौ तथा हजार-हजार गाँवों का एक-एक रक्षक नियुक्त करे ॥११५॥

विमर्श— उक्त दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक में दो-दो, तीन-तीन या पाँच-पाँच गाँवों के रक्षक की नियुक्ति वर्तमान में चौकी या थाने का एवं सौ गाँवों के प्रधान रक्षक की नियुक्ति तहसील, सबडिवीजन या जिला का स्वरूप है । द्वितीय श्लोक में कथित एक-एक गाँव के रक्षक की नियुक्ति सरपंच, दश-दश गाँवों के रक्षक की नियुक्ति थाना, सौ-सौ गाँवों के रक्षक की नियुक्ति जिला, तहसील या सबडिवीजन और हजार गाँवों के रक्षक की नियुक्ति कमिश्नरी का स्वरूप समझना चाहिये ।

ग्राम के दोष को बड़े अधिकारी से कहना—

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।

शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशोविंशतीशिने ॥११६॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।

शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥११७॥

भाष्य—ये ग्रामदोषा एकग्रामाधिकृतेन न शक्यन्ते समाधातुम्, तान्दशेशाय निवेदयेत् । एवमशक्तौ यावत्सहस्रपतिर्विज्ञाप्यः ॥११६-११७॥

हिन्दी—चोर आदि के उपद्रव को शान्त करने में असमर्थ एक गाँव का रक्षक दश गाँवों के रक्षक को, दश गाँवों का रक्षक बीस गाँवों के रक्षक को, बीस गाँवों का रक्षक सौ गाँवों के रक्षक को और सौ गाँवों का रक्षक हजार गाँवों के रक्षक को स्वयं (बिना पूछे ही) उक्त चोर आदि के उपद्रवों को शीघ्र सूचित करे ॥११६-११७॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।

अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥११८॥

भाष्य—एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिरियम् ।

ग्रामिको ग्रामाधिकृतस्तान्यवाप्नुयाद्गृहीयात् । वृत्त्यर्थं राज्ञे प्रदातव्यानि ग्राम-
वासिभिः । अन्नादीनि तु धान्यादेः षष्ठाष्टमभागादिः । यथा वक्ष्यति “धान्येष्टमं विशाम्”
इत्यादि (अ० १०।१२०) ॥११८॥

हिन्दी—ग्रामवासी प्रजा राजा के लिए जो अन्न, इन्धन आदि देते हों, उसे वह एक
गाँव का रक्षक लेवे ॥११८॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च ।

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥११९॥

भाष्य—दशसु ग्रामेष्वधिकृतो **दशी** । एवं **विंशी** । छान्दसः शब्दसंस्कारः ।
कुलं ग्रामैकदेशः । क्वचिद्दृष्ट इति प्रसिद्धः क्वचिदुष्ट इति ।

एतदेव पञ्चगुणं विंशतिग्रामेष्वधिकृतः । सर्वं ग्रामशताध्यक्षः ।

पुरं नगरं सहस्रेशः स्थानकर्मानुरूपेण वृत्तिं कल्पेतेत्येतत्सत्यम् ॥११९॥

हिन्दी—दश गाँवों का रक्षक एक ‘कुल’, बीस गाँवों का रक्षक पाँच कुल, सौ
गाँवों का रक्षक एक मध्यम ग्राम और हजार गाँवों का रक्षक एक मध्यम पुर (कस्बा,
अपनी जीविका के लिए) राजा से प्राप्त करे ॥११९॥

विमर्श—जीविका के लिए छः हलों से जोतने योग्य भूमि को, ‘मध्यम हल’
कहते हैं, दो मध्यम हल (१२ हलों से जोतने योग्य भूमि) को ‘कुल’^१ कहते हैं ।

ग्रामकार्यो का अन्य राजमन्त्री द्वारा निरीक्षण—

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।

राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

भाष्य—तेषां ग्रामकार्येष्वितरेतरं विप्रतिपत्तिः । अन्यः स्वकार्येऽन्यः सचिवो
महत्तमः स्निग्धो रागद्वेषवर्जितो दर्शनाय नियोक्तव्यः ॥१२०॥

१. कुल्लूकभट्टः— ‘अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् ।

चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥’

इति हासेतस्मरणात् षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते, तत्
‘कुल’मिति वदन्ति इति । (म०मु०)

हिन्दी—उन ग्रामनिवासियों के ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य (किये गये तथा नहीं किये गये) कार्यों का राजा का हितैषी दूसरा मंत्री आलसरहित होकर देखा करे ॥१२०॥

प्रतिनगर में उच्चपदाधिकारियों को नियुक्त करना—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।

उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥

भाष्य—उच्चैःस्थानं प्रधानभूतमित्यर्थः । घोररूपं प्रतापवन्तम् । नक्षत्राणामिव गृहं अंगारकम् । हस्त्यश्वादिबलसम्पन्नम् ॥१२१॥

हिन्दी—राजा प्रत्येक नगर में (हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सैनिकों के द्वारा दूसरों में) आतङ्क उत्पन्न करानेवाले नक्षत्रों में शुक्र आदि ग्रहों के समान तेजस्वी और सब विषयों की चिन्ता (देखभाल) करनेवाले एक उच्च पदाधिकारी को नियुक्त करे ॥

उक्त उच्चाधिकारी का कार्य—

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानि सदा स्वयम् ।

तेषां वृत्तं परिणयेत्सभ्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१२२॥

भाष्य—न नगराधिकृतस्तान्सर्वानपि पतीननुपरिक्रामेत्स्वबलेन पूरयेत् । सति प्रयोजने । तेषां सर्वेषामधिपतीनां तद्वृत्तं सम्यक् परिणयेत् सम्यग्रूपतया परिजानीयात् । कैः । राजचरैः कापटिकादिभिः ॥१२२॥

हिन्दी—नगर में नियुक्त वह उच्चपदाधिकारी उन (ग्रामाधिपति आदि) (७।११५-११६) का सर्वदा स्वयं निरीक्षण करता रहे और दूतों के द्वारा राज्यों में उन ग्रामाधिपतियों के कार्य, वर्ताव आदि व्यवहार को मालूम करता रहे ॥१२२॥

घूसखोरों से प्रजा की रक्षा—

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।

भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥

भाष्य—परस्वमादातुं शीलं येषां ते परस्वादायिनः शठाः असम्यक्कारिणः प्रायेणाधिकृताः सन्तो भवन्ति । प्राक्शुचयोऽपि रक्षन्ति वित्तानि । अतः प्राक्शुचित्वानुमानेन नोपेक्षणीयाः । यत्नतः प्रतिजागरितव्याः ।

तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः । न केवलं राजार्थनाशः अनवेक्षया, यावत्प्रजा अपि निर्धनीकुर्वन्ति ॥१२३॥

हिन्दी—राजा के रक्षाधिकारी प्रायः दूसरों का धन लेनेवाले (घूसखोर) हुआ करते हैं, उन शठों से (राजा) इन प्रजाओं की रक्षा किया करे ॥१२३॥

घूसखोरों की सम्पत्ति का हरण और राज्यबहिष्कार—

ये कार्याधिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।

तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥

भाष्य—ये रक्षाधिकृताः कार्याधिकेभ्यो व्यवहर्तृभ्यो व्यापारवद्भ्यो हललेशो-
देशिकया दण्डयन्ति जनपदांस्तेषां सर्वस्वहरणप्रवासने राजा कुर्यात् ॥१२४॥

हिन्दी—जो पापबुद्धि अधिकारी काम पड़नेवालों से (अनुचित रूप में) धन अर्थात् घूस ले, राजा उनका सर्वस्व लेकर उन्हें राज्य से बाहर निकाल दे ॥१२४॥

दास-दासियों का वेतन एवं स्थान—

राजकर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।

प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः ॥१२५॥

भाष्य—युक्तानां नियुक्तानां स्त्रीणामन्तःपुरदास्यादीनाम् । प्रेष्यजनस्य दोलक-
वाहादेः । प्रत्यहं वृत्तिं कल्पयेत् सांवत्सरीयं सकृद्दद्याद्ग्रामं तदेकदेशं वा ।

स्थानकर्मानुरूपतः । 'स्थानं' प्रधानं नियोगः शय्यारक्षादि, 'कर्म' शरीर-
व्यापारस्तदनुरूपेण वृत्तिर्देया । प्रधाने स्थाने स्वल्पेऽपि कर्मणि महती वृत्तिर्निकृष्टे
स्थाने महत्यपि कर्मणि स्वल्पेत्येतदुभयानुरूपम् ॥१२५॥

हिन्दी—राजा काम में नियुक्त दास-दासियों के लिए कार्य के अनुसार प्रतिदिन का वेतन एवं स्थान निश्चित कर दे ॥१२५॥

उक्त वेतन का प्रमाण—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।

षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥

भाष्य—अवकृष्टः सम्मार्जनशोधनविनियुक्तस्तस्य भक्तार्थं पणो देयः ।

उत्कृष्टस्य षट्सु षट्सु मासेषु गतेष्वाच्छादवस्त्रम् । धान्यद्रोणश्च मासिकः ।
चतुराढको द्रोणः ।

पणपरिमाणं वक्ष्यति ।

वृत्तिकल्पनार्था एते ॥१२६॥

हिन्दी—(राजा) साधारण कार्य (झाड़ू लगाना, पानी भरना आदि) करनेवाले निकृष्ट दास या दासी के लिए प्रतिदिन एक पण (एक पैसा दे० ८।१३६), ६ मास में एक

जोड़ा वस्त्र, प्रतिमास एक द्रोण^१ (४ आढक = ८ सेर) धान्य और उत्तम दास या दासी के लिए प्रतिदिन ६ पण (पैसा) वेतन दे ॥१२६॥

विमर्श—उत्तम दास-दासियों के लिए प्रतिदिन ६ पैसा वेतन, प्रति छमाही ६ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास ६ द्रोण अन्न दे; इसी प्रकार मध्यम दास-दासियों के लिए प्रतिदिन ३ पैसा वेतन, प्रतिछमाही ३ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास ३ द्रोण अन्न दे तथा साधारण दास-दासियों के लिए प्रतिदिन १ पैसा वेतन, प्रति छमाही १ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास १ द्रोण (८ सेर) अन्न दे ।

व्यापारियों का कर—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।

योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥

भाष्य—करग्रहणविधिः ।

कियता मूल्येन क्रीतमेतत्क्रियच्च विक्रीयमाणं लभते कियता च कालेन विक्रीयते कियत्प्रतिभावेन नश्यत्यथ नेत्येवमादिरूपक्रयविक्रयपरीक्षा ।

अध्वानं चिराचिरगमनप्राप्यताम् ।

भक्तं सक्त्वोदनादिमूल्यम् ।

परिव्ययस्तदुपकरणं सर्पिः सूपशाकादि धनादि च ।

योगक्षेममरण्ये कान्तारे वा गच्छतो राजभयं चौरभयं निश्चौरता वेत्यादि ।

एतदपेक्ष्य वणिग्भ्यः करा आदातव्याः ।

“वणिग्भिर्दापयेत्करान्” इति पाठो युक्तः । गत्यादिनियमेन कर्मसंज्ञाया अभावात् ।

दण्डवचनो वा धातुस्तदा दण्डवद्विकर्मकत्वम् ॥१२७॥

हिन्दी—(राजा) खरीद-बिक्री, मार्ग, भोजन, मार्गादि में चोर आदि के रक्षा का व्यय, और लाभ को देख (सम्यक् प्रकार से विचार) कर व्यापारी से कर लेवे ॥१२७॥

थोड़ा-थोड़ा कर लेने में दृष्टान्त—

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।

तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्धिकः करः ॥१२८॥

१. अष्टमुष्टिर्भवेत्कुञ्जी कुञ्ज्यष्टौ च पुष्कलम् ।

पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥

चतुराढको भवेद् द्रोण.....’ इति । (म०मु०)

भाष्य—क्षीणकृषेर्न्यूनः करो ग्रहीतव्य इत्येवमर्थमेतत् ।

वार्योकसो जलौकसः । षट्पदा भ्रमराः । यथा ते स्वल्पमाददानाः परिपुष्टा भवन्ति तथा राज्ञा मूलोच्छेदो न कर्तव्यः ॥१२८॥

हिन्दी—जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े अपने-अपने खाद्य (क्रमशः रक्त, दूध और मधु) को ग्रहण करता है; उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिये ॥१२९॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।

तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२९॥

भाष्य—एतदेवाह । कर्मणां कर्त्ता वाणिजकः राजा च फलेन युज्येत । तथा करान्कल्पयेन्न परिमाणनियमकारणमस्ति । यत्र महान्ताभस्तत्राधिकमप्युक्तपरिमाणाति-क्रमेण ग्रहीतव्यम् ॥१२९॥

हिन्दी—जिस प्रकार राजा देखभाल आदि के और व्यापारी व्यापार आदि के फल से युक्त रहे (दोनों को अपने-अपने उद्योग के अनुसार उचित फल मिले) वैसा देख (अच्छी तरह विचार) कर राजा सर्वदा निश्चयकर राज्य में कर लगावे ॥१२८॥

पशु, सुवर्ण तथा धान्य का ग्राह्य कर—

पञ्चाशभाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।

धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१३०॥

भाष्य—मूल्याधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागो ग्राह्यः ।

धान्यानां भागविशेषः सुकरदुष्करापेक्षया मन्तव्यः ।

पञ्चाशत्पूरणः पञ्चाशः । विंशत्यादिभ्य इति पक्षे तमट् ।

पञ्चाशद्भाग इति पाठे द्विभागादिवत्संख्यानन्तरम् ॥१३०॥

हिन्दी—राजा को पशु तथा सुवर्ण का कर (मूल धन से अधिक) का पचासवाँ भाग और धान्य का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग (भूमि की श्रेष्ठता अर्थात् उपजाऊपन एवं परिश्रम आदि का विचारकर) ग्रहण करना चाहिये ॥१३०॥

वृक्ष, मांस आदि का ग्राह्यकर—

आददीताथ षड्भागं द्रमांसमधुसर्पिषाम् ।

गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥

पत्रशाकतृणानां च कर्मणां वैदलस्य च ।

मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

भाष्य—दृशब्देन वृक्षा उच्यन्ते । शेषं प्रसिद्धम् ।

एतेषां षष्ठो भागो लाभाद्ग्रहीतव्यः ॥१३१-१३२॥

हिन्दी—वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, औषधि, रस (नमक आदि) फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बाँस तथा मिट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी सभी वस्तुओं का छठा भागकर रूप में ग्रहण करे ॥१३१-१३२॥

श्रोत्रियो से ग्रहण का निषेध—

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।

न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१३३॥

भाष्य—तथा कुर्याद्यथा क्षुधाऽस्य विषये श्रोत्रियो नावसीदति ॥१३३॥

हिन्दी—मरता हुआ (अतिनिर्धन) भी राजा श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर न ले, इस (राजा) के देश में रहता हुआ श्रोत्रिय (जीविका न मिलने से) भूख से पीड़ित न हो (ऐसा प्रबन्ध रखे) ॥१३३॥

श्रोत्रिय के क्षुधापीड़ित होने से राज्य में पीडा—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।

तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

भाष्य—अनन्तरविधेरतिक्रमफलमेतत् ॥१३४॥

हिन्दी—जिस राजा के देश में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित होता है, उस राजा का वह राज्य भी शीघ्र ही भूख से पीड़ित होता है (राज्य में अकाल पड़ता है) ॥१३४॥

श्रोत्रिय के लिए वृत्ति-कल्पना—

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्या प्रकल्पयेत् ।

संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१३५॥

भाष्य—धर्म्या वृत्तिम् । यया कुटुम्बधर्मस्यावसादनं न भवति । वृत्तिं प्रकल्प्य सर्वतो रक्षेच्चौरादिभ्यः । स्वयमधिकव्ययाच्च ॥१३५॥

हिन्दी—राजा इस (श्रोत्रिय) के शास्त्र (शास्त्र-ज्ञान) और आचरण का विचार कर धर्मयुक्त वृत्ति (जीविका) कल्पित करे और पिता जिस प्रकार अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार इस (श्रोत्रिय) की रक्षा करे ॥१३५॥

श्रोत्रिय-रक्षा से राजा की आयु आदि की वृद्धि—

संरक्ष्यमाणो राज्ञोऽयं कुरुते धर्ममन्वहम् ।

तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥१३६॥

भाष्य—धार्मिकश्रोत्रियरक्षायाः फलमेतदायुर्द्रविणराष्ट्रवृद्धिः ॥१३६॥

हिन्दी—राजा द्वारा सुरक्षित होता हुआ श्रोत्रिय प्रतिदिन जिस धर्म को करता है, उससे राजा की आयु, धन और राज्य की वृद्धि होती है ॥१३६॥

शाक आदि के विक्रेताओं से स्वल्पतम कर—

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।

व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥

भाष्य—कृषिधनप्रयोगक्रयविक्रयादिव्यवहारेण जीवन्तं पृथग्जनं ब्राह्मणाच्छ्रोत्रियादन्यं करं दापयेत् ।

करसंज्ञा सञ्जाताऽस्य करसंज्ञितम् ॥१३७॥

हिन्दी—राजा अपने देश में व्यवहार (शाक आदि सामान्यता वस्तुओं की खरीद-विक्री) से जीनेवाले साधारण श्रेणी के लोगों से कुछ (बहुत थोड़ा) वार्षिक कर ग्रहण करे ॥१३७॥

शिल्पी आदि से कार्य करवाना—

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।

एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥

भाष्य—शिल्पमात्रोपजीविनस्तान्मासं मासमेकमहः कर्म कारयेत् ।

आत्मोपजीविनश्च शूद्रा वेशभारवाहादयः ॥१३८॥

हिन्दी—कारीगर, बढ़ई, लोहार आदि, बोझ आदि ढोनेवाले (मजदूर आदि) से राजा प्रति महीने में एक दिन काम करवावे (इनसे दूसरा कोई कर न लेवे) ॥१३८॥

कर त्याग तथा अधिक कर लेने का निषेध—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।

उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥१३९॥

भाष्य—करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो 'मूलछेदः', अतिबहुग्रहणं परेषाम् । तच्च तृष्णया भवतीत्यनुवादः । आत्मनो मूलच्छेदेनात्मपीडा भवति, कोशक्षयात् । अतस्तेऽपि पीडयन्ते । उपस्थिते विग्रहे क्षीणकोशशक्तिरिभिरपरुद्धोद्धरणेऽवश्यं भवेत् । सा च तेषां महती पीडा । यत्तु सार्वकालिकं करग्रहणं तत्सम्पादयतो न खेदिता भवन्ति ॥१३९॥

हिन्दी—राजा (स्नेहादि से) अपनी जड़ को और अधिक लोभ से प्रजा की जड़ को नष्ट न करे; क्योंकि अपनी जड़ को नष्ट करता हुआ अपने को और प्रजाओं की जड़ को नष्ट करता हुआ (राजा) प्रजाओं को पीड़ित करता है ॥१३९॥

विमर्श—राजा प्रजाओं पर अधिक स्नेह आदि के कारण उनसे कर नहीं लेकर अपनी जड़ को नष्ट (कोष आदि को क्षीण) करता हुआ स्वयं पीड़ित होता है तथा अधिक लोभ के कारण प्रजा से बहुत कर लेता हुआ राजा प्रजा को पीड़ित करता है, अतएव राजा सर्वथा कर का त्याग भी न करे तथा अतिलोभ से बहुत कर लेकर प्रजा को पीड़ित भी न करे ।

कार्यानुसार तीक्ष्ण या मृदु होना—

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥१४०॥

भाष्य—तीक्ष्णमृदुता नित्यमभ्यसनीया । तादृशो राजा प्रजानां सम्मतो भवत्यभिप्रेतः ॥१४०॥

हिन्दी—राजा कार्य को देखकर कठोर या मृदु (सरल, दयालु) होवे; (क्योंकि समयानुसार) कठोर और मृदु राजा सबका प्रिय होता है ॥१४०॥

श्रान्त होने पर प्रधानमन्त्री की नियुक्ति—

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्भूतम् ।

स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥१४१॥

भाष्य—प्रजानां सम्बन्धिनि कार्यदर्शने खिन्नः श्रान्तः । धर्मज्ञादिगुणयुक्तं सर्वसहममात्यं तस्मिन् कार्येक्षणे नियुञ्जीत । न पुनस्तस्मिन्नेव सिंहासने ॥१४१॥

हिन्दी—(राजा कार्य की अधिकता आदि के कारण उसे देखने में) असमर्थ या थका हुआ राजा धर्मज्ञाता, विद्वान्, जितेन्द्रिय और कुलीन प्रधानमन्त्री को प्रजाओं के कार्य को देखने के लिए नियुक्त करे ॥१४१॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।

युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥१४२॥

भाष्य—सहायसंग्रहप्रभृत्युक्तस्यार्थस्यैवमिति परामर्शनम् । विधाय कृत्वा इति-कर्तव्यमुपकारकमितिकर्तव्यमुच्यते । युक्तस्तत्परः । अत एवाप्रमत्तः । अथवा बुद्ध्य-स्खलनमप्रमत्तता सर्वकाले ।

एवं प्रजाः परिरक्षेत् ॥१४२॥

हिन्दी—इस प्रकार अपना सम्पूर्ण कर्तव्य करके उद्योगयुक्त और सावधान रहता हुआ (राजा) इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥१४२॥

चोर आदि से प्रजाओं की रक्षा—

विक्रोशन्त्यो ग्रस्य राष्ट्राद् हियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।

सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥

भाष्य—पूर्वोक्तयोरप्रमादयोरन्यथात्वे दोषमाह ।

यदि सभ्यगुल्मस्थानानि प्रति न जागर्ति तदा छिद्रान्वेषिभिर्दस्युभिः चौरैः प्रजा हियन्ते । तासु किं करिष्यति । अतस्तादृशो राजा मृत एव । जीवितं मरणमेव । अतोऽ-प्रमत्तेन भवितव्यम् ।

विक्रोशन्त्यः आक्रन्दन्त्यः ।

हियन्ते । सम्पश्यतः सभृत्यस्य निर्दिष्टं द्रक्ष्यते । केवलं च भृत्यास्तदीयाः पश्यन्ति नानुधावन्ति मोक्षयन्ति । सर्वे तु मृतकल्पाः ॥१४३॥

हिन्दी—मन्त्री सहित जिस राजा के देखते अर्थात् राज्य करते रहने पर राज्य में चोरों (डाकू आदि) से प्रजा अपहृत होती है वह राजा मरा हुआ है, जीता नहीं है (क्योंकि प्रजारक्षणरूप जीवित राजा का कार्य वह नहीं करता, अतः मरा हुआ है) ॥१४३॥

प्रजापालन की श्रेष्ठता—

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।

निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

भाष्य—प्राप्तं फलं भुङ्क्ते राजा । स धर्मेण युज्यते । अन्यथाऽनुग्राहकाणामेव पालनं कुर्वन्नत्यवैति ॥१४४॥

हिन्दी—प्रजाओं का पालन ही क्षत्रियों का श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि (प्रजापालन द्वारा) शास्त्रोक्त फल को भोगनेवाला राजा धर्म से युक्त होता है ॥१४४॥

मन्त्रणा का समय—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।

हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्यं प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१४५॥

भाष्य—‘पश्चिमो यामो’ ब्राह्मो मुहूर्तः । अत आह कृतशौचः समाहितः । हुताग्निरिति । न च ब्राह्मे मुहूर्ते होमविधानमस्ति । तदा हि चतुर्मुहूर्तशेषा रात्रिर्भवति । होमश्च व्युष्टायां रात्रौ समाप्य कार्य उषःकल्पत्यागेन ।

आर्यं ब्राह्मणान्पूजयित्वा । सभां शुभां मङ्गलवतीं प्रविशेत् ॥१४५॥

हिन्दी—(राजा) रात्रि के अन्तिम पहर में उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं

स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन और ब्राह्मणों की पूजाकर शुभ (वास्तुलक्षण से युक्त) सभा (मंत्रणा-गृह) में प्रवेश करे ॥१४५॥

मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा—

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१४६॥

भाष्य—तत्र तस्यां सभायां स्थितः प्रजा दर्शनार्थमागताः प्रतिनन्द्य यथार्हसम्भाषणक्षणाभ्युत्थानाभिवादनैर्हर्षयित्वा विसर्जयेत् यथागतमनुजानीयात् ।

ततो विसर्जितेषु तेषु मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः । किं कर्तव्यमिति स्वपरराष्ट्रगत-कर्तव्यतानिरूपणम् । मन्त्रपञ्चाङ्गं दर्शयिष्यते ॥१४६॥

हिन्दी—वहाँ पर (सभाभवन में दर्शनार्थ) स्थित प्रजाओं को (यथायोग्य किसी को भाषण से, किसी को प्रियदर्शन से) संतुष्ट कर विसर्जित करे । सब प्रजाओं को विसर्जित (भेज) कर मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा (गुप्त-परामर्श) करे ॥१४६॥

एकान्त में गुप्त मन्त्रणा—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।

अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥

भाष्य—मन्त्रदेशविधिः ।

रहोगतः विविक्ते निर्जने देशे स्थितः ।

अविभावितः अनुमानेनापि यथा न जना जानन्तीदं वस्तु विद्यत इति, तथा कुर्यात् ।

निःशलाकम् । ‘शलाका’ इषीकाः । यत्र तृणमपि नास्ति, येन न कश्चित्तिष्ठतीति सम्भावनाऽस्ति, तत्रिःशलाकम् ॥१४७॥

हिन्दी—राजा पहाड़ पर चढ़कर, या एकान्त प्रासाद महल में या निर्जन वन में दूसरे से अज्ञात होते हुए (मन्त्री के साथ) मन्त्रणा (पञ्चाङ्ग मन्त्र का विचार) करे ॥

विमर्श—मन्त्रणा को जानने के लिए शत्रु के गुप्तचर अनेक उपाय करते हैं। अतः उनसे लक्षित न होकर पर्वत की चोटी आदि एकान्त स्थानों में विचार करना चाहिये । इस मन्त्रणा के पाँच अङ्ग हैं; यथा— १- कर्मों के आरम्भ करने का उपाय, २- पुरुष द्रव्य-सम्पत्ति, ३- देशकाल का विभाग, ४- विनिपात का प्रतीकार और ५- कार्यसिद्धि ।

१. तदुक्तम्— सहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः ।

विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥’ इति ।

मन्त्रगुप्ति का उत्तम फल—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।

स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥

भाष्य—मन्त्रप्रकाशनिवारणार्थः श्लोकः ।

पृथग्जना अमन्त्रिणो मन्त्रविद्वाह्याः ॥१४८॥

हिन्दी—जिस (राजा) के मन्त्र को दूसरे लोग आकर नहीं जानते हैं; कोश से हीन भी वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है ॥१४८॥

मन्त्र समय में जड़, मूकादि को हटाना—

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ।

स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥

भाष्य—यत्किंचित्प्राणिजातं तन्मन्त्रयमाणो विशोधयेत् । ततः प्रदेशादपशोधयेत् । मन्त्रभेदाशङ्कया ।

तिर्यग्योनिषु च शुकसारिकादयोऽपि मन्त्रं भिन्दन्ति । गवाश्वादयोऽपि योगारूढाः परिवर्तितनिकायाः सदसद्वार्त्ताहरा भवन्ति । तथान्तर्धानादयोऽपि नरेन्द्रविद्याः श्रूयन्ते ।”

व्यङ्गत्वादेव ग्रहणे सिद्धे गोबलीवर्द्धवदितरेषां ग्रहणम् । “व्यंगस्य हस्तपादादिच्छेदने न मन्त्रनियमास्था कर्तव्या— नायं कुत्रचित् गन्तुं शक्नोति— इहैवावरुद्ध आस्ते— कथं मन्त्रान् भेत्स्यतीति” ।

अथवा एवंविधा मन्त्रिणो न कर्तव्या बुद्धिविभ्रमसम्भवात्, अतो नाप्ता अपि, ततोऽपसर्पः ॥१४९॥

हिन्दी—मन्त्र के समय में (राजा) जड़, मूक (गूंगे), बहरे, तिर्यग् योनि में उत्पन्न (सुग्गा-तोता, मैना आदि), अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, व्यङ्ग (कम या अधिक अङ्गवालों) को हटा दे ॥१४९॥

जड़ादि से मन्त्र भेद की शक्ता—

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ।

स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥१५०॥

भाष्य—मानादपेता अवमताः ।

क्षुद्रादयोऽपमानासत्वे कदाचित्किंचिच्छृणुयुः । कदाचिद्वाऽक्षराण्युच्चारयितुं शक्नुयुः

स्ततो मन्त्रभेदः स्यात् । शक्नुवन्ति निपुणाः किञ्चिदागमेष्वनुमातुम् ॥१५०॥

हिन्दी—क्योंकि अपमानित, जड़, मूक और बहरे तथा तिर्यग्योनि में उत्पन्न तोता मैना आदि और विशेष कर स्त्रियाँ (अस्थिर बुद्धि होने के कारण) मन्त्र का भेदन (अन्यत्र प्रकाशन) कर देती हैं, इस कारण उसमें (उन्हें हटाने में) यत्नयुक्त होवे ॥१५०॥

धर्मार्थकाम का चिन्तन—

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्थं तैरेक एव वा ॥१५१॥

भाष्य—धर्मादीनां परस्परविरोधं चिन्तयेत् । अन्यतमवृद्धौ सर्वोत्थितिर्जयेत् ॥१५१॥

हिन्दी—मध्याह्न में या आधीरात को मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से हीन होकर (राजा) उन (मन्त्रियों) के साथ में या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे ॥१५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ॥१५२॥

भाष्य—धर्मार्थकामानां वा मन्त्रिणां वा समुपार्जनं संग्रहणम् । कन्यानां सम्प्रदानं स्वकार्यसिद्धिवशेन चिन्त्यम् । कुमारानां राजपुत्राणां रक्षणम् ।

तव वयमित्येवमादिभिर्धर्ममर्थं च ते ग्राहयितव्याः ।

नवं हि द्रव्यं येनार्थजातेनोपदिश्यते तत्तदा दूषयति । एवमसंस्कृतबुद्धयो यद्य-
दुच्यते तत्तत्प्रथमं गृह्णन्ति । यद्यसद्भिः संसृज्यन्ते तदा तत्स्वभावस्तेषां प्राप्नोति । ते च
दुःसंस्कारोपदिग्धाः न शक्यन्ते व्यसनेभ्यो निवर्तयितुम् । उक्तं च— ‘नीलीरक्ते वाससि
कुङ्कुमाङ्गरागो दुराधेयः’ । तस्मात्ते नित्यमनुशासनीयाः । तत्रापि ये गुणवन्तस्तान्व-
र्धयेत् । इतरानीषत्संविभजेत् । ज्येष्ठं महागुणममत्सरं यौवराज्येऽभिषिचेत् । एवं राज-
पुत्ररक्षणे नित्यं यत्नवता भवितव्यम् ॥१५२॥

हिन्दी—प्रायशः परस्परविरुद्ध धर्म, अर्थ और काम में से विरोध को बचाता हुआ राजा उनकी प्राप्ति के उपाय का (अपने धर्म की वृद्धि के लिए) कन्या के दान का और अपने पुत्रों की राजनीति, विनयी बनाना आदि की शिक्षा का (चिन्तन) करे ॥१५२॥

दूत भेजने आदि का चिन्तन—

दूतसम्प्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।

अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥

भाष्य—येन संधानं विग्रहो वाऽपि कार्यस्तेन च दूतसम्प्रेक्षणं चिन्त्यम् ।

आरब्धकार्यसम्बन्धं चिन्तयेत्, अवस्थापनाय ।

कक्षान्तरेष्वन्तर्वशिकसैन्याधिष्ठितोऽन्तःपुरं प्रविशेत् । तत्र स्थविरस्त्रीमतिशुद्धां देवीं परिपश्येन्नापरिशुद्धां देवीम् । गृहलीनो हि भ्राता भद्रसेनो मातुः शयनान्तर्गतः राजानं जघान । कुपुरुषशङ्खविषदिग्धेन नूपुरेणावन्त्यं देवी जघान मेखलया । सौवीरं वेण्यां गूढेन शस्त्रेण विदूरथम् । तस्मादेतानि विस्त्रंभस्थानानि यत्नतः परीक्षेत । मुण्ड-जटिलकुहकप्रतिसंसर्गं बाह्यदासीभिरन्तःपुरदासीनां प्रतिषेधयेत् ।

प्रणिधीनां च कार्पटिकादीनां वा परस्पराभिचेष्टितं चिन्तयेत् ॥१५३॥

हिन्दी—दूत भेजने का, बचे हुए कार्य का, अन्तःपुर (रनिवास) के प्रचार का और गुप्तचरों की चेष्टा का (चिन्तन करे) ॥१५३॥

विमर्श—गुप्त लेख आदि को लेकर अन्य राज्यों में दूत भेजने आदि का चिन्तन करे । स्त्रियों की चेष्टाओं के विषम होने से अन्तःपुर में 'कौन कब और क्यों आता या जाता है' यह विचार करे । चोटी में छिपाये हुए शस्त्र से रानी से विदूरथ को यथा काशीराज की विरक्त पटरानी ने विष में बुझे हुए नूपूर से काशीराज को मार दिया था, अतः अन्तःपुर के विषय में राजा को विशेष चिन्तन करना चाहिये ।

अष्टविध कर्मादि का चिन्तन—

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।

अनुरागापरागौ च प्रचार मण्डलस्य च ॥१५४॥

भाष्य—अकृतारम्भः, कृतानुष्ठानम्, अनुष्ठितविशेषणम्, कर्मफलसंग्रहः, तथा सामभेददानदण्डमेतदष्टविधं कर्म ।

अथवा वणिक्पथः उदकसेतुबन्धनं दुर्गकरणं कृतस्य वा तत्संस्कारनियमः हस्तिबन्धनं खनिखननं शून्यनिवेशनं दारुवनच्छेदनं चेति ।

अपरे त्वाहुः—

“आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः ।

पञ्चमे चानुवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥

दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः ।

अष्टकर्मा दिवं याति राजा शत्रुभिरर्चितः ॥” — इत्यौशनसौ श्लोकौ ।

तत्र स्वीकरणम् 'आदानम्' बलीनाम् । भृत्येभ्यो धनदानं 'विसर्गः' । 'प्रैषो'

१. तदुक्तम्— 'शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान ।

विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥' इति ।

दुष्टत्यागः । अर्थाधिकृतानां मतिप्रवृत्तिनिरोधो ‘निषेधः’ । असत्प्रवृत्तिनिषेधश्च ‘अनु-
वचनम्’ । वर्णाश्रमाणां स्वकर्मसंशये ‘व्यवहारावेक्षणम्’ । परस्पराभियोगे दण्डनिपातनं
पराजितानां च । प्रमादस्खलिते तु प्रायश्चित्तमित्येतदष्टविधं कर्म ।

पञ्चवर्गः कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनाः । (१) परमधर्मज्ञाः
प्रगल्भच्छात्राः ‘कापटिकाः’ । तानर्थमानाभ्यामुपसंगृह्य मन्त्री ब्रूयात्— ‘राजानं मां च
प्रमाणं कृत्वा यत्र यदकुशलं तत्तदानीमेवाश्राव्यं त्वयेति’ । (२) प्रब्रज्यायाः प्रत्यवसित
‘उदास्थितः’ । स च प्रज्ञाशौचयुक्तः सर्वात्रप्रदानसमर्थायां भूमौ प्रभूतहिरण्यायां दास-
कर्म कारयेत् । कृषिकर्मफलं तच्च सर्वप्रब्रजितानां ग्रासाच्छादनावसथान्त्रति विदध्यात् ।
तेषां ये वृत्तिकामास्तानुपजपेदेवमेतेनैव वृत्तेन राजार्थश्चरितव्यः । भक्तवेतनकाले चोप-
स्थातव्यमिति । सर्वप्रब्रजिताः स्वं स्वं कर्मोपजपेयुः । (३) कर्षको वृत्तिकक्षीणः प्रज्ञा-
शौचयुक्तो ‘गृहपतिव्यञ्जनः’ । स कृषिकर्म कुर्याद्यथोक्तायां भूमाविति । (४) वाणिजिको
वृत्तिकक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो ‘वैदेहिकव्यञ्जनः’ । स वणिक्कर्म कुर्यात्प्रदिष्टायां भूमाविति
समानम् । (५) मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामः ‘तापसव्यञ्जनः’ स नगराभ्याशे प्रभूत-
जटिलमुण्डान्ते— वासी शाकं यवमुष्टिं वा मासान्तरितं प्रकाशमश्रीयाद्धर्मव्याजेन गूढं
यथेष्टमाहारम् । तापसव्यञ्जनान्तेवासिनश्चैनं प्रसिद्धयोगैरर्थलाभमग्रे शिष्याश्चादिशेयुः ।
दाहं चौरभयं दुष्टवधं च विदेशप्रवृत्तिमिदमद्य श्वो वा भविष्यतीदं वा राजा करिष्यतीति
तस्य गूढमन्त्रिणस्तत्प्रयुक्ताः सम्पादयेयुः ।

ये चास्य राज्ञो वंशलक्षणविद्यां संगविद्यां जम्भकविद्यां मायागतमाश्रमधर्मं निमित्त-
ज्ञानं चाधीयाना मन्त्रिणस्तत्र राजा एतत्पञ्चसंस्थायतैर्मन्त्रिभिः स्वविषयेऽवस्थापयेत् ।
मन्त्रिपुरोहितमेनयतियुवराजदौवारिकान्तर्वेशिकादिषु सद्व्यपदेशवेषशिल्पभाषाविदो
जनपदापदेशेनामन्त्रिणः संधारयेत् । तथा कुब्जवामनकिरातमूकजडबधिरान्धनटनर्तक-
गायनादयः स्त्रियश्चाभ्यन्तरचारिण्योऽटव्यां वनेचराः कार्याः, ग्रामे ग्रामीणकादयः, पुरुष-
व्यापारार्थाः स्वव्यापारम्पराः । परस्परं चैते बाद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः, वारिसंचा-
रिणस्था गूढाश्च गूढसंज्ञिताः ।

एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य परस्यात्मनश्चात्मीयादेव पञ्चवर्गान्मन्त्रिपुरोहितादीनामनु-
रागापरागौ विद्यात् प्रवर्त्तेत । तथा राजमण्डलप्रचारको माण्डलिकः संधिविग्रहादौ
कस्मिन्प्रचारे इति ॥१५४॥

हिन्दी—(राजा) आठ प्रकार के सब कर्म, पञ्चवर्ग, अनुराग, अपराग और
राजमण्डल के प्रचार का वास्तविक रूप से— (चिन्तन करे) ॥१५४॥

विमर्श—(१) आठ प्रकार के सब कर्म कई प्रकार के शास्त्रों में आचार्यों ने
बतलाये हैं, उनमें तीन प्रकार के यहाँ लिखते हैं ।

(क) १— आदान (कर लेना), २— विसर्ग (नौकर आदि की वेतनादि के रूप में द्रव्य देना), ३— प्रेषण (मन्त्री या दूत आदि को शास्त्रादि के अनुकूल कार्य करने के लिए यथोचित स्थानों में भेजना), ४— निषेध (शास्त्र एवं राजनीति से विरुद्ध कर्म का त्याग करना), ५— अर्थ-वचन (किसी विषय में बहुमत होने पर राजाज्ञा के ही अनुसार उस कार्य का निर्णय करना), ६— व्यवहार (प्रजाओं के ऋण आदि लेने या देने के विवाद को देखना), ७— दण्डग्रहण (हारे या आत्मसमर्पण किये शत्रु से शास्त्रोक्त मर्यादा एवं अपनी हानि तथा उसके अपराध के अनुसार दण्डस्वरूप धनराशि लेना) और ८— शुद्धि (पाप करने पर पापियों से प्रायश्चित्त कराना)^१ ।

(ख) मेधातिथि ने इन आठ प्रकार के कर्मों को इस प्रकार से कहा है— १— नहीं, आरम्भ किये हुए कर्म को आरम्भ करना, २— आरम्भ किये हुए कर्म को पूरा करना, ३— पूरा किये हुए कर्म को बढ़ाना, ४— कर्म के फलों का संग्रह करना, ५— साम, ६— दान, ७— दण्ड और ८— भेद ।

(ग) १— व्यापार मार्ग, २— पानी (नदी आदि) में पुल बनवाना, ३— किला बनवाना, ४— किये हुए संस्कार का निर्णय करना, ५— हाथी (घोड़ा आदि) का बन्धन, ६— खानों को खोदवाकर धातु आदि को निकलवाना, ७— शून्य (सून-सान अर्थात् निर्जन या बीहड़) स्थान में प्रवेश करना और ८— लकड़ी के वन को कटवाना ।

(२) पञ्च वर्ग ये हैं— १— कापटिक, २— उदास्थित, ३— गृहपति (किसान, गृहस्थ), ४— वैदेहक (व्यापारी), और ५— तापस के वेषवाला । इनका स्पष्ट वर्णन निम्न है—

१. कापटिक— परामर्श का ज्ञाता, ढीठ छात्रवाला, कपट व्यवहार में निपुण तथा जीविकाभिलाषी को धन देकर और आदर-सत्कार कर राजा एकान्त में उससे कहे कि— 'तुम जिसका दुराचार आदि देखो उसको मुझसे शीघ्र कहो ।'

२. उदास्थित— पतित संन्यासी, लोक में प्रसिद्ध दोषवाला, बुद्धिमान् और शुद्ध अन्तःकरणवाले तथा जीविका के इच्छुक व्यक्ति से राजा एकान्त में पूर्ववत्

१. तथा चोशनसोक्तम्—

'आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः ।

पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥

दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः ।

अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥' इति ।

एतस्य विशदाशयो म० मुक्तावल्यां द्रष्टव्यः ।

(कापटिक के समान) कहे और जिस मठ में अधिक आय हो, उसमें रखे तथा अधिक उपजाऊ भूमि उसे दे और वह व्यक्ति राजा के गुप्तचरों का काम करनेवाले दूसरे संन्यासियों को भी अन्न-वस्त्र देकर राजा का कार्य करावे ।

३. गृहपति— (किसान या गृहस्थ)— जीविकाहीन, बुद्धिमान् शुद्धहृदय के रूप में रहनेवाला (परन्तु वास्तविक किसान न होकर राजा का गुप्तचर हो), उससे भी राजा का पटिक के समान कहकर खेती का काम करावे।

४. व्यापारी— जो जीविका से रहित एवं व्यापारी के रूप में रहनेवाला (परन्तु वास्तविक में व्यापारी न होकर राजदूत के योग्य हो, उससे भी कापटिक के समान कहकर राजा धन-मानादि से अपना आत्मीय बनाकर व्यापार करावे) ।

५. तापस— जो मूंड मुंडाया हो या जटादि बढ़ाया हो, जीविकाभिलाषी हो, तपस्वी (संन्यासी या साधु आदि) के वेष में हो (परन्तु वास्तविक तपस्वी न होकर राजदूत का कार्य करता हो), उससे भी कापटिक के समान एकान्त में कहकर राजा किसी आश्रम, मठ या मन्दिर आदि में नियुक्त करे । वह मुण्डित या जटाधारी व्यक्ति साधु आदि के बीच में रहता हुआ, कपटी (कपटवेषधारी-प्रत्यक्ष— में शिष्य, किन्तु वास्तविक में उसकी आज्ञा से राजदूत का काम करनेवाले) शिष्यों से युक्त, राजा के गुप्तरूप में वृत्ति लेता हुआ तपस्या करे— सबके प्रत्यक्ष में तो कई दिनों, सप्ताहों या महीनों पर दो मुट्ठी बेर या अन्य सामान्य फल मूलादि खाय तथा एकान्त में राजा के द्वारा प्राप्त सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करे, उसके पूर्वोक्त शिष्य ‘मेरे गुरुदेव त्रिकाल के ज्ञाता हैं, सबको सिद्धि देनेवाले हैं’ ‘उसकी प्रसिद्धि जनता में करें तथा जनता उसकी सिद्धता पर विश्वास कर अपने अभिलषित कार्य की सिद्धि के लिए उससे भला या बुरा सब कुछ अपना मनोभिलषित कहेंगे तथा दूसरे के भले या बुरे कार्यों को बतलावेंगे; इस प्रकार राजा को वह सर्वदा खबर पहुँचाता हुआ राजदूत का काम करता रहेगा । इस प्रकार पञ्चवर्ग का चिन्तन राजा करे ।

(६) अनुराग तथा अपराग— मन्त्री, सेनापति आदि निजप्रकृतियों में; भाई बान्धव, राजकुमार आदि सम्बन्धियों में और गुप्तचर तथा प्रजाओं में अपने प्रति अनुराग या अपराग (स्नेह का अभाव) को मालूम कर उसका उपाय करे ।

(७) राज्यमण्डल का प्रचार— शत्रुभूत राजाओं में कौन मुझसे सन्धि करना चाहता है तथा कौन युद्ध करना चाहता है और इसी प्रकार मित्र, उदासीन, पार्श्ववर्ती आदि राजाओं के विषय में भी चिन्तनकर तदनुसार कार्य करे ।

[वने वनेचराः कार्याः श्रवणाटविकादयः ।

परप्रवृत्तिज्ञानार्थं

शीघ्राचारपरम्पराः ॥११॥]

[हिन्दी—राजा वन में वनेचर, भिक्षुक या फटे पुराने कपड़े पहननेवाले एवं शीघ्र कार्य करनेवाले जङ्गली मनुष्यों को शत्रु के कार्य को मालूम करने के लिए नियुक्ति करे ॥११॥]

[परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः ।

चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः ॥१२॥]

[हिन्दी—वैसे ही गुप्तचरों के द्वारा शत्रुओं के वैसे गुप्तचरों से व्याप्त स्थानों तथा नाम छिपाकर कार्य करनेवाले धूर्त गुप्तचरों को मालूम करे ॥१२॥]

मध्यमादि राजाओं के प्रचार का चिन्तन—

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।

उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥

भाष्य—एतस्मिन् राजमण्डल इमाश्चतस्रो राजप्रकृतयो मुख्या भवन्ति । विजिगीषु-ररिर्मध्यम उदासीन इति ।

तत्र च यो राजा प्रकृतिसम्पन्नोऽहमेवंविधां पृथिवीं विजेष्येऽभ्युत्थितः स विजिगीषुः उत्साहशक्तियोगात् ।

शत्रु स्त्रिविधः, सहजः प्राकृतः कृत्रिमः ।

स्वभूम्यनन्तर इति मध्यमः ।

अनयोररिविजिगीष्वोरसंहतयोर्निग्रहसमर्थः न संहतयोरुदासीनः, अरिविजिगीषु-मध्यमानामसंहतानां निग्रहसमर्थः, न तु संहतानाम् ॥१५५॥

हिन्दी—राजा मध्यम, उदासीन और शत्रु के प्रचार तथा विजिगीषुकी चेष्टा का चिन्तन (परिज्ञान एवं प्रतिकार) करे ॥१५५॥

विमर्श— १. मध्यम—जो राजा विजिगीषु (लक्षण आगे कहेंगे) राजा की सीमा के पास रहता हो अर्थात् (मध्यम तथा विजिगीषु) राजाओं की राज्य-सीमा मिली हुई हो, दोनों विरोधियों में सन्धि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो; वह राजा 'मध्यम' है । २. उदासीन— जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के एकमत होने पर अनुग्रह करने में और विरोध होने पर निग्रह (दण्डित) करने में समर्थ हो, वह राजा 'उदासीन' है । ३. शत्रु— इसके तीन भेद हैं— (क) सहज शत्रु (चचेरा भाई आदि), (ख) कृत्रिम (बुराई आदि के कारण बना हुआ) शत्रु और (ग) राज्य की भूमि (सीमा) का पार्श्ववर्ती शत्रु । और ४. विजिगीषु— जो राजा अधिक उत्साह, गुण एवं प्रकृति (स्वभाव या मंत्री सेनापति आदि) से समर्थ तथा विजयाभिलाषी हो, वह राजा 'विजिगीषु' है ।

राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।

अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥

भाष्य—एताः स्मृताः । एता मूलप्रकृतयो मण्डलस्य व्याख्याताः । अष्टौ-चान्याः । आसां चतसृणां प्रकृतीनामेकैकस्याः प्रकृतेर्मित्रममित्रं चेति द्वे द्वे प्रकृता एता अष्टौ आद्याश्चतस्र एवमुभयतो द्वादश भवन्ति ॥१५६॥

हिन्दी—राजमण्डल की ये चार (मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु) मूल प्रकृतियाँ हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ हुई ॥

विमर्श—‘शाखाप्रकृतियाँ’ आठ हैं— १. मित्र, २. अरिमित्र, ३. मित्र-मित्र, ४. अरि-मित्र-मित्र, ये चारों शत्रु की भूमि से आगे की ओर तथा ५. पाष्णिग्राह, ६. आक्रन्द, ७. पाष्णिग्राहासार और ८. आक्रन्दासार— ये चारों शत्रु की भूमि से पीछे की ओर । इस प्रकार ये आठ शाखाप्रकृतियाँ तथा पूर्व कथित चार मूल प्रकृतियाँ मिलकर राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ होती हैं ।

राजमण्डल की ७२ प्रकृतियाँ—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।

प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥

भाष्य—अमात्यादयः पञ्चप्रकृतयः द्वादशानां प्रकृतीनां एकैकस्या भवन्ति । अतः षट्द्वादशका द्विसप्ततिः ॥१५७॥

हिन्दी—राजमण्डल की पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियों में से प्रत्येक की— १. अमात्य (प्रधान मन्त्री), २. राष्ट्र, ३. दुर्ग (किला), ४. अर्थ (धनकोष) और ५. दण्ड— ये ५ द्रव्यप्रकृतियाँ हैं (अतः $१२ \times ५ = ६०$ द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं) तथा पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियों को सम्मिलित कर ($६० + १२ = ७२$) राजमण्डल की कुल ७२ प्रकृतियाँ मुनियों ने कही हैं ।

अरि आदि के लक्षण—

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।

अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥

भाष्य—विजिगीषुभूम्यनन्तरमरिं विद्यात्तथाऽरिमित्रं मित्रं त्वेवमरिं भूम्यनन्तरं विजिगीषोर्मित्रं भवति ।

उदासीनस्तयोः परः । अरिमित्रलक्षणं च सहजकृत्रिमयोरपि द्रष्टव्यम् ॥१५८॥

हिन्दी—विजिगीषु (अपने राज्य के पार्श्ववर्ती) तथा शत्रु की सेवा करनेवाला राजा 'अरि' अरि के बाद में रहनेवाला 'मित्र' और उन दोनों से भिन्न राजा 'उदासीन' होता है ॥१५८॥

विमर्श— इन्हीं प्रकृतियों के आगे और पीछे की ओर का भेद है, इनमें ये चार पहले कहे गये 'अरि' आदि 'व्यपदेश' तथा अन्त में कहे गये 'पार्ष्णिग्राह' आदि 'व्यपदेशभागी' हैं ।

[विप्रकृष्टेऽध्वनो यत्र उदासीनो बलान्वितः ।

स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिञ्ज्ञेयः स मध्यमः ॥१३॥]

[हिन्दी—जिस दूर मार्ग में सेनासहित उदासीन राजा हो, वह खिल मण्डलार्थ जिसमें हो उसे मध्यम जानना चाहिये ॥१३॥]

सामादि से वशीकरण—

तान्सर्वानभिसन्दध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।

व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥

भाष्य—संदध्याद्वशीकुर्यात् ।

पौरुषनयौ सामदण्डावेव । तत्र चोक्तं 'सामदण्डौ प्रशंसंतीति' ॥१५९॥

हिन्दी—राजा अलग-अलग या मिले हुए सामादि (साम, दाम, भेद और दण्ड) उपायों से, पुरुषार्थ से और नीति से उन सबको अपने वश में करे ॥१५९॥

षड्गुणों का चिन्तन—

सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥

भाष्य—तत्र हिरण्यादिदानोभयानुग्रहार्थः सन्धिस्तद्विपरीतो विग्रहः । एकान्तता-गमनं यानम्-उपेक्षायामासनम् । सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः । परस्यात्मार्षणं संश्रयः । एते षड्गुणाः ।

एतेषां यस्मिन् गुणेऽवस्थितो मन्येताहं शक्यामि दुर्गं कारयितुं, हस्तिनीर्बन्धयितुं खनीः खनयितुं, वणिक्पथं प्रयोजयितुं, जतुवनं छेदयितुं, अदेवमातृकदेशे क्षेत्राणि बन्धयितुमित्येवमादीनि, परस्य वित्तानि व्याहर्तुं, बुद्धिविघातार्थं गुणमुपेयात् ॥१६०॥

एवं च सति—

हिन्दी—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय— इन छः गुणों का सर्वदा विचार करे ॥१६०॥

विमर्श—(१) सन्धि— दोनों के सुख-चैन के लिए हाथी, घोड़ा आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की सहायता करने का निश्चय करना । (१) विग्रह— युद्ध आदि द्वारा विरोध करना । (२) यान— शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ना । (३) आसन शत्रु की उपेक्षा कर चुप मारकर किले आदि सुरक्षित स्थान में बैठ जाना । (४) द्वैधीभाव अपने कार्य की सिद्धि के लिए सेना को दो हिस्सों में करके कार्य करना । और (५) संश्रय शत्रु से दबाये जाने पर उससे बलवान् दूसरे राजा का आश्रय लेना । इन ६ गुणों में से जिसके ग्रहण करने से शत्रु की हानि एवं अपनी वृद्धि हो उसका विचार करना चाहिये । इन्हीं को ‘षड्गुण’ कहते हैं ।

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च ।

कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥

भाष्य—एकेन संधायापरस्मिन्याने शक्तं मृषा विगृहीयात् । एवमासनमपि संधाय विगृह्य च सर्वमेतत्कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत । नात्र नियतः कालः । यदैव यद्युक्तं मन्येत तदैव तदाचरेत् ।

“यदि कालनियमो लक्षयितुं न शक्यते, उपदेशः किमर्थम्” ।

एवमाह न शक्यते । विशेषो दुर्लक्षः, सामान्यं तु सुलक्षणमेतदप्यबुधानामुपयुज्यते ॥१६१॥

हिन्दी—राजा अपनी हानि एवं लाभ को विचारकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे ॥१६१॥

विमर्श—पूर्व दो (७।१६०-१६१) श्लोक में परस्पर निरपेक्ष सन्धि आदि षड्गुणों का चिन्तन कार्य बतलाकर इस इस श्लोक में उनके उचित पालन के लिए बतलाते हैं— किसी राजा के साथ सन्धि कर आसन (युद्धादि का उद्योग छोड़ चुपचाप बैठ जाना) या किसी से विग्रह करके यान (चढ़ाई) कर देना अथवा द्वैधीभाव और बली राजा का आश्रय करना आदि कार्य राजा को करना चाहिए ।

सन्ध्यादि के २-२ भेद—

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।

उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥

हिन्दी—राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय (तथा द्वैत) इनमें प्रत्येक को दो प्रकार का जाने । (उनके प्रकार आगे कह रहे हैं) ॥१६२॥

हिन्दी—विजिगीषु (अपने राज्य के पार्श्ववर्ती) तथा शत्रु की सेवा करनेवाला राजा 'अरि' अरि के बाद में रहनेवाला 'मित्र' और उन दोनों से भिन्न राजा 'उदासीन' होता है ॥१५८॥

विमर्श— इन्हीं प्रकृतियों के आगे और पीछे की ओर का भेद है, इनमें ये चार पहले कहे गये 'अरि' आदि 'व्यपदेश' तथा अन्त में कहे गये 'पार्ष्णिग्राह' आदि 'व्यपदेशभागी' हैं ।

[विप्रकृष्टेऽध्वनो यत्र उदासीनो बलान्वितः ।

स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिज्ज्ञेयः स मध्यमः ॥१३॥]

[हिन्दी—जिस दूर मार्ग में सेनासहित उदासीन राजा हो, वह खिल मण्डलार्थ जिसमें हो उसे मध्यम जानना चाहिये ॥१३॥]

सामादि से वशीकरण—

तान्सर्वानभिसन्दध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।

व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥

भाष्य—संदध्याद्वशीकुर्यात् ।

पौरुषेणयौ सामदण्डावेव । तत्र चोक्तं 'सामदण्डौ प्रशंसंतीति' ॥१५९॥

हिन्दी—राजा अलग-अलग या मिले हुए सामादि (साम, दाम, भेद और दण्ड) उपायों से, पुरुषार्थ से और नीति से उन सबको अपने वश में करे ॥१५९॥

षड्गुणों का चिन्तन—

सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥

भाष्य—तत्र हिरण्यादिदानोभयानुग्रहार्थः सन्धिस्तद्विपरीतो विग्रहः । एकान्तता-गमनं यानम्-उपेक्षायामासनम् । सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः । परस्यात्मार्पणं संश्रयः । एते षड्गुणाः ।

एतेषां यस्मिन् गुणेऽवस्थितो मन्येताहं शक्यामि दुर्गं कारयितुं, हस्तिनीर्बन्धयितुं खनीः खनयितुं, वणिक्पथं प्रयोजयितुं, जतुवनं छेदयितुं, अदेवमातृकदेशे क्षेत्राणि बन्धयितुमित्येवमादीनि, परस्य वित्तानि व्याहर्तुं, बुद्धिविघातार्थं गुणमुपेयात् ॥१६०॥

एवं च सति—

हिन्दी—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय— इन छः गुणों का सर्वदा विचार करे ॥१६०॥

विमर्श—(१) सन्धि— दोनों के सुख-चैन के लिए हाथी, घोड़ा आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की सहायता करने का निश्चय करना । (१) विग्रह— युद्ध आदि द्वारा विरोध करना । (२) यान— शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ना । (३) आसन शत्रु की उपेक्षा कर चुप मारकर किले आदि सुरक्षित स्थान में बैठ जाना । (४) द्वैधीभाव अपने कार्य की सिद्धि के लिए सेना को दो हिस्सों में करके कार्य करना । और (५) संश्रय शत्रु से दबाये जाने पर उससे बलवान् दूसरे राजा का आश्रय लेना । इन ६ गुणों में से जिसके ग्रहण करने से शत्रु की हानि एवं अपनी वृद्धि हो उसका विचार करना चाहिये । इन्हीं को ‘षड्गुण’ कहते हैं ।

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च ।

कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥

भाष्य—एकेन संधायापरस्मिन्याने शक्तं मृषा विगृह्णीयात् । एवमासनमपि संधाय विगृह्य च सर्वमेतत्कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत । नात्र नियतः कालः । यदैव यद्युक्तं मन्येत तदैव तदाचरेत् ।

“यदि कालनियमो लक्षयितुं न शक्यते, उपदेशः किमर्थम्” ।

एवमाह न शक्यते । विशेषो दुर्लक्षः, सामान्यं तु सुलक्षणमेतदप्यबुधानामुपयुज्यते ॥१६१॥

हिन्दी—राजा अपनी हानि एवं लाभ को विचारकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे ॥१६१॥

विमर्श—पूर्व दो (७।१६०-१६१) श्लोक में परस्पर निरपेक्ष सन्धि आदि षड्गुणों का चिन्तन कार्य बतलाकर इस इस श्लोक में उनके उचित पालन के लिए बतलाते हैं— किसी राजा के साथ सन्धि कर आसन (युद्धादि का उद्योग छोड़ चुपचाप बैठ जाना) या किसी से विग्रह करके यान (चढ़ाई) कर देना अथवा द्वैधीभाव और बली राजा का आश्रय करना आदि कार्य राजा को करना चाहिए ।

सन्ध्यादि के २-२ भेद—

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।

उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥

हिन्दी—राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय (तथा द्वैत) इनमें प्रत्येक को दो प्रकार का जाने । (उनके प्रकार आगे कह रहे हैं) ॥१६२॥

सन्धि के २ भेद—

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।

तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥

भाष्य—समानयानकर्मा । 'यानफलं सहितौ तुल्यौ गच्छावः । समानफलभागितया, न च त्वयाऽहमुल्लङ्घनीयः । यत्ततो लप्स्यते तत्तव मम च भविष्यति' । अथवा 'त्वमन्यतो याह्यहमन्यत्र यास्या'मीत्येवमसमानयानकर्मा **विपरीतः** ॥१६२-१६३॥

हिन्दी—सन्धि के दो भेद— (१) समानकर्मा सन्धि और असमानकर्मा सन्धि । तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है, तथा (२) तात्कालिक या भविष्य में लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना, 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है ॥१६३॥

विग्रह के २ भेद—

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।

मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥

भाष्य—स्वयं विग्रहस्य कालः यदावश्यं स्वबलेनोत्सहते परं कर्षयितुमुत्साहयुक्तः, प्रकृतयः संहता विवृद्धाश्च स्वकर्मकृष्यादिफलसम्पन्नाः परस्यैतान्यपहरिष्यन्ति कर्माणि क्षीणलब्धप्रकृतिः परः, शक्यास्तत्प्रकृतय उपजापेनात्मीयाः कर्तुं, स स्वयं विग्रहस्य कालः ।

अकाल एतद्विपरीतः ।

तत्रापि **विग्रहो मित्रस्यापकृते** । यदि शत्रुणा तदीयं मित्रमपकृतं तदा तद्विचिन्त्याकालेऽपि विग्रहः कर्तव्यः । यद्यपि स्वयमपि शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति, तथापि तेन मित्रेण सहायेन शक्यः शत्रुरपबाधितुम् । शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति शत्रोस्तु शत्रुर्विषयानन्तरम् ।

पाठान्तरं 'मित्रेण चैवापकृते' । तेन यद्यसौ बाधितो भवति, तदाऽकालेऽपि विग्रहः कार्यः ।

एतद्विग्रहस्य द्वैविध्यं स्वकार्यार्थं मित्रकार्यार्थं च । अथवाऽऽत्मनोऽभ्युच्छ्रयादेकः प्रकारो मित्रेणापकृते व्यसनिनि तत्रैव द्वितीयः ॥१६४॥

हिन्दी—विग्रह के दो भेद हैं— (१) शत्रु पर विजय पाने के लिए शत्रुव्यसन (मन्त्री या सेनापति आदि से विरोध) मालूम कर समय (७।१८० में कथित अगहन

मास आदि) के अलावे असमय में भी अथवा समय (अगहन मास आदि) में स्वयं किया गया विग्रह प्रथम भेद है तथा (२) दूसरे किसी राजा के द्वारा अपने मित्र पर आक्रमण या उसकी किसी प्रकार हानि पहुँचाने पर मित्र की रक्षा के लिए किया गया विग्रह द्वितीय भेद है ॥१६४॥

विमर्श— इस श्लोक के तृतीय पाद के स्थान में ‘मित्रेण चैवापकृते’ पाठ मानकर गोविन्दराज का तथा मेधातिथि आदि का सम्मत अर्थ म०मु० में देखना चाहिये ।

यान के २ भेद—

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।

संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥

भाष्य—एकाकिनो मित्रेण वा संहतस्य यानद्वैविध्यं यानस्यासत्यां शक्तावेकाकिनः । अन्यथा संहतस्य ।

‘आत्ययिकं कार्यं, परस्य व्यसनोत्पत्तिः । तदा ह्यभिगमनीयतमो भवति । परतः कदाचिल्लब्धोच्छ्रयो दुरुच्छेद्यः ॥१६५॥

हिन्दी—यान के दो भेद होते हैं— शत्रु के आपत्ति में फँस जाने पर अकस्मात् (एका-एक) समर्थ राजा का आक्रमण करना प्रथम ‘यान’ है तथा स्वयं समर्थ न होने पर मित्र के साथ आक्रमण करना द्वितीय ‘यान’ है ॥१६५॥

आसन के २ भेद—

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।

मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

भाष्य—आत्मसंवरणमासनम् । तदपि द्विविधम् ।

क्षीणस्य बलकोशोपनयेन वृद्धस्यापि शत्रुं प्रत्यपेक्षा । आसनं च मित्रानुरोधेन । यदि मित्रस्य क्षीणस्य शत्रुणा सह सम्बन्धो नेदृशो भवति, तदीयेन मित्रेण नायमुत्तम्भनीय इत्यतस्तदनुवृत्त्यासीत् ।

स च क्षयो दैवात्पूर्वकृतेन वेत्यनुवादः । वृद्धिक्षयौ सर्वस्यैतेन कारणेन भवतः । तत्र ‘दैवं’ स्वकृतप्रमादः अतिव्ययशीलता, अप्रतिजागरणं स्वे बले, पूर्वकृतमशुभं कर्मापि ।

विपर्ययेण वैतद्व्याख्येयम् ।

मोहादिति पाठान्तरम् । अर्थस्तु दैवशब्देन व्याख्यातः ॥१६६॥

हिन्दी—आसन के दो भेद हैं— भाग्यवश या पूर्वजन्म के कार्यवश सेना, कोष

आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध रहने पर भी राजा का घेरे पड़े रहना प्रथम 'आसन' है तथा मित्र के अनुरोध से उसकी रक्षा के लिए शत्रु का घेरे पड़े रहना द्वितीय 'आसन' है ॥१६६॥

द्वैध के २ भेद—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।

द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥

भाष्य—बलस्य स्थितिः स्वामिनश्च भेदेन दुर्गस्वामिनः स्वल्पेन बलेन सेना-पतेरन्यत्र महता बलेन युक्तस्य । अथवा बलशपथानुग्रहार्थः कश्चित्कर्तव्यो हिरण्यादि-लाभापेक्षया परस्त्वधिकेनाशु ।

“द्वैधीभावो नामायमुपायः । तस्यैतदेव रूपं— यद्विधा स्थितिर्बलस्वामिनोर-त्रैवरूपस्य तस्यापरं द्वैधं वक्तव्यम् । न च तदनेन किंचिदुच्यते । केवलं बलस्य स्वामिनश्च स्थितिरेतद्विविधं तत्र वक्तव्यं मायायां द्वैधीभावस्तस्येदं द्वैविध्यम्” ।

उच्यते । सामर्थ्यलभ्यमेतत्परानुग्रहार्थमेतत्कर्तव्यं, स्वकार्यार्थं चेत्येष द्विधा-भावस्य द्वैधीभावः ॥१६७॥

हिन्दी—षाड्गुण्य (७।१६० में कथित— सन्धि आदि के उपयोग अर्थात् लाभ) को जाननेवाले द्वैध के दो भेद कहते हैं— अपने कार्य की सिद्धि के लिए हाथी-घोड़ा आदि चतुरंगिणी सेना का एक भाग शत्रु से बचने के लिए सेनापति के अधीन करना प्रथम 'द्वैध' तथा उक्त सेना का शेष भाग किला आदि में राजा के अधीन रखना द्वितीय 'द्वैध' है ॥१६७॥

संश्रय के २ भेद—

अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।

साधुषु व्यपदेशश्च द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

भाष्य—शत्रुभिः पीड्यमानस्य अर्थसम्पादनार्थमन्यत्र संश्रयः । 'अर्थ'पीडा-निवृत्तिस्तत्सम्पादनार्थं शक्तमन्यमाश्रयेत् । स्वदेशं हित्वा तत्र गच्छेत् ।

व्यपदेशश्चापीडितेऽपि आगामिपीडापरिहाराय व्यपदेशार्थमन्यं संश्रयेत् । एषोऽस्य सहायको वर्तते, न शक्योऽयमुपपीडयितुमिति व्यपदेशसिद्धिर्न केनचिदुपपाद्यते । व्यप-देशप्रयोजनसंश्रयो व्यपदेशशब्देनोक्तः, सामानाधिकरण्येन ।

पाठान्तरं 'व्यपदेशार्थमिति' ।

क पुनः संश्रयः कर्तव्यस्तदाह साधुषु । ये साधवो राजानस्तेषामन्यतममाश्रयेत् ।

येभ्यः सकाशात्कुसृतिर्नाशङ्क्यते । साधुशब्देन परिभवत्राणसामर्थ्यादयो गुणाः प्रति-
पाद्यन्ते ॥१६८॥

हिन्दी—संश्रय दो प्रकार का होता है— शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना प्रथम ‘संश्रय’ तथा भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंका से आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना द्वितीय ‘संश्रय’ है ॥१६८॥

सन्धि-विग्रह आदि के योग्य समय—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥१६९॥

भाष्य—श्रायतिरागामीकालः । यद्येवं मन्येत समबलो ममायमप्येष न्यूनबला वा, कालांतु लब्धकृत्योपजापेन मित्रग्रहेण वा शक्रोम्येनमभिभवितुं तदा सन्धिं कुर्यात् ।

आधिक्यमधिकबलता ।

ध्रुवं निश्चितम् ।

तदात्वे वर्तमानकालवचनोऽयम् ॥१६९॥

हिन्दी—जब राजा भविष्य में अपनी (सेना आदि की) निश्चित रूप से अधिकता तथा वर्तमान सामान्य हानि देखे तो शत्रु से सन्धि (मेल, सुलह) कर ले ॥१६९॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।

अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

भाष्य—प्रहृष्टा उत्साहानुरागयुक्ता दानमानाभ्यामुपसंगृहीता आत्मीयाः प्रकृतीर-
मात्यादिका मन्येत । अत्युच्छ्रितमात्मानं कोशहस्त्यश्वादिसम्पदा । तदा केनचिदपदेशेन
सन्धिदूषणं कृत्वा विग्रहमाश्रयेत् ॥१७०॥

हिन्दी—जब राजा सब प्रकृतियों (७।१५६-१५७) को (दान-मान आदि से) अत्यन्त सन्तुष्ट तथा अपनी सेना को बलशालिनी समझे तो शत्रु को लक्ष्य कर अभियान (युद्ध के लिए यात्रा) कर दे ॥१७०॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।

परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिषुं प्रति ॥१७१॥

भाष्य—भावो हर्षपोषकारणम् । बहुना धनेन संविभक्तता कृष्यादिकर्माणि,
फलितान्येषामित्यादि हर्षपोषयोः कारणम् ।

बलं ‘हस्त्यश्वरथपादातम् ।

परस्य यदा विपरीतं तदा शत्रुं प्रतियायादभिषेणयेच्छत्रुमित्यर्थः । न विग्रह-
कारणान्येव यानकारणानि, किं तर्हि तान्यपि अपचयश्च हर्षपोषयोः परस्य प्रकृती-
नाम् ॥१७१॥

हिन्दी—जब राजा अपनी सेना आदि को हृष्ट-पुष्ट (बलवती) तथा शत्रु की सेना
आदि को इसके विपरीत (दुर्बल) समझे तब उस पर चढ़ाई कर दे ॥१७१॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।

तदाऽऽसीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥१७२॥

भाष्य—वाहनं हस्त्यश्वरथम् । बलं पादातम् । गोबलोवर्दवद्भेदः । परिक्षीणे
बले सति सान्त्वयन्नरिमासीत । सामोपप्रदानाभ्यामनुकूलनं 'सान्त्वनम्' ॥१७२॥

हिन्दी—जब राजा हाथी आदि वाहनों (सवारियों) से तथा अमात्य आदि शक्तियों
से अपने को अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) समझे तब यत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ
चुप होकर बैठ जावे ॥१७२॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१७३॥

भाष्य—अशक्यं संधानं बलवता रुद्धस्य, दुर्गसंश्रयणं च हितम्, दुर्गं च बला-
वस्थापनमेव द्वैधीभावात् । स च प्रागुक्तार्थः । बलीयानेव हि व्यसने बलं द्विधाकरोति
इति दृश्यते ॥१७३॥

हिन्दी—जब राजा शत्रु को सब प्रकार (अपने से) बलवान् समझे तब अपनी सेना
को दो भागों में विभक्त कर (एक भाग को शत्रु को रोकने के लिए सेनापति के अधीन
कर) तथा दूसरे भाग को आत्मरक्षार्थ अपने अधीन (किला आदि सुरक्षित स्थान में
रखकर) अपना कार्य (मित्र आदि सहायक साधनों का संग्रह) करे ॥१७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१७४॥

भाष्य—गमनीयतमोऽभिभवनीयतमो दुर्गस्थोऽहमिति मन्यते । तदा क्षिप्रं
दुर्गमुज्झित्वाऽन्यं संश्रयेद्भामिकम् । यतः कुसृतिर्नाशङ्क्यते, यस्य यशोमयी स्थिर-
प्रकृतिः । बलिनमित्येतेनैतत्सुदर्शितम् ॥१७४॥

हिन्दी—जब राजा (अमात्यादि के दोष से पूर्व श्लोकानुसार सेना को दो भागों
में विभक्त कर आत्मरक्षा का उपाय करने पर भी) शत्रु द्वारा अपने को पराजित होने
योग्य समझे, तब शीघ्र ही बलवान् (अग्रिम श्लोकोक्त गुणयुक्त) राजा का आश्रय
करे ॥१७४॥

बलवान् का संश्रय—

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।

उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१७५॥

भाष्य—बलिनमित्युक्तम् । कियता बलेन बलवान्भवतीत्येतदर्थमिदमुच्यते ।
या दुष्टास्तदीयाः प्रकृतयो यश्च शत्रुरुभयस्यापि निग्रहे समर्थः स आश्रयितव्यः ।
स गुरुवत्परिसेवितव्यो मानमुज्झित्वा । नैवं मन्तव्यं ‘महाराज एषोऽपि सम-
त्वेन वर्त्तावह’ इति । प्रभुवदसौ सेवितव्यः ।

सर्वयत्नैरुपायैः प्रियवचनैरवसरे समीपे सन्निधानेन ॥१७५॥

हिन्दी—जो राजा (बिगड़ी हुई अमात्य आदि ७।१५६-१५७) प्रकृतियों तथा शत्रु
की सेना का निग्रह करे (दण्डित करे) उस राजा की सेवा (दुर्बल राजा) करे ॥१७५॥

यदि तत्रापि सम्पश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।

सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१७६॥

भाष्य—यदि तस्मिन्नपि संश्रये सम्पश्येज्जानीयात्कथञ्चिद्दोषं संश्रयकारितम् ।
दोषदर्शनलिङ्गानि च ।

“दत्त्वाऽऽनुतापः कृतपूर्वहोमं विमानना दुश्चरितानुकीर्तनम् ।

“दृष्टेरदानं प्रतिकूलभाषणमेताश्च दुष्टस्य भवन्ति वृत्तयः ॥”

ततस्तत्रापि संश्रये दोषकारिणि विज्ञातेऽपिशब्दादाश्रये निर्दोषेऽसति सुयुद्धमेव
तस्मिन्नपि काले निर्विकारः कुर्यात् । न हि संश्रये विनाशो, दृश्यते ह्यल्पबलेनापि महा-
बलो जीयमानः । अपि चान्त्यावस्थायामुभयथा गुणः— विजये राज्यं पराजये ध्रुवः
स्वर्ग इति ।

युद्धस्य तु शोभनत्वं दर्शयिष्यामः ।

एकैकगुणाश्रयेण मण्डलविजयाय यायाच्छक्तः ॥१७६॥

हिन्दी—जब राजा उक्त प्रकार से (७।१७४-१७५) संश्रय करने पर भी दोष,
अपनी कार्य सिद्धि का अभाव) देखे; तब निर्भय होकर उस (दुर्बल) अवस्था में भी पूरी
शक्ति के साथ युद्ध करे ॥१७६॥

मित्र, उदासीन आदि बढ़ाने का निषेध—

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।

यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥

भाष्य—उपायवचनात्सामादिभिर्व्यस्तैः समस्तैर्वा ।

सर्वग्रहणात्तु येन शक्यन्ते संघादिनाऽपि ।

तथा कुर्यात् तेन प्रकारेण यतेत ।

नीतिज्ञः अर्थशास्त्रज्ञः, स्वाभाविकप्रज्ञः नयाद्यभिज्ञो वा राजा यथा स्यात् ।

शक्तित्रयेणाभ्यधिका मित्रादयो न भवेयुस्तथा प्रकृत्यादिसमादिष्टे कर्मप्रवर्तने च भ्योऽधिकमात्मानं कुर्यात् ।

श्लोकानुरोधान्मध्यमग्रहणं न कृतम् । सोऽपि तु द्रष्टव्यो, न मित्रमित्युपेक्ष्यम् । स्वप्रयोजनव्यतिरेकेण मित्रं नामाव्यवस्थितं हि मित्रत्वाधिक्यमुपगतं स्वार्थगतिवशाच्च मित्रमप्यरिर्भवति । तथा च व्यास आह ।

“न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।

सामर्थ्ययोगाद्विज्ञेया मित्राणि रिपवस्तथा” इति ।

एतैरुपायैर्मण्डलैर्विचारयेत् ॥१७७॥

हिन्दी—राजा सब उपायों (साम, दाम, दण्ड और भेद) से ऐसा करे कि जिससे इसके शत्रु, मित्र तथा उदासीन अधिक न होवें ॥१७७॥

विमर्श—उनकी अधिकता होने पर धन-लोभ से मित्र के भी शत्रु होने से उसे पराधीन होने की सम्भावना रहती है ।

भावी आदि के गुण-दोष का चिन्तन—

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।

अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

भाष्य—कार्याणि कर्माणि प्रयोजनानि । तेषां सर्वेषामारिप्समानानामायतिः परिणाम्यागामिकालः । तदात्वं प्रारम्भावस्थावर्तमानकालस्तं च विचारयेत् ।

तत्त्वतस्तत्वेन ।

अनेकमुखानि हि कार्याणि क्षणाच्चान्यथा भवन्तीति । तत्र येषामुभौ कालौ न शुद्ध्यतस्तानि कार्याणि कथमारभेतेति तद्विचारार्थापदेशः ।

अतीतानामतिक्रान्तानां च सर्वेषां गुणदोषौ— ततो विचारयेत् ।

अत्राप्यतीतानां गुणदोषौ विचार्य यानि कर्माणि गुणवन्त्यतीतानि तान्येव कथं नाम पुनरारभेतेत्यतीतकार्यगुणदोषतत्त्वविचारणोपदेश एवमर्थः ॥१७८॥

हिन्दी—राजा उत्तरकाल (आगे वाले समय) वर्तमान काल और अतीत काल के गुणदोषों का चिन्तन करे ॥१७८॥

विमर्श— भविष्य में मुझे जो कार्य करना है, उसमें गुण-दोष का क्या विचार करे, वर्तमान काल में जो कार्य चल रहा है गुण-दोष का विचार कर उसे पूरा करने की चेष्टा करे; तथा जो कार्य समाप्त हो चुका है, उसके गुण-दोष (उसमें क्या ठीक हुआ और क्या बिगड़ गया क्या हानि अथवा लाभ है, यह) विचार करे ।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥१७९॥

भाष्य—एवं हि यो ह्यायत्यामागामिनि काले कार्याणां गुणदोषौ विजानाति नियमेनासौ विमृश्यकारीति स्वयं चारभते न सदोषं एवमर्थं हि ज्ञानम् ।

‘तदात्वे’ वर्तमाने यः क्षिप्रभवधारयति, कार्ये न विलम्बते, तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः क्षिप्रकारी भवति, गुणवत्करोति, न दोषवत् ।

अतीते कृते सति कार्ये शेषतो यः कार्यमेव बुध्यते न तत्परिसमाप्तो लभत इति गुणवत्सर्वकार्यफलसम्बन्धादभ्यधिकः । **शत्रु भिर्नाभिभूयते ।**

न हि धर्मशास्त्रे षाङ्गुण्योपदेशः शक्यते कर्तुं दृष्ट इति दिङ्मात्रमुक्तम् ॥१७९॥

हिन्दी—भविष्य काल के कार्यों के गुण-दोषों को जाननेवाला, वर्तमान काल के कार्यों के विषय में शीघ्र निश्चय करनेवाला और बीते हुए कार्यशेष को जाननेवाला राजा शत्रुओं से पराजित नहीं होता है ॥१७९॥

राजनीति का सामान्य लक्षण—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।

तथा सर्वं संविदध्यादेष्ट सामासिको नयः ॥१८०॥

भाष्य—यथा न तैस्तैः प्रयोगैरभिसंदध्युस्तथा कुर्यादर्जितैरितरैरिवोपायैरित्येष सङ्क्षेपिको न्याय इत्युपसंहारः ।

षाङ्गुण्यस्यातिसंधानविरोधश्चैवं न भवति । कृत्यानामुपजापरक्षणाद्व्यसनेषु प्रति-कारात्स्वमण्डलसंग्रहाद्गुणोपायानां सम्यक्प्रयोगात्कर्मस्वभ्युत्थानमित्येवं द्रष्टव्यम् ॥१८०॥

हिन्दी—शत्रु, मित्र या उदासीन राजा जिस कार्य को करने से उस राजा को पीड़ित (पराजित) न करें, संक्षेप में यही राजनीति है ॥१८०॥

शत्रु पर अभियान की विधि—

तदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।

तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८१॥

भाष्य—इदानीमभियास्यतः कर्माह ।

यदोपचिकीर्षत्यरिराष्ट्रं प्रत्यभिमुखेन तदाऽनेन विधानेन गच्छेदत्वरमाणः ।

वक्ष्यमाणोपन्यासः सुखावबोधनार्थः ॥१८१॥

हिन्दी—जब राजा शत्रु पर अभियान (चढ़ाई) करे, तब इस (आगे कहे हुए) विधि से धीरे-धीरे शत्रु के नगर की ओर बढ़े ॥१८१॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।

फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१८२॥

भाष्य—यातव्यापेक्षया बलापेक्षया दीर्घं योद्धुमिच्छन्बलप्रायः शारदवासन्तिक-सस्यप्रायं परराष्ट्रं मार्गशीर्षे यायात् । अत्र हि गच्छन् शारदं फलं गृहादिगतं सुखं गृह्णाति, वासन्तं सस्यमुपहरति । कालश्च महान्दुर्गोपरोधादिकार्यक्षमो मार्गश्च प्रसिद्धवक्र-पथोपभृतकाशोदकवीरुधो न भवन्ति, कालश्च नात्युष्णशीतः । उपचितमपि न सस्यं नाना-प्रयुक्तं प्रियं सस्यत्रयोपघातकालविप्रकर्षापेक्षया च पर आश्रयं संधत्ते । उभयसस्योप-घातावकर्षणं सभ्यकृतं भवत्यात्मनश्च बलापचय इति । उपघातमात्रचिकीर्षया परदेशा-देरल्पकालसाध्ये वा यातरि, बलप्रायः फाल्गुनचैत्रयोर्यायात् वासन्तिकसस्यप्रायदेशम् ।

तदाप्यात्मनो यवसादि भवति, परोपघातक्षेत्रगतसस्योपघातात् ।

यथाबलमिति येन प्रकारेण बलानुरूपं यायादित्यर्थः ॥१८२॥

अस्यापवादः—

हिन्दी—राजा शुभ मार्गशीर्ष (अगहन) मास में या फाल्गुन अथवा चैत्र मास में अपनी सेना के अनुसार शत्रु के नगर की ओर बढ़े ॥१८२॥

विमर्श—चतुरङ्गिणी (हयदल, गजदल, रथदल तथा पैदल) सेना से युक्त जो राजा मन्द चलनेवाले हाथियों तथा रथों से गमनकर विलम्ब से पहुँचनेवाला हो तथा हेमन्त-सम्बन्धी धान्य से परिपूर्ण शत्रु राजा पर चढ़ाई करना चाहे; वह मार्गशीर्ष में तथा शीघ्रगामी घोड़ों की सेना से गमनकर शीघ्र पहुँचनेवाला हो सर्वविध धान्यपूर्ण शत्रुदेश पर चढ़ाई करना चाहे; वह अपने बल (सैन्यशक्ति) के अनुसार फाल्गुन या चैत्र मास में चढ़ाई करे ।

उक्त समय से भिन्न काल में भी अभियान—

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम् ।

तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥१८३॥

भाष्य—एतद्व्यतिरेकेणान्येष्वपि प्रावृडादिकालेषु । यदा मन्येतात्मनोऽवश्यं-भावि विजयं तदा यायात् । यदा हस्त्यश्वबलप्रायं वर्षास्वश्वबलं हस्तिबलं तदा हि

स्वबलकालप्रभावादेकान्तिको जयः ।

व्यसनं परस्य स्वबलकोशादिगतम् । तस्मिन्नुत्पन्ने स्वबलकालनिरपेक्षो यायात् ।
व्यसनपीडितो हि शत्रुः साध्यो भवति । काष्ठमिव गुणोपयुक्तसन्नियोगमात्रादेव विनश्यति ।

विगृह्येति यातव्यमेवावष्टभ्याहूय यायात् । महानस्मिन्नेवावगम्यते ॥१८३॥

हिन्दी—दूसरे समय भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे अपने सैन्यबल से युक्त हो; तब विग्रहकर शत्रु पर चढ़ाई करे और जब शत्रु को अमात्य आदि के विरोध (फूट-बैर) या कठोर दण्ड आदि से व्यसन में पड़ा हुआ समझे तब भी (ग्रीष्म आदि) अन्य समय में शत्रु पर चढ़ाई करे ॥१८३॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सभ्यग्विधाय च ॥१८४॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।

सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं प्रति ॥१८५॥

भाष्य—‘मूले’ स्वदुर्गराष्ट्रे कुर्यादथपार्ष्णिग्राहश्च । तत्र ‘विधानं’ प्रतिविधानं कृत्वा दुर्गं तावत्प्रभूतधान्यादिकं सुसज्जयन्त्रप्राकारपरिखादि कार्यम् । राष्ट्रस्यापि— स्वबलं श्रेणीबलेभ्यो रक्षां विधाय कुर्याद्दानमानेभ्य उपसंयम्य प्रत्यन्तेषु प्रक्षेप्तव्यं पार्ष्णिग्राहं प्रति प्राह । तत्समर्थश्च बलैकदेशः स्वराष्ट्रे स्थापयितव्यः ।

यात्राप्रयोजनं **यात्रिकं** हस्त्यश्वादिबलयोग्यं च प्रहरणधारणादिसज्जम् । **यथा-विधि** परोपदेशं कृत्वा । **आस्पदं** प्रतिष्ठानम् । किंतर्ह्यतोऽपरकीयाः क्रुद्धादयो द्रष्टव्यास्तानु**पगृह्य** स्वीकृत्याकारस्य परविषये निवृत्तेस्तज्ज्ञानाय **सम्यग्यथावद्विधाय** प्रयुज्य । किमयं दृष्टोपसंग्रहं कर्तुमारब्धमुत शत्रुपरिमण्डलं कोपयितुमथ मध्यममुदासीनं वा संश्रयितुम्, तथा मूलयात्रां वा हर्तुकामो विधिवच्छेदं वा कर्तुकाम, इत्यादि यथा चैतदेवं तथा ।

त्रिविधः पन्था जाङ्गल आतप आटविक इति । केचिदाटविकस्थाने वन-प्रक्षेपात् त्रिविध इति । अपर उन्नतो निम्नः सम इत्येवं त्रिविधम् ।

संशोध्य मार्गरोधिवृक्षगुल्मलताविच्छेदेन स्थलनिम्नयोः समीकरणं नदीगर्तयो-स्तीर्थकरणं पथिरोधकव्यालसमुच्छेदः प्रवर्तकानामात्मीकरणं यवससेनादिमत्ता चेति ।

षड्विधं बलमिति केचित् । हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकोशकर्मकरात्मकं षड्विधं बलमित्यन्ये । कोशस्थाने प्रक्षेपणमित्यपरे । मौलभृत्यश्रेणिमित्रामित्राटविकबलभेदात् ।

सांपरायिकविधानेन । ‘सांपरायिकं’ युद्धे कृच्छ्रम्, तत्प्रयोजनं यस्य **तत्सांपरा-**
मनु .II 8

यिकं दुर्गकल्पेन वा रिपुं प्रति यायात् । स च सैन्यनिवेशस्तेषु तेषु च स्थानेषु स्थावर-जङ्गमदण्डो बहुमुखपरिघफलकशाखाभिः प्राकार इत्यादिस्तादृशस्थापितः । विशेषत-स्तु यात्रागतः ॥१८४-१८५॥

हिन्दी—अपने किला तथा देश की रक्षा के लिए प्रधान पुरुष से युक्त सेना का एक भाग रखकर; यात्रा के योग्य शास्त्रोक्त सवारी, शस्त्र, कवच आदि से युक्त होकर; दूसरे राजा के राज्य में जाने पर मार्ग तथा स्थिति पाने के लिए उनके भृत्य आदि को अपने पक्ष में करके; कपटवेशधारी गुप्तचरों को शत्रु-देश की प्रत्येक बात मालूम करने के लिए भेजकर; जाङ्गल, आनूप तथा आट्विक भेद के तीन प्रकार के मार्गों को पेड़, लता, झाड़ी, कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊँची भूमि को बराबर कराने से गमन के योग्य बनाकर और हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, सेना एवं कार्यकर्तारूप छः प्रकार से बल (सेना) को उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्धकर यात्रा के योग्य विधान से धीरे-धीरे शत्रु के देश को प्रस्थान करे ॥१८४-१८५॥

शत्रु-सेवी मित्रादि से सावधानी रखना—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥१८६॥

भाष्य—शत्रु सेविनि । गूढे प्रच्छन्ने मित्रे गतप्रत्यागते च युक्ततरः स्यात् । अभियुक्ततर आदृततरो भवेन्न विश्वसेदित्यर्थः । यस्मात्स कष्टतरो रिपुरन्येभ्यः क्रुद्धादिभ्यः । एवं च युक्ततरवचनात्कष्टतरवचनाच्च गतप्रत्यागतमग्राह्यमन्यस्येति गम्यते ।

स चतुर्विधः । कारणादृतस्ततो विपरीतकारणादागतो यथा दोषेण गतः पुनरागतो गुणमुभयोः परित्यज्य । कारणेनागत इति यः स त्याज्यो लघुबुद्धित्वाद्यत्किंचित्कारीति । पुनरस्य प्रत्ययस्तु न कार्यः । कारणादृतः कारणागतः यथा स्वामिदोषेण गतः परस्मात्स्वदोषेणगत इति सत्कर्तव्यो यदि सङ्गित्वादागतस्ततो ग्राह्यः । अथ परप्रयुक्तस्तेन वा दोषेणापकर्तुकाम इति ततो नेति ॥१८६॥

परराष्ट्रं प्रत्यभिप्रस्थितः

हिन्दी—गुप्तरूप से शत्रु की ओर मिले हुए मित्र में और पहले विरक्त होकर फिर आये हुए व्यक्ति (सैनिक या गुप्तचर आदि) में अत्यन्त सावधानी रखे, क्योंकि वे अत्यन्त कष्टकर (अतएव दुर्निग्रह) शत्रु हैं ॥१८६॥

व्यूह-रचना—

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।

वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥

भाष्य—तत्र दण्डाकारो व्यूहो **दण्डव्यूहः** । एवं शकटाकृतिस्थानाच्छकट इत्यादि योज्यम् ।

पुरस्ताद्वलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनापतिः, पार्श्वयोर्हस्तिनस्तेषां समीपेऽश्वा-
स्ततः पदातय इत्येष सर्वतः समवायो **दण्डव्यूहोऽतिर्यग्भवति** । सर्वतो भयकार्यः
सूचीव्यूहः स्थलसमुत्थानसैनिकः प्रवीरपुरुषमुखोऽतिदीर्घ ऊर्ध्वो यतः परकक्षोऽन्यैः
समं प्रवर्तमानः । **मकरव्यूहस्तु** मुखे जघनयोः पृथुरुभयतो येन प्रशस्तः सर्वं न फल्गु-
बलं लभते न चार्थम् । तद्धि शूरैर्हन्यमानमन्येषामपि भङ्गाय भवति । तस्यान्तमन्यकार्यम-
वरुद्धं निश्चयेनावतिष्ठते । परिशिष्टं तु बलं व्यूहस्यान्तः प्रक्षिपेत् ।

एवं रचनाविशेषैरुक्तैरुक्तप्रयोजनापेक्षया वा विशेषेण तु समायां भूमौ दण्ड-
गरुडसूचिभिर्यायात् । विषमायां संकटायां शकटमकरवराहैरिति ॥१८७॥

हिन्दी—(राजा मार्ग में भय रहने पर) दण्डव्यूह से या शकटव्यूह से या बराहव्यूह
से या मकरव्यूह से या सूचीव्यूह से अथवा गरुडव्यूह से मार्ग में चले ॥१८७॥

विमर्श—(१) **दण्डव्यूह**— आगे दण्डाध्यक्ष (दे० ७।१८९ का निष्कर्ष), बीच
में राजा, पीछे सेनापति (दे० ७।१८९ का निष्कर्ष) दोनों पार्श्वों (बगलों) में हाथी, उनके
पास घोड़े और उन घोड़ों के पास में पैदल सैनिक; इस प्रकार दण्ड के समान बराबर
तथा लम्बी सेना की रचना ‘दण्डव्यूह’ है । (२) **शकटव्यूह**— आगे के भागों में पतली
तथा पीछे के भाग में फैली हुई अतएव गाड़ी के समान सेना की रचना ‘शकटव्यूह’ है ।
(३) **वराहव्यूह**— आगे तथा पीछे के भागों में पतली तथा मध्य भाग में फैली हुई सेना
की रचना ‘वराहव्यूह’ है । (४) **मकरव्यूह**— ‘वराहव्यूह’ के विपरीत अर्थात् आगे तथा
पीछे के भागों में फैली हुई और मध्य-भाग में पतली सेना की रचना ‘मकरव्यूह’ है ।
(५) **सूचीव्यूह** चींटियों की पंक्ति के समान आगे पीछे सटी (मिली) हुई तथा प्रत्येक
सैनिक स्थिति में मुख्य एवं शीघ्र शूरवीर से युक्त सेना की रचना ‘सूचीव्यूह’ है ।
(६) **गरुडव्यूह**— ‘वराहव्यूह’ के समान किन्तु बीच में अधिक फैली हुई सेना की रचना
‘गरुडव्यूह’ है ।

इनमें से मार्ग में सब ओर से भय रहने पर ‘दण्डव्यूह’ से, पीछे की ओर से भय
रहने पर ‘शकटव्यूह’ से, पार्श्वभाग (दाहिने बायें की ओर) से भय रहने पर ‘वराहव्यूह’
और ‘गरुडव्यूह’ से, आगे तथा पीछे— दोनों ओर से भय रहने पर ‘मकरव्यूह’ से तथा
आगे (सामने) की ओर से भय रहने पर ‘सूचीव्यूह’ से यात्रा करे ।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।

पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥१८८॥

भाष्य—तस्मिन्पथि यस्मात्प्रदेशात्परहितकारिभ्यो भयाशङ्का स्यात्तेन प्रदेशेन पूर्व-
गृहाद्विस्तारयेद्वलम्, गव्यूतिमात्रमधिकं वा । यवसम्पन्नदृढप्रहारविस्तीर्णशत्रुपुष्टपरस्पर-
मवरुद्धरथिकाश्चारोहकरिबलान्यवहितानि भवन्ति ।

समन्ताद्विभृतपरिमण्डलो मध्यनिविष्टविजिगीषुः पद्मव्यूहः ।

एवं नित्यं निविशेत्पुरात्रिर्गच्छेद्ग्रामाद्वा ॥१८८॥

हिन्दी—(राजा) जिधर से भय की आशङ्का हो, उधर ही सेना का विस्तार करे और
स्वयं सर्वदा 'पद्मव्यूह' से (नगर से निकलकर कपटपूर्वक) शत्रुदेश में प्रवेश करे ॥१८८॥

विमर्श—पद्मव्यूह—जिसमें सब ओर से समान रूप से सेना फैलायी गयी हो
और बीच में जिगीषु (विजयाभिलाषी) राजा बैठा हो, वैसी सेना की रचना 'पद्मव्यूह' है ।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।

यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥

भाष्य—सेनापतिः, समग्रस्य धनस्याधिपतिर्बलाध्यक्षः, तयोर्बहुत्वाभावाद्-
द्विवचननिर्देशाच्च सर्वदिक्षु तदसम्भव इति, तत्पुरुषास्तच्छब्देनोच्यन्ते । तदीयपुरुष-
सन्निवेशाच्च सर्वदिक्षु तावेव सन्निवेशितौ भवतः । तेन भिन्नैस्तुरगगजादिभिस्तत्प्रति-
बद्धनिवेशानां संयोधनाय समन्ततो निवेश्य, गिरि वनं गर्तं वा पृष्ठतोऽध्यक्षं कृत्वा ।
यतो भयमाशङ्केत यथा सा प्राची दिग्भवति । एवं निवेशं कुर्यादभिमुखनिर्गमार्थ-
मिव विद्वद्भिः ॥१८९॥

हिन्दी—(राजा) सेनापति तथा बलाध्यक्ष को सब दिशाओं में फैलाकर नियुक्त करे
तथा जिस दिशा की ओर से भय की आशङ्का हो, उस दिशा को पूर्व दिशा मान कर
आगे उसी दिशा को करे ॥१८९॥

विमर्श—हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल के दश अङ्गों का स्वामी 'पंक्तिक' कहा
जाता है, दश पंक्तियों का स्वामी 'सेनापति' तथा दश 'सेनापतियों' का स्वामी
'बलाध्यक्ष' कहा जाता है ।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समन्ततः ।

स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

भाष्य—गुल्मान्मनुष्यसमवायान् । केचित्साक्षात्समन्ततः सशङ्खपटहा, अन्ये
विपरीतास्तत्र चोत्पन्नं दुश्चिकित्सं महते चानर्थाय ।

गुणैर्विशेषयति आप्तानाप्तसदृशानित्यभेदार्थम् ।

कृतसंज्ञान् । कृता संज्ञा सम्बोधनाय यैस्ते कृतसंज्ञास्तानवसरे युद्धेषु शङ्खभेरी-
नादध्वजादिभिर्वाद्यैस्तूर्यमेवाहरिष्यामस्तदपगमाशङ्कायां चैवमेव कुर्यात् । शङ्खे आहते

ध्वजे वोच्छ्रिते पृथक्पृथगवस्थातव्यम्, एवं संहतैरेवं प्रहर्तव्यं एवं व्यावर्तितव्यमित्यादि स्थितम् ।

स्थाने कुशलाः अन्यैः शूरैः शक्यमागन्तुं समेतेन शक्यमस्मिन् वयमपृथक् परे पृथगित्यादि ।

युद्धे अनुसरणादौ **कुशला** भवन्तः संहतकैर्योधनीयाप्रसारं कृत्वा प्रविष्टाः पृष्ठ-देशात् प्रहारिणः चित्रं योजयितव्याः, भग्नानामनेकायनशतानां पृष्ठं ग्राह्यमित्यादि ।

अभीरवः अनेन विस्तीर्णसमेताः ।

अविकारिणोऽभेदात्मकैर्यैर्युक्तमपरस्य ।

एवमेतान्गुल्मान्समन्ततस्तिष्ठेषु दिक्षु गव्यूतिमात्रव्यापी प्रत्यहमनियतदेशान् बहून् स्थपतेर्भयप्रतिबोधनार्थमवहितेभेदादरिजनो विश्वस्तो भवति, दानमानकार्यदर्शनादिभिर-प्रवृत्ते युद्धेऽमात्यादिभिः सह सर्वेषां स्वार्थः संग्रामो मम नाममत्रं राजेति सर्वे वयं समानविभवोपभोगाय जये राज्यं पराजये स्वर्ग इति हेतुनाऽऽगताः ॥१९०॥

हिन्दी—(राजा) ठगने, भागने या युद्ध करने के लिए विश्वासपात्र, शंख, भेरी, नगाड़ा आदि वाद्यों के सांकेतिक; रुकने में तथा युद्ध में, चतुर, निडर और कभी विकृत नहीं होनेवाले सेना के एक भाग को चारों तरफ दूर तक शत्रु के प्रवेश को रोकने तथा उसकी चेष्टा को मालूम करते रहने के लिए नियुक्त करे ॥१९०॥

संहतान्योधयेदल्पाङ्कामं विस्तारयेद्बहून् ।

सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूहा योधयेत् ॥१९१॥

भाष्य—असंहता हि बलवद्विस्तीर्णं बलमासाद्यावयवशो विध्वंसनाय वाहना-घातैः क्षयं यान्ति तद्विनाशो चोत्पन्ना इमेऽतोऽल्पानात्मीयान्संहतान्योधयेदन्योन्या-पेक्षया युध्यमानानभिघ्नन्त । इतरेतरानुग्रहात्परस्परानुरागात्स्पर्द्धायां च परान्संहतान्सोढुं समर्था भवन्ति ।

कामं यथेष्टं कार्यार्थं **बहून्विस्तारयेद्विप्रकीर्णान्योधयेदित्यादि** मन्येत ।

भिन्नांस्तांश्चैतान्भयमेष्यति, परान्स्वान्वा बहून्दृष्ट्वा त्रासः स्यादिति । सूची पूर्वोक्तो-ऽक्षव्यूहभेदोऽग्रतः पृष्ठतश्च त्रिधा व्यवस्थितः पार्श्वयोर्भेदनम् । तेन चात्मानं सूचि-व्यूहं विभज्य योधयेत् । सतां च सर्वव्यूहानां प्रतिष्ठाव्यूहनसमर्थवित्तिप्रतिगृहीतावेवं कारणात् । यदा तु परबले होतावेव भवतस्तदा स्वे बले विपर्ययः कार्यः । तुल्यत्वे तुं पुष्टिमत्त्वानुरक्तकुशलमाननप्रभूतैकार्थकारित्वादित्यतो विशेषे यथासम्भववाक्यैः ।

बोधयेदिति वचनाद्राजा स्वयं तत्प्रतिसंधानार्थं व्यूहदुर्गाद्यमश्चे प्रतिग्रहभूत-स्तिष्ठेत् । **समानतन्त्रेणोक्तम्**—

‘द्वे शते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत्प्रतिग्रहः ।

भिन्नसंघातनार्थं तु न युध्येताप्रतिग्रहः ॥” १९१॥

हिन्दी—(राजा) थोड़े योद्धा हों तो उन्हें थोड़ी दूर में ही संगठित कर तथा अधिक योद्धा हों तो उन्हें दूर तक फैलाकर सूचीव्यूह (७।१८७ का निष्कर्ष) या ‘वज्रव्यूह’ से मोर्चाबन्दी कर युद्ध करावे ॥१९१॥

विमर्श—तीन ओर से सेना को फैलाना ‘वज्रव्यूह’ कहा जाता है ।

समतल आदि भूमि में युद्धप्रकार—

स्पन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौ द्विपैस्तथा ।

वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥

भाष्य—सेनानां देशस्य प्रकल्पत्यर्थमाह ।

समप्रदेशे रथैरश्वैश्च युध्येत । तत्र हि तेषामप्रतिघातः ।

अनूपः पानीयप्रायः । तत्राप्यल्पोदके हस्तिभिरगाधोदके तु नौभिः । तेषां हि तत्र सुखप्रचारता ।

वृक्षैर्गुल्मैश्च संछन्ने धनुर्भिः । तद्ग्रहणाच्च बलीवर्दगर्ताद्याकुलो गृह्यते, समान-कार्यत्वात् ।

स्थलमिति पाषाणवृक्षलतागर्तादिरहितो देशस्तस्मिन्सिद्धिः । धार्यैः शरादिभिरा-
युधैश्च शक्त्यादिभिर्युध्येत आसन्नयुद्धत्वादेवं सामर्थ्यप्रदर्शनार्थत्वादस्य ॥१९२॥

किं च—

हिन्दी—(राजा) समतल युद्धभूमि में रथ और घोड़ों से, जलप्राय युद्धभूमि में नाव तथा हाथियों से, पेड़ तथा झाड़ियों से गहन युद्धभूमि में धनुषों से और कंटक पत्थर आदि से वर्जित युद्धभूमि में ढाल, तलवार एवं भाला-बर्छा आदि से युद्ध करे ॥१९२॥

व्यूह के आगे रखने योग्य सैनिक—

कौरक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् ।

दीर्घाल्लिघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३॥

भाष्य—कुरुक्षेत्रं प्रसिद्धम् । मत्स्यसंज्ञो विराटदेशो नागपुरे पञ्चालाः । उभये कान्यकुब्जा आहिच्छत्राश्च । शूरसेनजा माथुराः । क्वचिच्चात्र भावार्थे प्रत्ययो लुप्त-निर्दिष्टः एतद्देशजा हि प्रायेण महावर्ष्माणो बलवन्तः पृथुवक्षसः शूरा अभिमानिनो दुर्विषहा इत्यत्र येऽनीकस्थिताः परेषां भयहेतवो भवन्ति । दीर्घकायाध्यस्तान्पल्पदेशा अपि दीर्घश्वासकरा महाकायत्वात् । लघवस्तु मरणासमर्था निर्भयेन जनेन प्रच्छन्ना विद्धाः प्रहरन्तोऽपकारासमर्था आदर्शभूताश्चैत इतरेषां भवन्ति ॥१९३॥

हिन्दी—(राजा) कुरुक्षेत्र, मत्स्य, (विराट), पाञ्चाल (कान्यकुब्ज तथा अहिच्छत्र) और शूरसेन (मथुरा) देश में उत्पन्न लम्बे कदवाले योद्धाओं को तथा अन्य देशोत्पन्न लम्बे या छोटे कदवाले युद्धाभिमानि योद्धाओं को युद्ध के आगेवाले मोर्चे पर नियुक्त करे ॥१९३॥

सैनिकों का उत्साहवर्द्धन तथा परीक्षण—

प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च भृशं परीक्षयेत् ।

चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योध्यतामपि ॥१९४॥

भाष्य—व्यूहं रचयित्वाऽस्त्रबले भृशं दर्शयन्किमेषां जीयते जिता एवामी युष्मत्प्रतापेनेत्येवं प्रहर्षयेत् । ‘जये महानर्थलाभः, आश्रितोपाश्रितसुखम्, वधे वाऽपि स्वर्गो भर्तृपिण्डनिर्यातनं च, पराजये त्रितयाभाव’ इत्यादि नैमित्तिकोऽपि तदुपदेशः । तादृशनिमित्तनियमान्मानय सहस्वोर्व्यावश्यंभावो यदि प्रधानपुरुषः स्वजनवधो राजा तदप्रतिग्रहव्याजेन स्थितो भीरुत्वात् स्वयं युद्धं न कामयत इत्यादि । यत्र ये ब्रूयुर्नैतदेव स्वार्थं एवायमस्माकमत्र वधः शस्त्रोपजीविभूतानां संग्रामविशेषधर्मोऽव्ययीभावः स्वधर्मा-यासोऽनर्थहेतू, राजा सर्वप्रकारै रक्षणीयः । परिश्रान्तानां चास्माकमपरिश्रान्तसुखमनुग्रहं करिष्यतीत्येवमर्थं स्थित’ इति तान्विशेषतो गृह्णीयात् । जेतुः प्रशंसितुः परसंव्ययं वा कारयेयुस्तानुपग्रहैः परिष्वङ्गालङ्कारदानादिना च वशीकुर्यात् ।

चेष्टां चैवारीणां योध्यतां विजानीयात् । कथं युद्धे चेष्टन्ते कोशा बलं वा । केचिद्द्विधाहृदयाः केचित्तु पक्षान्त इत्यादिचिन्तानित्यत्वान्मनुष्याणामुपकुर्वतोऽपि स्वार्थ-वशादुपकुर्वतीत्यत्र दुष्टानाप्तबलमध्ये विन्यसेद्यथाऽरिर्दुर्गाश्रितो भवति ॥१९४॥

तद्गुर्गलम्भोपायमाह ।

हिन्दी—(राजा) मोर्चा बनाकर सैनिकों को उत्साहित करे, उनकी अच्छी तरह जाँच करे तथा शत्रुओं से लड़ते हुए उनकी चेष्टाओं को मालूम करता रहे ॥१९४॥

विमर्श—‘युद्ध में विजय होने पर धन और धर्म की तथा मृत्यु होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इसके विपरीत युद्धभूमि से भागने पर योद्धा राजा के पाप का भागी तथा नरकगामी होता है एवं उसका अपयश होता है’ इत्यादि वाक्यों से उत्साहवर्द्धन करे । ये योद्धा किन-किन कारणों से प्रसन्न होते हैं तथा किन-किन कारणों से खिन्न होते हैं, इत्यादि जाँच करे । लड़ते हुये योद्धाओं के सोपधि (सकपट) एवं अनुपधि (निष्कपट) चेष्टाओं को मालूम करता रहे ।

परराष्ट्र पीडन—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्यनम् ॥१९५॥

भाष्य—उपरोधस्तथा कर्तव्यो यथा न कश्चिन्निष्क्रामति न किञ्चित्प्रविशति ।

राष्ट्रं दुर्गाद्विहिर्देशस्तस्योपपीडनं स्वदेशापवादोपमर्दनादिभिः ।

यवसादीनां 'दूषणं' विनाशनम्, असद्द्रव्यमिश्रणादिभिः ॥१९५॥

हिन्दी—(राजा दुर्ग के बाहर स्थित) शत्रु पर घेरा डालकर रहे, इसके देश को (लूटपाट आदि से) पडित करे और इसके भूसा, घास, अन्न, जल, और ईंधन को सर्वदा नष्ट करे अर्थात् दूषित द्रव्य (विष आदि) मिलाकर उपयोग के अयोग्य बना दे ॥१९५॥

तडागादि का भेदन—

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।

समवस्कंदयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१९६॥

भाष्य—तडागग्रहणं सर्वजलाशयदर्शनार्थम् । तत्र तडागस्य सेतुबन्धेन प्रयोजन-भेदनम् । प्राकारस्य यंत्रैर्विदारणं सुरङ्गया वा भङ्गः । परिखायाः पूरणेन पार्श्वभङ्गेन वा । छिद्रेषु प्रवीरपुरुषैरवस्कंदयेत् । दुर्गे रात्रौ च वित्रासयेत् । अग्निकुम्भशिरस्कैः शिवा-वद्रुतानि कुर्वद्भिर्मनुष्यैः । ये नराः स्वयमुत्पातदर्शनाद्रात्रौ जाग्रति, जागरणावजीर्णो लोकः सुसाध्यो भवति ॥१९६॥

तस्मिंश्च काले भूयो भूयः—

हिन्दी—(राजा) शत्रु के उपजीव्य तडाग, नहर, कूप आदि को नष्ट कर दे; किले या नगर के परकोटे (चहारदिवारी) को तोड़ दे, खाई को मिट्टी आदि से भरकर सुखा दे (सुप्रवेश्य कर दे) इस प्रकार निर्भय होकर शत्रु को दबा दे तथा रात में नगाड़ा आदि युद्ध के बाजाओं को बजवाकर शत्रु को भयभीत करता रहे ॥१९६॥

शत्रु की प्रकृतियों के भेदन—

उपजप्यानुपजपेद्बुद्धयेतैव च तत्कृतम् ।

युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥१९७॥

भाष्य—उपजप्याः क्रुद्धारयः कुलीनाः स्वराज्याभिलाषिणस्तानुपजपेदिति हेतुः । कर्तरि कर्तव्यव्यपदेशमुपजपेदित्यर्थः । उपजपेद्ग्राहयेदित्यर्थः । उपजाप आश्रयाद्वि-श्लेषात्महितानुष्ठानप्रतिपादनम् ।

तेन चारिणा सुकृतमप्यभिमतदुर्गस्थेन वा किञ्चित्प्रारब्धं बलाटविकपार्णिग्राहादि-कोपनार्थं मध्यमोदासीनानामन्यतरेण सह संधानमित्यादि बुध्येत ।

युक्ते च दैवे विजिगीषोरनुकूलदैव इत्यर्थः । नक्षत्रग्रहदैवसमुहूर्तेषु साधकेषु दृष्ट-स्वप्नदर्शननिमित्तेषु चानुगुणेष्वनुलोमवातादिषु जयमिच्छन्निर्गतभयो दुर्गस्थानानि यथा प्रथमं योद्धुं गच्छेत् ॥१९७॥

हिन्दी—(राजा) राज्याभिलाषी तथा भेद योग्य, शत्रु के दायादों को या मन्त्री सेना-पति आदि प्रकृति को फोड़े (विजय होने पर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्ष में करे), उस (शत्रु) के द्वारा किये ऐसे कार्य (भेद) को स्वयं मालूम करे और विजया-भिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्त में शत्रु से युद्ध करे ॥१९७॥

सामादि तीन उपायों से विजयप्रयत्न—

साम्रा दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।

विजेतुं प्रयतेतारिं न युद्धेन कदाचन ॥१९८॥

भाष्य—न सहसा युध्येत । एतावत्प्रथमं विशिष्टस्थापनोपदेशनं सुमुखं च मिथो सहासनकथासहदारदर्शनादि ।

दानं विधानं द्रव्याणां हिरण्यादीनां प्रीत्युत्पादनार्थं प्रतिपादनम् ।

भेदस्तत्कुलीनादेरुपसंग्रहः । ततो विशेषणाच्च तत्रावित्रासनमित्याद्यकारणम् ॥१९८॥

हिन्दी—(राजा) साम (प्रेम-प्रदर्शन), दान, भेद (शत्रु के राज्यार्थी दायाद या मन्त्री आदि को विजय होने पर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्ष में करना) इन तीनों उपायों से अथवा इनमें से किसी एक या दो उपायों से शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे । (पहले) युद्ध से जीतने की कदापि चेष्टा न करे ॥१९८॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।

पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥

भाष्य—यस्मात्रायं नियमो दृश्यते यो जयति सोऽत्यन्तबलावानवश्यं, तेन यश्च पराजीयते सोऽत्यन्तं दुर्बलश्चावश्यमित्यनित्यो विजयः ॥१९९॥

हिन्दी—क्योंकि युद्ध करते हुए दो पक्षों की विजय तथा पराजय युद्ध में अनिश्चित रहती है, इस कारण युद्ध का त्याग करे ॥१९९॥

उपायत्रय के अभाव में युद्ध—

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।

तथा युद्धयेत सम्पन्ना विजयेत रिपून्यथा ॥२००॥

भाष्य—सामादीनामसाधकत्वे संदिग्धेऽपि जये समानेऽपि, किं पुना रूपेण सह तेन प्रकारेण युध्येत् येन प्रकारेणात्मनो जयः स्यात् । जये राज्यं वधेऽपि स्वर्ग इत्युभयथापि जयः । परप्रत्यूहकल्पना कूटयुद्धादिप्रकारः अत्यन्तोच्छेदानुसरणपीडनाभ्यां सहसा निष्कार्यः । तथा च व्यास आह—

“पुनरावर्तमानानां निराशानां च जीविनाम् ।

न शक्येदग्रतः स्थातुं शत्रेणापि धनञ्जय” ॥

यदा संदिग्धं पराजयं तदाऽपक्रमणं युक्तम् । निर्गतो हि जीवो न कार्यमासादयति,
येन भद्राणि पश्यति, स्वर्गमर्जयति मृत इति ॥२००॥

हिन्दी—(राजा) पूर्वोक्त तीनों (साम, दान और भेद) उपायों के साधक न होने पर ही सैन्यादि-शक्ति से संयुक्त होकर वैसा युद्ध करे, जिससे शत्रुओं को जीत लें । (क्योंकि विजय होने से राज्यलाभ तथा युद्ध में सामने मरने पर स्वर्गलाभ होता है । किंतु यदि निश्चित रूप से पराजय की सम्भावना हो तो युद्ध त्यागकर आत्मरक्षा करनी चाहिये— वहाँ से हट जाना चाहिये, क्योंकि मरने पर मनुष्य कोई कार्यसाधन नहीं कर सकता, जिससे वह सुखी हो । इसी कारण मनु भगवान् ने आगे (७।२१३) आत्मरक्षा करने पर जोर दिया है) ॥२००॥

विजय लाभ के बाद का कर्तव्य—

जित्वा सम्पूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।

प्रदद्यात्परिहारार्थं ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥

भाष्य—येनकेनचित्प्रकारेण जित्वाऽरिं लब्धप्रशमनमिदमतोऽस्मिन्पुरे जनपदे देवब्राह्मणांश्च धार्मिकान्विहितानुष्ठायिनी यथा सामर्थ्यात्प्रतिषिद्धवर्जं कामात्स्वातन्त्रेणारीन् जित्वा साध्यप्रवृत्तादिकं गन्धधूपपुष्पद्रव्यं सविभागास्फोटनादिसंस्कारद्वारेण यथार्हमभ्यर्चयेत् ।

कुटुम्बिना परिहारार्थं स्थितिर्यथाप्रवृत्तिविशिष्टकरभारशुल्कप्रदेशानां प्रदानेन तथा तथा वा संवत्सरमेको द्वौ वा दद्यादुच्चानां च पौरजानपदबलानामातपादिडिण्डिमकगदापातेन ख्यापयेत्तैर्यैः स्वाम्यनुरागादस्थानमपचितं तेषामप्यारक्षान्तं यथास्वं स्वं व्यापारमनुतिष्ठन्त्विति ॥२०१॥

एवमनुग्रहे क्रियमाणेऽपि यदा पौरजानपदानामन्येषां वा स्वाम्यनुरागादहं वक्तृतैजसभावो बहुमतः स्यादिति मन्येत मदीयस्य दण्डोऽवस्थातुं न शक्नुयात्तदा—

हिन्दी—विजय लाभ कर देवताओं तथा धार्मिक ब्राह्मणों को गो, भूमि तथा सुवर्ण आदि दान देकर पूजा करे । जीती गयी वस्तुओं में-से इतना अंश देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए मैंने दान दिया' ऐसा वहाँ के निवासियों में घोषणा करे तथा 'राजभक्ति में जिन लोगों ने अपने राजा का पक्ष लेकर मेरे विरुद्ध आचरण किया है उन्हें भी मैं अभयदान देता हूँ' (वे निर्भय होकर अपने-कार्यों को करें) ऐसी भी घोषणा करे ॥२०१॥

शत्रु के वंशज को राज्यदान तथा समयक्रिया—

सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम् ।

स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

भाष्य—एष पौरादीनामभिप्राय इति संक्षेपेण ज्ञात्वा— ‘नैतदेवमिच्छति तत्कुलीनं कर्तुमिच्छत्ययमेव तस्मिन्देशे तद्वंश्यं मृदुमलं प्रियसुखकलत्रं तेन’ संहततत्प्रकृतिभिश्च प्रधानादिभिः **समयं कुर्यात्** समकोशदानादि परिमाणं च भवता मम दैवाकारेण पापेन भक्षितव्यम्, कार्याकार्ये कालेन स्वयमुपस्थातव्यमुभयतो दण्डेन कोशेन चेत्यादि॥२०२॥

हिन्दी—उस शत्रु राजा तथा मन्त्री एवं प्रजा के मुख्य लोगों की अभिलाषा को मालूम कर उसी वंश में उत्पन्न व्यक्ति को उस राज्य में पुनः अभिषिक्त करे और उसके साथ समय-क्रिया (शर्तनामा— अमुक-अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना होगा तथा अमुक-अमुक कार्य मेरी आज्ञा से करना होगा इत्यादि) करे ॥२०२॥

धार्मिक कार्यों को पूर्ववत् चलाना आदि—

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्वथोदितान् ।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥२०३॥

भाष्य—यत्प्रकारावस्थास्तेषामुपचिताः पूर्वप्रवृत्ताः ब्रह्मदेयामरवृत्तिदेवस्वव्यापारादयस्ताननुजानीयात्प्रमाणानि **कुयदिवं** ह्यस्मिंस्तेषामनुरागो भवति । ये च तत्र प्रधानाः पुरुषास्तत्र प्रतिज्ञास्वजनबहुत्वादिगुणैस्तैः सह राजानमेनं शस्त्रधनधान्यालङ्कारवाहन-च्छत्रपीठिकादरपट्टबन्धादिभिः **पूजयेत्** ॥२०३॥

कस्मात्पुनः प्रकृतिभ्यो रत्नादिदानमुच्यते ।

हिन्दी—विजयी राजा उन (जीते हुए देश के निवासियों) के धार्मिक कार्यों को प्रमाणित करे (उन्हें पूर्ववत् चालू करे) और मन्त्री आदि मुख्य लोगों के साथ उस नवाभिषिक्त राजा को रत्न आदि भेंट देकर सत्कृत करे ॥२०३॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।

अभीप्सितानामर्थानां कालयुक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥

भाष्य—आदेयस्याप्रतिपादनं नवस्य राज्ञोऽन्यस्य वाऽप्रियकरमप्रीतेः कारणं हेतुः । **दानं च** प्रतिदानं प्रियकारकमेतदुभयं बहुश एवं प्रसिद्धमपि क्रियमाणमभिमतानामर्थानां सुखावहं भवेदन्यथा च दुःखयतीत्यर्थः ।

कालयुक्तं कालोपपन्नं **प्रशस्यते** । यस्मादपि क्वचित्काले किञ्चन प्रीतिं जनयति तदाऽपि नाल्पमशोभनं वा प्रातिमुत्पादयति । तस्मात्कालमपेक्ष्य दानादाने कार्ये इति॥२०४॥

यत्किञ्चिदतिक्रान्तं वक्ष्यमाणं किञ्चन तत्—

हिन्दी—(क्योंकि यद्यपि किसी की अतिप्रिय वस्तुओं को ले लेना अप्रिय तथा दे देना प्रिय होता है, तथापि विशेष अवसरों पर ले लेना तथा दे देना— ये दोनों ही कार्य श्रेष्ठ होते हैं (अतः नये राजा के लिए रत्नादि का उपहार देना ही श्रेष्ठ है)॥२०४॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।

तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुष विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

भाष्य—समर्थादर्थकर्मकार्यफलं कर्म । तत्सर्वमशेषमायत्तमधिकं क्वापि ।

विदधातीति विधानम् । कर्मफलं यद्विशति तद्विशेषयति ।

दैवमानुषे । दैवधर्मादौ । पूर्वकृतविहितप्रतिषिद्धविषये चात्मनः कार्यकर्मफलं यदि फलं कर्मक्रिया दृष्टार्था नयानययोः । तथा च श्रुतिः “विधिर्विधानं नियतिस्वभावः कालो ब्रह्मेश्वरः कर्म दैवं भाग्यानि पुण्यानि भूतांतयोग पर्यायनामानि पुराकृतस्य ।”

स्मृतिरपि—

“दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्मवत्पौर्वदेहिकम् ।

स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥” इति ।

दैवमानुषस्येति प्राप्ते मृतवशादैव मानुषस्यापि कारणता विवक्षिता । अस्मिन्कार्ये इदं क्रियाफलमायत्तम् । न देवं पुरुषकाररहितं फलं ददाति । अवश्यं हि तेन पुरुष-प्रयत्नोऽपेक्षितव्यः । न च पुरुषकारो दैवेनेति । दैवाच्च पुरुषकारनिरपेक्षात्फलस्यापि पुरुषसन्निपातो भवेदपि गर्भस्य । असति गर्भे नियमैर्दैवसन्निपातात्फलसम्भवोऽनुमेयः । एवं पुरुषप्रयत्नादपि यदि दैवनिरपेक्षा स्यात् । यतो व्यायामे सति सर्वदा सर्वेषां स्यात् ! नैतदस्ति । तस्मादुभयं कारणम् । तथा च व्यास आह (महाभारते०सौ०प० २।२)

“आरम्भा मानुषाः सर्वे निदानं कर्मणोर्द्वयोः ।

दैवे पुरुषकारे च परतोऽन्यत्र विद्यते ॥” —इति ।

समानतन्त्रेऽपि “दैवं नयानययोर्मानुषं कर्मलोकं पालयति” इति ।

अत्र दैवकारणा आहुः । “दैवमेवात्र कारणम् । दृश्यन्ते हि जडक्लीबपङ्गुवादयः कुणयोऽपुरुषकाररहिता अपि सुखिनो निष्प्रतीकारा अन्योपाधिककर्मफलं लभमानाः । तथालंप्रतीकारा अप्यव्यङ्गशूराः प्रवीणाश्च शास्त्रे दक्षाश्च दुःखिनो यतमानाश्च । तथा पुरुषकारनिरपेक्षं दैवमात्राभिधानाद्धनाधिगमाशनिनिपातादिभिरिष्टानिष्टफलमुत्पाद्यमानमुपलभन्ते । एवं च कृत्वा परलोकहेतवः क्रियारम्भोपदेशाः सुतरामर्थवन्तो भवन्ति । तथा च यत्नेन पूर्वकृतानीहोपभुञ्जीमह, इह कृतान्यपि परत उपभोक्ष्यामह इति विजानन्तोऽविचिकित्सा मनुष्याः । धर्म एवं प्रयतितव्यम् । तथा चोदाहरन्ति—

“जानामि धर्मं न च तत्करोमि

पापं च जानामि न च मे निवृत्तिः ।

धात्रा निसृष्टोऽस्मि यथा तथाऽहं

नातःपरं शासयिताऽस्ति कश्चित्” इति ।

पुरुषकारिणो ह्याहुः । “पुरुषकार एवात्र कारणम् । कृषित्वमनलसः कुर्वन् स्व-

व्यापारफलं कर्तृकरणकार्यं कृष्यादिषु प्राप्नुयात् । तथा चोक्तम्—

“कम्मैवेहानसाधूनामालभ्यानुपसेविता ।

कर्म कृत्वा हि पुरुषो भुङ्क्ते चैव न चात्ति न ॥”

सत्यपि चात्रसम्भवे न ह्यभुञ्जन्तस्तृप्यन्ति । तदा तत्र चाभ्यवहारैर्यत्समनन्तरं च फलं तन्निमित्तफलोत्पाद इति न्यायः । तस्मादत्रादृष्टव्यापारः । एवं च कृत्वाऽर्थवन्तः क्रियारम्भोपदेशा भवन्ति । तथा चाहुः

“प्रतिहन्ति मुनिर्येन दैवमापतितं क्वचित् ।

शीतोष्णे च तथा वर्षमुत्थापयति हन्ति च ॥”

एवमास्थितेभ्य उभयं कारणम्— अन्यतराभावे फलाभावात् । क्वचितु केचित्प्राधान्येन वर्तन्त इति तत्परिगृह्यते । कृतोऽपि पुरुषकारो बलवता दैवेनाभिभूतो विशीर्यते । आर्द्रमिव दार्वल्पाग्नौ प्रक्षिप्तं न ज्वलति । एवं यदि दुर्बलं दैवं महता यत्नेन पुरुषकारेण पुरस्कृतं फलति यथार्द्रमपि दारु महत्यग्निस्कन्धे प्रक्षिप्तम् । नाग्निस्तदापयाति ।

“दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।

दैवेन चेतनं कर्म विशिष्टेनोपहन्यते” ॥

इत्येव परिकल्प्याह ।

तयोदैवपुरुषकारयोदैवमेवाचिन्त्यम् । तुशब्दोऽवधारणार्थः । अपरिज्ञातस्वरूपम्, कस्मिन्काले तन्निमित्तेन फलं दास्यतीत्येवमचिन्त्यम् । शास्त्रादृते चास्य परिज्ञानादेवाविचार्यत्वात्प्रयोक्तुमशक्यत्वादशक्यमिति ।

तत्र दैवं निष्फलं मनुष्येषु पुरुषकारो वक्ष्यते क्रिया, प्रकृतत्वात् । वित्तं च **क्रिया मानुषे** । किञ्चिज्ज्ञानं कृष्यादिभिः शक्यं चिन्तयितुमीदृशं मया कृष्यादि कर्तव्यमेतैः साधनैर्दैवादिभिरेव च तस्य चेदृशं फलमिति । तदेवं प्रारब्धं यदारम्भमध्यावसानेषु विवत्सते । तेन दैवं समाधेयम्, न विपन्नानामप्येवं कर्तव्यमिति । यावत्फलवेदनमित्यतो दैवस्याचिन्त्यत्वात् तत्परेणासितव्यम् । मनुष्यकर्म चिन्तयित्वा यद्यत्कार्यं तदनुष्ठेयम् । यत्किञ्चनकारी हि विनश्यतीति ।

शक्तित्रययोगात्पुरुषकारेण च युक्तस्य परराष्ट्रविजयचिकीर्षा यत्र दैवमानुषसम्पन्ना भवति सैव सर्वार्थसाधिका भवति । तथापि तस्यामतिशयं दैवं प्रवर्तते । अतिरिक्तः पुरुषकार एव भवतीत्यर्थः । न हि विजिगीषोदैवमन्तरेण, तदा यातव्यस्य व्यसनं दैवं मानुषं भवति । पौरुषं सम दैवेन नातिव्यूहं द्वयोर्वा समं तुल्यम् । किञ्च—

दैवेन विधिनाऽयुक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते ।

परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥

तदयुक्तम् । दैवेन विधानेन पराङ्मुखे दैवमानुषे पुरुषकारः प्रवर्तते अष्टविध-
कर्मणि, तन्महता क्लेशेनार्थं फलं साधयति, निष्फलं वा भवति । अतः क्लेशेनाप्यसिद्धो
वा दैवापेक्षो भूत्वा न परितुष्येत् ।

पुरुषार्थस्तु दैवेन संयुक्तो यः प्रवर्तते अक्लेशेन स सर्वेषां मन्त्रार्थानामेव साधकः
पुरुषार्थः पुरुषकारः । स एव यदाऽऽपंचगुणे दैवेऽनुष्ठीयते तदा क्लेशेन विनैकान्तेन
समग्रफलसाधको भवति । अस्य दाढ्यार्थमुदाहरणं श्लोकद्वयेन—

“केचिद्युद्धमपि क्षेत्रं युक्तं पुरुषकर्मणा ।

दैवहीनाय तु फलं कस्यचित्सम्प्रयच्छति ॥”

“केचित्क्षेत्रस्य भृतमित्युक्तं पुरुषकर्मणा ॥”

पुनःपुनर्दृष्टेषु शोधितं यथावच्चोक्तमित्याद्युपकारकलक्षणेन दैवेन हीनाय फलं
न ददातीति ॥

संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् ।

विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥

संयुक्तस्यापि दैवनेति । दैवयोगस्तु तस्मात्फलादानादनुमीयते । एवं च पूर्वस्य
तदाभावः दैवभावः ।

अन्ये त्वाहुः । दैवं यथाकालं पर्याप्तं दृष्टाद्युपलम्भादेव कृतत्वात्र कृतमिति यथा
तत्पुरूकाराभावं दर्शयति बीजवर्जितमित्यबीजम् ।

चन्द्रर्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च ।

इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥

चन्द्रार्कास्तावद्ग्रहाः ॥२०५॥

हिन्दी—इस संसार में जो कुछ कार्य हैं, वे सब भाग्य तथा मनुष्य के अधीन हैं; उनमें दैव (पूर्वजन्मकृत) कार्य अचिन्त्य हैं (कब क्या होनेवाला है, इसे कोई नहीं जानता) और मानुष (मनुष्य सम्बन्धी अर्थात् वर्तमान में किया जानेवाला) कार्य में पर्यालोचन है (अतएव मनुष्य को स्व-कार्य-सिद्धि के लिए यत्न करते रहना चाहिये) ॥२०५॥

[दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते ।

परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥१४॥]

[हिन्दी—भाग्य-विधान के सहित जो मनुष्य-कार्य किया जाता है, वह बड़े कष्ट से सिद्ध होता है ॥१४॥]

[संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् ।

विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥१५॥]

[हिन्दी—भाग्य से संयुक्त भी पुरुषार्थ से रहित कार्य, पुरुषार्थ के बिना खेत में पड़े हुए बीज के समान फल देता है ॥१५॥]

[चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च ।

इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥१६॥]

[हिन्दी—चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तथा वायु, अग्नि और जल पुरुषार्थ से यत्न के द्वारा दैव (ईश्वरीय) पुरुषार्थ से इस संसार में साधे जा रहे हैं ॥१६॥]

करग्रहण कर सन्धि करना—

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।

मित्रं हिरण्यं भूमिं वा सम्पश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥

हिन्दी—(विजिगीषु राजा पूर्वोक्त प्रकार से युद्ध करे) अथवा उसके साथ मित्रता कर उस शत्रु राजा द्वारा दिये गये सुवर्ण (रत्नादि सम्पत्ति) तथा राज्य की एक भाग भूमि— इन तीन (मित्र, सुवर्ण तथा भूमि) को युद्ध यात्रा का फल मानकर यत्नपूर्वक उस राजा के साथ सन्धि करे ॥२०६॥

पार्ष्णिग्राह का विचारकर युद्ध यात्रा—

पार्ष्णिग्राहं च सम्प्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले ।

मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२०७॥

हिन्दी—(विजिगीषु राजा) पार्ष्णिग्राह तथा आक्रन्द राजा का अपने मण्डल में ध्यान कर यात्रा करे और मित्र (सन्धि किया हुआ शत्रु) या अमित्र (हारा हुआ शत्रु) राजा से यात्रा का फल (मित्रता, सुवर्ण तथा भूमि) को अवश्य लेवे ॥२०७॥

विमर्श—विजयाभिलाषी राजा के शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए यात्रा करने के बाद उसके देश पर आक्रमण करनेवाला ‘पार्ष्णिग्राह’ कहलाता है तथा वैसा करनेवाले ‘पार्ष्णिग्राह’ राजा का नियामक उसका अनन्तरवर्ती राजा ‘आक्रन्द’ कहलाता है ।

मित्र-प्रशंसा—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।

यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥२०८॥

हिन्दी—राजा मित्र तथा राज्य की प्राप्ति वैसी उन्नति नहीं करता, जैसी वर्तमान में दुर्बल होने पर भी भविष्य में उन्नति करनेवाले स्थायी मित्र की प्राप्ति से (उन्नति) करता है ॥२०८॥

श्रेष्ठ मित्र के गुण—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।

अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥२०९॥

हिन्दी—धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सन्तुष्ट अमात्य आदि प्रकृतिवाला, अनुरक्त, स्थिर कार्यारम्भ करनेवाला छोटा भी मित्र श्रेष्ठ होता है ॥२०९॥

शत्रु के गुण—

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।

कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥२१०॥

हिन्दी—विद्वान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानी, कृतज्ञ और (सुख-दुःख में) धैर्ययुक्त शत्रु को विद्वान् लोग कष्टसाध्य (कठिनता से जीतने योग्य) कहते हैं । (अतएव ऐसे शत्रु से सन्धि कर लेना चाहिये) ॥२१०॥

उदासीन के गुण—

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।

स्थूललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥२११॥

भाष्य—पुरुषाणां प्रकृतधर्माधर्मसंज्ञकेन दैवेन सुखदुःखोपभोगनिमित्तं साध्यते । अनिष्टस्थानप्राप्तश्चापौरुषेण शान्त्यादिकारणप्रकारेण समतामापद्यन्ते । इह स्थानस्थिता अव्यभिचारानुगुणाः कियन्ते । पुरुषज्ञानलोकज्ञानपुरुषविशेषज्ञोऽनुरूपमुपकारी भवति । अनुवर्तते शूरः कार्यक्षमो भवति । कारुण्यगुणस्ययेन करुणावेदी दयालुमना लोभेन परिरक्षति । स्थूललक्षः प्रभूतस्याव्यर्थमेषां सर्वकालं क्षमते ॥२०६-२११॥

हिन्दी—सज्जनता, मनुष्यों की पहचान करना, शूरता, कृपालुता और सर्वदा बहुत दान देना— ये सब उदासीन राजा के गुण हैं । (अतएव इस प्रकार के उदासीन राजा का आश्रय कर पूर्वोक्त) (२।२१०) लक्षण वाले शत्रु से भी युद्ध करना चाहिये ॥२११॥

आत्मरक्षार्थं भूमि आदि का त्याग—

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।

परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥२१२॥

भाष्य—तादृशीमपि भूमिमविलम्बमानः परित्यजेत् ।

क्षेम्या—आटविकादिभिरनभिभवनीया । नित्यमस्य प्रधानमुभयम् । बहुसस्याऽदेव-मातृका च पशुवृद्धिकरी च जाङ्गलरूपत्वादबहुफलपत्रतृणत्वाच्च । एवंगुणा हि भूमि-र्वणिक्कृषीवलबहुला भवति, दुर्भिक्षव्याधिरहिता कान्तारमनुष्यात्मभरणा चेति । चतुर्थ्या

प्रकृतिपरित्यागे चोभयम् । न ततो ज्ञापयति न सहसायुधानां प्रकृतिं परित्यजेत्तस्या-
मवस्थायाम्, किन्तु तां परित्यजेद्या मन्येत साक्ष्ये शेषां प्रकृतिभिः प्रत्यादातुमिति ।
यथा तु न मित्रकोशदण्डपरित्यागे नाविशेषं प्रतिक्षणं यां मन्येत तदा गुणवतीमपि
भूमिं त्यजेत् ॥ २१२ ॥

हिन्दी—(नीरोगता आदि गुणों से युक्त होने के कारण) कल्याणप्रद, (नदी, नहर,
तडागादि होने से वृष्टि का अभाव होने पर भी) धान्य उत्पादन करनेवाली (अधिक घास
आदि होने से) पशुओं की वृद्धि में सहायक भूमि को राजा आत्मरक्षा के लिए बिना
विचार किये छोड़ दे ॥ २१२ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्द्वारान् रक्षेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

भाष्य—कृच्छ्रप्रकारसाध्योऽयं नियमो भवति । आपदर्थे । यथा मशकार्थे धूमो
मशकानपनेतुमिति ज्ञायते । तन्निमित्तं धनं रक्षेत्रान्यत्र धनरक्षायाः कार्यमस्ति । दत्तभुक्त-
फलं हि धनमिति । तथा हि तेन प्रतीक्ष्य यानमासनं दण्डं बिभर्ति उपजप्यानुपगृह्णातीति ।

धनेनापि दारा रक्ष्याः । दारग्रहणं प्रणिधिसम्बन्धिप्रत्युपलक्षणार्थम् ।

आत्मा तु रक्ष्यः । अन्येन प्रकारेणात्मानं रक्षितुमसमर्थः सर्वस्वं दत्त्वा दारानपि
काले परित्यज्य वाग्यतः स्थितो दारधनादि वर्जयित्वा धर्मं करिष्यति । ये तु धनदारानु-
रोधेन विनश्यन्ति न तेषां धनदारादि दृष्टं नाप्यदृष्टं धर्माधर्मानाचरणात् ।

न च कौमारदारत्यागित्वम् । न त्यागप्रतिषेधस्यायं च वा जयति ।

राजधर्मप्रकरणेऽपि नायमुक्तो दृष्टार्थत्वादन्यस्यापि द्रष्टव्यः ।

“ननु च राजा राज्यं प्राप्य महाधनोऽश्वमेधादि करिष्यत्यतुलं च सुखमनुकरिष्यत्य-
तस्तु लोकः संक्रुष्टं किं करिष्यति ।”

नैष दोषः । अल्पस्यापि पावनानि कर्माणि सन्त्यधनस्यापि जपादयः ।
विशेष निमित्तानि धनान्येव । न चेदमस्यामदस्थायां लोकसंक्रुष्टमिति । न च सहसै-
तत्कार्यम् ॥ २१३ ॥ यतः—

हिन्दी—आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धनों के द्वारा स्त्रियों की रक्षा करे और
धन तथा स्त्रियों के द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा करे (यह सर्व-सामान्य माना गया है) ॥ २१३ ॥

आपत्तियों में उपयोग का प्रयोग—

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।

संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥

भाष्य—आपदो दैवमानुषाणि व्यसनानि, तानि प्रकृतिविषयाणि युगपदुपजाता-
मनु ॥ ११९

नीत्यर्थमपि यथा स्युस्तथा संयुक्ताश्च सामपुरस्सरं दानं सामपूर्वकं भेदं सामदानभेद-
सहितं दण्डमेव वा दानमेवेत्यादिकान्सर्वोपायान्विसृजेद् बुध इति । यत्र यत्प्राप्तं
तत्समीक्ष्य विचार्य प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । न तु विषण्ण आसीत् ॥२१४॥

कथमित्यपेक्षायामाह—

हिन्दी—सब आपत्तियों (कोषक्षय, अमात्यादि प्रकृतिकोप तथा मित्रादि-
व्यसन प्रभृति) को अधिक मात्रा में एक साथ उपस्थित जानकर विद्वान् राजा (घबड़ाये
नहीं, किन्तु) सम्मिलित या पृथक्-पृथक् सब उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) को
काम में लावे ॥२१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।

एतः यं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥२१५॥

भाष्य—‘साधयेत्कार्यमात्मन’ इति पाठान्तरम् ।

तत्रोपेतारमात्मानं प्राप्य कार्यं मित्रवत्साधयेत् ।

सर्वोपायाः समस्ता व्यस्ता एव ।

अयमपि उपेयसामान्यनिर्देशमाह ।

समाश्रित्याङ्गीकृत्य समर्थचिन्तनेनैतत्समावृतं भवति । किमर्थमुपायाः समर्थेना-
नुमताः समर्थस्तथा किं युक्तमिति विचार्येयता केनोपायनैषामिदं प्राप्नुयादिति ।

कृत्स्नश इति त्रयविशेषणं कृत्स्नमित्यर्थः । एवं च यो यदुपायसाध्यो यदा यथा
युक्तस्तत्र तदा तथा प्रयुञ्जीत, स्वकार्यसिद्ध्यर्थम् ।

उपाय एतानामवस्थानां चानन्त्यात्सर्वं तन्त्रेणाशक्यं वक्तुमिति समासेनोक्तमतः
परीक्षामुपाचरेत् । उपेत्य विशेषभावतोऽप्याह ।

“स तु युक्तो हि संधत्ते युक्त आत्मपराक्रमः ।

तावुभौ नयसम्पन्नौ स्तेनोऽप्ययसमन्वितः ॥” इति ॥२१५॥

हिन्दी—(राजा) उपेता (प्राप्तिकर्ता अर्थात् अपने), उपेय (प्राप्ति करने योग्य
अर्थात् शत्रु) तथा परिपूर्ण सामादि सब उपाय-इन तीनों को अवलम्बन कर प्रयोजन की
सिद्धि के लिए प्रयत्न करे ॥२१५॥

राजा का भोजन-काल—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।

व्यायम्याप्नुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥

भाष्य—एवं यथोक्तं राजा वृत्तमिदं सर्वमापद्यनापदि वाऽऽत्मशक्त्यपेक्षया वा

कस्यामवस्थायां किं कर्तव्यमिति **मन्त्रिभिः सह विचार्य** मध्यंदिनमुक्तकालं मध्यंदिनं **व्यायामं** कृत्वोपचार्य स्नानं च । स्नानमक्रमोक्तमपि पुना राज्यार्थमुच्यते मङ्गलाचारे युक्तानाम् । राजा स्नानपरिग्रहार्थं भोजनादियुतं तद्गृहे पूर्वं स्नानापेक्षयाऽन्तःपुरं यायादिति विशेषार्थमुपसंहारः । विविक्ते देशे ॥२१६॥

हिन्दी—राजा इस प्रकार इन सब विषयों को मन्त्रियों के साथ में विचार (गुप्त परामर्श) कर (मुद्रर या अन्य शस्त्र आदि के अभ्यास से) व्यायाम कर दोपहर को स्नान (तथा मध्याह्नकृत्य-सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म से निवृत्त हो) कर भोजन करने के लिए अन्तःपुर (रनिवास) में प्रवेश करे ॥२१६॥

अन्नादि भोज्य पदार्थों की परीक्षा—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।

सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥२१७॥

भाष्य—तत्रान्तर्गतगृह आत्मरक्षाभूता आत्मसमाः **कालज्ञा** वयोविशेषावस्थादिप्रतिनियतकाले भक्ष्यभोज्यदानादिविशेषज्ञाः । **अहार्या** अभेद्या विश्वसनीयाः । **परिचारकाः** स्वरवैद्यादयः । एतैर्गृहीतं सर्वं **परीक्षितमदनीयमन्नाद्यमद्यात्** ।

परीक्षा कुशलैवैर्द्वैरग्रिचकोरादिभिः कर्तव्या । विषादिसंसृष्टस्य शुष्कस्याशुद्धता भवति वैवर्ण्यैः सुगन्धोपघातश्च अतिम्लानताऽग्नौ प्रक्षिप्तस्य वेति । वेति शब्दः वैवर्ण्य-ज्वालासु ईक्षिते च तस्मिन्वयसां विपत्तिः । दर्शनेन प्रियते यत्र कोकिलः, ग्लायति जीवन्जीवकः चकोरस्याक्षिणी विनश्यतो विषं प्रदर्शयति, भवति मुष्कस्यावग्रहः स्वेद इत्यादि ।

मन्त्रैश्च विषापहैः परिजपेद्व्यापादिकासु ॥२१७॥

हिन्दी—वहाँ (अन्तःपुर में) अपने तुल्य, भोजन-समय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि (भोज्य, पेय, लेह्य, चोष्य आदि पदार्थ) को विषनाशक मन्त्रों से (गारुडादि मन्त्रों को जपकर) भोजन करे ॥२१७॥

विमर्श—सविष अन्न को देखकर चकोर पक्षी की आँखें लाल हो जाती हैं, अग्नि में डालने से अन्न चिट, चिट करता है, सुवर्णपात्र में उसका रंग बदल जाता है; इत्यादि उपायों से सविष अन्न की परीक्षा करनी चाहिये ।

विषघ्नै रुदकैश्चास्य सर्वद्रव्याणि शोधयेत् ।

विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥२१८॥

भाष्य—विषघ्नैरुदकैश्चास्य सर्वद्रव्याणि राजौषधिकानि वस्त्रादीनि विशोधयेत् ।

**विषघ्नानि रत्नानि गरुडोदीर्णनागदमणिप्रभृतीनि । नियतः प्रत्यये नित्यं भोजन-
कालादन्यदाऽपि धारयेत् ॥२१८॥**

हिन्दी—राजा विषनाशक औषधियों से (खाने के लिए दिये गये) सब अन्न को संयुक्त करे तथा सावधान रहते हुए विषनाशक (गरुडादि) रत्नों को सर्वदा धारण करे ॥२१८॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।

वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥

भाष्य—परीक्षिता विचारिता उपधाभिः शीलशौचाचारैः स्त्रियो दास्यः परिचारिका व्यजनोदकधूपने करणभूतैः संस्पृशेयुरुपचरेयुर्वेषादिसंयुक्ताः सुवेषाः । स्नानेन कृत्वा । समाहिता अप्रविक्षिप्तमनसः ।

वेषाभरणः । कपटवेषः केशनखाद्येवं विचार्य। कदाचित्तत्रायुधानि कृत्वा विश्रब्धं हन्युः— । आभरणानि च विषदिग्धैराभरणैः स्पृशेयुरिति ॥२१९॥

हिन्दी—(गुप्तचरों के द्वारा) परीक्षित, (गुप्त शस्त्र रखने तथा विष-लिप्त भूषण आदि धारण करने की आशङ्का से) नियत वेष तथा भूषणों से अच्छी तरह शुद्ध (दोष-रहित) स्त्रियाँ (परिचारिकायें अर्थात् दासियाँ) चामर आदि से हवा करने, स्नान तथा पीने के लिए पानी देने और सुगन्धित धूप आदि करने से राजा की सेवा करे ॥२१९॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।

स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥२२०॥

भाष्य—एवं विषोदकाञ्चनादिनादौ प्रयत्नं कुर्यात् । स्नानं शिरःस्नानम् । गन्धो रोचनादि । आसनमत्र प्रदर्शनार्थम् । तत्र ह्युपविष्टो यथा तत्र महान्यत्नः क्रियते एवं यानादावपि कर्तव्यः ॥२२०॥

हिन्दी—राजा (अपने) यान (सवारी अर्थात् रथ, अश्व, गज आदि), शय्या (पलंग या शयनगृह); आसन (बैठने के सिंहासन या अन्य चौकी आदि), अशन (भोजन); स्नान, प्रसाधन (तेल आदि का मर्दन या चन्दन आदि का) लेपन और सब प्रकार के भूषणों के धारण करने में इसी प्रकार अच्छी तरह परीक्षा कर उन्हें अपने व्यवहार में लाने का प्रबन्ध करे ॥२२०॥

रानियों के साथ विहार—

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।

विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२२१॥

भाष्य—तस्मिन्नेवान्तर्गृह आत्मविनोदाय स्त्रीभिर्नवोदभार्यादिभिर्यथासुखं क्रीडेता

यथाकालमिति यावद्विहरणकालमिति चोत्तरेण सम्बन्धनीयम् ।

विहृत्य विश्रान्तः । कालोपपन्नानि कार्याण्येकाकी मन्त्रिभिश्च सह पुनर्विचारयेत् ॥२२१॥

हिन्दी—भोजनकर राजा रनिवास में रानियों के साथ विहार (क्रीडा) आदि करे तथा यथासमय (दिन के सप्तम भाग में विहारकर) फिर (दिन के अष्टम भाग में) राजकार्यों का चिन्तन करे ॥२२१॥

सैनिकादि का निरीक्षण—

अलंकृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।

वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

भाष्य—अन्तःपुरान्निष्क्रम्यालंकृत आयुधीयं पश्येत्तस्याच्छायािकां दद्यात् ।

पुनरिति वचनात्पूर्वह्नि दृष्टमपि नित्यं दर्शनीयम् । आयुधजीविनामायुधादौ यत्नो भवति । सर्वाणि च वाहनानि । तेषां दर्शनमप्युपचयविज्ञानार्थम्, नियुक्तानां च तत्र विशेषाधनार्थम् । दण्डप्रधानं जीविभृत्यावेक्षणमभीक्षणमुभयतस्ततः ॥२२२॥

हिन्दी—अलङ्कार आदि पहना हुआ राजा फिर शस्त्रधारी सैनिकों, हाथी-घोड़ा आदि वाहनों, खड्ग, तोमर, कुन्तादि सब अस्त्र-शस्त्रों और भूषणों का निरीक्षण करे ॥२२२॥

गुप्तचरों की बातों को सुनना आदि—

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।

रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥

भाष्य—त्रैवर्णिकस्योक्तमपि सन्ध्योपासनमुच्यते । प्रजाकार्यं पुनः कञ्चित्कालमतिक्रामेदिति । उत्तरक्रियानन्तर्यार्थं वा ।

अन्तर्वेश्मनि । रहसि प्रासादादौ भवम् । तस्याख्यायिनः पौरा वा केचित्प्राप्तप्रणिधयस्तेषां चेष्टितम् । चेष्टा व्यवहारः । किं दृष्टं श्रुतं कृतं चेति तेषां चास्मिन्काले दर्शनमिष्यते । परैरनवबोधनार्थं स्वस्थस्य चार्थकार्यकालनियमेनापतितं वर्तेत ।

“यथा चोत्पादितं कार्यं सम्पश्येन्नोऽभितापयेत् ।

कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वाऽपि जायते ॥” इति ॥२२३॥

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।

प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥२२४॥

भाष्य—तस्माद्गृहान्ते कक्षान्तरं गत्वा तं च रहस्याख्यायिनं विसृज्य स्त्रीभिः

परिचारिकाभिः परिवृतोऽन्तःपुरं पुनः प्रविशेत् ॥२२४॥

हिन्दी—(फिर राजा) सायङ्काल का सन्ध्योपासन करके दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) के भीतर एकान्त स्थान में स्वयं शस्त्र को धारणकर गुप्त समाचारों को बतलानेवाले गुप्तचरों के कामों को सुने और उसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥२२३-२२४॥

वाद्यश्रवण, भोजन एवं शयन—

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।

संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥

भाष्य—किञ्चिदित्यव्ययम् ।

तूर्याणि वेणुवीणापणवमृदङ्गभेरीशंखादीनि । तेषां **घोषैर्मृदुभिः** श्रुतिसुखैः । **प्रहर्षितो** यथाकालं संविशेत्, य उचितकालस्तं तत्रयेदिति । **गतक्लमो** विगताशेषदुःख कार्यदर्शनायोत्तिष्ठेत् ॥२२५॥

हिन्दी—वहाँ (रनिवास) में बाजाओं के शब्दों से प्रहर्षित होकर कुछ भोजनकर यथासमय सो जावे और श्रमरहित होकर शेष रात्रि में उठ (जग) जावे ॥२२५॥

मुख्य मन्त्री से राजकार्य कराना—

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।

अस्वस्थः सर्वमेतत्तु, भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

भाष्य—एतदिति यदनुक्रान्तं “मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वेति” तस्याप्येवंवृत्तं व्यापारस्तेन स्वयमुपतिष्ठेत् **अस्वस्थो** भृत्येषु **विनियोजयेद्वियुञ्जीतेत्यर्थः** । यावच्छक्रुयात्तावदेव । एवं प्रतिविहितस्वतन्त्रकृतात्मरक्षाव्यापारः प्रजामात्मनश्च कार्यं करोति ॥२२६॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

हिन्दी—निरोग राजा इन सब कार्यों को स्वयं करे तथा जब अस्वस्थ हो तब इन सब कार्यों को मुख्य मन्त्रियों (उत्तरदायित्व) पर सौंपे ॥२२६॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् राजधर्मस्य वर्णनम् ।

शारदायाः प्रसादेन सप्तमे पूर्णतामगात् ॥१॥



॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

व्यवहारदर्शनेच्छु राजा का न्यायालय में जाना—

व्यवहारान्दिदक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।

मन्त्रैर्ज्ञर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

भाष्य—प्रजानां पालनं राज्ञो वृत्तिर्विहिता । सा चात्र (अ० १० श्लो० ७९)

“शास्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषीर्विशः ।

आजीवनार्थं शूद्रस्य द्विजातीनां निषेवणम् ॥”

“एवं नृपो वर्तमानो लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥” इति । तथा धर्मो वर्धते लोके । अन्येषामपि वर्णानां क्षत्रियवृत्त्या जीविनामस्त्येव राज्याधिकारः ।

“यः कश्चित्सर्वलोकानां पालकश्च पुनः स्मृतः ।

कर्मनिष्ठा च विहिता लोकसाधारणे हिते” ॥

परिपालनं च पीडापहारः । द्वयी च पीडा दृष्टाऽऽदृष्टा च । तत्र दुर्बलस्य बलीयसा धनहरणादिना बाध्यमाना दृष्टा पीडा । इतरस्य तु विध्यतिक्रमजनितेन प्रत्यवायेनामुत्रि-
कदुःखोत्पादनमदृष्टपीडा । प्रजा हि द्वेषमत्सरादिभिरितरेतरमयथावदाचरन्ति कुपथेन यान्त्यदृष्टदोषेण बाध्येरन् । अतश्च राज्यनाशः । प्रजैश्चर्यं हि राज्यमुच्यते । तासु विन-
श्यन्तीषु कस्य राज्यं स्यात् । व्यवहारादयोऽतः शास्त्रदण्डेन व्यवस्थाप्यमाना न भयात्-
पृथक् प्रचलन्ति तथा चोभयथाऽपिरक्षिता भवन्ति । धनदण्डश्च राज्ञः करशुल्कादि वा ।
एतदन्या धर्मिष्ठजीविका न भवतीति वृत्तिपरिक्षयादपि राज्यावसादः । अतो राज्यस्थि-
त्यर्थं व्यवहारदर्शनं कर्तव्यम् ।

तदिदानीमुच्यते । व्यवहारश्चात्र वादिप्रतिवादिनोरितरेतराशनोधाराय वृत्तिरुच्यते ।
अथवा ऋणादानादयः पदार्था एव विप्रतिपत्तिविषयाः सन्तो विचारगोचरसमर्थतया
कर्तव्या इति । दिदक्षुरित्युक्त्वा ‘पश्येत्कार्याणीति’ (श्लो० २) सामानाधिकरण्यम् ।
पुनश्च प्रत्यवमर्शः ‘तेषामाद्यमृणादानमिति’ (श्लो० ४) । तान् पदार्थान्विचारयेदिति
सम्बन्धः । वक्ष्यमाणाधिकृतपुरुषाधिष्ठितः प्रदेशः सभा । प्रवेशस्तदभ्यन्तरभावः ।
किमेक एव प्रविशेच्चेत्याह ब्राह्मणैः सहेति ।

अथ मन्त्रज्ञैरिति कस्य विशेषणम् ? न तावन्मन्त्रिणो मन्त्रित्वादेव सिद्धेः । न हि मन्त्रमजानानो मन्त्रीति शक्यते वक्तुम् । नापि ब्राह्मणानां व्यवहारदर्शनेऽधिकृतानां तत्परिज्ञानमदृष्टं न स्यात् ।

अत्रोच्यते । ब्राह्मणविशेषणमेवैतत् । ते ह्यमन्त्रज्ञा भूत्वा निरपेक्षमवधारयन्तः स्युन्यथा राज्ञोऽनर्थमावहेयुः । तथा हि महामात्याश्रितः कश्चिज्जनपदेन व्यवहरन्सहसा जितो यदि न दण्ड्यते धनं वाऽवष्टभ्य न दाप्यते तदा समत्वेन व्यवहारदर्शनं न कृतं स्यात्, पक्षपातमशक्तिं वाऽस्य जनपदा मन्येरन् । अथ दण्ड्यते महामात्यक्षोभादपि प्रकृतिविकृतं स्यात् । मन्त्रज्ञास्तु सन्तः संशयितारो यदि निर्णेतव्यस्य केनचिदपदेशेन प्रसङ्गरोधं कृत्वा रहसि राजानं परिबोधयन्ति ‘अनयोर्विवादिनोरयं जीयतेऽयं जयतीति व्यवहारस्त्वस्माभिर्न तदानीमेव निर्णीत इति स्वामी प्रमाणं’ तत्र राजैवं विदित्वा महामात्यमादेशयति “त्वदीयो मनुष्यो जीयते मम हानिर्मा भूदिति संप्रति निर्णयोऽवधीरितः । त्वमेव तथा कुरु यथैषा मनुष्यः संधीयते बाधाऽस्य व्यपनीयते” । ते मन्त्रिणो वाऽऽदेयवाक्या मनुष्याणां सर्वेषामनर्थ्या च प्रवृत्तिं प्रतिबध्नन्ति ।

अन्ये तु काकाक्षिवदुभयविशेषणमर्थभेदेन मन्त्रज्ञपदं मन्यन्ते । यदा मन्त्रिणो विशेष्यन्ते तत्तद्भातुतत्परिज्ञानमन्त्रज्ञानम् । ब्राह्मणपक्षे तु कार्यार्थसमभावश्च । मन्त्रि-ब्राह्मणानां न प्रवेशमात्रमेव किन्तर्हि ‘निर्णयं पश्येत्’ इत्युत्तरत्र वाक्यानि यथायोग्य इतरथाऽदृष्टाय प्रवेशः स्यात् । अतो नैकाकी निर्णयं कुर्यात्किन्तर्हि तैः सह निरूप्येति ।

विनीतो वाक्पाणिपादचापलरहितः । वेपतो ह्यनर्थः स्यात् । **पार्थिवग्रहणात्र** क्षत्रियस्यैवायमुपदेशः किन्तर्ह्यन्यस्यापि पृथिव्यामधिपतेर्देशेश्वरस्य न ह्यनथा राज्यमविचलितं भवतीति ॥१॥

हिन्दी—(प्रजाओं के वक्ष्यमाण-८।४-७) व्यवहार अर्थात् मुकदमों को देखने का इच्छुक राजा (आगे कहे जानेवाले लक्षणों से युक्त) ब्राह्मणों तथा पूर्वोक्त पञ्चाङ्गों से युक्त मन्त्रों को जाननेवाले मन्त्रियों के साथ नम्रभाव से (वचन, हाथ, पैर तथा नेत्रादि की चञ्चलता से रहित होकर) राजसभा (न्यायालय) में प्रवेश करे ॥१॥

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२॥

भाष्य—**आसीनो** धर्मासनोपविष्टः । स्थितो निषिद्धगतिरनुपविष्ट एव । स्थानासनयोश्च व्यवस्थितो विकल्पः कार्यविशेषापेक्षः । गरीयसि कार्ये बहुवक्तव्य उपविष्ट आसीनः लघीयसि स्वल्पवक्तव्ये स्थितः । क्रममाणस्य सर्वथा प्रतिषेधः । स हि मार्गावलोकनपरो नार्थिप्रत्यर्थिनोर्निपुणतो वचनमवधारयेत् । अन्ये त्वदृष्टार्थं तथा मन्यन्ते । तपस्विब्राह्मणादिषु विवादिषु स्थितेषु स्थित आसीनेष्वासीनः ।

पाणिमुद्यम्येति उत्तरपाणिमुद्धृत्योत्थानं कृत्वेत्यर्थः । सूत्रकृतोऽयं व्यतिक्रमः सर्वदा विहितत्वाद्वासनोपव्यानमेतत् । तेनायमर्थो हस्त उत्क्षेप्तव्यो न पुनः समीपवर्तिनि संलग्नः कर्तव्यः । प्रश्ननिषेधावसरे च तेनाभिनेतव्यं न तु प्रव्याणादिना । अनेन व्यवहारदर्शनेन तात्पर्यं ख्यापितं भवति । प्रायेण हि पुरुषकार्येषु प्रयत्नवन्तो हस्तमुद्यच्छन्ति । यथा-सुखोपविष्टं व्रजति कर्तारं ततश्च परिजने तदेतद्राजा वित्तं न ददाति सभ्यैर्निर्भयैर्वयं जिता इति । पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थम् । केवलस्य हि हस्तस्य यावद्व्यवहारदर्शनं व्यापारणं पीडाकरम् । न चायमदृष्टार्थ उपदेशः ।

विनीतवेषाभरण इति । पूर्वश्लोके बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियविषयावधानार्थोऽभिहितः । अयं तावल्लोकानां शालीनतया सुखोपसर्पणार्थः । उद्धतवेषे हि राजनि तथाविधानाम-प्रतिपत्तिः स्यात् । अत उद्धतवेषाभरणं न कथंचित् स्यात् । **वेषः** केशवसनविन्यासादि-विशेषः । **आभरणं** कर्णिकादि । तत्रोद्धतवेष ऊर्ध्ववस्त्रो जवनरक्ताम्बरधारितेत्यादि । **उद्धताभरणो** दीप्तिमद्बहुहस्तालङ्कारो बहुहारश्च । सु ह्यादित्य एव दुर्निरीक्ष्यः सामान्य-जनानां विशेषतोऽभियुक्तानाम् । **पश्येदिति** । सभाप्रवेशस्य प्रयोजनमाह— पश्येद्विचक्षणः ।

अयं च राज्ञो दर्शनोपदेशो दण्डप्रणयने यथास्थानार्थप्रतिपादनपर्यन्तो भविष्यति । तात्पर्यं तस्यैव रक्षाधिकारः प्रयुक्तः स्यात् । ईदृशस्य च दर्शनस्यान्येषामसम्भावनादन-धिकारः । सर्वेषां संशयच्छेदमात्रफलं तु व्यवहारदर्शनं प्रायश्चित्तोपदेशवद्विदुषो ब्राह्मण-स्यास्त्येव । उक्तं हि ‘धर्मसंकटेषु ब्रूयादिति’ । तथैकवर्ग्याणां वाणिज्यकर्षकपशुपाल-प्रभृतीनां स्ववर्गसामयिककार्यविप्रतिपत्तावन्यस्यां वोत्सुकनिर्णयाद्भूतिरिति तथाविध-व्यवहारदर्शने नियोगः । तथा हि पठितम् (ना० स्मृ० ७)

“कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।

प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्” ॥ इति ॥

तत्र ‘कुलानि’ बन्धुजनसमूहः । तैर्या व्यवस्था कृता ततो न विचलितव्यम् । अथ तत्र नाश्वस्युस्तवैतेऽधिकतरं सम्बन्धिन इति वदन्तस्ततः श्रेणिषु निवेदितव्यम् । ‘श्रेणयः’ समानव्यवहारजीविनो वणिक्प्रभृतयः । तेषां बन्धुभ्योऽधिकगुरुत्वम् । बान्धवा हि ज्ञातिधर्मभयाद्विचलितं न नियच्छन्ति । श्रेणयस्तु राजगमनेन श्रेणिधर्मो राजपुरुष-प्रवेशात्परिभवनीयत्वेन नश्यतीति अविचलनार्थं प्रतिभूग्रहणपूर्वकं विचारयन्ति य एतस्माद्विचलति । परिषदि दण्डो दातव्यश्चलितुं वाऽपि त्वया न देयमिति । ‘गणा’ गणशस्त्रारिणो गृहप्रासादादिकरा मठब्राह्मणादयश्च । ते स्वगणिनां व्यवहारं पश्येयुः । तत्राविचलार्थं उपसदः कर्तव्याः । पूर्वं समानकर्मजीविन एकाकिनोऽपि, इमे तु सम्भूय-कारिण इति विशेषः । श्रेणिभ्यः सम्भूयकारितया विवादिनो भूमिज्ञत्वात् । अन्ये तु

अथ मन्त्रज्ञैरिति कस्य विशेषणम् ? न तावन्मन्त्रिणो मन्त्रित्वादेव सिद्धेः । न हि मन्त्रमजानानो मन्त्रीति शक्यते वक्तुम् । नापि ब्राह्मणानां व्यवहारदर्शनेऽधिकृतानां तत्परिज्ञानमदृष्टं न स्यात् ।

अत्रोच्यते । ब्राह्मणविशेषणमेवैतत् । ते ह्यमन्त्रज्ञा भूत्वा निरपेक्षमवधारयन्तः स्युन्यथा राज्ञोऽनर्थमावहेयुः । तथा हि महामात्याश्रितः कश्चिज्जनपदेन व्यवहरन्सहसा जितो यदि न दण्ड्यते धनं वाऽवष्टभ्य न दाप्यते तदा समत्वेन व्यवहारदर्शनं न कृतं स्यात्, पक्षपातमशक्तिं वाऽस्य जनपदा मन्येरन् । अथ दण्ड्यते महामात्यक्षोभादपि प्रकृतिविकृतं स्यात् । मन्त्रज्ञास्तु सन्तः संशयितारो यदि निर्णेतव्यस्य केनचिदपदेशेन प्रसङ्गरोधं कृत्वा रहसि राजानं परिबोध्यन्ति 'अनयोर्विवादिनोरयं जीयतेऽयं जयतीति व्यवहारस्त्वस्माभिर्न तदानीमेव निर्णीत इति स्वामी प्रमाणं' तत्र राजैवं विदित्वा महामात्यमादेशयति "त्वदीयो मनुष्यो जीयते मम हानिर्मा भूदिति संप्रति निर्णयोऽवधीरितः । त्वमेव तथा कुरु यथैषा मनुष्यः संधीयते बाधाऽस्य व्यपनीयते" । ते मन्त्रिणो वाऽऽदेय-
क्या मनुष्याणां सर्वेषामनर्थ्या च प्रवृत्तिं प्रतिबध्नन्ति ।

अन्ये तु काकाक्षिवदुभयविशेषणमर्थभेदेन मन्त्रज्ञपदं मन्यन्ते । यदा मन्त्रिणो शेष्यन्ते तत्तद्धातुतत्परिज्ञानमन्त्रज्ञानम् । ब्राह्मणपक्षे तु कार्यार्थसमभावश्च । मन्त्रि-
ब्राह्मणानां न प्रवेशमात्रमेव किन्तर्हि 'निर्णयं पश्येत्' इत्युत्तरत्र वाक्यानि यथायोग्य इतरथाऽदृष्टाय प्रवेशः स्यात् । अतो नैकाकी निर्णयं कुर्यात्किन्तर्हि तैः सह निरूप्येति ।

विनीतो वाक्पाणिपादचापलरहितः । वेपतो ह्यनर्थः स्यात् । **पार्थिवग्रहणात्र** क्षत्रियस्यैवायमुपदेशः किन्तर्ह्यन्यस्यापि पृथिव्यामधिपतेर्देशेश्वरस्य न ह्यनथा राज्य-
मविचलितं भवतीति ॥१॥

हिन्दी—(प्रजाओं के वक्ष्यमाण-८।४-७) व्यवहार अर्थात् मुकदमों को देखने का इच्छुक राजा (आगे कहे जानेवाले लक्षणों से युक्त) ब्राह्मणों तथा पूर्वोक्त पञ्चाङ्गों से युक्त मन्त्रों को जाननेवाले मन्त्रियों के साथ नम्रभाव से (वचन, हाथ, पैर तथा नेत्रादि की चञ्चलता से रहित होकर) राजसभा (न्यायालय) में प्रवेश करे ॥१॥

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२॥

भाष्य—**आसीनो** धर्मासनोपविष्टः । स्थितो निषिद्धगतिरनुपविष्ट एव । स्थाना-
सनयोश्च व्यवस्थितो विकल्पः कार्यविशेषापेक्षः । गरीयसि कार्ये बहुवक्तव्य उपविष्ट
आसीनः लघीयसि स्वल्पवक्तव्ये स्थितः । क्रममाणस्य सर्वथा प्रतिषेधः । स हि मार्गा-
वलोकनपरो नार्थिप्रत्यर्थिनोर्निपुणतो वचनमवधारयेत् । अन्ये त्वदृष्टार्थं तथा मन्यन्ते ।
तपस्विब्राह्मणादिषु विवादिषु स्थितेषु स्थित आसीनेष्वासीनः ।

पाणिमुद्यम्येति उत्तरपाणिमुद्धृत्योत्थानं कृत्वेत्यर्थः । सूत्रकृतोऽयं व्यतिक्रमः सर्वदा विहितत्वाद्वसनोपव्यानमेतत् । तेनायमर्थो हस्त उत्क्षेप्तव्यो न पुनः समीपवर्तिनि संलग्नः कर्तव्यः । प्रश्ननिषेधावसरे च तेनाभिनेतव्यं न तु प्रव्याणादिना । अनेन व्यवहारदर्शनेन तात्पर्यं ख्यापितं भवति । प्रायेण हि पुरुषकार्येषु प्रयत्नवन्तो हस्तमुद्यच्छन्ति । यथा-सुखोपविष्टं व्रजति कर्तारं ततश्च परिजने तदेतद्राजा वित्तं न ददाति सभ्यैर्निर्भयैर्वयं जिता इति । पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थम् । केवलस्य हि हस्तस्य यावद्व्यवहारदर्शनं व्यापारणं पीडाकरम् । न चायमदृष्टार्थ उपदेशः ।

विनीतवेषाभरण इति । पूर्वश्लोके बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियविषयावधानार्थोऽभिहितः । अयं तावल्लोकानां शालीनतया सुखोपसर्पणार्थः । उद्धतवेषे हि राजनि तथाविधानाम-प्रतिपत्तिः स्यात् । अत उद्धतवेषाभरणं न कथंचित् स्यात् । **वेषः** केशवसनविन्यासादि-विशेषः । **आभरणं** कर्णिकादि । तत्रोद्धतवेष ऊर्ध्ववस्त्रो जवनरक्ताम्बरधारितेत्यादि । **उद्धताभरणो** दीप्तिमद्बहुहस्तालङ्कारो बहुहारश्च । सु ह्यादित्य एव दुर्निरीक्ष्यः सामान्य-जनानां विशेषतोऽभियुक्तानाम् । **पश्येदिति** । सभाप्रवेशस्य प्रयोजनमाह— पश्येद्विचक्षणः ।

अयं च राज्ञो दर्शनोपदेशो दण्डप्रणयने यथास्थानार्थप्रतिपादनपर्यन्तो भविष्यति । तात्पर्यं तस्यैव रक्षाधिकारः प्रयुक्तः स्यात् । ईदृशस्य च दर्शनस्यान्येषामसम्भावनादन-धिकारः । सर्वेषां संशयच्छेदमात्रफलं तु व्यवहारदर्शनं प्रायश्चित्तोपदेशवद्विदुषो ब्राह्मण-स्यास्त्येव । उक्तं हि ‘धर्मसंकटेषु ब्रूयादिति’ । तथैकवर्ग्याणां वाणिज्यकर्षकपशुपाल-प्रभृतीनां स्ववर्गसामयिककार्यविप्रतिपत्तावन्यस्यां वोत्सुकनिर्णयाद्भूतिरिति तथाविध-व्यवहारदर्शने नियोगः । तथा हि पठितम् (ना० स्मृ० ७)

“कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।

प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्” ॥ इति ॥

तत्र ‘कुलानि’ बन्धुजनसमूहः । तैर्या व्यवस्था कृता ततो न विचलितव्यम् । अथ तत्र नाश्वस्युस्तवैतेऽधिकतरं सम्बन्धिन इति वदन्तस्ततः श्रेणिषु निवेदितव्यम् । ‘श्रेणयः’ समानव्यवहारजीविनो वणिक्प्रभृतयः । तेषां बन्धुभ्योऽधिकगुरुत्वम् । बान्धवा हि ज्ञातिधर्मभयाद्विचलितं न नियच्छन्ति । श्रेणयस्तु राजगमनेन श्रेणिधर्मो राजपुरुष-प्रवेशात्परिभवनीयत्वेन नश्यतीति अविचलनार्थं प्रतिभूग्रहणपूर्वकं विचारयन्ति य एतस्माद्विचलति । परिषदि दण्डो दातव्यश्चलितुं वाऽपि त्वया न देयमिति । ‘गणा’ गणशश्चारिणो गृहप्रासादादिकरा मठब्राह्मणादयश्च । ते स्वगणिनां व्यवहारं पश्येयुः । तत्राविचलार्थं उपसदः कर्तव्याः । पूर्वं समानकर्मजीविन एकाकिनोऽपि, इमे तु सम्भूय-कारिण इति विशेषः । श्रेणिभ्यः सम्भूयकारितया विवादिनो भूमिज्ञत्वात् । अन्ये तु

कुलाणीति मध्यस्थपुरुषानाहुः । ते हि कार्याभ्यन्तरा अश्रेणिकृता एव निर्णेतारः ।
'अधिकृतः' त्रैविद्यो विद्वान् ब्राह्मणः । तस्य हि धर्मसंकटेषु प्रवक्तृत्वं विहितम् । तस्य
पूर्वेभ्यो गुरुत्वं वैदुष्यात् । नृपस्यापि गुरुत्वमतिशयशक्तित्वादतः स्वयं विदुषां नृपेण
निर्णीते नास्त्येतत्—

“यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।

द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥” इति ॥

अन्येषु करणेष्वेतद्भवति । तत्र ह्यस्ति वचनावसरो नाधिकृतैः सम्यक् निर्णीतं
राज्ञा तु विवेचिते किं वक्ष्यतीति ।

अर्थान्तरम्— नृपैरधिकृतो राजस्थानीयब्राह्मणः । तथाऽन्यस्य गृहिणः स्वतन्त्रस्तु
गृहे गृहीति स्वातन्त्र्यस्मरणाद्दण्डपर्यन्तोऽस्त्येव व्यवहारः । सुपरीक्षितो भवति ।
वासनाविनयार्थं श्रुतिग्राह्यप्रसक्तशिष्यसुताद्याः “अन्यत्र दण्डाच्छारीरात्पतनीयाच्च
कर्मण” इति । स्वल्पेऽपराधे गृहस्थ एव राजायते । महति व्यतिक्रमे राजनिवेदन-
मेवोचितमित्यस्यार्थः ।

अतश्च यत्कैश्चित्पश्येदिति परिसंख्यार्थत्वमारोप्य ब्राह्मणादीनामधिकार आशङ्कितः
पुनश्च क्लेशेन समर्थितस्तदयुक्तम् । विषयभेदादधिकारभेदात् । स्वविषयो हि राज्ञो
दण्डावधिको ब्राह्मणादीनां निर्णयावधिः । अधिकारोऽपि भिन्नः । राज्ञो राज्यस्थिति-
प्रयोजनम्, इतरेषां संशयच्छेदादेरपरोपकारकत्वम् । अतो नो वृत्तिसङ्कराशङ्कैव नास्ति ।
कार्यो विप्रतिपत्तिनिरासः । अर्थिनां विप्रतिपन्नयोर्हि साम्यं व्यवहारदर्शने राज्ञा कर्तव्यम् ।
नो चेत्संविदाने को राज्ञः स्वाधिगमे निरोधः ॥२॥

हिन्दी—(राजा) वहाँ पर अर्थात् न्यायालय में बैठकर या खड़ा होकर दाहिने हाथ
को उठाकर विनम्र वेष-भूषा से युक्त होकर कार्यार्थियों के कार्यों को देखे ॥२॥

कुल-देशानुसार कार्यदर्शन—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।

अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥३॥

भाष्य—पूर्वेणार्धेन निर्णयहेतवः कथ्यन्ते । उत्तरेण विवादपदसङ्ख्यानिर्देशः ।
'पश्येदिति' पूर्वश्लोकादनुषज्यते कार्याणीति च । **प्रत्यहं** पश्येत्कार्याणि प्रतिदिवस-
गमने व्यवहारनिर्णयः कर्तव्यः । **हेतुभिरिति** हेतुनिर्णयसाधनम् । स च द्विविधः ।
प्रमाणरूपो व्यवस्थारूपश्च । तत्र प्रमाणरूपोऽर्थनिर्णयहेतुः साक्ष्यादिः । व्यवस्थारूपो
यतोऽसत्ये वाऽर्थनिश्चये व्यवहारः संतिष्ठते । यथा सत्यशपथ उभयानुमत एकः साक्षी
यद्यर्थिप्रत्यर्थिभ्यामभ्युपगतप्रमाणभावः सभ्यैरपरिक्षितोऽपि निर्णयहेतुतां प्रतिपद्यते । न

च परीक्षितस्य पुंसो वचनादसत्यात्पूर्ववदर्थनिश्चयः प्राश्निकानामभ्युपगमेऽपि व्यवस्था-
हेतुर्भवति ।

सा च व्यवस्था द्विविधा । साधारण्यसाधारणी च । देशभेदादाश्रयभेदात्साऽपि
द्विविधा । अविरुद्धा विरुद्धा च । अविरुद्धा यथा केषांचिदाक्षिणात्यानामपुत्रा स्त्रीभर्तयुपरते
सभास्थाणुमुपारोहति तमुपारूढाऽधिकृतैः परीक्षिता कृतलक्षणा तत्क्षणानन्तरं सपिण्डेषु
ऋक्थं लभते । तथोदीचां लभ्यमानां कन्यां याचमानाय भोजनं यदि दीयते तत इयं तुभ्यं
दत्तेत्यनुक्तेऽपि प्रतिश्रुता भवति । विरुद्धा च । क्वचिद्देशे वसन्ते धान्यं प्रयुज्यते शरदि
द्विगुणं प्रत्यादीयते । तथाऽनुज्ञातभोग आधिर्द्विगुणेऽपि तदुत्थधने प्रविष्ट आ मूल-
हिरण्यदानाद्भुज्यत एव । एषा हि “अशीतिभागं गृह्णीयात्” “कुसीदवृद्धिर्द्विगुण्यं नात्ये-
तीति” (१५१) विरुद्धा ।

तत्र भेदाश्रया देशदृष्टहेतुशब्देनाभिहिताः । शास्त्रदृष्टास्तु हेतवः शास्त्रे पठिताः ।
ते च केचन शास्त्रकारैः कल्पितव्यवस्थाः केचिद्यथावस्त्ववस्थिता अनुदिताः । तत्र
कल्पितव्यवस्था यथालेख्यं यथोपभोगः साक्षिणश्चानुमानं वस्तुनियतं “यथा नयत्य-
सृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्” (४४) इति । यद्यपि सर्वं लौकिकं न शास्त्रकारवचनवत्-
प्रामाण्यं लभते तथाऽपि लौकिकमेव क्वचिच्छास्त्रमाश्रयितव्यम् । यच्चेदृशे चापराध
इदं दिव्यं इयता च कालेन भोगः प्रमाणमिति लौकिकमपि तच्छास्त्रदृष्टमित्युक्तम् ।
तस्यां च व्यवस्थायां शास्त्रकाराणां मूले सम्भवति सा प्रमाणम् । या त्वसम्भवतन्मूला
सा नादरणीया । यथा लेख्यक्रमपाठः । (यज्ञाव० व्य० ८८) “उभयाभ्यर्थितेनैवं मया
ह्यमुकसूनुना । लिखितं ह्यमुकेनैव लेखकस्तत्त्वतो लिखेत् ॥” इति । यस्यादावेव
लेखकः स्वनाम निवेशयेदिदं नामाहममुष्य पुत्रो लिखामीदमिति न कश्चिद्दोषः स्यात् । स
ह्येवमर्थं नाम निवेशयत्यनेनेदं लिखितमिति लेखक उपलक्षितो यथा स्यात् । यदि ह्यसौ
लेखकः प्रमाणान्तरेण प्रत्ययितो भवति ततस्तल्लिखितं प्रमाणम् । यदि चासावात्मानं
स्वगोत्रनाम्ना नोपलक्षयेत्ततः कस्य प्रत्ययितता प्रमाणान्तरादन्विष्यताम् । अथ तु लेख्या-
न्तरदर्शनेनान्येन वा हेतुना विशिष्टलेखक इति प्रत्यभिज्ञानं स्यादनुपलक्षितोऽपि न
कश्चिद्दोषः । तत्र यदि लेखको न लिखेन्मयेदं लिखितमिति भवेदेव तादृशं लेख्यं परि-
पूर्णलक्षणम् । एषा च लेखकपरीक्षा तत्रोपयुज्यते । पत्रलेखकस्य साक्षित्वान्तर्भावोऽन्येषां
साक्षिणामल्पत्वात् । यत्र त्वन्ये बहवः प्रत्ययिताः साक्षिणः स्वहस्तरूढाः सन्ति तत्र
लेखकसम्बन्धिनी प्रत्ययितता नोपयुज्यते । तथेयमपरा व्यवस्था (नारद १।१४५)

“लिखितं लिखितेनैव साक्षिमच्चैव साक्षिभिः । साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयो लिखिते
न तु साक्षिणः” नास्यामपि व्यवस्थायां किञ्चिन्निबन्धनमस्ति । तथा हि द्विविधं लेख्यम्—
स्वहस्तकृतं परहस्तकृतं च । परहस्तकृतमपि द्विविधम्— स्वहस्तलेखकलिखितमधि-

कृतलेखकलिखितम् । तदेतत्परहस्तकृतं सर्वप्रकारं साक्ष्यात्मकमेव । तत्र साक्षिभ्यो लिखितमिति भेदानुपपत्तेः । इदं हि तस्य लक्षणम् (याज्ञ० व्यव० ८७) ।

“साक्षिणः स्वस्वहस्तेन पितृनामादिपूर्वकम् । तत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समम्” इति । नाप्येकहस्तलिखितस्य प्रामाण्यमिष्यते । यथैकस्य साक्षित्वे । “अथायं भेदहेतुसाक्षिणो हस्तारूढास्त एव लेख्यमिति” नानेन विशेषेण श्रेयस्त्वं भवति ।” प्रत्ययितता हि श्रेयस्त्वे हेतुः । सा चोभयत्रापि परीक्ष्या । तस्मादीदृशे लेख्ये साक्षिद्वैधान्त्यायो बहुत्वं परिगृह्णीयादिति । अधिकृतत्वमपि न विशेषः । परीक्षितोऽधिक्रियत इत्येतत्तत्राधिक्यम् । न च सर्वे राजाधिकृताः सुपरीक्षिता भवन्ति । यदि तु निरुपाधिस्तादृशश्चेदत्यन्तगुणयोगात्स्यादुपेयादेवासौ एक एव संवादकत्वम् । तथा हि राजा-प्रहारशासनान्येककायस्थहस्तलिखितान्येव प्रमाणीभवन्ति । अदातुः स्वाहस्तक्यं स्वयमभ्युपगमः ‘इयदस्मान्मया गृहीतमिदं चास्मै दातव्यमिति’ । तत्र यदि पश्चात् ब्रूते न गृहीतमिति तदा पूर्वनिबद्धं ब्रुवाणैर्जीयते । तत्र साक्षिणामवसर एव नास्ति ।

“ननु च यदीयाल्लेख्यादभ्युपगतमेतदनेनेत्यवगम्यते, उत्तरकालं च स एवाह न गृहीतमिति, तत्रोभयोरभ्युपगमयोः केन हेतुना पूर्वेणोत्तरा बाध्येत न पुनरुत्तरेण पूर्वा । तुल्यत्वाद्विरुद्धत्वसंशयः । ततश्च प्रमाणान्तरव्यापारणमेव युक्तम् ।”

भवेदेवं यदि तुल्यता स्यात् । न गृहीतमिति ह्यभ्युपगमो लोभादिनाऽपि सम्भवति, न त्वगृहीत्वाऽनुमत्तो गृहीतमिति ब्रूयात् । तत्रापि यदि ब्रूयात्प्रतिदत्तमिति लेख्यं तु न सम्पादितं असन्निधानात्प्रतिलेख्यं च न गृहीतं लेखकासंनिधानात्कार्यान्तरेऽतिपातिनि त्वरावत्वात्रास्त्येव प्रमाणान्तरस्य साक्ष्यादेरवसरः ।

यदपि “लिखितं लिखितेनेति” नैषा परिभाषा वस्तुसामर्थ्यायातामगतिं बाधितुं शक्नोति । दृश्यन्ते हि धनिकहस्तगतलेख्यं क्रमेण संशोधयन्तः, न च पृष्ठे संशोधितं धनमभिलिखन्ति । अद्य तावदिदं दत्तं प्रातरन्यदानीयैकीकृत्योपर्यारोपयिष्यामि सर्वं वा कतिपयैरहोभिः संशोध्य लेख्यं पाटयिष्यामीति । धनिकेन चोपरुद्धस्यासम्भवत्यंशमूल-लाभधने संशुद्धिभागमात्रे दीयमाने कुत इयं तत्प्रभवति न ददाति यावत्प्रतिलेख्यं न दत्तमिति । यदि चैषा परिभाषा “लिखितं लिखितेनैवेति” तदा बलोपधिकृतत्वं कथं विचार्यताम् । न हि तत्र लेख्यान्तरसम्भवः । तेन यथाऽत्र सत्येव लेख्ये तन्निश्चयार्थं प्रमाणान्तरं व्यापार्यते तद्वदन्यत्रापि व्यापारणीयम् । यथा कश्चिदावेदयेत्— ‘अस्य प्रत्ययं गत्वा लेख्यं मया कृतमनेनोक्तमद्य मुण्याहकारणमिमां च धनमात्रां गृहाण, श्वस्ते सर्वं दाताऽस्मीत्युक्त्वा सैव धनमात्रा दत्ता परिशिष्टं न दत्तमिति’— तदाऽस्त्येव साध-कान्तरव्यापारणावसरः । तत्र यद्यधमर्णस्यास्मिन्प्रकारे साक्षिणः सन्ति तदाऽभिहिते लेख्य आभासोऽकृते श्वो दानमुत्तमर्णेन साधनीयम् । अथ तयोरपि रहसि परिभाषेयम्-

भूतदा दैव्याः क्रियाया अवसरः । अथ तु तस्यामपि व्यभिचरित्वादनाश्वासः सत्य-
शपथेन व्यवस्था कार्या ।

“नान्वेवं सति स्वहस्तलेख्यं प्रमाणान्तरसंवेदसापेक्षत्वादप्रमाणमेव । तत्र ‘विना-
ऽपि साक्षिभिः सिध्येत्’ ‘न स्वहस्तपरिचिह्नमिति’ विरोधः । अनेनैव न्यायेन प्रत्यक्षं
दीयमानं द्रव्यं न पश्यति । केवलं तत्समक्षं गृहीत्वा परिभाष्यत इयदिदमस्मान्मया
गृहीतमिति । तेऽपि साक्षिणः स्युः । तत्रापि शक्यते वक्तुमस्य प्रत्ययं गत्वा प्रपन्नो-
ऽहमिति ।”

उक्तमत्र न स्मृतिविरोधाद्वस्तुस्थितिराहन्तुं शक्यते । अपि च यत्रास्य वचनस्या-
वसरो नास्ति तत्र प्रमाणं भविष्यति । क्वचिन्नास्ति— यत्र चिरकालं तिष्ठति धनिकहस्ते
लेख्यं यदि हि तेन धनं दत्तं तदा कथमनेन वा नाम न मार्गितं लेख्यं न त्याजितमिति ।
न हि चिरकालमुपेक्षा वस्तुनीदृशे सम्भवति । मिथ्यावादिता त्वस्यानुमीयते । तथा
चोक्तम् “सद्यस्व्यहाद्वा कार्येषु बलं राज्ञो निवेदयेदिति” । यत्र वा भोग्यबन्धो न च भोग
आग्रातोऽपहारकालस्तत्र विप्रतिपत्तौ विनाऽपि साक्षिभिः स्वहस्तलेख्यं न ह्यधमर्णा वक्तुं
लभन्ते प्रीत्या त्वयैतदुक्तं संप्रति त्यजेति । न च पूर्वोक्तस्य वचनस्यावसरः । कृतं लेख्यं
ततो दास्यामीत्युक्त्वा न दत्तमिति । यदि न दत्तं कथं बन्धभोगो मर्षितः ।

ननु चैवं सति लेख्यसहायो भोगः प्रमाणं स्यात् । केवलस्य तु भोगस्य
प्रामाण्यमामनन्ति । “लिखितं साक्षिणो भुक्तिरिति” ।

किमिदं प्रत्युक्तं पर्यनुयुज्यामहे । विशिष्टकालो भोगः प्रमाणं न भोगमात्रम् । एवं
हि पठ्यते (१४७) “यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि”— तथा “पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विशति-
वार्षिकीति” (या० व्य० २४) ।

कस्तर्ह्यस्यार्थो “लिखितं लिखितेनैवेति” ।

व्याख्यातमन्यैः । कर्तृविशेषसंशयेऽनेनैतल्लिखितं न वेति लिखितेन निश्चित-
तत्कर्तृकेण निश्चीयते । यत्तु साक्षिसमक्षं तत्र कृताकृतसंदेहं साक्षिभिर्हरति । त एव तत्र
प्रमाणम् । न तत्र तत्कृतलेख्यानन्तरदर्शनमुपयुज्यते । बुद्धिपूर्वेषु च ऋणादानादिषु केवलेभ्यः
साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयः । साक्षिणो हि विस्मरेयुरन्यतरेण वा सम्बन्धं गच्छेयुरन्यद्वा
पातकस्यासाक्षित्वे हेतुमासादयेयुः । लेख्यं त्वभियोगवत् आत्माधीनतया सुरक्षमिति
साक्षिभ्यः श्रेयस्त्वं तस्य । एतदेवाह “लिखिते न तु साक्षिणः” इति स्वहस्तप्रतिष्ठेन
विस्मृतमप्यर्थं वृत्तमिति मन्यते । मृता वा साक्षिणस्तद्वस्तुप्रत्यभिज्ञानेन प्रमाणीभवन्ति ।

व्याख्यानान्तराणि भर्तृयज्ञेनैव सम्यक्कृतानीति तत एवावगन्तव्यानि । सर्वथा
प्रमाणमूलानि स्मृतिकारणम् । व्यवस्था तु कर्तव्येति । न च स्मृतेरेव प्रमाणकल्पना

युक्ता । न हि व्यवहारस्मृतिर्वेदमूला शक्यते वक्तुम् सिद्धार्थरूपत्वात्प्रत्यक्षाद्यवगम्य-
त्वाज्जयपराजयप्रकाराणाम् । सिद्धो ह्यमर्थः— एवं व्यवहारे जीयत इतर इतरो जयतीति ।
यदाऽप्यत्र लिङ्गश्रुतिः ‘सोऽपि हरीतकीं भक्षयेदारोग्यकाम’ इतिवदवसेया । ईदृशेषु
विधिस्वरूपेषु प्रत्ययेषु द्रव्यशुद्धेः प्रसङ्गेनार्थो विवेचित इति न पुनः प्रयतामहे ।

अष्टादशसु मार्गेषु विषयो विवादस्य । एतानर्थानुद्दिश्य पुरुषाः प्रायेण विवदन्ते ।
न विरुद्धानि कार्याणि प्रयोजनान्यर्थसिद्ध्य इति यावत्तान्युत्तरत्र दर्शयिष्यामः ।

पृथक् पृथक् प्राधान्यमेतेषामाह । एतानि प्रत्येकं प्रयोजकानि न पुनः परस्पर-
मन्तर्भवन्ति । यथान्यान्यनुषङ्गादिष्वन्तर्भवन्ति । नैवमेते । तु सहस्रशः सन्ति ॥३॥

हिन्दी—अद्वारह (८।४-७) व्यवहार-मार्गों के कार्यों को देश, जाति तथा कुल के
व्यवहारों से और साक्षी, द्रव्य आदि कारणों से प्रतिदिन पृथक्-पृथक् विचार करे ।

[हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति ।

स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः ॥१॥]

[हिन्दी—जो कोई हिंसा करता है अर्थात् किसी को मारता या किसी प्रकार पीड़ित
करता है तथा देय (देने योग्य धन, भूमि आदि) नहीं देता है, ये दो विवाद (झगड़े) के
स्थान हैं और फिर वे १८ प्रकार के हैं ॥१॥

तेषामाद्यमृणादानं विक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।

सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्थानपकर्म च ॥४॥

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।

क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥५॥

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।

स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥६॥

स्त्रीपुंघर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।

पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥७॥

भाष्य—पाठक्रमापेक्षमृणादानस्याद्यत्वं प्राथम्यम् । अथवा मुख्यमाद्यम् । अनेन
हि वनवासिनोऽपि स्पृश्यन्ते । ऋणादानानुषक्तमनृणादानमेव च । यथा ऋणं ते मया
दत्तं शुद्धिलेख्यं प्रयच्छेत्यादि । नैतदृणादानम्, अनुक्तं तु तत्रेति तद्व्यपदेश्यम् । तथा
“ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्माश्चेति ।” (नारद १।१) तत्र
देयमृणं स्वकृतं पितृकृतं च यस्य च ऋकथं हरेत् । अदेयं स्वकृतं द्विगुणादधिकं पितृकृतं
च द्यूतादिभागेनेति पुत्रेण भर्त्रा पित्रा चेति । तथा (नारद १।१६)—

“न स्त्री पतिकृतं दद्यादृणं पुत्रकृतं तथा ।

अभ्युपेतादृते यद्वा सह पत्या कृतं भवेत् ॥”

यद्यपि देयमित्यत्रैतदन्तर्भूतं तथापि द्यूतादिकृतं विशेषानपेक्षं स्वरूपतो देयम्, इदं तु कर्तृनियमादिति गोबलीवर्दवद्भवति चेद्भेदो यावदिति द्वैगुण्यपर्यन्तं तत्रापि भेदः पूर्ववत् । यत्रेति पाठे देशकालग्रहणम् । यत्रैव गृहीतं तत्रैव देयम् । सत्यां धनिकेच्छायां देशान्तरेऽपि । सति सम्भवे कालोऽपि । शरद्यनिच्छेत्युक्तम् । “ग्रैष्मे वा सत्सु सस्येषु यदा धाऽस्व धनागमं मन्येतेति” । सति सम्भवे सर्वम् । असति कश्चिदंशो यावत्क्रमेण संशुद्धमिति । सर्वभावेन परिक्षीणेन “कर्मणाऽपि सममिति” (मनु० ८।१७७) । ‘दान-ग्रहणधर्मा’ इति साक्षिलेख्यादयः । पारुष्ये दण्डवाचिके इति । दण्डश्च वाक् च दण्डवाचं ‘द्वन्द्वाच्चुदषहान्तादिति’ (पा० ५।४।१०६) समासान्तस्तदस्यास्तीति “अत इनि ठनाविति” ठन् (पा० ५।२।११५) । स्त्रीपुंधर्म इति । स्त्रीसहितः पुमानिति शाकपार्थिवादिवत्समासः । स्त्री च पुमांश्चेति विग्रहे स्त्रीपुंसधर्म इति स्यात् ॥४-७॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।

धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥८॥

भाष्य—भूयिष्ठग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । अन्येऽपि व्यवहारहेतवः सन्ति । यथा निवसनार्थं त्वया मे वेश्म दत्तं तत्र किमित्यर्वाग्वत्सरादन्यस्मै ददासीति । न चेदं दत्तानपाकर्म न ह्यत्र स्वस्वत्वनिवृत्तिरस्ति भोगानुज्ञामात्रं वसतः । तथा मदीयस्थण्डिलाभिमुखं त्वया वेश्मनि गवाक्षं कृतमिति । धर्मं शाश्वतमाश्रित्येति । अर्थकामावशाश्वतौ । अथवा शाश्वतो धर्म अनिदं प्रथमतो या व्यवस्था तामनुपालयेत् । या त्विदानीन्तनैः प्रवर्तिता साऽशाश्वतत्वादनादरणीया ॥८॥

हिन्दी—१. ऋण लेना, २. धरोहर (थाती) रखना, ३. किसी वस्तु या भूमि आदि का स्वामी न होने पर भी उसे बेच देना, ४. अनेक व्यक्तियों (व्यापारी आदि) का मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करना, ५. दान आदि में दी गयी सम्पत्ति या किसी वस्तु को क्रोध, लोभ या अपात्रता के कारण वापस ले लेना, ६. नौकरों का वेतन या मजदूरों की मजदूरी नहीं देना, ७. पूर्व निर्णीत व्यवस्था (सन्धिपत्रादि) को नहीं मानना, ८. क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) में विवाद उपस्थित होना, ९. स्वामी तथा पालक रखवाली करनेवाले में परस्पर विवाद होना, १०. सीमा के विषय में विवाद होना, ११. दण्ड-पारुष्य (अत्यधिक मार-पीट करना), १२. वाक्पारुष्य (अनधिकार गाली आदि देना), १३. चोरी करना, १४. अतिसाहस करना, (डाका डालना आग लगाना आदि), १५. स्त्री का परपुरुष के साथ सम्भोग आदि करना, १६. स्त्री-पुरुष का धर्म, १७. पैतृक (पिता के) धन-सम्पत्ति या भूमि आदि का बटवारा करना और १८ जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर

(बाजी लगाकर अर्थात् दाँव पर धन आदि लगाकर) पशु (भेंड़ा, भैंसा आदि), पक्षी (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) को लड़ाना ये १८ स्थान व्यवहार (मुकदमे) की स्थिति में कहे गये हैं। राजा इन व्यवहार-स्थानों में (मुकदमों के विषयों में इसी प्रकार के अन्यान्य विवादस्थ विषयों में भी) परस्पर विवाद करते (झगड़ते) हुए लोगों के वंशादि-क्रमागत नित्यधर्म का विचारकर निर्णय (न्याय) करे ॥४-८॥

राजा के अभाव में ब्राह्मण द्वारा व्यवहार निर्णय—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥

भाष्य—“अष्टादशपदाभिज्ञं प्राड्विवाकेतिसंज्ञितम्।

आन्वीक्षिक्यां च कुशलं श्रुतिस्मृतिपरायणम्” ॥

कुतश्चिदतिपातिकायान्तरव्यासङ्गादपावाद्वा यदि स्वयं न पश्येत्तदा विद्वान्ब्राह्मणो नियोज्यः । विद्वत्ता च या व्यवहारविषया सा तदधिकारत एवार्थगृहीता । न हि यो यन्न जानाति स तत्राधिकारमर्हति । धर्मशास्त्रपरिज्ञानं तु रागद्वेषदोषेण विपरीतार्थावधारण-निवृत्त्यर्थमुपयुज्यते । धर्मज्ञस्तु सतोरपि रागद्वेषयोः शास्त्रभयेन न विपर्येति इत्युप-योगवद्धर्मशास्त्रपरिज्ञानम् । व्यवहारदर्शनं तु तदर्थगृहीतम् । येन विना न शक्यते व्यवहारनिर्णयः कर्तुम् तद्विज्ञानं तदधिकाराक्षिप्तम् । यत्तु ज्ञात्वाऽन्यथा क्रियते तन्निवृत्ति-रूपदेशान्तरविषया । वक्ष्यति चैवमर्थं यत्नान्तरमपि— ‘वेदविदस्त्रयः’, ‘राज्ञश्च प्रकृतो विद्वानिति’ । शास्त्रान्तरपरिज्ञानं तु व्यवहारेऽधिक्रियमाणस्यादृष्टाय स्यात् । नियोज्यो विद्वान्स्यादिति पठितव्यम् । नियुज्यादिति नियुञ्जीत स्वराद्यतोपसृष्टादिति हि कातीया आत्मनेपदं स्मरन्ति ॥९॥

हिन्दी—यदि राजा स्वयं विवादों (मुकदमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे ॥९॥

तीन सदस्यों के साथ न्याय करना—

सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिवृत्तः ।

सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

भाष्य—सभ्यैरिति जातिविशेषानुपादानेऽप्युत्तरत्र विप्रग्रहणाद्ब्राह्मणैः सहेति च पूर्वत्र ब्राह्मणग्रहणाद्ब्राह्मणा एव विज्ञायन्ते । त्रिग्रहणं त्वेकद्वयोः प्रतिषेधार्थम् । त्रिप्रभृतयस्त्विष्यन्त एव । साक्षिप्रकरणे चैतद्वक्ष्यामः । सभामेव प्रविश्याग्र्यामिति । राजस्था सभां प्रविश्य स्थानासनेषु तद्धर्मेषु । पुनर्वचनं प्रदर्शनार्थं धर्मान्तरनिवृत्त्यर्थं वा तेन राजस्थाने नोपविशति ॥१०॥

हिन्दी—वह (राजा के द्वारा नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण) भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्यज्ञ ब्राह्मणों) के साथ ही न्यायालय में जाकर आसन पर बैठकर या खड़ा होकर (राजा के देखने योग्य उन) कार्यों को देखे अर्थात् उन मुकदमों का फैसला करे ॥१०॥

सभा-लक्षण—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥

भाष्य—उक्तं सभां प्रविश्य व्यवहारान्पश्येदिति । सभाशब्दश्च लोके गृहप्रासाद-विशेषे वर्तते “मयेन निर्मिता दिव्या सभा हेमपरिष्कृतेति” — क्वचित्पुरुषविशेषसंघटिता सभेति तन्निवृत्त्यर्थं सभाया लक्षणमाह । यत्र त्रयो ब्राह्मणा वेदविदः सन्निधीयन्ते, राज्ञश्च सम्बन्धो प्रकृतोऽधिकृतो विद्वानिति । अथवा प्रकृतोऽनन्तरश्लोके सन्निहितः । सेह सभाऽभिप्रेता । ब्रह्मग्रहणं स्तुत्यर्थम् । यथा ब्रह्मणः सभा निरवद्यैवमियमपीति ॥११॥

हिन्दी—जहाँ पर वेदज्ञ (ऋक्, यजुष् तथा सामवेद के ज्ञाता) तीन ब्राह्मण तथा राजा से अधिकार-प्राप्त विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं, उसे (विद्वान् लोग चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्मा की सभा के समान) ‘सभा’ कहते हैं ॥११॥

विमर्श—इस मनु-वचन के आधार पर ही आजकल न्यायालयों में राजनियुक्त न्यायाधीश (जज आदि) तथा जूरी आदि व्यवहार देखते हैं ।

अधर्म होने पर सदस्यों के दोष—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।

शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥

हिन्दी—जिस सभा (न्यायालय) में धर्म (सत्य भाषण) अधर्म (असत्य भाषण) से पीड़ित होकर रहता है अर्थात् असत्य बात कहकर सच्ची बात छिपायी जाती है, (और सभा में स्थित सदस्य) वे ब्राह्मण इस धर्म-पीडाकारक शल्य को दूर नहीं करते अर्थात् असत्य पक्ष को छोड़कर सत्य पक्ष का आश्रय नहीं लेते, सभा में (सदस्य अर्थात् न्यायाधीश रूप से) स्थित वे ब्राह्मण ही अधर्मरूपी शल्य से विद्ध (पीड़ित) होते हैं ॥१२॥

सभा में सत्यभाषण करना—

सभां वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।

अब्रुवन्ब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥

भाष्य—अनेनार्थेन द्वयं विप्रतिषिध्यते । प्रतिपन्नाधिकारेण मिथ्यादर्शनं न कर्तव्य-मन्येन च क्रियमाणं नोपेक्षणीयम् । तत्रोभयथा दोषः । अब्रुवन्नन्येन विपरीतेऽनुष्ठीय-माने तूष्णीमासीनो हस्तक्षेपेण वा शास्त्रन्यायविरुद्धं ब्रुवन्किल्बिषी पापभाग्भवति । तेन मनु ॥ १०

(बाजी लगाकर अर्थात् दाँव पर धन आदि लगाकर) पशु (भेंड़ा, भैंसा आदि), पक्षी (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) को लड़ाना ये १८ स्थान व्यवहार (मुकदमे) की स्थिति में कहे गये हैं । राजा इन व्यवहार-स्थानों में (मुकदमों के विषयों में इसी प्रकार के अन्यान्य विवादस्थ विषयों में भी) परस्पर विवाद करते (झगड़ते) हुए लोगों के वंशादि-क्रमागत नित्यधर्म का विचारकर निर्णय (न्याय) करे ॥४-८॥

राजा के अभाव में ब्राह्मण द्वारा व्यवहार निर्णय—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥

भाष्य—“अष्टादशपदाभिज्ञं प्राङ्विवाकेतिसंज्ञितम्।

आन्वीक्षिक्यां च कुशलं श्रुतिस्मृतिपरायणम्” ॥

कुतश्चिदतिपातिकायान्तरव्यासङ्गादपावाद्वा यदि स्वयं न पश्येत्तदा विद्वान्ब्राह्मणो नियोज्यः । विद्वत्ता च या व्यवहारविषया सा तदधिकारत एवार्थगृहीता । न हि यो यत्र जानाति स तत्राधिकारमर्हति । धर्मशास्त्रपरिज्ञानं तु रागद्वेषदोषेण विपरीतार्थावधारण-निवृत्त्यर्थमुपयुज्यते । धर्मज्ञस्तु सतोरपि रागद्वेषयोः शास्त्रभयेन न विपर्येति इत्युप-योगवद्धर्मशास्त्रपरिज्ञानम् । व्यवहारदर्शनं तु तदर्थगृहीतम् । येन विना न शक्यते व्यवहारनिर्णयः कर्तुम् तद्विज्ञानं तदधिकाराक्षिप्तम् । यत्तु ज्ञात्वाऽन्यथा क्रियते तन्नवृत्ति-रूपदेशान्तरविषया । वक्ष्यति चैवमर्थं यत्नान्तरमपि— ‘वेदविदस्त्रयः’, ‘राज्ञश्च प्रकृतो विद्वानिति’ । शास्त्रान्तरपरिज्ञानं तु व्यवहारेऽधिक्रियमाणस्यादृष्टाय स्यात् । नियोज्यो विद्वान्स्यादिति पठितव्यम् । नियुज्यादिति नियुज्जीत स्वराद्यत्तोपसृष्टादिति हि कातीया आत्मनेपदं स्मरन्ति ॥९॥

हिन्दी—यदि राजा स्वयं विवादों (मुकदमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे ॥९॥

तीन सदस्यों के साथ न्याय करना—

सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।

सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

भाष्य—सभ्यैरिति जातिविशेषानुपादानेऽप्युत्तरत्र विप्रग्रहणाद्ब्राह्मणैः सहेति च पूर्वत्र ब्राह्मणग्रहणाद्ब्राह्मणा एव विज्ञायन्ते । त्रिग्रहणं त्वेकद्वयोः प्रतिषेधार्थम् । त्रिप्रभृतयस्त्विष्यन्त एव । साक्षिप्रकरणे चैतद्वक्ष्यामः । सभामेव प्रविश्याग्र्यामिति । राजस्था सभां प्रविश्य स्थानासनेषु तद्धर्मेषु । पुनर्वचनं प्रदर्शनार्थं धर्मान्तरनिवृत्त्यर्थं वा तेन राजस्थाने नोपविशति ॥१०॥

हिन्दी—वह (राजा के द्वारा नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण) भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्यज्ञ ब्राह्मणों) के साथ ही न्यायालय में जाकर आसन पर बैठकर या खड़ा होकर (राजा के देखने योग्य उन) कार्यों को देखे अर्थात् उन मुकदमों का फैसला करे ॥१०॥

सभा-लक्षण—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥

भाष्य—उक्तं सभां प्रविश्य व्यवहारान्पश्येदिति । सभाशब्दश्च लोके गृहप्रासाद-विशेषे वर्तते “मयेन निर्मिता दिव्या सभा हेमपरिष्कृतेति” — क्वचित्पुरुषविशेषसंघटिता सभेति तन्निवृत्त्यर्थं सभाया लक्षणमाह । यत्र त्रयो ब्राह्मणा वेदविदः सन्निधीयन्ते, राज्ञश्च सम्बन्धो प्रकृतोऽधिकृतो विद्वानिति । अथवा प्रकृतोऽनन्तरश्लोके सन्निहितः । सेह सभाऽभिप्रेता । ब्रह्मग्रहणं स्तुत्यर्थम् । यथा ब्रह्मणः सभा निरवद्यैवमियमपीति ॥११॥

हिन्दी—जहाँ पर वेदज्ञ (ऋक्, यजुष् तथा सामवेद के ज्ञाता) तीन ब्राह्मण तथा राजा से अधिकार-प्राप्त विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं, उसे (विद्वान् लोग चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्मा की सभा के समान) ‘सभा’ कहते हैं ॥११॥

विमर्श—इस मनु-वचन के आधार पर ही आजकल न्यायालयों में राजनियुक्त न्यायाधीश (जज आदि) तथा जूरी आदि व्यवहार देखते हैं ।

अधर्म होने पर सदस्यों के दोष—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।

शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥

हिन्दी—जिस सभा (न्यायालय) में धर्म (सत्य भाषण) अधर्म (असत्य भाषण) से पीड़ित होकर रहता है अर्थात् असत्य बात कहकर सच्ची बात छिपायी जाती है, (और सभा में स्थित सदस्य) वे ब्राह्मण इस धर्म-पीडाकारक शल्य को दूर नहीं करते अर्थात् असत्य पक्ष को छोड़कर सत्य पक्ष का आश्रय नहीं लेते, सभा में (सदस्य अर्थात् न्यायाधीश रूप से) स्थित वे ब्राह्मण ही अधर्मरूपी शल्य से विद्ध (पीड़ित) होते हैं ॥१२॥

सभा में सत्यभाषण करना—

सभां वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।

अब्रुवन्ब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥१३॥

भाष्य—अनेनार्थेन द्वयं विप्रतिषिध्यते । प्रतिपन्नाधिकारेण मिथ्यादर्शनं न कर्तव्य-गमन्येन च क्रियमाणं नोपेक्षणीयम् । तत्रोभयथा दोषः । अब्रुवन्नन्येन विपरीतेऽनुष्ठीय-माने तूष्णीमासीनो हस्तक्षेपेण वा शास्त्रन्यायविरुद्धं ब्रुवन्किल्बिषी पापभाग्भवति । तेन मनु ॥ १०

नैषा प्रत्याशा कर्तव्या— द्वितीयः प्राड्विवाको मिथ्या पश्यति, स एव योज्यते, अहं तूष्णींभूत उदासीनः किमित्येनसा योक्ष्य इति । सभाप्रवेशनिषेधेन चात्र व्यवहारदर्शनाधिकारप्रतिपत्तिः प्रतिषिध्यते । **सभा वा न प्रवेष्टव्येति** । व्यवहारदर्शनाधिकारो न प्रतिपादनीय इत्यर्थः । प्रतिपन्नश्चेत्समञ्जसं वक्तव्यम् । अनेन त्वनधिकृतस्यापि यदृच्छया सन्निहितस्य मिथ्यापश्यत्सु सभ्येषु विदुषस्तूष्णींभावं नेच्छन्ति । तथा च 'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति' (नारद ३।२) । अथ राजपुरुषपर्यनुयोग आशङ्क्यने किमित्यनधिकृतो ब्रवीति ततश्च तत्प्रदेशादपसर्तव्यम् । तदिदमुक्तं दुर्बलहिंसा विमोचने शक्तश्चेदिति (गौतम सू० २१।१९) ॥१३॥

हिन्दी—या तो सभा (न्यायालय) में जाना ही नहीं चाहिये, या वहाँ जाकर सत्य ही बोलना चाहिये । सभा में जाकर कुछ नहीं कहता हुआ अर्थात् विवाद-विषय को जानकर भी किसी के भय से या पक्ष लेकर सत्य भाषण को छिपाने के उद्देश्य से कुछ नहीं कहता हुआ मनुष्य तत्काल पापभागी होता है ॥१३॥

असत्य बोलनेवाले को दण्डित करना—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।

हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१४॥

भाष्य—**धर्मः** शास्त्रन्यायदेशनियता व्यवस्था । सा चेदधर्मेण तद्व्यतिक्रमरूपेण **हन्यते** विनाश्यतेऽर्थिना प्रत्यर्थिना वा । तथा **सत्यमनृतेन** साक्षिभिर्हन्यते । प्राड्विवाकादयश्च प्रेक्षन्ते न तत्त्वमुद्धरन्ति ततस्ते **हताः** श्वतुल्या भवन्तीति निन्दन्ते । तस्मान्नार्थिप्रत्यर्थिनौ विपरीतमाचरन्तौ सभासद्विरूपेक्ष्यौ, साक्षिणश्च । धर्माधर्मग्रहणेन सत्यानृतग्रहणेन वा सिद्धं श्लोकपूरणमुभयोरुपादानम् । अतो विषयभेदेन व्याख्यातम् ॥१४॥

हिन्दी—जिस सभा (न्यायालय) में सभासदों (न्यायाधीशों जज; मजिस्ट्रेट आदि) के सामने (अर्थी तथा प्रत्यर्थी अर्थात् क्रमशः मुद्दई और मुद्दालह दोनों के द्वारा या इनमें से किसी एक के द्वारा) धर्म-अधर्म से तथा सत्य-असत्य से पीड़ित होता (छिपाया जाता) है, उस सभा में वे सदस्य ही पाप से नष्ट होते हैं (अतः उनका कर्तव्य है कि वे असत्य बोलनेवालों को दण्डित करें) ॥१४॥

धर्मरक्षा करना—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥१५॥

भाष्य—न भयादन्यथादर्शनं कर्तव्यं यतो **धर्मो** व्यतिक्रान्तः सन् **हन्ति** इत्यर्थः—प्रत्यर्थी तत्सहायो राजा वा । तथा धर्म एव पालितः सर्वतो भयमपनुदति नापकर्तुमर्थ्यादयः

क्रुद्धाः शकुवन्ति । तस्मादेवंजानानः सुखदुःखे धर्माधीने इति धर्मो न हन्तव्यः इति । यदि वयं धर्मं हन्यस्तदा सोऽस्मान्सर्प इव रोषितः प्रतिहन्तीत्यतो धर्मो हतः सन्मास्मान्वधीदित्यात्मपरित्राणार्थं धर्मो रक्षितव्यः ॥१५॥

हिन्दी—नष्ट किया गया धर्म ही (इष्ट-अनिष्ट के साथ) नष्ट करता है और सुरक्षित धर्म ही (इष्ट-अनिष्ट के साथ) रक्षा करता है, अत एव धर्म को (असत्य भाषण से) नष्ट नहीं करना चाहिये; क्योंकि नहीं नष्ट हुआ अर्थात् सुरक्षित धर्म ही नहीं मारता (रक्षा करता) है, अथवा— ‘नष्ट हुआ धर्म हम लोगों को नष्ट नहीं करे’ यह जानकर धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिये (अपितु असत्य भाषण करनेवाले को दण्डित कर भाषण के द्वारा धर्म की रक्षा करनी चाहिये) ॥१५॥

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते त्वलम् ।

वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१६॥

भाष्य—वृषलशब्दनिर्वचनेन मिथ्यादर्शी निन्द्यते । न जातिवृषलो वृषलः, किं तर्हि यो वृषस्य कामवर्षिणो धर्मस्यालंकुरुते । निवृत्तिवचनोऽलंशब्दः ।

स वृषल इत्येतमर्थं देवाः प्रतिपन्नाः । मनुष्यास्तु यदि जातिशब्दमेव मन्यन्ते कामं मन्यन्तां प्रमाणतरास्तु देवाः । ते चानेन प्रवृत्तिनिमित्तेन वृषलशब्दप्रयोगं मन्यन्ते । देवग्रहणमर्थवादः । तस्माच्छब्दकाले वृषलैर्न प्राप्तव्यम् । “हन्तव्यो वृषलश्चौर” इत्याद्यासु क्रियासु मिथ्यादर्शी ब्राह्मण एव वृषलशब्देन ग्रहीतव्य इति । अतो वृषलत्वं मा प्रापमिति धर्मं न लोपयेन्न नाशयेदिति वृषलत्वाध्यारोपो निन्दा ॥१६॥

हिन्दी—भगवान् धर्म को ‘वृष’ (काम अर्थात् मनोभिलषित को बरसानेवाला) कहते हैं, जो मनुष्य उसका वारण (नाश) करता है, उसे देवता लोग ‘वृषल’ (धर्म को लेने या काटनेवाला) अर्थात् शूद्र कहते हैं, अतएव धर्म का नाश न करे ॥१६॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्वि गच्छति ॥१७॥

भाष्य—भयाद्धर्मातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत् “धर्म एव हतो हन्ति” इत्यनेनोपदिष्टम् । स्नेहतो न कर्तव्य इत्यनेनोपदिश्यते । यत एकः सुहृद्धर्मस्तत्र स्नेहो भावनीयः । अन्योऽपि मनुष्यः सुहृत् कार्यमपेक्ष्य जहाति जीवन्तम् । योऽपि स्यादत्यन्तमित्रं तस्यापि सौहार्दमा निधनात् । धर्मस्तु मृतमपि पुरुषमन्वेत्यतो न सुहृदपेक्षया मिथ्यादर्शनमुपेक्षा वा कर्तव्या ।

“भार्या पुत्रो मित्रमर्थाश्च रिक्थं नश्यन्त्येते देहनाशे नरस्य ।

धर्मस्त्वेको नैनमुज्झत्यजस्रं तस्माज्जह्यात्पुत्रदारान् न धर्मम् ॥”

यदन्यद्धर्माद्भार्यादि तत्सर्वं शरीरेण समं सह नाशं गच्छति । धर्मादन्यो मृतं न परित्रातुं कश्चित्समर्थ इत्यतः सुहृद्बान्धवानुरोधादपि धर्मो न हातव्यः ॥१७॥

हिन्दी—इस संसार में एक धर्म ही मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है और सब (स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि सम्पत्ति) तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥१७॥

विमर्श—शरीर के साथ स्त्री-पुत्रादि के नष्ट हो जाने का तात्पर्य यह है कि वे सब शरीर के नष्ट होने पर ज्यों के-त्यों यहीं रह जाते हैं, साथ नहीं जाते । अतएव इन स्त्री-पुत्र आदि के साथ स्नेह करने की अपेक्षा धर्म के साथ स्नेह करना श्रेयस्कर है ।

व्यवहार ठीक न देखने से अधर्म—

पादो धर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।

पादः सभासदः सर्वान्यादो राजानमृच्छति ॥१८॥

भाष्य—न चैषा मनीषा कर्तव्या— “अर्थिना प्रत्यर्थिना वाऽन्यतरस्य भूम्याद्यपह्रियते स एव भूम्यपहारदोषभाग्भविष्यति । वयं तु तदकारिणः किमिति दोषवन्तः स्यामः”— यतस्तत्पापं चतुर्था विभज्यते । अर्थवादश्चायम् । न ह्यन्यकृतस्यैनसोऽन्यत्र गमनमस्ति । तेषामपि मिथ्यादर्शननिषेधातिक्रमादुत्पद्यते पापं मिथ्यालम्बनं, राज्ञः स्वयमपश्यतोऽप्यधिकृतराजस्थानीयादिदोषादोषवत्त्वम् । यदि वा राजाधिकृतो मिथ्याचरितेन ज्ञापितः पराजितं दुष्टं न निगृहीते न च पुनः सम्यक् निर्णयं करोति ततः सोऽपि पापभाग्भवति । अधिकृतोपलक्षणार्थं वा राजग्रहणम् । यदा राजा स्वयं मिथ्या पश्यति तदा दुष्यति । यदा राजस्थानीयस्तदा तस्य दोष इत्यर्थः ॥१८॥

हिन्दी—व्यवहार (मुकदमे) को ठीक न देखने पर (न्यायाधीश के उचित न्याय करने पर) अधर्म का प्रथम चतुर्थांश अधर्म करनेवालों को, द्वितीय चतुर्थांश गवाह (साक्षी) को, तृतीय चतुर्थांश सदस्यों (न्यायाधीशों— राजाद्वारा नियुक्त जज, मजिस्ट्रेट आदि) को तथा चतुर्थ चतुर्थांश राजा को मिलता है ॥१८॥

अधर्मी को दण्डित करने पर—

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।

एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दाहो यत्र निन्द्यते ॥१९॥

भाष्य—एष एवार्थो विपर्ययेणोच्यते । यत्र दोषवान् दोषं गोपयितुं न लभते प्रकटीक्रियते तदीयो दोषस्तत्र सर्वं साधु सम्पद्यत इति । ‘यत्र धर्म’ इत्यत आरभ्य मिथ्यादर्शनोपेक्षणप्रतिषेधार्थं निन्दाप्रशंसाभ्यां शुभाशुभफलदर्शनार्था अर्थवादाः ॥१९॥

हिन्दी—जिस सभा (न्यायालय = कचहरी) में निन्दनीय अर्थों (मुद्दई) तथा प्रत्यर्थी (मुद्दालह) निन्दित अर्थात् न्यायपूर्वक दण्डित होता है, उस सभा में पापकर्ता ही पापभागी

होता है और राजा तथा सभासद (न्यायाधीश) को दोष नहीं लगता । अतएव राजा का कर्तव्य है कि वह धर्मात्मा सभासदों को इस काम में नियुक्त करे तथा सभासदों का कर्तव्य है कि वे धर्म को लक्ष्यकर अपराध के अनुसार अपराधी को दण्डित करे) ॥१९॥

व्यवहार देखने में शूद्र का निषेध—

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ।

धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥२०॥

भाष्य—उक्तं ब्राह्मणैः सह धर्मनिर्णयं कुर्यान्मन्त्रिभिश्च मन्त्रज्ञैः । तत्र मन्त्रिणां जातेरविशेषितत्वाच्छूद्रा अपि सभां प्रविष्टा मन्त्रित्वादनुज्ञातव्यवहारनिर्णयास्तद्रता धर्म-व्यवस्थां कथंचित्संस्कृतबुद्धयो ब्रूयुः । न च सर्वत्र व्यवहारे स्मृतिशास्त्रपरिज्ञानमुपयुज्यते येन तदभावादर्थलुप्तत्वादनर्थकः शूद्रप्रतिषेध आशङ्क्येत । तथा हि जयपराजयकारणानि लौकिकप्रमाणवेद्यान्येव साक्ष्यादीनि— अयं साक्षी धार्मिको न चैतस्य केनचित्सम्बन्धेन सम्बन्धी अयं त्वसाक्ष्यसकृद्दृष्टव्यभिचारत्वादित्येवमादि शक्यते व्युत्पन्नबुद्धिना स्वयमुत्प्रेक्षितुं न स्मृतिशास्त्रैकगोचरम् । अतः प्राप्तस्य प्रतिषेधोऽयम् । न च मन्त्रित्वे पुरोहितवज्जाति-नियमः । तथाहि ‘तैः सार्धं चिन्तयेत्’ इत्युक्त्वा ततो ब्राह्मणेन सह चिन्तयेदिति । तेना-यमर्थो यद्यपि कथंचिच्छूद्रो न्यायलेशात्समधिगच्छेत्तथापि राजाधिकरणे विवदतो मन्त्री निग्रहाधिकृतो वा न किञ्चित्प्रब्रूयात् । पूर्वश्लोकार्थप्रतिषेधशेषतया व्याख्येयः । न हि जातिमात्रोपजीविनो वैदुष्यादिगुणरहितस्य धर्मप्रवक्तृत्वनियोगः शक्यो वक्तुम् तस्यैव रूपपरीक्षायां ‘तस्माद्विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था’ इतिवत्प्रतिषेधशेषभूतमिदमनुज्ञानं न पुनरनुज्ञानमेव । अत एव **काममित्याह** । कामशब्दप्रयोगे हि विधित्वं व्याहन्यते ।

अन्ये तु ब्रुवते । ब्राह्मणस्य प्रवक्तृत्वविधानात्तदा नियोज्यो विद्वान्स्याद्ब्राह्मण इति क्षत्रियादयस्त्रयोऽपि वर्णा निषिद्धास्तत्रेह पुनः शूद्रप्रतिषेधो विद्वद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रिय-वैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थ इति शेषं समानम् ।

जातिमात्रमुपजीवीति मात्रशब्दोऽवधारणे । ब्राह्मणजातिमेव केवलामुपाश्रित्य जीवति नाध्ययनादीन् गुणविशेषान्निर्गुणत्वात् । **ब्रुवशब्दः** कुत्सायाम् ॥२०॥

हिन्दी—केवल जाति (ब्राह्मणमात्र) होने से अन्य जाति की जीविका करनेवाला अर्थात् ब्राह्मण की वृत्ति को छोड़कर जीवन-निर्वाह के लिए क्षत्रिय या वैश्य का कार्य करनेवाला अथवा (ब्राह्मणत्व में सन्देह होने पर भी) अपने को ब्राह्मण कहनेवाला किसी व्यवहार (मुकदमें) को देखने में राजा का धर्मप्रवक्ता (न्यायाधीश) हो सकता है, किन्तु किसी प्रकार (ब्राह्मण का कर्म करता हुआ या धर्मात्मा) भी शूद्र धर्मप्रवक्ता नहीं हो सकता ॥२०॥

विमर्श— यहाँ ब्राह्मण के धर्म प्रवक्ता होने का विधान करने से ही शूद्र का निषेध

स्वतः सिद्ध था, फिर इस वचन से शूद्र का निषेध करने से 'योग्य ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय तथा उसके अभाव में वैश्य तो धर्म प्रवक्ता हो सकता है, किन्तु शूद्र कदापि धर्मप्रवक्ता नहीं हो सकता' यह सूचित होता है ।^१

शूद्र के धर्मप्रवक्ता होने से राष्ट्रसंकट—

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।

तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥

भाष्य—पूर्वविधिशेषोऽयमर्थवादः । यस्य राज्ञः शूद्रो धर्मविवेचनं धर्मनिर्णयं करोति तस्य सीदति नश्यति राष्ट्रं प्रजाः कर्दमे गौरिव ॥२१॥

हिन्दी—जिस राजा के राज्य के विचार शूद्र करता है; उस राजा के देखते-देखते उसका राज्य कीचड़ में फँसी हुई गौ के समान दुःखित होता है ॥२१॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।

विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥२२॥

भाष्य—अयमपि पूर्ववदर्थवाद एव । प्रकरणाच्च शूद्रभूयिष्ठता विवादनिर्णये शूद्रविषया द्रष्टव्या । यत्र शूद्रा भूयांसो विवादनिर्णयकारास्तद्राष्ट्रमाशु विनश्यति दुर्भिक्ष-व्याधिपीडाभिः । राष्ट्रनाशे च राष्ट्रपतेर्नाश इत्युक्तं भवति । नास्तिकाक्रान्तमिति दृष्टान्तः । यथा नास्तिकैः परलोकापवादिभिर्लोकायतिकाद्यैराक्रान्तमधिष्ठितमतश्चाद्विजम् । न हि नास्तिकानां ब्राह्मणादिभेदो यथार्थः संकीर्णत्वात् । तदुक्तं वैद्यवणिग्व्यपदेशादिवद-ब्राह्मणादयः । यत्र वा धर्मसंकटे तु न द्विजाः प्रमाणीक्रियन्ते तदद्विजम् ॥२२॥

हिन्दी—जो राज्य बहुत-से शूद्रों तथा नास्तिकों (परलोक तथा ईश्वर को नहीं माननेवालों) से व्याप्त तथा ब्राह्मणों से रहित है, दुर्भिक्ष तथा व्याधियों से पीड़ित वह सम्पूर्ण राज्य ही नष्ट हो जाता है ॥२२॥

लोकपालों को प्रणाम कर व्यवहार आरम्भ—

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।

प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥

भाष्य—धर्मः प्रधानः यस्मिन्नासने भवति तद्धर्मासनम् । राजासने हि राज्य-स्थित्यानुगुण्येनार्थमेव प्रधानीकरोति न्यक्कृत्यापि धर्मम् । व्यवहारनिर्णये तु धर्ममेव प्रधानमाश्रयेदित्यर्थः, न पुनराश्रयभेदोऽनेन ज्ञाप्यते । संवीताङ्गः वस्त्रादिना स्थगित-

१. 'यत्र विप्रो न विद्वान् स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् ।

वैश्यं या धर्मशास्त्रज्ञं, शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ (म०मु०)

शरीरः । प्रणम्य लोकपालेभ्य इन्द्राद्यष्टौ लोकपालास्तान्नमस्कृत्य कार्यदर्शनमारभेतेत्य-
दृष्टार्थमेतद्व्यं अङ्गसम्वरणं लोकपालप्रणामश्च । समाहितः अनन्यचित्तः कार्यदर्शने ।
एवं हि दृष्टार्थं भवति । प्रणामविशेषणं वा समाहितग्रहणम् । यद्यप्यत्र किंचिदुक्तमेव प्रति-
भाति तथापि पद्यग्रन्थत्वान्नातीव पौनरुक्त्यम् । लोकपालेभ्य इति चतुर्थी सम्प्रदाने ।
कथम् ? क्रियाग्रहणं सम्प्रदानसूत्रे चोदितं ‘श्राद्धाय निगृह्यते’ ‘पत्ये शेत’ इत्याद्यर्थम् ।
न च क्रियाग्रहणं गृह्णात्यादिविषयमेव, भाष्येऽनुक्तत्वात् ॥ २३ ॥

हिन्दी—(धर्मकार्य देखने के लिए) धर्मासनपर बैठकर, शरीर को ढँककर,
एकाग्रचित्त होकर तथा लोकपालों को प्रणाम कर सभासद कार्य अर्थात् मुकदमे को
आरम्भ करें ॥ २३ ॥

विमर्श—यहाँ ‘धर्मासन’ शब्द से राजा के द्वारा नियत न्यायाधीश की कुर्सी तथा
‘देह को अच्छादित करने का विधान करने से’ राजा के द्वारा प्रदत्त वस्त्र विशेष (जिसे
चोंगा या गाउन’ कहते हैं) विवक्षित है ।

ब्राह्मणादि-क्रम से व्यवहार-दर्शन—

अर्थानर्थान्विधौ बुध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।

वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

भाष्य—धर्माधर्मविवेक केवलावर्थानर्थौ— न गोहिरण्यादिलाभोऽर्थस्तद्विप-
र्ययोवाऽनर्थः । किं तर्हि । धर्म एवार्थोऽनर्थश्चाधर्म इति बुध्वा हृदि निश्चित्य कार्याणि
पश्येत् । अथवाऽर्थानर्थान्विचि बोद्धव्यौ धर्माधर्मावपि । धर्मस्य सारता बोद्धव्याऽर्थस्य
फलगुता । अथवा यत्र महाननर्थः स्वल्पश्चाधर्मस्तत्रानर्थं परिहरेत् । शक्यो हि महता-
ऽर्थेनेषदधर्मोदानप्रायश्चित्तादिना निराकर्तुम् । सन्निपाते च व्यवहारिणां बहूनां वर्णक्रम
आश्रयितव्यः । एष च दर्शने क्रमो वर्णानां यदा सर्वेषां तुल्यपीडा भवति । यदा त्ववर-
वर्णस्याप्यात्ययिकं कार्यं महद्वा तदा ‘यस्य चात्ययिका पीडा’ इत्यनेन न्यायेन तदेव
प्रथमं पश्येत् न क्रममाद्रियेत । राज्यस्थित्यर्थो हि व्यवहारनिर्णय इत्युक्तमतो न यथा-
श्रुतमाश्रयणीयम् ॥ २४ ॥

हिन्दी—(सभासद क्रमशः प्रजापालन तथा प्रजोच्छेदनरूप) अर्थ तथा अनर्थ
और धर्म तथा अधर्म को जानकर सब कार्यार्थियों (मुद्दई-मुद्दालह) के कार्यों (मुकदमों)
को वर्ण, (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) के क्रम से देखे ॥ २४ ॥

स्वर, वर्ण आदि से अन्तश्चेष्टाज्ञान—

बाह्योर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।

स्वरवर्णोङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

भाष्य—तथा चेदमाह । अनुमानेनापि सत्यानृतवादिता व्यवहारतः साक्षिणां च निश्चेतव्या इति श्लोकार्थः । अतश्च स्वरादिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेन यन्निश्चितलिङ्गं तेनैव परिच्छिन्द्यादित्युक्तं भवति, न पुनः स्वरादिभिरेव सव्यभिचारित्वात्तेषाम् । अनुचितसभा-प्रवेशा हि महाप्रकृतिदर्शनेन सत्यकारिणोऽपि स्वभावतो विक्रियन्ते । प्रगल्भास्तु संवृता-कारा भवन्ति । स्वरश्च वर्णश्चेङ्गितं च स्वरवर्णेङ्गितानि तेषामाकाराः **स्वरवर्णेङ्गिताकाराः** । आकारो विकारः । स्वाभाविकानां हि स्वरादीनामन्यथात्वम् । तैर्विभावयेन्निश्चिनुयात् । **भावमभिप्रायमन्तर्गतं** मनुष्याणां विवादिसाक्ष्यादीनाम् । तत्र स्वरस्य विकारो वाचि गद्-गदरुदितादि । वर्णस्य गात्ररूपविपर्ययादि । इङ्गितं स्वेदवेपथुरोमाञ्चादि । **चक्षुषा** सम्भ्रम-क्रोधदृष्टिपातेन । **चेष्टितेन** हस्तनिक्षेपभ्रूविक्षेपादि । स्वसंवेद्यं चैतत् यद्वृत्तमानमप्यभि-प्रायं स्वरादयः प्रकाशयन्ति निपुणतो लक्ष्यमाणाः । यतः प्रसिद्धमेतेषां गूढाभिप्रायप्रक-टनसामर्थ्यम् ॥२५॥ तथा हि लोके—

हिन्दी—(न्यायाधीश) बाहरी चिह्नों से, स्वर (बोलने के समय रुकना घबड़ाना, गद्गद होना आदि) वर्ण (मुख का उदास या प्रसन्न होना आदि), इङ्गित (सामने नहीं देख सकना अर्थात् नीचे की ओर से इधर, उधर देखना), आकार (कम्पन, स्वेद, रोमाञ्च आदि का होना) और चेष्टित (हाथों को मलना, अङ्गुलियों को चटकाना, अङ्गों को मरोड़ना आदि) से मनुष्यों (अर्थी, प्रत्यर्थी, साक्षी आदि) के भीतरी भावों को मालूम करे ॥२५॥

उक्त विषय में कारण कथन—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।

नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥२६॥

भाष्य—दृष्टशक्तिताऽनेन श्लोकेन स्वरादीनां पूर्वोक्ताऽर्थ्याधिगमेन दर्शयतीत्यपौन-रुक्त्यम् । तत्राक्रियन्ते विक्रियन्त इत्याकारा इङ्गितादयः । इङ्गितं व्याख्यातम् । व्यक्ति-भेदाद्बहुवचनम् । **गतिः** पूर्वश्लोकादत्राधिका । सा प्रस्खलन्ती स्वभावतोऽन्यथाभूता । **भाषितं** पौर्वापर्यविरुद्धं वचनम् । **वक्त्रविकार** आस्यशोषादिः । शेषं पूर्वश्लोक एव व्याख्यातम् । एतैर्विकृतैरन्तर्गतं चित्तं लौकिकैरन्यत्रापि गृह्यत इति समासार्थः ॥२६॥

हिन्दी—आकार, इङ्गित, गमन, चेष्टा, भाषण तथा नेत्र एवं मुख के विकारों से (मनुष्यों का) भीतरी भाव मालूम होता है ॥२६॥

नाबालिग तथा वन्द्या स्त्री आदि के धन की राजा द्वारा रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।

यावत्स स्यात्समावृत्तो यावद्वाऽतीतशैशवः ॥२७॥

भाष्य—ननु च व्यवहारदर्शनं वक्तव्यतया प्रस्तुतम् । तत्र कः प्रसङ्गो बाल-
धनरक्षायाः ।

उच्यते । विवादपदतामेवैतद्विषयान्निवर्तयितुमिदमारभ्यते । बालधनं राज्ञा स्वधन-
वत्परिपालनीयम् । अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा मयेदं रक्षणीयं मयेदमिति विवदेरन् । न
चान्यः प्रसङ्गोऽस्ति । आशङ्क्यमानव्यवहारवच्च । न केवलेषु राजधर्मेषूपदिश्यते अतोऽ-
स्मिन्नेवावसरे वक्तव्यम् । बालो दायादोऽस्य तदिदं **बालदायादिकम्** । दायादः स्वाम्यत्रो-
च्यते । बालस्वामिकं धनं **तावद्राजा रक्षेद्यावदसौ समावृत्तो** गुरुकुलात्प्रत्यागतो
यावद्वाऽतीतशैशवः अतिक्रान्तबालभावः । अयं च विकल्पः । यो गृहशैशवो भवति
तदर्थमतीतशैशवमुच्यते— यस्तु व्रतकः स निवृत्तेऽपि शैशवे आ समावर्तनात्प्रतिपाल्य-
धनः स्यात् । अथवा द्विजातीनां समावर्तनमवधिरन्येषां शैशवात्ययः ॥२७॥

हिन्दी—राजा को नाबालिग या अनाथ के धन को तब तक रक्षा करनी चाहिये,
जब तक उसका समावर्तन संस्कार (ब्रह्मचर्य की पूर्ति के बाद का तथा गृहस्थाश्रमों में
प्रवेश के पहले का संस्कार विशेष) न हो जाय या उसकी अवस्था सोलह वर्ष की न
हो जाय ॥२७॥

विमर्श—पूर्ववचन (३।१) के अनुसार ३६ या १८ या ९ वर्षों में गुरुकुल में वेदा-
ध्ययन समाप्त कर समावर्तन संस्कार का विधान है, अथवा किसी कारण विशेष से उक्त
समय से पहले समावर्तन हो जाने पर भी कम से कम १६ वर्ष की अवस्था उस सम्पत्ति
के स्वामी की न हो जाय तब तक उसकी सम्पत्ति की अन्यायपूर्वक उस धन को हरण
करनेवाले चाचा आदि से रक्षा करे, १६ वर्ष की अवस्था होने पर बचपन नहीं रहता ।

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।

पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

भाष्य—यः कश्चिदनाथस्तस्य सर्वस्य धनं राजा यथावत्परिरक्षेत् । तथा चोदाहरण-
मात्रं वशादयः । एवं प्रजापालनमनुष्ठितं भवति । पूर्वस्तु श्लोकः कालनियमार्थः । **वशा**
वन्ध्या । **अपुत्राऽसमर्थपुत्राऽविद्यमानपुत्रा दुर्गतपुत्रा वा** । वशाश्चापुत्राश्चेति द्वन्द्वः । ननु
च वशाऽप्यपुत्रैव । सत्यम् । उभयोपादानं तु सत्यपि भर्तारि तस्याः संरक्षणार्थम् । तस्यां
ह्यधिविन्नायां भर्ता निरपेक्षो भवति । **निष्कुलाग्रहणं** तासां विशेषणं यासां न कश्चिद्देव-
रपितृव्यमातुलादिः परिरक्षकोऽस्ति स्त्रीत्वाच्च स्वयमसमर्थाः बान्धवास्तु मत्सरिणः ।
तासामेतदुच्यते । बन्धुभिर्हि स्त्रीणां शीलशरीरधनानि रक्षितव्यानि । तदुक्तम्— (नारद
१३।२८-२९)

“विनियोगोऽस्ति रक्षासु भरणे च स ईश्वरः । परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ।
तत्सपिंडेषु वाऽसत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः॥”

गा तु स्वयमेव कथंचिच्छक्ता न तत्र बान्धवानां व्यापारोऽस्ति । अत एवाह ।
आतुरास्विति । असामर्थ्यमेतेन लक्ष्यते । अन्यैस्त्वातुरभर्तृका आतुरा व्याख्याता ।
 अविधवाऽपि भर्तुरसामर्थ्याद्राज्ञैव रक्ष्या स्यादिति निर्मनुष्याणामेतत् । कुलं बन्धुजातं
 यासां नास्ति ताः **निष्कुलाः** । अन्ये तु कुलटां निष्कुलामाहुः । तासामपि वेशाद्युपार्जितं
 धनं अपतितानां राज्ञा रक्ष्यम् । अस्मिंश्च पक्षे स्वतन्त्रनिष्कुलाग्रहणम् । **पतिव्रतासु**
विधवासु । मृतभर्तृका विधवा । धव इति भर्तृनाम । तद्विरहिता विधवा । सा चेत्पतिव्रता
 भवति तदा सा रक्ष्यधना । व्यभिचाररतानां तु स्त्रीधनानर्हत्वं स्मृत्यंतरे पठ्यते ।

“अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका ।

व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न तु साऽर्हति ॥” इति ।

तस्यास्तु निष्काशनं विहितम् । निष्काशनं च प्रधानवेश्मनो बहिरवस्थापनम् । न
 तु निर्वासनमेव । यतः पतितानामपि तासां गृहांतिके वासो भक्ताच्छादनमात्रदानं च
 विहितम्—

एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥

तेन यः कश्चित्स्त्रीणां निर्वासनविधिः ‘स्त्रीधनं द्रव्यसर्वस्वम्’ इत्यादिषु श्रूयते स
 एवं विषय एव द्रष्टव्यः । तथापि यावद्भिक्षोत्सर्पणादिना किंचिदर्जितं तदर्हत्येव । न
 बान्धवा अपहरेयुः । इह त्वस्मिन्नेव निमित्ते आधिवेदनं विहितं न तु स्त्रीधनापहारः ।
 तथा ह्याह—

“मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।

व्याधिता चाधिवेतव्या हिंसाऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥” (मनु० ९।८०)

अतश्च मानवस्मृतिबलेन ‘स्त्रीधनं न तु साऽर्हति’ इत्येषा स्मृतिरेवं व्याख्यायते ।
 आधिवेदनिकं स्त्रीधनमेषा नार्हति नैतस्यै देयमित्यर्थः । यदुक्तम् “अधिविन्नस्त्रियै
 दद्यादाधिवेदनिकं समम्” इति न तु प्राग्दत्तमस्या अपहर्तव्यम् । वयं तु ब्रूमः । पुरुष-
 द्वेषिण्या व्यभिचाररतायाश्च युक्त एवापहारः । यत इहाप्युक्तम्—

“अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।

सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा” ॥ (मनु० ९।७८)

भूषणपरिच्छदैर्वियुक्ता

कर्तव्येत्यर्थः ॥२८॥

हिन्दी—वन्ध्या, पुत्र या कुल (सपिण्ड) से हीन पतिव्रता विधवा और रोगिणी
 स्त्रियों की सम्पत्ति की रक्षा भी पूर्वोक्त वचन (८।२७) के अनुसार ही राजा को करनी
 चाहिये ॥२७॥

विमर्श—वन्ध्या— पुत्रोत्पादन न कर सकने के कारण जिसका पति दूसरा विवाह कर लिया हो तथा प्रथम स्त्री के जीवन-निर्वाह के लिए कुछ धन देकर उसकी रक्षा से सर्वथा निरपेक्ष हो गया हो; वह वन्ध्या स्त्री । पुत्र से हीन-जो सधवा पुत्र-पौत्रादि से रहित हो तथा पति के परदेश गमन आदि किसी कारण विशेष से अरक्षितावस्था में हो वह स्त्री । कुल से हीन— अपने वंश के सात पुरुषों (सपिण्डों) से रहित एवं अरक्षित सम्पत्तिवाली स्त्री । इन स्त्रियों के तथा पतिव्रता आदि अन्य स्त्रियों के धन को दायाद (बन्धु-बान्धव आदि) या दूसरा कोई व्यक्ति अन्याय से दबाकर अपने अधीन न कर ले, इस कारण राजा इन स्त्रियों के धन की रक्षा का प्रबन्ध करे । इसी वचन के अनुसार आजकल ‘कोर्ट ऑफ वार्ड्स’ द्वारा राजा ऐसी सम्पत्तियों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर उनकी रक्षा करता है ।

[एवमेव विधिः कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥२॥]

[हिन्दी—(राजा) पतित स्त्रियों (के धन) के विषय में भी यह (८।२८) व्यवस्था करे, उनके लिए उचित भोजन वस्त्र (खाने के लिए अन्न तथा पहनने के लिए वस्त्र) दे और वे स्त्रियाँ घर के पास ही निवास करें ॥२॥]

जीवित स्त्रियों का धन लेनेवाले का शासन—

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।

ताज्छिप्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२९॥

भाष्य—बान्धवानां स्त्रीधनमपहरतामयं चौरदण्डः । ते हि बहुभिरुपधाभिरपहरन्ति । अस्वतन्त्रैषा स्त्री किं ददाति किं वा भुंक्ते वयमत्र स्वामिन इति अचौराशंकया चौरदण्डो विधीयते । जीवन्तीनां तासां स्वबान्धवा देवरादयस्तद्धनं ये हरेयुस्ताज्छिप्यात् पृथिवीपतिर्निगृह्णीयात् । चौरदण्डो वक्ष्यमाणः “येन येन यथाङ्गेन स्तेनोनृषु विचेष्टते । छेत्तव्यं तत्तदेवान्यत्तन्मनोरनुशासनमिति” (८।३२१) । स्वबन्धुभ्यश्चैतद्विशेषेण राजा रक्षितव्यम् । चौररक्षा तु सर्वराष्ट्रविषया विहिता ॥२९॥

हिन्दी—उन जीवित स्त्रियों (८-२८) का धन जो बान्धव आदि रक्षा करने के बहाने से या अन्य प्रकार से दबाकर ले, धर्मात्मा राजा चोर के समान दण्डित कर उनका शासन करे ॥२९॥

अस्वामिक धन की रक्षा का समय—

प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।

अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिहरित् ॥३०॥

भाष्य—यद्द्रव्यं स्वामिनो नष्टं प्रमादात्कथंचित्पथि गच्छतो भ्रष्टमरण्ये कान्तारे वा स्थापयित्वाऽरण्यपालैरन्यैर्वा राजपुरुषैर्लब्धं राजसकाशमानीतं तद्राज्ञा रक्षां कृत्वा राजद्वारे राजमार्गे वा प्रकाशं स्थापयितव्यम् । पटहघोषणेन वा कस्य किं हारितमिति प्रकाशयितव्यम् । यतः प्रदेशाल्लब्धं तस्मिन्नेव प्रदेशे रक्षिपुरुषाधिष्ठितं कर्तव्यम् । एवं त्रीणि वर्षाणि स्थापयितव्यम् । तत्रार्वाक् त्रिभ्यो वर्षेभ्यो यः कारणत आत्मीयं ज्ञापयेत्तस्योद्धृतवक्ष्यमाणेषु भागादिभागकं समर्पयितव्यं, परतः स्वकोष्ठे प्रवेशनीयमिति ।

प्रनष्टः स्वामी यस्य रिक्थस्य तत्प्रनष्टस्वामिकम् । प्रनष्टोऽविज्ञातः । रिक्थं धनम् । त्रयाणामब्दानां समाहारस्त्र्यब्दम् । त्रिवर्षवत् त्र्यब्दे डीबभावः । अब्दशब्दः संवत्सरपर्यायः । निधापयेत्स्थापयेत् । अर्वाक्त्र्यब्दात्पूर्वं त्रिभ्यो वर्षेभ्यः । हरेत्स्वामी स्वीकुर्यात् । अर्वाक्शब्दोऽवधौ दिग्देशादिकात् पूर्वमाह ।

अन्ये तु नृपतिर्हरेदिति भोगानुज्ञानमपहारमाहुः । न हि ऊर्ध्वमपि त्रिभ्यो वर्षेभ्यः परकीयस्य द्रव्यस्यापहारो युक्तः । तस्मात्त्रिभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमनागच्छति राज्ञा स्वामिनि भोक्तव्यम् । तैरयं श्लोकः कथं व्याख्यानीयो “यत्किंचिद्दशवर्षाणीति” (८।१४७) । यदि च परकीयस्यापहारो न युक्त इत्युच्यते भोगोऽपि नैव युक्तः । परकीयं वस्त्रादिवद्भुज्यमानं नश्यत्येव । तत्रापहारोपचारो युक्तः, भुक्तेरेवापहारफलस्य सद्भावात् । गजतुरगादेस्तु कीदृशो भोग इति वाच्यम् । तस्मान्न यथाश्रुतार्थत्यागे कारणमस्ति । हरतिश्च गृह्णात्यर्थे असकृद्दृष्टप्रयोग ऋक्थं हरेदित्यादौ । तस्मात्परेण नृपतिर्हरेत्स्वीकुर्यादित्ययमेवार्थः ॥३०॥

हिन्दी—राजा अस्वामिक (लावारिस) धन को तीन वर्ष तक सुरक्षित रखे (‘यह किसका धन है? कहाँ तथा किस प्रकार खो गया था?’ इत्यादि घोषणाकर राजद्वार आदि सबके देखने योग्य स्थान पर रखे), तीन वर्ष के पहले उस धन का स्वामी (प्रमाण देकर) उस धन को ले जावे तथा तीन वर्ष के बाद राजा उस धन को अपने अधीन कर ले अर्थात् अपने कोष में सम्मिलित कर ले ॥३०॥

अस्वामिक धन का परिचयपूर्वक लेना—

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।

संवाद रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१॥

भाष्य—कथं पुनः स्वामी प्रनष्टे धने स्वामित्वं ज्ञापयेदत आह । यः कश्चिदागत्य ममेदं स्वं द्रव्यमिति ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । अनुयोज्यः प्रष्टव्य इत्यर्थः । कोऽसावनुयोगविधिः? को भवान्? किं द्रव्यं हारितं किंरूपं किंपरिमाणं किंसङ्ख्याकं सम्पतितमपतितं वा, यदि पतितं, कस्मिन्देशे? तथा कुत आगमितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगः कर्तव्यः । स यदि संवादयति रूपसंख्यादीन् । ‘रूपम्’—प्राणिवस्त्रादिविषयं शुक्लं

वस्त्रं गौर्वेत्येवमादि । तथा ‘संख्या’— दश गावो वा युगानि वा । आदिग्रहणाद्धस्तादि-
प्रमाणं सुवर्णादिपरिमाणं प्रकीर्णरूपकं वा । एतत्सर्वं संवादयति तदाऽसौ स्वामी भवति ।
अतस्तद्द्रव्यमर्हति स्वीकर्तुम् । संवाद उच्यते । यादृशमेकेन प्रमाणेन परिच्छिन्नं तादृश-
मेवास्यानेन परिच्छिद्यते । रूपसंख्यादिग्रहणं च प्रदर्शनार्थं स्वामित्वकारणानामन्येषामपि
साक्ष्यादीनाम् ॥३१॥

हिन्दी—(उस अस्वामिक अर्थात् लावारिस धन को) जो कोई ‘यह मेरा है’ ऐसा
कहे, उससे राजा विधिपूर्वक प्रश्न करे (धन का रंग, रूप, तौल या गिनती आदि प्रमाण,
नष्ट होने का स्थान तथा समय पूछे) और उसके कहने के अनुसार धन का रंग संख्या,
आदि प्रमाण ठीक-ठीक मिल जाय तब उस धन का वह मनुष्य अधिकारी होता है
(अतएव राजा वह धन उस मनुष्य को दे दे) ॥३१॥

अस्वामिक धन के लिए असत्य बोलने पर दण्ड—

आवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।

वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥३२॥

भाष्य—मिथ्या प्रवर्तमानस्य दण्डोऽयमुच्यते । यो न ज्ञापयति नष्टस्य धनस्य
देशं कालं चास्मिन्देशे काले वा हारितम् । **तत्त्वतः** परमार्थतः । **वर्णं** शुक्लादिकम् ।
रूपं पटीशाटकयुगं वेत्यादिकमाकारम् । **प्रमाणं** पञ्चहस्तायामं सप्तहस्तमात्रं वा ।
आवेदयानः । तदा **तत्समं** यावति द्रव्ये मिथ्याप्रवृत्तस्तत्तुल्यं दण्डमर्हति ॥३२॥

हिन्दी—अस्वामिक (लावारिस) धन के नष्ट होने (भूलने) के स्थान, रंग रूप तथा
प्रमाण को ठीक-ठीक नहीं बतलाने पर (उस धन को अपना कहनेवाले व्यक्ति से) जितना
धन हो, उतना ही दण्ड ले (जुर्माना करे) ॥३२॥

अस्वामिक धन से ग्राह्य राजकर—

आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगताश्रयः ।

दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३३॥

भाष्य—आददीत गृहीयात्षष्ठं भागं दशमं द्वादशं वा प्रनष्टलब्धाद्द्रव्यात् ।
अवशिष्टं स्वामिनेऽर्पयेत् । तत्र प्रथमे वर्षे द्वादशो भागो द्वितीये दशमस्तृतीये षष्ठ इति ।
अथवा रक्षाक्लेशक्षयापेक्षो भागविकल्पः । **सतां धर्ममनुस्मरन्** शिष्टानामेष समाचार
इति जानानः ॥३३॥

हिन्दी—अस्वामिक (लावारिस) धन को अपना बतलानेवाला व्यक्ति (उस धन के
रंग रूप, नष्ट होने का स्थान, प्रमाण आदि ठीक-ठीक बतला दे, तब राजा उस धन में
से पात्र के अनुसार षष्ठांश; दशमांश या द्वादशांश धन को धर्म का स्मरण करता हुआ)

(‘ऐसे अस्वामिक धन में से इतना भाग लेना राजा का धर्म है’ यह मानता हुआ) ग्रहण करे (तथा शेष धन उस व्यक्ति को देवे) ॥३३॥

चौरों को दण्ड—

प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।

यांस्तत्र चौरान् गृहीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥३४॥

भाष्य—प्रनष्टमधिगतं प्रनष्टाधिगतं पूर्वं प्रनष्टं पश्चादधिगतम् । अधिष्ठितं युक्तै-
स्तत्परैरारक्षपुरुषैः । तिष्ठेत् । तथास्थितमपि यदि केचन चौरा गृहीयुस्तान् राजा
इभेन हस्तिना घातयेत् । हस्तिग्रहणमदृष्टार्थम् ॥३४॥

हिन्दी—यदि चोरी किये गये हुए धन को राजपुरुष (पुलिस आदि के) द्वारा प्राप्त कर लें तो राजा योग्य रक्षकों के द्वारा उस धन की रक्षा करावे तथा उस धन के चोर को हाथी से मरवा डाले ॥३४॥

विशेष—‘शतादभ्यधिके वधः’ अर्थात् ‘सौ अशर्फियों से अधिक की सम्पत्ति होने पर प्राणदण्ड करे’ ऐसा वचन होने से उससे कम धन होने पर प्राणदण्ड न दे’ यह गेविन्दराज का कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ‘सन्धि छित्ता.....(९।२७६) वचन के अनुसार थोड़े धन के चुराने पर भी प्राणदण्ड का विधान होने से उक्त वचन ‘शताद-
भ्यधिके वधः’ विशेषतः कथित वध से भिन्न विषयक है ।

चोरी किये गये धन में से ग्राह्य राजभाग—

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।

तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥३५॥

भाष्य—निखातायां भूमौ गुप्तं स्थापितं धनं निधिरुच्यते । वर्षशतिका वर्षसहस्रि-
काश्च निधयो भवन्ति । तत्र यदि भूमेर्विदार्यमाणायाः कथञ्चित्केनचिन्निधिरासाद्यते स तु
राजधनम् । तथा च गौतमः ‘निध्यधिगमो राजधनम्’ इति (१०।४३) । एतच्चास्मर्य-
माणनिधातृके निधौ द्रष्टव्यम् । तस्याऽख्याता षष्ठं लभेतेत्युक्तम् । अयं तु श्लोको यत्रा-
ख्यातैव निधाता तत्पुरुषो वा पितृपितामहादिस्तद्विषयो द्रष्टव्यः । ममायं निधिरिति यो
ब्रूयात्सत्येन प्रमाणेन ज्ञापयेदित्यर्थः । तस्याददीत षड्भागमिति । निश्चिते तत्स्वामिकत्वे
राज्ञः षष्ठादिभागग्रहणम् । विकल्पश्चाऽऽख्यातृगुणापेक्षया ॥३५॥

हिन्दी—स्वयं या राजपुरुष (पुलिस आदि) के द्वारा प्राप्त चोरी किये गये धन को जो मनुष्य सत्य-सत्य (उस धन का रङ्ग, रूप, संख्या या तौल आदि प्रमाण, भूलने का स्थान आदि ठीक-ठीक) बतला दे, (राजा पात्रानुसार) उस धन में से षष्ठांश या द्वादशांश लेकर शेष धन उस मनुष्य को वापस दे दे ॥३५॥

परधन को अपना कहनेवाले को दण्ड—

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।

तस्यैव वा निधानस्य संख्ययाल्पीयसीं कलाम् ॥३६॥

भाष्य—यस्तु मयाऽयं निहितो मत्पूर्वजेन वेति प्रतिज्ञां न साधयति सोऽसत्यवादी दण्ड्यः । यावत्तस्य वित्तमस्ति ततोऽष्टमं भागं तस्यैव वा निधानस्याल्पायसीं कलां मात्रां भाग मित्यर्थः । न तु तदेव द्रव्यं सुवर्णादिकं दापयेत्किन्तु तत्परिमाणमन्यद्वा सममूल्यं यथा धनमात्रया दण्डितोऽवसादं न गच्छेद्विनयं वा ग्राह्येत । अनुबन्धादिविशेषापेक्षया पुरुषगुणापेक्षया च विकल्प आश्रयणीयः । आतिशायनिकात्पूर्वदण्डात्स्वल्पो दण्ड इति ज्ञापयति । तेन यस्य बहु वित्तं स्वल्पो निधिस्तत्र निध्यपेक्षां मात्रामष्टमांशम् अर्थादीनां दण्ड्यः । सा ह्यल्पीयसी भवति ॥३६॥

हिन्दी—दूसरे के धन को अपना बतलानेवाले अपराधी को उसके धन का अष्टमांश या उसी धन (जिसे वह अपना बतलाता था) के बहुत थोड़े भाग से दण्डित करे अर्थात् उससे जुर्माना वसूल करे ॥३६॥

विद्वान् ब्राह्मण सम्पूर्ण धन का अधिकारी—

विद्वान्स्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।

अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥३७॥

भाष्य—विद्वान्ब्राह्मणः पूर्वेः पित्रादिभिरुपहितं निधिं यदा पश्येत्तदा सर्वमेवाददीत । न राज्ञे पूर्वोक्तं भागं दद्यात् । अस्यार्थवादः सर्वस्याधिपतिर्हि सः । तथा चोक्तं सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदमिति । एतच्चाशेषतो ग्रहणं यो ब्राह्मणस्वामिक एव निधिः । यस्त्वविज्ञातस्वामिकः तस्मिन्विद्वद्ब्राह्मणदृष्टेऽप्यस्त्येव राज्ञो भागः । यतो वक्ष्यति “निधीनां तु पुराणानाम्” इति ॥३७॥

हिन्दी—विद्वान् ब्राह्मण तो पूर्वस्थापित धन को देखकर सब धन ले ले (षष्ठांश-भाग भी राजा को न दे) क्योंकि वह (विद्वान् ब्राह्मण) सबका स्वामी है ॥३७॥

विमर्श—इसी कारण ‘सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदम्’ १।१००) अर्थात् ‘सब धन ब्राह्मण का है’ ऐसा वचन कहा गया है । अतः ‘नारद तथा’ याज्ञवल्क्य के वचनों के अनुसार राजा द्वारा दूसरे का स्थापित धन ब्राह्मण को लेने के लिए कथित यह वचन होने से

१. नारदः—“परेण निहितं लब्ध्वा राजा ह्यपहरेन्निधिम् ।

राजगामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादृते ॥” (म०मु०)

२. ‘राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।

विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥’ (या०स्मृ० २।३४)

मेघातिथि तथा गोविन्दराज का 'मेरा यह धन है' (८।३५) इस वचन से कथित षष्ठांश या द्वादशांश भाग जो राजा को लेने के लिए कहा गया है 'यह पिता आदि के स्थापित धन के विषय में है' कथन ठीक नहीं है ।

[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत् ।

तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥३॥]

[हिन्दी—ब्राह्मण निधि (स्थापित धन) को लेकर राजा के लिए निवेदन करे अर्थात् देवे, उससे दिये हुए का वह भोग करे बिना दिए (भोग करने पर वह) चोर होता है ॥३॥]

भूगर्भ से प्राप्त धन का अधिकारी—

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।

तस्माद्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥३८॥

भाष्य—यो राज्ञा स्वयं निधिरधिगतस्तस्मान्निधेरयं ब्राह्मणेभ्यो दाननियमो राज्ञः । कोशशब्देन वित्तसञ्चयस्थानमुच्यते । पुराणं निहितं क्षिताविति निधिरूपानुवादः ॥३८॥

हिन्दी—पृथिवी में गड़े हुए (अस्वाभाविक अर्थात् लावारिश) प्राचीन जिस धन को राजा देखे अर्थात् प्राप्त करे, उसमें से आधा ब्राह्मण को दे और आधा अपने खजाने में जमा करे ॥३८॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।

अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥३९॥

भाष्य—अन्येनापि दृष्टस्य निधे राज्ञा भागः पूर्वोक्तो ग्रहीतव्य इत्यस्य विधेरर्थ-वादोऽयम् । निधीनां हि पुराणानामिति धातूनामेव च क्षितौ । अयं त्वप्राप्तविधिः । सुवर्णरूप्यादि मृदः सिन्दूरकालाञ्जनाद्याश्च धातवः । सुवर्णाद्याकरभूमिर्यः खनति यो वा पर्वतादिषु गौरिकादि धातूनुपजीवति तेनापि पूर्ववद्राज्ञे भागो दातव्यः । अर्धभागिति । अर्धशब्दोऽशमात्रवचनः समासनिर्देशात् । यथा ग्रामार्धो नगरार्धमिति । नपुंसकलिङ्गस्तु समप्रविभागः । इह तु समासे लिङ्गविशेषप्रतिपत्त्यभावात्पूर्ववत् षड्दशद्वादशादेर्भागस्य प्रकृतत्वात्तद्वचनो विज्ञायते । अर्धं भजत एकदेश गृह्णातीत्यर्थः । यत्र हेतू रक्षणादिति । यद्यपि क्षितौ निहितस्य केनचिदज्ञानात्र राजकीयरक्षोपयुज्यते तथापि तस्य बलवता-ऽपहारः सम्भाव्यते । अतोऽस्त्येव रक्षाया अर्थवत्त्वम् । एतदर्थमेवाह भूमेरधिपतिर्हि सः । प्रभुरसौ भूमेस्तदीयायाश्च भुवो यल्लब्धं तत्र युक्तं तस्य भागदानम् ॥३९॥

हिन्दी—पृथ्वी में गड़े हुए प्राचीन (ब्राह्मणों को छोड़कर दूसरे के धन का तथा धातुओं के खानों) का आधा भाग रक्षा करने से राजा लेवे; क्योंकि वह पृथ्वी का स्वामी है ॥३९॥

चुराये गये धन का वितरण—

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।

राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥४०॥

भाष्य—चौरैर्यत्रीतं किञ्चिद्धनं तद्राजा प्रत्याहृत्य नात्मन्युपयुञ्जीत । किंतर्हि य एव मुषितास्तेभ्य एव प्रतिपादयितव्यम् । सर्वग्रहणेन च चण्डालेभ्योऽपि देयमिति । ‘चौराहतम्’ इत्यन्यस्मिन्पाठे चौरैः आहतमिति विगृह्य ‘साधनं कृतेति’ समासः । पाठान्तरे चौरहतमिति तृतीयेति योगविभागात्पूर्ववद्वा समासः । अयं त्वत्रार्थो यच्चौरैर्हृतमशक्यप्रत्यानयनं तद्राज्ञा स्वकोशादातव्यम् ।

उत्तरश्लोकार्ध एवं योजनीयः । **राजा तदुपयुञ्जान इति** । अनेकार्थत्वाद्धातूनामुपपूर्वो युजिर्लक्षणयाऽप्रतिपादन एव द्रष्टव्यः । यो ह्यन्यस्मै प्राप्तकालं धनं न ददाति स्वप्रयोजनेषु विनियुङ्क्ते तेन तदीयमेव तदुपयुक्तं भवतीति युक्तमुच्यते । **राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् । किल्बिषं पापम् ॥४०॥**

हिन्दी—राजा को चोरों के द्वारा चुराया गया धन (उस चोरों से लेकर) सब वर्णों के लिए दे देना चाहिये । उस धन का उपयोग करता (अपने काम में लाता) हुआ राजा चोर के पाप को प्राप्त करता है ॥४०॥

जाति-देशादि के अनुसार व्यवस्था—

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्माश्च धर्मवित् ।

समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥४१॥

भाष्य—कुरुकापिशकाश्मीरादिदेशो नियतावधिः ‘जनपदम्’ । तत्र भवा धर्मा ‘जानपदाः’ । केचित् तत्र भवन्ति ये तद्देशव्यपदेश्यैरनुष्ठीयन्ते । अथवा तन्निवासिनो जनाः मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् जनदशब्देनाभिधीयन्ते । तेषामनुष्ठेया ‘जानपदाः’ । ‘तस्येदमिति’ (पा० ४।३।१२०) तद्धितः । जातेर्जानपदा **जातिजानपदा** इति षष्ठी-समासः । जातिमात्रविषया देशधर्मा राज्ञा परिपालनीयाः । **समीक्ष्य** विचार्य । किमाप्नायैर्विरुद्धा अथ न—तथा पीडाकराः कस्यचिदुत न—एवं विचार्य येऽविरुद्धास्तान्प्रतिपादयेदनुष्ठापयेदित्यर्थः । तथा च वक्ष्यति “सद्भिराचरितं यत्स्यात्” इति, (८।४६) । अथवा जातयश्च ते जानपदाश्चेति विशेषणसमासः । **जातिशब्देन** च नित्यत्वं लक्ष्यते । प्रशंसामात्रं चैतद्देशधर्माणाम् । यथा जातिर्नित्या एवं देशधर्मा अपि शास्त्राविरुद्धा नित्याः । ते नित्यवदनुष्ठेया दृष्टार्था गोप्रचारोदकक्षरणादयः । यथा ग्रामीणा अत्र प्रदेशे गावो न चारणीया इति समयमाश्रयन्ति कस्यचित्कार्यस्य सिद्ध्यर्थं तत्र यो व्यतिक्रामति स राज्ञा दण्ड्यः ।

अथवा जनपदे भवा 'जानपदा' देशनिवासिन उच्यन्ते । जात्या जानपदा 'जाति-जानपदाः' । जातिर्जन्मोत्पत्तिरिति यावत् । एतेन देशसम्बन्धस्य पुरुषाणां नित्यता लक्ष्यते । ये तद्देशजास्तद्देशाभिजनास्तन्निवासिनश्च गृह्यन्ते तेषां सर्वविशेषणविशिष्टा-नामनिदं प्रथमतो जाता ये धर्मास्ते जातिजानपदशब्देनोच्यन्ते । 'वृद्धाच्छेति' तद्धिते प्रसक्ते छान्दसत्वादनेव कृतः ।

अथवाऽभेदोपचारात् पुरुषशब्दस्तत्सम्बन्धिषु धर्मेषु प्रयुक्तः । तेनायं देशनियमो धर्माणां स एवंविधात्पुरुषात्प्रतिद्रष्टव्यः । एते हि देशधर्मा म्लेच्छानां न पुनरार्याणाम् । ते हि तिर्यक्समानधर्माणोऽन्यत्रानधिकृताः स्वसमाचारप्रसिद्धं धर्ममनुतिष्ठन्ति मातृविवाहादि । सोऽयं सार्वभौमेन न निवारणीयः । स्वदेशाचारवतां तेषां जातिधर्मोऽयं जनपद-निवाससम्बन्धेनाभ्यनुज्ञानात् । आम्नायविरोधोऽप्यत्र नास्ति । अधिकृतानां विरोधात् विरोधो न तिरश्चाम् ।

ननु "अहिंसा सत्यमक्रोधः शौचमिन्द्रियसंयमः" इति प्रतिलोमाधिकारेणैवोक्तम् (१०।६३) । म्लेच्छाश्च प्रतिलोमा एव । तत्र यदि मातृविवाहे मूत्रोत्सर्गे चोदकशुद्ध्य-भावे न दुष्यति क इन्द्रियसंयमः कीदृशं वा शौचमिति ।

उक्तमेतत् । आर्यावर्तमध्यवर्तिनामेते धर्माः शौचादयः । चातुर्वर्ण्ये तु तत्तद्देश-नियमो धर्माणां नास्ति । केचिददृष्टार्था देशधर्मा इति वक्ष्यामः ।

एककार्यापन्ना वणिक्कारुकुसीदचातुरिकादयः । तेषां धर्माः 'श्रेणीधर्माः' । यथा केचन वणिङ्महत्तरा वचनेन परिच्छिन्नं राज्ञो भागं प्रयच्छन्ति—इमां वणिज्यां वयमुप-जीवाम एष ते राजभागोऽस्माकं यावल्लाभोऽस्तु न्यूनोऽधिको वा । तत्र राज्ञाऽभ्युपगते वणिज्ये लाभातिशयार्थं राष्ट्रविरोधिनीं चेतरेतरव्यवस्थां कुर्वन्ति—इदं द्रव्यमित्यन्तं कालमविक्रेयम्, अयं राज्ञोऽपदेशेनार्थो दण्डः पतति, देवतोत्सवार्थो वा । तत्र यदि कश्चिद्व्यतिक्रामति स एवं श्रेणीधर्मव्यतिक्रामन्दण्ड्यः ।

कुलधर्मा इति । 'कुलं' वंशः । तत्र प्रख्यातमहिम्ना पूर्वजेन धर्मः प्रवर्तितो भवति योऽस्मद्वंशजः कुलश्चन धनं लभेत स नादत्वा ब्राह्मणेभ्योऽन्यत्र विनियुञ्जीते-त्यादयो धर्माः । तथा सति योग्यत्वे य एव पूर्वपुरुषाणां याजकाः कन्यादिसम्प्रदानभूता वा त एव कार्याः । तदतिक्रामन् राज्ञोऽनुष्ठापयितव्यः ।

एतेषां च सामवायिकत्वादधर्मत्वशङ्कया पुनर्वचनम् । न चायं संविद्व्यतिक्रम इति वक्ष्यामः ॥४१॥

हिन्दी—धर्मज्ञ (राजा) जातिधर्म (ब्राह्मणादि के लिए यज्ञ करना-कराना आदि) देशधर्म (देशानुसार शास्त्रानुकूल व्यवस्थित धर्म) श्रेणिधर्म (वनिया अर्थात् व्यापारी आदि

के लिए नियत धर्म-विशेष) और कुलधर्म (वंशपरम्परानुसार नियत धर्म) को देखकर तदनुसार उनके अपने-अपने धर्म की व्यवस्था करे ॥४१॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।

प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥४२॥

भाष्य—पूर्वोक्तस्य जानपदादेर्धर्मस्य दृष्टादृष्टताऽनेन प्रदर्श्यते । **स्वानि कर्माणि** कुलस्थित्यनुरूपाणि कुर्वन्ति ते दूरस्था अपि **प्रिया भवन्ति** । सर्वस्यान्यो निकटवर्ती संसर्गातिशयात्प्रियो भवति । स्वकर्मकारी तु दूरस्थ एव प्रियः । **स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिता** इत्यनेन परकर्मानुष्ठानमाह । ये न परकर्माणि कुर्वन्ति ते सर्वस्य प्रिया भवन्तीति श्लोकार्थः ॥४२॥

हिन्दी—(जाति-देश-कुल धर्मानुसार) अपने-अपने कार्यों को करते तथा अपने-अपने कार्य में स्थित होकर दूर रहते हुए (साक्षात् नित्य-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं रहने पर) भी मनुष्य लोकप्रिय हो जाता है ॥४२॥

राजा को विवाद खड़ा करने का निषेध—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।

न च प्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथञ्चन ॥४३॥

भाष्य—कार्यं विवादस्तु । तद्राजा स्वयं न प्रवर्तयेत् । कस्यचिद्द्वेष्यस्योपघातार्थं धनिनो वा धनग्रहणार्थं न तदीयमृणिकमन्यं वाऽपराद्धमुद्वेजयेत्—एष ते धारयति किमिति ममाग्रतो नाकर्षसि—एतेन वा तावदपराद्धं यावदहमेनं निपातयामीत्येवं राज्ञा न कर्तव्यम् । सत्यपि द्वेषे धनलोभे वा । **न च प्रापितमावेदितमन्येनार्थिना ग्रसेत** निगिरेन्नोपेक्षेतेति यावत् । अवधीरणायां निगिरेदिति प्रयुज्यते । तत्समानार्थश्च ग्रसतिः । तथा च वक्तारो भवन्ति यावत्किञ्चिदस्योच्यते तत्सर्वं निगिरति न किञ्चिदयं प्रतिवक्ति ।

अन्ये तूत्तरं श्लोकार्द्धमेवं व्याचक्षते । **न च प्रापितं** व्यवहारादन्येन प्रकारेणार्थं धनं ग्रसेत स्वीकुर्यात् । यदि हि राजा छललेशोद्देशिकया धनदण्डे प्रवर्तेत ततः परलोके दोषो द्रष्टव्यः । स्वराज्ये चोपघातः स्यात् ।

अथेदमपरं केषाञ्चिद्व्याख्यानम् । **नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा** । साक्षादुपलभ्याप्यकार्यकारिणं न स्वयं किञ्चिद्ब्रूयात्, तस्य पराधीनेन यावद्व्यवहारेण नाकृष्टः । येन परव्यवहारदर्शनमेव पराजितस्य निग्रहाय भवति, न राजा । एतच्च ऋणादानादिष्वेव द्रष्टव्यम् । ये तु स्तेनसाहसिकादयः कण्टकस्थानीयास्तान् राजा स्वयमेवावगम्य गृहीयात् । शेषं समानम् ।

नाप्यस्य पूरुष इति अस्य राज्ञः पुरुषोऽधिकारी मनुष्यः ॥४३॥

हिन्दी—राजा या राजपुरुष स्वयं विवाद (झगड़े) को उत्पन्न (खड़ा-पैदा) न करे और दूसरे (अर्थी या प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई या मुद्दालह) के लिए हुए विवाद को किसी प्रकार (लोभ आदि के कारण) दबावे नहीं अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं करके उसका न्याय करे ॥४३॥

अनुमान से विवाद-निर्णय—

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।

नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥४४॥

भाष्य—यदुक्तं न स्वयं दृष्टाऽपि राजा सहसा कञ्चिदाक्रमेत वा निगृहीयात् ततः नर्मणाऽप्येतत्सम्भवति । कथं पुनरेतदवगन्तव्यम् किं परिहासकृतमेतदुत क्रोधाद्यनुबन्धकृतमिति । अत आह अनुमानेनैतज्ज्ञातव्यम् । यथा मृगयुर्मृगव्याधो विध्वंसा मृगं नष्टं दृष्टिपथादपक्रान्तं छिद्रनिसृतैरसृक्पातैः स्वबद्धिः शोणितैः पदं मृगस्य नयत्यासादयत्येवं राजाऽनुमानेन परोक्षे प्रत्यक्षे वाऽर्थकारणं निश्चिनुयात् । धर्मश्च कृतव्यवहारविषयस्तत्त्वावगमः । उक्तस्याप्यनुमानस्य पुनर्वचनं स्मृतिदाढ्यार्थम् ॥४४॥

हिन्दी—जिस प्रकार शिकारी मृग के रक्तचाप (से चिह्नित मार्ग) से स्थान का निश्चय कर लेता है, उसी प्रकार राजा को अनुमान (८।२५-२६), या प्रत्यक्ष प्रमाण) से धर्म के तत्त्व का निर्णय करना चाहिए ॥४४॥

सत्यादि से व्यवहार-दर्शन—

सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणम् ।

देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥४५॥

भाष्य—व्यवहारविधौ व्यवहारकर्मणि स्थितः प्रवृत्तो न केवलं व्यवहाराक्षराणि सम्पश्येद्यावदेतदपरं सत्यादि । तत्र सत्यस्य दर्शनम्—यद्यप्यर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरेण शालीनतया परिपूर्णाक्षरं नाभिहितं तथापि यदि राजा प्रमाणान्तरतः पूर्वोक्ताद्वाऽनुमानादेव कथञ्चिदीदृशोऽयमर्थ इति निश्चेतुं पारयेत् तदा तदाश्रयेन्नोपेक्षेत । अनेनैतन्न सर्वमुक्तमिति । तदुक्तम् (या०व्य० १९) । “छलं निरस्य भूतेषु व्यवहारान्नयेन्नृप इति” ।

अर्थस्य दर्शनम्—अर्थशब्दो धनवचनः प्रयोजनवचनो वा । तत्र यदि महान्तमर्थमासादयेत्तदा त्यक्त्वाऽप्यन्यानि राजकार्याणि नोद्विजेत, व्यवहारेक्षणं कुर्यादेव । अथवा यदि कश्चिद्ब्रूयात्साक्षिभिरर्थ एतस्माद्गृहीतोऽन्येन वा सभ्येन तत्र निरूपयितव्यं यदेतद्व्यवहारपदं यदि स्वल्पं न सम्भवति धनग्रहणम् । अथ गुरु सभ्याः साक्षिणश्च दैन्यं गतास्तदा सम्भावनीयं प्रमाणान्तराच्च निश्चेतव्यम् ।

एतच्चात्मानं साक्षिणं कृत्वा गवेषणीयम् । एतदुक्तं भवति । कण्टकशोधनन्यायेन

चारैश्चारयेत् । अथवाऽत्मानं सम्पश्येदात्मनोऽवस्थां सम्पश्येत्कोशक्षयं महाकोशतां वा । अस्मिन् पक्षे साक्षिण इति स्वतन्त्रं पदम् ।

देशस्य दर्शनम्—क्वचिदल्पोऽप्यर्थो महत्त्वमासादयति, महानपि योऽन्यत्र स क्वचिल्लघुर्भवतीति । एतद्देशस्य दर्शनम् ।

एवं कालोऽपि द्रष्टव्यः ।

रूपं व्यवहारवस्तुस्वभावः । तस्य गुरुलघुतां पश्येदिति ।

अन्यैस्तु व्याख्यातम् । सत्यार्थयोः सारफलतां पश्येदात्मानं साक्षिणं कृत्वा । एतदुक्तं भवति । अर्थात्सत्यं गुरुत्वेन महाप्रयोजनत्वादुभयोलोकसाधनरूपतयाऽऽश्रयितव्यम् । अर्थस्त्यक्तव्योऽसारत्वात् । देशः स्वर्गादिः सत्यसमाश्रयप्राप्यः । कालश्चिरं तत्र वासः । रूपं सुरूपं सुन्दरं मनोहरम् । एवदेव विपरीतम् । सत्यत्यागेन केवलार्थसमाश्रयणात् ॥४५॥

हिन्दी—व्यवहार अर्थात् मुकदमा देखने के लिए तैयार राजा सत्य से युक्त व्यवहार को, अपने को, (अन्याय करने से स्वर्गादि प्राप्ति नहीं होगी इत्यादि) साक्षियों (गवाह) को; देश, काल के अनुसार स्वरूप (छोटा या बड़ा इत्यादि) को देखे ॥४५॥

सदाचार-पालन—

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।

तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥४६॥

भाष्य—सन्तः प्रतिषिद्धवर्जकाः, मार्मिका विहितानुष्ठायिनः । यद्यप्येक एव शब्द उभयमर्थं प्रतिपादयितुं शक्नोति तथापि भेदोपादानाद्विषयविभागेनैवं व्याख्यायते । तैर्यदाचरितमनुपलभ्यमानश्रुतिस्मृतिवाक्यं तद्देशकुलजातीनां प्रकल्पयेदनुष्ठापयेत् । अविरुद्धं श्रुतिस्मृतिभिरुपलभ्यमानाभिः । यदुक्तं “जातिजानपदान्धर्मान्” (४१) इत्यत्र श्लोके देशकुलाद्याचारस्य प्रामाण्यं तस्यानेन विशेषः कथ्यते । आम्नायेनाविरोधेन तत्प्रमाणम्, न विरोधे तत्प्रमाणम् । तेन दृष्टार्थान्यपि ग्रामदेशराजकार्याणि शास्त्राविरुद्धान्यादरणीयानि, न विरुद्धानि । यथा क्वचिद्देश ऋणिक आत्मानं विक्रय्य धनं दाप्यते । तच्च “कर्मणाऽपि समम्” इत्यनेन विरुद्धम् । अन्यच्च श्लोकेन दर्शितम् । अन्यस्य त्वाचारस्य शिष्टसम्बन्धितयैव प्रामाण्यमुक्तम् “आचारश्चैव साधूनाम्” इति । न च तद्विरुद्धार्थसमाचरणेन साधुत्वमुपपद्यते । तस्माद् यत्रादृष्टाय तद्विषयोऽयमुपदेशः ।

अन्यस्त्वाह । देशान्तरे धार्मिकैः सद्भिर्द्विजैर्यदविरुद्धं श्रुत्या स्मृत्यन्तरेण वाऽऽचर्यते तद्देशान्तरेऽपि राजा प्रकल्पयेत् । यथोद्बृषभयज्ञादय उदीच्येषु प्रसिद्धास्ते प्राच्यैर्दाक्षिणात्यैः प्रतीच्यैश्चानुष्ठेयाः । कुतः । आचाराद्धि स्मृतिरनुमातव्या । स्मृतेः

श्रुतिः । सा च यद्येव-मनुमीयते—‘उदीच्यैरेतत्कर्तव्यमिति’ तत्र तद्धितस्य बहुष्वर्थेषु स्मरणान्तत्र जातस्यत्र भवस्तत आगतस्तमभिप्रस्थितः शेष इति चैतस्य लक्षणविकारो-भयरूपत्वादन्येष्वप्यर्थेषु प्रतिपदमनुपातेषु तद्धितस्मरणान्नास्त्युदीच्यो नाम य उदीच्य-शब्देन निवर्त्येत । ततश्च पुरुषमात्रेणैतत्कर्तव्यमित्यापतति । देशसमाख्याया नियतनिमित्त-त्वाभावेनानियामकत्वात् । अथैवं वाक्यमनुमीयेत—‘उदीच्यां जातेन तद्देशवासिना वा’ तदपि व्यभिचारि । तत्र जातोऽपि नान्यत्र करोति, तन्निवास्यप्यन्यत्र जातो न करोत्येव । अथोद्देशाभिजनस्तन्निवासी चेति—नित्यत्वादभिजननिवासयोस्तदपि न युक्तमेव । न हि जातगुणगोत्राणीवाभिजननिवासौ नित्यौ । तस्मान्नित्यस्य कस्यचिदनुष्ठातृणामव-च्छेदकस्यानुपपत्तेः सर्वविषया धर्माः । न देशधर्मा नाम केचन सन्ति । अनेनैव न्यायेन कुलधर्मा अपि ।

कथं ‘तर्हि देशधर्माः कुलधर्मा’ इति च स्मृतिकारैर्भेदेन व्यपदिश्यन्ते ।

उक्तं दृष्टार्था नियता व्यवस्था । तत्र धर्मस्तस्य च नियम उपपद्यत इति उक्तम् । कुलं च गोत्रैकदेशः । यस्तु कृत्स्नगोत्रधर्मो—यथा ‘न वासिष्ठा वैश्वामित्रैः सम्बन्धयु-रिति’—स नित्यत्वाद्गोत्रव्यपदेशस्य नित्यएवेति विरम्यते ॥४६॥

हिन्दी—सज्जन (श्रेष्ठ विद्वान्) एवं धार्मिक ब्राह्मणों ने जिनका पालन किया हो, देश कुल (वंश) तथा जाति के अनुसार उस व्यवहार का निर्णय करे ॥४६॥

ऋण ग्रहण करने पर—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।

दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभाषितम् ॥४७॥

भाष्य—यत्सर्वेषु व्यवहारपदेषु साधारणं तदुक्तम् । विशेषविवक्षायामिदमाह । सोपचयं कालान्तरे दास्यामीति यो धनमन्यस्माद्गृह्णाति सोऽधमर्णः । यस्तु सोपचयं प्रत्यादास्यामीति प्रयुङ्क्ते स उत्तमर्णः । सम्बन्धिशब्दावेतौ । अधमर्णस्यार्थः । अर्थो धनं प्रकारणाद्यदेवोत्तमर्णाय देयं तदेवोच्यते । तस्य सिद्धिरुत्तमर्णं प्रति निर्यणः । द्वितीयोऽर्थशब्दः प्रयोजनवचनः । अयं समुदायार्थः । उत्तमर्णेन यदा राजा चोदितो भवत्यधमर्णेन यो गृहीतोऽर्थः स मे सिद्ध्यतु दापयतु भवान्—राजा त्वधमर्णात्तदा दापयेद्धनिकस्यार्थम् । धनमस्यास्तीति धनिकः । उत्तमर्ण एव च प्रसिद्ध्या धनिक उच्यते । दापयेदिति सम्बन्धाच्चतुर्थी प्राप्ता । सा त्वपूर्णत्वात्सम्प्रदानभावस्य न कृता । यथा घृतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीति । न ह्यत्र मुख्यो ददात्यर्थः । इहा-प्युभयोः स्वत्वस्य भावात् । उभयोः स्वत्वाभावादपरिपूर्णो ददातीत्यर्थः ।

किमुत्तमर्णवचनादेवासौ दापयितव्यः नेत्याह विभाषितमिति । यदा निश्चितेन

प्रमाणेन धारयतीति प्रतिपद्यते । अथवा विभावितः स्वयं प्रतिपन्नः । यतो विप्रति-
पन्नस्य वक्ष्यति ‘अपह्नवेऽधमर्णस्येति’ (५२) । कथं पुनः स्वयं प्रतिपन्नो विभावित
इत्युच्यते । नैष दोषः । विस्मरणे स्वहस्तलेख्यादिना स्वयं प्रतिपन्नश्च भवति । विभा-
वितश्चाप्रतिपन्नश्च जानानोऽपि मिथ्याप्रतिपन्नः ॥४७॥

हिन्दी—(यहाँ तक साधारण रूप से व्यवहार देखने की विधि कहकर आगे ऋण
लेने पर व्यवहार देखने की विधि कहते हैं—) ऋण देनेवाले अपना ऋण पाने के लिए
राजा के यहाँ प्रार्थना की हो तो वह राजा (आगे कहे गये लेख, साक्षी आदि प्रमाणों से
प्रमाणित) धन को ऋण लेनेवालों से ऋण देनेवालों को दिलवाये ।

ऋण प्राप्त करने के उपाय—

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।

तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥४८॥

भाष्य—नेहाप्राप्तार्थानुत्तमर्णाद्राज्ञे भागं वक्ष्यत्यधमर्णाद्दण्डम् । तत्र स्वभाग-
तृष्णाया राजान उपायान्तरेण धनमार्गणं धनिकानां कारयेयुरतस्तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते ।
यैर्यैर्वक्ष्यमाणैरुपायैः स्वधनं पूर्वप्रयुक्तमुत्तमर्णो लभेत **तैस्तैरधमर्णं दापयेत्** । **संगृह्य**
स्थिरीकृत्य । अनेनैवोपायेनैतस्मादेतल्लभ्यत इत्येतन्निश्चित्येत्यर्थः । अथवाऽनुकूलमुप-
सांत्वनं **संग्रह** । उत्तमर्ण एव उत्तमर्णिकः । उत्तमं च तदृशं चोत्तमर्णम् । तदस्यास्ती-
त्युत्तमर्णिकः । “अत इति ठनाविति” (पा० ५।२।११५) रूपम् । एवमितरोपि । वृद्धि-
लाभार्थं प्रयोगविषयं धनमृणम् । द्वौ च तस्य सम्बन्धिनौ प्रयोक्ता ग्रहीता च । प्रयोजकस्य
च तत्—‘उत्तमं’ भवति । स्वतन्त्रो धनदाने प्रत्यादाने च । इतरस्य सोपचयदानाद्ब्रह्मा-
यामत्वाच्च ‘अधमत्वम्’ । व्युत्पत्तिमात्रं त्वेतत् । रूढ्यैव त्वेतौ प्रयोक्तृग्रहीत्रोर्वाचकौ ।
के पुनस्तत्रोपाया इत्येतत्प्रदर्शनार्थं उत्तरश्लोकः ॥४८॥

हिन्दी—जिन-जिन उपायों से (उक्त लेख साक्षी आदि उपायों से प्रमाणित) धन
ऋण देनेवालों को मिल सके, उन-उन उपायों से ऋण लेनेवालों को वश में करके राजा
उक्त प्रमाणित धन ऋण देनेवाले को दिलवाये ॥४८॥

बल से धन वसूल करनेवालेऋणदाता को अनिषेध—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥४९॥

भाष्य—तत्र धर्मस्कन्धकरीत्या स्तोकं स्तोकं ग्रहणमिदमद्य इदं च परश्वः—
यथा कुटुम्बसंवाहोऽस्यैवं वयमपि तव गुटुम्बभूताः संविभागयोग्या इत्यादि पठित-
प्रयोगो धर्मः । यस्तु निःस्वः स व्यवहारेण दापयितव्यः अन्यत्र कर्णोदकवद्धनं दत्त्वा

कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यम् । तत्रोत्पन्नं धनं तस्माद्ग्रहीतव्यम् । यस्तु 'व्यवहारो' राजनिवेद्यस्तस्य सर्वोपायपरिक्षये योज्यत्वाद्बलग्रहणेन च गृहीतत्वात् । यस्तु साक्षात् ददाति विद्यमानधनोऽपि स छलेन दापयितव्यः । केनचिदपदेशेन विवाहोत्स-वादिना कटकाद्याभरणं गृहीत्वा न दातव्यं—यावदनेन तद्धनं न दत्तम् । आचरितमभोजनगृह-द्वारोपवेशनादि । बलं राजाधिकरणोपस्थानम् । तत्र राजा साम्नाऽप्रयच्छन्तं निगृह्य च प्रपीड्य दापयतीति । नतु स्वगृहसम्बन्धिधनादि 'बलं', यतः "प्राकृतीनां बलं राजा" इति पठ्यते अस्मिन्नेव प्रसङ्गे उशनसा । अन्ये तु राज्ञ एवायमुपदेश इति वर्णयन्ति राजधर्मप्रकरणात् । राजा ज्ञापित उपायैरेनं दापयेत्पराजितं स्वयं प्रतिपन्नं च । न तु सहसाऽवष्टभ्य सर्वस्वं धनिने प्रतिपादनीयः । यत उभयानुग्रहो राज्ञा कर्तव्यः । सर्वस्वा-दाने चाधमर्णस्य कुटुम्बोत्सादः स्यात्सोऽपि न युक्तः । उक्तं हि—

“नावसाद्य शनैर्दाप्यः काले काले यथोदयम् ।

ब्राह्मणस्तु विशेषेण धार्मिके सति राजनि” ॥ इति ।

तस्मात्किञ्चनवृद्ध्या संदापनीयः । कुटुम्बादधिकधनसम्भवे सर्वं दापनीयः । सर्वा-सम्भवे च 'कर्मणाऽपि समं कुर्यात्' इति । अन्यस्मिन्व्याख्याने छलाचारौ राजानम-ज्ञापयित्वा न कायौ ॥४९॥

हिन्दी—धर्म, व्यवहार, छल, आचरण और पाँचवें बलात्कार के द्वारा ऋण लेनेवाले व्यक्ति से धनी (ऋण देनेवाले) का धन दिलवाये ॥४९॥

विमर्श—

- (१) मित्रों या सम्बन्धियों के सन्देशों से, सामने तथा अनुगमन से ऋण लेनेवाले के द्वारा ऋण देनेवाले का धन दिलवाना 'धर्म' है ।
- (२) आगे (१०।५१) कहा जानेवाला प्रकार 'व्यवहार' है ।
- (३-क) ऋण लेनेवाले से छलपूर्वक धन लाना, (ख) दूसरे किसी के द्वारा ऋण लेनेवाले से धन मँगवाकर उसे रोक लेना 'छल' है ।
- (४) ऋण लेनेवाले के स्त्री, पुत्र या पशु आदि को मार-पीटकर या उसके द्वार पर बैठकर ऋण देनेवाले का धन लेना 'आचरित' है ।
- (५) ऋण लेनेवाले को अपने यहाँ बुलवाकर उसे उस धन का कर या मार-पीटकर ऋण देनेवाले का धन लेना 'बल' अर्थात् 'बलात्कार' है । मेधातिथि का मत है कि 'जो निर्धन हो, उसे व्यवहार से ऋण दिलवाना चाहिए, दूसरे कार्यों का साधन धन देकर व्यापार या खेती आदि से व्यवहार कराकर उसमें उत्पन्न धन उस ऋण लेनेवाले से लेना चाहिए ।' इस पर पूज्यचरण 'नेने' शास्त्री का कथन है कि ऋण लेनेवाले

की रक्षा करते हुए थोड़ा-थोड़ा अर्थात् ‘किस्त’ रूप में धन देना ‘धर्म’ है । जो निर्धन है उसे ‘व्यवहार’ से दिलवाना चाहिए । अन्यत्र थोड़ा-सा धन देकर उस धन से खेती या व्यापार करावे और उसमें पैदा हुए धन को उससे ग्रहण करे । जो राजा के यहाँ निवेदन करने योग्य अर्थात् मुकदमा करने योग्य है; उसको सभी उपायों के सफल नहीं होने पर काम में लावे और बलात्कार से धन ग्रहण करे । जो धन रहते हुए भी ऋण लिया हुआ धन नहीं देवे, उससे कपटपूर्वक धन ले अर्थात् विवाह आदि के छल से भूषण आदि लाकर रोक ले तथा उस ऋण के धन के वसूल होने पर उस भूषण आदि को वापस करे ।’

ऋण लेकर अपलाप करने पर—

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।

न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥५०॥

भाष्य—उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थः श्लोकः । न छलादिनोपायेन स्वेच्छयो-
त्तमर्णोऽधमर्णाद्धनं संसाधयन् राज्ञा किञ्चिद्वक्तव्यः—‘मामविज्ञाप्य किमित्यस्मादाभ-
रणादि स्वधनसंशुद्ध्यर्थं व्याजेन छद्मना गृहीत्वा किं नास्मै प्रतिप्रयच्छसीति’ ॥५०॥

हिन्दी—जो ऋण देनेवाला ऋण लेनेवाले में बल आदि के द्वारा अपना ऋण
में दिया हुआ धन वसूल करता हो, उसे राजा मना न करे अर्थात् अपना ऋण वसूल
कर लेने दे ॥५०॥

ऋण लेकर अपलाप करने पर—

अर्थेऽपव्ययमानं तु कारणेन विभावितम् ।

दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥५१॥

भाष्य—सत्यपि विभावके प्रमाणे यो न स्वयं प्रतिपद्यते न तस्य छलाद्युपाय-
प्रयोगः कर्तव्यः । किंतर्हि राजैव तेन ज्ञापयितव्यः । तत्र राज्ञाऽऽकारितेऽर्थे ऋणेऽ-
पव्ययमानमपहुवानं—नास्मै किञ्चन धारयामीति वदन्तं—कारणेन साक्षिलेख्य-
भुक्त्यात्मकेन विभावितं धारयामिति प्रतिपादितं दापयेदुत्तमर्णाय धनम् । दण्डलेशं
च स्वल्पं दण्डं दण्डमात्रमित्यर्थः । अन्यत्र दशमं भागं वक्ष्यति । यस्तु तावदातुम-
शक्तः सोऽल्पमपि दशमाद्भागाद्दण्डं दापयितव्यः । अथवा यः प्रमादात्कथञ्चिद्वि-
स्मृत्यापजानीते तस्यायं यथाशक्ति दशमभागाल्पतो दण्डः । कारणं प्रमाणं त्रिविधम् ।
तदन्यैरिह सम्भवतीति परिगणितम् । तथा चाहुः—

“यत्र न स्यात्कृतं पत्रं साक्षी चैव न विद्यते ।

न चोपलम्भः पूर्वोक्तो दैवी तत्र क्रिया भवेत्” ॥ इति ॥५१॥

हिन्दी—यदि ऋण लेनेवाला ऋण को मुकर जाय अर्थात् मैंने ऋण नहीं लिया है ऐसे मना कर दे तथा लेख और साक्षी के द्वारा उसका ऋण लेना प्रमाणित हो जाय तो राजा ऋण लेनेवाले से ऋण में लिया हुआ धन ऋणपूर्तिरूप में तथा ऋण का दशमांश अतिरिक्त धन दण्डरूप में ऋण देनेवाले के लिए (१०।१३५ के अनुसार) दिलवावे ॥५१॥

[यत्र तत्स्यात्कृतं यत्र करणं च न विद्यते ।

न चोपलम्भपूर्वोक्तस्तत्र दैवी क्रिया भवेत् ॥४॥]

[हिन्दी—जहाँ पर ऋण लिया गया हो, वहाँ साधन उत्तम (लेखसाक्षी आदि) न हो और उसकी प्राप्ति न हो; वहाँ पर दैवी क्रिया करनी चाहिये ॥४॥]

अपह्ववेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।

अभियोक्ता दिशेद्देशं कारणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥५२॥

भाष्य—यदा राजा प्राड्विवाकेन वा संसदि व्यवहाराधिकरणादिदेशे देह्युत्तमर्णाय धनमिति उक्तस्यापह्वोऽपलापः अधर्मेण भवति तदाऽभियोक्ता धनस्य प्रयोक्तोत्तमर्णो दिशेद्देशं साक्षिणं प्रमाणभूतं निर्दिशेत् । अन्यद्वा कारणं लेख्यादि । देशशब्देन लक्षणया धनप्रयोगप्रदेशवर्तिनां साक्षिणामुपादानात् कारणशब्दः सामान्यशब्दोऽपि गोबलीवर्दवत्साक्षिव्यतिरिक्तं लेख्यादिकारणमाचष्टे । ततश्च पाठान्तरं “कारणं वा समुद्दिशेदिति” । अस्याप्ययमेवार्थः ।

अथवाऽयमन्यः पाठः ‘अभियुक्तो दिशेद्देशमिति’ । अयं चाऽर्थः । यत्राधमर्णो देहीत्युक्तः प्रतिजानीते ‘सत्यमेव धनं गृहीतं प्रतिदत्तं तु तत्’ इति यदसावभियोक्ताऽऽसीत्स एवाभियुक्तः संवृतः । स चाभियुक्तः संदिशेद्देशम्—‘कस्मिन्देशे त्वया मे प्रतिदत्तम्’ । कालं च निर्दिशेत् । देशग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । कारणं वा समुद्दिशेत् । ‘अस्ति भोः किं कारणं तव प्रतिपादने तत्समुद्दिश’ इत्येवं ब्रूयात् । अथवा दिशेद्देशम्—यत्तस्मिन्काले नार्ह साक्ष्यादिप्रदर्शनं कारणं वेति । वाशब्दः चशब्दस्य स्थाने ॥५२॥

हिन्दी—न्यायालय में न्यायाधीश क ‘इस धनी (ऋण देनेवाला) का धन दो’ ऐसा कहने पर ऋण देनेवाला यदि मुकर जाय (ऋण लेने का निषेध कर दे) तो अर्थी (मुद्दई अर्थात् ऋण देनेवाला) साक्षी या अन्यान्य प्रमाण (लेख आदि) बतलावे ॥५२॥

ऋणदत्त धन का अधिकारी होने के कारण—

अदेशं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नु ते च यः ।

यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥५३॥

अपदिश्यापदेशं च पुनर्यस्त्वपधावति ।

सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥

असम्भाष्ये साक्षिभिश्च देशे सम्भाषते मिथः ।

निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥५५॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।

न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥५६॥

भाष्य—उक्तमेवाधमर्णेऽपहुवाने धनिना राजा ज्ञापयितव्यः । ईदृशो च ज्ञापना कर्तव्या । ‘अस्मिन्देशेऽस्मिन्काले इदं धनमियद्वैतेन मत्सकाशाद्गृहीतम्’ । स च पृष्ठो भावयति—‘नैतस्मिन् देशेऽहमभवं योऽनेन च ग्रहणकाल उपदिष्टः’ तदा देशे दिश्यते । अथवा देशसाक्षिणो व्याख्यातास्तान्साक्षिणो देशकालावसम्भवतो निर्दिशति । निर्दिश्य देशादिकमपजानीते ‘नैतन्मया निर्दिष्टमिति’ । यश्चाधरोत्तरानर्थान्यौरस्त्यानौपरिष्ठांश्च विगीतान्विरुद्धानभिहितान्नावबुध्यते । यद्वा पूर्वं वक्तव्यं तत्परस्माद्वक्ति यत्परतस्तत्पूर्वं क्रमभेदं च वचनगतमात्मनो नानुसंधत्ते । ‘हीनः स इति निर्दिशेदिति’ सर्वत्र क्रियानुषङ्गो भविष्यतीति । पूर्वोणार्धेनोक्तस्यार्थस्य निगमनम् । उत्तरेणानुक्ताऽर्थ उच्यते । यदुक्तं “अदेशं यश्च दिशति निर्दिश्यापहुते च यः” इति स एवार्थः अपदिश्येत्यस्य । आदेश एवापदेशः । तमपदिश्य कथयित्वा पुनः पश्चादपधावत्यपसरति—‘नैतौ देशकालौ मम निश्चितौ’ । यावत्सुदेशकालोऽवधारयति तावदयं मह्यमिति’ पश्चाद्ब्रवीति । सोऽपि तस्मादर्थाद्धीयते ।

सम्यक् प्रणिहितं चार्थमनाकुलं निश्चितमुक्तं तदा पृच्छ्यते तदाऽनेनोक्तं तत्र किं ब्रवीषि केन वा प्रमाणेन स्वपक्षं साधयसीति पृष्ठो न संधत्ते कथान्तरं प्रस्तौति—‘विचारावसानेन किल मे पराजयो भवतीति कालमुपक्षिपामीति’—तस्यापि पराजय एव । अथवाऽपदेशो व्याजस्तमपदिश्योपन्यस्य योऽपसरत्यधुना मे महती पीडा समुत्पन्ना न शक्नोमि प्रतिवक्तुमलीकादिना वा प्रस्थितः सोऽपि हीयते ।

असम्भाषणाहं देशे गह्वरादौ साक्षिभिः सह सम्भाषत एकाकी तद्भेदाशङ्कया । निरुच्यमानं पृच्छ्यमानं निरूप्यमाणं वा प्रश्नं विचारवस्तु नेच्छति—किञ्चिद्राजकार्य-मुद्दिश्य राजपुत्रात्माद्यनुग्रहेण च काललाभं करोति । यश्चापि निष्पतेत् । वक्ष्यमाणमेव क्रियापदं ‘स हीयत’ इति । यदेवोक्तं ‘पुनर्यस्तत्वपधावतीति’ स एवार्थः ‘यश्चापि निष्पतेदिति’ । पुनर्वचने प्रयोजकमुक्तम् । अत्यन्तपौनरुक्त्यं मा भूदिति कश्चिद्विशेष आश्रयितव्यः ।

उक्तार्थ एव श्लोकोऽयं श्लोकान्तरैर्दृश्यते । पुनर्वचने च प्रयोजनमुक्तम्—‘बहुकृ-त्वोऽपि पथ्यं वेदितव्यमिति’ । अक्षरार्थस्त्वर्थिना निःशेषिते पूर्वपक्षे प्रतिवादी ‘ब्रूह्य-स्मिन्वस्तुनीति’ पृष्ठो यदि न ब्रूयात्पुनःपुनः पृच्छ्यमानोऽपि । यो हि सम्यगुत्तराभावांस्मि-

थ्योत्तरवादित्वादमुनैव मे पराजयो भवति तूष्णींभूतस्य तु मे संशय एव पराजये इत्य-
नया बुद्ध्या नोत्तरं ददाति । सोऽपि हीयते । वक्ष्यति चात्र कालावच्छेदम् “न चेत्-
त्रिपक्षात्प्रब्रूयादिति” (५८) । सद्यो ह्याकृष्टस्य पूर्वपक्षार्थानवबोधादुत्तराप्रतिपत्तेर्युक्तं
कालहरणम् । अत्र च दिवसैः पञ्चभिर्दशभिर्द्वादशभिर्वेदेषुद्वदत्त्रिपक्षसमाप्तिः न
त्वियन्तं कालं तूष्णींभाव एव । यश्चातोऽधिकः कालः—‘संस्थितोऽपि कच्चित्संवत्सरं
प्रतीक्षेताप्रतिभायामिति’ (गौतम १३।२८)—न युक्तामादर्तुं यतोऽप्रतिभा यदि प्रतीक्षा-
कारणं सा चेत् संवत्सरादूर्ध्वं भवतीति किमित्यकारणम् । न चैष नियमः केनचित्-
प्रकारेणावगम्यतेऽप्रतिभावतः संवत्सरेण प्रतिभा भवतीति । तस्मात्तावन्त्येवाहान्युपेक्षा
युक्ता यावद्भिः पूर्वपक्षार्थावधारणं भवत्युत्तरं च प्रतिभाति । एतच्चायमुक्तस्य मन्द-
धियोप्येतावन्मात्रैरहोर्भवतीति नाधिकं कालमुपेक्षणीयम् ।

पूर्वपाक्षिकस्य तु तदहरेव स्वार्थविनिवेशनं युक्तम् । यत इदमेष मे धारयतीदं
वाऽनेनममापकृतमिति निश्चितं तस्य भवति । स्वेच्छया ह्यसौ प्रवर्तते । केवलं तस्मै स्व-
पक्षमावेदयते किमित्यनिश्चितः स्वार्थो भवति । उत्तरपाक्षिकस्त्वविदितसम्बन्धस्तदानी-
मेव राजपुरुषैरानीयमानः कथमिव स्वपरपक्षौ निश्चिनुयात् । पक्षद्वयानिरूपणं हि तदस्य
तदानीमेवापतति । नान्यथोत्तरपाक्षिको भवति । तस्मात्पूर्वपाक्षिकस्य साध्ये वस्तुनि तदहः
पूर्वपक्षसमाप्तिर्द्विदिवसलाभो वा । उभावपि चैतो पक्षौ स्मृत्यन्तरपरिगृहीतौ । तथा
ह्याह—

“सुनिश्चितबलाधानः पूर्वपक्षो भवेत्सदा ।

दशाहं द्वाशाहं वा स्वपक्षं परिशोधयेत्” ॥ इति ।

तथेदमपरम् (याज्ञ०व्य० ७) “ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्” ।

या तु संवत्सरपरीक्षा सा मूलासम्भवादप्रमाणम् । न हि व्यवहारस्मृतावष्टकादि-
वद्वेदमूलता शक्यते वक्तुम्—अकार्यरूपत्वादर्थस्य । प्रमाणान्तरविषयत्वे च तद-
सम्भवः प्रतिपादितः ।

एषाऽपि पूर्वपक्षोपेक्षा न सर्वत्र । यत उक्तम्—

“साहसस्तेयपारुष्यगोभिशपात्यये स्त्रियाम् ।

विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥” इति । (याज्ञ०व्य० १५)

साहसादौ हि चिरमुपेक्ष्यमाणेऽपरमाराध्नुयात् । अतः सद्यो विवादो विधीयते । न
चात्रास्मृत्यादयोऽनुत्तरहेतवः सम्भवन्ति । साहसादिकारणं हि तदानीमेव राजानं वेदयेत् ।
तीव्रसम्भवेता हि तत्र भवति । वस्त्राद्यपहारेण तदुपेक्षायां रागशङ्का भवति । साक्षिण-
स्तत्र यदृच्छया सन्निहिता अपि भवन्ति । ते हि देशान्तरं गता नामजात्यादिभिर्न विज्ञा-
यन्ते । ततः स्वाभाविकप्रमाणाभावः ।

किञ्च ऋणादानादिषु कदाचिदितरेतरं संदधते । न तत्र राज्ञो हस्तप्रक्षेपः । प्रायेण च संशुद्धौ नानुसृतिरुपयुज्यते तदा कियदत्तमिति । साहसकारी तु राज्ञाऽवश्यं निग्रहीतव्य इतरेण संधीयमानोऽपि । तस्मादृणादिषु कालहरणं साहस्रादिषु सद्य इति स्थितम् । तदुक्तम्—

“गहनत्वाद्विवादानामसामर्थ्यात्स्मृतेरपि ।

ऋणादिषु हरेत्कालं कामं तत्त्वबुभुत्सया ॥”

यदा सङ्कुलः पूर्वपक्षो भवति तदा गहनत्वान्न शक्यते ग्रहीतुम् । अनाकुलो विलुप्त-क्रमोऽपि गृहीतः प्रतिवचनकाले महत्वान्न शक्यते सर्वेण स्मर्तुमिति स्मृत्यन्तरस्यार्थः ।

उक्तं च न विभावयेत् । साध्यं वस्तु निर्दिश्य न साधयति साधनस्याभावात्, विपक्षे वा भावात् ।

न च पूर्वापरं विद्यात् । उक्तमेतत् ।

तस्मादर्थद्वयवहारवस्तुनः स हीयते पराजितो भवतीत्यर्थः ॥५३-५६॥

हिन्दी—यदि ऋणदाता ऐसे स्थान पर ऋण देना बतलावे जहाँ ऋण-ग्रहीता का उस समय रहना सर्वथा असम्भव हो, अथवा किसी स्थान को पहले कहकर बाद में उसे कहना स्वीकार न करे, बात को पूर्वापर विरुद्ध कहे (पहले कही हुई बात से बाद में कही हुई बात का मिलान नहीं हो, दोनों एक दूसरे के विरुद्ध पड़ती हों), पहले अपने हाथ से ऋण देना बतलाकर बाद में अपने पुत्र आदि के हाथ से ऋण देना कहने लगे; तथा न्यायाधीश के ‘क्यों तुमने रात में, एकान्त में या बिना किसी साक्षी के रहते या बिना कागज (स्टाम्प—हैंटनोट आदि) दिखवाये आदि के धन दिया, इत्यादि पूछने पर ऋणदाता सन्तोषजनक उत्तर न दे, जो ऋणदाता साक्षियों को एकान्त में ले जाकर बातचीत करे (साक्षी को सिखलावे), जो पूर्वकथित विषय की दृढ़ता के लिए न्यायाधीश (या प्रतिपक्षी या उसके वकील आदि) से पूछे गये प्रश्नों (जिरहों) की चाहना न करे, जो कहे गये व्यवहारों को पहले नहीं कहकर इधर-उधर की बातें कहे, न्यायाधीश के ‘कहाँ’ ऐसा कहने पर भी जो नहीं कहे, जो पूर्वकथित बातों का समर्थन प्रमाणों द्वारा नहीं करे, ‘कौन बात मुझे कहनी है?’ यह (घबड़ाने के कारण) नहीं समझकर दूसरी (अपने प्रतिकूल एवं प्रतिपक्षी के अनुकूल) ही बात कहने लग जाय अर्थात् घबड़ाने से आगे पीछे की बात या अपने कार्य को सिद्ध करनेवाली बात नहीं कहकर चाहे चो कुछ कहे, वह ऋणदाता ऋण का (धन का) अधिकारी नहीं होता है ॥५३-५६॥

ज्ञातारः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेत्र यः ।

धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमिति निर्दिशेत् ॥५७॥

भाष्य—ज्ञातारः साक्षिणः पुरुषा मम सन्तीत्युक्त्वा यदोच्यते कथ्यतामिति तदा

तूष्णीक आस्ते—न तान्देशनामजातिभिर्विशेषणैः कथयति—तदा एतैः प्रत्येकं पूर्व-
मुक्तैः कारणैरिह हीनोऽसौ व्यवहाराद्भ्रष्ट इति । धर्मस्थो धर्माधिकरणस्थः प्राङ्वि-
वाको निर्दिशेन्निश्चितं ब्रूयाज्जितोऽयमिति । यथैव विपक्षबाधकप्रमाणवृत्त्या पराजय एवं
स्वपक्षसाधनाभावादपि । अभावनिश्चयश्च पुनः पुनरवसरेऽनुपन्यासात्कारणान्तरस्य
चानुपन्यासेऽभावादिति ।

ज्ञातार इति तृन्तमेव । तत्रेदमिति द्वितीयान्तं युज्यते । “खलर्थतृनामिति”
(पा०सू० २।३।६९) षष्ठीनिषेधात् ।

हीनं तमिति द्वितीयान्तः पाठः । इतिशब्दः प्रकारार्थो द्रष्टव्यः । एभिरुक्तैः
प्रकारैरन्यैश्चैवंविधैर्हीनं तन्निर्दिशेत् । यदा तु वाक्यार्थपरामर्शः तदा हीनोऽसाविति पाठः ।
वाक्यार्थस्य कर्मत्वाद्वितीयाया अभावः ।

एते पराजयहेतवः । न त्वाकारेङ्गितादिवद्व्यभिचारिणः । यो हि पुनः पुनर्विचारा-
वसरे न सन्निधीयते सन्निहितो नोत्तरं प्रतिवक्ति तत्र निश्चितमिदं भवति नास्य जयहेतुर-
स्तीति । यदि च सर्वदैवानुत्तरवादिनं न पराजयेद्राजा ततो व्यवस्थाभङ्ग आपद्यते ।
पौर्वापर्यान्वबोधस्त्विङ्गितादिवद्द्रष्टव्यः । यः सर्वकालं वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमांस्तस्ये-
ङ्गितादयोऽन्यथाभवन्तः पराजयहेतौ प्रमाणान्तरेणानिश्चितेऽपि लिङ्गदर्शनस्थानीया उपोद्-
बलका भवन्ति ॥५७॥

हिन्दी—(जो ऋणदाता) ‘मेरे साक्षी हैं’ ऐसा कहने पर न्यायाधीश के ‘उन साक्षियों
को यहाँ उपस्थित कर सके; न्यायासन पर स्थित वह न्यायाधीश उन कारणों से उस
ऋणदाता के लिए ऋणग्रहीता से ऋण में लिये हुए धन को न दिलवावे ॥५७॥

वादी को दण्डादि—

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बन्धो दण्ड्यश्च धर्मतः ।

न चेत् त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥५८॥

भाव्य—अभियोक्ताऽर्थी राजान्तिकं कञ्चन पुरुषमाहूय यदि व्यवहारपदं न
कथयति तदा निष्प्रयोजनाद्बन्धो दण्ड्यश्च । दण्डबन्धने दण्डपरिमाणे च गुणवत्तां
प्रत्यर्थिन आह्वानेन च हानिमपेक्ष्य कल्पनीयानि । अतस्तदहरेवार्थिना विवदितव्यम् ।
प्रत्यर्थी तु न चेत्त्रिपक्षाद्ब्रूयादित्यर्थः—तदा नासौ दण्ड्यो बन्धयितव्यो वा । किं
तर्हीयता कालेनोत्तरं सत्यपराजित एव ।

धर्मं प्रति । धर्मत एवायं पराजयो न छलमित्यर्थः ।

त्रिपक्षादिति पात्रादिषु द्रष्टव्यस्तेनेकाराभावः । अर्थतत्त्वमस्य श्लोकस्यास्माभिः
प्राङ्निरूपितम् ॥५८॥

हिन्दी—जो वादी (अर्थी = मुद्दई पहले मुकदमा दायर कर) बाद में कुछ न कहे, वह धर्मानुसार (बड़े-छोटे मुकदमे के अनुसार) वध्य (फाँसी देने योग्य) या दण्ड्य (ताड़न या अर्थदण्ड जुर्माना करने योग्य) है और यदि प्रत्यर्थी (मुद्दालह) तीन पक्ष में नहीं बोले अर्थात् मुद्दई की बातों का सन्तोषजनक उत्तर न दे तो वह धर्मानुसार (कपटपूर्वक नहीं) पराजित होता है ॥५८॥

विमर्श—पहले मुकदमों का फैसला जल्दी हुआ करता था, अतः यहाँ १॥ मास का समय मुद्दालह को जवाब देने के लिए दिया गया है । वर्तमान समय में जल्दी फैसले नहीं होते, अतएव तीन पक्ष के स्थान में तीन पेशी (तारीख) मानना उचित प्रतीत होता है; इस प्रकार मुद्दालह यदि तीन पेशी तक बराबर मुहलत माँगता रहे और कोई जवाब न दे तो वह धर्मानुसार ही पराजित होता है ।

असत्य धनपरिमाण बतलाने पर दण्ड—

यो यावन्निहू वीतार्थ मिथ्या यावति वा वदेत् ।

तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्विगुणं दमम् ॥५९॥

भाष्य—येन पञ्चसहस्राणि दत्तानीति प्रमाणान्तरान्निश्चितं—लेख्यादौ तु करणे ‘दश’ समारोपितानि—प्रमाणान्तरं संवत्सराख्यमिति निश्चित्येदमपश्यत्केवलेन लेख्य-प्रमाणेन सर्वत्र प्रवर्तमानः—छलव्यवहारीति द्विगुणं दण्ड्यः । यस्य तु विस्मृत्याऽप्यन्यथाप्रवृत्तिराशङ्क्यते तस्य दशकं शतम् । एवमितरस्यापि । न तु सर्वापह्वे दशभाग एकदेशापह्वे द्विगुणमिति । किन्तु शाठ्यादान्यथाप्रतिपद्यमानौ द्विगुणं दण्ड्यौ । विस्मृति-दारिद्र्याभ्यां दण्डमुत्तरम् । **यो यावन्तमर्थपह्ववातापजानीतेऽधर्मणः—मिथ्या यावति** विपरीतं धनं **वददुत्तमणेः—**तावुत्तमणोधमर्णाविधमज्ञौ । **तद्विगुणं दमम् । तदित्य-**पह्वयमानधनपरामर्शः । यावदपह्वतं ततो द्विगुणं दमो दण्डः । **अधर्मज्ञप्रहणाच्च** लिङ्गा-न्निश्चितछलविषयोऽयं दण्ड इत्युक्तम् ॥५८॥

हिन्दी—जो प्रत्यर्थी (मुद्दालह) जितने धन को छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर भी जितना कम बतलावे तथा जो अर्थी (मुद्दई) जितने धन को असत्य बोले अर्थात् कम धन देकर भी जितने अधिक धन का दावा करे अधर्म को जाननेवाला राजा (या राज नियुक्त न्यायाधीश) उसका दुगुने धन से उन्हें दण्डित करे ॥५८॥

विमर्श—‘अधर्मज्ञ’ शब्द के कहने पर यदि ज्ञानपूर्वक (जान-बूझकर) प्रत्यर्थी धन को छिपावे या अर्थी अधिक बतलावे तो द्विगुणित दण्ड की व्यवस्था भगवान् मनु ने कही है, प्रमाद आदि के कारण अज्ञानपूर्वक वैसा करने पर शतांश या दशांश दण्ड की व्यवस्था आगे कही है ।

साक्षी-संख्या—

पृष्ठाऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।

त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥६०॥

भाष्य—यः कृतावस्थ आहूतोऽभियुक्तो गृहीतप्रतिभूश्च राजसकाशे प्राङ्मवाकेना-
न्यैर्वा पृच्छ्यते किमस्मै धारयति नेति पृष्ठः सन्नपव्ययतेऽपहुते । धनैषिणा स्वधनं
पूर्वप्रथुक्तमात्मनः साधयितुमिच्छता । साक्षिभिर्भाव्यो विप्रतिपन्नः प्रतिपादयितव्यः ।
त्र्यवरैः । त्रय अवरे येषां तैस्त्र्यवरैः । अवरमपचयातिशयमाह । यद्यत्यन्तं न्यूनास्तदा
त्रयः स्युः । अन्यथा त्रिभ्य ऊर्ध्वम् । नृपब्राह्मणसन्निधाविति । “ननु च तेषामेव
यैर्न्यायः प्रारब्धस्तत्र तत्सन्निधान एव साक्षिप्रश्नः प्राप्तः । किमनेन नृपब्राह्मणसन्नि-
धाविति” नैवम् । प्रमाणपुरुषप्रेषणेनापि साक्षिप्रश्न उपपद्यत इति । साक्षात्पृष्टव्य इति
पुनर्वचनम् ॥६०॥

हिन्दी—धन चाहनेवाले (मुद्दई के मुकदमा करने पर मुद्दालह) धन लेना स्वीकार
न करे तो राजाधिकारी ब्राह्मण (न्यायाधीश) के सामने वादी (मुद्दई) कम से कम तीन
साक्षियों (गवाहों) से अपनी बात को प्रमाणित करे ॥६०॥

साक्षि-कथन—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।

तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः ॥६१॥

भाष्य—साक्षिलक्षणोपन्यासः श्लोकः । यादृशाः साक्षिणो यज्जातीया यद्गुण-
युक्ताश्च धनिभिरुत्तमार्गैर्व्यवहारेषु धनप्रयोगादिषु कर्तव्यास्तादृशान्वक्ष्यमाणेन कथ-
यिष्यामि । यथा च ऋतं सत्यं वाच्यं वक्तव्यं पृष्ठैः सद्भिस्तैः—पूर्वाह्ण इत्यादि—
तमपि प्रकारं वक्ष्यामीति ॥६१॥

हिन्दी—महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं कि ‘धन लेनेवालों (साहुकार = महाजन)
को मुकदमों में जैसे साक्षी बनाने चाहिये, उन्हें कहता हूँ तथा जिन प्रकार उनको सत्य
कहना चाहिये वह भी कहता हूँ—॥६१॥

साक्षी के योग्य व्यक्ति—

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।

अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥६२॥

भाष्य—कृतदारपरिग्रहा गृहिणः । गृहशब्दो दारेषु वर्तते । ते हि स्वकत्रपरिभव-
भयान्न कूटमाचरन्ति । आत्मनि केचित्रिरपेक्षा अपि भवन्ति । अन्यदेशान्तरगमनेनात्मानं
रक्षयिष्याम इहैव च क्वचिद्गुप्ता भविष्यामो धनं मित्रं वाऽर्जयाम इत्यनया बुद्ध्या

अनृतमपि वदन्ति । कुटुम्बिनस्तु स्वकुटुम्बभयात् ‘क्व वाऽत्मानं न परिरक्षिष्याम’ इति दूरं कृत्वा कुटुम्बस्य सापेक्षतया राजदण्डभयान्नान्यथा प्रवर्तन्ते ।

पुत्रिण इति पुत्रस्नेहात्पुत्रिणः । अपुत्रदारश्च साक्षिप्रश्नकाले साध्वाचारोऽपि कदाचिन्न सन्निहितो भवति । स हि नैकस्मिन् देशे आस्थानवान् भवति ।

एवं **मौला अपि** व्याख्येयाः । मौला जानपदास्तद्देशाभिजनाः । ते हि स्वजनज्ञाति-मध्ये पापभीरुतया न मिथ्या वदन्ति । ‘मूलं’ प्रतिष्ठा—सा येषामस्ति ते **मौलाः** । अर्थकथनमेतत् । तद्धितस्तु भवार्थ एव कर्तव्यः । यो हि यत्र भवः सोऽपि तस्या-स्तीत्यविरुद्धम् ।

क्षत्रविदूश्चूडयोऽनयः । न ब्राह्मणः । सर्वदा ह्यस्याध्ययनाध्यापने विहिते, अन्वहं वाऽग्निहोत्रहोमः । तत्र दूरस्थे राजनि धर्मोपरोधोऽस्य माभूदित्यसौ न कर्तव्यतयोपादी-यते यदृच्छयाऽवगतार्थस्तु साक्ष्यन्तराभावे गरीयसि कार्ये मुख्यतमः स साक्षी । तथा च “ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेदिति” साक्षिप्रश्नो भविष्यति (८८) । **योनिशब्दः** प्रत्येकमभि-सम्बध्यते । क्षत्रं योनिरुत्पत्तिः कारणमस्यासौ ‘क्षत्रयोनिः’ क्षत्रियजातीय इत्यर्थः । क्षत्राद्वा योनिर्जन्मास्येति पञ्चमीति योगविभागात्समासोऽप्युक्तः । अर्थिना यदोक्तं भव-न्त्येते मम साक्षिणः तदा साक्षिकर्मणि योग्या भवन्ति । ये तु स्वयमागत्य साक्ष्यं ददति न ते साक्षिणः ।

अनापदि । ‘आपत्’ साक्ष्यन्तराभाव इति केचित् । तदयुक्तम् । विसंवादकत्वमसा-क्षित्वे कारणम् । तत्त्वसंवादकान्तराभावे नापैति । न वयं ब्रूमः—प्रतिषिद्धसाक्षिभावा विद्यमानानृताभिधानहेतवोऽर्थसम्बन्ध्यादयो वाऽस्यामवस्थायां प्रतिप्रसूयन्ते—किं तर्हि येषां कदाचिदाहूयमानानां धर्मविरोधो भवति श्रोत्रियादीनां तेषामविद्यमानेष्वन्येष्वनु-भूतार्थानामिदं प्रत्यनुज्ञानं न पुनरनृतानाम् ॥६२॥

हिन्दी—गृहस्थ, पुत्रवाले, पहले से वहाँ निवास करनेवाले, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जाति वाले ये लोग मुद्दई के साक्षी हो सकते हैं; आपत्तिकाल को छोड़कर (धनादि के लेन-देन में) चाहे जो कोई साक्षी नहीं हो सकता है ॥६२॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।

सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥६३॥

भाष्य—**आप्ता** अविश्ववादका यथादृष्टार्थवादितः येषां लोको विप्रलम्भकत्वं न सम्भावयति—धर्मानुष्ठानपरा ये ख्याताः । **सर्वधर्मविद** श्रौतं स्मार्तमाचारनिरूढं च सर्व धर्मम्—इह नरकः फलमिह स्वर्ग इत्येवं निरवशेषं—जानन्ति ते ह्यनृताभिधाने नरकं पश्यन्तो बिभ्यति ।

अलुब्धा उदारसत्त्वा न स्वल्पं धनं बहु मन्यन्ते ।
एकैकस्य समस्तानि सर्वाणि विशेषणानि—साक्षिक्रियायां गुणभूतत्वाद्गुणे च
साहित्यस्य विवक्षितत्वात् ।

सर्वेषु वर्णेष्विति । सर्वकार्येषु न जातिनियमोऽस्तोत्युक्तं भवति । यत्पुनर्जाति-
व्यवस्थावचनं तदुपरिष्ठाद्वक्ष्यामः । तदेतदुक्तं भवति । सर्वैः कार्यभिः सर्वे वर्णा यथा-
सम्भवं साक्षिणः कर्तव्याः ।

कार्येषु ऋणादानादिषु ।

यथोक्तलक्षणात् **विपरीतांस्तु वर्जयेत्** । यद्यपि विशिष्टेष्वभिहितेषु तद्विपरीतानां
प्रसङ्ग एव नास्ति तथापि लौकिकोऽयं पर्युदासः । प्रयोग हि लौकिका अन्यं विधायान्यं
तद्विपरीतं निषेधयन्ति । तथा च भवन्ति वक्तारः—‘क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्य-
मिति’ । किञ्चाविसंवादकत्वमिह प्रधानं साक्षिलक्षणम् तच्च न विधिमुखेन शक्याव-
सानम्, किन्तु विसंवादकरणाभावमुखेन । न ह्यविसंवादकत्वं प्रत्यक्षदृश्यम् । तद्वि
यथार्थाभिधानम् । श्रोत्रग्राह्ये च वस्तुनि कुतः प्रत्यक्षा यथार्थनिश्चयः । प्रत्यक्षत्वे हि नैव
साक्ष्यवगमोऽन्विष्यते । न च सर्वत्र परोक्षे वस्तुनि शब्दावगम्ये प्रमाणान्तरसम्वादसम्भवः ।
तस्माद्यानि भूयस्त्वेन मिथ्याभिधानकरणतया दृष्टानि तदभावनिश्चयेनाविसम्वादकत्व-
मनुमीयते । अतस्तत्प्रदर्शनार्थोऽयमुपक्रमो **विपरीतांस्तु वर्जयेदिति** ॥६३॥

हिन्दी—सब वर्णों में (ब्राह्मों में भी) आप्तों (राग-द्वेष से रहित होकर निष्पक्ष
बोलनेवालों) को, सब धर्मों के ज्ञाता, निलोभी—इन लोगों को सब वर्णों (ब्राह्मणों में
भी) में साक्षी बनना चाहिये तथा इनके प्रतिकूल (राग-द्वेषपूर्वक पक्षपात से बोलनेवाले
धर्मज्ञानशून्य तथा लोभी) लोगों को (साक्षी बनाने में) छोड़ देना चाहिये ।

साक्षी के अयोग्य व्यक्ति—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।

न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥

भाव्य—तानीमानि सम्भाव्यमानमिथ्याभिधानकरणत्वेन पठ्यन्ते ।

तत्रार्थ **सम्बन्धिन** उत्तमर्णाधमर्णाद्याः । उत्तमर्णा ह्यधर्मवचनेन पराजीयमानास्तदानी-
मेव रोषावेशवशतः स्तम्भयन्ति धनं प्रत्यादातुमधमर्णम् । अतोऽसौ सन्निहितधनिक-
चित्तमनुवर्तमानः तदनुगुणं वक्तुं शक्नोति । तस्मादसौ न साक्षी । उत्तमर्णोऽपि निर्धनेऽ-
धमर्णे व्यवहारजयाच्च धनप्राप्तौ मह्यमयं प्रतिदास्यतीत्यनया बुद्ध्या कदाचित्तत्पक्षानु-
गुणं वक्तीति सोऽप्यसाक्षी ।

अथवाऽर्थः प्रयोजनं यस्य साक्षिणो विवादिभ्यां किञ्चित्प्रयोजनं साध्वं, तेन वा

तयोः, स उपकारगन्धान्न साक्षी । यो वा व्यवहारगतेनार्थेन समानफलः । इत्येवं-
प्रकारार्थसम्बन्धिनः ।

आप्ता मित्रबान्धवतया कार्याभ्यन्तराः पितृव्यमातुलादयः । **सहायाः** प्रतिभू-
प्रभृतयः । **वैरिणः** प्रसिद्धाः । **दृष्टदोषा** अन्यत्र कृतकौटसाक्ष्याः । अन्यद्वा प्रतिषिद्ध-
माचरितवन्तः । **व्याध्यार्ता** रोगपीडिताः । न पुनरीषद्रोगिण इत्यार्तग्रहणम् । पीडितस्य
हि क्रोधविस्मृत्यादयो मिथ्यावचने सम्भाव्यन्ते । **दूषिताः** पातकिनोऽभ्यस्तोपपातकाश्च ।
दृष्टदोषग्रहणं तु तेषामेव कृतनिग्रहणां परिग्रहार्थम् । ते हि राजनि वृत्तदण्डा ग्राहितविनय-
त्वात्र सम्प्रति ‘दूषिता’ भवन्ति ॥६४॥

हिन्दी—ऋणादि के देने या लेने के सम्बन्ध वाले, मिश्र, सहायक (नौकर आदि),
शत्रु (मुद्दालह का विरोधी), जिसने दूसरे किसी बात में झूठी गवाही दी हो वह, रोग-
पीडित तथा महापातक आदि से दूषित लोगों को साक्षी न बनावे ॥६४॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।

न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥६५॥

भाष्य—त्वं मे साक्षी भविष्यसीति व्यवहारकृता धनविसर्गादिकाले साक्षित्वे
नृपतिर्नाध्येषितव्यः । तस्य हि साक्ष्यं ददतः पक्षपातमाशङ्केरन् । प्रभुत्वाद्वा ददतोऽन्य-
तरस्य कार्यनाशः । न च साक्षिधर्मेण प्रष्टुं युज्यते । तद्देशवासी च यद्यपि लेखादिना
संवादयेत्तथाऽपि साक्षिधर्मं सर्वं न कुर्यादिति तद्देशवासिनो राज्ञः साक्षिकरणप्रतिषेधः ।

कारुकादीनां स्वकार्योपरोधशङ्कया । सङ्गत्या च ते जीवन्ति । स्वभावश्चैव जान-
पदानां यत्स्वयं निश्चितवन्तोऽपि ‘जीयामहे वयमिति’ जिताः साक्षिकादिभ्यो रुष्यन्ति ।
ततश्च सार्वलौकिकी सङ्गतिः कारुकादीनामुच्छिद्यते । किञ्च प्रकृतिपरिलघुत्वात्तेषां वृत्तेश्च-
लयितुमपि शक्यन्ते । तथा च पक्षपातं भजेरन् । **श्रोत्रियस्य** तु साक्षित्वे कर्तव्यता प्रति-
षिध्यते राजवन्न पुनरप्रत्ययिततया । न हि श्रोतियत्वं प्रामाण्यं विहन्ति, जनयत्येव
विशेषतः । न हि श्रोत्रियत्वं विसंवादहेतुतयोपलब्धम् । एवमुत्तरत्रापि ।

कारुकाः शिल्पोपजीविनः सूपकारायस्कारादयः । **कुशीलवाः** नटनर्तकगायनाद्याः ।
श्रोत्रियो वेदपाठकः । यस्त्वध्यनतत्परः स इह गृह्यते । अथवा श्रोत्रियत्वं कर्मा-
नुष्ठानोपलक्षणार्थम् । तेनानुष्ठानपरस्य तद्विरोधतया प्रतिषेधः । **लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी** ।
परिव्राजकपाखण्डलिङ्गधारिणस्तु कुशास्त्रवर्तित्वादेवाप्राप्ताः । **सङ्गेभ्यो विनिर्गता** वेद-
संन्यासिनो गृहस्थाः । ‘सङ्गः’ अभ्यासतो विषयोपभोगः; दृष्टार्थकर्मरम्भो वा ॥६५॥

हिन्दी—राजा, कारीगर (पाचक; बढ़ई, लोहार आदि) नट-भाट आदि, वैदिक,
ब्रह्मचारी तथा संन्यासी—इनको साक्षी न बनावे ॥६५॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।

न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥

भाष्य—अध्यधीनशब्दोऽत्यन्तपरतन्त्रगर्भदासादौ रूढ्या वर्तते । अन्ये तु तुल्य-संहितत्वादध्याधीन इति पठन्ति । ‘अध्याधीनो’ बन्धकीकृतः । वक्तव्योऽनुशास्यः शिष्य-पुत्रादिः, आचार्याधीनत्वात् । अथवा कुष्ठादीना कुत्सितकायः । दस्युः भृतिदासः वैतनिकः । ‘स ह्युपादासयति’ कर्माणीति नैरुक्ते निरुक्तः । तस्य च दिवसभृतत्वा-न्नात्यन्तपारतन्त्र्यमस्तीति पृथगुपदेशः क्रियते । कर्मजीवनत्वापत्तौ तथाविधानां जीविको-च्छेदः, लघुवृत्तित्वाच्च लोभादिसम्भवेनाप्रत्ययितताऽपि । चौरस्य तु शब्दान्तरोपादानात्र दस्युग्रहणेन ग्रहणम् । कठिनहृदयो वा दस्युः क्रूरचेष्टः । विकर्मकृच्छास्त्रविरुद्धं यः कर्म करोति । यथा ब्राह्मणः क्षत्रियवृत्तिं वैश्यो वेत्यादि । वृद्धो वयःपरिभाणामाद-संस्मृतिः । शिशुर्बालोऽप्राप्तव्यवहारः । एकः । त्र्यवरग्रहणेनैकस्याप्राप्तेः प्रतिषेधो द्वयोः कस्याञ्चिदवस्थायामभ्यनुज्ञानार्थः । यथा त्रिहस्ताचारोपत्रे । ‘यद्यपि तत्र तृतीय-लेखको न भवति तथापि लेखनमात्रस्य व्यापारो न साक्षित्व इति’ कस्यचिदियमाशङ्का स्यात् । अन्त्यो बर्बरचण्डालादिः—स्ववर्गादन्यत्र । शूद्रयोनित्वेन प्राप्तस्य प्रतिषेधः । विकलेन्द्रियोऽन्धबधिरादिः—शरीरपीडयोपलब्धिर्विकलत्वाच्च ॥६६॥

हिन्दी—अत्यन्त अधीन (गर्भ-दास या क्रीत-दास आदि) लोक निन्दित, क्रूर कर्म करनेवाला, बूढ़ा, बालक, अकेला, चाण्डाल और विकलेन्द्रिय इनको साक्षी नहीं बनाना चाहिये ॥६६॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।

न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥

भाष्य—आर्तो बन्धुधनादिनाशेन । मत्तो मद्यमदक्षीबः । अपस्मारगृहीत उन्मत्तः पिशाचकी । क्षुत्तृष्णोपपीडितो बुभुक्षापिपासाभ्यां व्यथितः । श्रमः कायचेष्टाधिक्येन दूराध्वगमनयुद्धादिनोत्पन्नस्तेनार्तः पीडितः । कामः स्त्रीसङ्गाभिलाषस्तेनाऽऽर्तः । विप्र-लम्भोऽत्यन्तसंयोगो द्वावपि तावत्प्रत्ययौ चित्तोपप्लवात्तत्साधने च विप्रलम्भाशङ्कया च । क्रुद्धोऽन्यस्मिन्नपि बहुतरक्रोधः । स हि क्रोधेन व्याप्तचित्तत्वान्न यावदनुभवति नाप्यनु-भूतं स्मरति । तस्करश्चोरः । यद्यप्यसौ विकर्मकृतथाऽपि भेदोपादानाद्बलीवर्दन्यायो द्रष्टव्यः ॥६७॥

हिन्दी—(बान्धवादि के विनाशादि के कारण) दुःखी, मत्त, पागल, भूख-प्यास से पीड़ित, थका, कामी, क्रोधी और चोर—इनको साक्षी नहीं बनावे ॥६७॥

स्त्री आदि के मुकदमे में स्त्री आदि को साक्षी बनाना—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियं कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।

शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥

भाष्य—यत्र पुमांसावर्थिप्रत्यर्थिनौ तत्र स्त्रीणां साक्ष्यं नास्ति । अत्र तु स्त्रिया सह पुंसः कार्यं स्त्रीणामेव चेतरेतरं स्वल्पं—तत्र भवन्त्येव स्त्रियः साक्षिण्यः । न चायं नियमः स्त्रीणां स्त्रिय एव साक्ष्यं कुर्युर्न पुमांसः । केवलं पुंविषये व्यवहारे क्वचिदेव स्त्रीणां साक्ष्यं यतोऽस्थिरत्वादिति हेतुरुपात्तः । भवन्ति काश्चन स्त्रियो ब्रह्मवादिन्य इव सत्यवादिन्यः स्थिरबुद्धयश्च ।

द्विजानां सदृशा द्विजाः । यः प्रमाणतरो द्विजः स विसदृशं शङ्क्यमानप्रमाण-भावमपि दिशन्साक्ष्ये न श्रद्धेयवचनो भवति । यतस्तथाभूतेन प्रमाणभूत एव द्रष्टव्यः । स हि तस्य सदृशः । सदृशानां हि समानदेशस्थानमितरेतरकार्यज्ञत्वं च सम्भाव्यते । इतरस्य तु तत्प्रदेशसन्निधिर्यत्नेन साध्यः । सदृशयोस्त्वौचित्यात्सिद्ध एव । एवं हीनस्य हीनगुणोऽपि सादृश्याद्ग्रहीतव्यः । न तूत्कृष्टगुणो न ग्रहीतव्यः । सादृश्यं जात्याशिल्पादिना वा गुणेन क्रियया वा श्रुताध्ययनादिकया समानशीलतया च । एतच्च नातिमहति कार्ये द्रष्टव्यम् । न हि हीनगुणेषु प्रत्ययितता निश्चीयते ।

अन्त्यानां चण्डालश्चपचादीनां तादृशा एवान्त्ययोनयः । अन्ते भवा अन्त्या, सा योनिरुत्पत्तिकारणं येषामिति विग्रहः । प्रदर्शनं चैतत् । ये समाना जातिशिल्पशीलादिभिस्तेषामिहानुक्तानामपि वणिक्कारुकुशीलवादीनां—हेतोः समानत्वात् ॥६८॥

हिन्दी—(स्त्रियों के (व्यवहार-मुकदमें में) स्त्रियों को, द्विजों के (व्यवहार में) सदृश द्विजों को, शूद्रों के (व्यवहार में) शूद्रों को तथा चाण्डालों के (व्यवहार में) चाण्डालों को साक्षी बनाना चाहिए ॥६८॥

विमर्श—परस्पर व्यवहार में समान जाति वाले साक्षी के मिल सकने पर यह विधान है, नहीं मिल सकने पर विजातीय साक्षी भी बनाया जा सकता है ।

धन-ग्रहणादि से भिन्न व्यवहारों में साक्षी—

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।

अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥

भाष्य—अन्तर्वेश्मनि यत्कार्यमतर्कितोपनतं वाग्दण्डपारुष्यसंग्रहस्तेयसाहसादिरूपम्, अरण्ये वा तादृशमेव, शरीरे च पीड्यमाने तत्काले दस्युभिरन्यैर्वा यतः कुतश्चिद्गृहीतं यो वा धननिमित्तं प्रतिभूत्वेन स्थापितः न च साक्षिणो लभ्यन्ते न वा तावत्कालं प्रतिपालयन्ति, रहसि चोक्तो वाऽर्थमाददते अप्रकाशम्,—तादृशे विषये यः

कश्चिदनुभावी स साक्षित्वेन ग्रहीतव्यः । अनुभावी साक्षाद्गृष्टा । यः कश्चिदिति न जातिनियमः, सदृशं च तदा नास्तीत्याह ।

अन्तर्वेश्मनीति विरलजनोपलक्षणार्थम् । तेन शून्यदेवतायतनादीन्यपि विरलजनानि गृह्यन्ते । तथा चारण्यग्रहणमस्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थम् ।

अन्ये तु शरीरस्यापि चात्यय इत्यन्यथा व्याख्यानयन्ति । कार्यशरीरस्यातिपाते यः कश्चित्साक्षी । यत्कार्यमनुष्ठीयमानमतिपतत्युत्तरकालमशक्यानुष्ठानं तत्र साक्षिणां जातिलिङ्गवयः—सादृश्यसम्बन्धाभावादिनियमो नास्ति । एतदेवोत्तरेण दर्शयति ॥६९॥

हिन्दी—घर के भीतर, वन आदि में चोर आदि के शरीर में चोट आने या मारे जाने पर, जो भी कोई मिल जाय, उसे ही वादी और प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह)—दोनों पक्ष का साक्षी बनाना चाहिये (किन्तु ऋण आदि के लेन-देने में जिस किसी को साक्षी नहीं बनाना चाहिये ॥६९॥

अभाव में बालक आदि को साक्षी बनाना—

स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।

शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

भाष्य—स्त्रियेति लिङ्गव्यत्यय उक्तः । बालेन स्थविरेण वेति वयोव्यत्ययः । शिष्येणेत्यादिना सम्बन्धिनः प्रतिप्रसवः । एतच्च प्रदर्शनमेवंविधानां नियमानां व्यभिचाराय । तेन जातिसादृश्येऽपि नाद्रियेते । सुहृद्वैरिदृष्टदोषादयस्तु नेष्यन्ते । येषां किञ्चिदसत्याभिधानकरणत्वं दृष्टं नापि व्यापकं ते न प्रतिप्रसूयन्ते । येषां तु बहुव्यापकं क्वचिदेव गुणातिशयं चेति व्यभिचारेत्ततः क्वचिदेव तत्साक्षिणः । उक्तं च—

“एकः सहस्राल्लभ्येत न सौहार्दान्न शात्रवात् ।

नार्थसम्बन्धतो वाऽपि पुरुषोऽनृतमाचरेदिति ॥”

असम्भवेऽन्येषां साक्षिणां स्त्रियाऽपि कार्यम् । किम्? साक्ष्यमिति पूर्वश्लोकादनुषज्यते । शिष्येणेति मौखश्रौतसम्बन्धप्रदर्शनार्थमेतत् । बन्धुनेति अहार्योत्पत्तिकायादिसम्बन्धप्रतिप्रसवः । सत्यपि सम्बन्धत्वे यो नातिप्रत्यासन्नः स गृह्यते । तेन भ्रातृव्यमातुलश्चशुर्यादयो न साक्षिणः । तथाविधे हि बन्धुशब्दो रूढः । दासेनेति स्वस्वामिसम्बन्ध उपलक्ष्यते । न स्वाम्युपाध्यायो याजकश्च सर्वविधे विषये साक्षिणः । दासो गर्भदासः । भृतको वैतनिकः ।

ननु चासामर्थ्याद्वालादयः साक्षित्वे निरस्ताः । न ह्येते साक्ष्यमवधारयितुं शक्नुवन्ति बुद्धेरस्थैर्यात्परिपाकादिभिर्दोषैस्तदापि प्रतिप्रसूयमानसमञ्जसमिति, न ह्यापदि शक्तिरस्याविर्भवति । यो हि ब्रूयात् ‘न वा नवौदनः पक्तव्यः—सत्यग्नौ तु पक्तव्य इति’

तादृगेतत्स्यात् ।

नैष दोषः एवमर्थमेवोत्तरश्लोक आरभ्यते ॥७०॥

हिन्दी—उक्त स्थानों (८।६९) में दूसरे साक्षी नहीं मिलने पर बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, दास और कर्मकर (नौकर) को साक्षी बनाना चाहिये ॥७०॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।

जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥७१॥

भाष्य—अयमस्यार्थः । नेहात्यन्ताप्राप्तनिबद्धभ्रान्तबुद्धयो बालादयो गृह्यन्ते येना-
रभ्योऽर्थ उपदिष्टः स्यात् । किन्तु ये शकुवन्त्यवधारयितुं न चातिस्थिरचेतसस्तेभ्यः
अनुज्ञायन्ते । तेषां वचनमनुमानेन परीक्ष्यम् । यदि सम्बद्धं वदन्ति न च खलन्ति न शङ्क्य-
मानदोषेण केनचित्सङ्गतास्ततः प्रमाणम् । तदाह तेषां **मृषा वदतामस्थिरां वाचं**
जानीयात् । एतदुक्तं भवति । वाचोऽस्थैर्येण मृषात्वं निश्चिनुयात् । तत्र वाचोऽस्थैर्यं
पदानामितरेतरमसङ्गतिः, अस्फुटापरिपूर्णाक्षरत्वं च । एतच्च बालादीनामवस्थोपलक्ष-
णार्थम् । ये च वयसा व्याधिना वाऽप्यवस्थामियतो गता यदन्यद्विवक्षन्तोऽन्यदुच्चार-
यन्ति तच्चाव्यक्तं न ते साक्षिणः । एतत्प्रत्यक्षवेद्यमसाक्षित्वकारणम् । अन्यतु रागद्वेषधन-
लोभादिसाधारणमनुमानतः । परीक्ष्यम् । तच्चोक्तमेव । **उत्सिक्तचेतसः** प्रकृत्यैवोपप्लुता
अधीरधियः ॥७१॥

हिन्दी—गवाही में असत्य बोलनेवाले बालक, स्त्री, वृद्ध और अस्थिर चित्त वालों
की बातें अस्थिर होती हैं (अतएव अस्थिर बात कहने पर न्यायाधीश उनकी गवाही को
असत्य माने) ॥७१॥

साहसादि कार्यो में साक्षिपरीक्षा का निषेध—

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।

वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥७२॥

भाष्य—‘सहो’ बलं, तदाश्रित्य यत्क्रियते तत्साहसम् । राजवाल्लभ्येन महापक्ष-
तया स्वशरीरबलेन बलवदाश्रयेण वा यदकार्यकरणं तत्साहसम् । यथा वस्त्रपाटना-
ग्निदाहकेशछेदादि । अन्यत्प्रसिद्धम् । अत्र साक्षिणो न परीक्ष्याः । ‘गृहिणः पुत्रिण’
इत्येवमादिरूपपरीक्षाऽत्र प्रतिषिध्यते । या तु व्यभिचारहेतुतया शङ्क्यते रागद्वेषधन-
लोभादिरूपा सा कर्तव्यैव । दृष्टमूलत्वादस्याः स्मृतेरित्युक्तम् ॥७२॥

हिन्दी—साहस कार्य (घर या गल्ले आदि में आग लगाना आदि), चोरी, आचार्य-
स्त्री-संग्रहण, वचन तथा दण्ड की कठोरता—इनमें साक्षियों की परीक्षा (८।६२-६९ के

अनुसार), नहीं करनी चाहिये (किन्तु ८।६९-७० के अनुसार स्त्री-बालक आदि साक्षियों को भी स्वीकृत कर लेना चाहिये) ॥७२॥

साक्षियों के परस्पर विरुद्ध कहने पर कर्तव्य—

बहुत्वं परिगृहीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।

समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥

भाष्य—यत्र भूमिभागादौ विप्रतिपत्तिर्द्वाभ्यां च भोगसाधने साक्षिणो निर्दिष्टाः । ते च केचिदर्थिनो भोगमाहुरपरे प्रत्यर्थिनः । तत्र बहूनां वचनं ग्राह्यम् । समसङ्ख्येषु तु ये गुणैरुत्कृष्टा बहुगुणा इत्यर्थः । एकेन वा गुणेन दृष्टपुरुषार्थोपकारिणा सातिशयेन युक्ताः । गुणवतां समगुणानां भेदे जातिरादत्तव्या । सर्वसाम्ये शपथः । अन्यद्वा तत्समानम् ।

बहुत्वं परिगृहीयात् । बहूनां वचनं प्रमाणीकुर्यात् । **द्वैधं** परस्परविरुद्धार्थाभिधानम् ॥७३॥

हिन्दी—साक्षियों के परस्पर विरुद्ध वचन कहने पर राजा (या राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश) बहुमत को तथा दोनों के समान होने पर श्रेष्ठ गुणवालों को और उन (गुणियों) में भी विरोध आने पर क्रियानिष्ठों को (गोविन्दराज के मत से ब्राह्मणों को) प्रमाणित माने ॥७३॥

साक्षी को सत्यभाषण करना—

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।

तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥७४॥

भाष्य—ननु च “अनुभावी तु यः कश्चित्” इत्यनेनोक्तमेवैतत्कथं चान्यथा-सिद्धिराशङ्क्यते येनेदमुच्यते दर्शनश्रवणाभ्यां साक्ष्यसिद्धिरिति ।

अत्रोच्यते । साक्षी व्यवहरिष्यता कर्तव्यः त्वं मे साक्षी भविष्यसि इत्युक्तम् । तत्र एवत्रोक्तः स न प्राप्नोति । एवमर्थमिदमुच्यते । यस्तत्र सन्निहितः कथञ्चिदनुभविता त्वं स्मर्तुमर्हस्यावयोरमुमर्थमित्येवमनुक्तेऽपि भवत्येव साक्षी—**समक्षदर्शनात्साक्षादनुभावाच्छ्रवणाच्च** । समक्षशब्दानुषङ्गः कर्तव्यः । यत्कुतश्चिदेकेन श्रूयते ततोऽन्येन तत्परंपराश्रुतं तेन परम्पराश्रावी न साक्षी । यथैतेनेदमकार्यं कृतमिदमस्मै वा धारयतीति लोकप्रसिद्ध्यागतम्, न तु प्रमाणतः । तत्र समक्षदर्शनं साक्षादनुभवनमर्थविषयमृणप्रयोगदण्डपारुष्यादि साक्षाद्दृष्टं चक्षुर्व्यापारेण वाक्पारुष्यं तथेदमस्मान्मया गृहीतमित्येवमादिविषयं शब्दश्रवणम् । यद्यपि दृशिरुपलब्धिमात्रवचनः तथापि वृत्तानुरोधितया श्रोत्रज्ञानं श्रवणं भेदेनोपातम् । एतावच्चात्र विवक्षितम् । प्रमाणतो येनानुभूतं स साक्षी । समक्षशब्दग्रहणं प्रमाणमात्रोपलक्षणार्थम् । तेनानुमानादिनाऽप्यनुभूतमनुभूतमेव । अतः

आप्तागमाच्छ्रुतमप्रत्यक्षमपि प्रमाणम् । उत्तरस्तु श्लोकार्थोऽनुवाद एव । सत्यवचनस्य विहितत्वात्, धर्मार्थहानेश्च प्रमाणान्तरावगतत्वात् ॥७४॥

हिन्दी—देखने योग्य विषय में प्रत्यक्ष देखने तथा सुनने योग्य विषय में स्वयं सुनने से साक्षित्व (गवाही) ठीक होता है, उस विषय में सत्य कहनेवाला साक्षी धर्म, अर्थ से हीन नहीं होता है (अन्यथा असत्य कहनेवाला साक्षी धर्मच्युत तो होता ही है अर्थ दण्ड (जुर्माना आदि) होने से अर्थच्युत भी होता है) ॥७४॥

असत्य साक्षित्व में दोष—

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विबुवन्नार्यसंसदि ।

अवाङ्मनरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥

भाष्य—असत्याभिधानं साक्षिणां फलदर्शनार्थमिदम् । दृष्टश्रुतशब्द उपलब्धिपर्याय इत्युक्तम् । तस्मादन्यदनुपलब्धम् । तच्चेदब्रवीति । **आर्याः** सभ्याः सम्यक्कारिणः । तेषां **संसदि** सभायाम् **अवाङ्** अधोमुखः । **नरकं** याति यमयातनास्थानं गच्छति । **प्रेत्य** मृत्वा । **स्वर्गाच्च** हीयते भ्रश्यति । यदप्यनेन स्वर्गारोहणिकं कर्म कृतं तदपि कौटसाक्ष्यपापस्य गुरुत्वात्प्रतिबध्यते । न तु स्वर्गस्य कर्मणः पापेनान्येन नाशः । स्वफलविधित्वात् कर्मणामन्यत्र प्रायश्चित्तेभ्यः ॥७५॥

हिन्दी—यदि साक्षी देखे या सुने हुए विषय को न्यायालय में असत्य कहता है, तो वह अधोमुख (उल्टा होकर नीचे मुख किये) नरक में गिरता है तथा (अन्य पुण्य) कर्मों से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी उसे नहीं मिलता है ॥७५॥

श्रुतसाक्षी—

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन ।

पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥७६॥

भाष्य—“ननु चोक्तं समक्षदर्शनादित्यत्र यथाकथञ्चिदनुभूतवतोऽनियुक्तस्यापि साक्ष्यमस्तीति । तत्र किमनेन यत्रानिबद्धोऽपीति । को वा विशेषः” ।

उच्यते । लेख्यारूढस्य व्यापारविशेषाद्युक्तं साक्षित्वं न पुनरनारूढस्य । आरोहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गादुभयोः साक्षित्वे । अत एतामाशङ्कामपनेतुमिदमुच्यते । पूर्वस्तु श्लोको यत्रानुक्ताः साक्षिणः । अयं तु यत्र ससाक्षिकं लेख्यम् ।

अनिबद्धो लेख्यमनारूढोऽपीत्यर्थः । ईक्षणश्रवणे व्याख्याते । शेषं सुबोधम् ॥७६॥

हिन्दी—वादी या प्रतिवादी के द्वारा साक्षी नहीं बनाये जाने पर (‘मेरा साक्षी बनो’ ऐसो उनके नहीं कहने पर) भी वह जैसा देखे तथा सुने, न्यायाधीश के पूछने पर वैसा ही कहे ॥७६॥

निलोभ साक्षी की श्रेष्ठता—

एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्याद्वदह्वयः शुच्योऽपि न स्त्रियः ।

स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥७७॥

भाष्य—एकस्य पुनःप्रतिषेधो लोभादिरहितस्य प्रतिप्रसवार्थः । तेन सत्यवादितया निश्चित एकोऽपि साक्षी भवत्येव । स्त्रियस्तु न कथञ्चित्साक्ष्यमर्हन्त्यल्पा वा बह्व्यो वा । शुच्योऽपीति गुणवत्योऽपीत्यर्थः । अत्र हेतुः । स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वादिति । प्रकृतिरेषा स्त्रीणां यद्बुद्धेश्चापलम् । गुणस्तु यत्नोपार्जिता अपि प्रमादालस्यादिना व्यपयन्त्यतः स्वाभाविकमस्थैर्यं तिष्ठेदेव । यथाऽऽमयाविनो घृतादिनोत्पन्नेऽप्यग्नेः स्थैर्यं स्वल्पेनापि प्रमादे पुनः सहजामयावितानुवृत्तिः । अतोऽनया शङ्कया गुणवतीष्वपि तासु नाश्वासः । यत्तु “स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यम्” (श्लो० ७०) इति तद्यत तत्क्षणादेव पृच्छन्ते । यत्रेयमाशङ्का न भवति केनचिदासां सञ्चलितं मन इति । यत्र तु कालव्यवधानं तत्र जीयमानेन कदाचिदनुकूल्यन्ते इति न क्वचित् साक्षिण्यः ।

दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः । रोगादिभिर्दोषैर्ये स्त्रीभ्योऽन्येऽपि पुरुषा वृता आक्रान्ता भूयिष्ठदोषा इत्यर्थः ।

के पुनरमी दोषा नाम ।

उक्तं च । रागादयः शास्त्रप्रतिषिद्धाः शङ्क्यमानव्यभिचारहेतुभावाः । यद्यपि केवलेन स्वशब्देनैवोक्ता दोषाः तथाप्यनुक्तपरिग्रहार्थमिदमपुनरुक्तम् । सामान्यविशेषाभिधानं हि सर्वत्र ग्रन्थकारा अनुमन्यन्ते ।

अन्ये त्वकाराप्रश्लेषेणालुब्धोऽप्येको न साक्षी किं पुनर्लुब्ध इत्येवमाचक्षते । तथा च द्वयोरभ्यनुज्ञानं भवति ।

शुच्य इतीकारो दुर्लभो ‘वोतो गुणवचनात् इति’ (पा०सू० ४।१।४४) विधानात् । कृदिकारादिति (वा० ४।१।४५) केचित्समर्थयन्ते ॥७७॥

हिन्दी—निलोभ एक भी साक्षी ठीक होता है, स्त्री-बुद्धि के अस्थिर होने से आत्मशुद्धियुक्त भी बहुत-सी स्त्रियाँ ठीक साक्षी नहीं होतीं, तथा चोरी आदि के दोषों से युक्त साक्षी भी (चाहे वे पुरुष ही क्यों न हों) ठीक नहीं होते ॥७७॥

विमर्श—मेघातिथि तथा गोविन्दराज ने ‘एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यात्’ ऐसा पाठ मानकर ‘लोभी एक व्यक्ति साक्षी नहीं होता है, अलोभी गुणवान् एक भी किसी अवस्था में साक्षी हो सकता है, ऐसा अर्थ किया है । इस पाठ में एक का प्रतिषेध निलोभी के प्रति ये सबके लिए किया गया है, अतः एक भी साक्षी के सत्यवादी निश्चित हो जाने पर उसका साक्षित्व प्रमाणित मानना चाहिए । स्त्री बुद्धि के स्वभावतः चञ्चल होने से

प्रमादादि दोष के कारण वे शुद्ध होकर भी अन्यथा कह सकती हैं, अतः उनका साक्षित्व उन निर्लोभ एवं सत्यवादी पुरुष की अपेक्षा ठीक नहीं है ।

साक्षी के स्वाभाविक वचन की प्रमाणिकता—

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।

अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥

भाष्य—साक्षिणो यत् स्वभावेन व्यावहारिकं ब्रुवन्ति तद्ग्राह्यम् । यत्तु स्वभावाद्विचलिता । धर्मबुद्ध्या धर्मार्थं ब्रूयुस्तदपार्थक्यमग्राह्यमित्यर्थः । यद्यथादृष्टार्थस्य वचनं तत् स्वभावतः । यत्त्वन्यथा—माभूदस्य तपस्विनो मद्रचनेन बाध इत्यनया बुद्ध्यातदपार्थकम् । यथाकेनचिदावेदितं भवति अनेनाहमाक्रुष्ट इति—तत्र परेणापहृतम्—साक्षिण आहुः सत्यमाक्रुष्टः, नर्मणा, न तु रोषेणेति । तत्राक्रुष्ट इत्येतत्साक्षिणां वचो ग्राह्यम् । नर्मणेत्येतदुत्तरवादिनानुक्तत्वादपृष्टमुक्तमपि न ग्राह्यम् ।

व्यावहारिकं व्यवहारगतम् । अपगतप्रयोजनमपार्थकम् ।

अन्ये व्याचक्षते । यदप्रागल्भ्यादिभिः स्वलितपदमुदाहरन्ति न तावता तदनादेयं किन्तु स्वभाव एषामुपलक्षितव्योऽनुमानेन—किममी अप्रागल्भ्यात्स्वलन्ति उतासत्याभिधायितयेति ।

तत्तु प्रागुक्तं न चाक्षरार्थ इत्युपेक्ष्यम् ॥७८॥

हिन्दी—साक्षी (भय या दबाव आदि न होने पर) स्वभावतः जो कुछ कहे न्यायाधीश को उसे ही ठीक मानना चाहिये; अन्य किसी कारण (भय, दबाव, शील या सङ्कोच आदि) से धर्मविरुद्ध निष्प्रयोजन बातें वह कहे तो उसे ठीक नहीं मानना चाहिये ॥७८॥

साक्षी से प्रश्न करने की विधि—

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।

वाङ्मवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥७९॥

भाष्य—सभायामन्तः सभान्तः । शौण्डादित्वात्समासः (पा० २।१।४०) । व्यवहारदेशगता उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः सन्निधानेऽनुयोक्तव्या वक्ष्यमाणेन विधिना ।

सान्त्वयन् अपरुषम्ब्रूवन् । पारुष्येण हि प्राङ्मवाकाद्विभ्यतोऽप्रकृतिस्था न सर्वस्मरेयुः, संस्कारभ्रंशहेतुत्वाद्भयस्य । प्राङ्मवाको राज्ञा व्यवहारदर्शनाधिकृतो रूढ्योच्यते । यद्यप्यवयवार्थो राजन्यपि सम्भवति—पृच्छति विविनक्तीति तथाऽपि भेदेन प्रयोगदर्शनम्—“अमात्यः प्राङ्मवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथा” इति (९।२३४) । पृच्छतीति प्राट् “क्विब्वचिप्रच्छिश्रिद्रुश्रुप्रां दीर्घोऽसम्प्रसारणं चेति” प्राट् । विशेषेण धर्मसङ्कटेषु विवेक्तीति विवाकः । “कृत्यल्युटो बहुलम्” (पा०सू० ३।३।११३) ।

कर्तरि ऋजू । “चजोः कुघिण्यतोः” (पा०सू० ७।३।५२) इति कुत्वम् । प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः ॥७९॥

हिन्दी—वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) के सामने न्यायालय में उपस्थित साक्षियों से न्यायाधीश प्रियभाषण करता हुआ इस विधि से (८।८०-८६) प्रश्न करे ॥७९॥

यद्वयोरनयोर्वेत्य कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।

तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यात्र साक्षिता ॥८०॥

भाष्य—यज्जानीथ अस्मिन् व्यवहारवस्तुनि अनयोर्मिथः प्रत्यक्षं रहसि वा चेष्टितं वृत्तं तत्सर्वं सत्येन तथ्येन ब्रूत कथयत । युष्माकं ह्यात्र साक्षिता भवतामत्र प्रामाण्यम् । युष्मद्वचनाधीने सत्यानृते । इत्यनेन प्रोत्साह्यन्ते । साक्षिभूता अस्मिन् कार्ये इति सामान्यनिर्देशेऽप्यखिलवस्तुश्रावणं सामर्थ्याद्द्रष्टव्यम् । न ह्यश्रुतविशेषाः प्रश्नविषयं वेदितुमर्हन्तीति ॥८०॥

हिन्दी—तुम लोग इन दोनों (अर्थी-प्रत्यर्थियों) के व्यवहार (मुकदमे) में जो कुछ जानते हो, उन्हें सत्य-सत्य कहो, क्योंकि तुम लोगों की यहाँ गवाही है ॥८०॥

साक्षियों को सत्य बोलना—

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोत्यनिन्दितान् ।

इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥

भाष्य—इतःप्रभृति सत्यवचनार्थः साक्षिणामनुयोगविधिः । सत्यं वदन् लोकान् स्वर्गादिलक्षणाननिन्दितानगर्हितानभिप्रेतफलभोगहेतून् लभते साक्षी । जातिवचनो वा लोकशब्दः । शुभे जन्मनि जायत इत्यर्थः । अस्मिंश्च जन्मनि कीर्तिं ख्यातिम् अनुत्तमां यस्या अन्यदुत्तमं प्रकृष्टं नास्ति तां लभते । साधुवादो जनेनास्मै दीयते । यस्मादेषा च वाक् सत्या सरस्वती ब्रह्मणा प्रजापतिना पूजिता ॥८१॥

हिन्दी—गवाही में सत्य कहनेवाला साक्षी मरने पर श्रेष्ठ लोकों (स्वर्ग आदि) को पाता है और इस लोक में श्रेष्ठ यश (नामवरी) पाता है, क्योंकि यह सत्य भाषण ब्रह्मा से पूजित है ॥८१॥

[विक्रियाद्यो धनं किञ्चिद् गृहीयात्कुलसन्निधौ ।

क्रमेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥८२॥]

[हिन्दी—जो व्यक्ति व्यापारि-समूह के सामने किसी वस्तु को बेचे या खरीदे, वह व्यक्ति उस निर्दोष धन को न्यायानुसार प्राप्त करता है ॥८२॥]

साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।

विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥

भाष्य—पूर्वेण दृष्टशुभफलप्रदर्शनेन सत्यवचने साक्षिणः प्रोत्साहिताः । अनेन विपरीताभिधाने दुःखोत्पत्तिदर्शनम् । सत्यवचनार्थमेवैतत् । साक्षिणः कर्म साक्ष्यम् । तत्रासत्यं ब्रुवाणो वारुणैः पाशैर्बध्यते पीड्यते । भृशमत्यर्थम् । विवशः परतन्त्रीकृतः सर्वचेष्टासु वाक्चक्षुर्गतात्वपि । शतं यावज्जन्मनि वारुणाः पाशा घोराः सर्परज्जवो जलोदराणि वा । एतद्दोषपरिहारार्थं सत्यं वदेदिति विधिः । आजातीरिति नायं मर्यादा-भिविध्योराड् । तथा सति पञ्चमी स्यात् । तस्मादुपसर्गोऽयमनर्थकः, प्रलम्ब इतिवत् । द्वितीया चेयं आवृत्तिश्चात्र गम्यते । शतं जन्मान्यावर्तते उदरगृहीतः ॥८२॥

हिन्दी—गवाही में असत्य बोलता हुआ मनुष्य वरुण के पाश (सर्परूप रस्सी) से बाँधा जाता है तथा जलोदर रोग से परवश होकर सौ जन्म तक पीड़ित होता है; इस कारण गवाही में सत्य बोलना चाहिये ॥८२॥

सत्य की श्रेष्ठता—

[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि ।

शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥६॥]

[हिन्दी—मनुष्यों में ब्राह्मण, आकाशीय तेजों में सूर्य और सम्पूर्ण शरीर में मस्तक के समान सब धर्मों में सत्य श्रेष्ठ है ॥६॥]

[नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।

साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥७॥]

[हिन्दी—सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म और असत्य से बढ़कर दूसरा पाप नहीं है, इस कारण गवाही में विशेष रूप से सत्य श्रेष्ठ माना जाता है ॥७॥]

[एकेवाद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबुध्यते ।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥८॥]

[हिन्दी—जो केवल सत्य ही बोलता है, दूसरा (असत्य) नहीं बोलता, वह कदापि भूलता नहीं है, समुद्र की नाव के समान सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है ॥८॥]

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥

भाष्य—पूयते शुद्ध्यत्यन्यस्मादपि पापान्मुच्यत इति यावत् । शेषं गतार्थम् ॥८३॥

हिन्दी—गवाह सत्य से पवित्र होता (पाप से छूट जाता) है, सत्य से उसका धर्म बढ़ता है, इस कारण गवाहों को सब वर्णों के विषय में सत्य ही बोलना चाहिये ॥८३॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।

माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥

भाष्य—एष एवार्थो विस्पष्टीक्रियते उत्तरेण श्लोकेन ॥८४॥

हिन्दी—आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का साक्षी (गवाह) है और आत्मा की गति भी आत्मा ही है, इस कारण मनुष्यों के श्रेष्ठ साक्षी आत्मा का (असत्य बोलकर) अपमान मत करो ॥८४॥

साक्षिरूप स्वात्मा के अपमान का निषेध—

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपुरुषः ॥८५॥

भाष्य—नशब्दो व्यवहितः । पापकृतः कूटादिकारिण एवं जानते । न कश्चिद-
स्मान्पश्यतीति । इतिकारेण मन्यतेर्वाक्यार्थः कर्मेति प्रतिपाद्यते । न नः कश्चित्पश्यती-
त्येष वाक्यार्थः । तांस्तु देवा वक्ष्यमाणाः पश्यन्ति । स्वस्य चान्तरात्मा । तदुक्तम्—
“आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी” इति ।

ननु कः पुनरयं पापचारी तस्य च कोऽन्यो द्रष्टा? यावताऽऽत्मैव कर्ता शुभा-
शुभानां न चान्तरपुरुषो द्रष्टेति ।

सत्यम् । तस्यैव देवतात्वमध्यारोप्य भेदेन कर्मकर्तृव्यपदेशोऽनृतनिवृत्त्यर्थः । देवता-
रूपं त्वं जानीषे । तात्त्विकमात्मीयमान्तरं रूपं शारीरम्, तथा बाह्यमनात्मीयमसारम्,
एतदुपभोगार्थं मा दुष्कृतं कार्षीरिति प्रोत्साह्यते । अतो ‘माऽवमंस्थाः स्वमात्मानम्’
माऽवज्ञासी ‘नृणां साक्षिणमुत्तमम्’ । अन्यो हि साक्षी अस्मिन्नेव लोके, अयं तु मृत-
स्यापि साक्ष्यं ददाति । तस्मादेतस्माद्भेदव्यम् । असत्यवादी मदाचिन्मन्यते—आत्मान्तरं
प्रतिपन्नस्य किमेष मे द्रष्टाऽपि करिष्यतीति । तन्न । ‘गतिरात्मा तथात्मनः’ । आत्मान-
मन्तरेणान्या गतिर्नास्ति । न हि द्वावात्मानावेकस्य भवतः ।

अन्ये तु मन्यन्ते परमात्मा साक्षी संसार्यात्मानो नियोज्या इति भेदः ॥८५॥

के पुनस्ते देवा रहस्यपि प्रच्छन्नं पापमाचरन्तं ये पश्यन्त्यत आह—

हिन्दी—पापी पुरुष समझते हैं कि ‘हमको कोई नहीं देखता’; किन्तु उनको (अग्रिम
श्लोक में कहे जानेवाले) देवता देखते हैं तब अपने ही अन्तःकरणों में स्थित पुरुष
देखता है ॥८५॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।

रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥८६॥

भाष्य—हृदयशब्देन हृदयायतनो लिङ्गपुरुष उच्यते । दिवादीनां द्रष्टृत्वे अचेतनेषु चैतन्यमारोप्यते । दर्शनान्तरे तु महाभूतानि देवतात्मतया चेतनान्येव । तथा च पृथिवी भारवतरणाय ब्रह्माण्मुपागमदिति वर्ण्यते । सर्वगतत्वात्तेषां न किञ्चिदप्रत्ययमस्तीति सर्वशरीरिणां वृत्तं शीलं चात्मनः कायगतं शुभमशुभं च जानते ॥८६॥

हिन्दी—आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ (प्रातः सन्ध्या तथा सायं सन्ध्या) और धर्म—ये शरीरधारियों के व्यवहार (शुभाशुभ कर्म) को जानते हैं ॥८६॥

ब्राह्मणादि साक्षी से प्रश्नविधि—

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।

उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्ने वै शुचिः शुचीन् ॥८७॥

भाष्य—देवा दुर्गामार्तण्डादयः प्रतिमाकल्पिताः । शुचीन् कृतस्नानाचमनादिविधीन् । शुचिः प्रष्टा स्वयमपि तथाविध एव स्यात् । ऋतमिति श्लोकपूरणार्थमेव । प्रसिद्धमन्यत् ॥८७॥

हिन्दी—शुद्ध हृदय न्यायकर्त्ता देवता की प्रतिमा और ब्राह्मण के पास में पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खड़े हुए सत्यवक्ता द्विजों से (या अन्य जातीय साक्षियों से भी) पूर्वाह्न समय में (दोपहर के पहले) गवाही लेवे ॥८७॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥८८॥

भाष्य—“क्व पुनरियं तृतीया गोबीजकाञ्चनैरिति । यदि तावत्पृच्छेदिति क्रिया-सम्बन्धात्करणमुच्यते, तदनुपपन्नम् । शब्दो हि तत्र करणम्, नार्थः” ।

नैष दोषः । यथा गवादीनि प्रश्नकरणत्वं प्रतिपद्यन्ते तथा व्याख्येयम् । पातकैरित्युभयशेषो विज्ञेयः गोबीजकाञ्चनैः पातकैरिति । तेनायमर्थो भवति । गोबीजकाञ्चनविषयैः पातकप्रदर्शनैः पृच्छेदिति । गां हत्वा हत्वा वा यत्पातकं तद्भवति तव मिथ्या वदत इति प्रश्नवाक्यं पठितव्यम् । एवं वक्ष्यमाणैः पातकैः शूद्रं पृच्छेत् । पातकशब्दस्तु पातकप्रदर्शनार्थेष्वभिधानेषु द्रष्टव्यो मुख्यानां प्रश्नकरणत्वाभावादित्युक्तम् ॥८८॥

हिन्दी—न्यायाधीश ब्राह्मणों से ‘कहो’, क्षत्रियों से ‘सत्य कहो’, वैश्यों से, ‘गौ, बीज और सोना चुराना पाप है । वह पाप तुम्हें असत्य गवाही देने पर लगेगा’ तथा शूद्रों से ‘तुम्हें सब पाप लगेगे, यदि तुम असत्य गवाही दोगे’ ऐसा (८।८९-१०१) कहकर गवाही लेवे ॥८८॥

असत्य गवाही देने से दोष—

ब्राह्मणो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥८९॥

भाष्य—ब्राह्मणं हत्वा ये लोका नरकादिलक्षणाः प्राप्यन्ते तत्कारिभिस्ते तव भवन्ति मिथ्यावदतस्तस्मात्सत्यं ब्रूहीत्यनुयोगः । यश्च मित्रं द्रुहति ब्राह्मणादीन् दारसर्व-स्वापहरणादिना नाशयति—यश्च कृतमुपकारं विस्मृत्य तमेवोपकर्तारमपकरोति—यत्तस्य कृतघ्नस्व परत्र दुःखं तदवाप्नोति ॥८९॥

हिन्दी—ब्राह्मण, स्त्री तथा बालक की हत्या करनेवाले, मित्रद्रोही तथा कृतघ्न को जो नरक आदि लोक प्राप्त होते हैं, वे सब असत्य बोलते हुए तुम्हें प्राप्त होवें ॥८९॥

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।

तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥९०॥

भाष्य—शुनो गच्छेत्रिष्फलं स्याद्भवत इत्यर्थः । अन्ये तु दोषप्रदर्शनार्थं श्वगमन-वचनम् । यथा कृच्छ्रेण महता सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यमर्जयित्वाऽशुचिप्रवाहे त्यजेत्तादृक् सुकृतं भवति । न पुनरन्यकृतस्य सुकृतस्यान्यत्र गमनमस्तीत्यसकृदुक्तमेतत् ॥९०॥

हिन्दी—हे भद्र! यदि तुम अन्यथ अर्थात् असत्य बोलो तो जन्म से लेकर जो कुछ तुमने पुण्य किया है, वह सब कुत्तों को प्राप्त हो अर्थात् वह सब पुण्य नष्ट हो जाय ॥९०॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यस्त्वं कल्याण मन्यसे ।

नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥

भाष्य—पुण्यपापयोरीक्षिता द्रष्टा मुनिस्तूष्णींभूतः ॥९१॥

कः पुनरसौ मुनिः ।

भयातिशयप्रदर्शनार्थमाह—

हिन्दी—हे कल्याणकारी चरित्र वाले! जो तुम 'मैं अकेला हूँ, ऐसा आत्मा (जीवात्मा) को मानते हो (वैसा मत मानो, क्योंकि) पुण्य-पाप को देखेनेवाला सर्वज्ञ (परमात्मा) तुम्हारे हृदय में सर्वदा वर्तमान रहता है ॥९१॥

सत्य की प्रशंसा—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।

तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥९२॥

भाष्य—य एष यमः सर्वप्राणिनां देहधनाद्युच्छेदकारी यातनाभिश्च निगृहीतेति

श्रुतिपथमागतो भवतः सोऽयं तव हृदये वर्तते, न विप्रकृष्टः । सच कृतापराधमधुनैव यमयति । मा चैवं मनसि कृथाः—एष आत्मा मदीयो मामुपक्षिष्यत इति । न ह्येतस्य कश्चिदात्मीयः । **तेन चेदविवादः** । स चेत्प्रसन्नः प्रत्ययितः किं गङ्गागमनेन स्नानार्थिनः पापशुद्ध्यै, किं वा कुरुक्षेत्रगमनेऽस्ति प्रयोजनम् । यत्फलं पापममोचनलक्षणं ततः प्राप्यते तदिहैवाविसम्वादिनि परमात्मनि । न हि पापकारिण आत्मा निर्विशङ्को भवति । किं मेऽन्तः स्यादेतेनेति । नास्तिकस्यापि किंकथिका कदाचित् भवत्येव ।

गङ्गानदी पावयन्ती । कुरुक्षेत्रं तु देश एव पावनः ॥९२॥

हिन्दी—तुम्हारे हृदय में रहनेवाला जो यह यम अर्थात् दण्डकर्ता परमात्मा रहता है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है, तब तुम (असत्य-भाषणरूप पापकर्म के प्रायश्चित्त करने के लिए) गङ्गाजी और कुरुक्षेत्र मत जाओ अर्थात् सत्य बोलने पर पाप नहीं लगने के कारण तुम्हें गङ्गाजी या कुरुक्षेत्र जाकर प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है ॥९२॥

विमर्श—दण्ड देनेवाला यमाख्य परमात्मा सबके अन्तःकरण में निवास करता है—किसी से दूर नहीं है—अतः यह जीव के द्वारा किये गये समस्त कर्मों को साक्षात् देखता है, इस अवस्था में असत्य बोलना उस परमात्मा के साथ एक प्रकार से महान् विवाद अर्थात् विरोध (पाप) करना है और इसके दूर करने के लिए गङ्गाजी तथा कुरुक्षेत्र में जाने की आवश्यकता नहीं, ‘यदि तुम सत्य भाषण करो’ ऐसा कहे ।

असत्य की निन्दा—

नग्नो मुण्डः कपाली च भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।

अन्यः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥९३॥

भाष्य—कपालं शरावादिपात्रैकदेशः सुबोधम् ॥९३॥

हिन्दी—गवाही में जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह अगले जन्म में नङ्गा, शिर मुड़ाया, अन्धा, भूख-प्यास से युक्त और कपाल (फूटा ठिकरा) लिये हुए भीख माँगने के लिए शत्रुओं के यहाँ जाता है ॥९३॥

अवाकशिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।

यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥९४॥

भाष्य—निमित्तं पृष्ठो यो वितथमसत्यं वक्ति स तेन किल्बिषेन पानेन गृहीत ऊर्ध्वपादोऽधोमुखो महति गाढे तमसि नरकं यातनास्थानं तत्प्राप्नोतीत्यर्थः । अन्यस्मिस्तमसि किञ्चिद्दृश्यते तत्र तु न किञ्चिदेवेत्यन्धग्रहणम् ॥९४॥

हिन्दी—धर्मनिर्णय (गवाही) में न्यायाधीश के सामने पूछने पर जो असत्य बोलता मनु ॥ 13

है, वह पापी अधोमुख होकर घोर अन्धकार वाले नरक को जाता है ॥९४॥

अन्यो मत्स्यानिवाश्राति स नरः कण्टकैः सह ।

यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥९५॥

भाष्य—अर्थवैकल्यं सत्यादपेतं भाषते । यथा कण्टका अशिता भक्षिता जनयन्ति न तादृशीं मत्स्याः प्रीतिं जनयन्ति । यदा धनलोभेन काचित्प्रीतिमात्रा भवति तथापि महददुःखं भवतीति सकण्टकमत्स्याशनोपमा ॥९५॥

हिन्दी—जो न्यायालय में जाकर बात को अस्तव्यस्त कर (गड़बड़ करके असत्य) बोलता है या बिना देखी हुई बात कहता है, वह मनुष्य काँटे सहित मछली को खानेवाले अन्धे के समान दुःखी होता है ॥९५॥

पुनः सत्य की प्रशंसा—

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नातिशङ्कते ।

तस्मिन्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

भाष्य—यस्य वदतः साक्षिणो विद्वान्सत्यानृते जानानः क्षेत्रज्ञोऽन्तर्यामी पुरुषो नातिशङ्कते किमयं सत्यं वक्ष्यत्यनृतं वेत्येवं नाशङ्कते—निश्चितमेवैष सत्यं वक्तोति यस्यात्मा निर्विशङ्कः—तस्मात्पुरुषान्नान्यं श्रेयांसं श्रेष्ठं प्रशस्ततमं पुरुषं देवा जानते ।

कः पुनरयं वेदिता । कश्च ततोऽन्य आशिङ्किता । एक एव ह्यात्मा स्वप्रयत्नद्वारेण वाचमीरयन्वेदिता सम्पद्यते । स एव तद्धर्मेण किं कथं स्यादित्येवंरूपेणाशङ्काख्यानेन युज्यते । तत्र भेदानुपपत्तिः ।

सत्यमेतत् । काल्पनिकेन भेदेनैवमुक्तम् । यथा हन्त्यात्मानमात्मनेति ॥९६॥

हिन्दी—गवाही में बोलतु हुए जिस मनुष्य का सर्वज्ञ अन्यर्यामी (यह असत्य बोलता है या सत्य) ऐसी शङ्का नहीं करता, किन्तु यह सत्य ही बोलता है, ऐसा) निःशङ्क रहता है अर्थात् गवाही देनेवाले मनुष्य के मन में कोई शङ्का नहीं होती; संसार में उससे अधिक श्रेष्ठ किसी दूसरे को देवता लोग नहीं मानते हैं ॥९६॥

विषयभेद से सत्य का फल—

यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।

तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥९७॥

भाष्य—द्रव्यविशेषानृताश्रयाः पापविशेषाः कूटसाक्षिण इत्येतत्प्रदर्शनार्थं प्रकरणम् अभ्यते । तत्रायं श्लोकः सम्बोधनद्वारेणोपादिश्यमान आदरार्थः सम्पद्यते । यद्गुह्यं मिथ उपदिश्यते तद्यथाकथञ्चिद्भवतीत्यवधारितं ग्रहणं नातिगुरु इदं त्वतिमहाप्रयोजनमवहितैः

श्रोतव्यमिति ।

सौम्येति चैकवचनमनेकशिष्यसन्निधाने भृगावेव विवक्षितम् । **यस्मिन् साक्ष्य** इति व्यधिकरणसप्तमी ।

यस्मिन् द्रव्यभेदभिन्ने व्यवहारे यत्साक्ष्यं तत्र तन्निमित्तं यदनृतमित्येषा विषय-सप्तमी । अपरा ‘यस्य च भावेनेति’ (पा०सू० २।३।३७) । अथवा द्रव्यभेदात्साक्ष्य-भेदः, तत्र समानाधिकरण एव । **तावत्** इति परिमाणे व्युत्पाद्यते । तत्र यत्प्रभूत-निमित्तमपि तस्मिन् समानाधिकरणे सम्भाव्यते इत्यतो विशिनष्टि **संख्येति** । **अनुपूर्वश** इति सुख-प्रतिपत्तयेऽनुपूर्वेण ह्यभिधीयमानं सुखेन प्रतीयते । आनुपूर्वी च सङ्ख्यागताऽत्राभिप्रेता । तस्या एव वक्ष्यमाणत्वात् ‘पञ्च पश्वित्यादि’ ॥९७॥

हिन्दी—हे सौम्य! गवाही में असत्य कहकर मनुष्य जितने बान्धवों को नरक में डालता है (या जितने बान्धवों की हत्या करने का फल पाता है), उनकी संख्या क्रमशः मुझसे सुनो—॥९७॥

[एवं सम्बन्धनात्तस्मान्मुच्यते नियतावृतः ।

पशून्गोश्चपुरुषाणां हिरण्यं भूर्यथाक्रमम् ॥९८॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥९९॥

भाष्य—पशुनिमित्तमनृतम् । शाकपार्थिववत्समासः । पञ्चबान्धवांश्चानृतं हन्ति । ततश्च तेषां नरकपातनम् । मातापितरौ जायामिथुनं चापत्यमिति पञ्च ।

कथं पुनरन्यकृतेनैनसाऽन्यस्य फलम् । अन्यकृतेन पुण्यपापादिनाऽन्यस्य स्वर्ग-नरकादिप्राप्तिः संसर्गादिति ब्रूमः । तैरयं परित्यज्यत इत्युक्तं भवति । अथवा तैर्हतै-र्यत्पापं तदस्य भवतीत्यघ्नन्नपि हन्तीत्युच्यते । अदृष्टकार्यतुल्यत्वात् ।

अर्थवादश्चायं न तत्कार्योपदेशः । तत्कार्योपदेशे हि हिंसाप्रायश्चित्तो स्यात् । कौट-सक्ष्यप्रायश्चित्तमेतद्भवति । उत्तरोत्तरसङ्ख्यादिवृद्धेः प्रायश्चित्तगौरवार्था न पुनर्विवक्षितैव । तेनोत्तरोत्तरस्य गरीयः प्रायश्चित्तमित्युक्तं भवति ।

अयं पुरुषः कस्य दास इत्येवं संशये यदनृतं तत्पुरुषानृतमुच्यते ॥९८॥

हिन्दी—पशु के विषय में असत्य बोलने पर पाँच, गौ के विषय में असत्य बोलने पर दश, घोड़े के विषय में असत्य बोलने पर सौ तथा मनुष्य के लिए असत्य बोलने पर सहस्र बान्धवों को नरक में डालता (या उनकी हत्या करने का फल पाता) है ॥९८॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूम्यनृते हन्ति माऽस्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

भाष्य—कथं पुनरजातानामसति संसर्गे परकीयेन संयोगो येनेदमुच्यते हन्ति जातानजातांश्चेति ।

उक्तमर्थवादोऽयमिति ।

सर्वं भूम्यनृतं वदन् । **माऽवदोः** भूमिसम्बन्ध्यसत्यम् । **माऽवदीरित्यादरार्थम-**प्येतत् प्रत्यक्षं सम्बोधनम् ।

का पुनरियं भूमिर्नाम ।

यदेतत्पृथिवीगोलकं पर्वतावष्टंभनं सागरावधि प्रसिद्धम् ।

नन्वियत्याः कः स्वामी को वाऽपहर्ता । न हि सार्वभौमः कश्चिदस्ति । तथा च गाथा भूमेः—“न मां मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति” । न कश्चित्सार्वभौमोऽस्तीत्यभिप्रायः । ‘विश्वकर्मन् दासिथ भौवनमादिविश्वकर्मभौमनेति पितृव्यपदेशेन स्वनाम्ना च राज्ञामन्त्रणं श्रुतं मयाऽसौ रन्तुमिच्छतीति उपमैष्यति सलिलस्य मध्ये निमज्जेऽहं सलिलस्य मध्यमेवं सङ्कल्पं वृथा सङ्कल्पितवति त्वयि सलिले मज्जामि ।’ सलिलमज्जनेन नैष्कल्यमत्र दान सङ्कल्पस्याह । यथा सलिले निक्षिप्तं निष्फलमेवमेतदपीति । मृषैष कश्यपाय सङ्गरः तवैष सङ्गरः प्रतिश्रवः प्रतिज्ञानं कश्यपाय ददामीति मोघो बन्धोऽस्तु सर्वसाधारणाऽहम् । सर्वजनोपभोग्या । केवलं राजानो रक्षानिर्बन्धमात्रभाज इत्यभिप्रायः । अत एतावत्या भूमेर्न दानापहारासम्भव इति कुतो विवादः ।

सत्यम् यथैवायं भूमिशब्दोऽत्र वर्तते एवं क्षेत्रग्रामस्थण्डिलादावपि । तत्र च सम्भवत्येव स्वाम्यम् । प्रत्यक्षस्यैव दानापहाराविति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अपहारश्चास्या यादृशेन रूपेण अपहारः गृहादेर्न वीरुद्विच्छेदः । अतश्च यः परकीये क्षेत्रे चक्रम्येत मृदो वा कश्चिदादद्यान्नासौ भूम्यपहारी स्यात् । मीमांसकैरुक्तं “न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादिति” (मी०सू० ६।३।३) ।

एकदेशवचनं च भूमिशब्दमधिकृत्य भगवान् कृष्णाद्वैपायनो दानधर्मेषु पठितवान्—“परैरप्यनुमन्तव्यो दानधर्मो नृपैर्भुवि । अक्षयो हि निधिर्ब्राह्मो विहितोऽयं महीभृताम्” इति । कृत्स्नगोलकाभिप्रायमेव चादेयत्वं भूमेर्विश्वजिति मीमांसकैरुक्तं “न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादिति” (मी०सू० ६।३।३) । सर्वान्पुरुषान्प्रतिचक्रमणादियोग्यतयाऽविशिष्टा भूमिः स्वात्मीकर्तुमशक्या कथं दीयत इत्यर्थः । अस्मिंस्तु पक्षे ग्रामनगरादि विश्वजिति दातव्यम् । अन्ये तु पठन्ति ‘अन्तरेण सदः पत्नीशालं च दक्षिणा नयन्तीति’ भूमौ गुणविधेरस्यासम्भवात्क्षेत्रादेरप्यदानम् ।

वदन्निति चैकवचननिर्देशाच्छृणु सौम्येति साक्षिविषयमेवैतत्सम्बोधनम् न शिष्यविषयम् ।

‘शूद्रमेभिस्तु पातकैः’ इत्यत आरभ्य यावन्तो मध्यमपुरुषनिर्देशास्ते सर्वेषां पातक-
भूयस्त्वसमानाख्यातरूपाद्येकवाक्यत्वाच्छूद्रानुयोगार्थाः । ‘अन्धः शत्रुगृहं गच्छेत्’ इत्यत
आरभ्य सर्वे साक्षिविषया अनुयोगाः । आख्यातवैरूप्येन प्रकरणस्य विच्छेदात् मध्यमपुरुषे
समानार्थक्रमत्वात्कर्तव्ये गच्छेदिति प्रथमपुरुषनिर्देशः पूर्वाधिकारनिवृत्त्यर्थः ॥९९॥

हिन्दी—सुवर्ण के विषय में असत्य बोलता हुआ मनुष्य उत्पन्न (पिता, दादा
आदि) तथा नहीं उत्पन्न हुए (पुत्र-पौत्र आदि) को नरक में डालता (या उनकी हत्या करने
का फल पाता) है और पृथ्वी के विषय में असत्य बोलने पर सबसे नरक में डालता (या
उनकी हत्या करने का फल पाता) है, इस कारण से भूमि के विषय में असत्य (कभी)
मत बोलो ॥९९॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यच्चान्यत्पशुसम्भवम् ।

गोवद्वस्त्रहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च ॥

अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु ॥१००॥]

[**हिन्दी**—शहद तथा घृत और पशु से उत्पन्न अन्य वस्तु (दूध, दही, मक्खन
आदि) के विषय में असत्य बोलने पर पशु के विषय में असत्य बोलने के समान,
कपड़ा, सोना, धान्य (गल्ला), फूल और फल के विषय में असत्य बोलने पर गौ के
विषय में असत्य बोलने के समान; गधा, ऊँट, नाव आदि सवारियों के विषय में असत्य
बोलने पर घोड़े के विषय में असत्य बोलने के समान मनुष्य पापी होता है अर्थात्
क्रमशः पाँच, दश और सौ बान्धवों को नरकों में डालता (या उनकी हत्या करने के)
समान फल पाता है ॥९९½॥]

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।

अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥१००॥

भाष्य—कूपतडागादिस्थे महति जले स्वल्पे वा भूमिवदोषः । स्त्रीणां भोगे च
मैथुनाख्ये—केनेयं स्त्री भुक्ता मैथुनधर्मेणेति । **अब्जेषु रत्नेषु** मणयो रत्नानि मुक्ताद्याः ।
अश्ममयेषु वैडूर्यादिषु । रत्नेष्विति सम्बन्धते । द्विविधान्येव रत्नानि जलजान्यश्ममयानि
च । अतो रत्नग्रहण एव कर्तव्ये विशेषणद्वयोपादानं श्लोकपूरणार्थम् । अद्भ्यो
जातान्यब्जानि । अश्मनो विकारा **अश्ममयानि** ॥१००॥

हिन्दी—पानी (तालाब, कूआँ, नहर आदि) स्त्री-भोग, मैथुन, कमल, रत्न और
पत्थर की बनी सब प्रकार की वस्तुओं के विषय में असत्य बोलने पर भूमि के विषय
में असत्य बोलने के समान पाप लगता है अर्थात् वह मनुष्य सब बान्धवों को नरक में
डालता (या उनकी हत्या करने के समान फल पाता) है ॥१००॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोयनेषु च तथाश्ववत् ।

गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ॥११॥]

[हिन्दी—शहद तथा घृत के विषय में असत्य बोलने पर पशु के विषय में असत्य बोलने के समान, सवारियों के विषय में असत्य बोलने पर घोड़े के विषय में असत्य बोलने के समान, चाँदी तथा कपड़ों के विषय में असत्य बोलने पर गौ के विषय में असत्य बोलने के समान और धान्य के विषय में असत्य बोलने पर ब्राह्मण के विषय में असत्य बोलने के समान पाप लगता है अर्थात् पशु आदि के विषय में असत्य बोलने पर जितने-जितने बान्धवों को नरक में डालता (या उनके मारने के समान फल पाता) है, शहद, थी आदि के विषय में असत्य बोलकर उतने-उतने बान्धवों को नरक में डालता (या उनकी हत्या करने के समान फल पाता) है ॥११॥]

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।

यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥१०१॥

भाष्य—ऊहापोहौ वर्जयित्वा यथादृष्टं यथाश्रुतं चादृष्टं तत्त्वेन ब्रूहि ॥१०१॥

हिन्दी—(न्यायाधीश साक्षी (गवाह) से कहे कि) तुम असत्य बोलने पर इन (८।८०-१००) सब दोषों को देख (जान) कर जैसा देखा और जैसा सुना है, वैसा ही सब कहो ॥१०१॥

निन्दित ब्राह्मण से शूद्रवत् प्रश्न—

गोरक्षकान्वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।

प्रेष्यान्वार्द्धर्षिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥१०२॥

भाष्य—कारवः शिल्पिनस्तक्षायस्कारसूपकरादयः । कुशीलवा नर्तकगाय-
नाद्याः । प्रेष्या जीविकार्थं परस्याज्ञाकारा दासा इति प्रसिद्धाः । वार्द्धुषिका वृद्ध्युप-
जीविनः । एते ब्राह्मणा अपि सन्तः प्रकरणात्साक्ष्ये शपथे च शूद्रवद्द्रष्टव्या न
क्रियान्तरे । यथा शूद्रो न दानपुण्यादिना पृच्छ्यते साक्ष्ये शपथे चाग्निहरणादिना
शोध्यते तद्वदेषोऽपि शपथो यद्यपि पूर्वत्राप्रकृतः तथाप्युत्तरत्रानन्तर्यादोषवत्त्वात्प्रयतत्वात्
प्रयतत्वेऽप्यानन्तर्यस्य सम्बन्धहेतुत्वाद्वक्ष्यमाणस्यापि प्रत्यासत्त्या पूर्ववद्वयोः सन्नि-
पातात् शपथेऽपि तुल्यम् ॥१०२॥

हिन्दी—गो-रक्षा, व्यापार, बढ़ई, लोहार या सूप-डाला आदि बनाने, नाचने-
गाने, दास (सन्देश पहुँचाने) और निन्दित कर्म करने (या सूद लेने) की जीविका
करनेवाले ब्राह्मणों से (साक्षी के विषय में प्रश्न करते समय राजा) शूद्र के समान
वर्ताव करे ॥१०२॥

[येऽप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।

द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ॥१२॥]

[हिन्दी—जो अपने धर्म से भ्रष्ट होकर भोजन के लिए दूसरों के आश्रित हों तथा ब्राह्मण बनना चाहते हों, उनके साथ भी (साक्षी के विषय में राजा) शूद्र के समान बर्ताव करे ॥१२॥]

धर्मबुद्धि से असत्य साक्षि के दोषाभाव—

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।

न स्वर्गाच्च्यवते लोकादैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥

भाष्य—तदन्यथाऽपि जानन्नन्यथा वदन्न स्वर्गाद्भ्रश्यति । कूटमपि वदन्न दुष्यतीत्यर्थः । किं सर्वदैव? नेत्याह । धर्मतोऽर्थेषु । धर्मेण दयादिना निमित्तेनार्थेषु व्यवहारेषु । धर्मस्य च निमित्तत्वमुक्तमुत्तरश्लोके दर्शयिष्यति । एतच्च न स्वमनीषिकयोच्यते किं तर्ह्येतां दैवीं वाचं वदन्ति—अस्मात्पूर्वेऽपि स्मर्तारः । का पुनर्दैवी वाक् । यथाऽस्मिन्निमित्तेऽनृतं वदितव्यमित्येषा देवानां सम्बन्धिनी वाक् तां मन्वादयः श्रुत्वा वदन्तीति विशेषेऽनृतप्रशंसा ।

अन्यैस्तु पूर्वविधिशेषतयाऽयं श्लोको व्याख्यातः । तदेतद्गोरक्षकादिष्वनुयोगवाक्येषु ब्राह्मणेषु भवितव्यम् । अन्यथा ब्राह्मणेषु सत्यं ब्रूहीति यथा ब्राह्मणा एते कथं शूद्रवदनुयोज्या इति तद्विद्वानपि न दुष्यतीति यतो मन्वादय एवंविधां वाचं वदन्ति यथैते शूद्रवदाचरणीया इति । ते च धर्माधर्मयोः प्रमाणम् । तैश्च सत्यं वदितव्यम् । तच्च यथाविहितं तत्र स एव धर्मो यत्र वाऽनृतं तत्रानृताभिधानमेव धर्म इति ॥१०३॥

हिन्दी—बात को जानता हुआ धर्म (दया, जीवरक्षा आदि) के कारण आगे वक्ष्यमाण विषयों में अन्यथा कहनेवाला मनुष्य स्वर्गलोक से भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् धर्मबुद्धि से असत्य साक्षी देनेवाले का स्वर्ग नहीं बिगड़ता है । (मनु आदि महर्षिगण) उस वाणी को दैवी (देव-सम्बन्धिनी) वाणी कहते हैं ॥१०३॥

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥

भाष्य—तत्र नानृतं वदेदिति यः प्रतिषेधस्तस्याशूद्रादिविषयताऽनेनोच्यते, न पुनरनृतवदनं विधीयते । तथा सति प्रतिषेधेनैकवाक्यता बाध्येत ।

का पुनरत्र निमित्तश्रुतिः तत्रन्ति । तस्य वधविशेषणत्वान्न वधः । तस्यासतो निमित्तत्वानुपपत्तेः । अतश्च कृते पश्चात्तद्विषयमतद्विषयं वाऽनृतं वक्तव्यमित्यर्थ आपतति । तत्त्वनिष्ठम् ।

ननु च यत्रेति व्यवहारस्तु निर्दिश्यते पुनस्तत्रेति तदेव प्रतिनिर्दिश्यते । ततश्च यस्मिन् व्यवहारे पराजिताः सन्तो वधार्हा भवन्ति तस्य नानुपपन्नो निमित्तभावः ।

अत्र वदन्ति । न चात्र वधार्हेष्वनृतमिष्यते यतोऽनिष्टं पापीयसो जीवनमिति । यस्त्ववधार्हानवकाशात्र पुरदास्यादिस्खलितादनुहतदडताख्यापनाय वा जनैः स्वल्पा-पराधात् न घातयित्वोपपत्ति राजसत्त्वात् क्रोधस्य दण्डस्य चाशास्त्रीयत्वादस्थितपरि-माणतया निश्चयाभावो न तस्यापि निमित्तत्वोपपत्तिः । अतः प्रतिषेधशेषतैव न्याय्या । गौतमीये त्वनृतविध्याशङ्काऽपि नास्ति । “नानृतवदने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम्” इत्येव-मादिप्रतिषेधे सत्यानृतयोः कामचारप्रसङ्गे सत्यवचनेन निमित्तभावः प्रतिपद्यमानो ‘न हिंस्यात्सर्वभूतानीति’ प्रतिषेधव्यतिक्रमतया चानृतं प्रतिपद्यत इति युक्तिमत्त्वेनेदं कृतम् ।

न चेदसौ पृष्ठ आचष्टे न पुनर्हन्ति, अघ्नंश्च कथं हिंसादोषेणानुषज्यते ।

अथ सत्यपि स्वातेन्ये तद्वचनेन राजा हन्यमानत्वात्तद्धेतुभावापत्त्या प्रयोजककर्तृ-त्वमिति चेत् न । सर्वो हेतुः प्रयोजकः—धनेन कुलं, विद्यया यश इति, भवति विद्या यशसो हेतुर्न प्रयोक्त्री । न चान्य एवायं लौकिकफलोत्पत्तियोग्यता हेतुलक्षणे हेतुभावः, अपि तु द्रव्यगुणाः । अत्रापि क्रिया श्रूयते ‘अग्निना पाक इति’ साऽपि स्वरूपेण सिद्ध-रूपाभिधानात्कृदन्तैर्भावस्य । अन्यश्चायं शास्त्रीयः कर्तृव्यापारस्य प्रयोजको हेतुर्न तु तत्प्रयोजकत्वमेवमित्यर्थम् । यदि तावत्प्रेषणाध्येषणे आज्ञाप्रार्थनारूपे प्रयोजकत्वं साधयेते ग्रीहीनातप इत्यादावचेतनेषु णिजुत्पत्तिर्दुर्लभा ।

ननु च परिहृतमेतद्व्याख्यातृभिः मुख्योपचरितक्रिय इति चेतनावद्वस्तूपचारे ‘भिक्षा वासयति’ ‘कारीषोऽध्यापयतीति’ । न ह्यत्र चैतन्यकृत उपकारः, अपि तु निश्चितत्वात्त-दन्यस्य प्रयोजकस्य । अध्ययनं ह्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तं कुर्वाणस्य माणवकस्य शीतादि-लक्षणं प्रतिबन्धकमनुवदति । कारीषे प्रयोजकत्वाध्यारोपः । प्रेरकत्वाद्धि प्रयोजकमु-च्यते । तच्चाचैतन्यस्य वायुजलादेरग्निकाष्ठादौ सुतरां दृश्यते । तदा विधिप्रयोकस्तुति-प्रयोक्तृभिः प्रेषणाद्यभावादौणार्थाः शब्दाः स्युः । अथैतत्स्थमर्थाचरणं प्रयोजकत्वं तच्च प्रयोजकस्य व्यापारानुगुणं प्रेषणादिव्यतिरिक्तक्रियान्तरावरणं संविधानाख्यम् । संविद-धान एव हि कारयतीत्युच्यते । यथा बुभुक्षमाणस्य कश्चित्पात्रमाहरत्यन्यो भक्तमुप-नयति । कस्यचिद्वधप्रवृत्तस्य कश्चिदायुधमर्पयत्यन्यो वध्यदोषाविष्करणेन मन्युमुपदी-पयति । एवंलक्षणः प्रेषित्रादिरूपरहितः सव्यापारः प्रयोज्यफलसिद्धावानुकूल्यं प्रतिपद्य-मानस्तत्समर्थाचरणपक्षे प्रयोजकः ।

अस्मिन् पक्षे कारीषोपाध्यायौ तुल्यौ प्राप्नुतः ।

अत्रापि यमन्तरेण क्रियाया अनिवृत्तिर्यस्य च कारकविशेषसंज्ञा न प्रवर्तते तस्य

मुख्यः प्रयोजकः कर्ता । अव्यापयितारं चान्तरेण कारीषी न शक्नोत्यध्ययनहेतुभावं प्रतिपत्तुम् । आचार्यस्तु तमन्तरेणापि शक्त एवेति गौणः कारीषः । यत्र च करणादिभावो निश्चितो हेतुमत्प्रत्ययदर्शनात्तत्रापि गौणार्थतैव यथा कश्चित्स्वल्पेनापि प्रयोजनेन दूरं ग्रामं पुनः पुनर्गतवन्तं दृष्ट्वा ब्रवीति ‘अश्वो गमयति देवदत्तम्’ इति । यत्र तु न कस्यचिदासत्तिविप्रकर्षावन्तरङ्गबहिरङ्गभावो वा गम्यते तत्र यावन्तस्तदानुकूल्यं प्रतिपद्यन्ते सर्वे ते प्रयोजकाः ।

ननु च कारकसंज्ञायामन्तरङ्गयोगो नास्तीति को विशेषः कारीषोपाध्याययोः ।

स्वप्रक्रियैव सा तत्र भवताम् । न वस्त्वाश्रया । वस्त्वाश्रयौ च विधिप्रतिषेधौ । इदमपि तत्र पठ्यते—विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति । एवं च सति यत्राकर्तुरिव कर्तृत्वं कश्चिद्विवक्षेत्र कर्तृप्रत्ययविधिप्रतिषेधावपि स्याताम् । यथा पातकपरिगणनायामनुपठति “क्रयविक्रयो संस्कर्ता चोपहर्ता चेति” । तस्मादन्वाख्यानसिद्ध्यर्था तावकी सा व्यवस्था न वस्त्वधिष्ठानमर्थमवस्कन्दति । अत एव व्याख्यातृभिरुक्तं—समर्थाचरणं चेद्धेतुः हेतुमात्रे प्रसङ्गः । ततश्च योऽपि कस्मैचिद्भोजनं ददाति स चौदरिकतयाऽतिसौहित्येन व्यापद्येत प्राप्तं तत्र दातुर्वधकर्तृत्वमिति । न च तत्प्रयुक्तं भवति । क्रियान्तरेण ह्यसौ निश्चितो भोजनाख्यप्रयोजको न वधो न वेर्ष्यादि कथञ्चिन्निमित्तं भवति । भवतु वा तन्निमित्तम्, प्रयोजकत्वाभावात् कर्तृत्वं नास्तीति ब्रूमः । अस्य तु भूमिसुवर्णापहारादिनाऽपराध्येत स च तदपहारमन्युना कथञ्चिन्म्रियेत किं तत्रापहर्तुरपहारदोष एवोत वधेऽपिनिमित्तिभाव इति चिन्त्यम् ।

किमत्र चिन्त्यते? अव्यभिचारावगम्यत्वाद्धेतुमद्भावस्य न खङ्गप्रहारभोजनविच्छेदादेरिव भूम्यादिहरणस्य नियतनिमित्तत्वोपपत्तिः ।

कोऽयं नियमोऽभिप्रेतः? यदि ह वा केचिन्म्रियन्ते केचिन्नेत्यनियतो नियमो भवति । पुरुषस्वभावभेदात् तदेवौषधं श्लेष्मिकाय हितं विपरीतमन्यस्येति सर्वेषामेव च भावनादेशकालस्वभावभेदसहकारिसापेक्षः शक्त्यन्तरप्रादुर्भावः । तदेव लक्षणं पुरुषवित्तसंततिसापेक्षं पिपासाहेतुप्राण्यन्तरसापेक्षं तद्विच्छेदहेतुरिति । एवमत्यन्तामर्षिणो मन्युमतः स्वहरणपरिभवादि मरणाय कल्पते । किं तत्र शक्यो निमित्तभावोऽपह्नोतुम्? पेशलमानसस्य तूपेक्षैव तत्र । ये पुनर्मन्युपरीता अनशनश्चभ्रपतनविषभक्षणादिनाऽपराद्धारमुद्दिश्य प्रियेरन्तत्राप्येष एव न्यायः ।

ननु चान्यस्यैव प्रसिद्धहेतुभावस्य विषभक्षणादेर्निमित्तस्य तत्र दर्शनात् भूम्यादिहरणस्यापराधो हन्तृत्वमाप्नुयात् । तेनोपजनितमन्युर्मरणहेतौ प्रवर्तत इति पारम्पर्यतौ निमित्तत्वमिति चेत् । एवं सति पथ्योपदेशेनापि केचिदुद्विजमाना आत्मानं व्यापादयन्ति,

ततश्च तत्रोपदेष्टारो हन्तारः स्युः । तथा मत्सरिणः परद्रव्येष्वीर्ष्या शुष्यन्ता धनिषु दोषमाददीरन् । तथाऽन्ये मूढमनसः प्रियान्पुत्रान्स्वामिनश्चानुप्रियन्ते, तत्र प्रियादीनां हन्तृतापत्तिः । अपरे च रूपवत्स्त्रीदर्शनेन परिफल्गुमनसोऽसूयन्ते भज्यमानहृदयाश्च विवेकशून्यात्मानस्तत्र शीलवत्यः स्त्रियो दुष्येयुः । तदेवेदमापतितं मृतस्य ब्रह्महत्येति ।

सत्यमेवं यदि विधिप्रतिषेधविशेषो न स्यात् । विहितो हितोपदेशः प्रतिषिद्धं स्वहरणादि । तथा चाहुः—

“उपकारप्रवृत्तानां कथञ्चिच्चेद्विपर्ययः ।

न तत्र दोषः केषाञ्चिद्भेदजामौषधी यथा ॥”

यत्र न केवलं वैद्यादेरातुरोपकारार्थिनः प्रयुक्तौषधस्य कथञ्चिद्विपरीततयोपपत्ता-
वदोषः—किंतर्हान्यस्यापि गवादेर्महति पङ्के निमग्नस्योद्धर्तृभुजाकर्षणाय यथाश्रमेण यदि व्यापत्तिर्न तत्रोद्धर्ता दुष्येदिति कथितं भवति । एवं सर्वत्र ।

योऽपि कस्मिंश्चित्स्वव्यापारानुष्ठानवति धनरूपातिशयसम्पद्धति दृश्यमाने दन्दह्यते न तं प्रति कस्यचिच्छास्त्रार्थातिक्रमः । निश्चितो हि निमित्तभावः प्रतिषेधस्य विषयो भवितुमर्हति । न च प्राण्यन्तराश्रयिषु चैतसिकेषु धर्मेषु प्रतिक्षणमन्यथाभवत्सु स्वभाव-
विशेषावसायः । न हि शक्यमवसादितुमयमस्या रूपसम्पदा व्यापद्यत इति । न च निश्चिते प्रतिषेधविषये सम्भवत्यनिश्चितविषयता न्याय्या ।

अत्र तर्हि कथञ्चिद्वर्णविपर्ययशरीरशोषणादिना कुतार्किकपरीता स्यादपि निमित्ताव-
गतिस्तत्र किं भ्रंशयितुं शीलं संयुज्यतां कामिना, भवतु वा पुरुषघातिनीति ।

नैतदेवम् । न हीदृशी भवन्त्यपि निमित्तता प्रतिषेधस्य विषयः, विध्यन्तरविरोधात् । अस्ति ह्यत्र व्यभिचारप्रतिषेधविधिः । न वाऽपि विध्यन्तरेणानवष्टब्धे विषये कृता-
वकाशा विधयो विरोधविध्यन्तरं विषयमास्कंदितुमर्हन्ति । येऽपि मन्यन्ते रागलक्षणां प्रवृत्तिं शीलसंरक्षणोपदेशो निषेधति न शास्त्रलक्षणां तेन महानुभावतया मास्य तप-
स्विनो जीवितमुच्छेत्सीदिति प्राणोज्जिहीर्ष्या मुमूर्षुणा सम्प्रयुज्यते नासौ व्यभिचारप्रति-
षेधमतिक्रामेत् । यत्तु विध्यन्तरविषये न विध्यन्तरं प्रवर्तत इति नैवायं विध्यन्तरस्य विषयो रागलक्षणत्वात् ।

ननु च प्रवृत्तावपि नैव शास्त्रमस्ति नियोगविधाविव व्यभिचारानुज्ञानस्मृत्यभावात् । अथाप्रवृत्तौ कामयेत मारणमिति प्रतिषेधभयात्प्रवर्तते सोऽपि प्रतिषेधो रागलक्षणामेव हिंसां प्रतिषेधयति । न चासौ रागतो न प्रवर्ततेऽपि तु प्रतिषेधभयात् । या तु परोपकारतः प्रवृत्तिः सोऽपि प्रतिषेधविषयपरिहारेण । योऽपि किञ्चिद्याचेदयमहमात्मानं हन्मीति हन्यात्र तत्राप्रयच्छतो घातकत्वं व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् ॥१०४॥

हिन्दी—जहाँ सत्य कहने पर शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण को प्राणदण्ड (फाँसी) होवे; वहाँ असत्य कहना (गवाही देना) चाहिए, क्योंकि वह (असत्य कहना सत्य कहने से श्रेष्ठ है ॥१०४॥

विमर्श—प्रमादादि के कारण शूदादि से अपराध हो जाने पर साक्षी को सत्य बात को जानते हुए भी असत्य कहकर उस प्रमादापराधी की प्राणरक्षा करनी चाहिए, किन्तु ऐसे असत्य बोलने पर दोष तो लगता ही है अतएव उसके निवारणार्थ अग्रिम (८।१०५) श्लोकोक्त प्रायश्चित्त कहा गया है, द्वेषवश जान-बूझकर अपराध करनेवाले की प्राणरक्षा के लिए अपराध को जानते हुए झूठ नहीं बोलता चाहिए। यद्यपि वक्ष्यमाण ‘न जातु ब्राह्मणं हन्यात्’ (८।३८०) वचन के द्वारा ब्राह्मण को प्राणदण्ड देने का निषेध होने पर उसके वध की सम्भावना नहीं है, तथापि बड़ा अपराध होने पर कठिन दण्ड देना सम्भव है, अतः इस श्लोक में ‘ब्राह्मण के वध उपस्थित होने पर असत्य साक्ष्य देकर उसकी प्राणरक्षा का आदेश किया गया है। वध का अमङ्गल होने से ‘वर्णानामानुपूर्व्येण’ ‘वार्तिक से ब्राह्मणादि क्रम से ‘विप्रक्षत्रविट्शूद्राणां’ कहना उचित था; किन्तु वध कार्य के अमङ्गल होने से शूद्रादि प्रतिकूल वर्णक्रम से कहा गया है।

उक्त असत्य बोलने पर प्रायश्चित्त—

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।

अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥

भाष्य—वाक् चासौ देवता च सा वाग्देवता । तदर्थं च चरवो वाग्दैवत्याः । तण्डुलः नातिपक्वाश्चरवः । तैर्यजेरन्निति बहुवचननिर्देशात् चरुभिरिति बहुवचनम् । न पुनरेकैकशो बहवश्चरवो नापि संहतानां ब्राह्मणस्तोमवद्यागो ‘देवश्चेद्वर्षेद्वहवो ब्राह्मणा यजेरन्निति, तद्बहुवचनम्, नतु कपिञ्जलैश्च त्रिभिर्यजेरन्नितिवत् ।

तदेतद्ब्राह्मणाद्यनुग्रहार्थमनृतमुक्तं भवति । अनृतमेवैनः पापमसत्याभिधान-लक्षणा क्रिया । यथा धर्मक्रियावत् एवं समानाधिकरणे षष्ठी । येषां तु क्रियाजन्यौ धर्माधर्मौ न क्रियैव—तन्मतेऽनृतस्य यदेन इति वैय्यधिकरण्येऽनृतनिमित्तत्वादेनो-ऽनृतम्, उपचारतः समानाधिकरणे एव । तस्य निष्कृतिः शोधनं पावनं प्रायश्चित्तमिति यावत् । परा प्रकृष्टा ।

ननु च कुतोऽत्र पापम्—यावताऽस्मिन्निमित्तेनानृतवचने दोष इत्युक्तम् ।

केचिदाहुः “निवृत्तिस्तु महाफलेति” । अस्माच्छास्त्रात् यावज्जीवमनृतं मया न वक्तव्यमिति येन संकल्प्य तस्य मिथ्यासंकल्पदोषो मा भूदिति प्रायश्चित्तमुच्यते । गेहदाह-वधप्रतिषेधेऽपि नैमित्तिकं विधानम् । एनसो निष्कृतिमित्यर्थवादः ।

कथं तर्हि वाग्दैवत्यैः सरस्वतीं यजेरन् । यदि वाग्देवता सरस्वती कथमिज्यते ।

अथ नाक्सरस्वत्योरेकत्वेनैवं देवताभावे शब्दावगम्यरूपत्वाद्देवताया भिन्नौ चैतौ वाक्-सरस्वतीशब्दौ । यथाऽग्रये जुहोतीति चोदितेन ज्वलनाय कृशानवे वा स्वाहेति हूयते, वायवे निरूप्य जुहुयाद्वायुर्वै प्राण इत्युक्तेऽपि न प्राणायेति हूयते ।

सत्यम् । वागेव देवता । सामानाधिकरण्याद्देवतार्थे तद्धितः । न सरस्वतीमिति द्वितीयानिर्देश्या देवता । कर्मणि हि द्वितीया । सम्प्रदानं च देवता न कर्म ।

कथं तर्हि सरस्वतीपदान्वयः ।

अर्थवादोऽयम् । अग्रये जुहोत्यग्रिवै सर्वा देवता इति । वागेव सरस्वती—तयेष्टया साऽपोष्टा भवति । यागेन देवताऽवगम्यते । कथम् । अग्रिर्यष्टव्यः प्रजा-पति-र्यष्टव्यस्तथाग्रिं यजति यदग्रिं यजतीत्यादि केचिदाहुः । देवताः स्वतस्तत्र तत्र पूज्यन्ते । दैवतपूजावचनोऽत्र यजिः । पूजा च पूज्यमानकर्मिका । तत्र युक्ता द्वितीया । तथा च देवता पूजनीयेत्यादि स्मर्यते ।

एतच्च न युक्तम् । अस्मिन् हि पक्षे देवतात्वमन्यतोमृग्यम् । तत्र यागसम्प्रदानं देवतेति स्मरणविरोधः । एषा च स्मृतिर्बलीयसी । निरपेक्षत्वात् । पूर्वा देवता उद्देश्या ध्येया च । यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेदिति तत्क्रियाकर्मत्वात्कर्म-ण्येषा द्वितीया ॥१०५॥

हिन्दी—उस असत्य का निवारण करते हुए वे (असत्य कहनेवाले साक्षी) चरुओं से वाणी है देवता जिसकी ऐसा सरस्वती का याग करें ॥१०५॥

कूष्माण्डैर्वाऽपि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।

उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्देवतेन वा ॥१०६॥

भाष्य—कूष्माण्डा नाम मन्त्रा यजुर्वेदे पठ्यन्ते तैर्घृतमग्नौ जुहुयात् । जुहोतिश्च देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य त्यागः । आधारविशेषणे तत्रेहाग्रावित्यधिकरणनिर्देशान्मांत्रवर्णिकी देवता वेदितव्या । येषु च मन्त्रेषु देवताविशेषलिङ्गं न दृश्यते—यथा ‘देवकृतस्यैन-सोवयजनमसि’ इत्यादिषु—तत्र प्रजापतिर्देवतेति याज्ञिकाः । अथवा यस्यान्यत्र देवतात्वं दृष्टं सह सम्बन्धि यावत् । तथा च निरुक्तकाराः ‘अपि वा सा कामदेवता स्यादिति’ । यद्यपि याऽन्यस्य हविषो देवता साऽन्यस्य च कदाचित् तथाऽपि यजति श्रूयते द्रव्यं मन्त्राश्च तेऽत्रासत्यां देवतायां जुहोतीति रूपं तदुत्तरेण जुहुयादिति व्याख्येयम् । तच्चा-युक्तम् । तथाभिधारयेदिति वक्तव्यं स्यात् । वयं तु ब्रूमो ‘देवकृतस्यैनसोवयजनमसि’ इत्यत्र कर्मैवावयजनमेवावयजनमित्युच्यते । अतस्तद्देवता । सर्वत्र च मन्त्राभिधेयं वस्त्व-स्त्विति न देवतायां मन्त्रवर्णाभावः ।

उदित्यृचा वा वारुण्येति । उदुत्तमं वरुणपाशमस्मत् इति (ऋग्वेद १।२४।१५)

एषा ऋक् वरुणदेवता उदिति प्रतीकेन लक्ष्यते । वारुणीग्रहणं चान्यस्या ‘उ त्वा मदंतु स्तोमा’ (ऋग्वेद ८।६४।१) इत्युच्छब्दप्रतीकाया निवृत्त्यर्थम् ।

तृचेताब्दैवतेन चेति । देवतैव दैवतम्, आपो दैवतम् अस्य त्र्यचस्य तेन— ‘आपो हिष्ठा’ इत्यादिना (ऋग्वेद १०।१९।१) । अतश्चैकैकया एकैकाहुतिः प्रत्येक-शब्दवत्, समस्तेन च समुदायाहुतिरेकेति ।

घृतमग्नाविति सर्वत्रानुषङ्गः ।

यथाविधि । यादृशः शिष्टसमाचार इत्यर्थः । तेन च हविषः सत्त्वादप्राप्ताया-मितिकर्तव्यताया परिसमूहनपर्युक्षणावेक्षणस्रुवहोमाद्येतावन्मात्रमनुजानाति ।

वाशब्दाद्वैकल्पिकाः सर्व एव ॥१०६॥

हिन्दी—अथवा (उक्त असत्य कहनेवाला साक्षी उक्त दोष के निवारणार्थ) कूष्माण्ड (यद्देवा देवहेडनम् यजु० २०।१४) मन्त्रों से, या वरुण देवता को (वरुण हैं देवता जिसका ऐसे) ‘उदुत्तमं वरुणपाशम् (यजु० १२।२)’ मन्त्र से अथवा जल है देवता जिसका ऐसे ‘आपो हि ष्ठा मयो भुवः’ (यजु० १२।५०) मंत्र से विधिपूर्वक (स्वगृह्योक्त परिस्तरणादि के साथ) अग्नि में हवन करे ॥१०६॥

तीन पक्ष तक साक्षी के साक्ष्य नहीं देने पर पराजय—

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।

तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥१०७॥

भाष्य—पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः । त्रयाणां पक्षणां समाहारः त्रिपक्षम् । ‘अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः’ इति (वार्तिक २।४।१७) स्त्रीत्वे प्राप्ते पात्रादिदर्शनात्-प्रतिषेधः ।

यद्येवं त्रिपक्षीति न प्राप्नोति ।

छान्दसस्तत्र लिङ्गव्यत्ययः ।

ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी । त्रीन्यक्षान्यावदतीत्य यः साक्ष्यं न ददाति । अगदोऽ-पीडितशरीरस्तदृणं प्राप्नुयादित्यर्थः ।

दशबन्धं च । दशमं च भागं दण्डनीयस्तस्मादृणात् ।

ऋणादिषु इत्यादिग्रहणेन सर्वव्यवहारोपक्रमः । द्वितीयमृणग्रहणमुपलक्षणार्थम् । यस्मिन्व्यवहारे साक्ष्यमियन्तं कालं न भवति पराजीयमानस्य साक्षिणी बोद्धारइत्युक्तं भवति ।

गदो रोगः तत्समानप्रत्युत्थानहेतूपलक्षणार्थम् । तेनात्र कुटुम्बोपद्रवधनिकोपरोधा-द्यपि परीक्ष्यम् ।

बन्धशब्दः सङ्ख्यादिपरो दण्डविषये दशमांशवचनः ।

नरग्रहणं सर्वतोग्रहणं च श्लोकपूरणार्थम् ।

अन्ये त्वाहुस्तद्वृणं प्राप्नुयादित्यस्यायमर्थः— ऋणापहरणलक्षणेन पापेन युज्येत । राज्ञे वा जीयमानस्य यो दण्डस्ततो दशममंशं दद्यादिति दण्डितः पुनः दंड्यते ॥१०७॥

हिन्दी—यदि स्वच्छ रहता हुआ भी साक्षी तीन पक्ष (डेढ़ मास) तक ऋण के मुकदमे में साक्ष्य गवाही न दे तो ऋणी मनुष्य ऋणदाता (महाजन) को सब लिया हुआ धन देवे तथा राजा को दण्डस्वरूप उक्त ऋणद्रव्य का दसवाँ भाग देवे ॥१०७॥

विमर्श—यहाँ तीन पक्ष से तीन तारीखों अर्थात् पेशियों को समझना चाहिए ।

साक्षी के यहाँ आपत्ति आने पर—

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।

रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥१०८॥

भाष्य—सप्ताहादिति पञ्चमीदर्शनादर्वागित्यध्याहियते । सप्तानां दिवसानामन्यतमस्मिन्नहनि यस्य साक्षिणा रोगादि दृश्यते स मृषावादी दैवेन विभावितः पूर्वोक्तेन विधिना दापयितव्यः । रोगोऽत्यन्तपीडाकरः, अग्निर्गोवाहनदहनः, पुत्रदारादिप्रत्यासन्नज्ञातिमरणं, तस्य कूटसाक्षित्वे लिङ्गम् ॥१०८॥

हिन्दी—गवाही देनेवाले गवाह के यहाँ (गवाही देने के बाद) एक सप्ताह में रोग; आग लगना अथवा बान्धवों (पुत्रादि निकट सम्बन्धियों) का मरण हो जाय तो ऋणी महाजन को सब धन देवे तथा राजा को दण्ड स्वरूप (ऋणद्रव्य का दशांश धन) देवे ॥१०८॥

साक्षी के अभाव में शपथ से निर्णय—

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।

अविदंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥

भाष्य—अविद्यमानाः साक्षिणो येष्वर्थेषु व्यवहारेषु तेऽसाक्षिकाः । तेषु सत्यमजानानो राजा तत्त्वतो लौकिकेनानुमानेनापीत्यर्थः । तत्र शपथेनापि वक्ष्यमाणेन दैवेनानुमानेन लम्भयेत् जानीयात् । लभिः प्राप्तिवचनोऽपि सामर्थ्याज्जानात्यर्थः । न ह्यन्यः सत्यस्य 'लाभः' । 'न विन्दन्' इति पाठोऽप्येवमेव व्याख्येयम् । 'असाक्षिकेषु शपथेन लम्भयेत्' इत्येतावद्विध्युद्देशवाक्यावसानात् श्लोकपूरणार्थम् मिथः— परस्परम् ॥१०९॥

हिन्दी—बिना साक्षी वाले मुकदमों में परस्पर विवाद करते हुए वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) से ठीक-ठीक सच्चाई नहीं मालूम पड़ने पर राजा (न्यायाधीश) शपथ करके सच्चाई को मालूम करे ॥१०९॥

शपथ द्वारा निर्णय करने में सहेतुक दृष्टान्त—

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।

वसिष्ठश्चापि शपथं शेषे पैजवने नृपे ॥११०॥

भाष्य—अर्थवादोऽयं पूर्वोक्तस्य शपथविधेः । महर्षिभिः सप्तर्षिप्रभृतिभिः कार्यार्थं सन्दिग्धकार्यनिर्णयार्थं शपथाः कृताः । अस्मिन्नर्थे च भगवतः कृष्णद्वैपायन-स्याख्यानमुदाहर्तव्यम् । पुष्करेषु तेष्वपहारितेष्वितरेतरं सप्तर्षयः शेषिरे ‘यस्ते हरति पुष्करं स इमां पापकृतो गतिं गच्छेत्’ इत्यादि । देवैरिन्द्रप्रभृतिभिः । इन्द्रो ह्यहिल्यां प्रत्यभिशप्तः शापभयाद्बहुविधं शपथं चकार । वसिष्ठश्चेति पृथङ् निर्देशः प्राधान्य-ख्यापनार्थः । शपथं कृतवानित्यर्थः । उपपदादेव विशेषावगतेः शपतिः करोत्यर्थमात्रे वर्तते । यथा ‘यज्ञं यजत’ इति ‘स्वपोषं पुष्ट’ इति तथा ‘शपथं शेष’ इति ज्ञेयम् । ‘शप उपलम्बने’ इति लिटि प्रथमपुरुषात्मनेपदैकवचने शेषे इति रूपम् ।

पैजवनो राजा बभूव । तस्मिन्काले विश्वामित्रेणाक्रुष्टो मण्डलमध्यगतः काम-क्रोधाभ्यां संक्षुब्धाचरणोऽघासुरो यातुधानोऽस्मीति शपथं गृहीतवान् । विश्वामित्रेणोक्त-स्तस्य राज्ञः समक्षमनेनैव तत्पुत्रशतमशितमेष हि रक्ष इति । ततः स उवाच । अद्यैव प्रिये यदि रक्षः स्यामित्यात्मन्यनिष्ठाशंसनमत्र शपथः । पुत्रदारादिशिरःस्पर्शने एतद-निष्ठाशंसनं शपथो मन्तव्यः ॥११०॥

हिन्दी—महर्षियों तथा देवों ने सन्दिग्ध कार्य के निर्णायक शपथ को बनाया (‘इस वसिष्ठ मुनि ने सौ पुत्रों को भक्षण किया है’ ऐसा विश्वामित्र के कहने पर वसिष्ठ ने अपने को निर्दोष बताने के लिए) पैजवन (पिजवन के पुत्र) ‘सुदास्’ नामक राजा के यहाँ शपथ किया था ॥११०॥

असत्य शपथ में द्वेष—

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।

वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह न नश्यति ॥१११॥

भाष्य—मिथ्याशपथे फलाख्यानमेतत् । वृथाऽन्यथाऽसत्यमिति यावत् । तत्रा-पहियमाणसुवर्णादिद्रव्यजात्यपेक्षोऽनृतशपथदोषोऽन्यथाशपथे स्वल्पे । गरीयसि तु कार्ये गौरवादधिकतरो दोषोऽस्त्येव । प्रेत्य नाशो नरकम्, इह महदयशः । प्रमाणान्तरैस्त ज्ञाते राजदण्डः ॥१११॥

हिन्दी—विद्वान् (समझदार) मनुष्य छोटे काम के लिए भी असत्य शपथ न करे; क्योंकि असत्य शपथ लेता हुआ मनुष्य परलोक में (मरकर नरक पाने से) तथा इस लोक में भी (अपयश बदनामी पाने से) नष्ट होता है ॥१११॥

असत्य शपथ का प्रतिप्रसव—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥११२॥

भाष्य—कामः प्रीतिविशेषो विशिष्टेन्द्रियस्पर्शजन्यः, स यासु भवति पुरुषस्य ताः कामिन्यो भार्याविश्यादयः । तत्र यः शपथः । कामसिद्ध्यर्थो यथा 'नाहमन्यां कामये प्राणेश्वरी मे त्व'मित्याद्यः । यस्तु 'संप्रयुज्यस्व मया' 'इदं त्वया देयं' 'दास्य' इति— तत्र भवत्येव दोषः । **शपथे**—विषयसप्तमी चेयं न निमित्तसप्तमी । तेन यस्यामेवैका- किन्यां यथाप्यते तत्रोक्तरूपशपथे न दोषः । निमित्तसप्तम्यां तु निमित्ते परद्रव्यापहारे दोषः स्यात् । अतश्च "कामाद्दशगुणं पूर्वम्" (८।१२१) इत्यादिकं दण्डविधानं न युज्यते । तथापि निमित्तानन्तरकृते विवादेऽस्त्येव वृथाशपथदोषः । एवं सर्वत्र ।

विवाहेषु । न त्वयाऽन्या वोढव्या न वाऽन्यो वोढव्य इति अन्यस्यापि सुहृदा- देर्विवाहार्थमेवंविधमनृतमदोषः । न पुनर्जात्यपह्नवादौ ॥

गवां भक्ष्ये । गवां यवससिद्ध्यर्थं मयाऽपहर्तव्यं—न मयाऽपहतं परस्य चातत्सम्बन्धिभिरभित्तस्य वृथासाक्ष्ये शपमानस्य न दोषः ।

एवमिन्धने ।

ब्राह्मणानामभ्युपपत्तिरनुग्रहः । सर्ववर्णानुग्रहेऽनुज्ञातमेव । किमिह पुनर्वचनेन । केचिदाहुः—शपथो ब्राह्मणेऽनुज्ञायते, शूद्रादिषु त्वनृतमेव । एतच्च 'तद्धि सत्याद्वि- शिष्यते' इति (८।१०४) वचनान्नैतदनृतम् । अतो न भवति प्रतिषेधो ह्यसौ । वृथा- शपथस्य पूर्वेण प्रतिषिद्धस्य प्रतिप्रसवशास्त्रमेतत् । तस्मात्सर्ववर्णानुग्रहे शपमानस्य न दोषः । किमर्थं तर्हीदमुच्यते । तत्र वधात्परित्राणमुक्तं सर्ववर्णविषयम् । **अभ्युपपत्तिस्तु** ब्राह्मणस्यैव । सा हि धनलाभादिना सम्भवति । सर्वतश्च परसम्बन्धिनीषु क्रियास्वेवं- विधासु शपथाभ्यनुज्ञानमुपायान्तरेण तत्सिद्ध्यसम्भव एव द्रष्टव्यम् ॥११२॥

हिन्दी—कामिनी के विषय में (अनेक अपनी स्त्रियों के रहने पर 'मैं तुमसे ही बहुत प्रेम करता हूँ दूसरी से नहीं' ऐसा शपथकर रति आदि करने के विषय में), विवाहों में (मैं दूसरी स्त्री के साथ विवाह नहीं करूँगा ऐसा, अथवा—कन्यादि के विवाह के विषय में अर्थात् बहुत गुणवती एवं सुन्दरी है' इत्यादि कहकर कन्या के विवाह कराने में), गौओं के भूसा-घास आदि के विषय में, होम के लिए लकड़ी लेने के विषय में तथा ब्राह्मणरक्षार्थ स्वीकृत धनादि के विषय में असत्य शपथ करने में पाप नहीं होता है ॥११२॥

ब्राह्मणादि से सत्यादि का शपथ—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥११३॥

भाष्य—ननु च यद्यमहमेवं कुर्यां तदिदमनिष्टमाप्नुयामिति संकीर्तनक्रिया शपथः, तं यः कारयेत्स शापयेदित्युच्यते । ‘सत्येन शपे’ सत्यादिनिबन्धनोऽयं ‘धर्मो वा मे निष्फलः स्यादिति’ । एवं चायुधानामपि करणत्वं वाहनानां च । एतैरात्मानं शपेत्—‘एतानि निष्फलानि स्युरिति’ ।

गोबीजकाञ्चनानि वैश्यो हस्तेन स्पर्शयित्वाऽभिशपेदेतानि वा मे निष्फलानि पूर्ववत् ।

शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः । वक्ष्यमाणानि पातकानि मे स्युरिति शूद्रो वाच्यते ॥११३॥

हिन्दी—ब्राह्मण को सत्य की, क्षत्रिय को वाहन (हाथी, घोड़ा आदि) तथा शस्त्र की, वैश्यों को गौ, व्यापार तथा सुवर्ण आदि धन की और शूद्र को सब पापों की शपथ करावे ॥११३॥

विमर्श—न्यायाधीश शपथ कराते समय ब्राह्मण से ‘यदि मैं असत्य शपथ करूँ तो मेरे अब तक किये गये सम्पूर्ण सत्यभाषण से उत्पन्न पुण्य नष्ट हो जाँय’ ऐसा कहलाकर; क्षत्रिय से ‘यदि मैं असत्य शपथ करूँ तो मेरे वाहन मर जाँय तथा हथियार निष्क्रिय हो जाँय’ ऐसा कहलाकर, वैश्य से ‘यदि मैं असत्य शपथ करूँ तो मेरे गौ आदि पशु, बीज अर्थात् खेती तथा सुवर्णादि धन नष्ट हो जाँय’ ऐसा कहलाकर और शूद्र से ‘यदि मैं असत्य शपथ करूँ तो मुझे सब पाप लगे’ ऐसा कहलाकर शपथ करावे ।

कायपेक्षा से शूद्रादि से शपथ—

अग्निं वाऽऽहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।

पुत्रदारस्य वाऽप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥११४॥

भाष्य—अग्निमाहारयेदेनं हस्तेनाश्वत्थपर्णव्यवहितेन तयोः प्रदेशान्तरं सप्त-पदसंहितमित्यादि स्मृत्यन्तरान्निपुणतोऽन्वेष्यम् । पारम्पर्यप्रसिद्धेश्चैतदेवोच्यते ।

अप्सु जले निमज्जयेत् प्राङ्विवाक इत्यर्थः ।

पुत्रदारशिरांसि स्पर्शयेत् । पुत्रस्य दारस्य शिरः स्पर्शयेत्—हस्तेन, शपथा-धिकाराद्वाचाऽपि, शपथस्यैवंरूपत्वादित्युक्तम् । पृथगेकैकस्य ॥११४॥

हिन्दी—अथवा (मुकदमें के बड़ा या छोटा होने की अपेक्षा) इस शूद्र से अग्नि लेकर सात कदम चलावे, जोक आदि से रहित पानी में डूबावे अथवा इसके पुत्र तथा स्त्री के शिर का पृथक्-पृथक् स्पर्श करावे ॥११४॥

विमर्श—तौल में पचास पल (ढाई सेर) लोहे के आठ अंगुल लम्बे गोले को अग्नि के समान लाल तपाकर पीपल के सात पत्तों को उसके हाथ पर रखकर उन्हें श्वेत सात सूत्रों से बाँधकर फिर सात पत्तों को रखकर उनके ऊपर उस तपाये लोहे को रखकर साक्षी करनेवाले उस शूद्र को 'त्वमग्ने'—(याज्ञ० २।१०४) श्लोक को कहते हुए सात पग चलने को कहे तथा ऐसा करने पर यदि उसके हाथ नहीं जलें तो उसके साक्षी को सत्य माने तथा यदि बीच मार्ग में ही वह लोहा गिर पड़े तो पुनः वैसे ही तपे लोहे को लेकर दुबारा चलने को कहे । हाथ के अतिरिक्त दूसरे अंग या वस्त्र यदि प्रमादादि से जल जाँय तो भी उसके साक्षी को सत्य नहीं माने । अथवा अन्य स्मृतियों में कही गयी विधि से जल में डुबोकर उसकी साक्षी के सत्यासत्यत्व का ज्ञान करे ॥

शपथ में शुद्धि का ज्ञान—

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।

न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥११५॥

भाष्य—तप्तायसपिण्डोऽनवद्य गृहीतो न दहति । आपश्च नोर्ध्वं प्लावयन्ति, सत्यशपथे । केशादो न चार्तिमृच्छति पीडां न प्राप्नोति । रोगोऽग्निरित्यन्यत्रोक्तम् । स शुद्धः शुचिर्निर्दोषः । क्षिप्रम्—चतुर्दश वाऽहान्यवधिः स्मृत्यन्तरात् ॥११५॥

हिन्दी—(वैसा करने पर) जिस साक्षी करनेवाले को अग्नि (तपाया हुआ लौह) नहीं जलावे, पानी ऊपर को नहीं फेंके तथा शीघ्र वह दुःख नहीं पावे; उस साक्षी करनेवालों को शपथ में सच्चा समझना चाहिये ॥११५॥

उक्त विषय में प्राचीन दृष्टान्त—

वत्सस्य ह्यभिशास्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।

नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥११६॥

भाष्य—कथं पुनरग्निं धक्ष्यति, नोन्मज्जयिष्यन्ति । न हि महाभूतानि विपरि-यन्ति स्वभावतो चैतन्यादिति—पर्यनुयोगमाशङ्क्यार्थवादेनोक्तमर्थं दृढीकरोति । यद्यप्ययमन्वयव्यतिरेकसमधिगम्योऽर्थः प्रत्यक्षवेद्यो वा तथापि धूर्तकल्पितेन्द्रजालवद् भ्रान्ति-वदत्र मुखबिभीषिकासञ्जनमात्रफलं शपथं मन्यमानो वैदिकं निदर्शनमुपन्यसति । भवन्ति प्रतिपत्तारोऽर्थागमेन पूर्ववृत्तदर्शनाद्दृढतां प्रतिपद्यन्ते ।

वत्सो नाम काण्व ऋषिरभवत् । स च कनीयसा वैमात्रेयेणा भ्राताऽभिशास्त आक्रुष्टः—‘न त्वमसि ब्राह्मणः शूद्रापुत्र’ इति । स तं प्रत्युवाच—‘सत्येनाग्निं प्रविशामि यदि न ब्राह्मण’ इति । तस्येदमुक्तवतः प्रविष्टस्य नाग्निर्ददाह रोमापि । कथम्? सत्येन हेतुना ।

कथमग्निः सत्यं जानातीति चेत्तद आह **जगतः स्पशः** । गूढात्मा परकीयकृता-
कृतज्ञः ‘स्पश’ उच्यते । स च चारः प्रणिधिरिति च प्रसिद्धिः । अग्निर्हि भगवान्सर्व-
भूतान्तरचारी कृताकृतानां वेदिता । तथा च छान्दोग्ये ताण्डके प्रयोगो देवासुरसेन-
योरभ्यन्तरे गौतममाश्रयन्ति गौतममिन्द्रं द्रढयेत्तत्र चाह “इह नो भवान्स्पशश्चरत्वि-
षेत्यादि” । अर्थवाचिनिदर्शनेऽपि पञ्चविंशब्राह्मणमुदाहार्यम्—‘वत्सश्च ह वै मेधा-
तिथिश्च काश्यपावास्ताम् । तं वत्सं मेधातिथिराक्रोशत् अब्राह्मणोऽसि इत्यादि तस्य
हालमेववौषधम्’ इति ।

ननु च चौरा अपि न दह्यन्ते । साधवोऽपि दह्यमाना दृश्यन्ते । तत्कथं शपथे
आश्वासः ।

उच्यते । न दृश्येन व्यभिचारेण व्यवस्थेयमपनेतुं शक्यते । कादाचित्कत्वाद्-
व्यभिचारस्य । प्रत्यक्षादिष्वपि प्रमाणेषु दृश्यत एव तादृशो व्यभिचारः । न च तानि न
प्रमाणम् । अथ व्यभिचारवन्ति नैव प्रत्यक्षादिशब्दवाच्यानि—यद्व्यभिचरति न तत्
प्रत्यक्षं, यत्प्रत्यक्षं न तद्व्यभिचरतीति वचनात् । इहापि शक्यते तद्वक्तुं—यद्व्यभिच-
रतिनासौ शपथो यः शपथः स न व्यभिचरतीति । कः पुनः शपथः । यः समस्तेतिक-
र्तव्यतामात्राद्यपग्रहेण निरूपितकुहकः स्तंभनाभावः । विपरीतोऽशपथः । न तादृशस्य
व्यभिचारोऽस्ति । अथापि स्यात्तत्रापि प्राक्कृतस्य कर्मणः फलविपाको भवति, निमित्त-
त्वात् । कृतापराधोऽपि पूर्वकृतेन गरीयसा शुभेन मुच्यते । अकृतापराधो जन्मान्तर-
दोषेण निगृह्यते । विचित्रा हि कर्मणां फलपाकाभिव्यक्तिहेतवः, सहस्रादेकामिथ्या गृह्यते,
उत्सर्गतस्त्वमिथ्यात्वम् । पुत्रेष्टिकारीयादिष्वप्येतत्समानम् ।

तस्मात्साक्षिवच्छपथेऽपि प्रत्येतव्यम् । तेऽपि हि कदाचिन्मिथ्यावदन्ति ।

न भयप्रदर्शनमात्रमेतत् । रूढ्या शपथा उक्ताः सत्यं प्रतिष्ठत इति ॥११६॥

हिन्दी—पूर्वकाल में (सौतेले) छोटे भाई के द्वारा ‘तुम ब्राह्मण नहीं हो, शूद्र की
संतान हो’ ऐसा दूषित वत्स ऋषि के रोम को (भी संसार के शुभाशुभ जानने में) गुप्तचर
रूप अग्नि ने सत्य के कारण से नहीं जलाया ॥११६॥

असत्य प्रतीत होने पर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।

तत्तत्कार्यं निवर्त्तत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥

भाष्य—यस्मिन्व्यवहारे कूटसाक्षिभिर्व्यवहारः कृतः स्यात्स निवर्तयितव्यः ।

कृतं चाप्यकृतं भवेत् । गृहीतधनोऽप्युत्तमर्णः प्रतिपादयितव्यः, इतरोदण्डी
गृहीतोऽपि त्याज्यः । वाङ्मात्रेण जितस्त्वमसीति निश्चिते कार्यं निवर्तते इत्युच्यते ।

दण्डपर्यन्तं कृतमपीति विशेषः । वीप्सा श्लोकपूरणायाम् ॥११७॥

हिन्दी—जिस-जिस विवाद (झगड़े-मुकदमे) में असत्य गवाही हो, (न्यायाधीश) उस-उस विवाद को फिर विचार करे और जिस विवाद में दण्ड-विधानादि (जुर्माने आदि का फैसला) हो चुका हो, वह समाप्त होकर भी नहीं समाप्त के समान है (अतः उस पर भी पुनर्विचार करे) ॥११७॥

लोभादि से साक्ष्य की असत्यता—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्क्रामात्क्रोधात्तथैव च ।

अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥

भाष्य—कौटसाक्ष्यं लोभादिनिमित्तम् । विषयकथनं दण्डविशेषभावार्थम् । वितथमसत्यम् । सर्वत्र पञ्चमी हेत्वर्था ॥११८॥

हिन्दी—लोभ, मोह (विपरीत ज्ञान अर्थात् उल्टा समझना), भय, प्रेम, काम, क्रोध, अज्ञान तथा असावधानी (या लड़कपन) से साक्षी असत्य माना जाता है ॥११८॥

लोभादि से साक्ष्य देने पर दण्ड विशेष—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।

तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥११९॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।

भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

भाष्य—लोभाद्यो वितथं वक्ति स सहस्रं दण्डनीय इत्येवं योजना कर्तव्या ।

तत्र यः परस्माद्धनमुपादाय विपरीतं वक्ति तस्य **लोभो** हेतुः ।

मोहात् । स्वभावतो यथार्थवादी यथादृष्टार्थवादी च केनचित्रितसंक्षोभहेतुना प्रश्नकाले व्यारूढः सम्यक् प्रश्नार्थमनवधार्यास्मृतत्वाद्वाऽन्यथा ब्रूयात्स **मोहादि-**त्युच्यते ।

भयं त्रासः । यदि मदीयेन सत्यवचनेनायं जीयेत तत्रायं कदाचित् ज्ञातिधनादि-बाधया मां व्यापादयेदित्याशङ्का ।

सहस्रमिति संख्येयविशेषावगतिर्वाक्यान्तरात्पणानामिति ।

पूर्वं तु साहसं प्रथमं 'पणानां द्वे शते सार्धे, (श्लो० १३८) इत्यादौ ।

द्वौ मध्यमौ साहसाविति विपरिणामः ।

पूर्वं चतुर्गुणं सहस्रमेवेत्यर्थः । वृत्तानुरोधेन विचित्रयः शब्दवृत्त्या स एवार्थः कथ्यते ॥ ११९-१२०॥

हिन्दी—(भृगु मुनि ऋषियों से कहते हैं कि—) उक्त (८।११८) लोभादि में से किसी एक के कारण से (भी) जो असत्य गवाही दे, उसके दण्ड विशेष को हम क्रमशः कहते हैं— ॥११९॥

कामादृशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।

अज्ञानाद्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥

भाष्य—मन्मथः कामः । यत्र स्त्रियो विवदन्ते तत्सम्बन्धन्यतरो कामयमानोऽनृतं वदति अर्धतृतीयानि सहस्राणि दण्ड्यते । क्रोधात्त्रिगुणं परं प्रथमसाहसस्य प्रकृतत्वात्ततः परो मध्यः । सर्वान्ते लोकविज्ञानादिति वा उत्तम एव परः । द्वेषः ‘क्रोधः’ । अज्ञानादिति । यो विपरीतं प्रथमं ब्रूयाद्भ्रान्त्या, नतु प्रश्नकाले द्वे शते दमः । प्रदर्शनमेव विपरीतं नाभिधानम् । बालिश्यं बालभावः अप्रापव्यवहारता । ईषदपक्रान्तबालभावस्याप्राप्तबुद्धिस्थैर्यस्यायं बालिश्यदण्डोऽन्यस्य त्वसाक्षितैव ॥१२१॥

हिन्दी—लोभ से असत्य गवाही देने पर १००० पण, मोह से असत्य गवाही देने पर प्रथम साहस, भय से असत्य गवाही देने पर दो मध्यम साहस, मित्रता (प्रेम) से असत्य गवाही देने पर चौगुना अर्थात् चार प्रथम साहस, काम से असत्य गवाही देने पर दश गुना प्रथम साहस, क्रोध से असत्य गवाही देने पर तिगुना मध्यम साहस, अज्ञान से असत्य गवाही देने पर सौ पण और असावधानी से असत्य गवाही देने पर सौ पण का ‘दण्ड’ (जुर्माना, न्यायाधीश उस असत्य गवाही देनेवाले पर) करे ॥१२०-१२१॥

विमर्श—प्रथम साहस = २५० पण । मध्यम साहस = ५०० पण । १ पैसा (ताँबे का) विस्तृत प्रमाण का विचार आगे (८।१३१-१३८) कहेंगे ।

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।

धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥१२२॥

भाष्य—उभयप्रयोजनो दण्ड इति दर्शयत्यवश्यानुष्ठेयत्वाय । शास्त्राचारनिरूढा व्यवस्था ‘धर्मः’, तस्य ‘अव्यभिचारो’ऽनिवृत्तिरुच्यते ॥१२२॥

हिन्दी—(मनु आदि) विद्वानों ने धर्म के स्थापन तथा अधर्म के निवारण के लिए असत्य गवाहियों में इन (८।११०-१२१) दण्डों को बतलाया है ॥१२२॥

बार-बार असत्य गवाही देने पर दण्ड—

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।

प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥१२३॥

भाष्य—सकृदपराधानां पूर्वो दण्डः । अभ्यासात्प्रवर्तमानानां दण्डयित्वा प्रवासनं राष्ट्राभिष्कासनं मरणं वाऽर्थशास्त्रे प्रयोगदर्शनात्तद्रूपत्वाच्च दण्डविधेः । ब्राह्मणं तु

विवासयेत् । वाससोऽपहरणं विवासनं गृहभंगो वा । विवासं करोति तत्करोतीति णिचि
णाविष्टवदिति टिलोपे रूपम् । **त्रीन्वर्णानिति** क्षत्रादयस्त्रयः, ब्राह्मणस्य दण्डान्तर-
विधानात् ॥१२३॥

हिन्दी—धार्मिक राजा बार-बार असत्य गवाही देनेवाले तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को उक्त (८।१२०-१२१) प्रकार से दण्डित कर राज्य से निकाल दे और ब्राह्मण को केवल राज्य से निकाल दे अर्थात् उसे दण्डित न करे ॥१२३॥

विमर्श—उक्त वचनानुसार बार-बार असत्य गवाही देनेवाले ब्राह्मण को उसके धन सहित राज्य से निकाल देना चाहिए । गोविन्दराज के मत से 'ऐसे ब्राह्मण को बार-बार उक्त (८।१२०-१२१) दण्ड से दण्डित कर नग्न कर दे' यह अर्थ है तथा मेधा-
तिथि के मत से ऐसे ब्राह्मण को 'नग्न कर दे या उसका घर ढहवाकर गृह हीन कर दे'
यह अर्थ है ।

दण्ड के दश स्थान—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥१२४॥

भाष्य—स्थानशब्दो विषयपर्यायः । एतैः प्रदेशैः पीडयितव्यः प्रत्यपराधम् ।
शब्देन ब्राह्मणस्य धनदण्डविधानादक्षतत्वोपदेशः शरीरपीडापरिहारार्थः कल्पते—
सत्यपि धनस्य दशसङ्ख्यान्तर्भावे ।

वयं तु ब्रूमः—'समग्रधनमक्षत'मित्यत्र धनपीडाऽपि निषिद्धैव ब्राह्मणस्य । तस्माद्यः
सकृत्कथंचिदपराद्धः श्रुतशीलाभिजनयुक्तस्तस्य धनदण्डोऽपि नास्ति । तथा च गौत-
मतादृशमेव ब्राह्मणमधिकृत्य 'द्वौ लोके धृतव्रतौ' इत्युपक्रम्य 'षड्भिः परिहार्यश्चे-
त्यादि' (अ० ८ सू० १-१३) ॥१२४॥

हिन्दी—ब्रह्मा के पुत्र मनु ने तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) से विषय में दण्ड
के दश स्थानों को (८।१२५) कहा है और ब्राह्मण तो पीडारहित अर्थात् बिना किसी
प्रकार दण्डित किये केवल राज्य से निकाल दिया जाता है ॥१२४॥

दश दण्ड-स्थानों के नाम—

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥१२५॥

भाष्य—उपस्थं प्रजनधर्मः स्त्रीपुंसयोः । उद्देशमात्रमिदं विनियोगस्तूत्रत्र भवि-
ष्यति । यत्र च दण्डविशेषो नाम्नातस्तत्र यो येनैवाङ्गेनापराद्धः स तत्रैव पीडयितव्यः ।
तत्रागम्यागमन उपस्थनिग्रहः । चौर्य उदरत आहारनिवृत्त्यादिना वाग्दण्डपारुष्ये जिह्वा-

हस्तयोः । पादबलेन व्यक्तिक्रामन्यादयोः । विवृत्य विश्रब्धं राजदारान्वीक्षमाणश्चक्षुषोः । अनुलेपनगन्धमाजिघ्रन्नासिकायाम् । रहसि राजानं मन्त्रयमाणं कुड्यपटान्तरित उपशृण्वन् **कर्णयोः । धने** प्रसिद्धो दण्डः । देहे मारणं महापातकिनः ॥१२५॥

हिन्दी—उपस्थ (मूत्रमार्ग), पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, नाक, कान, धन और देह (ये दण्ड के दश स्थान) हैं ॥१२५॥

विमर्श—उक्त अङ्गों से महापातकादि बड़े अपराध करने पर उक्त अंगों का पीडन या छेदन अपराध के छोटे-बड़े अनुसार करना चाहिए; किन्तु साधारण अपराध करने पर तो केवल अर्थदण्ड ही करना चाहिए ।

अपराधादि के अनुसार दण्डविधान—

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।

सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥१२६॥

भाष्य—उक्तानुक्तदण्ड्येष्वपराधेषु मातृकाश्लोकोऽयम् । एतदर्थानुसारेण सर्वत्र दण्डकल्पितः कर्तव्यः । तत्र पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरनुबन्धः । प्रवृत्तिकरणं वा, अनुबध्यते प्रयुज्यते येन तस्मिन्कर्मणि । तं परिज्ञाय । किमयमात्मकुटुम्बक्षुदवसायेन धर्मतन्त्र-प्रसङ्गेन वा—अथ मद्यद्यूतादिशौण्डतया तथा प्रमादाद्बुद्धिपूर्वं वा परप्रयुक्तस्वेच्छया वेत्यादिरनुबन्धः । देशो ग्रामारण्यगृहजलजन्मप्रसवभूम्यादिः । कालो नक्तं दिवादिः । सुभिक्षदुर्भिक्षबाल्ययौवनादि वा । सारः शक्त्यशक्ती आढ्यत्वदारिद्र्ये । अपराधो-ऽष्टादशानां पदानामन्यतमः । एतत्सर्वं पौर्वापर्येण निरूप्य तथा दण्डं पातयेत्कुर्या-द्यथा स्थितिः सांसारिकी न भ्रश्यतीति ॥१२६॥

हिन्दी—(न्यायाधीश या राजा) बार-बार किये गये अपराध, देश (ग्राम, वन आदि) काल (रात-दिन आदि), अपराधी की शारीरिक तथा आर्थिक शक्ति और अपराध के गौरव-लाघव का वास्तविक विचार कर दण्डनीय व्यक्ति को दण्डित करे ॥१२६॥

धर्मविरुद्ध दण्ड की निन्दा—

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।

अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥

भाष्य—अधर्मप्रधानदण्डमधर्मदण्डनम् । पूर्वोक्तमनपेक्ष्येदं शास्त्रपाठमात्रेण राजे-च्छया रागद्वेषादिभिर्वा । तद्यशोनाशकं कीर्तेश्च विच्छेदकम् । स्वदेशे गुणख्याति-र्यशः देशान्तरे कीर्तिः । जीवतो वा पूर्वकालिकं यशः उत्तरकालिकी कीर्तिः । निर्दोषगुणवतीकीर्तिर्यशसी । अन्यो वा भेद उन्नेयोऽर्थवादत्वात् । अस्वर्ग्यं स्वर्ग-

प्राप्तौ कर्मान्तरजन्यायां प्रतिबन्धकम् । परत्रापीति श्लोकपूरणार्थम्, स्वर्गस्यामुष्मि-
कत्वात् ॥१२७॥

हिन्दी—धर्मविरुद्ध दिया गया दण्ड (राजा) के यश (जीवित अवस्था में प्रसिद्धि) तथा कीर्ति (मरने पर प्रसिद्धि) का नाश करनेवाला तथा परलोक में भी दूसरे धर्म से प्राप्त होनेवाले स्वर्ग का प्रतिबन्धक है; अतएव उसका त्याग करना चाहिए ॥१२७॥

अदण्ड्यके दण्ड तथा दण्ड्य के त्याग से हानि—

अदण्ड्यान्दण्ड्यत्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥

भाष्य—पूर्वश्लोकोऽनुबन्धादिनिरूपणविधिषोऽनेन त्वनपराधानां दण्डनं प्रतिषिध्यते सापराधानां च विधीयते ।

वृत्त्यर्थतां दण्डस्य मन्यमानोऽनुग्रहेणाहासीदिति (अयशः) ॥१२८॥

हिन्दी—अदण्डनीय को दण्डित करता हुआ तथा दण्डनीय को छोड़ता हुआ राजा बड़ा अयश पाता है तथा नरक को भी जाता है ॥१२८॥

वाग्दण्ड, धिग्दण्डादि—

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।

तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतःपरम् ॥१२९॥

भाष्य—यो गुणावानीषत्प्रथममेवापराद्धः स वाचा निर्भत्स्यते 'न साधु कृत-
वानसि मा पुनरेवं कार्षीरिति' । तथा विनीयमाने यदि न निवर्तते 'कोऽत्रदोष' इति वा
प्रतिजानीयात्तदा धिग्धिगादिशब्दैः परुषवचनैः कुत्सार्यैः क्षिप्यते । ततोऽप्यनिवर्त-
मानो यथाशास्त्रं धनेन दण्डनीयः । तदप्यगणयन्नैश्वर्यादिना हंतव्यः । वधदण्डश्च ताडनाङ्ग-
च्छेदनादि, न मरणमेव ॥१२९॥

यत आह—

हिन्दी—राजा गुणियों को प्रथम बार अपराध करने पर वाग्दण्ड, उसके बाद (दूसरी बार अपराध करने पर) धिग्दण्ड, तीसरी बार आर्थिक दण्ड (जुर्माना) और इसके बाद वधदण्ड (अपराधानुसार शरीर ताडन अर्थात् कोड़े बेंत से मारना या अंगच्छेद आदि या प्राण दण्ड) से दण्डित करे ॥१२९॥

विमर्श—वाग्दण्ड—तुमने यह अच्छा काम नहीं किया, सावधान, फिर कभी ऐसा दुष्कर्म मत करना आदि । **धिग्दण्ड**—जाल्म तुम्हें धिक्कार है आदि । **वधदण्ड**—अपराध के गौरव लाघव के अनुसार वेंत, कोड़े आदि से मारने का दण्ड, जिस अंग से अपराध किया है उसको काटने का दण्ड या प्राणदण्ड ।

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।

तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥१३०॥

भाष्य—मारणं चेद्वधः किं तदन्यद्यत्र शक्यते—कथं चैनं पापं निगृहीतेत्यादिपरुषवाक्यपूर्वं दुर्विनीतेषु धनदण्डवधौ समुच्चेतव्यौ । कृतेऽपि शरीरदण्डे यदि नावतिष्ठते ततो न कृतनिग्रह इत्युत्सृजेदपि तु स वधदण्डः कर्तव्यः । धनवधदण्डयोश्च पुनःप्रवृत्त्यर्थोऽयमारम्भः । वाग्दण्डे तु मृदुत्वात्कः पृच्छति । धनेन च निगृहीतस्य पुनर्वधो दृष्टो “ऽङ्गुलिग्रन्थिभेदस्येति” (९।२७७) ॥१३०॥

हिन्दी—यदि (राजा या न्यायाधीश) वध (शरीरताडनच्छेदन आदि) से भी इसे (अपराधी को) वश में नहीं कर सके तो इन चारों (८।१२९) प्रकार के दण्डों से एक साथ उसे दण्डित करे ॥१३०॥

त्रसरेणु आदि का परिमाण (तौल)—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।

ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१३१॥

भाष्य—ताम्रादीनां लिखादयः । संज्ञा भुवि प्रसिद्धाः ।

“किं शास्त्रपरिभाषया । तत्र वृद्धव्यवहारो गवादिशब्दवत्” इत्यत आह लोकसंव्यवहारार्थम् । अर्थशब्दो विषयवचनः । तेन व्यवहारप्रसिद्धिराश्रिता भवति ।

“ततश्च गवादिशब्दतुल्यतया व्यवहारात् प्रसिद्धः—किं शास्त्रोपदेशेन” ।

उच्यते । नियमार्थ उपदेशः । अन्येषामपि परिमेयानामयस्कांस्यसुवर्णादीनामेताः संज्ञाः सन्ति, तन्निवृत्त्यर्थः । क्वचिद्देशे परिमाणे भेदोऽप्यस्ति, तन्निवृत्त्यर्थश्च । क्वचित् सम्बन्धतया नियम्यते । तदा च क्वचिदष्टाचत्वारिंशता माषबन्धं क्वचिच्चतुःषष्ट्या क्वचित् साष्टेन शतेन । तदेतत्सर्वं नियम्यते ।

अथ चैवं सम्बन्धः क्रियते—याः संज्ञा भुवि प्रथितास्ता लोकसंव्यवहारार्थवक्ष्यामि । सर्वस्य लोकस्याभिरेव संव्यवहारो यथा स्याद्दण्डादिनियोगस्याप्यन्यथा प्रसिद्धिः ॥१३१॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) लोगों के व्यवहार के लिए ताँबे-चाँदी तथा सुवर्ण (सोने) की जो संज्ञायें (प्रमाण-विशेष) प्रसिद्ध हैं, उन सभी को मैं कहूँगा ॥१३१॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥

भाष्य—इमं श्लोकं केचिन्नाधीयते त्रसरेणौ विप्रतिपत्त्यभावात् । गवाक्षकुचिका-
विवरप्रविष्टे सूर्ये यो रणुर्दृश्यते स त्रसरेणुः । अन्तरशब्दो विवरपर्यायः । प्रथमं
तत्प्रमाणानामिति ॥१३२॥

हिन्दी—खिड़की आदि के छिद्र से सूर्य किरण के प्रवेश करते रहने पर जो सूक्ष्म
धूलि (चमकता हुआ धूलिकण) दिखलायी पड़ती है, उसा (दिखलाई पड़नेवाले धूलि
कण) को प्रमाणों के बीच में प्रथम प्रमाण 'त्रसरेणु' कहते हैं ॥१३२॥

सरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।

ता राजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥

भाष्य—तत्रोपचितपरिमाणाः । न पुनरयं लिक्षाशब्दः स्वेदजक्षुद्रजन्तुवचनः ।
तास्तिस्त्रो लिक्षा एको राजसर्षपाख्यपरिमाणपदार्थः । एवं योजनीयम् । ततश्च ये
व्यभिचारयन्ति न यथोक्तपरिमाणा यवादयो ऽर्था इति ते निरस्ता भवन्ति । नहि
यवादीनामर्थानां परिमाणम् । “कथं तर्हि यथोक्तपरिमाणार्थः” । यथा चोपक्रान्तसंज्ञाः
प्रवक्ष्यामि परिमाणमिति । त्रसरेणुश्चार्थो नियतपरिमाणस्तेनैतत्सर्वं निश्चेयम् । शकुवन्ति
च निपुणास्त्रसरेणून् संहन्तुमिति नानारभ्यार्थोपदेशः । एतत्स्वर्णकाराभिमानसंख्यास्मृति-
रूपं निर्बाधं भवति । तत एव वस्तु निपुणतोऽशेषतोऽवधारयितव्यम् ॥१३३॥

हिन्दी—आठ त्रसरेणु का एक लिक्षा, तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप', तीन
राजसर्षपों का एक 'गौरसर्षप' जानना चाहिए ॥१३३॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णालम् ।

पञ्चकृष्णालिको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥

भाष्य—“मध्यशब्दो भ्रान्तिहेतुः । परिमाणपरत्वे नात्यन्तमपचितो नातिस्थूलः
सर्षपपरिमाण इति मध्यग्रहणमर्थवत् । संज्ञापरत्वे तु न किञ्चिन्मध्यशब्देन, यव-
शब्दसंज्ञात्वात्” ।

तदसत् । नायं संदर्भो येन प्रत्ययवयवं प्रयोजनमुच्यते । पद्यग्रन्थोऽयम् । तत्र
गतार्थमपि वृत्तानुरोधात्किञ्चिदुच्यते । अस्ति चास्यान्वयः । अनन्विताभिधानं हि वाक्यार्थ-
विरोधात् प्रमाणम् । न चावगताभिधानमपि परिमाणभेदांस्त्रसरेणुशतमानादीनाद्यन्तान-
पेक्ष्य मध्यपठितत्वान्मध्यो यवाख्यः परिमाणविशेषः ।

पञ्चकृष्णाला अस्मिन्सन्ति पञ्चकृष्णालिकः । “अत इति ठनौ” इति ठन्
कर्तव्यः । ‘पञ्चकृष्णालक’ इति पाठे कबन्तो बहुव्रीहिः ।

ते कृष्णालाः षोडश एकः सुवर्णः ॥१३४॥

हिन्दी—छः गौर सर्षपों का एक 'मध्ययव' (न अत्यन्त मोटा और न अत्यन्त

महीन), तीन मध्ययवों का एक ‘कृष्णल’ (रत्ती), पाँच कृष्णलों (रत्तियों का एक ‘मासा’) (मासा अर्थात् एक आना भर) सोलह मासों (मासाओं = १६ आने भर) का एक सुवर्ण अर्थात् एक रुपया भर = ८० रत्तीभर (जानना चाहिए) ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः ॥१३५॥

भाष्य—पलमिति संज्ञानिर्देशः । सुवर्णमिति संज्ञो । चत्वार इति विशेषणम् । धरणमिति संज्ञा । दश पलानीति संज्ञी । द्वे कृष्णले इति संज्ञा । रूप्यमाषक इति समुदायसंज्ञां मन्यन्ते ।

“ननु रूप्यविषयमाषकनिर्देशो द्वे कृष्णले प्रतिपत्तव्ये इति प्रजिजानीते । ततश्चानिश्चयः ।”

समधृते । तुलासूत्रके उन्मानादिहीने यदि धार्येते । प्रयोजनं मध्यशब्दवत्, यतोऽ-समयाद्धार्यमाणतया परिमाणनिश्चयः ॥१३५॥

हिन्दी—चार सुवर्णों (रुपये भर) का एक ‘पल’ (छटाँक), दश पलों का एक ‘धरण’ तथा दो कृष्णल (रत्तिओं) को काँटे (तराजू) पर रखने पर उसके बराबर एक ‘रौप्यमाषक’ जानना चाहिये ॥१३५॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥

भाष्य—षोडशरूप्यमाषका रूप्यस्य धरणं भवति । पुराण इति संज्ञान्तरम् । कार्षापणः पण इति च द्वे संज्ञे ताम्रकर्षस्य । कर्षाख्यश्च शब्दो लोकत एव प्रसिद्धार्थ इह गृह्यते व्यभिचारदर्शनासत्त्वेन न कृष्णलादिवत्परिभाष्यते ॥१३६॥

हिन्दी—उन सोलह रौप्य मापकों का एक ‘रौप्यवरण’ तथा ‘राजत’ अर्थात् चाँदी का ‘पुराण’ और ताँबे के कर्ष (पैसे) को ‘कर्ष’ तथा ‘पण’ कहते हैं ॥१३६॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।

चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१३७॥

भाष्य—शतमान इति संज्ञा दशानां धरणानाम् । राजतशब्देन सुवर्णमप्युच्यते । तेन रूप्यसुवर्णयोरियं संज्ञा । सुवर्णस्य मानं तु शास्त्रान्तरात्परिमातव्यम् । तथा च विशेषयिष्यति शतमानं तु राजतमिति ॥१३७॥

हिन्दी—दश रौप्य (चाँदी का) धरणों का एक राजत (चाँदी का) ‘शतमान’ जानना चाहिये और प्रमाण से चार सुवर्णों का एक ‘निष्क’ (अशफ़ी) जानना चाहिये ॥

प्रथम आदि साहस का प्रमाण—

पणानां द्व शते साहसं प्रथमः साहसः स्मृतः ।

मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥

भाष्य—मध्यम उत्तम इत्यत्र साहसपदानुषङ्गः कर्तव्यः । मध्यमोत्तमशब्दावत्र केवलावपि शास्त्रान्तरदृष्टौ—“आभ्यां दण्ड उत्तम” इति । तत्र शास्त्रसिद्ध्या साहचर्यात्साहसं प्रतीयते । अवयवाः स्पष्टाः ॥१३८॥

हिन्दी—ढाई सौ पणों का ‘प्रथम (पहला) साहस’ कहा गया है, पाँच सौ पणों का ‘मध्यम साहस’ तथा एक सहस्र पणों का एक ‘उत्तम साहस’ जानना चाहिये ॥१३८॥

ऋण लेने पर दण्डनियम—

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।

अपह्वे तद्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥१३९॥

भाष्य—यो राजसभायामानीतो धर्मेण ऋणं देयतया प्रतिजानीते सत्यमस्मै धारयामि स पञ्चकं शतमर्हति दण्डमिति शेषः । अनेन संकल्पितेन विंशतितमो भागो दण्ड्यते— ‘किमिति मत्सकाशमुत्तमर्णः प्रेषितो बहिरेव कस्मान्न परितोषित’ इत्यतोऽनेन शास्त्रव्यतिक्रमेण दण्डमर्हति । यस्तु व्यतिक्रमान्तरं करोत्पह्वते—‘नाहमस्मै धारयामीति’- स तैः प्रतिपादितस्तद्विगुणम् । तस्मात्पञ्चकाद्विगुणं दशकं शतमित्यर्थः । तन्मनोः प्रजापतेरनुशासनं सृष्टिकालप्रभृति व्यवस्था नीतिरिति यावत् ।

अन्ये तु तच्छब्देन देयमेव प्रत्यवमृशन्ति । यावत्तस्मै देयं तद्विगुणम् । तेन यावदृणमित्यनेनैकवाक्यं भवति । अन्यथा वाक्यभेदः । विषयविशेषानिर्देशादेकविषयत्वे विकल्पः प्राप्नोति ।

स च न युक्तो द्विगुणस्यात्यन्तबहुत्वात् । असत्यपि निर्देशे तस्य विषयो दर्शनं तस्य प्रत्यासन्नेषु पञ्चकमित्यर्थस्तस्यैवानुप्रत्यवमर्शो युक्तः ॥१३९॥

हिन्दी—(न्यायालय में ऋण लेनेवाले के) ऋण लेना स्वीकार कर लेने पर ऋण द्रव्य का पाँच प्रतिशत और असत्यता से ऋण लेना स्वीकार नहीं करने पर उसे दश प्रतिशत दण्डित करना चाहिये, ऐसा मनु भगवान् का आदेश है ॥१३९॥

सूद (व्याज) का प्रमाण—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धनीम् ।

अशीतिभागं गृहीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥१४०॥

भाष्य—अशीतीति विधेयनिर्देशः । **वसिष्ठविहितामित्यादिरर्थवादः** । वसिष्ठो भगवान् त्रिकालज्ञो लोभादिदोषरहित इति तां वृद्धिं गृहीतवानत एषा प्रशस्ता । धनं तथा वृद्धिमुपैति । न च लोभदोषोऽस्ति । **सृजेत्त्रयुज्जीत** यदा धनं तदाऽधमर्णस्य तां वृद्धिं धनप्रयोगकाले निर्दिशेत् । सर्वद्रव्येषु वस्त्रधान्यहिरण्यादिष्वेतदेव वृद्धिपरिमाणम् । संख्येय-परमेयादिषु ‘रसस्याष्टगुणा वृद्धिः’ इत्यादिषु द्वैगुण्यापवाद इति वक्ष्यामः ॥१४०॥

हिन्दी—(सूद (व्याज) पर ऋण देनेवाला महाजन) वसिष्ठ मुनि द्वारा प्रतिपादित धनवर्द्धक सूद ले व ऋणद्रव्य का १/८० भाग अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिए ॥१४०॥

द्विकं शतं वा गृहीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।

द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥१४१॥

भाष्य—द्वौ वृद्धिरस्मिन् शते दीयते तद् द्विकं शतम् । द्विशता पूर्वयाऽजीवतो बहुकुटुम्बस्यायं द्विकशतविधिः । मासमनुवर्तते । **सतामित्यादिरत्रायमर्थवादः सतां धर्म-मिति** । एषाऽपि वृद्धिः साधूनां धर्मः । नैतया साधुत्वं हीयते । नात्यन्तमर्थपर उच्यते तद्दर्शयति **न भवत्यर्थकिल्बिषी** । अन्यायेन परस्वग्रहणात्पापमर्थकिल्बिषं तदस्या-स्तीत्यर्थकिल्बिषी ॥१४१॥

हिन्दी—अथवा सज्जनों के धर्म को स्मरण करता हुआ ऋणदाता दो प्रतिशत अर्थात् दो रुपये सैकड़ा प्रतिमास सूद ले, दो प्रतिशत सूद लेनेवाला ऋणदाता पापभागी नहीं होता ॥१४१॥

वर्ण के अनुसार सूद लेना—

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।

मासस्य वृद्धिं गृहीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

भाष्य—ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चतुर्णां वर्णानां सकाशाद्विकादयश्चत्वारः कल्पा यथार्सङ्ख्यं न ग्राह्यतयाऽनुज्ञायन्ते । **समम्** । न पादेन वाऽर्धेन वाऽधिकम् । तदाधि-कोऽपि सपादद्विकं सार्द्धद्विकमिति द्विकादिव्यपदेश्यानिवृत्तेराशङ्कानिवारणार्थं **सम-ग्रहणम्** । यथा मात्रान्यत्वेऽपि संज्ञान्तरव्यपदेशं निवर्तयति । इदमपि पूर्वेणाजीवतः कल्पान्तरम् । यस्य वाऽल्पं धनं महते धर्माय गृहीतारश्च नातिधार्मिकास्तत्रायं विधिः । ‘येऽसाधुभ्योऽर्थमादायेति’ न्यायेन ।

समामिति पाठान्तरम् । संवत्सरं यावदेषा वृद्धिर्न परतोऽपि महत्त्वाद् द्वैगुण्यं स्यात् ॥१४२॥

हिन्दी—अथवा—वर्णों के अनुसार दो, तीन चार और पाँच प्रतिशत मासिक सूद

ले अर्थात् ब्राह्मण से दो रुपये सैकड़ा क्षत्रिय से तीन रुपये सैकड़ा, वैश्य से चार रुपये सैकड़ा और शूद्र से पाँच रुपये सैकड़ा सूद ले ॥१४२॥

विमर्श—गोविन्दराज तथा मेधातिथि का मत है कि 'सवा तथा दो प्रतिशत मासिक सूद ब्राह्मण से लेने पर प्रथम पक्ष अत्यल्प तथा द्वितीय पक्ष अत्यधिक होता है, अतएव यदि प्रथम पक्ष सवा प्रतिशत सूद लेने से निर्वाह होना सम्भव नहीं हो तब दो प्रतिशत सूद लेना चाहिये' परन्तु महर्षि याज्ञवल्क्यके^१ मत को आधार मानकर मन्वर्थ-मुक्तावलीकार का मत है कि—कोई वस्तु (आभूषण आदि) बन्धक (गिरवी) रखने पर सवा प्रतिशत और अन्यथा दो प्रतिशत मासिक सूद ब्राह्मण से लेना चाहिये । याज्ञवल्क्य-श्लोक-व्याख्याता 'मिताक्षराकार' के मत से त्रैराशिक क्रम से ब्राह्मण से २ में $\frac{१}{२}$ अर्थात् सवा तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से ३, ४ और ५ में क्रमशः $१\frac{१}{४}$, $२\frac{१}{२}$ और $३\frac{१}{४}$ अर्थात् बन्धक रखने पर सौ रुपये पर ब्राह्मण से सवा रुपया, क्षत्रिय से एक रुपया चौदह आना, वैश्य से ढाई रुपया और शूद्र से तीन रुपये दो आना (प्रतिशत) मासिक सूद लेना चाहिये; किन्तु 'नेने' शास्त्री का मत है कि 'समम्' पद होने से उक्त क्रम क्षत्रियादि के साथ बन्धक रखने पर भी नहीं लागू होगा । अतएव बन्धक नहीं रखने पर क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से क्रमशः तीन, चार और पाँच प्रतिशत ही सूद लेना चाहिये । 'समाम्' पाठान्तर होने पर यह वृद्धि-वैषम्य केवल एक ही वर्ष तक मानना चाहिये बाद में नहीं ।

रेहन रखने पर सूद लेने का निषेध—

न त्वेवाधौ सोपकारै कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।

च चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥

भाष्य—बहुधा प्रयोगः—गृहीत्वाऽऽधिमन्यथा च । आधिरपि द्विविधो—गोप्यो भोग्यश्च । भोग्योऽपि द्विविधः—समयादुह्यमानभोगः स्वरूपतो वा । आधिर्दोर्गन्धी गौः पिहितसुवर्णादि । तत्र भोग्यमाधिमधिकृत्येदमुच्यते **न त्वेवाधौ सोपकार इति** । विविधः सोपकारः—क्षीरिणो गौः क्षेत्रारामादि च । तस्मिन् भुज्यमाने । कुसीदे भवा **कौसीदी** अनन्तरोक्ता वृद्धिस्तां **नाप्नुयात्** । आधिं तु भुञ्जानो नान्यां वृद्धिं लभेत । गोप्येऽप्याधौ **कालसंरोधाच्चिरमवस्थानाद् द्विगुणीभूतेऽप्यमोक्षमाणे न निसर्गोऽस्ति न विक्रयः** । अन्यत्र च विधिनाऽर्पणं **निसर्गः** । अन्यत्र संक्रामितं द्विगुणीभूतमपि पुनर्वर्धत एव । तथा च पठिष्यति 'सकृदाहतेति' । **विक्रयः** प्रसिद्धः । सोऽपि न कर्तव्यः । "किं तर्हस्यामवस्थायां कर्तव्यम्" । तावदाधि भुञ्जीत यावद्द्विगुणं धनं प्रविष्टं ततो मोच्य

१. 'अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।

आधिः । तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने भोग्यस्तावदेव, अभोग्यस्तदनन्तरम् । भोग्य-
स्त्वाधिः शान्तलाभस्तिष्ठत्येव यावदाधाता नागतः । यस्तु कथंचिद्धनिको दरिद्रतामुप-
गतस्तावन्मात्रशेषधनः स कञ्चित्कालं प्रतीक्ष्य राजनि निवेद्य विक्रीणीत बन्धम्—ततो
विक्रयादुत्पन्नं द्विगुणमात्मनो धनं गृहीत्वा शेषं मध्यस्थहस्ते ऋणिकसात्कुर्यात् ।

ननु च “आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्षयेत्” इति पठ्यते (याज्ञ० २।५८) ।

एतदुत्तरत्र व्याख्यास्यामः । प्रणश्यत्वात्र पूर्वस्वामिनः स्वाभ्यहानिः प्रयोक्तुश्च
स्वत्वापत्तिः । यदि च निसर्गविक्रयौ न स्तः कीदृशमस्य स्वाम्यमुच्यते? तस्मात्प्रति-
षेधसामर्थ्येन प्रणाशवचनं प्रतिषिद्धभोगस्य भोगानुज्ञानार्थं व्याख्यायते । वस्त्रादिविषयं
वा । तस्य हि भुज्यमानस्य प्रयाश एव । न क्षेत्रादेरिव तिष्ठवः स्वरूपात्प्रपच्यवमानस्य
भोग्यता सम्भवति । तेनैतत्स्मृतिव्यवस्थायां व्याख्येयम् ।

गौणौ चात्र प्रणाशानिसर्गौ । विक्रयप्रतिषेधस्तु मुख्य एव । न ह्यसौ गौणतया
प्रतिपत्तुं शक्यते । एतदेव प्रस्तुत्य “न स्यातां विक्रयाधीने” इति स्मृत्यन्तरे पठितम् ।
अत इह निसर्गोऽन्यत्राधानम् विक्रयसाहचर्यात् । सदृशौ हि तौ केनचिदंशेन ॥१४३॥

हिन्दी—भूमि (घर या खेत) तथा गौर आदि रेहन (गिरवी) रखकर ऋण लेने पर
उनका उपभोग करता हुआ ऋणदाता ऋणी (ऋण लेनेवाले) से सूद नहीं लेता तथा
अधिक समय बीत जाने पर (मूलधन राशि के दुगुना हो जाने पर) भी ऋणदाता रेहन
रखी हुई सम्पत्ति (भूमि गोधन, आदि) को न तो किसी दूसरे को देने का अधिकारी है
और न बेचने का ॥१४३॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने इस उत्तरार्द्ध श्लोक का अर्थ ‘रेहन की
वस्तु के बहुत दिनों तक ऋणदाता के यहाँ रहने पर भी वह ऋणदाता उस वस्तु (भूमि
आदि) को न तो किसी को बन्धक (रेहन) देने का अधिकारी है और न बेचने का’ ऐसा
किया है । परन्तु ‘बन्धक रखे हुए भूमि आदि का दूसरे के पास बन्धक रखने का व्यवहार
देखे जाने से उक्त मत शिष्टाचार से विरुद्ध है’ ऐसा मन्वर्थ मुक्तावलीकार का मत है ।
इस विषय में विशेष निर्णय के जिज्ञासुओं को ‘काशी सं० ग्रन्थमाला, बनारस’ से
प्रकाशित ‘मन्वर्थमुक्तावली’ व्याख्या की ‘नेने शास्त्रीकृत टिप्पणी देखनी चाहिये ।

गोप्य बन्धक के भोग का निषेध—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमृत्सृजेत् ।

मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१४४॥

भाष्य—“ननु च प्रागप्येतदुक्तं ‘त्वेवाधाविति (१४३)’ ।

सत्यम् । यत्र यावत्येव वृद्धिस्तावानेव भोगः स पूर्वस्य विषयः । यत्र तु महती

वृद्धिः स्वल्पोपभोगश्चेद्वलादिना भुञ्जानस्य सर्वेण सर्ववृद्धिहानिः । यत्र क्षेत्रगवादि-
बन्धस्तद्भोगश्च न वृद्धिसम्मितः स चोपचितामपि वृद्धिं न ददाति, न च बन्धनं द्वि-
गुणं, तत्र कयाचिदतिमत्यात्यन्तमुक्तैव वृद्धिर्निश्चेतव्या ।

यदि तु वस्त्रादि भुज्यमानं नश्येत्तत्र मूल्येन तोषयेदेनम् आघातारम् । इतरोऽपि
वृद्धिं लभते । अतोऽन्यथाऽददन्मूल्यमाधिस्तेनो भवेत् । यज्जातीयमाधिं भुक्तवांस्तद-
पहारे यो दण्डः स एव दाप्यः । स्तेनश्चौरः ।

अन्ये व्याचक्षते । बलाद्भुक्ते वृद्धिहानिः । भुञ्जीत तन्मूल्यत एव वा । यदृणिकस्य
मूल्यं मूल्यहिरण्यम् । यत्र भुञ्जान उच्यते 'मा मे बन्धं विनीनशो मा भुङ्क्ष्व कति-
पयैरहोभिर्मोक्षयामि' तथाऽप्युच्यमानो भुङ्क्त एवेति सोऽस्य विषयः ॥१४४॥

हिन्दी—ऋणदाता बन्धक में रक्खी हुई वस्तु (वस्त्र, आभूषण आदि) का भोग न
करे और यदि भोग करे तो वह ऋणी से उस वस्तु के ऋण का (८।१४०-१४२ में)
कथित सूद न ले तथा यदि बन्धक रक्खी हुई वस्तु नष्ट-भ्रष्ट हो (टूट-फूट) जाय तो
उसका मूल्य देकर ऋणी को सन्तुष्ट करे अन्यथा ऋण देनेवाले को बन्धक रक्खी हुई
वस्तु की चोरी का पाप लगता है ॥१४४॥

बन्धक तथा मंगनी में ली गई वस्तु का परावर्तन—

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।

अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥

भाष्य—आधिरुक्तार्थः । प्रीत्या भुज्यमान उपनिधिस्तु शास्त्रन्तरवदन्तर्हितो
न्यासः । तौ चिरकालं न स्थाप्यौ । किं तर्हि ? प्राप्ते काले मोक्षणीयौ । आधेमोक्षण-
काले द्विगुणीभूतं धनम् । तस्यातिक्रमस्तस्मिन्नपि कालेऽमोक्षणम् । उपनिधिरपि यावता
कालेन नास्यावसरो भवति मदीयमेवैतद्भोक्ताऽहमिति स प्रत्याहरणकालः । ततोऽधिकः
कालः कालात्ययः । तं नार्हतः स न कर्तव्य इत्यर्थः । हेतुमाह । अवहार्यौ भवेतां
ताविति । तौ हि दीर्घकालमवस्थितावप्रत्याहीयमाणौ अवहार्याविति स्थितम् । तस्माद्-
द्विगुणीभूतधनेऽधिमोक्षणे प्रयतितव्यम् । सुहृदुपदेशोऽयं न त्वेवाध्युपनिध्योर्भूयसाऽपि
कालेनापहारः । यतो वक्ष्यति—“आधिसीमाबालधनमिति” (१४९) । अतस्तस्यैवा-
यमनुवादः ।

अन्ये त्वाधिविषयमुपदेशमिच्छन्ति । यो द्वेषेण द्विगुणीभूते धने कालं क्षपयति,
तत्रिलाभं धनं नाधिकं वर्द्धते, न चास्याधुनाऽन्यत्राधानविक्रयौ स्तः, इह वृद्धिमयं मा
लभतामित्यनेन मात्सर्येण—तत्रेदमुच्यते अवहार्यौ भवेतां ताविति । अनया बुद्ध्या-
ऽमोक्षयतः स्वाम्यमस्य निवर्तते । यस्तु कथंचिदसति धने न मोक्षयति तस्य निसर्ग-

विक्रयौ न स्त इति । अथवाऽपरोऽर्थो मुखेनोपेक्षयति—परहस्तगतया शङ्क्योच्यते अवहार्यो भवेतामिति ॥१४५॥

हिन्दी—बन्धक रक्खी हुई या प्रेम से भोग के लिए अर्थात् मंगनी दी हुई वस्तु समय अधिक बीत जाने पर भी समय बीतने के नियन्त्रण योग्य नहीं होती है, अतएव नियत समय बीत जाने पर भी उन वस्तुओं को देनेवाला जब मांगे तभी वे वस्तुएँ वापस कर देनी चाहिये ॥१४५॥

गौ आदि के भोगने पर भी अधिकार का निषेध—

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्चो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥

भाष्य—प्रीतिरेव सम्प्रीतिः । तथा हेतुभूतयोपभुज्यन्ते धेन्वादयस्ते न नश्यन्ति । पूर्वस्वामिसम्बन्धहान्या भोक्तुः स्वत्वापत्तिर्नाशः । स धेन्वादीनां प्रीत्या भुज्यमानानां न भवति ।

“ननु च सर्वस्यैवोपनिधेर्भोगेनापहारो नास्ति । वक्ष्यति ‘निक्षेपोपनिधिस्त्रिय’ इति (१४९) । को विशेषो धेन्वादीनाम्” ।

उच्यते । यत्र दशवर्षो भोगो न च स्वरूपनाशस्तत्र ‘यत्किंचिदिति’ (१४७) सामान्यवचनेन प्राप्तेऽपहारे उपनिधेः प्रतिषेधः । धेन्वादीनां तूपनिधित्वमेव नास्त्यतः । प्रतिषेधस्य नायं विषय इति स्यादाशङ्का । धाननिमित्तो हि धेनुशब्दो यदि परसम्बन्धस्य धेनुः स्यात् परत उपसर्गा यदि गर्भमादध्याद्धेनुत्वमापद्येत तदा जनयेदाशङ्कामस्यैवेयं न न्देवदत्तस्य । यतः प्रष्ठौही न भोग्या प्रीतिसम्भोग्यश्चापनिधिः । येन स्वकैर्भोग्यं परिष्काल्य पुनर्भुज्यमानं दृष्टम् । न पुनरुपनिधेरेतद्रूपम् । भोग्यो ह्युपनिधिः । असद्भावा-
न्द्भोगस्य च कीदृशगुणमुपनिधित्वम् । उपनिधेश्चासौ प्रतिषेधः । तस्मादुपनिधिरूपाति-
क्रममादसति तस्मिन्प्रतिषेधे यत्नान्तरमुक्तम् ।

उष्ट्रादीनामपि दशवर्षाणि भुज्यमानानामवस्थान्तरापत्तिः । अतस्तत्रापि नोपनिधित्वम् ।

वहन्निति केचिदश्वविशेषणं मन्यन्ते । वृषस्य नायं विधिः । अपरे तु गर्दभाश्चतरार्थं मन्यन्ते । दम्यो बलीवर्दः । प्रयुज्यते वाहनार्थं यो दीयते ।

अन्ये तु पुनः प्रतिषेधं विकल्पार्थं मन्यन्ते । एतद्व्यतिरेकेणान्यस्योपनिधेरस्ति क्कादाचित्कोऽपहारः । तेन यद्वस्त्रादि प्रीत्या भुज्यते तच्च परिक्षीणं तत्रास्त्येवापहारः । न हि प्रीत्या गृहीते वस्त्रे परिक्षीणे स्वामितनोपेक्षयते पुनरवसरोऽस्ति देहि मे वस्त्रं विनाशितं त्वया तत्समेन मूल्येन संशोधयेति ॥१४६॥

हिन्दी—प्रेम से उपभोग में लायी जाती हुई (दूध के लिए) गो, (सवारी करने या मनु . ॥ 15

बोझ ढोने (लादने) के लिए) ऊँट तथा घोड़ा, हल आदि में जोतने योग्य बैल आदि पर से स्वामी का अधिकार कभी भी नष्ट नहीं होता अर्थात् ग्रहण करनेवाले के उपभोग में आने पर भी उन पर मालिक का ही अधिकार रहता है ॥१४६॥

विमर्श—यह श्लोक अग्रिम (८।१४७) का अपवाद है ।

दश वर्ष भोगने पर स्वामीत्वनाश—

यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।

भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥१४७॥

भाष्य—यत्किञ्चिद्भुज्यमानमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । धनीति सन्निधानात्सामान्य-निर्देशेऽपि भुज्यमानधनोपेक्षणं प्रतीयते । यत्किञ्चिदिति दासीदासासारभाण्डादि सर्व ग्राहयति । न हि तल्लोकेऽत्यन्तं धनमिति प्रसिद्धं गोभूहिरण्याद्येव महार्घं धनमिति प्रसिद्धतरम् । तेनायमत्रवाक्यार्थः । यत्किञ्चिद्द्रव्यं परेण भुज्यमानं धनी धनस्वामी दशवर्षाणि यावत्प्रेक्षते—न किञ्चिद्वक्ति, न राजनि व्यवहरति, न कुलसमक्षं भोक्तारं वदति ‘मदीयमेतत्किमिति त्वया स्वयं भुज्यत’ इति—स दशभ्यो वर्षेभ्य उत्तरकालं न तल्लब्धुं स्वीकर्तुमर्हति । निवर्ततेऽस्य स्वमिति यावत् । प्रेक्षणेन ज्ञेयतामात्रमुच्यते न प्रत्यक्षतैव । सन्निधाविति वक्ष्यामः ।

परैः—न ज्ञातिसम्बन्धिभिः । तथा च स्मृत्यन्तरं—‘ज्ञातिसम्बन्धिभिर्विना’ इति ॥ “सम्बन्धिबान्धवैश्चैव भुक्तं यज्जातिभिस्तथा । न तद्भोगो निवर्तते भोगमन्यत्र कल्पयेत् ॥”

तदयुक्तम् । अव्यवस्थैवं सति स्यात् । के ज्ञातयः के वा सम्बन्धिन इति सम्बन्ध-मात्रग्रहणे न किञ्चिद्व्यावर्त्यम् । तस्माद्येनान्यदायं भुज्यते स एवं भवति । किन्तु तथा सति परशब्देनोवादमात्रमनर्थः, कस्यापि न परव्यपदेशः । स निरस्यते । यथा भार्यापती पितापुत्राविति । तत्र ह्यात्मन्यपि व्यपदेशोऽस्ति “अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया”—“आत्मा वै पुत्र नामासि” इति । तेन दम्पत्योः पितृपुत्रयोर्न भोगाभोगौ कारणम् । तेषा-मपि विभक्तधनानां भोगकाले प्राप्तेऽभोगो बाधक एव । भार्याया अपि स्त्रीधने भर्तृसकाशाद्-गृहीते बन्धेन पत्युर्भोगे नासिद्धिः । सा ह्यत्यन्तपरवती । नोभयोर्विभागोऽस्ति । स्त्रीधन-मपि तेनैव तस्याः परिपालनीयम् । ‘राजा स्त्रीश्रोत्रियद्रव्यादन्यत्र’ इति च पठ्यते ।

एवमनेन स्वामिन उपेक्षमाणस्य स्वाम्यहानिरुक्ता ॥१४७॥

कस्य तर्हि तत्सम्भवतीत्येवमर्थमुत्तरश्लोकः—

हिन्दी—अपनी सम्पत्ति को दूसरे के द्वारा अपने काम में लायी जाती हुई देखता हुआ भी स्वामी दश वर्षों तक कुछ नहीं कहता अर्थात् नहीं रोकता तो वह स्वामी उस

सम्पत्ति को पाने का अधिकारी नहीं है ॥१४७॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।

भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति ॥१४८॥

भाष्य—न स तल्लब्धुमर्हतीत्यस्य शेषः । **अजडश्चेदपोगण्ड** इति । **जडः** अप्रतिपत्तिमान् । **पोगण्डो** बालः । प्राक्षोडशाद्वालः पोगण्ड इत्युच्यते । एतच्च स्व-
धनसंरक्षणासामर्थ्यकारणानामन्येषामप्युपलक्षणार्थम् । मद्यद्यूतविषक्तता दीर्घरोगगृही-
तता तपःस्वाध्यायैकपरत्वं व्यवहारेष्वनैपुण्यं वागिन्द्रियाभावो बाधिर्यम् । यस्यैतेऽ-
सामर्थ्यहेतवः सन्ति न तदीये धने भोक्तुर्बहुतरेणापि कालेन स्वत्वमापद्यते ।

विषये चास्य भुज्यते । अस्येति धनिनः प्रत्यवमर्शः । **विषयः** काश्मीराणां
कश्मीरः, पञ्चालानां च पञ्चालः । यदि भोक्ता च स्वामी चैकस्मिन्नेव देशे वसेत्तथापि
शक्तिविहीनस्यायं व्यवहारः ।

अत्रापि व्याख्याने प्रपञ्च एवायम् । अजडापोगण्डग्रहणस्य प्रदर्शनार्थतया
‘व्याख्यातत्वात् । तेन यस्य जानतो यदुपेक्षाकारणं न सम्भाव्यते तदीयं धनं दशवर्षाणि
‘भुञ्जानो भोक्तैर्वाहति—तस्य तत्स्वमित्यवगन्तव्यम् ।

ननु च न भोगात्स्वत्वं युक्तम् । स्वत्वे सति भोगो युक्तः । भोगाद्धि स्वत्वेऽ-
व्यवस्था स्यात् । यश्चायमवधिर्दशवर्षाणीति स स्मृत्यन्तरेण न सर्वस्मिन्धन इष्यते ।
किं तर्हि ? “पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विशतिवार्षिकी” इति (याज्ञ०व्य० २४) । अन्ये
‘तु विंशतिवार्षिकेणापि भोगेन स्वाम्यमनुमन्यन्ते । एवं ह्याहुः “अनागमं च यो भुङ्क्ते
बहून्यब्दशतान्यपि ।” (नारद ८७/७०) तथा

“सम्भोगो यत्र दृश्यते न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥” (नारद ८४)

त्रिपुरुषभुक्तिवादिनस्तावदेवं पठन्ति । (नारदीये १/९१)

“यद्विनागममत्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् ।

न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥”

अस्यायमर्थः । आगमो दानादिः । असति तस्मिन्यद्भुक्तं पितृपितामहप्रपिता-
महैस्तच्चतुर्थस्य सिध्यति, न तु विंशत्या वर्षैः । तत्रान्यत्रोक्तम्—

“आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तुसागमा ।

अन्ते तु भुक्तिरेवैका प्रमाणं स्थावरे भवेत् ॥”

तृतीयस्य भोगात्सिद्धिर्न प्रथमद्वितीययोः पितृपितामहयोः । अस्यापि न विंशति-
वर्षेर्भोगः प्रमाणम् । अन्ये त्वागमरहितस्य वार्षशतिकस्यापि भोगस्याप्रामाण्यमनु-

मन्यन्ते । तथा चाहुः

“अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ।
चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥”
“भोगं केवलतो यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥”

(नारद ८७, ८६, ८४)

या तु बहून्यब्दशतानीति तदाहर्तृविषयमात्मीयमेव भोगं चिरकालत्वे हेतुमाह । तस्य पितृपितामहभोगेन विना न सिद्ध्यतीत्यर्थः । “कथं पुनरेकस्यानेकाब्दशतो भोगः पुरुषस्य” । नैष दोषः । चिरकालप्रतिपादनपरा बहुत्ववचनाः शतं सहस्रमित्यादयः शब्दाः । यथा “शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः शतेन्द्रिय” इति । एतदुक्तं भवति । विंशति-वार्षिकाब्दोद्गादधिकादपि न प्रथमभोक्तुर्भोगात्स्वत्वसिद्धिः । अर्थात् पुत्रस्यापि न सिद्ध्यतीति यथा—श्रुतमेव । न बहुष्वब्दशतेष्वागमस्मरणं सम्भवति । ततश्च चिरन्तन-देवायतनब्राह्मणमठग्रामा राजभिरपहियेरन् । लेख्यशासनमपि राजाधिकृतलेखकलिखित-मिति चिरन्तनेषु नैव प्रत्यभिज्ञायेत । कूटशासनमपि सम्भाव्येत । तस्माच्चिरन्तनो भोगः स्वत्वस्य दानाद्यागमसम्भावनाया ज्ञापको हेतुर्न तु कारकः । अत एव भुक्तिः प्रमाण-मध्ये पठिता ॥

“लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्” इति (नारद ६९) । न तु स्वत्वकारणमध्ये “सप्तवित्तागमा इति” (मनु १०/११५) “श्रुतशौर्यतपःकन्या” इत्यादौ च ।

अथवा यत्र बलादि भोगकारणं सम्भाव्यते तद्विषयमेतत् ‘अनागममित्यादि’ अत्रैव प्रकरणे पठितम् (नारद ८७)

“अन्वाहितं हतं न्यस्तं बलावष्टब्धयाचितम् ।

अप्रत्यक्षं च यद्भुक्तं षडेतान्यागमं विना ॥” इति । (नारद ९२)

ननु च ‘आधिः सीमा’ इत्यनेनैवायमर्थः सिद्धः ।”

“उक्तस्य कालस्य त्रिपुरुषं यावद्भुङ्क्ते स एवार्थः । अयं तु तत उत्तरकालमपि निवृत्त्यर्थमारभते । तथा च बहून्यब्दशतानीत्यत्र वचनम् । ‘अन्वाहितं’ यत्प्रकटमन्यथा प्रदर्शयन्तर्हितमन्यदवस्थाप्यते । ‘हतं’ रात्रौ सन्धिभेदच्छलादिना । ‘बलावष्टब्धं’ प्रसह्येति शेषः । शिष्टं प्रसिद्धम् ।

“यदि त्रिपुरुषा भुक्तिः प्रमाणं कस्तर्हि ‘पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विशति-वार्षिकी’ इत्यस्यार्थः ?”

केचिदाहुः । कियन्तं कालं भुञ्जानस्य सति लेख्यदोषादौ सक्ताभियुक्तादि-
कृतत्वं क्रमाक्षरविलेपादसत्यनयाभ्यामधमर्ण उच्यते । संदिग्धरूपमपि लेख्यमियता
भोगकालेन निश्चीयते ।

अन्ये त्वाहुः—यत्रैव तामेव भूमिमेकस्य बन्धायार्पयति तामेव चापरस्यैकस्या-
ऽऽद्यं प्रमाणमपरस्य पाश्चात्यं—तत्र सत्यपि प्रामाण्यस्याद्यत्वे पाश्चात्यो विंशतिवार्षिकी
भोगो बलवान् ।

एतच्चायुक्तम् । येनैव स्वीकृतो बन्धस्तथैव सः—‘आधेः स्वीकरणात्सिद्धिः’
इति वचनात् । स्वीकारश्च भूमेर्भोगाभिलाषैव । तेनेदृशे विषये स्वल्पेनापि कालेन बन्ध-
सिद्धिः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—

“विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु ।

विशेषतः स्थावराणां यत्र भुक्तं न तत्स्थिरम् ॥” इति । (नारद ७७)

विशेषग्रहणं गवाक्षादावभुज्यमानेऽपि नासिद्धिर्यतस्ते नावश्यंभोग्याः । तथाहि
भवेद्गौर्गर्भं न गृह्णाति कीदृशोऽस्या अतो भोगः । भूमिस्तु सर्वदा फलदेति भोगलाभ-
मन्तरेण न बन्धत्वसिद्धिः ।

तत्रापि कथञ्चिदुपेक्ष्यमाणस्य तु यच्छतः प्रथमभोगकाल एव यदि द्वितीयेनाऽ-
ऽधिग्राहकेण संनिकर्षादिना स्वीकृतः स्यादितरेण वाद्यप्रमाणवता देशविप्रकर्षात्कार्यव्या-
सङ्गाद्वा न स्वीकृतस्तदा विचार्यते नेयता तदसिद्धिः । यदा तु गृहीताधिरेव समनन्तरं
राज्ञा प्रव्राजितो महान्तं व्याधिमाससाद न वाऽस्यान्योऽर्थरक्षाद्यधिकृतः कश्चिदस्ति स
चिरेणाप्यागतः सिद्धावपि निरुपधिप्रमाणकाले लभत एव स्वीकृतमप्यन्येन ।

अन्ये तु भ्रातृणां न्यूनाधिकविभक्तानां पुनर्विभागः समीकरणार्थं उक्तः । स विंशति-
वर्षेभ्य ऊर्ध्वं नास्तीत्येवमर्थमिदमाहुः । एतावन्मात्रफलत्वे तत्रैवाभिधानमुचितम् । सामान्या-
भिधानं तु प्रकरणोत्कर्षेणान्यविषयतामपि ज्ञापयति ।

अपरे तु—“खिलीभूता भूमिर्येन क्षेत्रीकृता तत्र भूमिस्थानोपभोग उक्तः । स
चेदेतावन्ति वर्षाणि निगृहीतस्तथा सूत्रक्षेत्रयन्त्रैश्च स्वामी भूमित्वेन स च विषय”
इत्येवमाहुः ।

इह भवन्तस्त्वाहुर्यौ समानदेशौ समानसामर्थ्यौ समानस्वभावौ समानधनौ तुल्य-
प्रयोजनावपरस्परसम्बन्धिनौ तयोरन्यतरस्येतरेण भुज्यमानमियन्तमवधिं समक्षमुपेक्ष-
माणस्यास्य नैव स्थावरेषु स्वाम्यम् । किन्तु त्रिपुरुषभुक्तिविरोधात् सर्वेण सर्वम् । विरुद्धे
ह्येते स्मृती ते न किमपि कल्पनमर्हतः येनास्ति च स्वाम्यं नास्ति चेत् किञ्चिद्युज्यते
तत एव व्यवस्था युक्ता ।

यद्यपि स्वत्वागमकारणानि बहूनि सन्ति दानविक्रयबन्धकारणादीनि तथाऽप्यनुपलभ्यमानकारणविशेषे विंशतिवार्षिकभोगेऽनन्तरादर्शितविषये बन्धरूपताऽभ्युपगन्तुं युक्ता । चञ्चलं भोग्यं च स्वत्वम् । वस्त्वपचये तत्प्रत्याहर्तुं लभ्यते । ततश्च त्रिपुरुषा भुक्तिः सर्वस्य स्वत्वमापादयति । दानविक्रयसम्भावना च यावत्येव सा वार्षिकी भविष्यति । विंशतिवार्षिके भोगे न किञ्चिदनुपपन्ना ।

यत्रोभावप्यागममन्तरेण भोगमात्रबलात्प्रवृत्तौ तत्र पूर्वो भोगश्चिरन्तनोऽपि विंशतिवर्षभोग्येन साम्प्रतिकेन निरुपाधिना बाध्यते । दण्डपूर्विकयाऽत्रागत् इत्यत्कालो भोगः त्रिपुरुषागताया भुक्तेर्बाधक इत्युक्तं भवति ।

भग्नं तद्व्यवहारेणेति । व्यवहारग्रहणं धर्मनिवृत्त्यर्थम् । तेन यदि कथञ्चिज्ज्ञानीते तदा जीयेत । तदापि त्वनेनोपनिधिभोगज्ञापने प्रमाणं नास्ति, तेन व्यवहरतो जीयन्ते तद्धर्मो नास्ति । तादृशेन भोगेनापि हत इति तिष्ठत्वेतत् ॥१४८॥

हिन्दी—यदि किसी सम्पत्ति का स्वामी जड़ (पागल आदि) या सोलह वर्ष से कम आयु वाला (नाबालिग) न हो और उसके सामने अर्थात् जानकारी में ही उसकी सम्पत्ति (भूमि आदि का) उपभोग दूसरा कोई व्यक्ति दश वर्ष से कर रहा हो, तब व्यवहार के अनुसार उस सम्पत्ति पर उसके स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता (नहीं रहता) है तथा भोग करनेवाला व्यक्ति उस सम्पत्ति को पाता है ॥१४८॥

उक्त वचन का अपवाद—

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः ।

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥१४९॥

भाष्य—आधीयत इत्याधिर्बन्धकद्रव्यं गोभूहिरण्याद्युच्यते । यच्चोत्तमर्णाद्धनमादीयते । **उपनिधिः** शास्त्रन्तरेणान्तर्हितो न्यास उक्तः । यदप्रदर्शितरूपं सचिह्नवस्त्रादिना पिहितं निक्षिप्यते । प्रीतिभोग्यं तु युक्तमुपनिधिशब्दवाच्यम् । तस्य निक्षेपग्रहणेनैव गृहीतत्वात् ।

सीमा मर्यादा ग्रामादीनाम् । बहुसाधारण्याद्धि तत्रोपेक्षा सम्भवति । गृहादीनां तु प्राकारपरिखादिरूपा द्वित्रिहस्तपरिमाणरूपा द्वयोः साधारणो याऽन्यतरे कथंचिदुपजीर्यमाणा स्वल्पत्वाद्वोगश्च कश्चित्कियन्तं कालमुपेक्ष्येतापि । तत्रापि दानादिस्वत्वापगमहेतुं सम्भावयतः । अतस्तत्पुत्राः पौत्रा वा गूढचिह्नादिना प्रज्ञापितसीमत्वादाच्छिन्दन्त्येव ।

बालधनं दृष्टान्तार्थं पोगण्डशब्दस्य दर्शितत्वादित्युक्तम् ।

स्त्रियो दास्यः भार्या वा । नेतरस्याधनस्यापहार उक्तो 'धनस्य दशवार्षिकी' इति ।

“ननु च नेह धनमस्ति, यत्किञ्चिदिति वस्तुमात्रनिर्देशोऽयम्” ।

नैवम् । धनीति सम्बन्धेन धनविषयतैव यत्किंचिदिति सामान्यशब्दस्य प्रतीयते । क एवमाह स्त्रियो न धनमिति । इत्थं विनियोज्ये द्रव्ये धनशब्दो वर्तते । अथास्मादेव स्त्रीधनात्स्वत्वमात्रोपलक्षणम् । धनोपमानेन पुमांसोऽपि भोगेन दासाः स्वीक्रियन्त एव ।

राजस्वम् । देशेश्वरा राजानस्तेषां धनम् । ते हि महाधनत्वादुच्चत्वान्वयं धनमनन्विच्छन्तो विरुतभेदादिर्निधनीक्रियन्ते ।

तदूनापेक्षया श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियधनाभियुक्तिः ॥१४९॥

हिन्दी—बन्धक, सीमा (सरहद), बच्चे (नाबालिग) का धन, धरोहर, किसी बक्स आदि में रख कर मुहरबन्द करके रक्षार्थ सौंपी गयी वस्तु, स्त्री (दासी आदि), राजा तथा श्रोत्रिय का धन इनका दूसरे के भोग करने पर भी उनका स्वामित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् उसको पाने का अधिकार उनके स्वामी को ही रहता है ॥१४९॥

तीन पीढ़ियों तक बन्धक के भोगने पर—

[यद्विनाऽऽगममत्यन्तं भुक्तपूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् ।

न तच्छब्दमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥१५०॥]

[हिन्दी—आगम के बिना तीन पीढ़ियों से भोग किये गए धन को लेने का अधिकारी उसका स्वामी नहीं होता है ॥१५०॥]

बन्धक भोगने पर आधा सूद—

यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।

तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

भाष्य—उक्तं ‘न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्’ इति (१४४) । सर्वस्य हि ग्रहणमुच्यते । तत्र निषिद्धे भोगे बलादाधिं भुञ्जानो सर्वा हारयत्येव वृद्धिम् । अननुज्ञाते प्रतिषेधनम् । रहस्युपभुज्यमानभोगे न चाभिर्नश्यति तत्र रूप्यसुवर्णालङ्कारादावर्द्धवृद्धित्यागोऽनेन श्लोकेनोच्यते ।

यत्तु नवं महार्धमलङ्करणवस्त्रादि परिधीयमानं नाशितं तत्र न केवलं वृद्धिहानिः, यावद्धनं नष्टं तत्परिपीड्य मूलतः प्रविशतीति महत्तरैर्व्याख्यातम् । यज्वना तु व्याख्यातम्— यत्र स्वामी व्यवहरति अध्यधीनश्च, तत्राध्यधीनेन बन्धो दत्तः, स्वामिना च दृष्टः, तत्र धारणकेन कस्मिंश्चिदवसरेऽध्यधीनः पृष्टः ‘प्रयोजनं ममानेन बन्धेनास्ति’ तत्रोपनिधिन्यायेन तेनानुज्ञातः कालान्तरे भुञ्जानं यदि स्वामी पश्यंस्तदनुज्ञातं बन्धं क्षपितवान्—सतीदृशे विषयेऽर्द्धवृद्धित्यागः ।

तदयुक्तम् । यतस्तुल्यो व्यवहारः परस्परापेक्षः स्वामिभृत्ययोः । तत्र तत्रान्यतरेणा-नुज्ञाते नायमननुज्ञातः प्रयुज्यतेऽधर्मतः । स्वामिशब्दस्यार्थे स्वत्वमीदृशि विषये भवति ।

अन्यथा बन्धं यो ददाति सोऽवश्यं स्वाम्येन युक्तः ।

“अध्यधीनस्तु न स्वामी ।”

यद्येवं चौरस्तर्हि । तस्मात्स्वामित्वाध्यारोपः । उपयोगे वाऽध्यधीने स्वाम्यनुज्ञा-
व्यवहाराद्ब्राह्मदत्तवत् । अतः पूर्व एवार्थः ।

स्वामिग्रहणं पादपूरणार्थम् ।

भुङ्क्तेऽविचक्षण इत्यकारः संहितया प्रश्लिष्टनिर्दिष्टो वेदितव्यः । यस्य ह्यस्ति
बुद्धिः ‘वृद्धिर्ममास्त्येवाधिको लाभो वस्तुभोग इति’ सोऽविचक्षणः । न हि लोक-
शास्त्रनियोजनीया स्थितिः यदुभौ लाभश्च भोगश्च वृद्धिः स्यात् तेन सा वृद्धिर्भोक्तव्या ।

निष्कृतिः परशुद्धिर्विनिमय इति यावत् ।

अन्ये तु द्विगुणीभूतेऽप्यमोक्ष्यमाणे प्रतिषेधमिममिच्छन्ति—तस्य हि स्वल्पोऽ-
पराध इति वदन्तः ।

प्रथमं तावदादावेव तैर्याज्ञवल्क्यवचनस्य विषयो देय ‘आधिः प्रणश्येदिति’
(व्य० ५८) ॥१५०॥

हिन्दी—बन्धक रक्खी हुई (वस्त्र, भूषण आदि) वस्तुओं का भोग जो नासमझ
(व्यवहार ज्ञानशून्य) स्वामी की आज्ञा को नहीं पाकर करता हो, उसे उन वस्तुओं के भोग
के बदले में आधा सूद लेना चाहिये ॥१५०॥

विमर्श—बलात्कारपूर्वक बन्धक के भोग करने पर पूरा सूद देने का निषेध पहले
(८।१४४) में कर चुके हैं ।

दुगुने से अधिक सूद का निषेध—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ।

धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥१५१॥

भाष्य—लाभार्थो धनप्रयोगः कुसीदम् । तत्र वृद्धिः । अथवा प्रयुज्यमानं प्रयोक्तृ-
सम्बन्धिधनमेव कुसीदम् । यदीयं स्वल्पं दत्त्वाऽधिकं ग्रहीष्यामीति धनं दीयते तत्कु-
सीदम् । तत्र वृद्धिः । सा द्विगुणत्वं नातिक्रामति । तावदुत्तमर्णेन वृद्ध्यर्थं धनं दत्त-
वताऽधमर्णाद् ग्रहीतव्यं यावन्मूलधनं द्विगुणं प्रविष्टम् ।

“ननु वृद्धेर्द्वैगुण्यं श्रूयते । मूलेन सह त्रिगुणं प्राप्नोति” ।

नैवम् । ‘गुणो’ऽवयव उच्यते । स तावदवयविनमपेक्षते । प्रकृतं च धनम् । अतः
प्रयोगविषयस्य धनस्यानेन प्रकारेण द्वैगुण्यमुक्तं भवति । तथा च स्मृत्यन्तरं ‘चिर-
स्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य’ (गौतम १२/३१)—“मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे

धने” इति (याज्ञ०व्य० ६४) ।

वृद्धिश्चानेकरूपा । कार्षापणेषु प्रयुक्तेषु कार्षापण एव वर्द्धते । क्वचित्सन्ततिः—
‘स्त्रीपशूनां वेति’ संततिः । क्वचिदाधिभोगः, गोभूम्यादेः ।

तत्रेदं द्वैगुण्यं सरूपवृद्धिविषयं केचिदाहुः । तत्र हि मुख्यं वृद्धेर्द्वैगुण्यं प्रतीयते । संततौ न विज्ञायते किं सङ्ख्यायाऽस्या द्वैगुण्यमुत परिमाणेनोत मानतो वेयम् अतो णेत्वाद्यनिश्चयः । पशूनां मूल्याद्धि महार्घत्वं हस्त्यश्वादिषु क्रयविक्रयादौ दृश्यत एव । महाप्रमाणा हि महार्धा भवन्ति ।

“ननु च संततौ सारूप्यमस्त्येव । गोः संततिर्गौरिव । तत्र भेदोपन्यासो न युक्तो वृद्धिः सरूपा संततिश्चेति ।”

उच्यते । नैकजातीयत्वमात्रेण सारूप्यं भवति, किन्तु वयःपरिमाणादिसाम्येन । अतो युक्तो भेदोपन्यासः । भोगलाभेऽपि कुतो द्वैगुण्यप्रतीतिः । उपकारकाणि जनयितुं गावः प्रयुज्यन्ते । गोभूम्यादि पयोयवसादयो यथासम्भवं भुज्यन्ते । तत्र कीदृशं द्वैगुण्यम् । समाचारश्च क्वचिद्दृश्यते । वर्षशतानि भूमिरामूलहिरण्यादानद्भुज्यते । पठति च याज्ञ-
वल्क्यः “आधिश्च भुज्यते तावद्यावत्तत्र प्रदीयते” (व्य० ९०) इति ।

अत्रोच्यते । वृद्धिमात्रे श्रूयमाणे द्वैगुण्यं कथं विशेषेऽवस्थाप्यते । न हि श्रुत्या सामान्यप्रतिपत्तिर्भवन्ती विना प्रमाणेन विशेषेऽवस्थातुमर्हति । यत्तु संततावनुपपन्नं द्वैगुण्यमित्यवगमे यत्नः क्रियताम् । मूलमर्धेण परिनिश्चितवता वृद्धिस्तत्सामान्या एव तज्जातानां भवति । भूमिभोगेऽपि यवसगोधूमादौ तत्पच्यमानस्यार्धतः शक्यत एव समत्वं निश्चेतुम् । उपकारवचनोऽपि गुणशब्दोऽस्ति । “क एवं सति समगुणो भवति क उपकार को भवतीति कथं, गम्यते ।” अनेन यावन्मूल्यं गोधान्यविनिमयादुत्पद्यते तावदेव चेत्तत् उत्पन्ना वृद्धिस्तदा भवति समगुणत्वम्— परिमाणादिसाम्याभावेऽपि । यस्तु क्वचित्समाचारः— भवतैव परिहतः क्वचिद्ग्रहणं प्रयुञ्जानेन । समाचारभ्रंश-
सम्भवे स्मृतयो नियामिका अर्थवत्यः ।

“आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तत्र प्रदीयते” इत्यत्र यावद्दानात्तद्वैगुण्यमप्रविष्टम् इत्यपि शक्यते नेतुम् । स्मृत्यन्तरैकवाक्यत्वाच्चैतदेव युक्तमध्यवसातुम् । उपपादितं चैतन्निपुणतोऽन्यत्र ।

सकृदाहिता । सकृदित्यनेन व्यवस्थापितोऽङ्गीकृतः पुनः पुनः प्रयोग इति यावत् । ‘आधानं’ स्थापनमुच्यते । वचनव्यवस्थया च निरूपणं स्थापनमेव । पुनः प्रयोगश्च द्विगुणीभूते धने आदीयमाने भवति । यदा द्विगुणो हि वृद्धयर्थं उत्तमर्णोऽधमर्णश्च तदीयेन धनेन महत्कार्यं करिष्यन् करणपरिवृत्तिं करोतीति या प्राक्तनी वृद्धिरियं वाऽद्य-

प्रभृति वर्धत इति— तदा द्विगुणभूतमपि पुनर्वर्धत एव । पुरुषान्तरसंचारेण वा । यदि द्विगुणीभूतं धनिकस्योपयुज्यते तदाऽधमर्ण उच्यमानोऽन्यपुरुषं ददतमर्पयति ‘एष त इयद्भिरहोभिर्दास्यतीति’ तत्र स्वहस्तं दीयमानं पुनर्वर्द्धते । न चायं दानं प्रति प्रतिभूः किन्तु निक्षेप्ता दातैव । एतत्तु ऋजुना पुरुषान्तरसंक्रान्तमिति व्याख्यातम् ।

अथवा प्रागपि द्वैगुण्याद्यदा बन्धमन्यस्मै प्रत्यर्पयति— दीनारेषु सलाभेषु द्वित्वे— तस्य बन्धस्य मोक्ष एव धर्म्यः । बन्धस्य प्राग्वृद्धौ स्थितायां तस्मादहः प्रभृति पुनर्द्वै गुण्यमाप्नोति । यदा तदीयं बन्धकं तदनुज्ञयोत्तमर्णेनान्यत्राधाय स्वधनं गृह्यते तदा वर्धत एष पुरुषान्तरसंचारः ।

उभयत्र द्विगुणीभूते प्रयोक्ताऽधमर्णकेन येनकेन प्रकारेणान्यस्माद्ग्रहणमनुज्ञाप्यते ।

यदि वाऽस्मादन्यद्गृह्यते ग्रहीता देशान्तरं गमिष्यन् कार्यान्तरेण चान्यत्र संचारयति ।

ऋजुस्तु तस्मादेवाधमर्णादनवीकृते प्रयोगे द्विगुणाधिकां वृद्धिं नेच्छति । अत आह ‘पुरुषान्तरमसंक्रान्ते पुनःक्रियाप्रयोजनं च वक्ष्यामः’ ।

ये तु व्याचक्षते—“या वृद्धिरुपचिता सांवत्सरी युगपत्सर्वैवानीयते तत्रायं विधिः । या पुनः प्राप्तदानाऽपि सर्वा न दीयते तत्र द्विगुणादधिकग्रहणमपि” तेषां न ‘न’शब्दो यथार्थो नापि ‘आहित’ इति । सांवत्सरी तावदुपचिता ग्राह्या द्वितीयसंवत्सरे पुनरानयनमस्त्येवेति न कचिद्द्वैगुण्यनियमः स्यात् ।

अथ—“यो द्विगुणीभूतं सलाभं धनमानयति तत्राधिकनिषेधोऽस्तु । प्राग्द्वैगुण्याद् वृद्धिमात्रदानसमर्थो वृद्धिं ददाति । मूलं तस्यापरिमितग्रहणमिति” । एतदपि न किञ्चित् । यः संवहति तस्यानुग्रहो न्याय्यो नाधिकग्रहणम् । यस्तु राज्ञा द्विगुणीभूतमपि कथंचिद्दाप्यते तस्याधिकमोक्ष इत्येतदन्याय्यम् । न चाहितेत्यस्य शब्दस्यायमर्थः ।

अथ ‘आहतेति’ पाठान्तरम्—तथापि सकृच्छब्दो न निश्चितार्थो न्यायस्तु परित्यक्तः स्वकृतश्च पाठः स्यान्न मानवी स्मृतिरित्युक्तैव व्यवस्था न्याय्या ।

धान्यादिषु पञ्चतां पञ्चगुणतां नात्येति ।

स्मृत्यन्तरे धान्ये चतुर्गुणोक्ता “हिरण्यवस्त्रधान्यानां वृद्धिर्द्वित्रिचतुर्गुणा” इति (नारद, याज्ञ०व्य० ३९) । तत्र व्यवस्था—यदि दरिद्रभूतः प्रयोक्ता ग्रहीता च महानधनसम्पन्नस्तेन धान्येन महान्तमर्थं कृतवांस्तदा पञ्चगुणाऽन्यथा चतुर्गुणा ।

‘सदं’ फलं वार्क्षम्, धान्यस्य पृथगुपादानात् ।

लव उदीच्येषूणां विषयः प्रसिद्धः ।

बाह्यो गर्दभोष्ट्रबलीवर्दादिः ॥१५१॥

हिन्दी—मूल धन के एक साथ लिया गया सूद मूल धन के दुगुने से अधिक नहीं होता और अन्न, वृक्ष का फल, ऊन, भारवाहक जीव (बैल, ऊँट, गधा आदि बहुत दिनों के बाद भी) मूल के पंचगुने से अधिक नहीं होते ॥१५१॥

सूद का प्रकार—

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति ।

कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥१५२॥

भाष्य—अनुसरन्त्यनुधावन्त्यनुवर्तन्ते सर्व एवार्था एतमित्यनुसारः शास्त्रोदितः समाचारः । स च विविधोऽशीतिभागादिः पञ्चकशतपर्यन्तः । तस्मादधिका वृद्धिः कृता यावत्तथाऽधमर्णोन्नोत्तमर्णस्य न सिद्ध्यति । कुतः ? व्यतिरिक्ता—यतः शास्त्र-वाह्येत्यर्थः ।

अर्थवादान्तरमाह । **कुसीदपथमाहुस्तमिति** । कुपुरुषा यत्र सीदन्ति तत् कुसीदम् । धर्मेण तद्धर्माणो लक्ष्यन्ते । कुसीदीनामयं पन्था मार्गो व्यवहारो न साधूनामिति निन्दा यस्यावश्यमधिका कर्तव्या—महद्भि कार्यमयं मदीयेन धनेन साधयतीति बुद्ध्या—तदा वर्णविभागमनपेक्ष्य **पञ्चकं शतं** ग्रहीतुमर्हति लिप्सेत्—तदर्थमिदमुच्यते ।

पाठान्तरं ‘कृता तु सारादधिकेति’ । यस्याकिंचनस्य सतः स्वल्पा कृता तेनैव धनेनान्यथा वा महार्थतां प्राप्तस्तस्य या पुरुषसारादधिका क्रियमाणा न सिद्ध्यति । यः परं पञ्चकशतमर्हति ॥१५२॥

हिन्दी—पूर्वोक्त (८।१३९-१४२) प्रमाण से अधिक सूद नहीं लेना चाहिए तथा शूद्र से पाँच प्रतिशत लेने का जो प्रमाण है, उतना सूद द्विजों से लेना भी (मनु आदि महर्षि) निन्दित बतलाते हैं ॥१५२॥

विमर्श—बिना माँगे यदि ऋणी अपना नियत सूद ऋणदाता को प्रसन्नता से यथा समय दे दे तो उक्त क्रम से अधिक सूद नहीं लेना चाहिए; किन्तु माँगने पर ऋणी भी ऋणदाता को सूद नहीं दे तो पाँच प्रतिशत तक सूद लेना चाहिए ।

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां विनिहरित् ।

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥१५३॥

भाष्य—संवत्सरे भवा सांवत्सरी । ताम् अतिक्रान्ता अतिसांवत्सरी । भव-प्रत्ययार्थः सामर्थ्यादन्तर्भूतः । अथवा संवत्सरमतिक्रान्ता अतिसंवत्सरेति प्राप्ते वृद्धी-कारौ छन्दस्तुल्यत्वात्कर्तव्यौ ।

येषां वृद्धिरनन्तप्रक्रान्तं पञ्चकं शतं सर्ववर्णविषया सा संवत्सरं यावद्ग्रहीतव्या, नातीते संवत्सरे । अथवा यावत् संवत्सरम् । संवत्सरो वर्षः । तावद्वृद्धिर्न ग्रहणीया ।

अधमर्णेनापि संवत्सरादूर्ध्वं न विलंबितव्यम् ।

विनिहरित् विनिष्कृष्य स्वधनादारभ्योपनयेदित्यर्थः ।

अर्वागपि संवत्सराद्या दीयते सोऽप्यतिक्रान्तसंवत्सरैव । अथवा मासादारभ्य संवत्सरस्य यावद्वृद्धिः परिमाणतो निरूपितव्या—मासेन यद्वर्द्धते संवत्सरेण वेत्येवं प्रयोगः कर्तव्यः । न तु संवत्सरद्वयस्य लाभार्थी कदाचिच्चिरकालं ग्राहयति—किं मे कतिपयमासिकेन लाभेन यदि द्वे वर्षे ततोऽधिकं वा गृह्णासि तद्ग्रहणे एषा वेयता कालेन वृद्धिस्तत्रार्वाचीनमपि दददधमर्णे द्विसांवत्सरीं यथा कालकृतां तदा दाप्येत । “एकां वृद्धिमनादेयां न दद्यान्नापि दापयेत्” इति । यथा मासिकी वृद्धिः प्रथमे मासि द्वितीय एवाहि शोधयन्दाप्यते तथा यदैवमभ्युपैति संवत्सरेण यद्वर्द्धत इति तदा तथैव दाप्यते न तु तदधिककालकृता ।

न चादृष्टां विनिहरित् । शास्त्रे या न दृष्टा दशैकादशिकाद्या पञ्चकादधिका न तां गृहीयात् । ‘व्यतिरिक्तः न सिध्यति’ (१५२) इत्यस्यैवायमनुवाद इति केचित् । इदं तु युक्तम्—**अदृष्टामनुपचितामित्यर्थः** । यावद्बहुभिर्मासैर्न संहतीभूता तावन्न ग्राह्या दिवसवृद्धिर्मासवृद्धिः ।

“ननु च ‘मासस्य वृद्धिं गृहीयात्’ (१४२) इत्युक्तम् ।”

परिमाणं मासिकम् । तद्वृद्धेर्न तु ग्रहणम् ।

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिका कायिका च या तामपि न विनिहरि-
दित्यनुषङ्गः—नैवादद्यादिति । यद्यप्यधमर्णस्य प्रतिषेधस्तथापि सामर्थ्यादुत्तमर्णस्यैव द्रष्टव्यः । अधमर्णो ह्यार्तः किं न करोति । अथवा ‘विनिर्हारो’ ग्रहणमेव । तेनोत्तमर्णस्यैव शाब्दः प्रतिषेधः ।

“ननु च द्विकादिवृद्धिविधानाच्चक्रवृद्ध्यादीनां प्राप्तिरेव नास्ति— किं प्रतिषेधानुषङ्गेण ?”

उच्यते । अप्राप्तः प्रतिषेधः पाक्षिकीं वृद्धिमनुमापयति । यथाऽऽधाने न ब्रह्म-
सामाभिगायेदित्यविहितं सामगानं प्रतिषेधेनास्तीति ज्ञापयति । तेनैता अपि प्रतिषेध-
द्वारेणाभ्यनुज्ञायन्ते । केषांचिदूनव्यवहारिणां चक्रवृद्ध्यादयोऽपि भवन्ति । तेन स्थल-
पथवारिपथिका वाणिजो यथोक्तम् (या०व्या० ३८) ।

“कान्तारगास्तु दशकं सामुद्राविंशकं शतम् ।

दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥” इति ।

कान्तारगादीनामेव स्वकृता सर्वजातिविषया साधारणी वृद्धिर्न त्वन्येषाम् ।

तत्र चक्रवृद्धिः स्मृत्यन्तरे पठिता—‘वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः’ (नारदीये १।१०४) । अन्ये तु चक्रवृद्धानं गन्त्यादि—तद्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः । तेषां यस्मिन्नहनि चक्रं वर्तते तत्रैव वृद्धिः । यदा तु नदीसंतारे दुर्दिनादिना अप्रयाणं तदा नास्ति वृद्धिः । एवमन्येषामपि बलीवर्दादिवाह्यप्रयोक्तृणामीदृशी वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुच्यते ।

कालवृद्धिः “प्रतिमासं तु कालिका” (नारदीये १।१।३) । मासग्रहणमुपलक्षणार्थम् । याऽनुपचिता वृद्धिर्दिवसे दिवसे गृह्यते मासि मासि वा यस्याः कालो न प्रतीक्ष्यते अथ चैतस्मिन्काले यदि न ददासि तदा द्विगुणीभवति धनमित्येकरूपा कालवृद्धिः ।

कारिता । इत्थंकृतां यावतीं वा परस्परोपकारापेक्षयोत्तमर्णाधमर्णौ कुरुतः । एषाऽपि दिग्भागवणिजामेव । अन्येषां तु “व्यतिरिक्ता न सिध्यति” इत्युक्तम् । “पञ्चकं शतमर्हतीति” ।

अथवा हिरण्ये प्रयुक्ते वासांसि वृद्ध्या गृह्यन्ते, तत्राधिलक्षणं द्रव्यं, सा ‘कारिता’ यथाभोगलाभे न्यासरूपविषये च स्यात् ।

कायिका कायकर्मणा संशोद्ध्या । कायजीविका च—येषां क्रमेण काचैवाधि-कादीनाम् (?) ॥१५३॥

हिन्दी—ऋणदाता ऋणी से पहले ही ‘प्रतिमास, प्रति दो मास, प्रति तीन मास तुम सूद दिया करना’ ऐसा एक वर्ष तक का सूद चुकता कर देने का निर्णय करा ले, किन्तु एक वर्ष से अधिक समय का सूद एक बार में लेने का नियम कभी भी न करे और शास्त्र में (८।१३१-१४२) कहे हुए प्रमाण से अधिक सूद भी कभी नहीं ले; चक्रवृद्धि कालवृद्धि, कारित तथा कायिक सूद भी न ले ॥१५३॥

विमर्श—सूद का सूद ‘चक्रवृद्धि, प्रतिमास बढ़ाया गया सूद ‘कालिक’, ऋणी के आपत्ति काल में ही उस पर दबाव डालकर बढ़ाया या लिया गया सूद ‘कारित’ और अधिक बोझ ढोवाने या अधिक दूध दूहने से वसूल किया गया सूद कायिक सूद है ।

[अथ शक्तिविहीनः स्यादृणी कालविपर्ययात् ।

प्रेक्ष्यश्च तमृणं दाप्यः काले देशे यथोदयम् ॥१४॥]

[हिन्दी—यदि ऋणी समय के बदलने से शक्तिहीन हो जाय तब उसको देशकाल में उसकी उन्नति के अनुसार ऋण दिलवाना चाहिये ॥१४॥]

कागज (हैण्डनोट आदि) बदलना—

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।

स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥

भाष्य—वृद्धिद्विगुणीभूतमृणं धनपरिक्षयाद्दातुमशक्तो यः स पुनः क्रियां कारयितव्यः । करणं लेख्यसाक्ष्यादि परिवर्तयितव्यः । वृद्धिं तु दद्यात् निर्जितां—यावती गणनया भवतीत्यर्थः । द्विगुणादधिकं न ग्राह्यमिति यदुक्तं तस्यायमपवादः । जयो ह्ययं प्रयोग इति ।

“कुतः पुनः द्वैगुण्यापवादार्थता” ।

यावता नेह किञ्चिदीदृशं वचनमस्ति वृद्धिसहितं धनं वर्द्धते मूलधनं वा । केवलं पुनःक्रिया श्रूयते । सा च करणं परिवर्तयेदिति व्याख्यान्तरेण व्याख्याता ।

“यदि न वर्द्धते किमर्थं तर्हि करणपरिवर्तनम् ?”

उच्यते । शान्तलाभे धनेऽदीयमाने आलस्यादिसम्भावना साक्षिणश्च दार्धे गच्छति काले विस्मरेयुः । यथोक्तम्—

“यत्र कार्ये भवेद्येन कृतोपेक्षा दशाब्दिकी ।

विवादस्तत्र नैव स्यात्साहसेषु विशेषतः ॥”

तथा “दशवर्षोपेक्षितमृणमसाध्यमिति” तथा च पूर्वे स्म व्याचक्षते ।

अयं च राज्ञ उपदेशः पीडितस्यानुग्रहः । यदि च द्विगुणस्य नवीकरणेन पुनः प्रयोगो वृद्धिसहितस्य पुनर्वृद्धिर्महानयं पीडितस्यानुग्रहः (?) । अथ सर्वं तदानीमवष्टभ्य न दाप्यत एषोऽनुग्रहो निर्धनस्य । ईदृशोऽनुग्रहो दैवेनैव कृतः । तथा च सर्वस्मृतिष्वस्यामवस्थायां विहितम्—

“अथ शक्तिविहीनः स्यादृणी कालविपर्ययात् ।

प्रेक्ष्य शक्तिमृणं दाप्यः काले देशे यथोदयम्” ॥

यद्यधमणो दैवदोषान्निर्धनीभूतस्तदा न दुर्गावरोधादिना राज्ञा पीडयितव्यः । किं तर्हि कर्तव्यम् ? यदाऽस्य कथञ्चिद्धनं भवेत्तदा यथासम्भवं शनैः शनैर्दापयितव्यः । ‘प्रेक्ष्य शक्तिं’ धनवत्तां ज्ञात्वेत्यर्थः । ‘दाप्यः’ उचितस्य । वक्ष्यति ‘कर्मणाऽपि समं कुर्यात्’ इति (१७७) । तस्मात् करणपरिवृत्तौ यदेवोक्तमस्माभिस्तदेव प्रयोजनम् ॥१५४॥

हिन्दी—निर्धारित समय पर ऋण चुकाने में असमर्थ ऋणी यदि फिर (हैण्डनोट आदि लिखना) चाहे तो वह वास्तविक सूद देकर हैण्डनोट आदि को बदल दे (नया लिख दे) ॥१५४॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।

यावती सम्भवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥१५५॥

भाष्य—अदर्शयित्वा हिरण्यम्, अदत्वा निर्धनत्वादहिरण्यम्, तत्रैव पुनःकरणं

परिवर्तयेत् । साक्षिसमक्षमेवं ब्रूयात् ‘एतावन्मूलमस्मै धारयामि एतावती च वृद्धिरिति’ तत्रैवारोपयेत् यावसंवत्सरात् वृद्धिरिति तावद्व्याचक्षते । पुनः करणे वृद्धिसहितमूली-
भूते लघीयसी वृद्धिः कर्तव्या । यावत्या वृद्ध्या नातिपीड्यते । या प्रागासीत्ततो न्यूने-
त्यर्थः । यज्वासहायनारदानां तु मते काकिणीमात्रमपि शक्तः करणपरिवृत्तिकाले दाप-
यितव्यः । येन साक्षिणो न श्रवणमात्रे साक्षित्वं—ददाति तत्समक्षमधमर्णः । अर्थ-
सम्बन्धोऽपि प्रत्यक्षीभवति । यतः श्रवणाश्रवणे च कृता भविष्यन्ति, ततश्चित्तं तिष्ठति,
धने दशवर्षोपेक्षितमित्यादि व्यनश्चरो भविष्यति (?) ॥१५५॥

हिन्दी—यदि ऋणी सूद देने में असमर्थ हो तो सूद को मूल धन में जोड़कर जो
धनराशि हो उतने का कागज (हैंडनोट आदि) लिख दे, ऐसा करने पर उस धन (सूद
सहित मूल धन) का सूद भी ऋणी को (ऋणदाता के लिए) देना होगा ।

स्थान तथा समय का भाड़ा—

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।

अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥१५६॥

भाष्य—‘वाराणसीं यास्यामि तदीयं पुण्यं मे भाण्डं च हेतुः, एषा च ते
वृद्धिरिति ।’ तत्र यदि कान्तारनदीसंतरणं राष्ट्रोपल्पवादिना तं देशं न गतस्ततोऽर्वाग्द-
शात्कियता लाभेन प्रवृत्त्याव्यावृत्तस्तदा यथानिरूपिता वृद्धिर्न दाप्यते । यतस्तं देशं
यावद्वहतां या वृद्धिरप्राप्तानां सा कथं स्यात्? दीर्घमध्वानं वहतां युग्यानां महान्क्लेशः
स्वामिनश्च तावन्तं कालं कृतैव वृद्धिर्युग्योपकारः । शीघ्रं तु प्रतिनिवृत्तानां स्वामिनः
पुनरन्यत्रोपकारणं सम्पद्यत एव । एष एवातिक्रमः ।

एवं कालातिक्रमः—‘मासं मे वहन्तु बलीवर्दा इयती तव वृद्धिरिति’ । तत्र यदि
पक्षात्प्रत्येति तत्र **चक्रवृद्धिमधमर्णः समारूढः** प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतवानिति यावत् । तस्यां
वृद्धौ **देशकालौ** व्यवस्थितौ । यत्तया पूर्वोक्तेन प्रकारेण देशविशेषं कालविशेषं वा न,
निर्विशेषणमेव, कृतवान् स एवंविधोऽधमर्णस्तौ **देशकालौ अतिक्रामन नाप्नुया-**
त्तत्फलं वृद्ध्याख्यं नाप्नुयान्न भजेत न दद्यादित्यर्थः ॥१५६॥

किं तत्र नैवास्ति वृद्धिरथवा पञ्चकं शतम्? तेनेत्याह

हिन्दी—देश तथा काल की वृद्धि (भाड़ा-अमुक स्थान तक यह बोझ पहुँचाने का
अथवा अमुक समय तक काम करने का इतना धन लूँगा इस प्रकार) निश्चय करने
के बाद में देश या समय का उल्लंघन करे (उस नियत स्थान तक बोझ नहीं
पहुँचावे या उतने समय तक कार्य नहीं करे) तब वह उसका भाड़ा पाने का अधिकारी
नहीं होता है ॥१५६॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगम प्रति ॥१५७॥

भाष्य—समुद्रयानग्रहणं यात्रोपलक्षणार्थम् । स्थलपथिका वारिपथिकाश्च वणिजा यां वृद्धिं स्थापयन्ति सा तत्राधिगमं प्रति निश्चयं प्रति । सैव निश्चेतव्येत्यर्थः ।

देशकालार्थदर्शिनः—अस्मिन्प्रदेश इयानर्थलाभोऽस्मिन्नियानिति ये पश्यन्ति जानते—न तु समुद्रयान एव च ये कुशलाः कर्णधारादयः ।

अन्ये पूर्वश्लोकमेवं व्याचक्षते यदृच्छाध्याहारेण—अधमर्णेन या देशं कालं चाश्रिता तां च प्राप्य तद्देशोदितं फलं लाभाख्यं तस्माद्देशाद्यदि नाप्नुयात्तदा कीदृशी तत्र वृद्धिरित्याकांक्षायामुत्तरश्लोकः । चक्रवृद्धिग्रहणं कारिताया अपि प्रदर्शनार्थम् ।

लोभातिशयभाजां वणिजां क्षयव्ययादिसंविधिज्ञाः परस्परस्य यां वृद्धिं स्थापये-
युस्तां राजा प्रमाणीकुर्यात् ।

तत्राधिगमं प्रतीति । प्रतिः कर्मप्रवचनीयोऽधिगमस्य लक्षणत्वान्नलक्षणेत्थं-
भूताख्याने तद्युक्ते च द्वितीया ॥१५७॥

हिन्दी—जलमार्ग तथा स्थलमार्ग के जानकर तथा इतने स्थान या इतने समय में इस विक्रेय वस्तु (सौदे) को पहुँचाने से इतना लाभ होगा इसको यथावत् समझनेवाले व्यापारी आदि उस नियत स्थान तक पहुँचाने या उतने समय तक काम करने से जो वृद्धि (भाड़ा) निश्चित कर दे, उस स्थान तक वस्तु आदि पहुँचाने या उतने समय तक काम करने की वही वृद्धि (भाड़ा) प्रमाणित मानी जाती है ।

दर्शक प्रतिभू रहने पर—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।

अदर्शयन्स तं तस्य यतेत स्वधनादृणम् ॥१५८॥

भाष्य—ऋणप्रयोगे द्विविधो विश्रम्भः—प्रतिभूराधिर्वा । तत्र प्रतिभूपक्ष इदमुच्यते । त्रिविधश्च प्रतिभूः—दर्शने प्रत्यये दाने च । तत्र दर्शनप्रतिभुवमधिकृत्येदमाह । यस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेदमुष्मिन्प्रदेशे मयैष तव दर्शनीयः—स तथाऽकुर्वन्स्वधनात्तस्य ऋणं यतेत प्रयत्नं कुर्यादातुमिति शेषः । दद्यादिति यावत् । ऋणग्रहणं व्यवहार-
वस्तुमात्रोपलक्षणार्थम् । तेन यावन्तोऽर्थविषया व्यवहारेऽनुक्राम्यन्ते तत्तद्वस्तु दद्यात् दर्शनेनान्यतरेणाभियुक्तः । वाक्पारुष्यसंग्रहणादौ पणपरिभाषा कर्तव्या यदि न दर्शितं चेत्तन्मया दातव्यम् । अकृतायां तु परिभाषायां राजदण्डमेव दाप्यः । शरीरे तु निग्रहान्तं विक्रयणं सुवर्णम् ॥१५८॥

हिन्दी—जो व्यक्ति ऋण लेने में ऋणी का प्रतिभू (जमानतदार) रहे; वह यदि (समय पर) उस ऋणी को उपस्थित नहीं करे तो अपनी सम्पत्ति से उस ऋण को चुकता करे ॥१५८॥

प्रतिभू आदि का ऋण पुत्र न देवे—

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।

दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥

भाष्य—प्रतिभुवः कर्म प्रातिभाव्यम् । प्रतिभुवा यत्कर्तव्यं परर्णसंशोधनादि तत् ‘प्रातिभाव्यम्’ ।

अर्हता योग्यता । साऽनेन प्रतिषिध्यते । तस्यां च प्रतिषिद्धायामधिकारप्रतिषेधः । अनधिकृतश्च न ददातीत्येवं न दातव्यमित्युक्तं भवति । सर्वत्रार्हतौ क्रियापदे व्याख्याते द्रष्टव्ये ।

“कथं पुनः पुत्रस्य प्रातिभाव्यादिप्राप्तिस्तिर्हि । तदृणस्य पित्राऽगृहीतत्वात् ।”

नैष दोषः । यद्येन दातव्यतयाऽङ्गीकृतं तद्गृहीततुल्यफलत्वादगृहीतमेव । तन्निश्चितस्वरूपत्वमापन्ना अतः प्रतिषिध्यन्ते ।

वृथादानं परिहासादिनिमित्तं प्रतिश्रवणम्— ‘कुरु कार्यमिदं परिनिष्पन्ने इदं दास्यामीति’ निष्पादिते कार्ये पित्राऽदत्ते प्रतिश्रुते कथंचित्पुत्रो न दाप्यते । एवं पारितोषिकादिबन्दिपरिहासादिविषयम् । यं चाहममुष्माद्वणिज एतस्येयद्दापये इति— तत्र तु मनुष्ये प्रेषिते कथंचिद्दातुमघटितेऽसंनिधानाद्वणिजोऽन्यतोऽपि कारणादुत्तान्तरे पितरि मृते पुत्रो न दाप्यते ।

अक्षनिमित्तमाक्षिकम्— सभिकाय यद्धार्यतेऽन्यतो वा यत्प्रयोजनं तद्गृहीतमिति शक्यते ज्ञातुम् । तस्य प्रतिषेधः । यः परित्यक्तबान्धवोऽक्षमालास्वेव शय्यासनविहारी प्रसिद्धः क्रीडनकस्तदृणमाक्षिकमिति शक्यते निश्चेतुम् ।

सुरापाननिमित्तं सौरिकम् । सुराग्रहणं मद्योपलक्षणार्थम् । ते यः पानशौण्डोऽत्यन्तमद्यपस्तदृणप्रतिषेधः ।

दण्डशुल्कयोरवशेषः । यत्र पित्रा दण्डांशः । शुल्कांशश्च कश्चिदुत्तः परिपूर्णौ दण्डशुल्कौ न दत्तौ तादृशस्य प्रतिषेधः । यत्किंचित्पित्रा दत्तं स तद्दाप्यते । स्मृत्यन्तरेऽप्यविशेषेणोक्तं “प्रातिभाव्यवणिक्शुल्कमद्यधूतदण्डा न पुत्रानध्याभवेयुः” इति (गौतम १२।४१) । तत्र विकल्पः । महत्यपराधे महति च धने पैत्रिकेऽवशेषस्य प्रतिषेधः । शुल्केऽप्येवम् । स्वल्पे तु सर्वस्य ॥१५९॥

हिन्दी—प्रतिभू (जमानतदार) होने से दिया जानेवाला, हँसी-मजाक आदि में भंड आदि को देने के लिए कहा गया, जुआ खेलने में हारा या लिया गया, मद्यपान में लिया गया, राजदण्ड (जुर्माने) का और नाव गाड़ी आदि के भाड़े का बाकी धन उसके पुत्र को नहीं देना पड़ता है ॥१५९॥

ऋण देना स्वीकार कर प्रतिभू होने पर—

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।

दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१६०॥

भाष्य—पूर्वश्लोके यो विधिर्मया चोदित उक्तः— यथा पुत्राणां न भवति पैत्रिकं प्रातिभाव्यं— तद्दर्शनप्रातिभाव्ये ।

“यद्येवं प्रत्ययप्रतिभुवः पुत्रा दाप्यन्ताम्”— अत आह दानप्रतिभुवि प्रेते दायादाः पुत्रो दाप्यन्ते, नान्यस्मिन् ।

“यद्येवं प्रथमोऽर्द्धश्लोकोऽनर्थकः । दानप्रतिभुवः पुत्राणां साधन उक्ते सामर्थ्या-दन्यस्य प्रतिभुवो नास्ति पुत्राणां सम्बन्ध इति गम्यते । अथ विस्पष्टार्थमुच्यते— प्रत्ययग्रहणमपि कर्तव्यम् । इतरथाप्रतिषेधे दर्शनग्रहणाद्विधौ च दानग्रहणादुभयपरि-ग्रहस्य किंविधिरुतप्रतिषेध इति संशयः स्यात्” ।

नास्ति संशयः । स्मृत्यन्तरे स्पष्टमुक्तत्वात् (या०व्य० ५४)

“दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा । न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय ये स्थिताः ॥” इति । इहापि दानप्रतिभुवीत्यस्य विधित्वादन्यत्राप्राप्तिः । दर्शनग्रहण-मुपलक्षणार्थम् । अनुवादे चोपलक्षणत्वमदोषः । किंप्रयोजनमिति चेद्विचित्रा श्लोकानां कृतिर्मानवी ॥१६०॥

हिन्दी—उक्त विधान (जमानतदार होने के कारण दिया जानेवाला ऋणदाता का धन जमानतदार के पुत्र को नहीं देना पड़ता) ऋणी को धनी के पास उपस्थित करने मात्र के लिए (जमानतदार) होने की अवस्था के लिए है; किन्तु यदि पिता यह कहकर प्रतिभू बना हो कि (यह ऋणी ऋण चुकता नहीं करेगा तो इससे चुकता करवा दूँगा या मैं चुकता कर दूँगा) ऐसी अवस्था में ऋणी के द्वारा धनी (ऋणदाता) का ऋण नहीं देने पर पिता के मरने पर भी वह ऋण उस (प्रतिभू) के पुत्र को देना पड़ता है ॥१६०॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥१६१॥

भाष्य—अनेन श्लोकेन संदिहानः प्रश्नं कृत्वोत्तरेण निश्चाययति । संदेहेहेतुः पदद्वयेनादातरि विज्ञातप्रकृताविति । सप्तम्यन्तानि समानाधिकरणानि पदानि व्या-

ख्यायन्ते— अदातरि-प्रतिभुवि-विज्ञातप्रकृतौ । ऋणमुत्तमर्णः केन हेतुना परी-
प्सेत लब्धुमिच्छेत्— किंकेवलैनैवात्मव्यापारेण उत प्रतिभुवः पुत्रमपि व्यापारयति ।

“कुतः संदेहः ? उक्तम् ‘प्रेते दानप्रतिभुवि’ इति ततोऽन्यस्मिन् मृते कस्तत्पुत्राणां
सम्बन्धः ?”

यतस्तु खलु विज्ञातप्रकृतिर्विज्ञातकारणः प्रतिभूत्वेन धनं गृहीत्वा स्थित
इत्येतन्निश्चितमतो भवति बुद्धिरस्ति तत्पुत्राणां सम्बन्धो यतस्तेन ऋणसंशुद्ध्यर्थमस्य
निसृष्टमिति ।

पुनः शब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह । यदि दानप्रतिभुवः पुत्राः सम्बध्यन्ते यस्तर्ह्यदाता
तस्मिन्मृते । दातोत्तमर्णः । पश्चात्तत् उत्तरकालमित्यर्थः ।

शेषं व्याख्यातम् ।

परीप्सा प्राप्तीच्छा ॥१६१॥

हिन्दी—अदाता (जो ऋण देने की जमानत नहीं लिया हो; किन्तु केवल ऋणी को
ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की ही जमानत लिया हो तथा यह
प्रतिभू की प्रतिज्ञा (शर्त) ऋणदाता को मालूम हो उस प्रतिभू के मरने पर (ऋणदाता)
किस कारण (उसके पुत्र आदि से) ऋण लेने की इच्छा करेगा? अर्थात् नहीं करेगा (ऐसे
जमानतदार पिता के मरने पर उसके पुत्र को वह ऋण देना नहीं पड़ता) ॥१६१॥

निर्दिष्ट प्रतिभू के मरने पर—

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंघनः ।

स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥

भाष्य—निरादिष्टं निसृष्टं स्वधनादर्पितं—भव लग्नक इदं ते धनं मतस्त्वया
संशोधनीयं यद्यहं न दद्याम् ।

अलंघनः पर्याप्तधनः । यावद्धनमुत्तमर्णाय दातव्यं तावत्परिपूर्णं प्रसृष्टम् । स्वल्पे
तु निसृष्टे बहुनि संशोध्ये न दापयितव्यः ।

पूर्वस्य प्रश्नस्योत्तरमिदम् ।

यद्यपि दानप्रतिभूरद्य निरादिष्टस्तत्पुत्रो दाप्यते स्वधनादेव । तद्दद्यान्निरादिष्टपुत्र
इति द्रष्टव्यं तस्यैव प्रकृतत्वात् । साक्षात्प्रतिभुवस्तु प्रतिभूत्वादेव प्राप्तिरिति ।

इति स्थितिः । एषा शास्त्रमर्यादा विचारादेव ।

अलंघन इति सिद्धे यन्निरादिष्टोऽलंघन इति चैवमभिधानं तत्पद्यग्रन्थानु-
रोधेन ॥१६२॥

हिन्दी—पूर्व (८।१६१) श्लोकोक्त प्रतिभू को यदि ऋणी ने ऋण का धन दे दिया है तथा ऋणदाता ने धन वापस देने को नहीं कहा है, ऐसी अवस्था में यदि वह प्रतिभू मर जाय और और उसका पुत्र उस ऋण के धन को अपनी सम्पत्ति में से चुकाने में समर्थ हो तो वह ऋणी के ऋण को चुकता कर दे, ऐसी शास्त्र मर्यादा है ॥१६२॥

मत्त आदि के ऋण की अदेयता—

मत्तोन्मत्तात्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।

असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥१६३॥

भाष्य—कार्यपर्यायो व्यवहारशब्दः । यत्किंचिद्दानाधानविक्रयादिकार्यं लेख्यादि च प्रमाणम् । एतैः कृतं तत्र सिध्यति कृतमप्यकृतं भवति ।

मत्तोन्मतौ विख्यातौ । **आर्तो** धनबन्धुनाशादिपीडितः प्रत्युपस्थितभयश्च । यौगिकत्वान्मत्तादिशब्दानां यावन्मदादियुक्तास्तावत्तत्प्रमाणाभावबोधकोऽयं प्रतिषेधः । प्रदर्शनार्थं चैतदप्रकृतिस्थित्वमात्रस्य । यथोक्तम्— ‘कुर्यादप्रतिकृतिं गतः । तदा प्रकृत-मस्याहुरस्वतन्त्रे सहेतुत’ इति । अप्रकृतिस्थश्चोच्यते उपप्लुतबुद्धिः स्वकार्यविवेचने असमर्थः । उक्तं च

“कामक्रोधाभियुक्तार्तभयव्यसनपीडिताः ।

रागद्वेषपरीताश्च ज्ञेयास्त्वप्रकृतिंगताः ॥” इति । (नारद १।४१) ।

कामादीनां द्वन्द्वं कृत्वा पीडितशब्देन तैः पीडिता इति साधनंकृतेति तृतीया-समासः । तेन पीडितस्य प्रतिषेधः । स चायं सम्प्रति मन्मथाधिष्ठितः स्त्रीपरिरम्भणादि परीप्समानो भवति । ‘अभियुक्ता’ द्यूतादिक्रियान्तरे दत्तावधानाः । एते हि तत्र संसजन्तः स्वामिनोऽपि स्व इत्यस्य प्रातिभाव्यादिक्रियानिश्चयस्यानवधानान्न प्रमाणम् । यतः क्रियान्तरावहिततया परेण पृच्छ्यमाना इदमस्मै दीयतामङ्गीकृतं वा प्रातिभाव्यमियति वस्तुनीदृशेऽनेन च प्रकारेणोच्यते इत्येवमादि निपुणतो नावधारयन्ति— प्रकृतिक्रिया-विघ्नो वा माभूदस्मिन्निहस्थ इत्यभिप्रायमभ्युपगच्छन्ति— गच्छ त्वं यद्ब्रवीषि तत्सर्वम-नुष्ठीयत इति पारतन्त्र्यं वाऽङ्गीकुर्वन्ति । तदुक्तम्— ‘अस्वतन्त्रे सहेतुत’ इति । येन हेतुनाऽस्वतन्त्रोऽप्रमाणं सोऽस्य स्वतन्त्रस्यापि हेतुर्विद्यते । यथाऽस्वतन्त्रः स्वमपि न विनियुङ्क्ते एवमयमपि कामादिवशीकृतोऽर्थविवेकं कार्याणां च गुणदोषौ क्रियमाणा-वनधिगच्छन्नस्वतन्त्रेण तुल्यो भवति । ‘आर्तो’ व्याख्यातः । अभियुक्तार्तशब्दौ च धर्मि-वचनौ लक्षणया धर्मपरौ विज्ञेयौ— अभियोगोऽभियुक्त आतुर इति । व्यसनानि का क्रोधसमुत्थितानि मृगयादीनि । अभियुक्तव्यसन्यपि काञ्चित्क्रियां तात्प्रेण कुर्वन्नुच्यते । अव्यसनप्रवृत्तोऽपि तदध्यानरतः । अथवा कामक्रोधशब्दौ कामिनि क्रोधवति वर्तेते ।

अत्र च पक्षे भयव्यसनशब्दौ कृतद्वन्द्वौ तृतीयान्तौ पीडितशब्देन सम्बध्येते । अन्ये तु स्वतन्त्रा एव । ‘रागद्वेषाभ्यां परीता’ व्याप्ताः । रागः क्वचिदात्मीयेष्वभिषङ्ग आत्मीयतया परिगृहीतस्य कस्यचित्सम्बन्धिनोऽपि ध्यायतो वाऽभिप्रेतसिद्धौ मनसः परितोषो रागः । तद्विपरीतो द्वेषविषयः । परिपन्थिन्यनात्मीयतया परिगृहीते तदस्वास्थ्यतद्विपर्ययात्परितुष्टिवृत्तिरित्येवमादिरूपौ रागद्वेषौ । सर्वथाऽस्य भावबुद्धिश्चलिता क्षणमपि विवक्षिते कार्ये नावतिष्ठते । अन्यद्वदन्नन्यदाचरति । एवंरूपोऽप्रकृतिस्थः । अन्यथा सर्व एव पुरुषाः कामादियुक्ताः जराजीर्णाक्षिशिरोरोगार्तिमन्तोऽप्रकृतिस्थाः स्युः । न चैवम् ।

अध्यधीनो गर्भदासः पुत्रशिष्यौ भार्या च । यदापि रूढ्या गर्भदास एवाध्यधीनस्तथाऽप्यस्वतन्त्रोपलक्षणार्थत्वात्सर्व एव ते गृह्यन्ते । स्वधनदानादि स्वामिनमनुज्ञाय यत्कुर्वन्ति तत्सिध्यति । तथा च नारदः (१३३)—

“यद्बालः कुरुते कार्यमस्वतन्त्रकृतं च यत् । अकृतं तदिति प्राहुः” ॥ इति

“अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्य आचार्ये तु स्वतन्त्रता ।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्रा दासाश्च परिग्रहाः ॥

“स्वतन्त्रस्तु गृही यस्य तस्य तत्स्यात्क्रमागतम् ॥”

“ननु यदि न स्वातन्त्र्यं स्त्रीणामुच्यते पुंसश्च स्वातन्त्र्यमेतदनुपपन्नम् । यतः साधारणं धनम् । कथमेकाकी मनुष्यो भार्ययाऽननुज्ञातो दानविक्रयादिभ्यः प्रभवेत्” ।

अत्रोक्तम्— “स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि” इति । तथा ‘कुले ज्येष्ठ’ इत्युपक्रम्य ‘तत्कृतं तत्कार्यजातं नास्वतन्त्रकृत’मिति च । धनसाधारण्ये हि पुरुषोऽपि स्त्रीवदस्वतन्त्रः । यच्छब्दे स्वाभ्यं पारतन्त्र्यं चेति तद्विरुद्धमिव स्वामित्वस्येत्येताश्च व्यवस्थेति योज्यं भवति । पारतन्त्र्यं परविधेयता तदिच्छानुवर्तित्वम् । यदि च परतन्त्रः परेच्छामन्तरेण विनियोक्तुं न लभते कीदृशमस्य स्वाम्यम् । अथ दानाधानविक्रये यत्र प्रकृतत्वादनीशाः । स्वशरीरे परिभोगादौ यावदिच्छं स्वधनं विनियोज्यते, परतन्त्रमहाधनानां शास्त्रनिगृहीतात्मनां द्विजानां नात्मोपभोगो भवेत् । बालस्य स्वाम्यपारतन्त्रे उपपन्ने । यदा प्राप्तव्यवहारस्तदा ईशिष्यते । एवं पुत्रादावपि । स्त्रियास्तु न कदाचिदपारतन्त्र्यम् ।

“बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किञ्चिदिति स्थितिः ॥” (मनु० ५।१४७) ।

स्वाम्यपारतन्त्र्ये स्त्रीणामसमावेश उच्यते । न पारतन्त्र्यवचनेन स्त्रीणां स्वधनविनियोगनिषेधः क्रियते । किंतु स्थाने दानाधानविक्रयादि वार्यते । ‘परतन्त्राः’— ताः स्थाने निरूपणीयेन हिताहितं स्वयं विवेक्तुमलम्— एष पात्रमर्हति भूमिहिरण्यादिप्रतिग्रहम् अनेन कन्यासम्बन्धं कुर्यात्, इदं द्रव्यमस्मात् क्रेतुं विक्रेतुं वाऽर्हतीत्येवमादि

तथा ज्ञातव्यम् । अतो लेख्यादिकाले भर्त्राद्यनुमतिरुपयुज्यते । केवलया कृते कार्ये नाहं किञ्चिज्ज्ञानामित्वया विप्रलब्धाऽस्मीति वचनस्यावसरत्वात् । भर्त्राद्यनुमतौ तु किं वक्ष्यति । तदुक्तम्—

“एतान्यपि प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ।

पुत्रः पत्युरभावे वा राजाऽधिपतिपुत्रयोः ॥”

अस्वातन्त्र्यमपि नियमितम्—

“अनुशिष्टा विसर्गे च विक्रये विस्वरा मता ।”

अपि बुद्धिपूर्वं बालशिक्षिते स्वामिना पत्न्यादयो नियोज्या अनुबन्धादिना— नतु स्वाम्यविसर्गेऽपि ।

“सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्यजेद्वा कुलसंनिधौ” (मनु० ९।८३) इति स्त्रीणामेव न पुंसः पारतन्त्र्यम् । पतितस्याप्या प्रायश्चित्तसमाप्तेः प्रतीक्षणोपदेशः । अतो न विक्रयोऽपि दासादीनां गरीयस्यामापदि कुत्रचिदस्ति । तेषु स्वामिन इत्येतदपेक्ष्य भार्याशिष्यदासीनां यथास्वं पारतन्त्र्यम् । धनसाधारण्यात् न भर्तुरनुज्ञां विना भार्याया यागादौ कचिदधिकार इति स्थितम् ।

यच्चेदम्— “पुत्राणां भर्तरि प्रेते वशे तिष्ठेतु सा तथा ।”

“जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयाऽपि समन्वितः ।”

“तयोरपि पिता श्रेयानभावे जननी मता” इति ।

— अनेन पुत्राणां पारतन्त्र्यम् । ननु चान्योन्यव्याहतमिति ।”

नास्ति व्याघातः । अनधिकारिणि पुत्रे बाले मातृपरतन्त्रता । मातुस्तु पुत्रे पारतन्त्र्यं मातृधनरक्षणं चोरादिदोषेभ्यः । पुत्रस्यापि यत्पितरि पारतन्त्र्यं तदपृथक्-कृतस्य तदगृहे निवसतः । यदा तु पितृविभक्तो धनं स्वयमर्जितवांस्तदा “ऊर्ध्वं तु षोडशाद्वर्षात्पुत्रं मित्रवदाचरेत्” इति स्वातन्त्र्यमेव ।

बालोऽप्राप्तव्यवहारः षोडशवर्षात्प्राक् ।

स्थविरो लुप्तस्मृतिः जराभिभूतोऽतीतव्यवहारः । यद्यप्ययं कस्यांचिद्वेलायां प्रकृतिस्थोऽपि भवति तथापि न प्रमाणमप्रत्ययात् ।” यस्य तु भर्तुः स्त्री जानाना कार्यप्रबन्धेन वर्तते तथाऽनुज्ञातमेतद्भवति ।

असम्बन्धकृतः । परार्थमनियुक्तो यो व्यवहारयति— न भ्राता न पिता— देवदत्ताय शतं धारयतीत्येवमादि वक्तुं न लभ्यते । ये तु भ्रातरः समानकार्याः सर्वे च तुल्यव्यवहारिणस्तेषामन्यतरेणापि गोपश्वादिविक्रयो गृहादिबन्धनप्रयोगादि च क्रियमाणं सिध्यति । सम्बन्धित्वात् ।

व्यवहारशब्दः सर्वव्यवहारग्रहणार्थः । प्रकरणादृणव्यवहार एव स्यात् ॥१६३॥

हिन्दी—मत्त (मदिरा आदि के नशे से मतवाला), उन्मत्त (पागल), रोगी, सेवक, बालक (१६ वर्ष से कम आयु वाला अर्थात् नाबालिग), और बूढ़ा-इनको पिता-भाई आदि सम्बन्धियों की सम्मति के बिना दिया गया ऋण व्यवहार (शास्त्र मर्यादा) के प्रतिकूल होता है ॥१६३॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।

बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥

भाष्य—कस्यचिदनुष्ठेयस्यार्थस्य प्रतिपादकः शब्दो भाषा सामान्येन भवति । योऽर्थस्तथा प्रतिपाद्यते सोऽनुष्ठेयः । किं सर्वापि भाषा न सत्या? नेत्याह **बहिश्चेद्-धर्मात्**— धर्मबाह्यं यदुच्यते शास्त्राचारविरुद्धम्— पञ्चकादधिका वृद्धिः, भार्यापत्य-विक्रयादिः, अन्वयिनः सर्वस्वदानमित्येवमादि । **यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता** पत्रलिखिता प्रतिभुवां वा दत्ता तथापि न सिध्यति । **व्यावहारिको धर्म** आचारनिरूढः । **नियतोऽ-**नादिर्नेदानींतनः । पूर्वशेषं चैतत् । अस्वतन्त्राप्रकृतिस्थैः कृतं दानाद्यनिश्चितमिति न प्रमाणम् ॥१६४॥

हिन्दी—‘मैं ऐसा करूँगा’ इस प्रकार की बात लेख आदि के द्वारा निर्णीत करने पर भी यदि धर्म (शास्त्रमर्यादा), कुल परम्परा और व्यवहार से प्रतिकूल कही गयी हो तो वह सत्य (प्रामाणिक) नहीं होती ॥१६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।

यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥

भाष्य—**योगः** । छद्म । तेन यदा ‘धमनं’ बन्धकार्पणं कृतमिति । एतच्च ज्ञायते असत्यकार्येण कृतम् । **तद्राजा विनिवर्तयेत्** । कश्चिद्धनिकेनोपरुध्यमान आह ‘न मे किंचिदस्तीति’—‘ननु क्षेत्रं स्थण्डिलं वासोऽस्ति तदर्पये’त्यनया शङ्कया सुहृत्स्वजनाय कस्मै चिदसावाधानीकरोति । तत आह— ‘तदन्यस्य मया बन्धकीकृतमिति’ । एतच्च ज्ञायते । सत्यपि प्रकाशलेख्ये तस्य आधातृतायोगात् यदि हि परमार्थतयाऽऽधित्वेन कृतं कथमाधातैव भुङ्क्त इति । एवंविधं योगाधमनमप्रमाणीकृत्य धनिने क्षेत्रादि दापयितव्योऽधमर्णः । यस्य चान्येनागमेन स्वाम्यं धनदानकाल आगमान्तरेण करणं करोति तदपि ‘योगाधमनम्’ । तत्राधमर्णो यस्य वानेनागमेन स्वाम्यं कल्पितः सत्यमागमं कारयितव्यः ।

एवं विक्रयादि । योऽल्पेन मूल्येन महार्धमर्थं विक्रीणीते यो वा नैव मूल्यं क्रेतुरादत्ते यच्चाह ‘विक्रीतं मया तवेदमिति’— स उत्तरकालं ‘न विक्रीतं ममेदमिति’ न लभते

वक्तुम् । न चायं विक्रयानुशयो दशाहात्परेणापि निवर्तयेदिति, योवाऽऽप्तेन क्राययति । पूर्वोक्ते निमित्ते सति निमित्तान्तरे वा सति विक्रीणीते न च रूपकादिभिः क्रयोपहर्तव्य-
व्यवहारे न दृश्यते न च रूपकादिसंचयशील इत्यादिना योगविक्रयाधिगमः ।

योगदानप्रतिग्रहम् । यद्यपि दानप्रतिग्रहक्रिययोरन्यतरोपादानेनैवेतराक्षेपः—
अन्यथास्वरूपासिद्धेः— तथापि क्रियाद्वयोपादानं वृत्तपूरणार्थम् । अथवैकक्रियोपादाने
तत्कारिण एव दण्डः स्यात् न द्वितीयस्य, सत्यपि तत्साधनत्वे शब्देनानुपादानात् ।
अतो दातुः प्रतिग्रहीतुर्द्वयोर्दण्डार्थं भेदेनोपादानम् ।

“तथा सति योगाधमनविक्रीतमित्यत्रापि क्रयादिद्वितीयक्रियोपादानं कर्तव्यम् ।”

न कर्तव्यम् । स्मृत्यन्तराद्वा सामान्यशास्त्राद्वाऽनुपादाने दण्डः स्यात् । यदुभय-
स्वामिकमन्यतरः प्रतिग्रहीत्रा सह संविदं कृत्वा दापयते एवमादि **योगदानप्रति-
ग्रहम्** । दानं च प्रतिग्रहश्चेति विगृह्य द्वन्द्वैकव्यवहारः ।

यत्र वाऽप्युपधिं पश्येदिति । उपधिः छद्म । अनेनैव अन्यत्राप्येताभ्यः क्रियाभ्यः
उपधिर्निवर्त्यः । यथा कश्चिद्धनिनोक्तः— ‘यावदियद्भिरहोभिर्दातव्यमिति प्रतिभुवं न
स्थापयसि तावत्त्वां न त्यक्ष्यामीति’ तस्मिंस्तूष्णींभूते कश्चिदुत्तमर्णेन सह संविदं
करोति ‘मामस्य प्रतिभुवं गृहाण यावदेनमुपपीडयामि बह्वनेन समापकृतं अहमस्य
पीडार्थं एव प्रतिभूर्न मया किंचिदातव्यमिति’ तत्रोत्तमर्णः प्रकाशमाह ‘यद्यन्यस्ते प्रति-
भूर्नास्ति कर्मादिकं च न प्रार्थयसे, नूनं जिहीर्षितं ते धनम्’— स पीडितः प्रत्याह ‘नैतेन
सह ममेदृशो व्यवहारः प्रवृत्तपूर्व इति’ प्रतिभूः पुनराह ‘भवानि तवाहं प्रतिभूः’
सोऽनिच्छन्पीडोपरोधादाह ‘यथेच्छसि तथा कुरु’— नास्य पूर्वक्रियास्वन्तर्भावः ।

एवं कृषिवाणिज्यशिल्पादिक्रियाः एतद्व्यतिरेकिण्यः प्रतिदर्शनीयाः । उदाहरण-
मात्रं दानाधमनविक्रयाः ।

तदेतद्योगकृतं कार्यं यावत्किंचन तत्सर्वं राजा **निवर्तयेत्**— राजा कृतमप्यकृत-
मादिशेत्— न प्रमाणीकुर्यात्— कर्तारं कारयितारं च दण्डयेत् ॥१६५॥

हिन्दी—जो वस्तु कपट से बन्धक रखी गयी हो, बेची गयी हो; दी गयी हो या
दान ली गयी हो; अथवा जहाँ पर कपट व्यवहार देखा गया हो वह सब नहीं किये के
बराबर हो जाता है अर्थात् अमान्य होता है ॥१६५॥

कुटुम्बार्थं गृहीत ऋण की देयता—

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बे च कृतो व्ययः ।

दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

भाष्य—उक्तम्— येन गृहीतमृणं तेन प्रतिदातव्यम्— तद्भावे पुत्रपौत्रैः— तद्भावे तद्वृत्तहारिणा । न तद्व्यतिरेकेणान्यस्य दानं प्राप्तमिष्यते । अत्र क्वचिद्विषये तदर्थमिदमुच्यते । येन गृहीतं धनं स **चेन्नष्टो** मृतो देशान्तरं गतो वा— **कुटुम्बे च कृतो व्ययः**— दातव्यं बान्धवैस्तद् भ्रातृतत्पुत्रपितृव्यादिभिः— **प्रविभक्तैर्विभक्त-** धनैरपि— **स्वतः** स्वधनादित्यर्थः । यावद्भ्रातरः सह वसन्ति तेषां यदृणमुपजातं तद्- गृहमध्यादेव दीयते । तच्छिष्टेऽस्य विभागः । यथोक्तम्—

“पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदृणं कृतम् ।

मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थं दद्युस्तत्सर्वमृक्थत ॥” इति ।

अविभक्तानामन्यतमेन यत्कुटुम्बार्थमृणं कृतं तद्भातृपितृव्यतत्पुत्रादयः सर्वे दद्युर्न त्वकुटुम्बार्थमित्यर्थः । अविभक्तग्रहणात्तेषामेव तथाविधमृणं सम्भवेत् प्रायः । न हि प्रविभक्ताः परकीयकुटुम्बभरणार्थमृणं गृह्णन्तो दृश्यन्ते— अतः **प्रविभक्तैरपीत्याह** ।

अपिशब्दादविभक्तैश्च । यदि कश्चिद्भ्रातृणां विभक्तानां स्वकुटुम्बभरणमकृत्वा प्रवसेदितरश्च महासत्त्वतया तदीयं कुटुम्बं बिभृयात्— तत्र विभक्तेनापि भ्रात्रा पितृव्येण वा यदृणं कृतं तदितरो दद्यादेव देशान्तरागतः ॥१६६॥

हिन्दी—ऋणी यदि मर जाय तथा उसने ऋणद्रव्य को अलग हुए या सम्मिलित परिवार के लिए व्यय किया हो तो वह ऋण उस मृत ऋणी के अलग हुए या सम्मिलित परिवार वालों को चुकाना चाहिये ॥१६६॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।

स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥

भाष्य—तिष्ठन्तु तावद्भ्रात्रादयः । **कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि** गृहभृत्योऽपि **व्यवहारं** गोपश्वादिविक्रयं क्षेत्रस्थण्डिलादिप्रयोगं कर्षणाय ऋणं व्यवहारं वा **यमा-** चरेत्— **स्वदेशे विदेशे वा** सन्निहितस्य प्रोषितस्य वा— **तं ज्यायान्** गृहस्वामी न **विचालयेत्** अविचार्यैव साधु कृतमित्यनुमन्येत ।

अन्ये तु पूर्वशेषोऽयमर्थवादो न विधिरित्याहुः । तदयुक्तम् । न ह्यर्थवादताबीजं किंचिदस्ति विभज्यमानं साकांक्षं यत्तच्छब्दाभिसम्बद्धम् ।

अथ—‘मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैः’ (१६३) इत्यस्वातन्त्र्यादध्यधीनस्य न तत्कृत- प्रमाणमिति ।

अकुटुम्बार्थे संनिहिते च स्वामिनि न युक्तं कल्पयितुम् । अन्यथा कुटुम्बावसादः स्यात् । अतस्तद्भरणात्मके व्यापारे प्रमाणीभवति दैवादध्यधीनः ॥१६७॥

हिन्दी—स्वामी (घर के मालिक) के देश या विदेश में रहने पर अधीन स्वरूप

सेवक आदि ने भी कुटुम्ब के पालन-पोषणादि के लिए जो ऋण लिया हो, उसे स्वामी चुकता कर दे ॥१६७॥

बलात्कार से किये गये की अमान्यता—

बलादत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।

सर्वान्बलकृतानर्थानि कृतान्मनुरब्रवीत् ॥१६८॥

भाष्य—यथा न बालास्वतन्त्राप्रकृतिस्थोपधिकृतं प्रमाणं तद्वद्वलकृतमपि ।
सर्वान्बलकृतानर्थानि वितर्कानित्येव विधिः । भुक्तं दत्तं लेखितमित्युदाहरणमात्रम् ।

तत्र बलादत्तं यदनुपयुज्यमानं क्षेत्रारामादिवाहनाय दीयते— वृद्धिकामो वा यद्धनं
बलादारोपयति— भारवाहनमनिच्छताम्— गृहेषु मूल्यार्पणं पण्यमश्नुते ।

लेखितं पत्रकरणम् ।

सर्वानित्यन्यानप्येवंविधानर्थान्कार्याणीत्यर्थः ।

योगाधमनमित्यत्र निपुणं दर्शितमत्रापि श्लोके समस्य योगबलशक्ये प्रक्षेप्तुं
पृथक् श्लोकद्वयकरणम् । विचित्रा श्लोकस्य कृतिर्मनोः । मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बाल-
वृद्धैर्वा बलात्कृतः असम्बद्धेन योगाच्च कृतो व्यवहारो न सिध्यति— इति न सिद्ध्य-
त्येव, न मानवद्भवति ॥१६८॥

हिन्दी—बलात्कार से जो (नहीं देने योग्य वस्तु) दिया गया हो, जो (भूमि, भूषण
आदि) भोगा गया हो, अथवा (ऋण लेने या चक्रवृद्धि आदि सम्बन्धी) लेख (हैंडनोट,
दस्तावेज आदि) लिखवाया गया हो; बलात्कार से कराये गये उन सब कार्यों को मनु
ने नहीं किया गया अर्थात् अमान्य बतलाया है ॥१६८॥

प्रातिभाव्यादि का निषेध—

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।

चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥१६९॥

भाष्य—परेणार्थ्यमाने साक्ष्यं प्रातिभाव्यं व्यवहारेक्षणं च कर्तव्यं कुलादिभिर्न
स्वयमुपेत्य हठात् । अतः स्वयं कुर्वन्तो न प्रमाणीभवन्ति ।

अथवा परस्यार्थं कुर्वन्तः क्लेशमाप्नुवन्ति, न ह्येषां स्वार्थगन्धोऽस्त्यतो बलान्न
कारयितव्याः ।

परेण वाऽर्थ्यमाना विप्रादय उपचीयन्ते । अतो न हठादनिच्छन्विप्रः प्रतिग्राह-
यितव्यः ।

अथवा परसम्बन्धिनोऽर्थायोपचयो विप्रस्य— अतः स्वार्था प्रवृत्तिर्न परार्थैव—
तेन विप्रेण न बलात्तदनादाने प्रवर्तनीयम् । हतबलसाध्यं दानमिति लोकप्रवादो न

दापयन्तं निषेधति । तदिच्छन्तं दापयेत् । याज्ञ्या तु बलम् ।

‘एवमाढ्यः कुसीदवृत्तिर्धनवानिव न प्रयोजनीयः किमिति कुसीदं व्यवहारे-
ऽन्यस्मै ददाति न मह्यमिति’ ।

अथवा तेन बलवताऽन्यस्मिन्ननिच्छति व्ययं कुर्वति धनमारोपयितव्यम् । यतः
परेणार्थ्यमान उपचीयते न बलात्प्रयुञ्जानः— शास्त्रनिषेधात् ।

एवं वणिक्कुसीदीव धनवृद्धिकाम एव व्यवहारयति । वणिक् पण्यजीवी ।

नृपो राजाऽपि प्रयुक्तराजदण्डमाददान उपचीयते— न तु बलादिप्रोत्साहनेन
व्यवहारयन् । तदुक्तं “नोत्साहयेत्स्वयं कार्यम्” इति ।

विप्रादीनां विधिरनुवादो राज्ञो दृष्टान्तार्थः । अथवा सर्वस्योदाहरणप्रपञ्चः । तथाऽ-
ग्रेतनोऽपि ॥१६९॥

हिन्दी—(धर्म, अर्थ तथा व्यवहार अर्थात् मुकदमे देखनेवाले क्रमशः) गवाह,
जमानतदार तथा कुल अर्थात् स्वजन दूसरों के लिए क्लेश पाते हैं और (दान लेने, ऋण
देने, विक्रय करने और व्यवहार देखने से क्रमशः) ब्राह्मण, ऋणदाता (महाजन), व्यापारी
और राजा— ये चारों धन की वृद्धि करते हैं ॥१६९॥

विमर्श—उक्त कारण से बलात्कार पूर्वक गवाही देने, जमानत लेने और व्यवहार
देखने के लिए स्वीकार नहीं कराना चाहिए तथा ब्राह्मण दाता को, ऋणदाता ऋणी को,
व्यापारी क्रयकर्ता (खरीददार) को और राजा व्यवहार (मुकदमे) वाले को बलात्कार पूर्वक
प्रवृत्त नहीं करे ॥

अग्राह्य धन लेने का निषेध—

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।

न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्मप्यर्थमुत्सृजेत् ॥१७०॥

भाष्य—करदण्डशुल्कादि शास्त्रविहितं वर्जयित्वाऽन्यत्पौरधनमनादेयं राज्ञः क्षीण-
कोशस्यापि । यत्तु शास्त्रन्यायागतं रक्षानिवेशधनं तत्सूक्ष्मं कार्षापणमात्रमपि न त्यजेत् ।
तदुक्तं “वल्मीकपथवद्राजा कोशवृद्धिं तु कारयेत्” इति ॥१०७॥

हिन्दी—धनादि से क्षीण भी राजा को अग्राह्य धन नहीं लेना चाहिए तथा
समृद्धिमान् होते हुए भी (राजा को) ग्राह्य थोड़ा भी धन नहीं छोड़ना चाहिये ॥१७०॥

अग्राह्य अर्थ के लेने आदि में दोष—

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ।

दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥१७१॥

भाष्य—अनादानार्हमनादेयम् । अहं कृत्यस्तच्च दर्शितम् । दौर्बल्यं ख्याप्यते प्रकृतिभिः— ‘अस्मान्दण्डयति स्तेनाटविकसामन्तादीन् शक्तो विजेतुमिति’ । परे स्व-शक्तिं प्रथयन्ति राष्ट्रीयाः । अतस्तैरभिषेण्यमानो विरक्तप्रकृतिरिह नश्यति । आदानात् इह— प्रेत्य च धर्मदण्डनात् ॥१७१॥

हिन्दी—अग्राह्य धन के लेने तथा ग्राह्य धन के छोड़ने से (नागरिकों में प्रजाओं में) राजा को असमर्थ समझा जाता है तथा वह राजा अधर्म के कारण से मरकर तथा अपयश के कारण से यहाँ पर अर्थात् जीता हुआ नष्ट होता है ॥१७१॥

ग्राह्य धन लेने आदि से लाभ—

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात् ।

बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥१७२॥

भाष्य—स्वस्य न्यायप्राप्तस्यादानम् । शोभनं वाऽऽदानम् । भव्यमेव शोभनम् । वर्णयोरेव संसर्ग समानजातीयैर्वर्णसंसर्गः । द्विषत्वात्संसर्गस्य च सम्बन्धिनोरश्रुतत्वा-द्वर्णानां प्रस्तुतत्वात्तत्रैवापेक्षा युक्ता । यस्तु वर्णानामवान्तरप्रभवैः संसर्गो नासौ वर्णाना-मेव सम्बन्धितया व्यपदेष्टुं शक्यते ।

कश्चित्तु नकारं पठति—‘वर्णसंसर्गादिति’ । सर्वथा वर्णसंकरप्रतिषेधानुवादोऽयम् । दुर्बलानां बलवद्विद्वेषिभिरभिभूयमानानां तेभ्यस्त्राणाद्धेतोः ।

राज्ञो बलं संजायते । सम्यग्व्यवहारदर्शनं कर्तव्यमधर्मदण्डनं च न कर्तव्यमित्येतद्विशेषाः पठिष्यन्ते श्लोकानामर्थवादाः ॥१७२॥

हिन्दी—(शास्त्रीय वचनानुसार) (ग्राह्य धन को लेने तथा सजातियों के साथ विवाहादि) सम्बन्ध से और दुर्बलों की रक्षा से राजा की शक्ति बढ़ती है और वह मरकर (स्वर्गादि लाभ से) तथा यहाँ पर अर्थात् जीते हुए (ख्याति आदि से) समृद्धिमान् होता है ॥१७२॥

समानभाव से शासन—

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।

वर्तत याम्यथा वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥

भाष्य—तथा चैतदेव प्रपञ्चयति । अयं सेवक आत्मीयोऽतः प्रियः, अयं च केवलं राष्ट्रवासी यस्यैव राष्ट्रं तमेवोपतिष्ठतेऽतोऽप्रियः । तद् हित्वा तद्विदित्वा यम-वत्प्रजासु तुल्यः परिपालने व्यवहारे च स्यात् । ईदृशी हि यमस्य वृत्तिर्दृष्टा । यस्येत्यणो बाधकं तत्रौपसंख्यानिकं यकारमिच्छन्ति । कः पुनर्यमतुल्यतां भजति । जितक्रोधो जितेन्द्रियः । रागद्वेषौ जयेत्— प्रत्यासङ्गाख्यानेन ॥१७३॥

हिन्दी—इसलिए राजा क्रोध तथा इन्द्रियों को वश में करके और अपने प्रिय तथा अप्रिय का त्यागकर यमराज के समान सर्वत्र समव्यवहार रखते हुए वर्ताव करे ॥१७३॥

अधर्मपूर्वक शासन से हानि—

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ।

अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥

भाष्य—अधर्मेण यः कार्याणि कुरुते स मोहादेवेह व्यामूढो धर्मं जह्यात् । तस्येदम् धर्मजं फलम्— विरक्तप्रकृतितया वशे कुर्वन्ति शत्रवः । विरक्ता हि प्रकृतयः क्रुद्धलुब्धभीतावमानिताः परैरुपजप्येरंस्ततश्च बहुकृत्वो वशे कुर्वन्ति दण्डयन्ति बध्नान्ति घ्नन्ति राष्ट्रमपहरन्ति चेत्येष वशीकारः ॥१७४॥

हिन्दी—जो राजा लोभादि के कारण अधर्म कार्यों को करता है, उस दुरात्मा राजा को शत्रु लोग शीघ्र वश में कर लेते हैं ॥१७४॥

धर्मपूर्वक शासन से लाभ—

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति ।

प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥१७५॥

भाष्य—सिंधवो नद्यो यथा समुद्रमाश्रयन्त्याश्रिताश्चानुरागिण्यस्तन्मय्यो वसन्ति न ततो निवर्तन्ते एवं कामक्रोधजयाद्राजानं प्रजाः समयोगक्षेमास्तन्मय्यः सम्पद्यन्ते ॥१७५॥

हिन्दी—जो राजा काम और क्रोध को छोड़कर धर्मपूर्वक कार्यों (व्यवहारों मुकदमों) को देखता है; प्रजा उस राजा का अनुगमन इस प्रकार करती है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र का ॥१७५॥

विमर्श—इसका गूढाशय यह है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलकर फिर वहाँ से वापस नहीं लौटतीं किन्तु तद्रूप होकर उस समुद्र की मर्यादा की वृद्धि तथा रक्षा करती हैं; उसी प्रकार प्रजा भी तद्रूप होकर राजा की मर्यादा की वृद्धि तथा रक्षा करती है ।

स्वेच्छा से धन लेने पर दण्ड—

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।

स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥१७६॥

भाष्य—छन्द इच्छा । तेन राजानमज्ञापयित्वा यदा प्रागुक्तैश्चतुर्भिर्रूपायैः स्वेच्छया धनमार्गेण प्रवृत्तं तथाभूतं वा राजपुरुषैराह्वानेनार्हतरप्रदेशेऽनुरुध्येदं हि धनमिति स च

पृष्ठो धारयामीति यत्प्रतिपद्यते स राज्ञा चतुर्थं भागं दण्डापयितव्यः । यावत्तस्मै धारयति तस्य । तत्र सर्वमृणं शतं चेद्धारयति पञ्चविंशतिर्दण्डनीयः शतं तस्य दाप्यः । न त्वियं भ्रान्तिः कर्तव्या— शतं राज्ञः पञ्चविंशति शिष्टं धनिकस्य । धनिको हि तथा दण्डितः स्यान्नर्णिकः ॥१७६॥

हिन्दी—(मैं राजा का प्रियपात्र हूँ' इत्यादि अभिमान से) धन वसूल करते हुए ऋणदाता को जो ऋणी निवेदन (शिकायत) करे राजा उसे ऋण धन के चतुर्थांश धन से दण्डित करे तथा उसका वह धन भी दिलवा दे ॥१७६॥

धनाभाव होने पर काम से ऋणपूर्ति—

कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।

समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥१७७॥

भाष्य—निर्धनोऽधमर्णो निर्धनत्वान्न मुच्यते किन्तर्हि कर्म कारयितव्यः, प्रेष्यत्वं ब्रजेत्— यावता धनेन तत्कर्म कर्मकरः करोति तत्तस्य प्रविष्टं संसद्यपि कर्तव्यम् । कर्म कुर्वतश्च सलाभधने प्रविष्टे दास्यान्मोक्षः । **समं कुर्यात्**— उत्तमर्णेन । अथ शुद्धे धने नोत्तमाधमव्यवहारः— एकोऽधमर्णोऽपर उत्तमर्ण इति । एतच्च कार्यते **समः**— समानजातीयः— **अवकृष्टजातिः**— हीनजातीयः । **श्रेयांस्तु** उत्तमजातीयो गुणाधिको वा— **शनैः** क्रमेण यथोत्पादं दद्यात् । नारदे पठ्यते— 'ब्राह्मणस्तु परिक्षीणो शनैर्दद्याद्यथादशमिति' ॥ अतो राज्ञा धनिकधनसंशुद्ध्यर्थं परिक्षीणो ब्राह्मणो न पीडयितव्यः, उत्तमर्णश्च रक्षणीयः ॥१७७॥

हिन्दी—यदि ऋणी ऋण को देने में असमर्थ हो तथा ऋणदाता की जाति वाला या उससे छोटी जाति वाला हो तो वह ऋणी उस ऋणदाता के यहाँ (अपनी जाति के अनुरूप) काम करके ऋण को बराबर (चुकता) करे तथा यदि ऋणी ऋणदाता से बड़ी जातिवाला हो तो ऋणी को धीरे-धीरे (किस्तों में) चुकता करे ॥१७७॥

विमर्श—'हीनास्तु दापयेत्' इस कात्यायनोक्त वचन के अनुसार ब्राह्मण भिन्न समान जाति वाला ऋणी हो तभी वह ऋणदाता के यहाँ अपनी जाति के अनुरूप कार्य करके ऋण चुकता करे, ब्राह्मण जाति का ऋणी हो, तो नहीं ।

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।

साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥१७८॥

भाष्य—अनेनेति पूर्वोक्तप्रकारप्रत्ययवमर्शः । **विधिना** प्रकारेण । **साक्षिप्रत्ययसिद्धानि** । **सिद्धशब्दः** प्रत्येकमभिसम्बध्यते । साक्षिभिः सिद्धानि निर्णीतानि । 'प्रत्ययः' अनुमानं दैवी वा क्रिया । **कार्याणि** । न केवलमृणादानमन्यदपि । **समतां नयेत्** ।

अर्थिप्रत्यर्थिविप्रतिपत्तिमपाकुर्यादैक्यमन्यत उत्पादयेत् ।

उपसंहृतमृणादानम् । समाप्तो व्यवहारः । सर्वत्र जयपराजयप्रकाराणामेवंरूप-
त्वात् । न हि साक्ष्यादिभ्य ऋते किंचिदुत्तरेषु विवादेषु प्रतिपत्तिनिरासनिमित्तम् । केवलं
दण्डविशेषस्तत्स्वरूपं च वक्तव्यमित्युत्तरः प्रपञ्चः । कीदृशोऽस्वामिविक्रयः कीदृशो-
ऽनुशय इति स्वरूपं व्यवस्थाप्यते ॥१७८॥

हिन्दी—इस प्रकार आपस में विवाद करते हुए मनुष्यों (वादियों तथा प्रतिवादियों)
के साक्षियों तथा लेख आदि से निर्णीत कार्य को पूरा करे ॥१७८॥

धरोहर रखना—

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।

महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥१७९॥

भाष्य—प्रख्याताभिजनः **कुलजः** । यस्य पितृपितामहा विद्वांसो धार्मिका महा-
परिग्रहाः स्वकुलांशनिगृहीता नाकार्ये प्रवर्तते । स हि स्वल्पामपि गर्हणां सोढुमसमर्थः ।
नितरां च निन्दन्ति जनाः । **वृत्तं** शीलमाचारो जनापवादभीरुता स्वाभाविकम् । **सम्पन्नः**
तद्युक्तः । **धर्मज्ञस्तु** स्मृतिपुराणेतिहासाभ्याससंजाततदर्थवबोधः । **सत्यवादी** बहु-
कृत्वः कार्येषु सम्भाव्यमानो वृत्ताभिधानः । **महापक्षः** सुहृत्स्वजनराजामात्याद्यनुगृहीत-
महिमत्वेन दुष्टराजाधिकारिणां गम्यो न भवति । **धनी** स्वधनरक्षार्थमदृष्टभयाच्च न पर-
द्रव्यापहरणे वर्तते— ‘अस्ति मे पर्याप्तं धनं किं परकीयेन, कथंचिज्ज्ञाते दण्ड्यः स्या-
मिति’ । **आर्यो** धर्मानुष्ठायी ऋजुप्रकृतिर्वा ।

निक्षेपम् । निक्षिप्यमाणं सुवर्णादिद्रव्यं कर्मसाधनेन घञोच्यते । **निक्षिपेद्रक्षार्थं**
स्थापयेद्बुधः । एवं निक्षिपन्प्राज्ञो भवति । अन्यथा मूर्खः सम्पद्यते ।

सुहृद्भूत्वोपदिशति दृष्टम् । नायमदृष्टार्थोऽष्टकादिवदुपदेशः । ईदृशि पुरुषे निक्षिप्तस्य
न विप्रलयो भवति— एवं विधेन निक्षिप्तमनेनेति शङ्का न भवति । यस्तु नग्नकित-
वपानशौण्डादिः स केनचिदाकृष्टोऽपि मत्पित्राऽस्य हस्ते निक्षिप्तं मया चेति न शङ्का-
स्पदम्— सुवर्णादिर्महतो धनस्य निक्षेपधारक इति । काकणी मात्रिकेभियुज्यमाने
भवत्येव ॥१७९॥

हिन्दी—कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञाता, सत्यवादी, बहुत परिवार वाले, धनी और
सज्जन के पास विद्वान् मनुष्य धरोहर रखे ॥१७९॥

लेने के प्रकार से धरोहर वापस देना—

यो यथा निक्षिपेद्बुधस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।

स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१८०॥

भाष्य—यथेति— यादृशेन प्रकारेण समुद्रममुद्रं ससाक्षिकमसाक्षिकमित्येव-
मादि— स तथैवेति । सोऽर्थो निक्षिप्तस्तथैव ग्रहीतव्यः । यथा दायो दीयते
निक्षिप्यते तथा गृह्यते । यत्रैतन्निश्चितं भवति सर्वकालमेवास्य हस्ते सोऽमुद्रयित्वा स्था-
पयति— तत्र विप्रतिपत्तावमुद्रिते लब्धे धारणको यदि ब्रवीति 'नैष मुद्रयति निक्षिप्य मे
बलाद्गच्छति' तत्रैवं शङ्कास्पदं जीयते । प्रमाणान्तरात्प्रायशो मुद्रणम् । अन्यदा तु मुद्रा-
नाशे कियदपहारितमिति परिमाणविशेषज्ञानाय प्रमाणान्तरं व्यापारणीयम् राज्ञा । अप-
ह्णवादेव सामान्यदण्डेन दण्डनीयः । निक्षेपदण्डस्तु द्रव्यपरिमाणे निश्चिते द्वितीयः ।

“ननु च सर्वापह्नव एव विभावितो जित एव युक्तः ।”

सत्यम् । यत्राविनाभावसिद्धम् । यथा मुषिते ग्रामे देवदत्तोऽभियुज्यते 'त्वया-
ऽन्यैश्चरैः सहामुष्मिन्नहनि स ग्रामो हत' इति— स आह नैव तस्मिन्नहनि तं ग्राम-
महमगमम्— तत्र साक्षिभिरुक्तं 'दृष्टं तस्मिन्नहनि तत्र यन्मुष्टं तत्तु न दृष्टम्'— तत्र
देवदत्तेन मोषोऽप्यपह्नतस्तदहर्ग्रामसन्निधानसिद्धेः । स्फुटे च कारणान्तरे सन्निधावनुप-
लभ्यमाने सन्निधानादेशदेशाच्चौरत्वमपि युक्तमनुमातुम् । इह तु प्रमादनष्टानां नराणां
मुद्रितनिक्षिप्तममुद्रितमेव नीयते ।

यथा दायस्तथा ग्रहः । को मेऽभियोगावसर इत्यनया बुद्ध्या सम्भवत्यपह्नवः ।
न हि शक्नोत्यनुमातुम् । यदापि कथंचिदनुमापयेत्परिमाणं तु न विना प्रमाणान्तरं
निक्षिप्तवचनादेव सिध्यतीति युक्तो दिव्यादिना निश्चयः । सर्वथा य एकदेशान्तरेण न
सम्भवति तत्रैवैकदेशपराजित इति निश्चयः ॥१८०॥

हिन्दी—जो मनुष्य जिस प्रकार (मुहर बन्द या बिना मुहर बन्द, गवाह के सामने
या एकान्त में इत्यादि) से जिसके हाथ में जो धन (धरोहर के रूप में) रखे, उस धन
को उसी प्रकार (मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, गवाह के सामने या एकान्त में) उसी
लेनेवाले के हाथ से वह (धरोहर रखनेवाला) वापस ले; क्योंकि जिस रूप में दिया जाता
है, उसी रूप में लेना न्यायसङ्गत है ॥१८०॥

विमर्श—मुहरबन्दकर रखे हुए सुवर्णादि को उसी प्रकार मुहरबन्द वापस लेने
के बाद उस मुहर को तोड़कर धरोहर रखनेवाला यदि कहे कि—'मेरा द्रव्य तौल या
गिनकर दो' तो वह दण्डनीय होता है ।

साक्षी के अभाव में धरोहर का निर्णय—

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।

स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥१८१॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।

अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥१८२॥

भाष्य—व्यत्यस्तक्रमोऽयं श्लोकः समाम्नाये पठ्यते । प्रथममस्यार्धश्लोकं पठित्वा साक्ष्यभाव इति पठितव्यं, ततः **स याच्च** इति । एवं पाठो युक्तः । तथा ह्यर्थसङ्गतिर्भवति ।

साक्ष्यभावादिव्येषु प्राप्तेषु वचनमिदम् । यथा चर्णादानादिषु साक्ष्यभावसमनन्तरमेव दिव्यानि दीयन्ते न तद्वदत्र । किं तर्हि चरैरस्य वृत्तमनुचारयेत् । तत्र यदि निपुणतश्चार्यमाणो न क्वचिद्वृत्ते स्खलति तदा न शपथैरर्दनीयः । अथाप्यत्र प्रमाद्यति तदा निक्षेपहरणसम्भावनाऽपि युक्तैव । तदाऽयं दिव्यैः परिशोधनीयः । न पुनरेकनिक्षेपहरणेनापरनिक्षेपहरणं सिध्यति । कदाचिद्वरीयसा प्रयोजनेनैकमपहत्य कृतप्रयोजन उत्पन्ना-नुशयो वाऽन्यस्य समर्पयति । अतोयं श्लोकसंघातो झटिति निक्षेपधारणकस्य शपथनिवृत्त्यर्थो न पुनः प्रमाणोपन्यासः । न च प्राङ्बिवाकनिक्षेपहरणे राजदण्डवदनिश्चितापरनिक्षेपहरणेऽपि प्रथमाभियोक्तुर्दापयितुं युक्तः । अनिश्चिते हि हरणे दाप्येत यदि शास्त्रेण तदा निर्णयार्थं व्यवहारशास्त्रं स्यात् । ततश्च हेतुभिर्निर्णयः कर्तव्य इति विकल्पितः । तस्मान्न शास्त्रीयोऽयमर्थो न च लौकिकी व्यवस्थेति । **साक्ष्यभाव** इत्याद्युक्तेन प्रकारेणान्यपरतया नेया ।

पदार्थयोजनामिदानीमनुसरामः । **स याच्चः प्राङ्बिवाकेन तन्निक्षेपपुरसंनिधौ** । येन निक्षेप्रा रहसि स्थापितम् । साक्षिष्वसत्सु तस्य याचमानस्य धारणको यद्यपहुते ‘न त्वया किञ्चिन्निक्षिप्तमिति’ ततो निक्षेप्रा राजा ज्ञापितो न निक्षेपधारिण आकारं दर्शयेत् । किं तर्हि कुर्यात् । **प्रणिधिभिश्चरैर्हरण्यमात्मीयं सुवर्णं रूप्यं वाऽन्यस्य संन्यस्य** निक्षिप्य याचितव्योऽर्थनीयः द्वितीयं निक्षेपं प्राङ्बिवाकेन । प्राङ्बिवाकग्रहणं निर्णयाधिकृतपुरुषोपलक्षणार्थम् ।

किं साक्षादेव याचितव्यो नेत्याह— प्रणिधीनां मुखेन । यैरेव न्यस्तं **वयो-रूपसमन्वितैः** । वयसा समन्विता येन बाला न भवन्ति— तेषां हि परैः प्रेरितानां मद्ब्रञ्चनार्थो न्यास इति सम्भाव्यते । परिणतवयोभ्यस्तु नाशङ्का भवति । एवं **रूपसमन्वयो** व्याख्येयः । रूपमेव कस्यचित्तादृशं भवति यस्य दर्शनादेव चापलं प्रतिभाति । तथा च रूपमेतद्व्याचष्टे “भगवन्वीतरागताम्” इति । तेनैतदुक्तं भवति— तादृशाः प्रणिधयः कर्तव्या येषां मद्ब्रञ्चनार्थोऽयमुपक्रम इति नाशङ्कते धारणकः ।

अपदेशैः सव्याजैर्निक्षेपकारणैः राज्ञोपद्रवग्रामगमनादिभिः— ‘अनेन हेतुना त्वयि सम्प्रति निक्षिपामी’त्यनृतसम्भवात्कारणकथनमपदेशः ।

एतच्च सर्वं प्राङ्निक्षेपपुरसंनिधौ कर्तव्यम् ॥१८१-१८२॥

हिन्दी—यदि धरोहर लेनेवाले से धरोहर देनेवाला स्वामी अपना धरोहर वापस माँगे और वह वापस नहीं दे तो न्यायाधीश धरोहर देनेवाले स्वामी से परोक्ष में धरोहर मनु .॥ 17

रखनेवाले से (इस वक्ष्यमाण (८।१८१) प्रकार से) धरोहर वापस मांगे । दिये गये धरोहर के साक्षी नहीं होने पर न्यायाधीश वय (बचपन को छोड़कर युवा वृद्ध आदि) तथा रूप (सौन्दर्य आदि) से युक्त गुप्तचरों से चोरी होने या राजा के छीन लेने आदि उपद्रवों का बहाना कराकर वास्तविक सुवर्ण या रुपया आदि को उसी धरोहर लेनेवाले के यहाँ धरोहर के रूप में रखवा दे तथा उस धरोहर लेनेवाले से उस धरोहर को मांगे अर्थात् उन गुप्तचरों से माँगने को कहे ॥१८२॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।

न तत्र विद्यते किञ्चिद्यत्परैरभियुज्यते ॥१८३॥

भाष्य—स यदि । निक्षेपधारी यदि प्रतिपद्येत— वाढमस्ति गृहाणेत्यंगीकृत्य दद्यात् । **यथान्यस्तं** तथा कृतं समुद्रं अमुद्रं— **यथाकृतं** वस्त्रादि संवर्तितममुद्रित-मन्यद्वा अलंकाराद्यनुपभुक्तं परिमलशून्यं गृहमुद्रया स्वचिह्नेन स्थापितम्— तादृशमेव चेद्दद्यात् **तत्र विद्यते** किञ्चिदसत्यं **यत्परैः** पूर्ववेदिकैरभियुज्येत— एतेनास्माकीनः साक्ष्यभावान्निक्षेपोऽहूयत इति । **यथान्यस्तं यथाकृतमिति** गूढागूढचिह्नकृतेन भेदः । अथवा ग्रहीतृनिक्षेप्तृव्यापारभेदेन भेदः । **यथाकृतं** यथागृहीतम्— निर्विकल्पम-विलम्बं च गृहीतं तथैव प्रतिदातव्यं प्रतिदाने यत्र कालग्रहणं न क्रियत इत्यर्थः ॥१८३॥

हिन्दी—फिर यदि धरोहर लेनेवाला वह व्यक्ति ज्यों का त्यों उसे वापस कर दे तो न्यायाधीश समझे कि पहले धरोहर वापस नहीं देने की शिकायत करनेवाले व्यक्ति ने उसके यहाँ धरोहर नहीं रक्खा था ॥१८३॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।

स निगृह्योभयं दाप्य इति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

भाष्य—तेषां प्राड्विवाकप्रयुक्तनिक्षेप्तृणां यदि द्रव्यं निक्षिप्तं न दद्यात् । **यथा-विधीति** यथाकृतपदेन व्याख्यातम् । **स** धारणकोऽवष्टभ्य राजपुरुषैरुभयमर्थिनो राजनिक्षेपं च दाप्यः । **इति धर्मस्य धारणा** व्यवस्था । तात्पर्यमत्र व्याख्यातम् ॥१८४॥

हिन्दी—और यदि उन गुप्तचरों के दिये हुए सुवर्णादि धरोहर को लेनेवाला व्यक्ति ज्यों का त्यों वापस नहीं दे तो न्यायाधीश ताडन आदि दण्ड से उसे (धरोहर लेनेवाले व्यक्ति को) वश में करके धरोहर के उन दोनों धनों को दिलवावे, यह धर्म का निर्णय है ॥१८४॥

पुत्रादि को धरोहर देने का निषेध—

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।

नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥१८५॥

भाष्य—प्रत्यनन्तर उच्यते निक्षेप्तुः पुत्रो भ्राता भार्या वा । यस्य निक्षेप्तुर्द्रव्ये स्वाम्यमस्ति—भार्यायास्तावत्स्वाम्यमुक्तमेव—पुत्रस्यापि पैतामहे भ्रातुश्चैकधनस्य । तत्र तेषां कश्चिद्याचते क्षेप्तार्यसंनिहिते ‘देहि नोऽस्माकीनमेतदिति’ । तत्र कश्चिदनया बुद्ध्या दद्यात् ‘साधारणमेतदेकेन निक्षिप्तमपरेण नीतमिति को दोष इति’ । अत उच्यते न देयौ निक्षेपोपनिधी प्रत्यनन्तरे ।

अत्रैवार्थवादं हेतुसरूपमाह । नश्यतो विनिपाते तौ । विनिपातोऽन्यथात्वं—प्रत्यनन्तरस्य देशान्तरे गमनादि—तस्मिन् सति तौ हीयेते । यदि तेन नीत्वा निक्षेप्तुर्न दत्तं तदा तेन पर्यनुयुक्तस्य धारणकस्य किमुत्तरम्? ‘त्वदीयेन भ्रात्रैतद्धनं साधारणस्वामिना नीतमिति’ नैतदुत्तरम् । “यथा दायस्तथा ग्रह” इत्युक्तम्—येनैव निक्षिप्तं स्वामिनाऽस्वामिना वा तस्मा एव देयम्—तस्यैवायं प्रपञ्चः ।

यदि तु प्रत्यनन्तरो विक्रियां न गच्छेत्तदा तद्दानेऽपि न दोषः । तदाह अनिपाते त्वनाशिनौ । तत्र ह्यस्त्युत्तरं माऽनशत्तस्मादर्पयामि ।

प्रत्यनन्तरेण नीते विनिपाते च तस्य निक्षेप्त्रे याचमानाय स्वधनं दातव्यमिति श्लोकार्थः ॥१८५॥

हिन्दी—निक्षेप तथा उपनिधि पिता के जीवित रहने पर उसके पुत्र या अन्य उत्तराधिकारी को नहीं देना चाहिये; क्योंकि उसके देनेवाले के मर जाने पर वे (निक्षेप तथा उपनिधि) नष्ट हो जाते हैं और जीवित रहने पर कभी नष्ट नहीं होते (इस कारण अनर्थ होने के भय से वैसा न करे) ॥१८५॥

विमर्श—गिनकर या बिना मुहरबन्द किये जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ‘निक्षेप’ कहते हैं तथा बिना गिने या मुहरबन्दकर जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ‘उपनिधि’ कहते हैं ।

घरोहर स्वयं लौटाने पर राजादि का कर्तव्य—

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।

न स राजाऽभियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥

भाष्य—जीवतस्तस्मान्निक्षेप्तुः प्रत्यनन्तरदानं नास्तीत्युक्तम् । मृतस्य तु यस्तद्धनमस्तीत्यविजानते स्वयं दद्यान्न स व्यवहारलेखनादिक्लेशनीयोऽन्यदप्यस्ति न वेद वेति । यदि तस्याभविष्यदधिकमिदमिव तदप्यदास्यदिति न क्लिश्यते । अत्राप्याशङ्का यदि न निवर्तेत—‘महाधनोऽसावभून्न चान्येन समं प्रयुज्यते’—प्रमाणान्तरं निश्चयाय विचारणीयम्, विषाग्न्यादिभिः शपथैर्नार्दनीयः । घटकोशसत्यतण्डुलास्तु न विरुध्यन्ते । न हि ते अतिक्लेशकराः । साक्ष्यभाव इत्यत्र द्वितीयो न्यासः । यश्च तयोर्न्यासः स इहापि द्रष्टव्यः ॥१८६॥

हिन्दी—धरोहर देनेवाले के मर मर जाने पर यदि उसके पुत्र या उत्तराधिकारी के लिए उस धरोहर को लेनेवाला स्वयं वापस लौटा दे तो राजा या धरोहर देनेवाले स्वामी के उत्तराधिकारी बान्धवादि या पुत्र को धरोहर वापस करनेवाले उस व्यक्ति पर अन्य द्रव्य के बाकी रह जाने का आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥१८६॥

मुहरबन्द धरोहर देने पर—

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।

विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्रैव परिसाधयेत् ॥१८७॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।

समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥१८८॥

भाष्य—निक्षेपेषूपचयमानेष्वनन्तरोक्तो विधिः 'साक्ष्यभाव' इत्यादिः परिसाधनार्थो विज्ञेयः । समुद्रे निक्षेपेऽन्यदप्यस्मिन्भाण्डे द्रव्यमभूत्राशितं कृमिभिरित्यादिकं पर्यनुयोगं नाप्नुयान्निक्षेपधारी तत्र धारणकस्य । एवं मूषकादिनाशे द्रष्टव्यम् । यदि दारुमये भाण्डे वस्त्रादि स्थापितं तीक्ष्णदशनैर्मूषकैर्दारु भित्त्वा भक्षयेत न निक्षेपधारिणो दोषः । तत्रापि वासनपरिवेष्टितः स्थूलपोट्टलको मुद्रितो यदि निक्षिप्येत यत्तदीये दारुभाण्डे नैव माति तदा बहिर्मूषकादिभक्षितेऽपि हि न दोषः । यदि चैतन्निक्षेपतुर्ज्ञानं भवति धारकेण परिभाषितं न मम भाण्डमन्यदस्ति, चरित्रज्ञो वाऽस्य निक्षेप्ता कदाचित्प्रत्यासन्नो भवति ॥१८७-१८८॥

हिन्दी—(उस धरोहर वापस लौटानेवाले पर और धरोहर बाकी रह जाने का संदेह होने पर उस धरोहर देनेवाले व्यक्ति का बान्धवादि उत्तराधिकारी) निष्कपट होकर प्रेमपूर्वक ही उस शेष बचे हुए धरोहर का निश्चय करे तथा उसके व्यवहार को विचार कर अर्थात् 'यह धर्मात्मा है' ऐसा मानकर साम के प्रयोग से ही निर्णय करे । सब प्रकार के धरोहरों के देने को अस्वीकार करने पर उसका निर्णय करने के लिए उक्त विधान ('साक्ष्यभावे—') (८।१८२) आदि कहा गया है । यदि मुहरबन्द धरोहर लेनेवाला ज्यों ता त्यों (ठीक-ठीक मुहरबन्द) धरोहर को वापस कर दे तथा उसे खोलने पर उसमें से कुछ नहीं ले तो धरोहर देनेवाले स्वामी को कुछ नहीं मिलता हैं ॥१८७-१८८॥

धरोहर के चोरी आदि होने पर—

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।

न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥

भाष्य—चौरास्तु वेदिता अवेदिता वा सुरङ्गभिदादिना यदि मुष्णीयुः कृतरक्षासंविधाने धारणिके स्वामिन एव नाशः । जलेनोढमुदकेन देशान्तरं नीतम् ॥१८९॥

हिन्दी—धरोहर रक्खे हुए द्रव्य में-से धरोहर को लेनेवाला स्वयं कुछ नहीं ले और वह धरोहर का द्रव्य चोरी हो जाय, पानी की बाढ़ में वह जाय या आग लगने से जल जाय, तो धरोहर लेनेवाले से धरोहर देनेवाला कुछ नहीं पाता है ॥१८९॥

धरोहर नहीं वापस करने आदि पर सामादि से निर्णय तथा दण्ड—

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।

सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥१९०॥

भाष्य—हरति यो निक्षिप्तसाक्षिकं योऽप्यपनीय नीत्वा वा याचते तमन्विच्छेत् । ‘अन्वेषणा’ तत्त्वपरिज्ञाने यत्नः सर्वप्रमाणव्यापारेण । **उपायाः** प्रमाणानि सामादयो वा । तेन चलितवृत्तस्याप्रतिपाद्यमानस्य ताडनबन्धनाद्यपि महति धने चौरवत्तत्त्वप्रतिपत्त्यर्थं प्रयोज्यम् । न तत्त्वानिश्चये निग्रहः । **वैदिकग्रहणं** स्तुत्यर्थम् ॥१९०॥

हिन्दी—धरोहर का अपहरण करनेवाले (लेकर वापस नहीं देनेवाले) और बिना धरोहर दिये ही माँगनेवाले व्यक्तियों का निर्णय सामादि उपायों तथा वेदोक्त शपथों के द्वारा न्यायाधीश को करना चाहिये ॥१९०॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥

भाष्य—निक्षिप्तमपह्वानस्य अनिक्षिप्तं याचमानस्य च दण्डोऽयम् । यावति धने मिथ्या प्रवर्तते तावद्दण्ड्यते ॥१९१॥

हिन्दी—जो दिये हुए धरोहरों को वापस नहीं करता तथा जो धरोहर को बिना दिये ही माँगता है; उन दोनों को न्यायाधीश (सोना, मोती और मणि जवाहरात) आदि उत्तम द्रव्य का विषय होने पर) चोर के समान दण्डित करे तथा (ताँबा आदि सामान्य द्रव्य का विषय होने पर) उसके बराबर अर्थदण्ड से दण्डित करे अर्थात् उतना रुपया जुर्माना करे ॥१९१॥

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् ।

तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥१९२॥

भाष्य—चोरवच्छिष्टिः पूर्वोक्तोक्ता । तथा च शरीरनिग्रहस्तत्समधनं वैकल्पिके । जातिभेदेन ब्राह्मणादन्यत्र प्रदेश उक्तः । अनेन निवर्त्यते पुनर्विधानेन चोरवच्छिष्टिः । वाग्दण्डधिग्दण्डादिरूपैव समुच्चीयते धनदण्डेन नाङ्गच्छेदादिरूपा । न च ब्राह्मणस्यापि वैकल्पिके पूर्वेण शारीरदण्डे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं पुनर्वचनं युक्तम्, सामान्येन ब्राह्मणस्य शरीरदण्डप्रतिषेधात् “न जातु ब्राह्मणं हन्यात्” इति (३८१) ।

उपनिधिः प्रीत्या यद्भुज्यते । **अविशेषेण**—द्रव्यं जातिं च नापेक्षेत ।

अन्यैस्तूपनिधिः परिभाषितः । स तत्रैव नेह । परिभाषाया अकरणाल्लौकिकार्थ एव ग्रहीतुं न्याय्यः । वक्ष्यति च “प्रीत्योपनिहितस्य च” इति (१९६) ॥१९२॥

हिन्दी—राजा (या न्यायाधीश) निक्षेप का हरण करने (वापस नहीं देने) वाले मनुष्य से उतना ही धन दिलवा दे तथा उपनिधि को हरण करनेवाले मनुष्यों को भी वही (उतना ही) दण्ड दे अर्थात् धरोहर के बराबर धन दिलवा दे ॥१९२॥

विमर्श—पूर्वश्लोक (८।१९१) में निक्षेप तथा उपनिधि को अपहरण करने का विधान बताकर शारीरिक दण्डादि की आज्ञा दी गयी है; क्योंकि उक्त अपराध करनेवाले ब्राह्मण से इस श्लोक द्वारा ‘दापयेत्’ इस पद से धरोहर के बराबर धन दिलवाने की आज्ञा दी गयी है । इसी प्रकार इस श्लोक में कहा गया दण्डविधान पहली बार अपराध करने पर और पूर्व श्लोक (८।१९१) में कहा गया दण्ड-विधान बार-बार अपराध करने पर कहने से पूर्व श्लोक (८।१९१) के साथ इस श्लोक की पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये । यदि बिना धरोहर दिये ही कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति से धरोहर माँगने लगे तो समान न्याय से उसे भी धरोहर के समान धन दिलवाने का दण्ड देना चाहिये । निक्षेप तथा उपनिधि का लक्षण पहले (८।१८५) विमर्श में कह आये हैं ।

छल से दूसरे का धन हरण करने पर दण्ड—

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।

ससहायः स हंतव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥१९३॥

भाष्य—उपधा व्याजः छद्मेत्यनर्थान्तरम् । ताश्चानेकविधाः । द्रव्यपरिवर्तः—कुंकुमं दर्शयित्वा कुसुमादिदानं—तुलादिमानापचय इत्याद्याः । तत्र चान्यं विधिं वक्ष्यति “नान्यदन्येन संसृष्टम्” इत्यादि (२०३) । इह तु वित्रासनं राजत उपकारदर्शनं कन्यानुरागकथनमित्येवमाद्या गृह्यन्ते । चौरास्त्वां मुष्णन्ति यद्यहं त्वां न रक्षामि—राजा तवात्यन्तं कुपितो मया तु बहु समाहितं—राजतस्ते नगराधिकारं दापयामि मुख्यं वोपकारं करोमि—पुष्पमित्रदुहिता त्वय्यत्यन्तमनुरागिणी मद्धस्त इदमुपायनं प्रेषितवती—इत्येवमाद्यनृतभुक्त्वाऽऽत्मीयमुपायनमासज्य बहु प्रतिनयन्ति—तत्समक्षं च राजनि तत्समं वा कार्यान्तरमुपांशु निवेद्य कथयन्ति—त्वदीयं कार्यमुपक्रान्तम्—इत्येवमाद्याभिरुपधाभिः परद्रव्यं च भुञ्जते । तेषामयं राजमार्गं प्रकाशं विविधः कुठारशूलारोपणहस्तिपदमर्दनाद्यनेकोपायसाधनो वध उच्यते ।

अन्ये तु प्रकरणान्निक्षेपविषयमेवेदमाहुः । तत्र हि प्रतिपद्यान्यत्र मया निहितं स च न सन्निहितः श्वःपरश्च आगच्छतीत्यसमर्पयन्हरतीति ॥१९३॥

हिन्दी—जो मनुष्य कपट से (‘तुम पर राजा क्रुध हैं, इतना धन मुझे दोगे तो मैं तुम्हारी रक्षा कर दूँगा’ इस प्रकार कहकर या धनादि का लोभ देकर) दूसरे का धन हरण

करे, उसे इस काम में सहायता देनेवालों के साथ सब लोगों के सामने राजा अनेक प्रकार के वधों (हाथ-पैर काटने, बाँधने या कोड़े या बेतों से मारने) से मारे ॥१९३॥

विमर्श—यहाँ पर अपराधानुसार दण्डविधान राजा को करना चाहिये ।

उक्त धरोहर के विषय में असत्य बोलने पर दण्ड—

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।

तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥१९४॥

भाष्य—य इति निक्षिप्यमाणद्रव्यजातिनिर्देशः । यावानिति परिमाणस्य । य आह— सुवर्णमेतस्य हस्ते मया निक्षिप्तं कांस्यं ददाति— शतं च स्थापितमर्धं ददाति— स पृच्छ्यते— किं रहस्युत कस्यचित्समक्षमिति । स चेदाह **कुलसंनिधौ ।** **कुलं** साक्षिणः । तत्र ते पृष्टा यथाहुस्तदेव सत्यम् । **विब्रुवन्विरुद्धं** ब्रुवाणो दण्ड्यते । तत्रापि यदि ब्रूयात्साक्षिसमक्षं कथं तैर्विनाऽन्यत्स्थापितमिति— अस्त्यत्र प्रमाणान्तर-व्यापारणावसरः ।

अयमपि श्लोको नाधिकविध्यर्थः ॥१९४॥

हिन्दी—साक्षी के सामने जिसने जितना धरोहर रक्खा है, (उस विषय के परिणाम के विषय में विवाद उपस्थित होने पर साक्षी जितना कहे) उतना ही वह धरोहर समझना चाहिये और उसके विरुद्ध कहनेवाला दण्ड के योग्य है ॥१९४॥

धरोहर देने तथा वापस करने का प्रकार—

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।

मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१९५॥

भाष्य—यो यथा निक्षिपेदित्यनेन (१८०) निक्षिप्तविधिरयमुक्तः । अन्येषु कार्येष्वनेन प्रतिपाद्यते । ऋणादानोपनिधिविक्रयाद्यपि येन यादृशेन प्रकारेण कृतं तादृशेनैव प्रत्यर्पणीयम् । रहसि कृतस्य राजकुलेंऽशमार्गणादिना प्रकाशनं न कर्तव्यम् । तेन स्वहस्तलेख्येन ऋणे गृहीते न राजकुलेंऽशं दाप्यते । उत्तमर्णधनं क्षपणीयम् ।

अनेनैव निक्षेपेऽपि सिद्धे तत्र पुनर्वचनं नित्यार्थम् । तेन निक्षेपादन्यत्र रहसि कृतस्यापि विप्रतिपत्याशङ्कायां प्रकाशं प्रतिदानं कदाचिदस्ति । अथवेहाप्रकाशकृतस्य प्रकाशीकरणं निषिध्यते । तत्र त्वन्योऽर्थः समुद्रोऽसमुद्र इत्यादि तेनापौनरुक्त्यम् ।

मिथः शब्दो रहसि विज्ञेयः । अथवा परस्परं **मिथः** । सर्वं कार्यं **द्वाभ्यां** साध्यं दानादि परस्परमेव क्रियत इति । पुनर्वचनं तृतीयप्रतिषेधार्थम् ।

दायशब्दः सामान्यशब्दो निक्षेपादन्यानपि विक्रयादीनाह ॥१९५॥

हिन्दी—जिसने जिस प्रकार एकान्त में धरोहर दिया है और जिसने एकान्त में ही लिया है, उसे एकान्त में ही लेना तथा वापस करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार दिया जाता है, उसी प्रकार वापस किया जाता है ॥१९५॥

विमर्श—‘यो यथा निक्षिपेत्—’ (८।१८०) श्लोक में केवल धरोहर देने का विधान कहा गया है तथा इस श्लोक में वापस करने का; अतएव उक्त श्लोक के साथ इसकी पुनरुक्ति नहीं होती ।

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।

राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्यासधारिणम् ॥१९६॥

भाष्य—प्रकरणोपसंहारोऽनेन क्रियते । प्रीत्योपनिहितस्य । स्नेहेन किञ्चित्कालं भोगार्थं दत्तस्य न्यासो निक्षेपः । तस्य धारणको यथा न पीड्यते तथा निर्णयः कर्तव्य इति । अक्षिण्वन्नपीडयन् ।

द्वित्राः श्लोका निक्षेपप्रकरणेविध्यर्थाः । सर्वमन्यदन्यतः सिद्धं सौहार्देनोक्तम् ॥१९६॥

हिन्दी—राजा (या न्यायाधीश मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द दिये गये धरोहर का अथवा भोगार्थ प्रेमपूर्वक दी गयी (धन, वस्त्र आभूषणादि) महंगी वस्तुओं का निर्णय, लेनेवाले को यथासम्भव अपीडित करता हुआ करे ॥१९६॥

बिना स्वामित्व के बेचने पर दण्ड—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसम्मतः ।

न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥

भाष्य—अस्वामिविक्रयाख्यविवादपदमिदमनुक्रान्तम् ।

परस्य यद्व्यादि स्वं तच्चेदस्वामी तत्पुत्रादिरन्यो वा विक्रीणीते स्वामिनाऽननुज्ञातस्तं स्तेनं चौरं विद्यात् । यद्यपि यस्तस्मात् क्रीणाति स तमस्तेनं मन्यते ।

न तं नयेत साक्ष्यं तु । तं पुरुषं न नयेत न प्रापयेत् साक्ष्यं न कारयेत्साक्षिकरणे न नियोक्तव्य इत्यर्थः । यथा चौरस्तादृश एवासौ । स्तेनत्वाच्च न साक्षित्वम् । न साक्षित्व एव प्रतिषेधः । किं तर्हि? सर्वासु साधुजनसाध्यासु क्रियासु । परस्वमननुज्ञातेन विक्रीतं क्रेतुर्न स्वं भवतीति सिद्धे साक्षिकर्मनिषेधद्वारेण प्रतिषेधो वैचित्र्यार्थः ॥१९७॥

हिन्दी—जो मनुष्य (किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुआ भी उस वस्तु के) स्वामी की आज्ञा लिये बिना ही दूसरे की कोई वस्तु बेच दे और (इस प्रकार) चोर होता हुआ भी वह अपने को चोर नहीं माने तो राजा उसके साक्षी को प्रमाणित नहीं माने ॥१९७॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।

निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥१९८॥

भाष्य—पूर्वेण साधुजनकर्तृकासु क्रियासु साक्ष्यादिष्वपि अस्वामिविक्रयकारिणा-
मनर्हतोक्ता । अनेन षट्शतो दण्ड उच्यते । षट्कार्षापणशतानि अवहार्यो दापयि-
तव्यो दण्ड्य इति यावत् । **सान्वयः** । **अन्वयोऽनुगमनसम्बन्धः**— स यस्यास्ति
पुत्र-भ्रात्रादिः स्वामिनोऽनुगतः **सान्वयः** । स ह्यननुज्ञातोऽपि विक्रीणानो न स्फुटचोरो
यतस्तस्येयं बुद्धिर्मदीयमेवैतद्यत्पितुरिति—तं प्रतीयमपि सम्भावना भवति तस्यैव
विक्रीय मूल्यं ददाति । यस्त्वत्यन्तासम्बन्धः स **निरन्वयः** । **चौरकिल्बिषं** निग्रहं
निःसंशयं प्राप्तः । **अनपसरः** । यदि तद्गृहं तस्य नापसृतं भवति तदाऽनपसर-
श्चौरवदण्ड्यः । यदि तु तद्गृहादेव केनचिद्दत्तं विक्रीतं वा तस्य तेन वाऽज्ञत्वात्
तत्प्रतिगृहीतं प्रकाशक्रयेण वा विक्रीतं तदा न चौरवदण्ड्यः । **षट्शतमेव** दाप्यः ।

अथवा अन्वयो विक्रीणाति तस्य विक्रेयद्रव्यस्यान्यतः क्रयः **अपसरः** क्रया-
दन्यः प्रतिग्रहादिरागमः । एतदुक्तं भवति । यदि तेन तत्र कुतश्चन क्रीतं नापि प्रति-
ग्रहादिना लब्धं तदा चौरः ॥१९८॥

हिन्दी—यदि दूसरे की वस्तु उक्त प्रकार (८।१९३) से बेचनेवाला (उस बेची गयी
वस्तु के स्वामी के) वंश का (पुत्र आदि सम्बन्धी) हो तो उसे राजा ६०० पण दण्ड
(जुर्माना) करे और उस बेची गयी वस्तु के स्वामी के वंश का नहीं हो और उस वस्तु
के स्वामी या उसके पुत्र आदि से वह (बेची गयी) वस्तु दान में या बेचने से नहीं मिली
हो तो उस वस्तु को बेचनेवाला वह मनुष्य चोर के पाप को प्राप्त करता है अर्थात् राजा
को उसे चोर के समान दण्डित करना चाहिये ॥१९८॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥१९९॥

भाष्य—न केवलमस्वामिसकाशाद्यत्क्रीतं तत्र सिध्यति, किं तर्हि, प्रतिगृहीत-
मपि । प्रतिग्रहेण प्रीत्या वा दानं **दायः** सोऽपि न सिध्यति । “विक्रीणीते परस्य”
इत्यनेन (१९७) विक्रेतुः प्रतिग्रहीतुश्चास्वाम्यमुच्यते । “स्वामी रिक्थक्रये”त्यादिना
(गौतम १०/३९) स्वाम्याशङ्कायां प्राप्तोऽयं प्रतिषेधः । **व्यवहार** एषा **स्थितिर्नाति-**
क्रमणीया ॥१९९॥

हिन्दी—स्वामी नहीं होने पर भी जो किया जाय, दिया जाय या बेचा जाय; उसे
किया हुआ, दिया हुआ या बेचा हुआ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि व्यवहार में जैसी मर्यादा
है, वैसा नहीं किया गया है ॥१९९॥

[अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम् ।

अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवददण्डमर्हति ॥१५॥]

[हिन्दी—शासक (शासन करनेवाला राजा न्यायाधीश) किसी वस्तु के स्वामी नहीं होने पर भी उस वस्तु को अज्ञानपूर्वक बेचनेवाले को शासन दण्डित करे और ज्ञानपूर्वक (ज्ञान-बूझकर) बेचनेवाले व्यक्ति को चोर के समान दण्डित करे ।]

आगमसहित भोग की प्रमाणता—

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥२००॥

भाष्य—यस्मिन्वस्तुनि गोवस्तुहिरण्यक्षेत्रादावन्यस्य भोगो दृश्यते अन्यस्य च रिक्थप्रतिग्रहादिरागमः स्वाम्यापादकस्तत्रागमो बलवान्न भोगः । भोग एव सम्भोगः । कारणं स्वाम्ये । तत्रेति स्थितिः । एवमनादिव्यवस्था न भोगमात्रेण स्वत्वम् । यादृशेन च स्वत्वं तत्पुरस्ताद्व्याख्यातम् “यत्किञ्चिदशवर्षाणि” (१४७) इति वानेन विरोधस्तत्रैव परिहृतः ॥२००॥

हिन्दी—जिस किसी वस्तु का उपभोग देखा गया हो और उसके मिलने का साधन नहीं देखा जाय अर्थात् यह वस्तु इस मनुष्य के यहाँ खरीदने से आयी या दानादि से ऐसा कोई प्रमाणीभूत साधन नहीं देखा जाय तो उस वस्तु के आने के कारण को ही मुख्य मानना चाहिये, उपभोग को नहीं, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥२००॥

सर्वप्रत्यक्ष खरीदने पर मूल प्राप्ति—

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद्गृहीयात्कुलसन्निधौ ।

क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥

भाष्य—यादृशेन क्रयेण स्वाम्यं भवति तं दर्शयति । विक्रीणतेऽस्मिन्व्यवहारिण इति ‘विक्रयः’ आपणभूमिस्ततो यो गृहीयाद्धनं गवादि क्रीयमाणं द्रव्यं मूल्यं वा स लभते न्यायतः क्रयेण । कुलसंनिधौ विशुद्धम् । न्यायतः क्रय उचितेन मूल्येन । असम्भाव्यपापपुरुषाकुलस्यान्यव्यवहर्तृमेलककारपुरुषसमूहस्य समक्षं गृहीतं लभते नापहारयति । अन्यथा अस्वामिना विक्रये तु द्रव्यं प्रतिनीयते किन्तु मूल्यं लभते । तस्माद्यस्तस्य विक्रयी सोऽन्यायतः क्रये दण्ड्यते मूल्यं च हारयति । एतदुक्तं (या०व्य० १७०)

“विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ।

क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥”

एष एवार्थोऽनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते ॥२०१॥

हिन्दी—जो कोई वस्तु विक्रय (बेचने के) स्थान (बाजार या दुकान आदि) से बेचनेवालों अर्थात् अनेक व्यापारियों के प्रत्यक्ष में खरीदी जाती है, उस दोष-रहित धन को न्यायपूर्वक खरीदनेवाला बेचनेवाले से प्राप्त करता है अर्थात् वस्तु का स्वामी नहीं होने पर सर्वप्रत्यक्ष बेची गयी उस वस्तु का मूल्य खरीददार को बेचनेवाले से प्राप्तव्य होता है ॥२०१॥

अथ मूलमनाहार्य प्रकाशक्रयशोधितः ।

अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥

भाष्य—असम्भाव्यपापात् पुरुषादित्यादि न्यायतः क्रय उक्तः । स चेद्विक्रेता शक्य आहर्तुं तदा पूर्वोक्तो विधिः— “स्वामी द्रव्यम्” इत्यादि । अथ सं विक्रयी गतः, ये क्रीतं स्वामिना चिह्नीकृतं तेन च **मूलं** विक्रेता पुरुष आहर्तुं न शक्यते । **प्रकाशं** जनसमक्षं प्रसिद्धाया विक्रयभुवः क्रीतमत ईदृशेन क्रयेण शोधिते द्रव्ये ‘शुद्धः’ क्रेता-**ऽदण्ड्यो मुच्यते । धनं तु नाष्टिकः** स्वामी ज्ञापितस्वं वा लभते । नष्टमन्वेषते **नाष्टिकः** । नष्टमस्यास्तीत्येवं ठनि कृते प्रज्ञादित्वात्स्वार्थिकोऽण् कर्तव्यः । नष्टं प्रयोजनमस्येति वा । तेनायं संक्षेपः— प्रकाशक्रये तु दण्डो न स्याद्धननाशस्तु स्थित एव ॥२०२॥

हिन्दी—स्वामी नहीं होने पर किसी वस्तु को बेचनेवाले से निश्चित रूप से सर्व प्रत्यक्ष (बाजार में) खरीदनेवाला यदि उस बेचनेवाले को परदेश चले जाने या मर जाने आदि के कारण नहीं ला सके तो खरीदनेवाले अदण्डनीय उस व्यक्ति को राजा छोड़ दे (दण्डित न करे); किन्तु बेचे हुए उस वस्तु को खरीदनेवाले से उस वस्तु का स्वामी प्राप्त करता है ॥२०२॥

विमर्श—इस श्लोक के चतुर्थपाद के विषय में बृहस्पति का मत है कि उस वस्तु का स्वामी उस प्रकार खरीदनेवाले को आधा मूल्य देकर वह वस्तु प्राप्त करे, ऐसा करके दोनों (वस्तु का स्वामी तथा उक्त रूप में अस्वामी से खरीदनेवाला) अपने आधे-आधे मूल्य को अपहृत (चोरी गया) समझे (म०मु०) ।

मिलावटी वस्तु बेचने पर दण्ड—

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।

न सावद्यं न च न्यूनं न दूरे न तिरोहितम् ॥२०३॥

भाष्य—अस्वामिविक्रयप्रसङ्गेनान्योऽपि विक्रये धर्म उच्यते ।

नान्यत् कुंकुमादिद्रव्यं कुद्रव्येण तदाभासेन कुंसुंभादिना **संसृष्टं** विक्रयेम् । यच्च **सावद्यं** चिरकालं भांडेऽवस्थितत्वात् प्राप्तविभावं जीर्णमजीर्णाभासं वस्त्रादि । **न च न्यूनं** तुलामानादिना । **दूरे**— दूरस्थितं—ग्रामे मम विद्यन्ते वासांसि गुडादि वा द्रव्यम् ।

तिरोहितं स्थगितं वस्त्रादीनांऽतर्हितं—यस्य वा स्वरूपं केनचिद्द्रव्यरागेणान्तर्द्ध्यते पुराणं नववत्प्रतिभाति तत्तिरोहितं न विक्रेतव्यम् । इदं द्रव्यमीदृशं च प्रदर्श्य विक्रयः कर्तव्यः । अन्यथाकृतस्तु न कृतो दशाहादूर्ध्वमपि प्रत्यर्पणे न दोषः ।

अन्यस्य दण्डस्येहानाम्नातत्वात् 'उपधाभिरि'त्येष एव दण्डः । प्रकरणभेदेन पठितत्वादस्वामिविक्रयदण्ड इत्यन्ये ॥२०३॥

हिन्दी—अधिक मूल्यवाली वस्तु में थोड़े मूल्यवाली वस्तु (यथा कुङ्कुम में कुसुम्, घी में वनस्पति, इत्यादि) को मिलाकर साधारण वस्तु को अत्युत्तम बतलाकर तौल में कम और दूर या अन्धकार आदि के कारण जिसका वास्तविक रूप नहीं मालूम पड़ता ऐसी वस्तुएँ नहीं बेची जा सकती ॥२०३॥

विमर्श—उक्त रूप से मिलावटी आदि वस्तु को बेचनेवाला दूसरे की वस्तु को बेचनेवाले के समान दण्डनीय होता है ।

दूसरी कन्या को दिखाकर उससे भिन्न दूसरी के साथ विवाह कराने पर—

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।

उभे त एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥२०४॥

भाष्य—विक्रयप्रकारत्वाच्छुल्कादिना कन्यादानस्य अस्मिन् प्रकरणे धर्म उच्यते । शुल्ककाले रूपवतीं दर्शयित्वा गृहीतशुल्को यस्य रूपहीनां ददाति वयोहीनां गुणहीनां वा तस्योभे अपि शुल्कदेनैकेन शुल्केन हर्तव्ये । कन्यादानामेवायं धर्मः । गवाश्वादि-द्रव्याणां त्वस्मिन्व्यतिक्रमेऽन्यो विधिर्वक्ष्यते ॥२०४॥

हिन्दी—दूसरी सुन्दरी या विदुषी कन्या को दिखाकर बाद में यदि उससे भिन्न दूसरी कन्या के साथ (विवाह कराकर उसे) विवाद करनेवाले (पति) के लिए दी जाय तो वह (विवाह करनेवाला) पति उसी मूल्य में उन दोनों कन्याओं से विवाह करे— ऐसा मनु ने कहा है ॥२०४॥

विमर्श—मूल्य देकर कन्या के साथ विवाह करना किसी प्रकार से खरीदना ही है, अतएव उसका दण्डविधान इस प्रकरण में कहा गया है ।

पगली आदि कन्या के साथ विवाह कराने पर—

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।

पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥

भाष्य—उन्मत्तादिदोषान्कथयित्वा ददतो दण्डो नास्तीति प्रतिषेधद्वारेण कथयतो दण्डमाह । न केवलं शुल्के देया— या अन्यस्य अपि ब्राह्मादिविवाहेन विवाहयिष्य-

माणायाः— दत्ताऽप्यदत्ता भवति, दण्डश्च प्राप्नुयाच्चौरकिल्बिषमिति जानानस्य । अजानतः षट्शतम् प्रकृतत्वात् ।

उन्मत्ताया कुष्ठिन्या ये कुष्ठीन्मादादयः । **या च स्पृष्टमैथुना** तस्याश्च यो दोषो मैथुनस्पर्शः । **तान्दोषान्पूर्वं** वाक्प्रदानेनाख्याप्य प्रकाशयैतद्दोषा कन्येत्येवमुक्त्वा ददतो नास्ति दण्ड इति पदयोजना ॥२०५॥

हिन्दी—पगली, कुष्ठ रोग वाली और क्षतयोनि (विवाह से पहले मैथुन की हुई) कन्या के दोषों को पहले बतलाकर कन्यादान करनेवाला दण्डभागी नहीं होता ॥२०५॥

विमर्श—किन्तु कन्या के दोष को बिना बतलाये उस कन्या का दान करनेवाला आगे वक्ष्यमाण (८।२२४) वचन से दण्डभागी होता ही है ।

पुरोहित की दक्षिणा देने में—

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।

तस्य कर्मनुरूपेण देयोऽशः सहकर्तृभिः ॥२०६॥

भाष्य—सम्भूयसमुत्थानस्य प्रक्रमोऽयम् । तत्र वैदिकं तावत्सम्भूयकार्यमुदाहरति । **यज्ञो** ज्योतिष्टोमादिः । तत्र यागरूपानेकांगकर्मनिर्वर्तनार्थमृत्विग्वृतः— ‘त्वया ममेदं हौत्रं कर्तव्यमाध्वर्यवमौद्गात्रं वेति’ श्रौतेन विधिनाऽनुष्ठेयमित्युपगमश्च प्रवर्तितः । कथंचिदपाटवादिना सामिकृतं **यत्परिहापयेत्यजेत्तदीनीं** तस्य **देयो** दक्षिणांशः कर्मनुरूपेण । यावती तस्मिन् क्रतौ दक्षिणा तां निरूप्य चतुर्थे भागे कर्मणः कृते चतुर्थ-तृतीय इत्येतदानुरूप्यम् । **सहकर्तृभिः** । कर्तारः पुरुषाः प्रधानर्त्विजो होत्रुद्गात्रादीनां प्रस्तोतृमैत्रावरुणप्रभृतयः ॥२०६॥

हिन्दी—यज्ञ में यदि वरण किया हुआ ऋत्विक् (रोगादि के कारण) अपना काम नहीं करावे तो उसके किये गये काम के अनुसार बाकी काम को पूरा करनेवालों को उसका भाग देना चाहिये ॥२०६॥

दक्षिणा देने के बाद काम छोड़ने पर—

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।

कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥२०७॥

भाष्य—माध्यन्दिने सवने दक्षिणा दीयन्त इति । तत उपरिष्ठात्कर्म त्यजताम-प्रत्याहरणीयां **लभेत**— दक्षिणामितिशेषः— न प्रतीपं त्याजयेदित्यर्थः । अन्यां भृतिं दत्त्वा **अन्येन** पुरुषेण यजमानस्तत्कर्म समापयेत् ।

‘ऋत्विग्भिः कर्म कर्तव्यं वरणाच्च ऋत्विजो भवन्ति— तच्च नियतकाले प्राक्कर्मण

आरम्भात्— अंतःक्रतु क्रियमाणं विगुणं भवति— समाप्तिश्चापि कर्तव्येति— विगुणं चेत्समापनीयमंगान्येव तदन्यकर्तृकाणि करिष्यामीति— बुद्धिनिवृत्त्यर्थमुक्तमन्ये-
नैवेति । तावदेव विगुणं यदशक्यं— शक्यं तु सर्वं कर्तव्यम् ।

केचित्कारयेदिति ऋत्विजोऽपि सम्बन्धमाहुः । गृहीत्वा दक्षिणां वाऽधिकां दद्या-
त्स्वयमशक्नुवन् । प्राग्दक्षिणाभ्यः शेषकर्मसमापने यजमान एवाऽधिक्रियते ॥२०७॥

हिन्दी—(माध्यन्दिन यज्ञादि में) सब दक्षिणा लेकर अपने काम को (रोगादि के कारण-शठतादि दुर्भावना के कारण नहीं) छोड़ता हुआ ऋत्विक् सब दक्षिणा का भागी होता है (इस अवस्था में यज्ञकर्ता को) बाकी कार्य दूसरों से करवाना तथा अलग दूसरी दक्षिणा उसको देनी चाहिये ॥२०७॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः ।

स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥२०८॥

भाष्य—इदमपरं प्रकृतोपयोगि वैदिकं कथ्यते । वैदिके कर्मणि सामस्त्येन दक्षिणा आम्रायन्ते न प्रतिपुरुषं विभागेन— 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति' । तच्चातिदेशेन क्रत्वन्तराणि तद्विकाराण्यनुगच्छन्ति राजसूयादीनि । तत्र च केषुचिदङ्गकर्मसु प्रतिपद-
मन्या दक्षिणाऽऽम्राता पुरुषविशेषसंयोगेन— 'हिरण्मये प्रकाशवदध्वर्यवे' इत्यादि । ता **प्रत्यङ्गदक्षिणाः** सम्पद्यन्ते । किमध्वर्योश्चातुर्विद्यावादिकवद्दातिसम्बन्धः— सर्वेषामृ-
त्विजां दक्षिणा— अध्वर्युस्तु द्वारमात्रम्— उत तस्यैव सा— अन्येषां प्रकृतांशः इति संशयोपन्यासार्थः श्लोकः ।

प्रतिपदं पुरुषविशेषाश्रया अङ्गेषु दक्षिणाः **प्रत्यङ्गदक्षिणाः** । अथवा वीप्सायां प्रत्यङ्गशब्दः । अङ्गमङ्गमाश्रिताः **प्रत्यङ्गाः** । **स एव ता आददीत** । मुख्य एव पुरुषस्य ददातिना संयोग उत कर्तृत्वाविशेषादन्येऽपि **भजेरँल्लभेरन्**— प्रधानदक्षिणा इव इति कथयित्वा प्रश्नः । पुरुषविशेषमुक्तास्तदर्था एवेति निर्णयः । एवं ददातिर्मुख्यार्थो भवति । पुरुषसंयोगश्च नादृष्टार्थः ॥२०८॥

हिन्दी—आधानादि जिन कर्मों में प्रत्येक अङ्ग की जो दक्षिण बतलायी गयी है, उनको वही (उस अङ्ग का कार्य करानेवाला ही) ऋत्विक् ले अथवा उन सब अङ्गों की दक्षिणाओं को विभक्तकर सब ऋत्विक् परस्पर में बाँट लें ॥२०८॥

अध्वर्यु आदि की दक्षिणा—

रथं हरते चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।

होता वाऽपि हरेदश्वमुद्राता चाप्यनः क्रये ॥२०९॥

भाष्य—रथमध्वर्युराधाने हरेत् । ब्रह्मा च वाजिनं वेगवन्तमश्वम् । होता वा

अश्वं वृषमन्यं वा । कासुचिच्छाखास्वाधान एता दक्षिणाः । अतः सोमक्रये यच्छकटं तदुद्रातुः । तत्र शकटेऽन्यतरोऽनड्वान्युक्तः स्यात् अन्यतरो वियुक्त इत्यपि पठ्यते । तेन च सोमः क्रीत उपाह्रियते ।

अन्येत्वपूर्वमन आहुर्न सोमोपाहरणार्थम्, न हि क्रयेण शक्यते विशेषयितुम्॥२०९॥

एवं तावत्पुरुषविशेषसंयोगिनीनामङ्गदक्षिणानां विधिरुक्तः । प्रधानदक्षिणानां सामान्यतः श्रुतानामिदानीं विभागमाह—

हिन्दी—किन्हीं शाखावालों के आधान में अध्वर्यु रथ को, ब्रह्मा तेज घोड़े को, होता घोड़े को तथा उद्राता सोमलता को खरीदने पर उसे वहन करने (ढोने या लाने) वाली गाड़ी को प्राप्त करता है ॥२०९॥

विमर्श—यह दक्षिणा प्राप्त करने की व्यवस्था आम्नायविशेषानुसार है, पक्षान्तर यह है कि जिसके लिए जो दक्षिण शास्त्रों में कही गयी है, उसे वे अध्वर्यु आदि प्राप्त करें ।

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।

तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥२१०॥

भाष्य—सर्वेषामृत्विजां ये मुख्यास्तेऽर्धिनः । यावती तस्मिन्क्रतौ सामस्त्येन दक्षिणाऽऽम्नाता तस्यास्तेऽर्द्धिनोऽर्द्धहराः । सोमयागेषु हि षोडशर्त्विजस्तत्र चत्वारो मुख्या होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्रातेति, तेषामर्धम् । ‘तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति’ ततोर्धषट्पञ्चाशत् । तदर्धेन अष्टाविंशत्याऽर्धिनस्तद्वन्तः— अपरे येषां ततोऽनन्तरं वरणमाम्नातं मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारः । तृतीयिनः तृतीयांशाः । अंशशब्दोऽर्धशब्देन समानार्थोऽर्धशब्दश्च नावश्यं समप्रविभाग एव— किञ्चिन्त्यूनोऽधिकेऽपि सामीप्येन वर्तते । तेन तृतीयो भागः षट्पञ्चाशतः षोडश गृह्यन्ते । एकैकस्य चतस्रो भवन्ति । समस्तृतीयं भागं प्रयच्छन्ति षट्पञ्चाशतस्तृतीयं च । होतुरच्छावाकोध्वर्योर्नेष्टा ब्रह्मणोग्निदुद्रातुः प्रतिहर्ता । ये च पादिनस्ते चतुर्थं भागं कर्मणः कुर्वन्तीति ‘पादिनः’ । चतुर्थे च स्थाने मैत्रावरुणस्थानान्ते । चतुर्थांशाः । द्वादशसमुदाये पूर्ववत् । एवं “तं शतेन दीक्षयन्ती”त्यत्रापि क्लृप्तिः कर्तव्या— ‘अर्धिनो दीक्षयति’ ‘पादिनो दीक्षयती’—त्येवमादिभिः शब्दैः । तत्र द्वादशक्रमविधिरेव । अन्यत्र श्रुतो व्यवहार इहापि तथैव रीत्या कृत इति ॥२१०॥

हिन्दी—सब ऋत्विजों में प्रथम मुख्य चार ऋत्विज सब दक्षिणा का आधा भाग द्वितीय चार ऋत्विज उन प्रथम चार ऋत्विजों से अर्धांश, तृतीय चार ऋत्विज तृतीयांश और चतुर्थ चार ऋत्विज चतुर्थांश दक्षिणा प्राप्त करते हैं ॥२१०॥

विमर्श—इसका स्पष्ट आशय यह है— १. होता, २. अध्वर्यु, ३. ब्रह्मा, ४. उद्गाता; ५. मैत्रावरुण, ६. प्रतिप्रस्थाता, ७. ब्राह्मणाच्छंसी, ८. प्रस्तोता, ९. अच्छावाक्, १०. नेष्टा, ११. आग्नीध्र, १२. प्रतिहर्ता, १३. ग्रावस्तुत, १४. उन्नेता १५. पोता और १६. सुब्रह्मण्य, ये १६ ऋत्विज् होते हैं। इनमें 'होता' आदि प्रथम चार मुख्य ऋत्विज् सम्पूर्ण दक्षिणा का आधा भाग अर्थात् $४८ \div ४ = १२$ गायेँ (१२ $\div ४ = ३$,) इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ३-३ गायेँ, 'मैत्रावरुण' आदि द्वितीय चार ऋत्विज् उन प्रथम चार ऋत्विजों को आधा भाग अर्थात् $४८ \div २ = २४$ गायेँ (२४ $\div ४ = ६$,) इस प्रकार ऋत्विज् ६-६ गायेँ; 'अच्छावाक्' आदि तृतीय चार ऋत्विज् प्रथम चार ऋत्विजों का तृतीय भाग (तिहाई), अर्थात् $४८ \div ३ = १६$ गायेँ (१६ $\div ४ = ४$, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ४-४ गायेँ), तथा 'ग्रावस्तुत आदि अन्तिम चार ऋत्विज् प्रथम बार ऋत्विजों का चौथा भाग (चौथाई) अर्थात् $४८ \div ४ = १२$ गायेँ (१२ $\div ४ = ३$, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ३-३ गायेँ) दक्षिणा में प्राप्त करते हैं। इसके अनुसार ($४८ + २४ + १६ + १२ = १००$ गायेँ) दक्षिणा में उन १६ ऋत्विजों को दी जाती है। यही बात 'तं शतेन दीक्षयति' इस श्रुति से भी प्रमाणित होती है। यद्यपि 'सर्वेषामर्धिनो मुख्याः' 'होता' आदि प्रथम चार मुख्य ऋत्विजों को सब दक्षिणा का आधा भाग कहने से ($१०० \div २ = ५०$) गायेँ दक्षिणा में मिलनी चाहिये तथापि ४८ संख्या को ५० संख्या के समीपवर्ती होने से आधा कहा गया है।

सम्पिलित कार्य करने पर—

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।

अनेन विधियोगेन कर्तव्यांऽशप्रकल्पना ॥२११॥

भाष्य—यथा यज्ञे यो बहूनि कर्माणि कायक्लेशकरणे विद्वत्तातिशयसाध्ये च नियुक्तो भूयसीं दक्षिणां लभते न्यूनकर्मकारी तु न्यूनां तद्वल्लौकिकेषु गृहचैत्यादिकारिषु **सम्भूय** संहत्य वर्धकस्थपतिसूत्रधारादिषु स्वसमयप्रसिद्धो यावानंशः सूत्रधारस्य यावान्स्थपतेस्त **त्रानेन विधियोगेन**। 'विधि'वैदिकोऽर्थः तत्प्रसिद्धा व्यवस्था 'विधियोगेन'वैदिक्या यज्ञगतया व्यवस्थयेत्यर्थः।

एवं नाटकादिप्रेक्षायां नर्तनगायनवादकेषु भागप्रकल्पितः। यद्यपि सर्वे विद्वांसः सर्वकर्मानुष्ठानशक्ताश्च तथापि कर्मानुरूप्येण भागो न पुरुषानुरूप्येणेति सम्भूय-समुत्थानम् ॥२११॥

हिन्दी—मिलकर काम करनेवाले मनुष्यों (कारीगरों आदि) को इसी विधि (पूर्वोक्त यज्ञ-दक्षिणा भाग के अनुसार) (विज्ञान, व्यापार, कला आदि की कुशलता का ध्यान रखते हुए) हिस्से का बटवारा कर देना चाहिये ॥२११॥

दानद्रव्य को लौटाने का नियम—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।

प्रश्नाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥२१२॥

भाष्य—यः कश्चिदाह ‘सान्तानिकोऽहं यियक्षुर्वा देहि मे किञ्चिदिति’— तस्मै यदि दत्तं भवेत्— स च न यजेत न विवाहकर्मणि प्रवर्तेत— तद्धनं द्यूतेन वेश्याभिर्वा क्षपयेदन्यत्र वा विनियुञ्जीत वृद्धिलाभकृष्यादौ— न देयं तस्य तद्भवेत् । दानप्रतिषेधो नोपपद्यते— अतः प्रत्याहरणीयमिति वाक्यार्थः ।

अथवा दत्तान्तो गौणो व्याख्येयः— दत्तं प्रतिश्रुतं न देयम् । तथा च गौतमः (५।२१) “प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्” ।

किंपुनरत्र युक्तम् ।

उभयमित्याह । दत्तस्य प्रत्याहरणं प्रतिश्रुतस्य वाऽदानम् । तथा च स्मृत्यन्तर उभयं पठितम् । आह हि नारदः (८।१०-११) “कर्त्ताहमेतत्कर्मेति” उपक्रम्य “यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तं तदपि स्मृतम्” इति । प्रयोजनविशेषोद्देशेन यद्दत्तं तस्मिन्ननिर्वर्त्यमाने व्यवस्थितमपि प्रतिग्रहीतुर्गृहादाहर्तव्यम् । दानस्योपक्रममात्रं तदानीं समर्पणं समाप्तिस्तु निर्वृत्तप्रयोजनेति नारदस्य मतम् ॥२१२॥

हिन्दी—धर्मार्थ (यज्ञादि कार्य के लिए) माँगनेवाले किसी को धन दे दिया गया हो (अथवा देने का वचन दिया गया हो) और वह धन धर्मकार्य में नहीं लगाया जाय तो दाता उस दिये गये धन को वापस ले लेवे (अथवा देने का वचन दिया हो तो मत देवे) ॥२१२॥

उक्त नियमानुसार वापस नहीं देने पर दण्ड—

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।

राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥२१३॥

भाष्य—संसाधनं राजनिवेदनादिना ऋणवत्प्रतिश्रुतस्य मार्गणं— स्वीकृतस्य प्रतियाच्यमानस्य राजनिवेदनं— अयं मह्यं दत्त्वा प्रतिजिहीर्षतीति सिद्धस्य दृढीकरणं— संसाधनमेतदेतत् ।

दर्पाल्लोभेनेति कारणानुवादः ।

एवं कुर्वतो दण्डः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिरिति । चौरदण्डमाशङ्कमानः सुवर्णं विधत्ते । अचौरशङ्कया च दत्तं किल तेन तस्मै न स्वयं हतं कथमयं चौरः स्यादिति शङ्कां निवर्तयितुं स्तेयशब्दः प्रयुक्तः । सत्यपि चौरत्वे वाचनिकः सुवर्ण-दण्डोऽन्यासु क्रियासु चौरवद्वयवहर्तव्यः ॥२१३॥

हिन्दी—यदि धर्मार्थ कहकर लिया हुआ धन वह (याचक धर्मकार्य में नहीं लगाते हुए भी) दाता को मांगने पर मद या लोभ के कारण वापस नहीं लौटावे (अर्थात् स्वीकृत धन को दाता से बलपूर्वक ग्रहण करे) तो राजा उसे चोरी के पाप की निवृत्ति (दूर करने) के लिए उसे (उक्त धन नहीं लौटानेवाले को) एक सुवर्ण (८।१३४) से दण्डित करे (और दाता को उक्त धन दिलवा ही दे) ॥२१३॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

भाष्य—पूर्वेणार्धेन पूर्वविवादोपरसंहारः । उत्तरेण वक्ष्यमाणोपक्रमः । **दत्तस्यैषाऽनपक्रियोदिता** । 'अपक्रिया' क्रियापायः । तस्य नञा प्रतिषेधः । दानमेवं न चलितं भवति— एषैव दाने स्थितिरिति यावत् । धर्मादनपेता **धर्म्या** ।

कथं प्रतिश्रुत्यादीयमाने धर्मो न नश्यतीति नैषा शङ्का कर्तव्या । एष एवात्र धर्मो यत्र दीयते दत्तं च प्रत्यादीयते । **उदिता** उक्ता । **यथावच्छब्द**समुदाय **एव** याथातथ्ये वर्तते । सम्यङ्निरूपितेत्यर्थः । अथवा यथाशब्दो योग्यतायां वर्तते— तामर्हतीति वतिः कर्तव्यः ।

वेतनं भृतिः— तस्यानपक्रिया । वेतनेन स्वकर्म कुर्वतां यो धर्मः स इदानीमुच्यत इति प्रतिज्ञा ॥२१४॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषिओं से कहते हैं कि—) दिये गये धन को नहीं लौटाने पर यह धर्मयुक्त विधान कहा, इसके बाद वेतन नहीं देने पर विधान को मैं कहूँगा ॥२१४॥

स्वस्थ कर्मचारी को काम नहीं करने पर दण्ड—

भृतो ऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।

स दण्ड्यः कृष्णालान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

भाष्य—उद्दिष्टेन मूल्येनोद्दिष्टं कर्म करोति स इह भृतोऽभिप्रेतः, भृत्यकर्मविशेषेण स्वीकृतो भृत्यः— देहि मे पञ्चरूपकाणीदं ते कर्म कर्ताऽस्मीयता कालेनेत्याभाष्य प्रविष्टः । स चेत्कर्म न समापयति— **कृष्णालानि** सौवर्णानि ताम्ररजतयोर्वा कर्मस्वरूप-मनुबन्धादि च ज्ञात्वा दण्ड्यते । तानि च रूपकाणि वेतनार्थं कल्पितानि न लभेत । **यद्यनार्तोदर्पान्न** करोति यथोदितं कर्म । व्याध्यादिनाऽपीडितस्य दर्पादकुर्वतो भृतिहानिर्दण्डनं च । अतः स एवं वक्तुं न लभते— यावन्मया कर्माशः कृतस्तदानुरूप्येण देहीति ।

ऋत्विजामप्येव दण्डं केचिदिच्छन्ति स्वेच्छया त्यजताम् । तदयुक्तम् । अत्र हि महाननर्थो यजमानस्य सामिकृत्ये यजमानेऽतो दण्डो महानत्र युक्तः— यजमानस्य च यन्नष्टं तद्वापनीयाः— दीक्षोपसद्देवव्रतैः शरीरापचये समुत्थातव्यम् ।

अन्यो यः शिल्पी कंचनकर्मणि प्रवर्तयति तडागखनने देवस्य गृहकरणे ‘अहं ते समापयिता प्रवर्तस्वेति’ — पश्चाच्चापसरेत्तेन स्वामिनः क्षयव्ययायासाः सर्वे संवोढव्या भाण्डवाहवणिग्न्यायेन । एष हि न्यायः कात्यायनेन सर्वत्रातिदिष्टः । भाण्डवाहकदोषेण वणिजो यदि द्रव्यं नश्येत्तद्भाण्डवाहको वहेत् । “यो वाऽन्यः कस्यचित्कर्मणि धनमा-
बध्यार्धतो निवर्तेतेति” कात्यायनीये सूत्रे धनमाबध्याऽऽसज्य धनव्ययं कारयित्वा यद्यर्द्धकृते निवर्तेत सोऽपि तद्वहेदित्यनुषङ्गः । एवं योऽपि षाण्मास्यः सांवत्सरो वा यथोपपादककर्मकारी भक्तदासस्तस्याप्येष एव न्यायः । आह च नारदः (६।५) —

“कर्मकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्त्वा भृतिं बलात् ।

भृतिंगृहीत्वाऽकुर्वाणो द्विगुणं भृतिमावहेत् ॥

कालेऽपूर्णे त्यजन्कर्म भृतिनाशनमर्हति” ॥२१५॥

अनार्तस्य दण्ड उक्तो भृतिहरणं च । आर्तस्येदानीमुच्यते —

हिन्दी — वेतन पानेवाला जो कर्मचारी स्वस्थ रहता हुआ भी कहने के अनुसार काम नहीं करे तो राजा उसे आठ कृष्णाल (रत्ती) सुवर्ण आदि से दण्डित कर और उसका वेतन नहीं दिलवावे ॥२१५॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।

स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥

भाष्य — आर्तो भृतोऽर्द्धकृतं कर्म यदि हित्वा गच्छेत्स स्वस्थः सन्पुनरागत्य यथोक्तमादौ तत्कुर्यात् । बहुनाऽपि कालेन पीडया मुक्तः प्रत्यागतः कृतकर्मशेषे लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥

हिन्दी — वेतन पानेवाले जो कर्मचारी रोगी रहता हुआ काम नहीं करे तथा पुनः स्वस्थ होकर कहने के अनुसार करने लगे तो वह बहुत समय के बाद भी आरम्भ से वेतन पाता है ॥२१६॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।

न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥२१७॥

भाष्य — अथवा स्वामी न वारयति, येन च तत्कर्म कारितं स्यात्स्वां भृतिं दत्त्वा तदा तत्सममसौ स्वस्थः कारयितव्यः । अथापि स्वामी ब्रूयान्न मे किञ्चित्कर्तव्यमस्तीति — तत्रापि कृतानुरूपेण लभेतैव यथोक्तमात्रम् ॥२१७॥

हिन्दी — जो कर्मचारी कहे हुए काम को स्वयं रोगी होकर दूसरे से नहीं करावे तथा स्वस्थ होकर स्वयं भी नहीं करे तो वह कुछ किये गये काम का भी वेतन नहीं पाता है ॥२१७॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्म समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

भाष्य—वेतनादानकर्मण इति विवादपरस्यास्य नामधेयमेवमेतत् । तेन न चोद्यमेतत्— कथं वेतनस्यादानकर्मोक्तं यावता दानकर्माप्युक्तं “न लभेतैव वेतनम्” इति । नाम्नो हि येन केनचिदन्वितेन सम्बन्धिना नामता न विरुद्धा । न हि यावन्तः सूत्रार्थास्ते सर्वे प्रवर्तन्ते तथा चाग्निहोत्रे यद्यप्यग्निप्रजापत्योर्होमस्तथाप्यग्निहोत्रमिति नाम प्रवर्तत एव । तदुक्तं तत्रैवं स्थूणादर्शे या च समा नीचा स्यादिति ।

समयः संवित् सङ्केतः— इदं मया भवतामनुमते निश्चितं कर्तव्यमित्यभ्युपगमः । तं भिन्दन्ति व्यतिक्रामन्ति ते **समयभेदिनः** । “संविदश्च व्यतिक्रमः” (८।५) इति यदुद्दिष्टं तदिदानीमुच्यते ।

पूर्वेणाद्धेन पूर्वप्रकरणोपसंहारोऽपरेण यथोद्दिष्टप्रकरणांतरसूचनम् ॥ २१८ ॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि— वेतन लेकर काम करने वालों का यह (८।२१५-२१७) सम्पूर्ण धर्म मैंने कहा, अब आगे समय भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालों का धर्म (दण्डादि की व्यवस्था) कहता हूँ ॥ २१८ ॥

समय (शर्त) भंग करने पर दण्ड—

यो ग्रामदेशसंधानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।

विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

भाष्य—शालासमुदायो **ग्रामः** । तन्निवासिनो मनुष्या गृह्यन्ते । तेषामेव संविदः सम्भवात् । एवं ग्रामसमुदायो **देशसंघ** एकधर्मानुगतानां नानादेशवासिनां नानाजातीयानामपि प्राणिनां समूहः । यथा भिक्षूणां संघो वणिजां संघश्चातुर्विद्यानां संघ इति । ग्रामादीनां यत्कार्यं— यथा ‘पारग्रामिकैर्ग्रामो नोऽपहतप्रायः अस्माकीने गोप्रचारे गाश्चारयन्ति उदकं च भित्त्वा नयन्ति । तद्यदि वो मतं तदद्य एतदेषां कर्तुं न दद्यः । एवं नः प्रतिवन्धतां यदि तैः सह दण्डादण्डिर्भवति राजकुले वा व्यवहारस्तत्र सर्वे वयमेककार्याः । नो चेदुपेक्षामहे’ । तत्र ये संविदते— ‘वाढम्— किमिति प्राक्तनी ग्रामस्थितिस्तैर्व्यतिक्रम्यते’ इत्येवं प्रोत्साह्य विसंवदेद्वलात्तैरेव सह सङ्गच्छेत स्वेषु वा नाभ्यन्तरः स्यात्— स राज्ञा स्वराष्ट्रान्निर्वासयितव्यो निष्कासयितव्यः । स्वविषयेऽस्य वस्तुं न देयम् ।

एवं वणिङ्मठब्राह्मणादिकार्ये ईदृशे कृतसंवित्तेन नातिक्रमितव्यम् । यत्कार्यं ग्रामाद्युपकारकं शास्त्राचारप्रसिद्धं पुरराष्ट्राविरोधि तत्संविद्व्यतिक्रमे दण्डोऽयम् ।

लोभादिति स्वेनोपकारगन्धेन परग्रामणीकृतेनास्वातन्त्र्यं ‘लोभः’ । अज्ञानात् **विसम्बदमानस्यान्यः कल्पः** ॥ २१९ ॥

हिन्दी—ग्रामवासी, देशवासी या व्यापारी आदि के समुदाय (कम्पनी आदि) का जो व्यक्ति सत्यादि के शपथपूर्वक किये गये समय (‘यह काम मैं इतने दिनों में पूरा करूँगा’ इत्यादि रूप में शर्त-ठेका) को लोभ आदि के कारण भंग करे; उसे देश से निकाल दे ॥२१९॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।

चतुःसुवर्णान् षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥२२०॥

भाष्य—निगृह्यावष्टभ्य पीडयित्वा काललाभमकारयित्वा दण्ड्यः चत्वारि सुवर्णानि येषां निष्काणां परिमाणं ते चतुःसुवर्णा निष्काः । यद्यपि चतुःसुवर्णिको निष्क इत्यत्रोक्तं (१३७) तथापि शास्त्रान्तरात् “साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्महाधियः” इत्येवमादि-परिमाणान्तरं पश्यन् विशिनष्टि । “संज्ञाकारणसामर्थ्यादेव लभ्यत” इति चेत् पद्यग्रन्थ-त्वात्त दोषः ।

अन्ये तु सहाय्ये बहुव्रीहिं कृत्वा त्रीन् दण्डानाहुः । चतुर्भिः सुवर्णैः सह षण्णिष्कान् दण्डनीयः । दश निष्काः प्रतिपादिता भवन्ति ।

बहुव्रीहिसिद्ध्यर्थं सहाय्ये कथंचिन्मत्वर्थो योजितव्यः । न हि चित्राभिर्गोभिः सहितश्चित्रगुर्देवदत्त इति भवति । एते च त्रयो दण्डा यदि च त्रिभिरेक इति कार्यापेक्षया योजनम् ।

निर्वासनदण्डेन विकल्प्यते दण्डोऽयम् ॥२२०॥

हिन्दी—अथवा उक्त समय भंग करने (शर्त तोड़ने) वाले को राजा निग्रहकर उससे चार ‘सुवर्ण’ (८।१३४) ‘छः निष्क’ (८।१३७) या ‘शतमान’ (८।१३७) अर्थात् ३२० रत्ती चाँदी का दण्ड (जुर्माना) दिलावे ॥२२०॥

विमर्श—इस तीन प्रकार के दण्डों से अपराध के अनुसार पृथक्-पृथक् या सम्मिलित तीनों दण्डों से राजा अपराधी को दण्डित करे ॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्भार्षिकः पृथिवीपतिः ।

ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणम् ॥२२१॥

भाष्य—जातिसमूहेषु च नानाजातीयानां समानजातीयानां वा संघेषु तद्विषयो व्यभिचारो येषामित्यर्थः ।

प्रकरणोपसंहारः ॥२२१॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि—) धर्मात्मा राजा ग्राम या जाति समूह में समय भंग करने (शर्त तोड़ने) वालों के लिए यह (८।२१९-२२०) दण्ड विधान करे ॥२२१॥

क्रय-विक्रय करने पर मूल्य वापस लेना या देना—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।

सोऽन्तर्दशाहात्तदद्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥२२२॥

भाष्य—यदद्रव्यं प्रचुरक्रयविक्रयं व्यवहारकाले न गच्छति न नश्यति मूल्यतश्च नापचीयते त्रपुताप्रभाण्डादि स्थिरार्थं तादृशस्यानुपभुक्तस्य दशाहमध्ये आदानप्रत्यर्पणे । यत्तु विरलक्रयविक्रयं देवयात्रोत्सवादौ विक्रीयते अनियतार्थं च तस्य तदहरपरेद्युर्वा । फलकुसुमादौ तु तत्क्षण एवानुशयः । पश्चादपि— ‘क्रीत्वा यस्यानुशयो न ममैतदुपयुज्यते’ स दशाहमध्ये दद्यात् । विक्रेता प्रतिगृह्णीयात् । विक्रेतुरनुशये— ‘न भया साधु कृतं यद्विक्रीतमिति’— क्रेता तस्मै प्रतिपादयितव्यः ।

एकस्थानवासिनां चैष कालः । देशान्तरवासिनां तात्कालिकी प्रतिनिवृत्तिः ।

केचिद्भूम्यादिविषयं विधिमिममिच्छन्ति, न वस्त्रादौ ।

स्मृत्यन्तरे हि वणिक्पण्येऽन्यो विधिराम्नायते । एवं हि नारदः पठति (९।२-३)
“क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं दुष्क्रीतमिति मन्यते ।

विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्वयविक्षतम्” ।

“द्वितीयेऽहि ददत्क्रेता मूल्यात्त्र्यंशांशमावहेत् ।

द्विगुणं तत्तृतीयेऽहि परतः क्रेतुरेव तत् ॥” इति

विक्रयार्थं यदद्रव्यं तत् ‘पण्यं’ यद्विक्रीय तदुत्पन्नेन द्रव्यान्तरक्रयादिना पुरुषो व्यवहरति जीविकाधनमर्जयितुं— तथा पणभूमौ प्रसारितमप्रसारितं च भवति वणिजाम् । तत्रेह पण्यग्रहणात्कश्चिद्विशेषो विवक्षितः । इतरथा क्रीत्वा मूल्येन इत्येतावदपेक्ष्यम् । कः पुनरसौ विशेषः? उच्यते । यत्क्रीतमपि पण्यत्वमजहद्वणिग्भिर्विक्रीयते तर्हि विक्रयार्थमेव क्रीणन्ति । तेषां वणिजामितरेतरं क्रीणतां विक्रीणतां च नारदीयो विधिः, अन्येषां मानव इति केचित् । किं पुनरत्र युक्तम् । पण्यधर्मादेर्व्यवस्था वाऽनुसरणीया । तथा चाश्वानां बलसञ्चारो हस्तिनामङ्कुशारोहणं विक्रयविभावकमित्यादिना व्यवहारस्तेषु पण्येषु सिद्धो भवति । ‘अविक्षत’मविनष्टमुपनिध्यादौ वस्त्रादेर्यावन्नात्र नाशस्तावतो मूल्य-मुपनिधात्रे दीयते, द्रव्यं तु गृह्णाति । इह त्वीषन्नाशेऽपि सर्वं मूल्यं देयं क्रेतुः ॥२२२॥

हिन्दी—कोई वस्तु (शीघ्र नष्ट होनेवाली अचल सम्पत्ति या बहुत समय बाद नष्ट होनेवाली भूमि, घर, बगीचा आदि अचल सम्पत्ति) खरीदकर या बेचकर जिसको पश्चात्ताप होने लगे तो वह दश दिन के भीतर (यदि सामान खरीदा हो तो) वापस कर दे तथा (यदि बेचा हो तो) वापस ले ले ॥२२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।

आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यौ शतानि षट् ॥२२३॥

भाष्य—दशाहात्परतो न क्रीतानुशयः । जातानुशयश्चापि क्रेता विक्रेता वा यदि राजनि विवदतां तौ ततः षट् शतानि दण्ड्यौ ।

न दद्यादिति नायमदृष्टार्थः प्रतिषेधः । किं तर्हि ज्ञायते । स्थितिरीदृशी । अनिच्छन्क्रेता दशाहादूर्ध्वं न त्याजनीयो नापि विक्रेता ग्राहयितव्यः । अतश्च यदि साम्नोभयेच्छायां दानादाने स्यातां तत्र न कश्चिदोषः ॥२२३॥

हिन्दी—दश दिन के बाद तो (खरीदी हुई वस्तु को) नहीं वापस दे और बेची (हुई वस्तु को राजा) नहीं वापस दिलवावे । (बेची हुई वस्तु को) बलात्कार से लेता हुआ और खरीदी हुई वस्तु को) देता हुआ ६० पण (८।१३६) से राजा द्वारा दण्डनीय होता है ॥२२३॥

बिना कहे दोषयुक्त कन्या का दान करने पर दण्ड—

[स्याच्चतुर्विंशतिपणे दण्डस्तस्य व्यतिक्रमे ।

पणस्य दशमे भागे दाप्यः स्यादतिपातिनि ॥१६॥

क्रीत्वा विक्रीय वा पण्यमगृह्णन्न ददतस्तथा ।

पणा द्वादश दाप्यश्च मनुष्याणां च वत्सरान् ॥१७॥

पणा द्वादश दाप्यः स्यात्प्रतिबोधे न चेद्भवेत् ।

पशूनामप्यनाख्याने विपदादर्पणं भवेत् ॥१८॥]

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।

तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्डवतिं पणान् ॥२२४॥

भाष्य—या कन्या दोषैर्युक्ता सा च दात्रा वराय नाख्यायते न प्रकाशयत एवमेव दीयते तत्र दातुर्दण्डो विदिते राज्ञा कार्यः । स्वयंग्रहणमादरार्थम् । कन्यादोषाश्च धर्म-प्रजासामर्थ्यविधातहेतवः क्षयो व्याधिर्मैथुनसम्बन्धश्च ।

नोन्मत्ताया इत्येतत्प्रकरणोक्तो दण्डोऽयं वा ॥२२४॥

हिन्दी—जो दोषयुक्त कन्या के दोष को नहीं कहकर उस कन्या का दान कर दे अर्थात् उसके साथ विवाह करा दे, राजा उसको स्वयं ९६ पण (८।१३६) दण्डित करे ॥२२४॥

कन्या के असत्य दोष कहने पर दण्ड—

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः ।

स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥२२५॥

भाष्य—अकन्या वृत्तमैथुनसम्बन्धेति यो वदेत्तं च दोषं न भावयेत्तदा शतं कार्षापणं दण्ड्यः ।

अन्ये मन्यन्तेऽल्पत्वादण्डस्य महत्वाच्चाक्रोशस्येतिकरणस्य च पदार्थविपर्यया-
शक्तत्वेन दर्शनादकन्येति शब्दस्वरूपं विवक्षितम् । अकन्येयमित्येतेनैव शब्देनाक्रोशे
तस्य शतं दण्डः । कः पुनरत्र विशेषः ? उच्यते । स इदंवादी पृच्छ्यते— कथमि-
यमकन्येति । स चेद्ब्रूयान्निर्लज्जा नृशंसाऽश्लोलवादिनी— नैष कन्यानां धर्मः । एतच्च
न साधयेत्तदाऽयं दण्डः कन्यागुणनिषेध उक्ते सति । अथवा कन्याशब्दं प्रथमवयो-
वचनमाश्रित्य परोक्षे प्रार्थयमानस्य ब्रूयात्किंतावन्नासौ कन्या अतिस्वल्पा वृद्धा वा— तत्र
कन्यादाता यदि राजानं ज्ञापयेदभिरूपतमा कन्या मदीया प्रार्थ्यमानाऽनेन तस्याम-
भिलाषः एवमुक्त्वाऽथ पराजितः, तत्र प्राप्तकालायां यद्येवमुक्तं तदा पराजितस्यायं
दण्डः ॥२२५॥

हिन्दी—जो मनुष्य द्वेष से कन्या को 'यह कन्या नहीं है' अर्थात् क्षतयोनि हो गयी
है ऐसा कहे, (और पूछने पर) वह उस कन्या का दोष नहीं प्रमाणित करे तब उसको
राजा सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥२२५॥

दोषयुक्त कन्या की निन्दा—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।

नाकन्यासु क्वचिन्मृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥२२६॥

भाष्य—'पाणिग्रहणं' विवाहो दारकर्म, मन्त्राणां तत्र विद्यमानत्वात् । तत्र विद्य-
मानत्वात्सचाग्रिमयक्षतेत्येताभ्यां सम्बन्धेनासां विवाहे कर्तृत्वं दर्शयति । परमार्थतस्तु
विवाहविधौ कन्यामुपयच्छेदिति विहितं,— तादृशमेवार्थं मन्त्रा अभिवदन्ति । न पुन-
र्मन्त्रेषु कन्याशब्दश्रवणात्कन्यानां विवाहः, मन्त्राणामविधायकत्वात् । एष एवार्थः-
स्तद्विपरीतप्रतिषेधमुखेन दृढीक्रियते । **न कन्यासु क्वचिन्मृणाम्** । न कस्यांचिद्वेदशाखायां
मनुष्याणामकन्याविषयो विवाहः श्रुतः । **लुप्तक्रियाः—** यासां धर्मेऽग्निहोत्रादाव-
पत्योत्पादनविधौ चाधिकारो नास्त्यतस्ता न विवाह्याः ।

अतः कन्यामकन्येति वदन्महता दण्डेन योजनीय इति पूर्वश्लोकादनन्तरमुच्यते ।

अप्राप्तमैथुना स्त्री कन्योच्यते ॥२२६॥

हिन्दी—विवाह-सम्बन्धी मन्त्र कन्याओं के ही विषय में नियत हैं, अकन्याओं के
(क्षतयोनि होने से दूषित कन्याओं) के विषय में कहीं (किसी शास्त्रों में) भी नहीं, क्योंकि
वे (दूषित कन्याएँ) धर्म कार्य से हीन हैं ॥२२६॥

विमर्श—दूषित कन्या का विवाह मन्त्रों से करने पर भी वह विवाह धर्म युक्त नहीं

माना जाता है । गान्धर्व विवाह (३।३२) में हवन, मन्त्रादि का विधान शास्त्र-सम्मत माना गया है और क्षतयोनि पूर्वक भी होनेवाले उस विवाह को मनु ने क्षत्रिय के लिए धार्मिक विवाह माना है (३।२३, २५, २६); अतएव ‘सामान्य विशेष’ न्याय से क्षतयोनि-विषयक यह अधार्मिक विवाह सम्बन्धी वचन दूसरे के लिए है ॥

सप्तपदी—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

भाष्य—दारा भार्या, तस्या लक्षणं निमित्तं विवाहमन्त्राः, तैस्तत्र प्रयुक्तैर्विवाहाख्यः संस्कारो निर्वर्तते । द्विजातीनां पुनर्मन्त्राः । न च शूद्रस्यादारप्रसङ्गः, न हि तस्य मन्त्राः सन्ति— मन्त्रवर्जं सर्वान्येतिकर्तव्यतास्ति । अतो विवाहाख्यसंस्कारोपलक्षणं मन्त्राः । तेषां मन्त्राणां निष्ठा समाप्तिः सप्तमे पदे विज्ञेया । लाजाहोममभिनिर्वर्त्य त्रिःप्रदक्षिणमग्निमावर्त्य सप्तपदानि स्त्री प्रक्रम्यते “एष एकपदी भव” इत्यादि यावत् “सखा सप्तपदी भवेति” । तस्मिन्नक्रान्ते कन्यायाः पदे कन्यापितुर्वोदुर्वानुशयो नास्ति । उन्मादवत्यपि भार्यैव । न त्याज्या ।

मैथुनवत्यास्तु नैवासौ विवाहः । सत्यपि लाजाहोमादावितिकर्तव्यतास्वरूपे न भार्या सा । अतस्तत्र द्रव्यान्तरवदनुशयः । यथा च शूद्रकर्तृकेणाधानेनाहवनीयो न भवति— सपिण्डायाश्च कृतेऽप्यग्निसंस्कारे न विवाहस्वरूपत्वम् । तत्र तु प्रसिद्धम्— “संस्कारकरणादेकः प्रायश्चितीयते पुमान्” । कन्या चान्यभ्याप्यविवाह्या वसिष्ठवचनात् ।

“यदि प्रजनविघातरोगगृहीतामूढ्वा न त्यजति का तर्हि गतिः ।”

‘सत्यधिकारे अन्यामुद्वाहयिष्यति । ‘सद्यस्त्वप्रियवादिनीति’वत् (९।८१) । कृते तु जातपुत्रायामाधाने यदि क्षयो व्याधिः स्यात्तथापि नैनामधिविन्देदधिवेदननिमित्तानां परिगणनात् (९।७७-८५) । तत्रापि यदि “कामतस्तु प्रवृत्तानाम्” इत्येतत्प्रयोजकमिष्यते न निवारयामः ।

तेनैव संक्षेपतः कन्यायां धर्मः । यथाऽन्येषां द्रव्याणां दशाहादूर्ध्वमपि साम्नाप्रत्यर्पणं, नैवं कन्यानां कृतविवाहानाम् । शुल्कदेयानामपि प्राग्विवाहाद्द्रव्यान्तरधर्मः । या तु धर्माय दीयते तस्या नैवानुशय इति वचनात् । तत्रापि “दत्तामपि हरेत्कन्यां ज्यायांश्चेद्वर आब्रजेत्” (याज्ञ० १।६५) इत्यस्त्येवापहार आ सप्तमपदात् ।

सप्तमे तु पदे दानानिवृत्तेर्वादिद्रव्यदानवन्नास्त्यपहारः । अथैव केनचित्कस्मै-चिद्वि दत्तायां न तयोरन्योन्येच्छयाऽनुशयो दानादाने— दानस्य तदानीमेव निर्वृत्तत्वात् । प्रतिगृहीतं चेद्वात्रे पुनः प्रयच्छेत्तद्दानान्तरमेव तत्स्यात्, न पूर्वदाननिवृत्तिः । एवं

सगुणरोगेः कन्यावरयोर्नान्योप्येच्छया त्यागोऽस्ति, प्रागपि विवाहात् । विवाहे तु कृते दोषवत्या अपि नास्ति त्यागः कन्यायाः । स्पृष्टमैथुना, या कन्यैव न भवति, अतोऽसौ त्यज्यते— कन्याया यतो विवाहो विहितः । विवाहश्चोपभोगस्थानीयः । यथा परिभुक्तं वस्त्रमन्तर्दशाहमपि नैव विक्रेत्रेऽर्प्यते तथैव कन्या कृतविवाहा ।

पुनश्चायमर्थो निर्णेष्यते “सकृत्कन्या प्रदीयत” इत्यत्रान्तरे (९।४७) ॥२२७॥

हिन्दी—विवाह-सम्बन्धी मन्त्र भार्यात्व (सहधर्मिणपन) में निश्चित रूप से कारण हैं, उन (विवाह सम्बन्धी मन्त्रों) की सिद्धि विद्वानों को सप्तपदी होने पर जाननी चाहिये ॥२२७॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।

तमनेन विधानेन धर्म्यं पथि निवेशयेत् ॥२२८॥

भाष्य—न केवलं वणिजां पण्यधर्मोऽयं दशाहिकोऽनुशयः, किं तर्हि, वेतन-संविद्वृद्धिप्रयोगादिषु यस्मिन्यस्मिन्निति वीप्सयाऽशेषकार्यपरिग्रहः अनेन विधानेन दशाहिकेन विधिना । धर्मादनपेतो धर्म्यः । पन्था मार्गः । निवेशयेत्स्थापयेद्राजा, अतिदेशोऽयम् । कृते कार्य इति प्रक्रान्ते पुनः सर्वेण सर्वनिवृत्तेस्तत्रानुशयाभावः । वाचा निरूपिते स्थापिते वाऽन्तरेऽनुशय्य दशाहप्रतीक्षणम् । यत्र पुनर्वृद्ध्यर्थं धनं नीत-मृत्विक् च वृतो वेतनं च दत्तं— कृतसमये विरोध आरब्धस्तत्र नायं धर्म इति केचित् । न हि कृतमकृतं भवति । एतच्च न कृतं ‘कृतं’ निवृत्तमुच्यते, न प्रक्रान्तम् । न ह्ययं “आदिकर्मणि क्तः” । न हि मुख्यार्थत्यागे कारणमस्ति । यत्तु कृतं नाकृतं भवतीति कृतमपि तत्साध्यकार्यप्रतिषेधादकृतमेव । यथा भुक्तं वांतमिति । लौकिकेष्वपि पदार्थेषु शास्त्रावसेयव्यवस्थाकेषु शास्त्रत एव निवृत्त्यनिवृत्ती विज्ञेये । अथापि वृत्ताः पदार्था-स्तथापि प्रत्याहरणं विधीयते । निष्पन्नेऽपि धनप्रयोगे स्वस्थाननीतेष्वपि रूपकेषु प्रत्या-नयनं कर्तव्यमन्यतरानुशयात् । क्षयव्ययाः शास्त्रधर्मेण नीतेषु वोढव्याः । तथा च गृहीतमात्रेषु मासिकीं वृद्धिमिच्छन्ति । यत्रैवं बन्ध एष भोक्तव्य इयन्तं कालमित्येव-माद्यन्तर्दशाहमनुशये निवर्त्यते । ऋत्विजां तु वरणं विवाह इव कन्यानाम् । संविदे दशाहादूर्ध्वं प्रवर्तितव्यमन्यस्मिन् शास्त्रे सति ॥२२८॥

हिन्दी—जिस-जिस कार्य को करने के बाद मनुष्य को पश्चाताप हो, उस-उस कार्य में इसी प्रकार (दश दिनों के भीतर— ८।२२२) धर्म युक्त मार्ग में राजा उसे स्थापित करे ॥२२८॥

पशु के स्वामी तथा रक्षक का विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।

विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥२२९॥

भाष्य—गवादिपशुविषये व्यतिक्रमे स्वामिनां पालानां च गोपालादीनां यो विवादः— ‘गौस्त्वया मे नाशिता तां मे देहीति’— पालोऽपि विप्रतिपद्यते— ‘मदीयो दोषो नाभवत्’— इत्यत्र वादपदे यद्धर्मतत्त्वं यादृशी व्यवस्था तां यथावन्निपुणतो वक्ष्यामीत्यवधानार्थः पिण्डीकृतप्रकरणोपन्यासः ॥२२९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि ऋषियों से कहते हैं कि—) अब मैं पशुओं के मालिकों तथा रक्षकों (रखवाली करनेवालों या चरवाहों) में मतभेद होने पर धर्म-तत्त्व के अनुसार यथोचित व्यवहार (मतभेद दूर करने के मार्ग) को कहूँगा ॥२२९॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥२३०॥

भाष्य—दिवा पशूनां योगक्षेमे दोष उत्पन्ने ‘नष्टं विनष्टम्’ इत्यादिके वक्ष्यमाणे— पाले वक्तव्यता कुत्सनीयता । तेन स दोषो निवोढव्यः । रात्रौ स्वामिनो दोष उद्धन्धनादिमृतानाम् । तद्गृहे स्वामिगृहे यदि पालेन प्रवेशिता भवन्ति । अन्यथा चेत्तु— यदि रात्रावपि पालेन न प्रवेशिता अरण्य एव वर्तते तदा पालो दोषभाक् स्यात् । एतदुक्तं भवति । पालहस्तगता गावो यदा क्षेत्रे कस्यचित्सस्यं भक्षयन्ति केनचिद्वा हन्यन्ते तदा पालस्य, अथ पालेन समर्पितास्तदा स्वामिनः । अयोगक्षेमे योगक्षेमशब्दः प्रयुक्तो लक्षणया— यथाऽन्ये चक्षुष्मानिति ॥२३०॥

कोऽसौ योगक्षेमः । अतः प्रपञ्चयति—

हिन्दी—स्वामी द्वारा (रखवालों को सौंपे गये पशुओं के योगक्षेम की निन्दा दिन में रखवालों की तथा रखवालों द्वारा स्वामी को घर में सौंपे गये पशुओं के योगक्षेम की निन्दा रात में स्वामी की होती है, अन्यथा (स्वामी के घर में पशु रखवालों द्वारा नहीं सौंपे गये हों अर्थात् रखवालों के जिम्मे ही रात में भी वे पशु हों तब) उनके योगक्षेम की निन्दा रखवालों की ही होती है ॥२३०॥

विमर्श—यहाँ ‘योगक्षेम’ शब्द का अभिप्राय यह है कि— रखवालों के प्रमाद से पशुओं को अथवा पशुओं द्वारा किसी के खेत आदि के चरने से किसी दूसरे व्यक्ति को कोई हानि नहीं पहुँचे । स्वामी या रखवाले की निन्दा होने का तात्पर्य पूर्वोक्त हानि होने पर वे दोषी समझे जाते हैं ।

दुग्ध वेतन का निर्णय—

गोषः क्षीरभृतो यस्तु स दुग्धादशतोवराम् ।

गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥२३१॥

भाष्य—गाः पाति गोपः गोपालकः । स कदाचिद्भक्तादिनाभ्रियतेकदाचित्क्षीरेण ।

तत्र क्षीरभृतोदशभ्यो वराम् श्रेष्ठाम्, अवरं वा— संहितायामकारप्रश्लेषात् । रक्षाया-
मनुरूपकता । यस्य नान्यदन्नं स एकस्या गोः क्षीरमादद्यात् दशतः । अनया कल्पनया
न्यूनाधिकरक्षणे भृतिः कल्पयितव्या । एवं दोह्यादोह्यधेनुवत्सतरीदम्यवत्सकादि-
वारणे क्वचित्त्रिभागः क्षीरस्य क्वचिच्चतुर्भागः स्वामिभिः कल्पयितव्यः ।

दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थश्लोकोऽयम् । देशव्यवस्था त्वाश्रयणीया । भृतिं निरूपयि-
ष्यामीति ग्रामगोपालेन यदि गावस्त्यक्ता भवन्ति न तेन स्वामिनमननुज्ञाप्य दशमी
गौर्दोह्येति ।

भक्तभृतोऽपि 'क्षीरेण विनिमयेयमिति' बुद्ध्या दुहीत— तन्निवृत्यर्थमुक्तं गोस्वा-
म्यनुमत इति । स्वामिनोऽनुमतिमन्तरेण प्रवर्त्तमानो दण्ड्यः ।

सा— अनन्तरोक्ता । अभृते भक्तादिना— भृतिर्भवेत् । क्षीरभृतो वा एषा
वृत्तिः । 'भृत्यो' भरणार्थं न धर्माय प्रवृत्ती गोरक्षायाम् ।

अथवा स्वेच्छया दशम्या गोः क्षीरमाददानश्चोरः स्यात् । अस्मिंस्त्वनुज्ञाते
भृतिस्तस्येयमिति न दोषः ।

अत्रापि स्वामिनोऽननुमत्या दोष एवेति चेत्सत्यम्— कल्प्या काचिद्दंडमात्रा न
चौरौ भवति । अस्मिंस्तु चौरौ निक्षेपहारी वा स्यात् ।

अयं श्लोक आदौ वक्तव्यः । अतोऽनन्तरः क्वचित्पठ्यते ॥२३१॥

हिन्दी—जो गोरक्षक गायों के स्वामी से वेतन के स्थान में धन नहीं लेकर दूध
लेता हो वह दश गायों में एक अच्छी गौ चुनकर वेतन के बदले उसी का दूध
लिया करे ॥२३१॥

विमर्श—ऐसे गोरक्षक (रखवाले) को वेतन के बदले दश गायों में से इच्छानुसार
चुनी हुई श्रेष्ठ गौ का केवल दूध ही मिलता है, अन्न या रुपया-पैसा नहीं मिलता । इस
प्रकार एक गाय के दूध लेने से दश गायों की रखवाली करने का उत्तरदायित्व उस पर
रहता है ।

पशु के नष्ट होने पर दण्ड—

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषये मृतम् ।

हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥२३२॥

भाष्य—नष्टं दृष्टिपथादपेतं न ज्ञायते क्व गतम् । विनष्टं कृमिभिः । आरोहक-
नामानः कृमयो गवां प्रजनवर्त्मनाऽनुप्रविश्य नाशयन्ति । श्वभिर्हतम् । प्रदर्शनार्थ-
मेतत् । तेन गोमायुव्याघ्रादिहतानामेषैव स्थितिः । विषये श्वभ्रदरीशिलादिसंकटादौ
मृतम् । प्रदद्यात्पाल एव । हीनं पुरुषकारेण । 'पुरुषकारः' पुरुषव्यापारः । पालस्य

तत्र संनिधानात् वृकनिवारणं च दण्डादिना प्रवृत्तिः । तेनापेतम् । यदि व्याप्रियमाणो व्याघ्रादेर्निवारणे नैव समर्थः— सहसैव वोत्पत्य कश्चित् पशुर्वेगेन श्वभ्रं गच्छेदनु-
गच्छताऽपि न शक्यः प्रत्यावर्तयितुं— न पाले दोषः ॥२३२॥

हिन्दी—यदि कोई पशु भूल जाय, कृमि आदि से; कुत्ते के काटने से, ऊँचे-नीचे स्थान या मार्ग में गिरने से या फँसने से मर जाय, अथवा रखवाले की (उपेक्षा-जन्य) पुरुषार्थ-शून्यता से मर या भाग जाय तो उस पशु का देनदार रखवाला ही होता है ॥२३२॥

पशु का अपहरण होने पर—

विघुष्य तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।

यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥२३३॥

भाष्य—विघुष्याऽऽघुष्य पटहान् चौरैर्हतं पशुं पालो न दाप्यते । विघोषणं च पालस्याशक्त्युपलक्षणार्थम् । यदि बहवश्चोराः प्रसह्य च मुष्णन्ति तदा पालो मुच्यते । सोऽपि यदि प्राप्तकालं तस्यामेव वेलायां स्वामिनः कथयति । देशे यत्र स्वामी संनिहितः ।

“कथं विज्ञातस्तत्र अथवा निवासदेशे स्वामिनः ।” तत्र यद्यसावसंनिहितोऽपि भवति तथापि तत्स्थानीयो भवति— यो राजानमधिकारिणं वा ज्ञापयित्वा चौरानभिद्रवति ।

स्वस्येति राजनिवृत्त्यर्थम् । स्वोहि स्वामी स्वद्रव्यमोक्षणे यत्नं कुरुते न तथा पालज्ञापितो राजा । दुष्करा च राजज्ञापना पालस्य । अथ मुषित्वा गतेषु ज्ञापये-
दुष्येदेव ॥२३३॥

हिन्दी—यदि घोषणाकार पशु के चोरी होनेके स्थान के पास में रहने पर रखवाला स्वामी को उसकी चोरी होने की उसी समय सूचना दे दे (अथवा-जोर से चिल्लाकर स्वामी को सूचित कर दे), तब वह उस चुराये गये पशु का देनदार नहीं होता है ॥२३३॥

विमर्श—घोषणा करने से चोरों की प्रबलता तथा अधिकता समझी जाती है । ऐसी अवस्था में विवश होने के कारण तथा चिल्लाकर सूचित करने पर भी सहायतार्थ स्वामी या समीप के लोगों को सूचित कर देने के कारण रखवाला पशुरक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है ।

स्वयं मरे पशु के कान आदि दिखाना—

कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।

पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गांश्च दर्शयेत् ॥२३४॥

भाष्य—आयुषः क्षयान्मृतेषु पशुषु स्वामिनः कर्णाद्यर्पणीयम् । गोरोचनां

गवां शृङ्गेषु चूर्णं भवति । बस्तिरङ्गविशेषः । अङ्गाः कर्णादयः, स्वामिविशेषज्ञानार्थं चिह्नानि । तानपि दर्शयेत् । एवं पालस्य शुद्धिः । अङ्कदर्शनेन हि प्रत्यभिज्ञा भवत्ययं स पशुरिति ॥२३४॥

हिन्दी—पशुओं (या एक पशु) के स्वयं मरने पर रखवाला उस (पशु) के कान, चमड़ा बाल पूँछ के बाल), चर्बी गोरोचन और अन्य चिह्न (खुर, सींग आदि) लाकर गो-स्वामी को दिखलावे ॥२३४॥

भेड़-बकरी के भेड़िया द्वारा अपहरण करने पर—

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।

यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥२३५॥

भाष्य—अजा चाविका चाजाविके । अविरेवाविकैडका । एते वृकैः शृगाल-प्रभृतिभिः संरुद्धे अवष्टब्धे, न प्रथमपात एव हते । अस्मिंश्चान्तरे सत्यामोक्षणेऽहत-त्वात् । न च पाल आयाति मोक्षयितुम् । अनायत्यनागच्छति पाले । यत् तत्र प्रसह्य बलेनाभिभूय वृको हन्यात्पालस्य स दोषः । स्वामिनो दापयितव्यः । प्रायश्चित्तं चरेत् । गोर्महत्वाद्गोमायुना न शक्यते संरोद्धुमित्यजाविके इत्युच्यते, न पुनस्तद्रूपम् । अतश्च बालानां गोवत्सानामेष एव न्यायः ॥२३५॥

हिन्दी—बकरी या भेड़ को, भेड़िया द्वारा रोके जाने पर यदि रखवाला बचाने के लिए नहीं आवे और उस बकरी या भेड़ को भेड़िया बलात्कारपूर्वक ले जाय तो उसका दोषी रखवाला होता है ॥२३५॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।

यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥२३६॥

भाष्य—‘अजाविके’ पूर्वश्लोके जात्यपेक्षं द्विवचनम् । पशुशकुनिद्वन्द्वत्वाद्वि-भाषितैकवद्भावः इह तु तासामिति व्यक्त्यपेक्षो बहुवचने परामर्शः ।

अवरुद्धानां मिथ एकत्र प्रदेशे स्थापितानां संहतीभूतानां दिग्भ्यो विदिग्भ्यश्च निरुद्धगमनानां वने चरन्तीनां दृष्टिगोचराणां— यदि कुतश्चन कुञ्जात्संचरणोत्पतना-नुक्रमेण निष्क्रम्य वृको हन्यान्न पालो दोषभाक् । अशक्यं ह्यनेकवृक्षक्षुपशरैर्वल्ली-गहनं वनं निर्विवरीकर्तुम्, छिद्रानुसारिणश्च वृकाः ।

मिथोग्रहणाच्चातिदूरविप्रकृष्टासु वधे दोष एव । पालहस्तगताः पशवस्तदुपेक्षार्यां यदि दोषमाप्नुयुः स पालेनैव समाधेय इति सिद्धे एष प्रपञ्चः सुखावबोधार्थः ॥२३६॥

हिन्दी—रखवाले के द्वारा घेरने पर वन में झुण्ड बनाकर चरती हुई बकरी या भेड़ को यदि छलाँग मारता हुआ (या चुपचाप अर्थात् धीरे से एकाएक) आकर भेड़िया मार

डाले (या ले जाय) तो उसका दोषी चरवाहा नहीं होता है ॥२६६॥

ग्रामादि के पास त्याज्य गोचर भूमि का प्रमाण—

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।

शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥

भाष्य—चतुर्हस्तं धनुस्तेषां शतम् । चत्वारि हस्तशतानि । समन्ततश्चतसृषु-
दिक्षु । ग्रामस्य परीहारः कर्तव्यः । अनुप्तसस्या भूमिः पशूनां सुखप्रचारार्था कर्तव्या ।

शम्या दण्डयष्टिः सा बाहुवेगेन प्रेरिता यत्र पतति ततः प्रदेशादुद्धृत्य पुनः
पातयितव्या— यावत्त्रिस्तस्य परिमाणो वा शम्यापातः परीहारः ।

त्रिगुणो नगरस्य । ग्रामनगरे प्रसिद्धे ।

शम्यायाः पाताः प्रेरिताया वैगसंस्कारक्षयो भूमौ स्थानादि ॥२३७॥

हिन्दी—ग्राम के चारों तरफ १०० धनुष अर्थात् ४०० हाथ तक या तीन बार
छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाय उतनी दूर तक नगर के चारों तरफ ग्राम से तिगुनी भूमि
पशुओं के घूमने-फिरने के लिए छोड़नी चाहिये (उतनी दूरी तक कोई पौधा या फसल
नहीं बोनी चाहिये) ॥२३७॥

उक्त गोचर भूमि में फसल नष्ट करने पर—

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।

न तत्र प्रणयेद्वण्डं नृपतिः पशुरक्षिणम् ॥२३८॥

भाष्य—तत्र परीहारस्थाने क्षेत्रं न कर्तव्यम् । अथ कृतं कस्माद्वृत्तिर्न कृता । अतः
क्षेत्रिण एवापराध्यन्ति, न पशुपालाः । न हि पाल एकैकं पशुं हस्तबन्धेन नेतुं शक्नोति ।
न च पशूनामन्यो निर्गमोऽस्ति ॥२३८॥

हिन्दी—उतनी (८।२३७) भूमि के भीतर काँटे आदि का घेरा बनाकर बौये
गये धान्य आदि को यदि कोई पशु नष्ट कर दे तो राजा पशु के रखवाले को दण्डित
न करे ॥२३८॥

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।

छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥

भाष्य—कंटकशाखादीनां प्राकारविन्यासः पशुप्रवेशवारणार्थः क्षेत्रारामादीनां
वृत्तिरुच्यते । या क्वचित्पणिकेति प्रसिद्धा— वारणाद् ‘वृत्तिः’ । तस्या उन्नतिरियती
कर्तव्या ययोष्ट्रो नावलोकयति ।

“किमियं द्वितीया तृतीयार्थे यामुष्ट्र इति” । नेति ब्रूमः ।

“कथं तर्हि वृत्तिमुष्ट्रो न पश्यति” ।

महोत्सेधाया द्वितीयपार्श्वस्यादर्शनाददृष्टैव वृत्तिः । छिद्रं च विवरं वारयेत्सर्वम् ।

श्वसूकरमुखेन यदनुगम्यते— तन्मुखपरिमाणम् । तथा कुर्याद्यथा श्वमुखं न माति । तन्मुखादप्यल्पच्छिद्रमित्यर्थः ॥२३९॥

तथा कृतायां वृत्तौ—

हिन्दी—उतनी (८।२३७) भूमि के भीतर धान्य आदि बोये गये खेत का घेरा यदि इतना ऊँचा हो कि बाहर से ऊँट धान्य को नहीं देख सके तथा उस घेरे के छिद्र से कुत्ते या सूअर का मुँह भीतर नहीं जा सके इस प्रकार खेत का स्वामी छिद्रों को बंद कर दे ॥२३९॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथ वा पुनः ।

सपालः शतदण्डार्हो विपालान् वारयेत्पशून् ॥२४०॥

भाष्य—परिवृतेपथिक्षेत्रे ग्रामसमीपवर्तिनि च परीहारमध्यगते । अन्तशब्दः समीपवचनः । यदि भक्षयेत्पशुः । **सपालश्च** स्यात् । सन्निहितः **पालः शतदण्डार्हः** पशोर्दण्डासम्भवात् । पालेऽसन्निहितेऽपि गृहे यदा— नाप्यसौ पालः प्रसिद्धो न पुनस्तत्प्रेषितो वारिको रूपकमात्रवेतनः ।

विपालाः पशवो वारयितव्या दण्डादिना— न तु दण्डनीयाः । **विपालाश्चोत्सृष्ट-** वृषादयः अन्येषां तु विपालानां स्वामिनो दण्डः ।

अथवा **अपरिवृत** इति प्रश्लेषः । क्षेत्रसम्बन्धाच्च गम्यमानः क्षेत्रस्वामी ‘सपाल’ इत्यन्यपदार्थतयाऽभिसम्बध्यते— ‘सह पालेनेति’ ।

क्षेत्रे को दण्ड्यः । उभौ दण्ड्यौ । पालः क्षेत्रिकश्च । क्षेत्रिकस्तावत्किल किमिति पथि क्षेत्रे वृत्तिं न कृतवान् । पालेनापि वृत्तौ चासत्यां किं क्षेत्रं स्वादयितव्यम् । विपालं प्रमादाद्यूथच्युतं वारयेत् । तथा च गौतमः (१२/२१) “पथि क्षेत्रेऽनावृते पालक्षेत्रिकयोः” इति ॥२४०॥

हिन्दी—रास्ते या ग्राम वा नगर के पास उक्त (७।२३९) घेरेवाले खेत के धान्यादि फसल को पशु, रखवाले के रोकने से, किसी प्रकार घुसकर चरने लगे तो राजा उस रखवाले को सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे तथा यदि रखवाले के नहीं रहने पर उक्त खेत में पशु चरने लगे तो खेत का स्वामी उसे भगा दे ॥२४०॥

अन्य खेत में पशु के चरने पर दण्ड विधान—

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।

सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥

भाष्य—पथिक्षेत्रग्रामान्तीयेभ्योऽन्यानि क्षेत्राणि— तद्भक्षणे सपादपणो दण्डः ।

“ननु चात्र स्वल्पेन दण्डेन भवितव्यं दूरक्षेत्रात्सन्निहिते क्षेत्रे । यत्तु पन्थानमतिक्रम्य क्षेत्रं बहिर्ग्रामं वा, तत्र महान् दण्डो युक्तः । किमिति गवां पालो गन्तुं तत्र ददाति” ।

नैष दोषः । यद्यत्र महादण्डो नोच्येत तदा प्रत्यहं प्रवेशनिर्गमैर्गवां भक्षयन्तीनां ग्रामान्तरक्षेत्राण्युत्सीदेयुः । तण्डात्तुमहतो बिभ्यतो यत्नेन रक्षन्ति । अन्यत्र गास्तृण-विशेषार्थं कथंचिन्नयतः स्वल्पो दण्डः ।

अत्रापि विपालानां वारणमेव ।

सर्वत्र क्षेत्रस्वामिनः सदफले देये, कुशलैः च ते परिमाणेन कल्पिते ।

क्षेत्रिकस्य । क्षेत्रमस्यास्तीति । ब्रीह्यादित्वाङ्क ।

इति धारणौष निश्चय इत्यर्थः ।

सर्वत्रग्रहणाच्च विपालेऽपि पशौ क्षेत्रिकस्य सदलाभः ।

यद्यपि पशुशब्दः सामान्यशब्दो महिष्यजाव्युष्ट्रगर्दभादिषु वर्तते तथापि स्मृत्यन्तरदर्शनाद्गोष्वयं दण्ड इति मन्यते । तथा च गौतमः (१२।२४-२५) “अश्वम-हिष्योर्दशअजाविषु द्वावित्यादि” अन्यत्र कल्पना ॥२४१॥

अत्रापवादः—

हिन्दी—रास्ता तथा ग्राम या नगर के दूर (८।२३७) प्रमाण के बाद खेत में पशु के चरने पर रखवाले को सवा पण (८।१३७) से दण्डित करना चाहिये तथा सम्पूर्ण (या अत्यधिक) खेत के पशुद्वारा चरे जाने पर (अपराध के अनुसार) रखवाले से या पशुस्वामी से पूरी क्षति को खेत के स्वामी के लिए दिलवाना चाहिये ऐसा निश्चय है ॥२४१॥

सौंड आदि के चरने पर दण्डाभाव—

अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा ।

सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुब्रवीत् ॥२४२॥

भाष्य—गोग्रहणान्महिष्यादिषु दोषः । वृषाः उक्षाणः । देवपशवो देवयागार्थं यजमानेन कल्पिताः प्रत्यासन्नयागाः । अथवेष्टकादिकूटस्थापिताः । हरिहरादीनां प्रतिकृतयो ‘देवा’ उच्यन्ते— तेषां ‘पशवः’— तानुद्दिश्य केनचिदुत्सृष्टाः । तदा ह्यस्य देवानां पशूनां च स्वस्वामिसम्बन्धस्य सम्भवात् । देवायतनमण्डनानां चैष धर्मः । न तु तत्पालकैर्वाहदोहाद्यर्थं ये देवगृहेषु धार्यन्ते । यतः पालका एव तेषां देवानामर्थं विनियुञ्जते । अतस्तत्र पालका एव स्वामिनः । अतो युक्तः स्वामिवतामन्येषां यो धर्मः

स तत्र । आयतनमण्डनास्त्वपरिगृहीता अव्यवधानेन देवपशुबुद्धिमुत्पादयन्ति ।

वृषोत्सर्गादिविधानोत्सृष्टा 'वृषाः' कैश्चित्परिगृह्यन्ते ।

ततः सपाला अथ वापरिगृहीतास्ततो विपालाः— उभयेषामदण्डः ॥२४२॥

हिन्दी—दश दिन के भीतर व्याई हुई गाय, (चक्रत्रिशूल से चिह्नित कर वृषोत्सर्ग में छोड़ा गया) साँड और (काली, शिव या विष्णु आदि) देवताओं के उद्देश्य से छोड़ा गया पशु रखवाले के साथ हो या बिना रखवाले के हो और खेत को चर जाय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है ऐसा मनु भगवान ने कहा है ॥२४२॥

राजदेय भाग की हानि करने पर—

क्षेत्रिकस्यात्यये दण्डो भागादशगुणो भवेत् ।

ततःऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥२४३॥

भाष्य—क्षेत्रस्वामिनः स्वक्षेत्रेऽत्ययोऽतिक्रमोऽपराधो यदि भवेत्स्वकृते— अकाले वापनं, निदानमयोग्यबीजवापः, स्वपशुभिर्भक्षणं गिरणं वा, विदितफलके प्राश इत्यादि— तदा राज्ञो यावान्भाग आगच्छति तं दशगुणं दण्डनीयः ।

अथ तस्याज्ञातमेतत् तत्प्रयुक्तैर्भृत्यैः क्षेत्रजागर्यानियुक्तैर्वा अपराद्धं तदाऽर्ध-दण्डः । भृत्यानामत्यये क्षेत्रिकस्य दण्ड इति सम्बन्धः ।

क्षेत्रप्रसङ्गादत्रेदमुक्तम् ॥२४३॥

हिन्दी—किसान के दोष से उसी के पशुद्वारा खेत चर जाने के कारण अथवा असमय में बोने के कारण जितने राजदेय भाग (राजा को कररूप में देने योग्य अन्न) की हानि हो, उसका दशगुना दण्ड उस किसान को होता है तथा यदि किसान की अज्ञानकारी में उसके नौकरों के दोष से उक्त प्रकार की हानि हो तो उस हानि का पाँच गुना दण्ड उस किसान को होता है ॥२४३॥

विमर्श—पूर्वकाल में राजा को खेतों से अन्न के रूप में मालगुजारी (लगान) मिलती थी, जैसा कि अब भी कहीं-कहीं सिकमी खेत किसान को देकर उससे अन्न लेने की प्रथा है । जहाँ पर नगद रुपया लगान मिलता है, वहाँ पर यह विधान लागू नहीं होता; क्योंकि वहाँ तो अन्न पैदा नहीं होने पर भी किसान से राजकर्मचारी नियत लगान प्रायः वसूल कर ही लेता है ।

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।

स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥२४४॥

भाष्य—सुबोधोऽयं श्लोकः ॥२४४॥

हिन्दी—धर्मात्मा राजा पशुओं के स्वामी तथा रखवालों से पशु-रक्षा नहीं होने के

अपराध तथा खेत आदि चरने के व्यतिक्रम होने पर उस नियम (८।२३०-२४३) को लागू करे ॥२४४॥

सीमा का विवाद होने पर—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।

ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥

भाष्य—सीमां प्रति विवादे— सीमानिमित्ते । लक्षणेत्थंभूतेति प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीयानिमित्तमपि लक्षणमिति शक्यते वक्तुम् । ‘सीमा’ मर्यादा— ग्रामादीनां विभागः परिमाणमियत्ता परिच्छेदनमिति यावत् । ज्येष्ठे मासि नयेन्निर्णयः कर्तव्यः । मासविशेषनिर्णये हेतुमाह—सुप्रकाशेषु सेतुषु । सेतवः सीमालिङ्गानि वक्ष्यमाणानि, लोष्ठपाषाणादिविशिष्टजातीयसीमाग्राह्यतृणगुंजादीनि । प्रागस्मात्कालादनुत्थितेषु तृणेषु लोष्ठपाषाणयोरन्यस्याश्च भूमेर्न विशेषो लक्ष्यते । पाषाणलक्षितायां यदा तत्र तृणानि न ज्ञायन्ते तदा सा सीमेति निश्चीयते । एवं वल्लीस्थानादिष्वपि । प्राग्वसंताद्वासंतिके दाहे विशेषो न लक्ष्यते । हेत्वभिधानाच्च यस्मिन्देशे यदा व्यज्यन्ते ततो मासात्कालहरणं कर्तुं नादेयम् । अन्यदा तु लिङ्गज्ञानार्थं कालापेक्षाऽपि भवतीत्येतावत्फलं ज्येष्ठग्रहणे ॥२४५॥

हिन्दी—(राजा) दो गाँवों में सीमा का विवाद होने पर ज्येष्ठ मास में सीमा के चिह्नों के स्पष्ट हो जाने पर उसका निर्णय करे ॥२४५॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्चत्थकिंशुकान् ।

शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥२४६॥

भाष्य—पादपा वृक्षाः । क्षीरिणोऽर्कोदुम्बरप्रभृतयः । एते च चिरस्थायित्वात्सीमादेश एव रोपयितव्या न ग्राममध्ये । सीमादेशादन्यत्र क्रियमाणा न निश्चायकाः स्युः ॥२४६॥

हिन्दी—(राजा) सीमा पर बड़, पीपल, पलाश (ढाक), सेमल, साल, ताड़ और दूध वाले (गूलर आदि) पेड़ों को (सीमा के चिह्नों को स्थिर बने रहने के लिए) लगवावे ॥२४६॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च ।

शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥

हिन्दी—(राजा) गुल्म, अनेक प्रकार के बाँस, शमी, लता, ऊँचे-ऊँचे मिट्टी के टीले, मूँज, कुब्ज के गुल्मों को सीमापार करे (यथायोग्य लगावे या बनवावे), वैसा करने से सीमा नष्ट नहीं होती है ॥२४७॥

गुप्त वस्तुओं को सीमापार रखना—

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।

सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४८ ॥

भाष्य—संहतप्रकाण्डा वीरुधो गुल्मानि । वेणव आरग्वधादयः । बहुत्वाच्च विविधग्रहणम् । वल्ल्यो व्रततयः दीर्घाङ्कुरास्तृणजातयः । स्थलानि कृत्रिमा शाद्वलादिपिण्डकाः । कुब्जकस्य गुल्त्वात्पृथगुपदेश आदरार्थः ।

करीषं शुष्कं गोमयम् । अङ्गारा अग्निदग्धा काष्ठावयवाः । पाषाणकठिना मृदः शर्कराः । कपालिका कलशैकदेशः । अन्यानि उपच्छन्नानि कारयेद्राजा नवग्राम-संनिवेशे कृते निर्णयम् । एवं सीमा न कदाचिन्नश्यति । अन्यथा तं प्रदेशं कश्चित्कर्षणेन नाशयेत् ॥ २४८ ॥

हिन्दी—संसार में सीमा के विषय में मनुष्यों का मतभेद सर्वदा देखकर (राजा) दूसरे प्रकार के (आगे कहे गये) गुप्त (नहीं दिखलायी पड़नेवाले) सीमा चिह्नों को भी बनवावे ॥ २४८ ॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्त्रवणानि च ।

सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४९ ॥

भाष्य—महांभांसि तडागानि । वाप्यः पुष्करिण्यः । उदपानानि कूपप्रभृतीनि । प्रस्त्रवणान्युदकस्यदन्दा ईषत्स्त्रवदुदका भूप्रदेशाः । देवतायतनानि यक्षगृहादीनि । एतानि प्रकाशानि । न ह्येतानि स्वल्पेनायासेन नाशयितुं शक्यन्ते । नाशयमानेषु च महान्प्रत्यवायो भवति । सर्वस्य चोदकार्थिनो देवतादर्शनार्थिनश्च तत्र संनिधानात्-सुज्ञातश्च साक्षिणां सीमासन्धिर्भवति ॥ २४९ ॥

हिन्दी—(राजा) तडाग, कुएँ, बावड़ी झरने और देवों के मन्दिरों को दो सीमाओं के सन्धि-स्थल बनवावे ॥ २४९ ॥

विमर्श—इन स्थानों पर जल या पूजादि के लिए आनेवालों से बातों को सुनने की परम्परा द्वारा लोग विवाद पड़ने पर साक्षी हो सकते हैं, जिससे निर्णय देने में राजा को सरलता होगी ।

अश्मनोऽस्थीनि गोवालौस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।

करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा ॥ २५० ॥

हिन्दी—पत्थर, हड्डियाँ, गौ (पशुओं) के बाल, भूसा, राख, खोपड़ियाँ, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कङ्कड़ और रेत—॥ २५० ॥

यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।

तानि संधिषु सीमाया अप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥

भाष्य—गुल्मादीनामुपदेशः प्रदर्शनार्थो न परिसंख्यार्थः । एवम्प्रकाराणि खदिरसारकालाञ्जनाद्यानि शर्करादितुल्यानि ।

“कैवंप्रकारता”—अत आह कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । भूमेर्भक्षणमुपमया स्वरूपोपादानम् । यथा भक्षितं भेदेन नोपलभ्यते तद्वद्भूमिसादापन्नमिव तादृशं कुर्यात् ॥२५१॥

हिन्दी—तथा इस प्रकार की जिन वस्तुओं को पृथ्वी बहुत दिनों तक गलाकर अपने में न मिला ले, अर्थात् जो वस्तु पृथ्वी में बहुत दिनों तक गड़े रहने पर भी गलकर मिट्टी न बन जाय (जैसे उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त— कपास अर्थात् रूई, काला अञ्जन इत्यादि), उन्हें सीमा पर अप्रकट रूप में स्थापित करे अर्थात् भूमि के नीचे गाड़ दे ॥२५१॥

विमर्श—‘बड़े-बड़े पत्थरों को छोड़कर शेष हड्डी आदि को घड़ों में रखकर पृथ्वी में गाड़ना चाहिए ऐसा वृहस्पति का वचन है’ यह मन्वर्थमुक्तावलीकार ने कहा है ।

उपभोग के द्वारा सीमा निर्णय—

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥२५२॥

भाष्य—उभयोर्ग्रामयोः शून्यत्वे लिङ्गैर्निर्णयः । वसतोः पूर्वभुक्त्या सततमविच्छिन्नयाऽस्मर्यमाणावधिकया— न हि त्रिपुरुषभोगेन । स ह्यत्र प्रतिषिद्धप्रामाण्य “आधिः सीमा” इत्यत्र (८।४९) । सम्भवति हि तत्रोपेक्षा बहुसाधारण्यात्सीमायाः । ये तु तत्र सीमशब्दं न पठन्ति तेषां भुक्तेः सिद्धमेव प्रामाण्यम् । लिङ्गानां प्रामाण्यस्योक्तत्वात्प्रमाणान्तरनिवृत्तिराशङ्क्येतेति पुनरुच्यते ।

“कोऽयमुदकागमः प्रामाण्येनोच्यते” ।

यथाऽन्यानि लिङ्गानि नवसंनिवेशे क्रियन्ते तद्वदेवोदकप्रवाहोऽपि कर्तव्यः । अथवा ययोर्ग्रामयोः प्रदेशान्तरे स एवोदकागमो विभागहेतुः प्रदेशान्तरे च विप्रतिपत्तिस्तत्र स एव प्रमाणम् । अथवा महाग्रामविषयमेतत् । नद्या अपर एको वा वार एकग्रामस्तत्र न पारवारिणो वक्तव्यं ‘अस्मदीया भूमिरत्रापि विद्यत’ इति । यदि वा कुतश्चिद् ग्रामात्तादृशेन प्रवाहेणावच्छिन्नापि काचिद् भूस्तथापि स एव विभागहेतुः— स्वल्पेऽपहारे ॥२५२॥

हिन्दी—राजा परस्पर में विवाद करते हुए ग्रामों की सीमा का निश्चय इन (८।२४५-२५१) चिह्नों से, लोगों के उपभोग से और नदी नाला आदि के प्रवाह से करे ॥२५२॥

सीमा के साक्षियों की प्रामाण्यता—

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।

साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिश्चयः ॥२५३॥

भाष्य—“कथं पुनर्लिङ्गेषु सत्सु संशयः” ।

यानि तावत्प्रच्छन्नानि तानि यदि केनचित्कथंचिदागम्य प्रच्छन्नमन्यत्र नीयेरन्नैव निश्चयः स्यात् । येऽपि प्रकाशा न्यग्रोधादयस्तेऽपि न सीमायामेव रोहन्त्यन्यत्रापि जायन्ते ततः संदेह आभासत्वात् । यत्र पुनरियं सम्भावना नास्ति तत्र प्रमाणमेव लिङ्गानि ।

साक्षिप्रत्ययः साक्षिहेतुकः । साक्षिणः प्रत्ययो यत्रेति । **विनिश्चयः** तत्त्वाधिगमः । संशयितलिङ्गे अलिङ्गे वा सीमाविवादे साक्षिहेतुको निर्णय इति तात्पर्यम् ॥२५३॥

हिन्दी—यदि सीमा के (बाहरी ८।२४६-२४८ तथा भीतरी ८।२५०-२५१) इन चिह्नों के देखने पर भी सन्देह ही बना रहे तो साक्षी का कहना ही सीमा के विवाद में निर्णय (प्रमाण) होता है ॥२५३॥

विमर्श—किसी एक पक्ष के द्वारा दूसरे पक्ष पर यहाँ पृथ्वी के भीतर गाड़े गये पत्थर तथा हड्डी, गौओं के बाल आदि से भरे घड़ों को चुपके से उखाड़कर दूसरे स्थान में गाड़ देने का आरोप करने तथा वृक्ष आदि बाहरी चिह्नों का नष्ट होना कहने से सीमा के चिह्नों के देखने पर भी सन्देह बना रह सकता है ।

ग्रामेयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।

प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥

भाष्य—यद्यप्यसंख्यातपुरुषको ग्रामस्तथापि द्वौ विवादिनौ द्वयोर्ग्रामयोर्भवतस्तयोः समक्षमन्येषां च **ग्रामेयककुलानां च** ग्रामीणपुरुषसमूहानां **समक्षं सीम्नि साक्षिणः प्रष्टव्याः** । साक्षिप्रश्नकाले सर्वैर्ग्रामीणैर्दत्तव्यवहारकैरपि संनिहितैर्भवितव्यम्— नार्थि-प्रत्यर्थिनोरन्यतरो वक्तुं लभते— ‘आवयोर्विशिष्टार्थं विवादे किमेते संनिधीयन्ते ।’ अथवा येऽन्ये सामन्तेभ्यो ग्रामेभ्यः केचिद्वृद्धतमाः साक्ष्ये समुद्दिष्टास्तद्ग्रामीणै-रन्यैः संनिहितैर्भवितव्यम् । यतस्तैर्वृद्धेभ्यः श्रुतं भवति तत्समक्षं पृच्छ्यमाना न विपर्ययन्ति वृद्धाः ।

सीमालिङ्गानि । यत्र लिङ्गान्युभयथा तत्र वृद्धेभ्यो निश्चयः । असत्सु लिङ्गेषु सीमन्येव साक्ष्यं पृच्छ्यते— काऽत्र सीमेति ॥२५४॥

हिन्दी—(राजा) ग्रामवालों तथा सीमा के विषय में विवाद करनेवाले वादियों एवं प्रतिवादियों के सामने साक्षियों से सीमा के चिह्नों को पूछें ॥२५४॥

सीमा के साक्षियों के कथन को लिखना—

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।

निबन्धीयात्तथा सीमां सर्वां स्तांश्चैव नामतः ॥२५५॥

भाष्य—ते साक्षिणो यथा यादृशं निश्चयं ब्रूयुः । समस्ताः सर्व एव । न पुनर्वाक्यभेदोक्तौ न्यायः “द्वैधे च बहूनामिति” । निबन्धीयात् पत्रके लिखेत्— साक्षिणश्च नाम— विभागेन ॥२५५॥

हिन्दी—(राजा के) पूछने पर वे साक्षी सीमा के विषय में जैसा निश्चय कहें, (राजा) उस सीमा तथा उन गवाहों के नामों को लिख ले ॥२५५॥

सीमा के साक्षियों से शपथ कराना—

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।

सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समंजसम् ॥२५६॥

भाष्य—मूर्ध्नोर्वीं पृथ्वीं मृल्लोष्टकानृहीत्वा साक्षिणः स्रग्विणो यथासम्भवं माल्यधरा रक्तवर्णकुसुमधरा रक्तवाससो लोहिताच्छादनाः । यद्यपि शुल्कस्य वर्णान्तरापादनेऽपि रञ्जिर्वर्तते भूयांस्तु लोहिते प्रयोगो रक्तो गौर्लोहित इति । भयसञ्जननार्थं चैतत् । लोहितवाससश्च शुद्धा भवन्ति । ‘यदस्माकं सुकृतं किञ्चिदर्जितमस्ति तन्निष्फलमस्त्विति’ वाच्यन्ते । स्वैः स्वैरिति वीप्सया विशेषनामभिः सुकृतं कथयेयुः— कस्यादानं तीर्थस्नानं चेत्यादि । समंजसं क्रियाविशेषणम् । सत्यादनपेतत्रुजुर्धार्मिको यो मार्गस्तेन नयेयुः । समंजसमृजु स्पष्टमित्येकोऽर्थः । सत्यव्यवहारश्च स्पष्ट इत्युक्तं समंजसमिति ॥२५६॥

हिन्दी—लाल फूलों की माला तथा लाल कपड़ा पहने हुए वे साक्षी शिर पर मिट्टी (के ढेलों) को रखकर अपने-अपने पुण्यों की शपथ (यदि मैं असत्य वचन इस सीमा-निर्णय के विषय में कहूँ तो मेरे आज तक उपार्जित सब पुण्य नष्ट हो जाँय इस प्रकार शपथ) कर उस सीमा का यथाशक्ति निर्णय करे ॥२५६॥

असत्य कहने पर दण्ड—

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।

विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥

भाष्य—प्रमाणान्तरलिङ्गेभ्योऽन्यथासम्भवदभ्यः प्रत्ययितरपुरुषेभ्यो मिथ्यात्वेऽवधारिते— प्रत्येकं द्विशतो दण्डः । एकैकस्य साक्षित्वात्साक्षिणां च दण्ड्यत्वात् । न हि व्यासज्य वदन्ति साक्ष्यम् । सत्यप्रधानाः साक्षिणः सत्यसाक्षिणः । पूयन्ते अनृताभि-

धानेन पापेन न सम्बध्यन्त इति । यथोक्तेन याथातथ्येन । न हि शब्दात्मकस्य वचन-
स्यात्रावसरः । प्रमाणान्तरसंवादमात्रमनेन लक्ष्यते । अथवा यथाशास्त्रमुक्तेन सत्येनेति
यावत् । शास्त्रे हि सत्यं वक्तव्यमित्येवमुक्तमतो यथोक्तेन सत्येनेत्युक्तं भवति ॥२५७॥

हिन्दी—शास्त्रानुसार सत्य कहनेवाले वे साक्षी निर्दोष होते हैं तथा असत्य
कहनेवालों पर (राजा) दो सौ पण (८।१३७) दण्ड करे ॥२५७॥

उक्त साक्षी के अभाव में कर्तव्य—

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामसीमान्तवासिनः ।

सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५८॥

भाष्य—ग्रामसामन्ताः सीमान्तवासिनः प्रष्टव्याः । तेषां वचने निश्चयं कुर्यात् ।
प्रयताः—साक्षिधर्मेण शास्त्रान्तरेण । राजसंनिधाविति श्लोकपूरणम् । न तु सामन्ताः
स्वेच्छया राजवन्निश्चिन्वन्ति ॥२५८॥

हिन्दी—सीमा के साक्षी के नहीं मिलने पर समीपस्थ चार ग्रामों के निवासी
शुद्धचित्त होकर राजा के सामने सीमा का निर्णय करें ॥२५८॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।

इमानप्यनुयुञ्जीत

पुरुषान्वनगोचरान् ॥२५९॥

भाष्य—सामन्तानां मौलानामिति विशेषणविशेष्यभावः स्तुत्यर्थः । ग्राम-
प्रतिष्ठानकाले भवा उत्पत्तिसहभुवो मौला उच्यन्ते । ते च सामन्ता नित्याः, नित्यसंनि-
हितत्वात् । तेषामप्यभावः कथंचिदुच्छन्नत्वात् । तदा का गतिः । तदेमानपि वक्ष्य-
माणान् पृच्छेत् ।

अथवा मौला अनुभाविनः— सामन्ता व्याख्याताः— व्यवहर्तव्याः । मौलानां
पूर्वोक्तानां अभावे सामन्ताः प्रमाणम् । तद्भागे वनगोचरान्विनियुञ्जीत निपुणतः
पृच्छेत् ॥२५९॥

हिन्दी—समीपस्थ चार ग्रामों में तथा ग्राम निर्माण के समय से वंश परम्परा द्वारा
निवास करनेवालों के अभाव में (साक्षी करने के लिए उपस्थित नहीं होने पर) राजा इन
(८।२६० में कथित) वनेचर (सर्वदा या प्रायः वन में ही रहनेवाले) पुरुषों से भी
पूछे ॥२५९॥

उन वनेचरों के नाम—

व्याधांश्छाकुनिकानोपाकैवर्तान्मूलखानकान् ।

व्यालग्राहानुज्ज्वृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥२६०॥

भाष्य—एते वनानि भ्राम्यन्ति । ग्राममध्येन गच्छन्तः कदाचित्तद्वृत्तं विद्युः । ते हि तेन पथा गच्छन्तो विवादास्पदं प्रदेशं पूर्वं कांश्चित्पुरुषान्कृषतो दृष्ट्वा पृच्छेयुः ‘कोऽयं ग्रामो यो भवद्भिः कृष्यत’ इति । एवमादिना सम्भवति पूर्वानुभवः ।

व्याधा मृगयाजीविनः । तेषामपि वनाद्भ्रष्टमृगमनुधावतां भवति ग्रामसम्बन्धः । एवं **शाकुनिकाः** शकुनिबन्धजीविनः । तदन्वेषणे ये सर्वान्यामानागोचरयन्ति । **गोपा** गवां तृणविशेषज्ञानाय तत्र तत्र परिभ्राम्यन्ति । **कैवर्ता** दाशास्तडागरखननादिजीविनस्तत्र तत्र गच्छन्ति क्वास्माकीनं कर्मोपयुज्यते । **मूलखानका** मूलं वृक्षादेः खनयन्ति स्थूल-काशादेः । **व्यालग्रहाः** सर्पग्राहिणः— जीविकार्थं तेऽपि सर्पास्तं तं प्रदेशमन्विच्छन्ति । अतः तेषामपि पारिग्रामिकैर्बहुभिः सम्बन्धः । **उज्ज्वृत्तयोऽपि** दरिद्रा अनेकग्राम-पर्यटनेन पात्रमात्रं निर्वर्तयन्ति । **अन्यांश्च** फलकुसुमेन्धनार्थिनः ॥२६०॥

हिन्दी—व्याध, बहेलिया (चिड़ियामार), गायों (या भैंस आदि पशुओं) का रखवाला, मल्लाह, जड़ खोदकर जीविका करनेवाला अर्थात् कन्द-मूल (या जड़ी-बूटी बेचनेवाला) सपेरा, शिल तथा उज्ज (४।५) करनेवाला तथा दूसरे प्रकार के भी बनवासी, इनसे राजा सीमा के विषय में प्रश्न करे ॥२६०॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।

तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥२६१॥

भाष्य—ते धर्मेण पृष्टा इति योजना । सीमाश्च ताः सन्धयश्च **सीमासन्धयः** । ग्रामद्वयसंयोगः ‘सन्धिः’ । स च सीमैव । **लक्षणं** ज्ञापकम् ॥२६१॥

हिन्दी—(राजा के) पूछने पर वे लोग दो ग्रामों की सीमा की सन्धि (मिलने का स्थान) पर जैसा चिह्न बतलावें, राजा उस सीमा को धर्मानुसार उसी प्रकार स्थापित करे ॥२६१॥

एकग्रामवासियों में सीमा-विवाद होने पर—

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।

सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥२६२॥

भाष्य—**श्रीराम** उद्यानभूमिः शाकवाटश्च । सामन्तप्रमाणकस्तत्र निश्चयः । व्याधादिनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । **सीमासेतुः** सीमाबन्धः । सीमाविभावानार्थं य आबध्यते स्थाप्यते ॥२६२॥

हिन्दी—एक ग्राम में ही खेत, कुआँ, तालाब, बगीचा तथा घर की सीमा का विवाद उपस्थित होने पर राजा उस ग्राम में रहनेवाले सब लोगों के कहने के अनुसार चली आ रही सीमा के चिह्न निश्चय करे ॥२६२॥

असत्य वक्ता ग्राम-सामन्तों को दण्ड—

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।

सर्वे पृथक् पृथक् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

भाष्य—पूर्वेभ्यः सामन्तानामधिको दण्डः । पृथक्पृथगित्यनुवादः । उक्तत्वा-
न्यायस्य । क्षेत्रादिप्रातिवेश्या अवश्यं ज्ञातारो भवन्ति । प्रत्यासन्नतरतः एषां दण्ड-
महत्त्वम् । सामन्तानां तु परकीयसीमावेदनं नावश्यमिति द्विशतो दमोऽनुवर्त्यः । तेन
ग्रामसीमायां द्रष्टृणां सामन्तानां च द्विशतः ।

ये तु सामन्तशब्दमाश्रित्य ग्रामक्षेत्रादिसीमयोः सामन्तत्वात्तुल्यदण्डत्वमाहुस्ते
न्यायविरोधादुपेक्षणीयाः ॥ २६३ ॥

हिन्दी—दो ग्रामवासियों में परस्पर सीमाविषयक विवाद उपस्थित होने पर
सामन्त (समीपस्थ ग्रामवासी) यदि असत्य कहें तो राजा उनमें से प्रत्येक को मध्यम
साहस (८।१३८) से दण्डित करे ॥ २६३ ॥

बल से गृहादि के स्वाधीन करने पर दण्ड—

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानादद्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

भाष्य—क्षेत्रादिप्रसङ्गादिदमुच्यते । भीग्रहणं निमित्तोपलक्षणार्थम् । अस्यैवैत-
न्निश्चितमित्येवं जानतो हरतः पञ्चशतो दण्डः । मध्यमसाहसे प्रकृते पञ्चशतग्रहणं निमित्त-
भेदे न्यूनाधिकदण्डार्थम् । पूर्वत्र वा संख्यानमविवक्षितं मन्यन्ते । 'व्यवहारं लेख्यामि'
'राज्ञा दण्डयामि' 'चौरैर्दोषयामीति' भयप्रदर्शनेन हरति । तस्यां दण्डो निमित्ता-
न्तरानुकल्पः ॥ २६४ ॥

हिन्दी—यदि कोई भय दिखाकर घर, तडाग, बगीचा और खेत ले ले (स्वाधीन
कर ले), तो राजा उसे ५०० पणों से दण्डित करे तथा अज्ञान से स्वाधीन करने पर
२०० पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २६४ ॥

सबके अभाव में राजा द्वारा सीमा निर्णय—

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।

प्रदिशेद्भूमिमेकोमुपकषारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

भाष्य—अविषह्या निश्चेतुमशक्या— लिङ्गसाक्ष्यभावात् । राजैव स्वेच्छया भूमिं
प्रदिशेद्दद्यात्— 'इयं वो भूमिरियं व' इति । धर्मवित्— पक्षपातो नैव कस्यचित्कर्तव्य
इति । एतदाह उपकारात् हेतोः । यया सीमया द्वावपि ग्रामौ समोपकारौ भवतः । तेन

यदि न्यूनाऽपि कस्यचिद्भूमिः स्यात्क्षेत्रं चेत्सुगुणं बहूत्पत्तिकं तदपेक्षः प्रदेशः । ल्य-
ब्लोपे पञ्चमी— उपकारमपेक्ष्य ।

अथवैकेषां प्रदिशेत्— परेषामनिश्चितामपहरेत् । यदि विवादग्रामस्तां सीमां
यावद्वक्तुं न शक्नुयादितरे च शक्तास्तदान्येभ्यः प्रदिशेत् । एवमात्मनो बहूनां च ग्रामीणा-
नामुपकृतं भवति ॥२६५॥

हिन्दी—चिह्नो (८।२४५-२५१) तथा साक्षियों के अभाव में सीमा का निर्णय
नहीं होने पर धर्मज्ञ राजा ही ग्रामवासियों के उपकार को लक्ष्यकर स्वयं सीमा का निर्णय
कर दे, ऐसी शास्त्रमर्यादा ॥२६५॥

[ध्वजिनी, मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता ।

राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृताः ॥१९॥]

[हिन्दी—ध्वजिनी, मत्सिनी, निधानी, भयवर्जिता और राजशासननीता-सीमा के ये
पाँच भेद हैं ॥१९॥]

कटु वचन कहने पर दण्ड—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

भाष्य—पूर्वोपसंहारोऽपरसंक्षेपोपन्यासः श्लोकार्थः ।

‘दण्डवाचिक’ इत्युक्त्वा (६) क्रमभेदो लाघवाद्वाक्पारुष्यं स्यात्ततो दण्डव्यापारः ।
द्वन्द्वे चेतरेतरयोगाद्व्यस्तक्रमसमासार्थप्रतिपत्तेरेकैकस्योभयार्थप्रतिपादनाद्दण्डशब्देन
वागर्थोऽप्युपात्त इति कः क्रमभेदः । तथा च यथासंख्यसूत्रारम्भो (पा० १।३।१०)
महाभाष्यकारेण समर्थितः— एतमेव दर्शनमाश्रित्य संज्ञासमासनिर्देशादिति ॥२६६॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि—) सीमा के निश्चय करने में सब
धर्मों को मैंने कहा, अब कठोर वचन के निश्चय को कहूँगा ॥२६६॥

ब्राह्मण से कटु वचन कहने पर दण्ड—

शतं ब्राह्मणमाकुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।

वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥२६७॥

भाष्य—पुरुषवचनमाक्रोशः । स च बहुधा नृशंसाश्लीलभाषणान्मर्मणि तोदः
अभिशापः ‘अकरणहन्ता वृषलभूयाः’ । असत उपन्यसनं “कन्या ते गर्भिणीति” ।
पातकोपपातकैर्याजनमिति । तत्र द्वयोर्ब्राह्मणक्रोशे क्षत्रियवैश्ययोग्यं दण्डः । अन्यत्र
“पतनीये कृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः” इत्यादि (याज्ञ०व्य० २१०) स्मृत्यन्तरोक्तः ।

शूद्रस्य वधः ताडनजिह्वाछेदनमारणादिरूप आक्रोशभेदाद् वेदितव्यः ॥२६७॥

हिन्दी—ब्राह्मण से ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र (तारण-मारण आदि) वध से दण्डनीय होते हैं ॥२६७॥

क्षत्रियादि से कटु वचन कहने पर ब्राह्मण को दण्ड—

पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।

वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥२६८॥

भाष्य—अभिशंसनं सर्वप्रकार आक्रोशः, पतनीयादन्यः— तत्र दण्डान्तर-विधानात् निमित्तसप्तमी चैषा । वैश्य इति विषयसप्तमी । ब्राह्मणस्याक्रोष्टुराक्रुश्य-मानस्य च दण्ड उक्तः । क्षत्रियादीनां त्वितरेतरं स्मृत्यन्तरमन्वेषणीयम् । तथा च गौतमः (१२।११) “ब्राह्मणराजन्यवत् क्षत्रियवैश्यौ” । परस्पराक्रोशे क्षत्रियश्च-द्वैश्यमाक्रोशेत्पञ्चाशतं दण्ड्यः, वैश्यः क्षत्रियं शतम् । एवं क्षत्रियः शूद्रमाक्रोशेत्पञ्च-विंशतिर्दण्ड्यः । वैश्यः पञ्चाशतम् । शूद्रस्य तु तदाक्रोशे गुणापेक्षिको दण्डो वक्ष्यते ॥२६८॥

हिन्दी—ब्राह्मण ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटुवचन क्षत्रिय से कहे तो पचास पण, वैश्य से कहे तो पच्चीस पण और शूद्र से कहे तो बारह पण से वह दण्डनीय होता है ॥२६८॥

समवर्ण वालों से कटु वचन कहने पर दण्ड—

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥२६९॥

भाष्य—द्विजातिग्रहणमतन्त्रम् । समवर्णे व्यतिक्रमे परस्पराक्रोशे द्वादश दण्डः । समत्वं च जातिवित्तबन्धुवयः कर्मविद्याभिः, विशेषानुपदेशात् । तत्र समानजातीये वित्ताधिके द्विगुणं— तस्मिन्नेव बन्धुत्वाधिके त्रिगुणं— यावत्सर्वगुणे निर्गुणस्य षड्-गुणम् । वादा आक्रोशा अवचनीया अत्यन्तनृशंसा मातृभगिनीभार्यादिगताः । तदेव द्विगुणं दण्डपरिमाणम् । नपुंसकलिङ्गात्सर्वशेषोऽयं न समवर्णविषय एव । अथवा तदेव शतमिति योजना लिङ्गसामर्थ्याच्छतस्य च प्रथमश्लोके श्रुतत्वात् । अतोऽवच-नीयेषु समवर्णेष्वपि द्विशतो दमः । लिङ्गोपपत्त्यर्थं परिमाणपदश्रुतमध्याहर्तव्यम् । शते तु व्यवहित कल्पना ज्यायसी ॥२६९॥

हिन्दी—समान वर्णवाले से ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) बारह पण से दण्डनीय होता है तथा निन्दनीय कटु वचन

(माँ-बहन आदि की गाली) कहने पर उक्त दण्डों (८।२६७-२६८½) को दुगुने पणों से वह दण्डनीय होता है ॥२६९॥

विमर्श—ब्राह्मण को माँ-बहन आदि की गाली देनेवाला क्षत्रिय दो सौ पण, वैश्य तीन सौ या चार सौ पण तथा शूद्र दुगुने ताडनादि से दण्डनीय होता है । इसी क्रम से आगे (८।२६७-२६८½) वाले दण्डों के विषय में दुगुना समझना चाहिये ॥

[विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः ।

वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः ॥२०॥]

[हिन्दी—क्षत्रिय तथा वैश्य में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के समान, शूद्र में वैश्य क्षत्रिय के समान तथा ब्राह्मण में क्षत्रिय तथा शूद्र के समान दण्ड करना चाहिए ॥२०॥]

[समुत्कर्षावकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाः ।

राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः ॥२१॥]

[हिन्दी—ब्राह्मण के लिए दण्ड देने की कल्पना ऊँचे या नीचे वर्ण के अनुसार अधिक तथा कम दण्ड करना चाहिये । क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को धनवर्जित दंड करना चाहिये ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥२१॥]

द्विज को कटु वचन कहनेवाले शूद्र को दण्ड—

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥२७०॥

भाष्य—एकजातिः शूद्रः । स त्रैवर्णिकान्क्षिपन्नाक्रोशन् दारुणया पातकादियोगिन्या वाचा नृशंसादिरूपया जिह्वाच्छेदं लभते । जघन्यप्रभव इति पादाभ्यां ब्रह्मण उत्पन्न इति हेत्वभिधानं प्रतिलोमानामपि ग्रहणार्थम् । तेऽपि जघन्यप्रभवा एव—“नास्ति पञ्चम” इति वर्णान्तरनिषेधात् ॥२७०॥

हिन्दी—द्विज (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय) को दारुण वचन से आक्षेप करनेवाले शूद्र को उसकी जीभ काटकर दण्डित करना चाहिये; क्योंकि वह नीच से उत्पन्न है ॥२७०॥

विमर्श—‘शूद्रस्तु वधमर्हति’ (८।२६७) इस वचन के साथ प्रकृत वचन का विरोध नहीं होता; क्योंकि उक्त दण्ड का सामान्य कटु वचन कहने पर विधान है तथा इसका दारुण कटु वचन कहने पर । तथा द्विजाति’ शब्द से यहाँ केवल ‘ब्राह्मण और क्षत्रिय’ वर्णों का ही ग्रहण है, वैश्य का नहीं; क्योंकि आगे (२।२७७) वैश्य की पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्र पर मध्यम साहस (८।१३८) दण्ड करने का विधान तथा ‘जिह्वाच्छेद’ करने का निषेध ‘छेदवर्जे प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः’ उत्तरार्द्ध वचन से किया गया है ।

नाम तथा जाति कहकर कटु वचन कहनेवाले शूद्र को दण्ड—

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।

निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥ २७१ ॥

भाष्य—अभिद्रोह आक्रोशः । कुत्साबुद्धिः— ‘ब्राह्मणक त्वं मा मया स्पर्धष्टाः’ । एवन्नाम्यपि योज्यम् । ग्रहणं ग्रहः । निरुपपदं नाम गृह्णाति कुत्साप्रत्यययोगेन वा ‘देव-दत्तकेति’ । अभिद्रोहेण क्रोधेन । अभिद्रोहः क्रोधः— न प्रणयेन । निःक्षेप्यः प्रक्षेप्यः । शङ्कः कीलकः । ज्वलन्नग्निना दीप्यमानोऽयोमयो लोहमयः ॥ २७१ ॥

हिन्दी—इन (द्विजातियों-ब्राह्मणादि तीनों वर्णों) के नाम तथा जाति का उच्चारण कर (‘रे यज्ञदत्त ! तुम नीच ब्राह्मण हो) कटुवचन कहनेवाले शूद्र के मुख में जलती हुई दश अंगुल लम्बी लोहे की कील डालनी चाहिए ॥ २७१ ॥

अभिमान से धर्मोपदेश करनेवाले शूद्र को दण्ड—

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।

तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

भाष्य—अयं ते स्वधर्मं ‘इयं वाऽत्रेतिकर्तव्यता’ ‘मैवं कार्षोः छान्दसोऽसीति’— एवमादिव्याकरणलेशज्ञानतया दुन्दुकत्वेन दर्पवन्तः शूद्रा उपदिशन्ति । तेषामेष दण्डः । यस्तु प्रणयात् ब्राह्मणापाश्रयादेव व्युत्पन्नो विस्मृतं कथंचिद्देशकालविभागं स्मारयेत्— ‘पूर्वाह्नकालं नातिक्रामयेति’, ‘क्रियतां दैवं कर्म, देवांस्तर्पयोपवीती भव, मा प्राचीनावीतं कार्षीरिति’ तस्य न दोषः । तप्तमग्निसम्बन्धात्पीडाकरम् । आसेचयेत्क्षारयेत् ।

“युक्तं वक्त्रे, मुखेनोपदेशकत्वात् । श्रोत्रस्य कोऽपराधः ।”

प्रागसत्कर्कादिश्रवणम् ॥ २७२ ॥

हिन्दी—राजा अभिमानपूर्वक ब्राह्मणों के लिए धर्मोपदेश (‘तुम्हें इस प्रकार या यह धर्म करना चाहिए) कहनेवाले शूद्र के मुख तथा कान में गर्म तेल डलवावे ॥ २७२ ॥

शास्त्र, देशादि की निन्दा करने पर दण्ड—

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।

वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्वाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

भाष्य—सत्ये च श्रुते ‘नैतदनेन सम्यक् श्रुतं’ इत्याह— श्रुतमेव वाक्षिपति— ‘नैतत्सम्यक् यदनेन श्रुतमिति’ । ब्रह्मावर्तीयमभिजनाभिमानिनं ‘बाह्यकोऽय’मित्याह । एवं जात्याब्राह्मणं ‘क्षत्रियोऽयमि’त्याह— क्षत्रियं वा हेलया ‘ब्राह्मण’ इति । कर्म— ब्रह्मचारिणं ‘स्नातक’ इति । शरीरावयवः शारीरे— अव्यङ्गं ‘दुश्चर्म’ इति । वितथेन

वितथमनृतम् । ‘प्रकृत्यादिभ्य’ इति तृतीया । अथवाऽधर्मो ‘वैतथ्यं’— तस्य वाच्यं प्रति कारणता युक्तैव । स्वगुणमदात्परावज्ञानं दर्पः । अज्ञानात्परिहासतो वा न दोषः ।

“कस्य पुनरयं दण्डः ।”

सर्वेषामिति ब्रूमः । शूद्राधिकाराच्छूद्रस्यैवेति परे । द्विजातिविषये वैतथ्ये ॥२७३॥

हिन्दी—श्रुत (‘तुमने यह नहीं सुना या पढ़ा’.....), देश (‘तुम देश में नहीं पैदा हुए हो’.....), जाति (‘तुम्हारी यह जाति नहीं है’.....) शरीर सम्बन्धी संस्कारादि कर्म (तुम्हारा शरीरसंस्कार-यज्ञोपवीत आदि कर्म नहीं हुआ है’.....) को अभिमान के कारण असत्य कहनेवाले समान वर्ण के व्यक्तियों को राजा दो सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥२७३॥

काना, लँगड़ा आदि कटु वचन कहने पर दण्ड—

काणं वाऽप्यथ वा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।

तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥२७४॥

भाष्य—एकेनाक्षणा विकलः काणः । खञ्जः पादविकलः । तथाविधं कुणिचिपिटनासं— तथ्येन ‘असत्येन’ अपिशब्दाद्वितथेन— अकाणं काण इत्युक्ते । कार्षापणावरो दण्डः । अत्यन्ताल्पो यदि दण्डः कथंचिदनुग्राह्यतया, तदा कार्षापणी दण्डः । अन्यथा द्वौ त्रयः पञ्च वा । पुरुषविशेषापेक्षयाऽपि दण्ड्यः शूद्रः । सर्वे वा पूर्ववत् ॥२७४॥

हिन्दी—किसी को काना, लँगड़ा या इसी प्रकार और कुछ (यथा-बहरा, अन्धा, छांगुर.....) यथार्थ में होने पर भी उसी दूषित नाम का उच्चारणकर कहनेवाले को राजा कम से कम एक पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥२७४॥

माता आदि की निन्दा करनेवाले को दण्ड—

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।

आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥२७५॥

भाष्य—आक्षारणं भेदनं द्वेषजननमनृतेन । ‘एषा ते माता न स्नेहवती द्वितीये पुत्रेऽत्यन्ततृष्णावती कनकमयमङ्गलीयकं रहसिं तस्मै दत्तवती’ इत्येवमाद्युक्त्वा भेदयति । एवं पितापुत्रौ जायापती भ्रातृन् गुरुशिष्यौ । तनयग्रहणं द्वितीयसम्बन्धिप्रदर्शनार्थम् । अन्यथा मातरमित्युक्ते मातरं पुत्राद्भिन्दतो दण्डः स्यान्न पुत्रं मातुः । यद्यपि भेदनमुभयाधिष्ठानं तथापि यन्मुखेन क्रियते स एव भेदयितव्य इति व्यवहारः । तत्रासति तनयग्रहणे प्रदर्शनार्थे यदैव मातरमाह— ‘न एष ते पुत्रो भक्तो दुःशीलश्च’ इत्येवमादिना मातरमाक्षारयति तत्रैव स्यान्न तु पुत्रं यथा दर्शितम् ।

अन्ये तु चित्तकदर्थनोत्पादनम् 'आक्षारण'माहुः । प्रवक्ष्यामि धनं श्रुतं वाऽर्जयितुं तीर्थाद्युपसेवितुं तत्प्रवासशङ्कया च मानसी तृष्णया पीडा भवतीति तथा न कर्तव्यम् ।

यावद्गुरुवस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेन्न तैरननुज्ञात इति च । यत्तु विद्वेषणादिना चित्ते खेदोत्पादनं तत्र शता न मुच्यते, 'प्रतिरोद्धा गुरोरिति' महत्वाद्दोषस्य ।

जायाया अनुकूलायाः पुत्रवत्याः 'करोत्यन्यं विवाहम्' इत्येतदाक्षारणम् । एवं गुणवतः पुत्रस्याकारणेऽन्यकरणम् ।

गुरोः सर्वप्रकारं पन्थानमत्यजतः शतं दण्डः ॥२७५॥

हिन्दी—(राजा) माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, गुरु को पातकादि का दोष लगाकर निन्दा करते हुए तथा गुरु के लिए मार्ग नहीं देते (किनारे होकर मार्ग नहीं छोड़ते) हुए व्यक्ति से सौ पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे ॥२७५॥

विमर्श—मेधातिथि ने 'आक्षारयन्' शब्द का असत्य बात कहकर परस्पर भेद करना (फूट डालना) अर्थ माना है, इस प्रकार उनके मत में 'तुम्हारी माता तुम्हें प्यार नहीं करती, दूसरे बच्चे को प्यार करती है, उसे एकान्त में मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थ देती है' इत्यादि असत्य वचन कहकर माता से तथा इसी प्रकार पिता, भाई आदि से भी असत्य वचन कहनेवाले और गुरु को रास्ता नहीं देनेवाले व्यक्ति को राजा सौ पण दण्ड दिलवावे यह अर्थ होता है ।

ब्राह्मण-क्षत्रियों के परस्पर उक्ताक्रोश करने पर दण्ड—

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।

ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥२७६॥

भाष्य—ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्पराक्रोशे कृते तयोरयं दण्ड इत्येवमध्याहारेण योजना । तादर्थ्ये चतुर्थी वा । तद्विनयाय दण्डः कर्तव्यः । पातकस्याक्रोशे कृतेऽयं दण्डो दुःखोत्पादनरूपे ॥२७६॥

हिन्दी—दण्डशास्त्रज्ञ (राजा) ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के परस्पर में पातक-सम्बन्धी निन्दा करने पर (क्षत्रिय की निन्दा करनेवाले) ब्राह्मण पर एक प्रथम साहस अर्थात् २५० पण तथा (ब्राह्मण की निन्दा करनेवाले) क्षत्रिय पर एक मध्यम साहस (८।१३८) अर्थात् ५०० पण दण्ड करे ॥२७६॥

वैश्य-शूद्रों के परस्पर उक्ताक्रोश करने पर दण्ड—

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।

छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥२७७॥

भाष्य—एवमेव प्रथममध्यमौ साहसावित्यतिदिश्यते । तेनैव क्रमेण वैश्यस्य शूद्राक्रोशे प्रथमः शूद्रस्य वैश्याक्रोशे मध्यमः ।

छेदवर्जं दण्डस्य प्रणयनमिति । ‘एकजातिर्द्विजातिम्’ (२७०) इत्यनेन जिह्वा-छेदं प्राप्तं निवर्तयति ।

स्वजातिं प्रतीति । नैवं मन्तव्यं समानजातीयं प्रतीति— किं तर्हि याऽत्र जाति-रुपात्ता वैश्यशूद्राविति स्वग्रहणम् । श्लोकाभिप्रायः— परस्पराक्रोशे यावत् स्वजातिमिति पूर्वत्रापि सम्बन्धनीयम् ।

प्रणयनं प्रवर्तनम् ।

क्षत्रियस्य वैश्यशूद्राक्षारणे प्रथमार्द्धसाहसः । एवं ब्राह्मणस्य वैश्यशूद्रयोः कल्पः ॥२७७॥

हिन्दी—वैश्य तथा शूद्र के परस्पर, अपनी जाति के प्रति पातक सम्बन्धी निन्दा करने पर जिह्वाच्छेद (जीभ काटना) छोड़कर इसी प्रकार (८।१३८) दण्ड देना चाहिये, यह शास्त्रनिर्णय है ॥२७७॥

विमर्श—शूद्र की पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेवाले वैश्य पर यह प्रथम साहस (२५० पण) तथा वैश्य की पातकसम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्र पर एक मध्यम साहस (८।१३८) अर्थात् ५०० पण दण्ड राजा को करना चाहिए । इस श्लोक में ‘छेदवर्जं प्रणयनं’ कहने से ‘एकजातिर्द्विजातिस्तु—’ (८।२७०) श्लोक में कहा गया जिह्वाच्छेद रूप दण्ड केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की पातक सम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्र के लिए कहा गया समझना चाहिए ।

[पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः ।

वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विदोषतां व्रजेत् ॥२२॥]

[हिन्दी—वास्तविक में पतित को पतित तथा चोर को चोर परस्पर में कहनेवाला समान दोषी और मिथ्या उक्त वचन कहनेवाला दुगुना दोषी होता है ॥२२॥]

दण्डपारुष्य का निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥

भाष्य—दण्डपारुष्यं दण्डेन दुःखोत्पादनम् । यथा कण्टकादेः पुरुषस्य स्पर्शः पीडाकर एवं पीडाकरत्वसामान्यात्पारुष्यशब्दप्रयोगः । तत्र निर्णयो दण्डविशेष-निर्णयः । पूर्वप्रकरणोपसंहारोपन्यासार्थः श्लोकः ॥२७८॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि) यह (८।२६७-२७७) मैंने मनु ॥ २०

वाक्प्रारुष्य (कठोर वचन कहने) का यथार्थ दण्ड कहा है, इसके आगे दंडपारुष्य (मारने-पीटने आदि की कठोरता) का निर्णय कहूँगा ॥२७८॥

द्विज को मारनेवाले शूद्र के लिए दंड—

येनकेनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।

छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥२७९॥

भाष्य—अन्त्यजः शूद्रश्चण्डालपर्यन्तः । श्रेष्ठः त्रैवर्णिकः । तं चेन्दिंस्यादङ्गेन केनचित् साक्षाद् दण्डखड्गादिप्रहरणव्यवधानेन वा— तदङ्गमस्य छेत्तव्यम् । ‘हिंसा’ च क्रोधेन प्रहरणं ताडनेच्छया हस्ताद्युद्यम्य वेगेन निपातनम्, न मारणमेव । तत्तदिति वीप्सा । अङ्गमिति छेत्तव्यमिति चैकत्वविवक्षा मा विज्ञायि । तेनानेकेनाङ्गेन प्रहरणेऽनेकस्यैव छेदः । अनुशासनमुपदेशः । मनुकृतैषा मर्यादा । अनुशासनग्रहणं कारुणिकस्य राज्ञः प्रवृत्त्यर्थः ॥२७९॥

हिन्दी—शूद्र जिस किसी अङ्ग (हाथ आदि) से द्विजाति को मारे (ताड़ित करे); राजा उसके उसी अङ्ग को कटवा डाले, यह मनु का आदेश है ॥२७९॥

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।

पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥२८०॥

उद्यम्योत्क्षिप्यैव कोपात्ताडनेच्छेस्तदङ्गमनिपातयतोऽस्य पाणिः छेत्तव्यः । दण्ड-ग्रहणं समानपीडाकरस्य हिंसासाधनस्योपलक्षणार्थम् । तेन मृदुशफादावन्यो दण्डः । पादेन प्रहरन्निति । अत्राप्युद्यम्येत्यपेक्षितव्यम् । अवगुरतोऽप्येष एव ॥२८०॥

हिन्दी—(राजा) हाथ उठाकर या डंडे (लाठी या छड़ी आदि) से ब्राह्मण को मारनेवाले शूद्र का हाथ कटवाले तथा पैर से ब्राह्मण को मारनेवाले शूद्र का पैर कटवाले ॥२८०॥

ब्राह्मण के साथ एकासन पर बैठने पर शूद्र को दंड—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।

कट्यां कृताङ्गो निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥२८१॥

भाष्य—उत्कृष्टो ब्राह्मणो जातितो दौःशील्यादवकृष्टोऽपि । इतरे वर्णा औत्तराधयेण परस्परापेक्षयोत्कृष्टाश्चावकृष्टाश्च । तत्र अवकृष्टज इति जनिना जन्मावकर्ष उपात्तः तत्संनिधानादुत्कर्षोऽपि जन्मनैव । जन्मना च निरपेक्षोत्कर्षो ब्राह्मणस्य नापकर्षः । तेन शूद्रस्यायं ब्राह्मणेन सहैकमासनमारूढवतो दण्डः । कटिः श्रोणी । तत्र कृतचिह्नः । अङ्गविधौ च न सुधाकुंकुमादिना चिह्नकरणमात्रमपि तु दण्डख्यापनार्थम्—

अतिक्रमाद्विभियुरिति । तेन देशान्तरे यदनपायि तच्चिह्नमायसो लेखनादुपदिश्यते । तथा च वक्ष्यति “उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिह्नयित्वेति” (३५२) । राष्ट्राच्च निष्कास्यः । स्फिक् श्रोण्येकदेशः । सव्यो दक्षिणश्च । तं चावकर्तयेत् । चिह्नेन विकल्पविधाना-
त्तावन्मात्रच्छेदो न सर्वस्य स्फिजः । अभिप्रेप्सुरिति च नेच्छामात्रेण कितर्हि प्राप्तवत
एव । इच्छाया शक्यापह्नवत्वाद्दण्डस्य च महत्त्वात् ॥२८१॥

हिन्दी—(राजा) ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठे हुए शूद्र की कमर को तपाये
गये लोहे से दगवाकर निकाल दे अथवा (जिससे मरने नहीं पाये इस प्रकार) उसके
नितम्ब को कटवा ले ॥२८१॥

शूक आदि से ब्राह्मण का अपमान करनेवाले शूद्र को दंड—

अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेत्पः ।

अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥२८२॥

भाष्य—मूत्रेणावसिंचतोऽभिमुखं वा तदवमानार्थं क्षिपतोऽसत्यपि संस्पर्शेऽव-
मानयते मूत्रेणेति निष्कर्तव्यः । समानफलत्वाद्देतस्यपि दण्डोऽयम् । ‘निष्ठीवनं’ नासिका-
स्यस्त्रावः । तस्य घ्राणेन क्षेपे नासापुटच्छेदः— “येनाङ्गेने” त्युक्तत्वात् । ‘शर्धनं’
कुत्सितो गुदशब्दः । दर्पान्न प्रमादात् ॥२८२॥

हिन्दी—शूद्र यदि ब्राह्मण का अपमान दर्प के कारण शूक फेंककर करे तो राजा
उस (शूद्र) के दोनों ओष्ठों को, मूत्र फेंककर करे तो उसके लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) को तथा
अपशब्द (पाद) कर करे तो उसके गुदा को कटवा ले ॥२८२॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।

पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥२८३॥

भाष्य—दर्पादित्यनुवर्तते । परिभवबुद्ध्या केशेषु ब्राह्मणं गृह्णतः शूद्रस्य हस्तौ
छेदयेत् । द्विवचनमेकेनापि दाभ्यां तुल्यपीडाकर उभयच्छेदो नैकस्यैव । दाढिका
श्मश्रु । अन्यदपि यदङ्गं गृह्यमाणं ग्रीवादितुल्यपीडाकरं तत्र सर्वथाप्ययमेव दण्डः ।
अविचारयन् । पीडा कियत्यस्य गृहीतस्य संजाता महती स्वल्पा वेत्येतदनुबन्धश्लोक-
प्राप्तं विचारणं निवार्यते । ग्रहणमात्रे दण्डः ॥२८३॥

हिन्दी—शूद्र यदि अभिमान से ब्राह्मण के बालों को पकड़ ले तो राजा (उस
ब्राह्मण को इससे कष्ट हुआ अथवा नहीं, इसका) बिना विचार किये उस शूद्र के
दोनों हाथों को कटवा ले और अभिमानपूर्वक मारने के लिए ब्राह्मण के दोनों पैरों,
दाढ़ी, गर्दन तथा अंडकोष को शूद्र यदि पकड़ ले तो उसे वही (दोनों हाथ कटवाने का)
दंड करे ॥२८३॥

चर्मभेदनादि में दंड-विधान—

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।

मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥२८४॥

भाष्य—द्विजातीनामयं परस्परापराधे । शूद्रस्य तु शूद्रापराधे उच्यते ।

यः केवलामेव त्वचं भिन्द्याद्विदारयेत् लोहितं दर्शयेत्तस्य शतं दण्डः । तावदेव लोहितदर्शने । यद्यपि त्वग्भेदमन्तरेण लोहितं दृश्यते तथाप्यधिकापराधादधिकदण्डे प्राप्ते शतवचनं नियमार्थम् । अन्ये तु कर्णनासिकादेरपि स्त्रवति शोणितं बहिस्त्वग्भेदोऽपि तदर्थमुच्यते इत्याहुः । तदयुक्तम् । अन्तर्भेदे हि महत्त्वान्महादण्डो युक्तः । तस्माद्यत्रेष्टस्त्रवति शोणितं तत्र शतम् । शिरोभेदे तु मांसवत् ।

निष्कशब्दः सुवर्णपरिमाणवाचीत्युक्तम् ।

प्रवास्योऽस्थिनां भेदकः तत्प्रयोजक इति । घञन्तेन समासं कृत्वा तं करोतीति पठितव्यः— अस्थिभेदकृदिति ।

‘प्रवासन’ अर्थशास्त्रप्रवृत्त्या मारणम्, निर्वासनं वा । दण्डविधौ ह्यर्थशास्त्रश्रवणं दृश्यते । तथाहि ‘दशबन्धमिति’ बार्हस्पत्य औशनस्ये च प्रयोगः । निर्वासनं ब्राह्मणस्य नान्येषाम् ॥२८४॥

हिन्दी—समान जातिवाला यदि (मारने से) किसी का चमड़ा निकाल दे अर्थात् ऐसा मारे कि आहत व्यक्ति का चमड़ा छूट जाय या रक्त बहने लगे तो सौ पण का दंड, मांस निकल आवे तो ६ निष्क (८।१३७) का दंड और हड्डी टूट जाय तो राज्य से बाहर निर्वासन का दंड अपराधी को सजा दे ॥२८४॥

वृक्ष आदि के काटने पर दंड-विधान—

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा ।

तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥

भाष्य—वनस्पतिग्रहणं सर्वस्थावरप्रदर्शनार्थम् । फलपुष्पपत्रच्छायादिना महोपभोग्यस्य वृक्षस्य हिंसायां दण्ड उत्तमसाहसः, मध्यमस्य मध्यमो निकृष्टस्य प्रथमः । तथा स्थानविशेषो द्रष्टव्यः— पत्रच्छेदः फलच्छेदः शाखाच्छेद इति । फलानामपि विशेषो महार्घता दुष्प्रापता । तथा स्थानविशेषोऽपि द्रष्टव्यः— सीमि चतुष्पथे तपोवन इति ॥२८५॥

हिन्दी—वृक्ष आदि सब पौधों के फल, फूल, पत्ता तथा लकड़ी आदि के द्वारा जैसा-जैसा उपयोग होता हो, उनको (काटने आदि से) नष्ट करनेवाले अपराधी को वैसा-

वैसा ही दण्ड (उत्तम साहस आदि) देना चाहिए ऐसा शास्त्रनिर्णय है ॥

विमर्श—इस विषय में ‘विष्णु का मत है कि— फल काम में आनेवाले पेड़ को काटनेवाले पर उत्तम साहस’ (१०० पण) फूल काम में आनेवाले पौधे को काटनेवाले पर ‘मध्यम साहस’ (५०० पण) बल्ली, गुल्म और लता आदि काटनेवाले पर १०० कार्षाषण (एक रुपया नौ आने) तथा तृण काटनेवाले पर एक कार्षाषण (और मनु के मत से १ पण) दण्ड करना चाहिए । ‘साहस पण, कार्षाषण’ का प्रमाण पूर्वोक्त वचनों (८।१३६-१३८) से ज्ञात करना चाहिए ।

पीडानुसार दण्ड-व्यवस्था—

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहते सति ।

यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥२८६॥

भाष्य—यदुक्तं त्वग्भेदक इति तस्य विशेषोऽयम् । असति मनुष्यग्रहणे प्राणि-मात्रहिंसाविषयत्वेऽस्य श्लोकस्य महापशूनां क्षुद्राणां च पशुपक्षिमृगाणां तुल्यदण्डता मा भूदिति तदर्थमिदम् ।

यथा यथा महद्दुःखमिति । स्वल्पे भेदने शोणिते च प्राणिनां महत्त्वादल्पत्वे प्रहारस्य । शतादूनोऽपि दण्डः । महति शतादभ्यधिकोऽपि ।

अन्ये तु महद्ग्रहणान्महति दुःखे दण्डवृद्ध्यर्थं नाल्पेऽपचयार्थम् । यथाश्रुतमेव तत्र **दुःखाय प्रहते** दुःखोत्पत्त्यर्थं प्रहारे । प्रमादतस्तु न वृद्धिः । “अनुबन्धं परिज्ञाय” इत्यस्यैव श्लोकद्वयमुदाहरणभङ्ग्या व्याख्येयम् ॥२८६॥

हिन्दी—मनुष्यों या पशुओं को दुःखित करने के लिए मारने पर उन्हें (मनुष्यों या पशुओं को) जैसी-जैसी (कम या अधिक) पीड़ा हो; उस पीड़ा के अनुसार ही (कम या अधिक) दण्ड से उक्त पीड़ा पहुँचानेवाले व्यक्ति को दण्डित करना चाहिये ॥२८६॥

आहत के स्वस्थ होने तक का व्यय दिलवाना—

अङ्गावपीडनायां च प्राणशोणितयोस्तथा ।

समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥

भाष्य—अङ्गानामवपीडना दृढरज्ज्वादिग्रहणसन्धिविश्लेषणादिना । तत्र यावता धनेन पथ्यभिषगौषधादिमूल्येन प्रत्यापत्तिमायाति तावत् पीडितस्य दाप्यः । एवं **प्राण-शोणितयोरवपीडनानामिति** समस्तमपि योज्यम् । अथवा **प्राणशोणितयोः** समुत्थान-व्ययं दाप्य इति सम्बन्धः सामर्थ्यादपचितयोरिति लभ्यते । **समुत्थानं** प्रकृत्यापत्तिः । **प्राणो** बलम् । प्रहारेणास्वस्थस्य भोजनादृते कार्शाद्युपपत्तौ बलमपचीयते । तत्राङ्गेऽ-

नष्टे प्रत्यागते च यावद्वललाभस्तावत्तदुपयोगि यत्किञ्चिद् घृततैलादि दापनीयः । एवं शोणिताद्युत्पत्तौ तद्बुर्बलीभूतस्य व्याध्यन्तरं वा प्राप्तस्याप्रकृतशरीरावस्थाप्राप्तेः समुत्थानव्ययं दाप्यः ।

न चेत्तद्गृह्णाति तदा तच्च दण्डं च परिपिण्ड्य सर्वं राज्ञे दद्यात् ॥२८७॥

हिन्दी—अङ्ग के कटने, टूटने घाव होने या रक्त बहने पर रोगी (आहत व्यक्ति) के पूर्वावस्था में आने अर्थात् स्वस्थ होने तक (औषधादि में) जो व्यय हो, उसे राजा अपराधी से दिलवावे (और यदि अपराधी उक्त व्यय को नहीं देना चाहे तब राजा) उक्त (औषधादि के) व्यय को और पीड़ा पहुँचाने पर विहित शास्त्रोक्त दण्ड को भी दिलवावे ॥२८७॥

वस्तु के नष्ट करने पर दण्ड विधान—

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।

स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

भाष्य—द्रव्याणि गृहोपकरणाद्यन्यानि वाऽनुक्तदण्डविशेषाणि शूर्पोलूखल-घटस्थालीपिठरादीनि । तेषां 'हिंसा' प्राग्रूपनाशः सत्यपि कार्यक्षमत्वे । ज्ञानतोऽज्ञानत इति प्रमादकृते बुद्धिपूर्वं चाविशेषेण हिंसनात् तस्य द्रव्यस्वामिनो जनयेत्परितोषं तद्रूपान्यदानेन मूल्येन प्रणयेन वा । राज्ञे तु द्रव्यमूल्यं द्रव्यं वा दद्यात् । अस्य क्वचिदपवादः ॥२८८॥

हिन्दी—जो मनुष्य जिस किसी की वस्तु को जान-बूझकर या अज्ञानावस्था में नष्ट करे तो वह मनुष्य नष्ट हुई वस्तु का (वास्तविक) मूल्य उस वस्तु के स्वामी को तथा उतना ही मूल्य दण्ड-स्वरूप राजा को दे ॥२८८॥

चर्मादिनिर्मित पदार्थादि को नष्ट करने पर दण्डविधान—

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ।

मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥२८९॥

भाष्य—चर्मचार्मिकयोर्द्वन्द्वं कृत्वा भाण्डपदेन विशेष्येण समासः । अथवा चार्मिक-भाण्डयोर्विशेषणसमासं कृत्वा चर्मशब्देन द्वन्द्वः । चर्मविकाराच्चार्मिकाणि भाण्डानि कटिसूत्रवरत्रादीनि । चर्माण्यविकृतानि । गवादीनाम् । अथवा चर्मभाण्डानि केवलचर्म-मयानि, चर्मावनद्धानि चार्मिकाणि । काष्ठमयभाण्डान्यलूखलमुसलफलकादीनि । लोष्ठो मृद्विकारः पाषाणाकृतिः पिण्डीभूता मृत् । तन्मयानि स्वल्पपाकाधानादीनि । तन्नाशने मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः । तुष्ट्युत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितैव ॥२८९॥

हिन्दी—चमड़ा, चमड़े से बने पदार्थ (रस्सी, घी-तेल का कुप्पा, जूता आदि), लकड़ी और मिट्टी के बर्तन, फूल, मूल, (कन्द) तथा फल को नष्ट करनेवाला व्यक्ति नष्ट हुए पदार्थों के मूल्य का पाँच गुना धन राजा को दण्ड-स्वरूप में दे, (तथा उन पदार्थों के स्वामी को उन नष्ट पदार्थों का मूल्य देकर तुष्ट करे) ॥२८९॥

रथादि के नष्ट होने पर दण्डाभाव—

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।

दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥२९०॥

भाष्य—सत्यामपि हिंसायां क्वचिदोषो नास्तीत्येतदनेन प्रकरणेन प्रदर्शयते । यानं गन्यादि यदारुह्य यान्ति पन्थानम् । तच्च गन्यादि बलीवर्दगर्दभमहिषादिवाह्यम् । त एव वा गर्दभादयः पृष्ठारोह्या यानानि । याता तदारूढः सारथ्यादिः । यानस्वामी यस्य तत्स्वयानम् । तत्रैषां चक्रवेगादिभी रथ्याकर्षणयुक्तैर्वाऽश्वादिभिः कस्यचिद्द्रव्यस्य नाशो वा मरणम् । तत्र पशुस्वामिपालव्यतिक्रमन्याये प्राप्ते कदाचिद्घातुर्दोषः कदाचित्स्वामिनः कदाचिदुभयोः कदाचिन्न कस्यचिदपीति यो विशेषस्तत्र नोक्त इहैवेष्यते— स उच्यते । **अतिवर्तनानि**— अतिक्रम्य हिंसादण्डं वर्तते, नात्र दण्डोऽस्ति, दण्डनिमित्तानि न भवन्तीति यावत् । **शेषे दण्ड** उक्तेभ्यो निमित्तेभ्योऽन्यत्र । तान्यपि वक्ष्यति ॥२९०॥

यत्र नास्ति दोषस्तानि तावदाह—

हिन्दी—रथ, गाड़ी आदि सवारी, सारथि (उनका चालक गाड़ीवान, एक्कावान, कोचवान आदि) और स्वामी, इन पर वक्ष्यमाण (८।२९१-२९२) दश अवस्थाओं में किसी के मर जाने या किसी सामान के नष्ट हो जाने पर दण्ड नहीं किया जाता तथा इन (वक्ष्यमाण-८।२९१-२९२) दश अवस्थाओं के अतिरिक्त अवस्था में दण्ड किया जाता है ॥२९०॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।

अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥२९१॥

छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।

आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२९२॥

भाष्य—नासायां भवं नास्यम् । शरीरावयवाद्यत् । नासिकापुटसंयोगिनी बलीवर्दानां रज्जुरश्चानां खलीनं हस्तिनामङ्कुशः । तस्मिन् छिन्ने त्रुटिते । युगे च भग्ने । रथाङ्गकाष्ठं युगम् । छिन्नं नास्यमस्येति बहुव्रीहिणा रथ उच्यते पशुर्वा— उभयोरपि साक्षात्पारम्पर्येण सम्बन्धात् । तिर्यक्प्रतिमुखागते याने । तिरश्चीनं वा प्रतीचीनं वा कथंचिद्भूवैषम्यात्पशुत्रासाद्वा यानं गच्छत् कंचिदपराध्येन दुष्येत् । प्राजको हि संमुखी-

नाञ्छक्तो रक्षितुं तिर्यक् प्रत्यगवस्थितौ त्वदृश्यमानस्य कथं रक्षतु । 'प्रतिमुखागतं' प्रत्यगावृत्तिः ।

अन्ये तु तिर्यगागते हिंस्यमाने ऋजुगामिन्येव याने न दोषमाहुः— प्रतिमुखं चाभिमुखं मन्यन्ते । अभिमुखागतः किमिति चक्रिणं दृष्ट्वा पन्थानं न ददाति ।

अक्षचक्रे रथाङ्गे प्रसिद्धे । **यन्त्राणि** चर्मबन्धनानि शकटकाष्ठानाम् । **योक्त्रं** पशुग्रीवाकाष्ठम् । **रश्मिः** प्रग्रहो हस्तव्रध्नं युग्यानां संचरणनियमनार्थः । **आक्रन्द** उच्चैः शब्दोऽपैहीत्यपसरेत्यर्थः । इतिकरणो भाषाप्रसिद्धतदर्थशब्दोच्चारणार्थो, न त्वय-मेव शब्दः प्रयोक्तव्यः । अविधेयेषु युग्येष्वसरापसरेति क्रोशतः प्राजकस्य पथो नाति-क्रामन्यादि हिंस्यान्न दोषः ॥२९१-२९२॥

हिन्दी—(१) बैल के नाथ टूट जाने पर, (२) जूवा के टूट जाने पर, (३) भूमि के ऊँची-नीची होने से गाड़ी के तिर्छा (एकवाई) हो जाने पर, (४) उलट जाने पर, (५) धूरा टूट जाने पर, (६) पहिया टूट जाने पर, (७) चमड़े (या रस्सी आदि) के जोड़ कट (या खुल), जाने पर (८) जोता (बैल आदि रथवाहक पशु के गले में लगी हुई रस्सी) के टूट जाने पर, (९) रास (सारथि के हाथ द्वारा पकड़ी जानेवाली रस्सी) के टूट जाने पर और (१०) 'हट जावो, हट जावो' ऐसा सारथि के चिल्लाने पर (यदि कोई वस्तु नष्ट हो जाय या कोई मर जाय तो सारथि आदि) कोई दंडनीय नहीं होता है ऐसा मनु ने कहा है ॥२९१-२९२॥

सारथि की मूर्खता से किसी के मरने पर स्वामी को दण्ड—

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।

तत्र स्वामी भवेदण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

हिन्दी—जहाँ सारथि की मूर्खता से रथ के इधर-उधर अर्थात् उल्टा-सीधा होने के कारण कोई मर जाय तो (मूर्ख सारथि रखने के कारण उसके स्वामी पर) दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ।

सारथि के चतुर होने आदि अवस्था में दण्डविधान—

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।

युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

भाष्य—प्राजको यानसारथितस्य वैगुण्यमशिक्षितत्वं न तु प्रमादः । प्रमादे हि शिक्षितस्य स्वामिनो न दोषः । तस्माद्धेतोर्यदि युग्यं यानं सहसाऽपवर्तते स्पष्टं मार्गं हित्वा तिर्यक् पश्चाद्वा गच्छेत् किंचिन्नाशयेत्तत्र स्वामी दण्ड्यः । अशिक्षितः प्राजकः किमित्यारोपितः । “मनुष्यमारणे क्षिप्रम्” (२९६) इत्यादिना वक्ष्यमाणेन प्राणिभेदेन

द्रव्यभेदेन च दण्डान्तरविधानाद्द्विशतमित्यविवक्षितम् । दण्डनिमित्तमेतदित्येतावतैव वाक्यस्यार्थवत्त्वादुत्तरत्र न कश्चिदन्योऽर्थः श्रूयते येन वाक्यं तत्र संख्याविधायकमित्युच्येत ॥२९३-२९४॥

हिन्दी—यदि सारथि चतुर हो (और कोई वस्तु नष्ट हो जाय) तो वही (सारथि ही) दो सौ पण से दण्डनीय होता है तथा यदि सारथि चतुर नहीं हो तो उस (रथ गाड़ी आदि) पर सवार होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति (मूर्ख सारथि वाले सवारी पर चढ़ने के कारण) सौ-सौ पण से दण्डनीय होते हैं (और स्वामी को दो सौ पण से दण्डनीय होने का विधान पहले) (८।२९३ कह ही चुके हैं) ॥२९४॥

अन्यान्य अवस्थाओं में दण्डविधान—

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।

प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥२९५॥

भाष्य—उक्तो हिंसायां दमः । तत्र विशेषं वक्तुमिदमाह । स प्राजकः **पथि संरुद्धोऽप्रेघनावसर्पिणा संरुद्धो** निरुद्धगतिः पश्चात्स्थितेनासुशिक्षितत्वात्प्रमादाद्वा वेगेन धुर्याश्चोदिताः पुनः स्थिरयतश्चेन्निकटो रथस्तेन च तस्य वेगनिरोधे कृते यदि पुरो-रथस्थावेगपातात्पशुभिः रथयुक्तैरश्वदिभिः । **रथेन** रथावयवैर्वा । प्राणिनो मनुष्या-दीन्मारयेत् । ततो दण्डस्य विचारो नास्ति । स्थित एव दण्डः ।

अथवा जवोत्पतिता अश्वाः पथि संरोधकसंमुखीनरथदर्शनेन बलाद्विधार्यमाणा-स्तिर्यग्गत्या गच्छेयुः पार्श्वकीयान् प्रत्यगवस्थितत्वात्तथा हन्युस्तत्र दण्डो विचारितो नास्ति— प्राजके दोषाभावात् ।

अथवा पथि स्थितो वर्तमानः संरुद्धो न विधियमाणः ।

अथवा **विचारितो** विशेषेण विहितो विशेषित इति यावत् ॥२९५॥

हिन्दी—मार्ग में रथ-पशुओं या रथादि से रुका हुआ भी सारथि रथ (गाड़ी आदि) हांके और (उसी कारण) किसी की मृत्यु हो जाय तो राजा बिना विचार किये अर्थात् शीघ्र ही उस सारथि को दण्डित करे ॥२९५॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।

प्राणभृत्सु महत्स्वर्थं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥२९६॥

भाष्य—तादृशे प्राजके रथपशुभिर्मनुष्यश्चेन्मार्यते तदा **चौरवत्तस्य किल्बिषं** दण्डः । यद्यपि चौरस्य वधः सर्वस्वहरणादयो दण्डास्तथापीह धनदण्ड एव गृह्यते न वधः । **महत्स्वर्थमिति** तत्रैवार्थसम्भवात् । स चोत्तमसाहसः कैश्चिदभ्युपगतः । यतश्च क्षते क्षुद्रकपशूनां तृतीयस्थानप्राप्तानां द्विशतो दमोऽतः प्रथमस्थानां मुख्यानामुत्तमो युक्त

इति । **प्राणभृतः** प्राणवन्तो मनुष्यतिर्यक्पक्ष्यादयः । **महत्सु** महत्त्वं गवां प्रभावतो हस्त्यादीनां प्रमाणतः । **आदिग्रहणाद्गर्दभाश्च**तरव्याघ्रादयश्च कथंचित्परिगृह्यन्ते ।

वयं तु ब्रूमः— ‘सहस्रम्’ इत्येवमवक्ष्यत् यद्यन्ये चौरवद्दण्डा नाभिप्रेता अभविष्यन् । तस्मादर्धग्रहणाद्वधो मा भूद्धनदण्डास्तु सर्वस्वहरणादयः सर्वे चौरोक्ताः पुरुषापेक्षयातिदिश्यन्ते ।

ननु च मनुष्यमारणेऽन्यस्य चौरदण्डस्यातिदेशोऽयुक्तः । स प्रतिपदं मनुष्यहनने विहितः । स च ‘पुरुषाणां कुलीनानामिति’ (३३२) वध एव । तत्र किमिति वाक्यान्तरगतार्धशब्दानुरोधेनैवं व्याख्यायते । वरमर्धस्यैव गुणतः काचिद्वृत्तिराश्रीयताम् ॥”

सत्यं— यदि धर्मशब्दो मारणेन सम्बध्यमानोऽन्यथोपपद्येत । न च चौरवदित्यस्यानुषङ्गागतस्यार्थान्तरवृत्तिः पूर्वापरवाक्ययोः शक्या ॥२९६॥

हिन्दी—(अब एक बार अपराध होने पर दण्ड-विधान कहते हैं—) सारथि की असावधानी से मनुष्य के मर जाने पर उसे (सारथि को) चोर के समान पाप लगता है (अतः वह ‘उत्तम साहस’ अर्थात् १००० पण से दण्डनीय होता है), तथा बड़े जीव, ऊँट, गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि के मरने पर आधा पाप लगता है (अतः वह ‘मध्यम साहस’ अर्थात् ५०० पण से दण्डनीय होता है) ॥२९६॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।

पञ्चाशत् भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥२९७॥

भाष्य—अपचितपरिमाणाः **क्षुद्रकाः** । ते च केचिद्व्यस्तः, वत्सकिशोरककलभादयः । केचिज्जातिस्वभावतः, अजैडकादयः । तत्राजाविकानां पञ्च माषान्वक्ष्यति । परिशेषाणां गवादीनामेवायं दण्डोऽल्पपरिमाणानाम् । **शुभा** मृगाः पृषतादयः— आकारतो लक्षणतश्च । **पक्षिणो** हंसशुकसारिकादयः । अशुभाः काकोलूकशृगालादयः । **पशु-**शब्दश्चतुष्पाज्जातिवचनः ।

हिंसामात्रेण दण्डमिममिच्छन्ति । न प्रकृतयानविधिहेतुं ब्रुवते । ‘तत्र दण्डो विचारित’ (२९५) इत्यनेनैव यानप्रकरणं व्यवच्छिन्नम् । विचारितः समाप्तविचार इत्यर्थः । इदानीमेतत्प्रकरणनिरपेक्षमुच्यत इति । एवं तु “प्राणभृतसु महत्स्वर्धमिति” हस्तादिच्छेदनं ‘मारण’मित्यर्धशब्दो नेयः स्मृत्यन्तरात् ॥२९७॥

हिन्दी—(स्वरूप अर्थात् कद या आयु में) छोटे पशुओं के मर जाने पर दो सौ पण तथा शुभ मृग (रुरु, पृषत् आदि जाति का हरिण) और शुभ पक्षी (शुक, मैना, हंस, सारस आदि) के मर जाने पर पचास पण से वह सारथि दण्डनीय होता है ।

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पाञ्चमाषिकः ।

माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥२९८॥

भाष्य—पञ्च माषाः परिमाणमस्येति पाञ्चमाषिकः । माषस्य च द्रव्यजातेरनुप-
पादनान्मध्यमकल्पनायाश्च न्याय्यत्वादौष्यस्य निर्देशोऽयमित्याहुः । हिरण्यं तु युक्तम् ।
एवं तत्सममिति न वाधितं भवति । अनुबन्धाद्यपेक्षया तु द्रव्यजातिः कल्प्येति
सिद्धान्तः ॥२९८॥

हिन्दी—गधा, बकरी, भेड़ के मर जाने पर पाँच मासा (चाँदी) तथा कुत्ता और
सूअर के मर जाने पर एक मासा चाँदी से वह सारथि दण्डनीय होता है ॥२९८॥

शिक्षार्थ स्त्री-पुत्रादि के लिए दण्ड—

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।

प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥२९९॥

भाष्य—प्राप्ता अपराधं प्राप्तापराधाः । 'अपराधो' व्यतिक्रमः नीतिभ्रंशः । स
यदा तैः कृतो भवति तदा ताडयितव्याः । ताडनमपि हिंसेत्युक्तम् । सा च “न
हिंस्याद्भूतानीति” प्रतिषिद्धाऽपराधे निमित्ते भार्यादीनां प्रतिप्रसूयते । सम्बन्धिशब्दाश्चैते ।
या यस्य भार्या यश्च यस्य दासः स तेनानुशासनीयः । मार्गस्थापनोपायविधिपरश्चायम्,
न ताडनविधिरेव । तेन वाग्दण्डाद्यपि कर्तव्यम् । अपराधानुरूपेण कदाचित्ताडनम् ।
सोदस्थाने कनीयान्पठितव्यः— भ्राता तथानुजः । स हि ज्येष्ठस्य पुत्रवत्ताडनार्हः ।
वैमात्रेयोऽपि चेदपितृको गुणवज्ज्येष्ठतन्त्रश्च । सोऽप्युन्मार्गगामी ताडनादिपर्यन्तैरुपायै-
निवारणीयः । वेणुदलं वंशत्वक् । एतदप्युपलक्षणं— तथाविधानां मृदुपीडासाधनानां
शिफादीनाम् ॥२९९॥

हिन्दी—स्त्री, पुत्र, दास, प्रेष्य (बाहर भेजा जानेवाला नौकर), सहोदर (छोटा) भाई
यदि अपराध करे तो उसे रस्सी से या पतली बाँस की छड़ी से (शिक्षार्थ) ताड़न करना
चाहिये ॥२९९॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।

अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥३००॥

भाष्य—उक्तताडनदेशसाधनाभ्यामन्येन प्रकारेण घनद्रव्यादिषु लगुडादिभिर्वाचौर-
दण्डं प्राप्नोति । निन्दैषा । न त्वयमेव दण्डः । योऽन्यत्र हिंसायां दण्डः सोऽत्र भवती-
त्युक्तं भवति ॥३००॥

हिन्दी—(अभिभावक) उन्हें (रस्सी या पतली बाँस की छड़ी) से पीठपर मारे,
मस्तक पर कदापि न मारे अन्यथा मस्तकपर मारता हुआ मनुष्य चोर के समान पाप

(वाग्दण्ड, बन्धन दण्डादि) का भागी होता है ॥३००॥

चोर के लिए दण्डविधान—

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।

स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥३०१॥

भाष्य—एष निःशेषेणोक्तो दण्डपारुष्यनिर्णयो दण्डव्यवस्था । दण्डशब्दो हि साधनोपलक्षकतया विवादपदेऽन्वितार्थः । नामधेये पूर्वपदम् । स्तेनस्य चौरस्य दण्ड-भेदानतः परं वक्ष्यामीत्युपसंहारोपन्यासार्थः श्लोकः ॥३०१॥

हिन्दी—(महर्षियों से भृगु जी कहते हैं कि—मैंने) यह (८।२७९-३००) दण्ड की कठोरता का निर्णय पूर्णतया कहा, अब इसके आगे (८।३०१-३४४) चोर के दण्ड के निर्णय का विधान कहूँगा ॥३०१॥

चोरनिग्रह राजकर्तव्य—

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।

स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥

भाष्य—कश्चित्करुणावान् क्रूरं हिंसा कर्मेति मन्यमानो न प्रवर्तते । अतस्तत्प्रवृत्त्यर्थं स्तेननिग्रहस्तुत्यर्थवादः प्रक्रम्यते । नात्र हिंसादोषोऽस्ति । प्रत्युत दृष्टोपकार-हेतुत्वात्स्तेनहिंसैव श्रेयस्करी । वेदतुल्यतां च ख्यापयितुमर्थवादा भूयांसः । तत्र हि प्रायेण सार्थवादका विध्युद्देशा इति । तत्प्रतीत्यनुसरणेन वैदिकोऽयमर्थ इति प्रसिद्धिः । भवन्ति चात्र केचित्प्रतिपत्तारो ये स्तुतिभिरतितरां प्रवर्तन्ते ।

परमं यत्नं प्रकृष्टमतिशयवत्तात्पर्यमाश्रयेत् । चरैश्चारयेत् साक्षात्प्रकाशं चाति-प्रयत्नतः । **स्तेनाश्चौराः** । **निग्रहो** नियमनवधबन्धनादि । एवं कृते **यशः** ख्याति-र्भवति । निरुपद्रवोऽस्य राज्ञो देशः स्तेना नाभिभवन्ति निशा दिवा तुल्या तत्रेति सर्वत्र स्थितं भवति । **राष्ट्रं वर्धते** । राष्ट्रं जनपदस्तस्मिन्निवासिनश्च पुरुषाश्चौरैरनुपद्रूयमाणा वर्धन्ते । श्रीभिः प्रमोदमाना बहु पर्यन्ते देशान्तरस्था अपि निरुपद्रवं राष्ट्रमाश्रयन्ते । ततो वर्धते ॥३०२॥

हिन्दी—राजा चोरों का निग्रह करने के लिए पूर्णतया प्रयत्न करे; क्योंकि चोरी के निग्रह से इस (राजा) के यश तथा राज की वृद्धि होती है ॥३०२॥

चोर से अभय करने का फल—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।

सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥३०३॥

भाष्य—अभयं चौरादिभ्योऽधिकृतेभ्यश्चासद्वण्डनिवारणेन यो ददाति स सर्वदैव पूज्यो भवति । स्वैरकथास्वपि राज्याच्च्युतो वनस्थोऽपि । सत्रं क्रतुविशेषो गवाम-यनादि । तदस्य वर्धते निष्पद्यते । सर्वाङ्गसमुत्पन्नमेवंगुणमित्येतद्वर्धत इत्यनेनाहरहः सत्रफलं प्राप्नोतीत्यर्थः । **अभयं** यत्र दक्षिणा । अन्येषु सत्रेषु दक्षिणा नास्ति । इदं तु सर्वेभ्योऽपि विशिष्टं यद्दक्षिणावत् । सा च गवाश्वादि— दक्षिणाविलक्षणेत्यर्थवान्सत्र-व्यतिरेकः ॥३०३॥

हिन्दी—जो राजा (प्रजाओं को चोरों से) अभय करनेवाला है वह अवश्यमेव पूज्य (प्रशंसनीय) है; क्योंकि उस (चोरों से अभय करनेवाले राजा) का अभयरूपी दक्षिणा वाला यज्ञ सर्वदैव बढ़ता है ॥३०३॥

राजा को धर्माधर्म के षष्ठांश की प्राप्ति—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥३०४॥

भाष्य—सर्वतः प्रकाशाद्यज्ञादेः तथा ग्रामवासिभिः वनवासिभिश्च कृताद्धर्मषड्-भागं राजा लभते । एवमधर्मादपि चौरैः प्रच्छ कृताद्राज्ञः षड्भागो भवति । न केवलं स्तेनैर्ये मुष्यन्ते तदरक्षातो राज्ञामधर्मो यावद्ये हरन्ति तेषामपि चौर्यभावेनाधर्मोदयस्त-दंशेनापि राजानः सम्बध्यन्ते ताननिगृह्णन्तः । अदृष्टदोषसम्बन्धनिवारणमपि रक्ष्याणां रक्षैव । तत्राधिकृतस्य राज्ञस्तदकरणाद्युक्तः प्रत्यवायः । “ननु च भृतिपरिक्रीतत्वाद्धर्म-षड्भागमयुक्तम् ।” उक्तं दीनानाथप्रव्रजितादयः सन्त्यकरप्रदाः । परिपूर्णस्वधर्मपालने कानुपपत्तिः ॥३०४॥

हिन्दी—प्रजाओं की रक्षा करनेवाले राजा को सबके धर्म का छठा भाग प्राप्त होता है और (प्रजा की) रक्षा नहीं करनेवाले राजा को अधर्म का भी छठा भाग प्राप्त होता है ॥३०४॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।

तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥

भाष्य—यदुक्तं ‘सर्वत’ इति तस्य प्रपञ्चोऽयम् । अध्ययनादयो धर्मार्थतयाऽन्यत्र ज्ञापिताः प्रसिद्धरूपाश्च । ‘अर्चनं’ देवगुरुणां पूजनम् । तस्येति कर्मणोऽध्ययनादेः पदार्थस्येति योजनीयम् । क्रियायाः स्त्रीलिङ्गत्वात् । **षड्भाग इति** । न च कर्तुः पञ्च-कर्मफलांशात् षष्ठो नृपतेः, समग्रकर्मफलभोक्तृत्वस्याधिकारतः कर्तुरवगतत्वात् । अपि तु सम्यग्रक्षणात्स्वकर्मानुष्ठानात्तावन्मात्रं राज्ञः फलमुत्पद्यत इति । नान्यकृतस्य शुभस्याशुभस्य वा अन्यत्र गमनम् । नाकर्तुः फलमस्तीति स्थितम् ॥३०५॥

हिन्दी—(राज्य में रहनेवाली प्रजा) जो (वेदादि) पढ़ती है, यज्ञ करती है, दान देती है तथा (देवादि का) पूजन करती है; उस (पुण्य) का छठाँ भाग अच्छी तरह (प्रजा की) रक्षा करनेवाले राजा को प्राप्त होता है ॥३०५॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्याश्च घातयन् ।

यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥३०६॥

भाष्य—भूतानि स्थावरजङ्गमानि चौरैभ्यो रक्षन् । वध्याश्च शास्त्रतो वधार्हाः—तांश्च घातयन् । सहस्रशतदक्षिणानां पौण्डरीकादीनां क्रतूनां फलमन्वहं राजा प्राप्नोतीति स्तुतिः ॥३०६॥

हिन्दी—(निरपराध स्थावर-जङ्गम सब) जीवों की धर्मपूर्वक रक्षा करता हुआ तथा वधयोग्य जीवों का वध करता हुआ राजा प्रतिदिन सहस्रों-सैकड़ों दक्षिणा वाले यज्ञों को करता रहता है ॥३०६॥

विमर्श—सहस्रों-सैकड़ों जीवों की रक्षा करने से उस राजा को यज्ञ के समान तज्जन्य पुण्य प्राप्त होता है ॥

अरक्षक करग्रहीता की निन्दा—

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।

प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥३०७॥

भाष्य—बलिप्रभृतीनि राजाग्राह्यकरनामानि देशभेदे सूपमाणवकवत्प्रसिद्धानि । तत्र बलिर्धान्यादेः षष्ठो भागः । करो द्रव्यादानम् । शुल्कं वणिक्प्राप्यभागः । प्रतिभागं फलभरणिकाद्युपायनम् । राजैतद्गृह्णाति चौरैभ्यश्च न रक्षति स सद्य आयुः-क्षयान्नरकं गच्छेत् । गृहीत्वा राजभागं रक्षा कर्तव्या नरकायुःक्षयभयादिति श्लोकात्तात्पर्यम् ॥३०७॥

हिन्दी—(प्रजाओं की) रक्षा नहीं करता हुआ जो राजा बलि, कर, शुल्क (टैक्स) तथा प्रतिभाग दण्ड को (प्रजाओं से) लेता है; (मरकर) तत्काल नरक को जाता है ॥३०७॥

विमर्श—प्रजाओं से राजा को प्राप्त होनेवाला अन्न आदि का छठा भाग 'बलि', प्रतिमास या प्रति छठे मास (भाद्र तथा पौष) में प्राप्तव्य राजभान 'कर', स्थल-जलादि मार्ग से व्यापार करनेवालों से विक्रय-द्रव्यानुसार लिया जानेवाला धन अर्थात् चुङ्गी या कस्टम, (आयात-निर्यात-कर) 'शुल्क' फल, फूल, शाक आदि के रूप में लिया जानेवाला राजभाग 'प्रतिभाग' और जुर्माने के रूप में लिया जानेवाला राज-भाग 'दण्ड' कहलाता है ।

अरक्षितारमत्तारं बलिषड्भागहारिणम् ।

तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥३०८॥

भाष्य—पूर्वस्य शेषोऽयं निन्दार्थवादः । न रक्षति श्रुता । उपजीविता प्रजानां राजभागग्रहणेन । एतदेव स्पष्टयति । **बलिषड्भागहारिणं** तं तादृशं राजानमाहुः शिष्टाः **सर्वलोकस्य** सर्वस्याः प्रजायाः **समग्रं मलं** पापं तस्य **हारकं** स्वीकर्तारम् । सर्वेण प्रजापापेन दूष्यत इत्यर्थः ॥३०८॥

हिन्दी—(निर्दोष प्रजा की दुष्ट चौरादि से) रक्षा नहीं करता हुआ तथा (प्रजा से) छठे भाग के रूप में बलि (राजग्राह्य भाग) को लेता हुआ सब लोकों के सब पापों का हरण (ग्रहण) करनेवाला होता है, ऐसा मनु आदि ऋषि कहते हैं ॥३०८॥

अनवेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।

अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥३०९॥

भाष्य—मर्यादा शास्त्रशिष्टसमाचारनिरूढा धर्मव्यवस्था—साऽनवेक्षिताऽतिक्रान्ता येन । ‘नास्ति परलोको नास्ति दत्तं नास्ति हुतमिति’ **नास्तिकः** । प्रथमो रागादिना त्यक्तधर्मः, नास्ति वस्त्विति विपरीताभिनिवेशः । विलुम्पति हरति धनान्यसद्दण्डैः प्रजानाम् । तत्तुल्योऽरक्षिता । **तमधोगतिं विद्यान्नरकपतितमधोगतं** विद्यान्नरकपतितमेवाचिरात् । पाठान्तरम्—‘असत्यं च नृपं त्यजेत्’ । अन्यदुक्त्वाऽन्यत्करोति यस्तं त्यजेत्तद्विषये नासीत् ॥३०९॥

हिन्दी—शास्त्रमर्यादा को नहीं माननेवाले, नास्तिक, (लोभादि के वशीभूत होकर) अनुचित दण्ड आदि के द्वारा धन लेनेवाले, रक्षा नहीं करनेवाले और (कर, बलि आदि का) भोग करनेवाले राजा की अधोगति जाननी चाहिये ॥३०९॥

अधार्मिक का तीन प्रकार से निग्रह—

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।

निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥

भाष्य—अर्थवादैर्दृढीकृत्य निग्रहविधिभिर्दानीं प्रस्तौति । **अधार्मिकः** । प्रकरणाच्चौरः । तं **त्रिभिर्नियमनप्रकारैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः** । **न्यायो** नियामकः । **निरोधनं** राजदुर्गे बन्धनागारे धरणम् । **बन्धस्तत्रैव** रज्जुनिगडादिभिरस्वातन्त्र्योत्पादनम् । **विविधो** वयस्ताडनादारभ्य शरीरनाशनात् प्राणात्यागपर्यन्तः । निर्देशादेव त्रित्वे लब्धे **त्रिभिरिति** वचनमन्येषामपि नियमनप्रकाराणां परिग्रहणार्थम् । तेन तप्ततैलसेकादयोऽपि परिगृहीता भवन्ति ॥३१०॥

हिन्दी—(अतएव धार्मिक राजा अपराध के अनुसार) विरोध (हवालात या कैदखाने

में बन्द) करना, बन्धन (हथकड़ी, बेड़ी आदि डालना) और अनेक प्रकार के वध (ताड़न-मारण आदि); इन तीन उपायों से अधार्मिक (चोर आदि) का प्रयत्नपूर्वक निग्रह (कर उन्हें दण्डित) करे ॥३१०॥

पाप-निग्रह तथा सज्जनानुग्रह का फल—

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।

द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥

भाष्य—पापयुक्ताः पुरुषाः पापाः । तेषां निग्रहः पूर्वोक्तः । यथाशास्त्रवर्तिनः साधवः । तेषां संग्रहोऽनुग्रहो यथाशक्त्युपकारः । तेन पूयन्ते विपाप्मानो भवन्ति प्रायश्चित्तेन वेत्यर्थवादः । अथवा पापानुत्पत्तिरेव पूतत्वम् । ब्राह्मणा इव सततमिज्याभिः नित्यैर्महायज्ञादिभिः ॥३११॥

हिन्दी—पापियों के निग्रह (दण्डित कर रोकथाम करने) तथा सज्जनों पर अनुग्रह करने से राजा, यज्ञों से द्विजातियों के समान सर्वदा पवित्र अर्थात् पुण्यवान् होता है ॥३११॥

वादी-प्रतिवादी तथा बाल-वृद्धादि के आक्षेप को सहना—

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।

बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥३१२॥

भाष्य—कार्यिणोऽर्थिप्रत्यर्थिज्ञातिसुहृदः । कस्मिंश्चिद्विध्यमाने यदि तत्पिता तन्माता वा राजानं क्षिपेत्कुत्सयेत् अभिशपेद्वा तदा क्षमा कार्या । बालादीनां कार्यिणामपि । एवमात्मने हितं कृतं भवति । क्षन्तव्यमित्येताद्विधेः फलमेवात्महितम् ॥३१२॥

हिन्दी—स्व-हित-कर्ता राजा (दुःखित) वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह) के और बालक, बूढ़े और आर्त (रोगी आदि) के आक्षेपों को सहन करे ॥३१२॥

उक्ताक्षेप सहने आदि का फल—

यः क्षिप्तो मर्षयत्यातैस्तेन स्वर्गे महीयते ।

यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥३१३॥

भाष्य—आर्तैर्दण्ड्यमानतत्सम्बन्धिभिरभिक्षिप्त आक्रुष्टो यन्मर्षयति न क्रुध्यति तेन क्षमणेन स्वर्गे महीयते । कण्ड्वादित्वाद् यः । महत्त्वं प्राप्नोति स्वर्गे । अकोपेन तर्हि क्षमा कर्तव्या । अकामिनो यथाकामी अत आह । यत्तु प्रभुरहमित्यभिमानेन न सहते तेन नरकं प्राप्नोति । आर्तग्रहणं बालवृद्धयोरपि प्रदर्शनार्थं पूर्वशेषत्वादस्य ॥३१३॥

हिन्दी—जो राजा दुःखितों के आक्षिप्त (कठोर वचनों को) सहता है, उससे वह

‘स्वर्ग में पूजित होता (आदर पाता) है; किन्तु जो ऐश्वर्य (स्वामित्व के अभिमान) से (दुःखितों के आक्षेपों को) नहीं सहता है, उससे वह नरक जाता है ॥३१३॥

ब्राह्मण के सुवर्ण को चुरानेवाले का कर्तव्य—

राजा स्तेनेन गंतव्यो मुक्तकेशेन धीमता ।

आचक्षणेन तत्स्तेयमेवंकर्माऽस्मि शाधि माम् ॥३१४॥

स्कन्धेनादाय मुशलं लगुडं वाऽपि खादिरम् ।

शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥३१५॥

भाष्य—अविशेषोपादाने सुवर्णहारी स्तेनो द्रष्टव्यः । तस्यैव शास्त्रान्तरे गमन-विधानात् । न चेदमागमनपरं विधिशास्त्रम्, दण्डविधित्वात् । उक्तं हि “स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णय” इति (३०१) । अतोऽनुवादो गमनस्यात्र । राजसकाशं सुवर्णचौरैण गन्तव्यम् । मुक्तकेशेन धीमता धैर्यवता । ‘धावतेति’ पाठान्तरम् । आचक्षणेन कथयता पथि तत्पातकमेवंकर्माऽस्मि—‘ब्राह्मणस्य मयेयत्सुवर्णं हतमिति कुरु निग्रहं मे’ ।

वर्णानामनुक्रमेण मुशलादीनामुपदेशं मन्यन्ते । तदयुक्तम् । वाशब्दो न समर्थितः स्यात् । न च ब्राह्मणस्येदं प्रायश्चित्तमिच्छन्ति । तत्प्रायश्चित्तेषु निरूपयिष्यामः । खादिरजाति-लगुड एव—न मुशलेनानुषक्तव्यः ॥३१५॥

हिन्दी—ब्राह्मण के सुवर्ण को चुरानेवाला चोर कन्धे पर मुसल या खैर कत्थे की लाठी या दोनों ओर तेज शक्ति (दोनों ओर धारवाली बछी) या लोहे का डण्डा लिये तथा बालों को खोले हुए दोड़कर राजा के पास जाकर ‘मैंने ऐसा कार्य (ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी) किया है, मुझे दण्डित कीजिए’ ऐसा राजा से कहे ॥३१४-३१५॥

[गृहीत्वा मुशलं राजा सकृद्धन्यातु तं स्वयम् ।

वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ॥२२॥]

[हिन्दी—राजा मुसल (या चोर के कन्धे पर रखकर लाये गये लाठी आदि) से स्वयं उस चोर को एकबार मारे, उस मारने से चोर शुद्ध अर्थात् निष्पाप हो जाता है और ब्राह्मण तपस्या से ही शुद्ध होता है अर्थात् ब्राह्मण का सुवर्ण चुरानेवाले ब्राह्मणजातीय चोर को राजा उस मुसलादि से मारे नहीं, किन्तु वह ब्राह्मणजातीय चोर तपस्या (प्रायश्चित्त) करके आत्मशुद्धि कर ले ॥२२॥]

शासन नहीं करानेवाले राजा का दोष—

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥३१६॥

भाष्य—शासनान्मुशलादिभिः प्रहरणात्क्षत्रियादिः पापान्मुच्यते । विमोक्षादुत्सर्गात् । गच्छ क्षान्तमिति । “ब्राह्मणस्तपसैवेति” वधतपसी विहिते (मनु ११।१००) । तत्र वधस्तावद्ब्राह्मणस्य नास्ति । तपस्तु प्रायश्चित्तम् । न च तप इच्छतो राजाभिगमनमस्ति । तस्मात्क्षत्रियादीनामेष विमोक्षः । स च धनदण्डं गृहीत्वा । यत आह आशसित्वेत्यादि । न च विमोक्षणशुद्धौ सत्यां राज्ञस्तदशासनादोषोपपत्तिः । न च “शासनमपि विहितं मोक्षोऽपि विहितः—तत्र यस्मिन्पक्षे शासनं तदपेक्षं दोषवचनम् ।” पाक्षिकं हि तथा कल्पनम् । न च नित्यवच्छ्रुतस्य पाक्षिकत्वं युक्तं कल्पयितुम् । तथा च सामान्येन वसिष्ठादय आहुः—अधर्मेण स्वीयेन ऋच्छति राजानमुत्सृजन्तं सकिल्बिषन्तं चेद् घातयेद् राजा धनन्धर्मेण न दुष्यति’ । नायं विकल्पो युक्तः । क्वचिदियं हिंसा प्रतिषिद्धा “न हिंस्याद्भूतानीति” रागादिना पुरुषार्थतया प्राप्ता । क्वचिद्विहिता—ऋत्वर्थत्वेन ‘यो दीक्षितो यदग्नीषांमीयमिति’ । इदं तु शासनविमोक्षणवचनं न नाम प्रतिषिद्धं सति विधौ । कथं न प्रतिषेधः । “न हिंस्याद्भूतानीति” सामान्यतः प्रतिषेधो विधिविशेषमन्तरेण न शक्यो बाधितुम् । अथोच्यते—नैवायं प्रतिषेधस्य विषयः, कर्मार्थत्वात् । कथं पुनरन्तरेण विधिं कर्मार्थता शक्याऽवगन्तुम् । लोकत इति चेल्लौकिकी प्रवृत्तिः । कथं तर्हि प्रतिषेधस्तत्रावतरेत् । ननु प्रधाने प्रवृत्तिर्निरूप्याताम् । यदि तावद्वैदिकी प्रवृत्तिस्ततस्तदङ्गे हिंसायामपि तत एव । एका हि प्रवृत्तिरङ्गप्रधानयोः । अथ लिप्सातोऽङ्गेऽपि तत्र प्रवृत्तिः, सुतरां तर्हि हिंसेयं लौकिकी । जीविकार्थिनो हि प्रजापालनाधिकारनियमो न वैधः । तेनेयमङ्गस्थापि हिंसा श्येनतुल्यत्वात्प्रतिषेधविषयः । न च लौकिकमस्या नियतमङ्गत्वम् । नो हिंसामन्तरेण प्रजापालनमशक्यम्, निरोधादिनाऽपि शक्यत्वात् । नैष नियमः । एकरूपाऽङ्गप्रधानयोः प्रवृत्तिरिति स्नानाग्नीषोमीययोरनेन विशेषः स्यात् । अतो लिप्सा-लक्षणेऽपि प्रधानेऽङ्गे विधिलक्षणमभ्युपेतव्यम् । न चैष हिंसाविधिलक्षणा शक्याऽभ्युप-गन्तुं स्वरूपस्य कार्यस्य च लौकिकत्वात्पालनस्य हिंसायाश्च । अथ विधिलक्षणा षोडशि-ग्रहणवद्विकल्पितुमर्हति शासनवचनेन प्रतिषिद्धा ।

अन्ये तु मन्यन्ते । द्वे एते वाक्ये । शासनादिति स्तेनस्य शुद्धिरुच्यते, परेणार्धेन राज्ञस्तदशासने दोषः । तत्र यदि राजाऽशासनदोषमात्मन्यङ्गीकृत्य मुञ्चेन्मुच्येतैवैनसः । एवं ब्राह्मणस्यापि स्वयमागतस्य वधः शुद्धिहेतुः—‘लक्ष्यं शस्त्रभृतामिति’ वचनात् (मनु० ११।७३) । “न शरीरो ब्राह्मणदण्डः” इति (गौतम सू० १२।४६) राजा यदि प्रतिषेधातिक्रमेण हन्याद्ब्राह्मणः शुध्येदेव ।

अशासित्वा मुशलादिभिरहत्वा । स्तेनस्य यत्पापं तेन युज्यते ॥३१६॥

हिन्दी—(मुशल आदि—(पूर्व श्लोकोक्त (८।३१५) शस्त्रों में से जिस शस्त्र को चोर लाया हो उससे) एक बार राजा के द्वारा मारने के कारण प्राणत्याग करने से या मरे

हुए के समान जीवित भी उस चोर को छोड़ देने से वह चोर चोरी के पाप से छूट जाता है; किन्तु (दया आदि के कारण) उसे दण्डित नहीं करनेवाला उस चोर के पाप को प्राप्त करता है ॥३१६॥

दूसरे के पाप की प्राप्ति—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी ।

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्चस्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥३१७॥

भाष्य—अन्नमत्तीत्यन्नादः । भ्रूणहा ब्रह्महा । तदीयमन्नं यो भुङ्क्ते तस्मिंस्तद्-ब्रह्महत्यापापं मार्ष्टि निरस्यति श्लेषयति । यथा मलिनं वस्त्रमुदके मृज्यते तन्मलं तत्र संक्रामत्येवम् । अर्थवादश्चायम् । तस्य तत्पापमुत्पद्यते । ब्रह्मणो श्लेषः । पत्यौ भर्तारि भार्यापचारिणी जारिणी—स चेत्क्षमते । तत्रापि भर्तुरुत्पद्यते पापं, तस्या अपैति । गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च शिष्यः” सूर्याभ्युदितादिभिरपराध्य गुरौ क्षममाणे तत्पापं प्रक्षिपति । एवं याज्यो याजके । सोऽपि गुरुरेवेत्यतो याजकग्रहणं न कृतम् । एवं चौरौ राजनि—न चेद्राज्ञा निगृह्यते । याज्योऽपि कर्मणि प्रवृत्ते विधिमपक्रामति चेद्याजकवचने न्नावतिष्ठते तदा त्याज्यः, न पुनस्तस्य ताडनादि शिष्यवत्कर्तव्यम् । अन्नादादिषु सर्वेष्वन्यत्र विधिरस्तीति न बुद्धिः । अतोऽर्थवादोऽयम् ॥३१७॥

हिन्दी—भ्रूणहत्या करनेवाला अपने (भ्रूणहत्या करनेवाले का) अन्न खानेवाले को, व्यभिचारिणी स्त्री (जार को सहने अर्थात् मना नहीं करनेवाले) पति को, शिष्य (सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कृत्यत्याग को सहनेवाले) गुरु को, याज्य अर्थात् यजमान (विधि का त्यागकर यज्ञादि कर्म करते रहने पर भी उसे सहन करनेवाले अर्थात् विधिपूर्वक यज्ञादि कर्म को करने के लिए प्रेरित नहीं करनेवाले) गुरु को और चोर (दण्डित नहीं करनेवाले) राजा को अपना-अपना अपराध (पापजन्य दोष) दे देते हैं ॥३१७॥

विमर्श—भ्रूणहत्या करनेवाले आदि तो अपने-अपने कर्मों के पाप (दोष) से युक्त रहते ही हैं, किन्तु उनके अन्न खानेवाले आदि भी उनके पाप से युक्त हो जाते हैं, अतएव राजा को चाहिए कि चोर को अवश्य दण्डित करे ।

दण्ड प्राप्ति से पाप मुक्ति—

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३१८॥

भाष्य—यदुक्तं पापकारिणो निग्रहेण कर्मकृतो रक्ष्यन्त इति तत्स्फुटयति । धृतो विनिपातितो दण्डो येषां राजभिस्ते कृत्वा पापानि कृतपापा राजनिग्रहेण निर्मला निरस्तपापा भवन्ति । अपगते च पापे यदेषां स्वर्गारोहकं कर्म तेन स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ।

महद्भि पापं शुद्धस्य कर्मणः फलस्य प्रतिबन्धकम् । सुकृतिनो नित्यं सुकृतकर्मकारिणः ।
यथा सन्तः धार्मिकास्तद्वत् । सतामधर्मो नैवोत्पद्यत एषामुत्पन्नो निग्रहणेन विनाशित
इति प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्विशेषः ।

मानवग्रहणात्र प्रकरणाच्चौराणामेव ।

दण्डशब्दस्तु शरीरनिग्रहविषयो न हि प्रकरणमतिक्रामति । धनदण्डो हि राजार्थः ।
वृत्तिर्हि सा राज्ञः । शारीरे तु दण्डे दण्ड्यमानार्थता न शक्यते निहोतुम् ।
त्वक्संस्कारो हि सा । अथेयं बुद्धि—‘पालनमेव हिंसामन्तरेण न निष्पाद्यते—तच्च
राजार्थमिति कुतो मार्यमाणार्थता मारणस्य’—अथ किं पालनं न पाल्यमानार्थं दृष्टमेवाप-
हूयते । न हि तद्दृष्टमुपादेयं राज्ञैव स्वरक्षार्थं करणशुल्कादिभृत्या उपादीयन्ते । अतः
सुतरां रक्षोपयोगित्वे हिंसायां न हिंस्यमानार्थतासिद्धिः । कथं वा हिंसया विना न
रक्षानिर्वृत्तिर्यदि तावदेवमर्थं निगृह्यन्ते पुनरकार्यमावर्तयिष्यते तन्निरोधनादिनापि शक्यते
नियन्तुम् । अथ तान्निगृहीन्द्रष्ट्वा भयादन्ये न प्रवर्तयिष्यन्त इति धनदण्डेनापि शक्यते
दुःखयितुम् । हन्यमानेष्वपि सहस्रशः प्रवर्तन्ते । तस्मादियं हिंसा रक्षा सती हिंस्यमान-
संस्कार इति मन्तव्यम् । अतश्च कारणादिछेदने नियमः । हस्त्यादिविधिश्च दण्डयेष्वे-
वादृष्टमाधास्यति, न राजार्थो भविष्यति ।

तस्माच्छरीरदण्डे पापान्मुक्तिर्न धनदण्ड इति स्थितम् ।

तथाच महापातकिनां हतसर्वस्वानामप्सु प्रवेशितदण्डानां संव्यवहारपरिहारार्थमङ्कनं
वक्ष्यति । यदि च धनदण्डेन शुध्येषुः पुनरङ्कनमनर्थकं स्यात् ।

अत्र च स्वयमागतस्य नानीतस्य विशेषो यः स्तेन एवं विशेषो भवतु । इदं तु सर्व
शारीरदण्डविषयम् ॥३१८॥

हिन्दी—मनुष्य पाप करके राजा से दण्डित होकर पापरहित हो (अपने दूसरे पुण्य
कर्मों के प्रभाव से), पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग को जाते हैं ॥३१८॥

कुएँ की रस्सी आदि चुराने पर दण्ड—

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्धिंघाच्च यः प्रपाम् ।

स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१९॥

भाष्य—प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा । जलाधारस्थानं उद्धृतजलनिधानं वा ।

माषस्य जातिर्न निर्दिष्टा । सा मरुजाङ्गलानूपभेदाद् द्रष्टव्या ।

तच्च रज्ज्वादि **समाहरेद्दघातस्मिन्** स्थाने, न राजनि ॥३१९॥

हिन्दी—जो कुएँ की रस्सी या घड़ा चुराता है अथवा प्याऊ (पौसरा) तोड़ता है,

वह एक मासे सुवर्ण से दण्डनीय होता है और उसे उक्त चोरित रस्सी तथा घड़े को लाना तथा प्याऊ को बनवाना भी पड़ता है ॥३२९॥

धान्यादि चुराने पर दण्ड—

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।

शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥३२०॥

भाष्य—कुम्भशब्दः परिमाणविषये वर्तते न घटमात्रे । क्वचिद्विंशतिप्रस्थान्क्वचिद्द्वाविंशतिरिति देशभेदाद्व्यवस्था । दशभ्योऽधिकं हरतो वधविधिरुक्तार्थोऽनुबन्धादिना नियम्यते । शेषेषु दशसु प्राकृत एकादशगुणो दण्डः । तस्य च तद्धनमिति सर्वत्र स्तेये योज्यम् । धान्यं व्रीहियवादिसप्तदशानीति स्मर्यते ॥३२०॥

हिन्दी—राजा दश कुम्भ से अधिक धान्य (अन्न) चुरानेवाले को वध (चुरानेवाले तथा धान्य के स्वामी के गुणादि के अनुसार ताड़न, अङ्गच्छेदन एवं वध तक) से दण्डित करे । शेष (एक कुम्भ से अधिक दस कुम्भ तक धान्य चुराने के अपराध) में चुराये हुए धान्य के ग्यारहगुने धान्य से चोर को दण्डित करे और धान्य के स्वामी का जितना धान्य चुराया गया हो उतना वापस दिलवा दे ॥३२०॥

विमर्श—२० पल (८० भर) का एक सेर और २०० पल का एक द्रौण और २० द्रौण का एक ‘कुम्भ’ होता है ।

सुवर्ण, वस्त्रादि चुराने पर दण्ड—

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥३२१॥

भाष्य—धरणं ‘धरिमा’ तुला । तेन मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते तानि धरिममेयानि । धृतादीनां द्रवाणां प्रस्थादिमेयताऽस्तीति कठिनानां परिमेयता भवतीति तदर्थमाह । सुवर्णरजतादीनाम् । आदिग्रहणादेव रजते लब्धे पुनरुपादानात्तुल्यग्रहणार्थात्प्रवालादीनि गृह्यन्ते, न तु ताम्रलोहादीनि । तेषां शतादूर्ध्वं हरणे वधः ।

किं पुनरेतच्छतं पलानामुत कर्षणामेव कार्षापणानां वा ।

केचिदाहुः पलानामिति । न त्वत्र विशेषे हेतुरस्ति । तस्माद्यस्मिन्देशे धरिममानकाले यया संख्यया व्यवहारः—‘शतमिदं सुवर्णस्य’ क्वचित्तोलके क्वचित्पलेषु—यथादेशं व्यवस्था ।

उत्तमानां च वाससां कौशेयपट्टादीनामिति । शतादभ्यधिके वधः इत्यनुषङ्गः । अत्रापि शाटकयुगमेकमिति संख्यायते । पुष्पपटाद्युपबर्हणं त्वेकमेवेति ।

“ननु च सुवर्णरजतादीनामित्येव सिद्धे परिमेयग्रहणमनर्थकम् ।”

नानर्थकम् कर्पूरागुरुकस्तूरिकादीनां महार्घाणां ग्रहणार्थम् ।

आदिग्रहणाद्धि तैजसानि गृह्यन्ते, निष्कादिपरिमाणव्यपदेश्यानि वा । न हि कर्पूरादीनां कर्षादिव्यपदेशोऽस्ति । यद्यपि सुवर्णवद्रजतेऽपि शतसंख्या तथापि प्रायश्चित्त-भेदवद्दण्डभेदोऽपि युक्तो विषमसमीकरणस्यान्याय्यत्वात् । अतो यावत्सुवर्णगतस्य मूल्यं तावति रूप्ये गृहीते वधः । कर्पूरादीनां तु पलानामेव शतसंख्या ॥३२१॥

हिन्दी—और काँटे से तौलने योग्य सोना, चाँदी आदि तथा उत्तम वस्त्र सौ पल से अधिक चुरानेवाले को राजा वध (देश, काल, चोर, द्रव्य के स्वामी की जाति तथा गुण की अपेक्षा से ताडन अङ्गच्छेदन और मारण तक) से दण्डित करे ॥३२१॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।

शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥३२२॥

भाष्य—सुबोधोऽयम् । मूल्यादिति । नापहतमेव द्रव्यं देयम् । क्वचित्तज्जातीयं नैव प्राप्यते । अतो रूपकैर्धान्यादिना वा विनिमेयम् ॥३२२॥

हिन्दी—(सोना, चाँदी आदि काँटे पर तौलकर बेची जानेवाली वस्तु तथा बहुमूल्य रेशमी वस्त्रादि को) ५० पल से अधिक १०० पल तक चुरानेवाले का हाथ काटने का दण्ड (मनु आदि ने) कहा है और शेष (एक पल से पचास पल तक उक्त वस्तुओं को चुराने के अपराध) में राजा चोरित वस्तु का ग्यारह गुना दण्ड निश्चित करे ॥३२२॥

स्त्री, पुरुषादि चुराने पर दण्ड—

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।

मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हसि ॥३२३॥

भाष्य—सत्कुले जाता विद्यादिगुणयोगिनः कुलीनाः । नारीणां च विशेषता गुणरूपसौभाग्यसम्पन्नानामित्यर्थः । चशब्दात्कुलीनानामित्येव परस्परापेक्षाणि नारीणां विशेषणानि । मुख्यानि उत्तमानि रत्नानि वज्रवैडूर्यमरकतप्रभृतीनि ।

अत्रापि सुवर्णशततुल्यानीत्यपेक्ष्यम् । अन्यथोत्तमत्वमापेक्षिकमिति दण्डो न व्यवतिष्ठेत् ।

वधमर्हति । अनुबन्धाद्यपेक्षया सर्वत्र वध्यर्थो योजनीयः ।

अकुलीनानामवशिष्टानाममुख्यानां च 'शेष त्वेकादशगुण' इत्येव ॥३२३॥

हिन्दी—श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न पुरुष तथा विशेषतः स्त्रियों और मुख्य रत्न (माणिक्य हीरा, वैडूर्य आदि) की चोरी करनेवाला वधके योग्य होता है अर्थात् राजा को उक्त चोरी करनेवाले का वध करना चाहिये ॥३२३॥

बड़े पशु आदि के चुराने पर दण्ड—

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।

कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥३२४॥

भाष्य—महापशवो हस्त्यश्वादयः । तेषां हरणे कालकार्यपेक्षा दण्डप्रकल्पितः ।

“ननु च सर्वत्रैव कालाद्यपेक्षोक्ता । तथा च कालदेशवयः शक्तीश्चिन्तयेद्दण्डकर्मणीति” ।

सत्यम् । विज्ञाते दण्डस्वरूपे न्यूनाधिकभावोऽनुबन्धाद्यपेक्षः । यथा वधविधौ ताडनमारणादिकल्पनाऽपेक्ष्या । इहात्यन्तविलक्षणो दण्डः । तथा हि विंशतिपणोऽपि खड्गः शत्रोरुद्यतशस्त्रस्य सन्निधौ यदि हियते तेन कार्यातिशयेन तेन च कालेन मारणं दण्डः । अन्यदा द्विगुण एकादशगुणो वा । तथौषधमलभ्यत्वेन महाप्रयोजनं तदुपयोगवेलायां हियते—लभ्यमानमपि क्वाथाद्यपेक्षं कालातिक्रमणेन महदातुरस्य दुःखं जनयतीति—तत्र महान्दण्डः । अन्यदा तु स्वल्प इति । न तत्रान्तरमन्तरेणेदृशं वैषम्यं लभ्यते । अन्यथा स एवैकः श्लोको दण्डविधौ पठितव्यः स्यात् । तस्माद्वक्तव्यमिदम् । विग्रहकालेऽश्वादीनां राज्यापेक्षो दण्डः । शास्त्राणां राजोपयोगिनां कदाचित्क्षमा कदाचिन्महान्दण्डः । गोमहिष्यादीनां तु प्रजासम्बन्धिनां न राज्ञा क्षन्तव्यम् । कार्यं च यदश्वादिभिः कर्तव्यं तदप्यपेक्ष्यम् । विग्रहोऽपि । यदि पर्वतादौ भवति यत्र नातीवाश्वैः प्रयोजनं भवत्येव दण्डहासः ।

कालमासाद्य ज्ञात्वा निरूप्य दण्डं कल्पयेत् । स एवात्र भवति न नः शास्त्रम् ॥३२४॥

हिन्दी—बड़े पशु (हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस आदि) के, तलवार आदि शस्त्रों के और औषधों के चुराने पर राजा समय (अकाल, दुर्भिक्ष आदि), कार्य (चोरित का भले-बुरे कार्यों में उपयोग आदि) को देखकर चोर के लिए दण्ड का निश्चय करे ॥३२४॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु खरिकायाश्च भेदने ।

पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥३२५॥

भाष्य—ब्राह्मणसंस्था ब्राह्मणाश्रिता ब्राह्मणस्वामिकाः । तासां हरणे । षष्ठ्यर्थे सप्तमी । पशूनां चाजैडकादीनाम् । बहुवचनं सर्वत्राविवक्षितम् । सद्यस्तत्क्षणादविचार्य । पादस्यार्धमर्धपादम्, तदस्यास्तीत्यर्धपादिकः । तच्च सम्भवति यदि पादार्थं छिद्यते । तेनार्धपादछेदनं कर्तव्यमिति वाक्यार्थः ।

खरिका यया गोरथक्षेत्रादौ वाह्यते बलीवर्दः । भेदने वाह्यमानायाः प्रतोदेन पीडोत्पादने ।

‘भेदनं’ वाहानामुपलक्षणार्थं व्याचक्षते पूर्वे । अवश्यं वाहयन्दुः खयति । प्रतोदेन वाहने एवायं दण्ड इत्यन्ये पठन्ति ।

अन्ये तु पादस्य पश्चाद्भागं चतुर्थं खरिकामाहुः । खरिकेति या प्रसिद्धा पलायनशीला यां पालोऽन्यो वा भिन्दन्नर्धपादिकः कार्यः ।

अन्ये त्वधिकरणसप्तमीं मत्वा गोसंस्थदध्यादीन्यध्याहरन्ति । तदयुक्तम् । श्रुतपद-सम्बन्धसम्भवे कुतोऽध्याहारः ॥३२५॥

हिन्दी—ब्राह्मण की गाय चुराने पर, वन्ध्या गाय को लादने के लिए नाथने पर और यज्ञार्थ लादे गये बकरा आदि पशु को चुराने पर राजा अपराधी (चोर) का आधा पै तत्काल कटवा दे ॥३२५॥

सूत, रुई आदि चुराने पर दण्ड—

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।

दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥३२६॥

हिन्दी—(ऊन आदि का) सूत, कपास (रुई), सुरा-बीज, गोबर, गुड़ दही, दूध, छाछ, पेय (पीने योग्य शर्बत या जल आदि) पदार्थ, घास ॥३२६॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।

मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥३२७॥

हिन्दी—बाँस के बने सर्वविध बर्तन (या पानी लाने के लिए महीन बाँस के टुकड़ों से बने विशेष प्रकार के बर्तन), नमक, मिट्टी के बर्तन या खिलौने आदि, मिट्टी, राख ॥३२७॥

मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।

मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम् ॥३२८॥

हिन्दी—मछली, पक्षी, तैल, घी, मांस, मधु (शहद) और पशुओं से उत्पन्न होने-वाले पदार्थ (जैसे सींग, खुर, चमड़ा आदि; हाथी के दाँत और हड्डी आदि) ॥३२८॥

अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च ।

पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्विगुणो दमः ॥३२९॥

भाष्य—सूत्रमूर्णासनादि । लवणानि सैधवबिड्लवणादीनि । यच्चान्यत्पशु-सम्भवमामिषादि । अन्येषामपूपमोदकादीनाम् । आदिशब्दः प्रकारे । प्रकारः सादृश्यं तुल्यता सदृशकार्यकरणोपयोगादिरूपा । तथा च सर्पिर्मण्डेक्षुखण्डशर्कराकिलाटकूर्चिकाद्या अपूपा गृह्यन्ते । पशुसम्भवं राङ्गवाजिनाद्यपीच्छन्ति केचित् । आदिग्रहणात्-

प्रकृतिर्विकृतिरपि । यच्चोभयोपादानं दध्नः क्षीरस्य चेति तदुदाहरणार्थम् । एवं सूत्र-
ग्रहणेन सूत्रमयं वासोऽपि गृह्यते । नलिकादीनां सत्यपि सूत्रमयत्वे पशुसम्भवत्वं उत्तम-
त्वादुत्तमानां चेत्यस्यापवादविषयः ।

प्रकृत्यन्तरे तैलशब्द स्नेहवाची, न तिलविकार एव । तेनातसीप्रियङ्गुपञ्चाङ्गुल-
तैलादयोऽपि गृह्यन्ते ॥३२६-३२९॥

हिन्दी—इसी प्रकार के दूसरे पदार्थ (मैनसिल, शिलाजीत आदि), मद्य (बारह
प्रकार के मादक पदार्थ या मदिरा), भात तथा सभी प्रकार के पकवान (पूआ पूड़ी, कचौड़ी
मिठाई आदि) के चुराने पर चोरित वस्तु का दुगुना दण्ड चोर पर करना चाहिये ॥३२९॥

पुष्पादि के चुराने पर दण्ड—

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।

अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णालः ॥३३०॥

भाष्य—नवमालिकादीनि पुष्पाणि । हरितं धान्यं क्षेत्रस्थं अपक्वम् । नगा
वृक्षाः । अन्येष्वपरिपूतेषु । बहुवचनात्परिपवनस्य च धान्येष्वेव तुषपलालादिविमोक्ष-
रूपस्य सम्भवादुत्तरश्लोके धान्यग्रहणमेवाकृष्यते । गुल्मादीनां हि सत्यपि पलाशे
व्यामिश्रत्वे पुष्पाणां च परिपूतव्यवहारः ।

सप्तमी हरणापेक्षा । तत्तु पूर्वस्मादनुवर्तते ।

अत्र पञ्चकृष्णालो दण्डः । कृष्णाला नानाद्रव्यजाः । अल्पत्वमहत्त्वप्रयोजना-
पेक्षाः । सुवर्णस्येति पूर्वे ॥३३०॥

हिन्दी—फूल, हरा धान्य, विना घेरे हुए गुल्म, वेलि, वृक्ष, बिना साफ किये (नहीं
ओसाये गये) धान्य के (बाँधकर भरपूर बोझ को) चुरानेवाले पर (देश, काल, पात्र आदि
के अनुसार सोने या चाँदी का) पाँच ‘कृष्णाल’ (८।१३४) अर्थात् एक आना भर दण्ड
करना चाहिये ॥३३०॥

निरन्वयादि वस्तु चुराने पर दण्ड—

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।

निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥

भाष्य—मूलमिक्षुद्राक्षादि । निरन्वये द्रव्यहरणे । ‘अन्वयो’ऽनुनयः, स्वामिनः
प्रीत्यादिप्रयोगः—‘यत्त्वदीयं तन्मदीयमेवेत्यनया बुद्ध्याऽहं प्रवृत्तः—न चेदेवं तद्-
गृहाणे’त्येवमादिवचनम् तद्यत्र न क्रियते तन्निरन्वयम् । साहसप्रकारत्वादधिको दण्डः ।
अन्वयेन सह सान्वयः ।

अथवा **निरन्वयो** येन सह कश्चिदपि सम्बन्धो नास्त्येकग्रामवासादिः । ततः शतं दण्ड्यः । अथवा अनारक्षं **निरन्वयम्** । सति तु रक्षके उभयापराधादल्पो दण्डः । खलस्थेषु धान्येष्वयं दण्डः । तत्र हि परिपूयन्ते । गृहस्थेषु त्वेकादशगुणः प्रागुक्तः (३२०)॥३३१॥

हिन्दी—साफ किये हुये धान्य, शाक, मूल (कन्द या जड़), फल को चौर्य पदार्थ के स्वामी के साथ किसी प्रकार का (एक गाँव में हरना आदि) सम्बन्ध नहीं रहने पर चोरी करनेवाले व्यक्ति पर सौ पण तथा चौर्य वस्तु के स्वामी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रहने पर चोरी करनेवाले व्यक्ति पर (८।१३६) दण्ड करना चाहिये ॥३३१॥

‘साहस’ तथा ‘स्तेय’ का लक्षण—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।

निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वापव्ययते च यत् ॥३३२॥

भाष्य—परद्रव्यापहरणं स्तेयमुच्यते । धात्वर्थप्रसिद्ध्या चास्यैव कर्ता ‘स्तेनः’ । इह तु विशेषेणायं व्यवहार इष्यते तदर्थोऽयं श्लोकः । न परद्रव्यादानमात्रं स्तेयम् । ऋणादाननिक्षेपादिष्वपि स्तेयदण्डप्रसङ्गात् । संज्ञाभेदो दण्डभेदार्थः ।

कर्म यत्कृतं परपीडाकं वस्त्रीत्पाटनाग्निदाहद्रव्यापहरणादि । अग्निदाहे यद्यपि द्रव्यापहरणं नास्ति तथापि चौर्यमेव रहसि करणादपह्वाच्च मन्यन्ते । चौर्ये हि द्रव्यविशेषा-श्रयो दण्डः । सोऽत्र न स्यात् । एवमर्थमेव स्तेयप्रकरणोत्कर्षणम् । **प्रसभं कर्मेति** कर्म-ग्रहणाद्द्रव्यापहारादन्यदप्येवं कृतमयुक्तं साहसमेव । “कस्तर्हीग्निदाहादावप्रसभं कृते दण्डः” । कंटकशुद्धौ वक्ष्यामः (९।२५६) । अत एव सन्धिच्छेदेऽसत्यपि द्रव्यापहरणे कण्टकशुद्धौ दण्डमामनन्ति । अन्यथा स्तेय एवावक्ष्यत् ॥३३२॥

हिन्दी—वस्तु-स्वामी के सामने से बलात्कारपूर्वक किसी वस्तु का अपहरण करना ‘साहस’ (डाका डालना) और वस्तुस्वामी के परोक्ष में (नहीं रहने पर चुपके से) किसी वस्तु का अपहरण कर भाग जाना (या अपहरण करने के बाद में अस्विकार करना) ‘स्तेय’ (चोरी करना) कहलाता है ॥३३२॥

उपभोग्य सूत्रादि तथा त्रेताग्नि चुराने पर दण्ड—

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।

तं शतं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥३३३॥

भाष्य—एतानि सूत्रादीन्युपक्लृप्तानि प्रत्यासन्नदानोपभोगादिकार्यकालानि । अथवा संस्कृतानि कृतसामर्थ्याधानानि । यथा तदेव सूत्रं तन्तुवायहस्ते वायनार्थं दत्तं किञ्चिद्वि-गुणीक्रियते किञ्चित्परिवर्त्यते—एवं दधि मन्थनमरिचशर्करादिसंस्कृतं क्षीरं घृतमि-

त्यादिसंस्कारः । तत्र शतं दण्डः ।

आद्यमिति पाठे प्रथमसाहसः ।

अग्निगृहात् परिगृहीतं शालाग्निहोत्रेत्यादिकम्—हेमन्ते वा शीतार्दितानां दरिद्रा-
णामप्रणीतमप्यग्नेरुपकल्पनं पाककालः शीतादिनिवृत्त्यर्थं वा तापनकालः । अविशेषेणाय-
मग्नेर्दण्डः स्वल्पस्य बहोरुपकल्पस्यानुपकल्पस्य च ।

सत्यपि सूत्रादिदण्डे आदिग्रहणे नाग्नेस्तन्मूल्यादि सम्भवति, क्रयविक्रयव्यवहारा-
प्रसिद्धेः । यावता वेन्धनेनाग्निरपहतपरिमाण उत्पद्यते यावतीभिर्दक्षिणाभिस्तन्मूल्याद्-
द्विगुणो दण्डः सम्भवति शक्यते च व्यपदेशम् । तुष्ट्युत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितैव । अत-
स्त्रेताग्निहरणे यावत्पुनराधाने गच्छति प्रायश्चित्तेष्टौ च तावदग्निमते दातव्यः । अतोऽय-
मग्नेर्दण्डः शालाप्रणीताग्निविषय एव स्वल्पत्वात् । त्रेतायां तु तन्मूल्याद्द्विगुण इति ।
तथा च “सुलभेष्वधिकारनिवृत्तिमकुर्वत्सु यागाङ्गद्रव्येष्वपहियमाणेषु कुशकरका-
ग्निहोत्रद्रव्याण्यपहरतोऽङ्गच्छेदः स्यात्” इति शङ्खः । अग्निषु तु हतेष्वधिकार एव
निवर्तते । तत्र कथं महान् दण्डो न स्यात् ॥३३३॥

हिन्दी—जो साफ-सुथरी करके उपभोग में लाने योग्य बनायी गयी सूत्र आदि
(८।३२६-३२९) वस्तुओं की तथा अग्निहोत्र से ‘त्रेताग्नि’ की चोरी करे; राजा उसको
प्रथम साहस (८।१३८ अर्थात् २५० पण) से दण्डित करे ॥३३३॥

चोर का हाथ कटवाना आदि—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।

तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

भाष्य—भूयोभूयः प्रवृत्तस्यायं दण्डः । यो धनेन दण्डितोऽपि न मार्गेऽवितिष्ठते
तस्य त्रिचतुर्दण्डितस्यानवतिष्ठमानस्य द्रव्यजातिपरिमाणानपेक्षः सन्धिच्छेदाद्यनपेक्ष-
श्चौर्यक्रियामात्राश्रितोऽङ्गच्छेदः । यस्य यस्याङ्गस्य बलमाश्रित्यावतिष्ठते स्तेनश्चौर्ये प्रवर्तते
तत्तदस्य हरेच्छिन्द्यात् । यथा कश्चित्पादबलमाश्रित्यावष्टभ्य पलायते ‘न मामनुगन्तुं
कश्चिदपि शक्नोतीति’ तस्य पादच्छेदः । अन्यः ‘सन्धिभेदज्ञोऽहं’ तस्य हस्तच्छेदः ।
प्रत्यादेशाय प्रतिरूपफलदर्शनाय । स्वावष्टम्भेन साभिमानं सक्रोधं सावज्ञं न्यक्करणं वा
‘प्रत्यादेशः’—य एवं करोति तस्य तस्याहमेवं कर्तेति व्याख्यापनं ‘प्रत्यादेशः’ ॥३३४॥

हिन्दी—चोर जिस-जिस अङ्ग (हाथ, पैर आदि) से जिस प्रकार मनुष्यों में कुचेष्टा
(चोरी करना, सेंध मारना आदि दुष्कर्म) करे; राजा फिर वैसा अवसर नहीं आवे, इसके
लिए उस चोर के उस-उस अङ्ग को कटवा ले ॥३३४॥

अधार्मिक पिता आदि को भी दण्डनीयता—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥

भाष्य—‘भार्या पुत्रः स्वका तनुः’ आत्मीयं शरीरं—कः पुनरात्मनो दण्डः । प्रायश्चित्ततपोधनदानादिविवक्षितम् । विचलितो धर्मात् स्वकात् यो यः स्वधर्मान्नानु-
तिष्ठति स सर्वो दण्ड्यः ॥३३५॥

हिन्दी—पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित इनमें जो अपने धर्म में नहीं रहता, वह क्या राजा का दण्डनीय नहीं है? अर्थात् पूज्य या निकट सम्बन्धी होने पर भी वह दण्डनीय ही है ॥३३५॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।

तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

भाष्य—प्राकृतो जनः सामान्यपुरुषो यो नातिगुणसंयुक्तः । तस्य यत्र यस्मिन्न-
पराधे यावान् दण्डस्तत्सहस्रगुणो राज्ञः । कार्षापणग्रहणस्य दण्डपरिमाणोपलक्षणार्थ-
त्वात् दृष्टार्थत्वात् दण्डस्य । तस्य चात्मानमनियम्य परो नियन्तुं न शक्यत इति युक्तं
प्रत्यपराधे राज्ञो दण्डार्हत्वम् । महाधनत्वादल्पं दण्डं न विगणयेत् । राजाधिकृतानां
मन्त्रिपुरोहितादीनामनयैव कल्पनया न्यूनाधिकभावः ।

धनदण्डश्च ब्राह्मणेभ्योऽप्सु प्रवेशनेन वरुणाय वा । यतो वक्ष्यति ‘राज्ञां दण्डधरो
हि सः’ (९।२४५) ॥३३६॥

हिन्दी—जिस अपराध में साधारण मनुष्य एक पण से दण्डनीय है, उसी अपराध में राजा सहस्र पण से दण्डनीय है, ऐसा शास्त्र का निर्णय है ॥३३६॥

विमर्श—अपने ऊपर किये हुए दण्डद्रव्य को राजा राजकोष में जमा नहीं करे,
अपितु आगे (९।२४५) के वचनानुसार पानी में फेंक दे या ब्राह्मणों में बाँट दे ।

गुण-दोषज्ञ शूद्रादि चोर को दण्ड—

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।

षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥३३७॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥

भाष्य—तद्दोषगुणविद्धि स इति हेत्वभिधानाद्विदुषां दण्डोऽयम् ।

यत्र खलजन एकं कार्षापणं दाप्यते तत्र विद्वान् शूद्रोऽष्टगुणम् । अष्टभिः आपाद्यते

सम्बध्यते । यत्किंल्लिखं पापं तदेवमुच्यते । अष्टभिर्वाऽऽपाद्यत आहन्यते गुण्यत इति यावत् । उभयथाऽप्यष्टगुणस्य वाचकोऽष्टापाद्यशब्दः । एवं तदेव द्विगुणं वैश्यस्य । स हि साक्षादध्ययनज्ञानयोरधिकृतः । शूद्रस्तु कथञ्चिद्ब्राह्मणापाश्रिततत्सङ्गत्या कियदपि ज्ञास्यति । क्षत्रियस्तु रक्षाधिकारदोषेण समाने विद्वत्त्वे ततोऽपि द्विगुणं दण्ड्यते । ब्राह्मणे तु दण्डविधौ न तृप्यति । चतुःषष्टिशतमष्टविंशं वा शतमिति । तस्य हि प्रवचनमुपदेष्टृत्वं वाधिकं च—यतो रक्षा ततो भवेत् । प्राकृतजनस्य तिर्यक्प्रख्यस्य कोऽपराधः । अविद्वांसो गुणदोषानभिज्ञा प्रवर्तन्ते । विद्वानपि तथैव चेद्वर्तेत हन्त हतं जगत्, तृतीयस्य शिक्षितुरभावात् । तदुक्तं “द्वौ लोकविश्रुतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः” इति । राज्ञः पूर्वेण दण्डाधिक्यमनेन ब्राह्मणस्य ।

आधिक्यमात्राविधिश्चायं न यथाश्रुतसंख्याविधिः—ब्राह्मणदण्डेऽनवस्थाश्रवणादयं वायं वेति । न च विकल्पो युक्तो व्यवस्थाहेतुत्वाभावात् । तुल्यबलस्यैव विकल्पस्य पर विषयाश्रयानुपपत्तेः । को हि राजा द्विजगुणमृत्सृज्य चतुःषष्टिं ग्रहीष्यति । यदि परमदृष्टार्थो दण्डो विकल्प उपपद्येत—न चादृष्टार्थोऽयमित्युक्तम् । तथा च गौतमः—(१२।१७) “विदुषोऽतिक्रमदण्डभूयस्त्वम्” इत्याह । तस्मादनवस्था विधित्वं व्याहन्ति । न च गुणापेक्षो विकल्पो युक्तो नष्टादिश्लोकेनैव सिद्धत्वात् । अर्थवत्त्वाच्चात्र विध्यवगतिः । स-चाधिक्यविधौ लब्धालम्बन इति न यथाश्रुतपरिकल्पने विकल्पने समर्थः ॥३३७-३३८॥

हिन्दी—चोरी के गुण तथा दोष को जाननेवाले शूद्र के चोरी करने पर चोरी के विषय में शूद्र को आठगुना, वैश्य को सोलहगुना, क्षत्रिय को बत्तीसगुना और ब्राह्मण को चौसठ-गुना या सौ गुना या एकसौ आठ्ठाइस गुना पाप होता है; क्योंकि वह उस (चोरी) के गुण और दोष का जानकार है । (अतएव अपराधानुसार उक्त शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण उत्तरोत्तर दण्डनीय होते हैं) ॥३३७-३३९॥

वनस्पतियों के मूलादि की अस्तेयता—

वानस्पत्यं मूलफलं दार्ढग्न्यर्थं तथैव च ।

तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥३३९॥

भाष्य—वनस्पतय एव वानस्पत्यं वृक्षाः । स्वार्थे प्रत्ययः । ग्रासार्थं गृह्यमाणमस्तेयं वंशाङ्कुरादि । मूलफलं वनस्पतीनामन्यद्विससस्यादि । सूत्रादिगणेऽग्रासार्थं मूलफलाहरणे दण्ड उक्तः ।

अस्तेयवचनं ग्रासार्थमात्रार्थम् । अक्षीणवृत्तेरपि कथञ्चिज्जातलौल्यस्य स्मृत्यन्तरदर्शनाच्चापरिवृत्तेश्च दण्डः । तथा च गौतमः (१२।२८) “पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृत्तानाम्” इति ।

दार्ढ्यार्थम्—आहिताग्नेरसन्निहिते वनस्पतावुद्घात्यग्नौ तद्धारणार्थं काष्ठम-
दोषं पालाशीर्वा समिधो व्यादध्यात् । अप्रचुरपलाशे च ग्रामे कथं स्यादित्यादिति यदि
गृह्येन दोषः ।

तृणं च गोभ्यः । तादर्थ्ये चतुर्थी । गोग्रहणात्प्रस्तरार्थं दोष एव । ये तु ग्रासार्थपदेन
गवामभिसम्बन्धमिच्छन्ति तेषां गोभ्य इति नोपपद्यते । षष्ठी हि तत्र युक्ता ॥३३९॥

हिन्दी—(बिना घेरी हुई) वनस्पतियों के मूल तथा फल, अग्निहोत्र के लिए समिधा
(हवनकाष्ठ) और गोग्रास के लिए घास ग्रहण करने को मनु ने चोरी नहीं कहा है ।

चोर के हाथ से दक्षिणादि लेने पर दण्ड—

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥

भाष्य—अतिदेशोऽयम् । यो ब्राह्मणश्चौरानुपजीवति स चौरवदण्ड्यः । **याजना-**
ध्यापनेनापि । अपिः क्रियान्तरसूचकः । तेन प्रतिग्रहप्रीत्यादायादि गृह्यते । क्षत्रियादीना-
मन्यथैव वृत्तिः वार्तादि । स्वकर्मणा चोरधनं गृह्यताम् । ब्राह्मणग्रहणं तु 'मया किल
धर्मेणार्जितं याजयता' इत्यभिमाननिवृत्त्यर्थम् ।

अदत्तमादत्ते गृह्णातीत्यदत्तादायी चोरः । **लिप्सेत** लब्धुमिच्छेत् । अगृहीतास्वपि
दक्षिणासु तत्सम्बन्धादेव चौरनिग्रहः ॥३४०॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण नहीं दी गयी वस्तु (या धन) को चुरानेवाले चोर के हाथ से
यज्ञ कराने या पढ़ाने की दक्षिणा भी ('यह दूसरे का है' ऐसा जानता हुआ) लेने की इच्छा
करे तो जैसा चोर है वैसा वह ब्राह्मण भी है, (अतएव ऐसा ब्राह्मण भी चोर के समान
दण्डनीय है) ॥३४०॥

दो गन्ना लेनेवाले द्विज पंथिकादि को दण्डाभाव—

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।

आददानः परक्षेत्रात्र दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥

भाष्य—द्विजग्रहणं शूद्रप्रतिषेधार्थम् । **अध्वगो** नैकग्रामवासी । तत्रापि **क्षीण-**
वृत्तिः क्षीणपथ्योदनः । **द्वाविक्षू** दण्डौ । **मूलके** । प्रदर्शनार्थं चैतत् । परिमितहरीतक-
मुद्गादिशमीधान्यानाम् । तथा च "शमीत्रपुसयुगघासेषु च नाप्रतिषेध" इति स्मृत्यन्तरम् ।
परक्षेत्रात्परकीयस्थानादित्यर्थः—परिवृतादपि ॥३४१॥

हिन्दी—पाथेय (रास्ते के कलेवा) से रहित द्विज पंथिक यदि दूसरे के खेत से दो
गन्ने (ऊख) या दो मूली ग्रहण कर ले तो वह दण्डनीय नहीं होता है ॥३४१॥

बिना बँधे पशु आदि के अपहरणकर्ता को दण्ड—

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।

दासाश्चरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

भाष्य—पश्वादयो विमुक्तशृङ्खलादिबन्धना मुस्तादियवभूयिष्ठेषु विजनेषु वार्यन्ते । ततश्चेन्निद्रायति स्वामिनि पाले वा कश्चित्सन्दानवतः कुर्यात् खलीनकबन्धादिना—नूनं निनीषत्यसाविति शङ्क्या—चौरवदण्ड्यः । यस्तु स्वामिगृहच्युतं यूथभ्रंशागतं वा रक्षितु-मेव वा बध्नीयान्न तस्य दोषः । एवं गवादीनामपि गले दामादिसञ्जनने एष एव दमः । ये च संदिताः पादस्थशृङ्खलादिना तेषां **मोक्षकः** । दासांश्च रहसि प्रोत्साह्य भक्तदासादीनप-हरति ‘अहं ते बहु ददामि किमेतं भजसे’ इति । कुलीनानां हरणे वध उक्तः ‘पुरुषाणामि-त्यत्र’ (३२३) । अनेन दासानामुच्यते । यथा तत्रैव कुलीनमुक्तमेवमत्रापि प्रोत्साह्य नयनं ग्रहणं न कर्तव्यम्—तत्र प्रबलादिना चौर्येण वेति । **अश्चरथहर्तेति** । अश्वानां रथानां च । महापशूनामित्यत्र (३२५) राजसम्बन्धिनोऽश्वाः, इमे तु जनपदानाम् । तत्र राजेच्छया दण्डः, इह तु नियतो वधः । यद्यपि बहवश्चोरदण्डास्तथापि स्मृत्यन्तरे ।

“बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः ।

प्रसह्य घातिनश्चैव शूलमारोपयेन्नरान् ॥” इति ।

इहापि सामान्यतो ‘येन येने’त्युपक्रम्य (३३४) ‘तत्तदेव हरेदिति’ । अन्ये त्वश्वयुक्तो रथ इति सामान्यं मन्यन्ते—प्रदर्शनाच्चाश्वगोरथादीनाम् । तत्र केवलानामश्वानां रथस्य च दण्डश्चिन्त्यः । स्मृत्यन्तरे केवलानामश्वानां चौरदण्डस्योक्तत्वात् रथयुक्तानामपि सिद्धः । ये तु प्रोत्साह्य नयनं ‘हरणं’ मन्यन्ते तेषामश्चरथशब्देन रथकारो लक्ष्यते—रथकर्तेति । तच्च सर्वशिल्प्यर्थम् । शिल्पिनां हरणे चौरदण्डः । अश्वानामपि प्रोत्साहनं वडवादरिनेन ॥ ३४२ ॥

हिन्दी—बिना बँधे हुए दूसरे के पशु (घोड़ा, गाय, बैल, बछवा आदि) को बाँध लेनेवाला, बाँधे हुए दूसरे के पशुओं को खोल देनेवाला तथा दास, घोड़ा और रथ (गाड़ी, ताँगा, एक्का आदि सवारी को) चुरानेवाला (बड़े-छोटे अपराध के अनुसार अधिक या कम) चोर के समान (मारण, अङ्गच्छेदन, धनादि ग्रहण अर्थात् जुर्माना आदि) दण्ड के द्वारा दण्डनीय होता है ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।

यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

भाष्य—अनेनान्तरप्रक्रान्तेन मार्गेण चौरनिग्रहं कुर्वाणो यशः सकलजनसाधु-वादो अस्मिल्लोके यावज्जीवम्—प्रेत्य मृतश्चानुत्तमं स्वर्गाख्यं सुखमश्नुत इति ।

प्रकरणोपसंहारोऽयम् ॥३४३॥

हिन्दी—इस विधि (३०१-३४२) से चोर को दण्डित करता हुआ राजा इस लोक में ख्याति तथा मरकर परलोक में अनुत्तम सुख पाता है ॥३४३॥

साहसकर्ता का निग्रह राजकर्तव्य—

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥३४४॥

भाष्य—‘सहो’ बलं, तेन वर्तते **साहसिकः** । दृष्टादृष्टदोषानपरिगणय्य बल-मात्रमाश्रित्य स्तेयहिंसासंग्रहणादिपरपीडाकरेषु वर्तमानः प्रकाशं पुरुषः ‘साहसिकः’ । तदुक्तं “स्यात्साहसमिति” (३३२) । न स्तेयादिभ्यः पदार्थान्तरं साहसं, किन्तु प्रसह्यकारणात् तान्येव ‘साहसानि’ भवन्ति । यदप्यग्निदाहवस्त्रपाटनादि तदपि द्रव्य-नाशात्मकत्वात्सिद्धमेवेति । तस्य निग्रहात् **नोपेक्षेत** न विलम्बेत क्षणमपि—यदा गृहीतस्तदैव निगृहीतव्यः । इन्द्रस्वामिकं स्थानं स्वर्गाख्यमैन्द्रं तदाभिमुख्येन प्राप्तुमिच्छन् । अथवा स्वमेव राज्यपदमैन्द्रामिवेच्छन्नविचालित्वसामान्यम् । निग्राह्यनिग्रहेण हि प्रतापा-नुग्रहाभ्यां प्रजा अनुप्रवर्तन्ते । तदुक्तं “समुद्रमिव सिन्धव” इति । **यशोऽक्षयमव्ययं** च । द्वे विशेष्ये द्वे विशेषणे—स्थानमव्ययं यशोऽक्षयमिति । अथोभयेनापि यशो विशि-ष्यते—**क्षयो** मात्रापचयः, **व्ययो** निरन्वयविनाशः । उभयमपि तन्नास्ति । न मलिनी-भवति यशो न कदाचिद्विच्छिद्यते । भूतार्थवादस्तुतिरियम् ॥३४४॥

हिन्दी—ऐन्द्र पद (सबका आधिपत्यरूप सर्वश्रेष्ठ) अक्षय पद तथा अव्यय यश को चाहनेवाला राजा क्षणमात्र भी साहसिक (बलात्कार से गृहदाह तथा जन-धन का अपहरण करनेवाले अर्थात् डाकू) व्यक्ति की उपेक्षा न करे, (किन्तु तत्काल उन्हें दण्डित करे ॥३४४॥

वाक्यपारुष्यादि से साहस की अधिक सदोषता—

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।

साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥

भाष्य—अयमपराधवादो निग्रहविधिस्तुत्यर्थः । वाचा दुष्टो **वाग्दुष्ट**स्तस्करश्चौर-**दण्डेनैव**—दण्डपारुष्यकृत् । ‘दण्डः’ प्रहरणोपलक्षणार्थः । त्रिभ्य एतेभ्योऽनन्तराति-क्रान्तेभ्यः पापकारिभ्योऽयमतिशयेन **पापकृत्तमः** ॥३४५॥

हिन्दी—कटु वचन बोलनेवाला, चोर और डण्डे (या लाठी या शस्त्रादि) से मारपीट करनेवाला, इन तीनों की अपेक्षा साहस (बलात्कारपूर्वक धन-जन का अपहरण) करनेवाला मनुष्य अधिक पापी होता है ॥३४५॥

साहसिक क्षमा की निन्दा—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।

स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥

भाष्य—अयमप्यर्थवादः । साहसे स्थितं पुरुषं यो मर्षयति । प्रकृत्यर्थेऽयं णिच् । यो मृष्यति क्षमते । स विनाशं प्राप्नोति द्वेष्यतां च प्रजासु प्राप्नोति द्वेष्यैश्चाभिभूयते ॥३४६॥

हिन्दी—साहस (बलात्कार से धन-जनापहरण आदि) कर्म में तत्पर मनुष्य को जो राजा क्षमा करता है, वह शीघ्र ही नष्ट होता तथा प्रजा का विद्वेषपात्र भी बनता है ॥३४६॥

साहसिक की अनुपेक्षा—

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।

समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥

भाष्य—अत आह पार्श्वस्थस्य कस्यचित्स्नेहहेतोरमात्यादिना प्रार्थ्यमानो न मृष्येत् । अथवा स एवातिबहुधनं ददातीति नोपेक्षेत । सर्वेषां भूतानां भयमावहन्ति साहसिकाः । अयमप्यर्थवादः ॥३४७॥

हिन्दी—राजा मित्रता या अधिक धन-प्राप्ति के कारण से, सम्पूर्ण प्रजाओं को आतङ्कित करनेवाले साहसिक (डाकू) को भी न छोड़े अर्थात् उसे अवश्य दण्डित करे ॥३४७॥

द्विज का शस्त्रग्रहणकाल—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।

द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥३४८॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥

भाष्य—“वैणवीं धारयेद्यष्टिम्” इति (४।३६) विधानादनुमितशस्त्रग्रहणाः श्रोत्रियाः । स्वबलाविष्टं भवति च साहसिके बलातिशयधायि शस्त्रम् । अतः साहसिकत्वाशङ्क्या शस्त्रग्रहणमप्राप्तं विधीयते । शस्त्रं द्विजातीभिर्ग्राह्यमिति । एतावता वाक्यं विच्छिद्यते । अवशिष्टं तु “घ्नन्धर्मेण” इत्यनेनाभिसम्बध्यत इत्यतो द्वे एते वाक्ये ।

ये त्वेतेष्वेव निमित्तेषु ग्रहणमिच्छन्ति नान्यदेति तेषामतर्कितोपनताततायिमुख-पतितस्याशस्त्रस्य का गतिः । न हि ते शस्त्रग्रहणं तस्य प्रतिपालयन्ति ।

अथैवं व्याख्यायते—“धर्मो यत्रोपरुध्यते” “विप्लवे कालकारिते” राजनि व्यति-
मनु ॥ २२

प्रकरणोपसंहारोऽयम् ॥३४३॥

हिन्दी—इस विधि (३०१-३४२) से चोर को दण्डित करता हुआ राजा इस लोक में ख्याति तथा मरकर परलोक में अनुत्तम सुख पाता है ॥३४३॥

साहसकर्ता का निग्रह राजकर्तव्य—

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥३४४॥

भाष्य—‘सहो’ बलं, तेन वर्तते **साहसिकः** । दृष्टादृष्टदोषानपरिगणय्य बलमात्रमाश्रित्य स्तेयहिंसासंग्रहणादिपरपीडाकरेषु वर्तमानः प्रकाशं पुरुषः ‘साहसिकः’ । तदुक्तं “स्यात्साहसमिति” (३३२) । न स्तेयादिभ्यः पदार्थान्तरं साहसं, किन्तु प्रसह्यकारणात् तान्येव ‘साहसानि’ भवन्ति । यदप्यग्निदाहवस्त्रपाटनादि तदपि द्रव्यनाशात्मकत्वात्सिद्धमेवेति । तस्य निग्रहात् **नोपेक्षेत** न विलम्बेत क्षणमपि—यदा गृहीतस्तदैव निगृहीतव्यः । इन्द्रस्वामिकं स्थानं स्वर्गाख्यमैन्द्रं तदाभिमुख्येन प्राप्तुमिच्छन् । अथवा स्वमेव राज्यपदमैन्द्रामिवेच्छन्नविचालित्वसामान्यम् । निग्राह्यनिग्रहेण हि प्रतापानुग्रहाभ्यां प्रजा अनुप्रवर्तन्ते । तदुक्तं “समुद्रमिव सिन्धव” इति । **यशोऽक्षयमव्ययं** च । द्वे विशेष्ये द्वे विशेषणे—स्थानमव्ययं यशोऽक्षयमिति । अथोभयेनापि यशो विशिष्यते—**क्षयो** मात्रापचयः, **व्ययो** निरन्वयविनाशः । उभयमपि तन्नास्ति । न मलिनीभवति यशो न कदाचिद्विच्छिद्यते । भूतार्थवादस्तुतिरियम् ॥३४४॥

हिन्दी—ऐन्द्र पद (सबका आधिपत्यरूप सर्वश्रेष्ठ) अक्षय पद तथा अव्यय यश को चाहनेवाला राजा क्षणमात्र भी साहसिक (बलात्कार से गृहदाह तथा जन-धन का अपहरण करनेवाले अर्थात् डाकू) व्यक्ति की उपेक्षा न करे, (किन्तु तत्काल उन्हें दण्डित करे ॥३४४॥

वाक्यपारुष्यादि से साहस की अधिक सदोषता—

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।

साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥

भाष्य—अयमपरार्थवादो निग्रहविधिस्तुत्यर्थः । वाचा दुष्टो **वाग्दुष्ट**स्तस्करश्चौर-**दण्डेनैव**—दण्डपारुष्यकृत् । ‘दण्डः’ प्रहरणोपलक्षणार्थः । त्रिभ्य एतेभ्योऽनन्तराति-क्रान्तेभ्यः पापकारिभ्योऽयमतिशयेन **पापकृत्तमः** ॥३४५॥

हिन्दी—कटु वचन बोलनेवाला, चोर और डण्डे (या लाठी या शस्त्रादि) से मारपीट करनेवाला, इन तीनों की अपेक्षा साहस (बलात्कारपूर्वक धन-जन का अपहरण) करनेवाला मनुष्य अधिक पापी होता है ॥३४५॥

साहसिक क्षमा की निन्दा—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।

स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥

भाष्य—अयमप्यर्थवादः । साहसे स्थितं पुरुषं यो मर्षयति । प्रकृत्यर्थेऽयं णिच् । यो मृष्यति क्षमते । स विनाशं प्राप्नोति द्वेष्यतां च प्रजासु प्राप्नोति द्वेष्यैश्चाभिभूयते ॥३४६॥

हिन्दी—साहस (बलात्कार से धन-जनापहरण आदि) कर्म में तत्पर मनुष्य को जो राजा क्षमा करता है, वह शीघ्र ही नष्ट होता तथा प्रजा का विद्वेषपात्र भी बनता है ॥३४६॥

साहसिक की अनुपेक्षा—

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।

समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥

भाष्य—अत आह पार्श्वस्थस्य कस्यचित्स्नेहेहेतोरमात्यादिना प्रार्थ्यमानो न मृष्येत् । अथवा स एवातिबहुधनं ददातीति नोपेक्षेत । सर्वेषां भूतानां भयमावहन्ति साहसिकाः । अयमप्यर्थवादः ॥३४७॥

हिन्दी—राजा मित्रता या अधिक धन-प्राप्ति के कारण से, सम्पूर्ण प्रजाओं को आतङ्कित करनेवाले साहसिक (डाकू) को भी न छोड़े अर्थात् उसे अवश्य दण्डित करे ॥३४७॥

द्विज का शस्त्रग्रहणकाल—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।

द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥३४८॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घनन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥

भाष्य—“वैणवीं धारयेद्यष्टिम्” इति (४।३६) विधानादनुमितशस्त्रग्रहणाः श्रोत्रियाः । स्वबलाविष्टं भवति च साहसिके बलातिशयधायि शस्त्रम् । अतः साहसिकत्वाशङ्क्या शस्त्रग्रहणमप्राप्तं विधीयते । शस्त्रं द्विजातीभिर्ग्राह्यमिति । एतावता वाक्यं विच्छिद्यते । अवशिष्टं तु “घनन्धर्मेण” इत्यनेनाभिसम्बध्यत इत्यतो द्वे एते वाक्ये ।

ये त्वेतेष्वेव निमित्तेषु ग्रहणमिच्छन्ति नान्यदेति तेषामतर्कितोपनताततायिमुख-पतितस्याशस्त्रस्य का गतिः । न हि ते शस्त्रग्रहणं तस्य प्रतिपालयन्ति ।

अथैवं व्याख्यायते—“धर्मो यत्रोपरुध्यते” “विप्लवे कालकारिते” राजनि व्यति-
मनु ॥ २२

क्रान्तेऽसंस्थायां प्रवृत्तायां शस्त्रं ग्राह्यम् । अन्यदा तु सौराज्ये “राजैव रक्षतीति” —न हि प्रसार्य हस्तौ राजा प्रतिपुरुषमासितुं शक्नोति । भवन्ति केचिदुरात्मानो ये राजपुरुषानपि शूरतमाभियुक्तान्बाधन्ते शस्त्रवतस्तु बिभ्यतीति सार्वकालिकं शस्त्रधारणं युक्तम् ।

किं पुनर्ग्रहणमात्रं बिभीषिकाजननमात्रम्?

नेत्याह । **ग्रन्थर्मेण न दुष्यतीति** । हिंसापर्यन्तोऽयमुपदेशः । यत्त्वापस्तम्बेनोक्तं (१।१०।६) “न ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रमाददीतेति” —असति यथाभिहिते निमित्त आकर्षणस्य प्रतिषेधो न ग्रहणस्य । विकोशा हि परीक्ष्यन्ते ।

धर्मस्योपरोधो यदा यज्ञादीनां विनाशः कैश्चित्क्रियते । **वर्णानां विप्लवोऽव्यव-**स्थानं वर्णसङ्करादि । **कालकारिते** राजमरणादौ । तत्र स्वधनकृदुम्बरक्षार्थं शस्त्रं ग्राह्यम् । अन्ये तु परार्थमप्यस्मिन्नवसरे । तथा च गौतमः (२१।१९) “दुर्बलहिंसायां च विमोचने शक्तश्चेदिति” ।

उक्तं यज्ञविनाशसङ्करनिवृत्त्यर्थं शस्त्रग्रहणम् । निमित्तान्तरमाह **आत्मनश्च परि-**त्राणे । परिः सर्वतोभावे शरीरभार्याधनपुत्ररक्षार्थं **ग्रन्थर्मेण न दुष्यति** ।

दक्षिणानां च सङ्गरोऽवरोधः । यदि यज्ञार्थं कल्पिता दक्षिणाः कैश्चिदपहियेरंस्तदा तन्निमित्तं योद्धव्यम् । अन्ये त्वेवमभिसम्बन्धन्ति—**दक्षिणानां** हेतोः **सङ्गरे**—यद्युः परोधः प्रवृत्तो धर्मेऽप्रवृत्ते ‘दक्षिणसङ्गर’ इति ।

स्त्रीविप्राणामभ्यवपत्तिः परिभवः । यत्र स्त्रियः साध्व्यो हठात्केनचिदुपगम्यन्ते हन्यन्ते वा । एवं ब्राह्मणाः केनचिद्धन्यन्ते । तत्र घन्खड्गादिना न दुष्यति । हिंसाप्रतिषेधातिक्रमो न कृतो भवतीत्यर्थः । असति प्रतिषेधे कामचारप्राप्तौ विध्यन्तरपर्यालोचनया गौतमवचनमनुध्यायमानेन “दुर्बलहिंसायां विमोचने शक्तश्चेत्” (२१।१९) इत्यवश्यं हनने प्रवर्तितव्यम् ।

अथ प्रतिहारशङ्का भवति तदा सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्युपेक्षा ॥३४८-३४९॥

आत्मपरित्राणार्थमविचारेण योद्धव्यम् । तदनुदर्शयति—

हिन्दी—साहसी (डाकू) मनुष्यों के कारण द्विजों तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-वासियों के धर्म का अवरोध होने में, समय-प्रभाव से राज्य के अराजक हो जाने के कारण युद्ध आदि की सम्भावना में, आत्मरक्षा में, दक्षिणा-द्रव्य (गौ आदि) के अपहरण-सम्बन्धी युद्ध में तथा स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा में द्विजातियों को शस्त्र-ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि धर्मपूर्वक अपराधी को मारता हुआ मनुष्य पापी नहीं होता है ॥३४८-३४९॥

आततायी को तत्काल मारना—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥

भाष्य—‘आततायी’ उच्यते यः शरीरधनदारपुत्रनाशे सर्वप्रकारमुद्यतः । तमविचारयन् हन्यात् । गुर्वादिग्रहणमर्थवादः । एतेऽपि हन्तव्याः किमुतान्य इति । एतेषां त्वाततायित्वेऽपि वधो नास्ति । “आचार्यं च प्रवक्तारम्” इत्यनेनापकारिणामपि वधो निषिद्धः (४।१६२) “गुरुमाततायिनमिति” शक्यः सम्बन्धः । तथा सत्याततायिविशेषणमेतत् । ततो गुर्वादि-व्यतिरिक्तस्याततायिनः प्रतिषेधः कुतः स्याद्—वाक्यान्तराभावात् । अथ “नाततायिवधे दोष” इत्येतद्वाक्यान्तरं सामान्येनाभ्यनुज्ञापकमिति—तदपि न, विधेरश्रवणात्, पूर्वशेषतया चार्थवादत्वे प्रकृतवचनत्वात् ।

इह भवन्तस्त्वाहुः—यद्यपि ‘आततायिनमि’त्येव विधिः, अवशिष्टोऽर्थवादः, तथापि गुर्वादीनां वधानुज्ञानम् । यतोऽन्यदपकारित्वमन्यदाततायित्वम् । यो ह्यन्यां काञ्चन-पीडां करोति न सर्वेण शरीरादिना सोऽपकारी, ततस्त्वन्य आततायी । तथा च पठ्यते—“उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजतः । भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः” ॥

“आयान्तमिति वचनादात्तशस्त्रो हन्तुमभिधानवन्दारान्वा जिहीर्षन्हन्तव्यः । कृते तु दोषे किमन्यत्करिष्यतीत्युपेक्षा” इति ब्रुवते । तदयुक्तम् । यतः “प्रकाशमप्रकाशं वेति” वक्ष्यति (३५१) । समानौ ह्यतौ करिष्यन्कृतवांश्च । तस्मादायान्तमित्यनुवादः—कर्तुमागतं कृत्वा वा गतमिति । आततायित्वाच्चासौ हन्यते । न च कृतवत आततायित्वमपैति । नास्यात्मनो रक्षार्थ एव वध आत्मनश्च परित्राण इत्यनेनोक्तम् ॥३५०॥

हिन्दी—गुरु, बालक, बूढ़ा अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण भी आततायी होकर आता हो तो उसे बिना विचारे अर्थात् तत्काल मारना चाहिए ॥३५०॥

आततायी का लक्षण—

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।

क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥२३॥]

[हिन्दी—(घर-गल्ला आदि में) आग लगानेवाला, विष देनेवाला, (निश्शस्त्र पर) शस्त्र उठानेवाला, धनापहरण करनेवाला, खेत तथा स्त्री को चुरानेवाला; ये छः ‘आततायी’ होते हैं ॥२३॥]

[उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा ।

आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥२४॥]

[हिन्दी—(मारने के लिए) तलवार उठाया हुआ, विष लिया हुआ, आग लिया हुआ, शाप देने के लिए हाथ उठाया हुआ, अथर्व-विधि (मारणादि तान्त्रिक विधि) से मारनेवाला, राजा की चुगली करनेवाला ॥२४॥]

[भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।

एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥२५॥]

[हिन्दी—स्त्री के धन का अपहरण करनेवाला, छिद्रान्वेषी (सर्वदा दूसरों का दोष ही ढूँढने में लगा हुआ), इत्यादि; इस प्रकार के सभी लोगों को आततायी ही जानना चाहिए ॥२५॥]

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।

प्रदाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥३५१॥

भाष्य—न कश्चेति । नाधर्मो न दण्डो न प्रायश्चित्तमिति । प्रकाशं जनसमक्षम् । अप्रकाशं विषादिदानेन येन केनचिदुपायेन । मन्युः क्रोधाभिमानिदेवताऽसौ मन्युमृच्छति । नात्र हन्तृहन्तव्यभावोऽस्ति । पुरुषयोरर्थ आततायिक्रोध इतरेण हन्यत इत्यर्थवादोऽयम् । यथा प्रतिग्रहकामः “को मह्यं ददातु नाहं प्रतिग्रहीता न त्वं दाता ततश्च कुतः प्रतिग्रहदोषो मम” एवमत्रापि ।

इह साहसिके दण्डो नाम्नातः । स दण्डपारुष्ये द्रष्टव्यः । इह त्वधिकतरः, यत उक्तं ‘विज्ञेयः पापकृत्तम’ इति (३४५) ॥३५१॥

हिन्दी—सबके सामने या एकान्त में (मारने आदि के लिए उद्यत) आततायी के वध करने में वधकर्ता को दोष नहीं होता है; क्योंकि मारनेवाले अर्थात् आततायी का क्रोध मारे जाते हुए के क्रोध को बढ़ाता है ॥३५१॥

परस्त्रीदूषण में दण्ड—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्ताऽन्महीपतिः ।

उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिह्नयित्वा प्रवासयेत् ॥३५२॥

भाष्य—विवाहसंस्कृतायां स्त्रियां दारशब्दो वर्तते । आत्मनोऽन्यः परः । अभिमर्शः सम्भोग आलिङ्गनादिः । आलिङ्गनं जनद्वयसमवायः, भोगजन्यायाः प्रीतेः प्रवृत्तिः प्रारम्भस्तन्निवृत्त्यर्थं दूतीसम्प्रेषणादिना प्रोत्साहनम् । अथ च संग्रहणमभिमर्शनं प्रचक्षते । तेनायमर्थः—परभार्यागमने प्रवृत्तं पुरुषं ज्ञात्वोद्वेजनकरैस्तीक्ष्णशूलैः शक्तिशूलादिभिर्छिन्नयित्वा नासाछेदादिभिर्विवासयेत् । सर्वत्रात्र विशेषदण्डस्योक्तत्वादस्य विषयभावो न सामान्यदण्डोऽयम् । किं तर्हि । पुनः पुनः प्रवृत्तौ । इदं तु युक्तम् । अलभमानस्य विषयान्तरं प्रवासस्य धनदण्डस्य च कार्यभेदात्समुच्चयः । तथा दर्शयिष्यामः ॥३५२॥

हिन्दी—परस्त्री-सम्भोग में प्रवृत्त होनेवाले मनुष्य को राजा व्याकुल करने वाले दण्डों (नाक, ओष्ठ, कान आदि कटवा लेना) से दण्डित करके उसे देश से निकाल दे ।

परस्त्रीदूषण में दण्ड—

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णशङ्करः ।

येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशीय कल्पते ॥३५३॥

भाष्य—समुत्थानमुत्पत्तिः । ततः परदारगमनात्सङ्करोऽवान्तरवर्णरूपा जायते । येन जातेनाधर्मो मूलस्य लोकस्य दिवः पतिता वृष्टिस्तां हरत्यधर्मः । धर्मे हि सति “आदित्याज्जायते वृष्टिः” । न च सङ्करे सत्यपि कारीरीयागो नापि पात्रे दानमतो दान-यागहोमानां सस्योत्पत्तिहेतुभूतानामभावात्सर्वजगन्नाशयमर्थो भवति । तस्मात्पारदारिकान् ‘अधर्ममूलं वर्णशङ्करः स्यादिति’ सस्यादिनिष्पत्तिमूलां वा वृष्टिं रक्षन्प्रवासयेत् ॥३५३॥

हिन्दी—क्योंकि परस्त्री सम्भोग में वर्णशङ्कर (दोगला) पुत्र उत्पन्न होता है, जिस वर्णशङ्कर से मूल को नष्ट करनेवाला अधर्म सबके नाश के लिए समर्थ होता है ॥३५३॥

विमर्श—परस्त्री-सम्भोग से वर्णशङ्कर पुत्र की उत्पत्ति होगी तो सती स्त्री से उत्पन्न उत्तम यज्ञकर्ता का अभाव हो जायेगा और वैसे उत्तम यज्ञकर्ता का अभाव होने से अग्नि में विधिपूर्वक हवन नहीं हो सकेगा और इस कारण से वर्षा का भी अभाव होने से अन्नाभाव^१ होने पर प्रजाओं को नष्ट करनेवाला अधर्म फैल जायेगा, अतएव सब अनर्थों के मूल कारण परस्त्री-सम्भोग को पूर्णतः रोकना राजा का परम कर्तव्य है ।

परस्त्री के साथ एकान्त में भाषण करने पर—

परस्य पत्न्या पुरुषः सम्भाषां योजयन् रहः ।

पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥३५४॥

भाष्य—सम्भाषः सम्भाषणं—तमालापं योजयन् कुर्वन्सङ्ग्रहणादिदोषैः तत्स्त्री-प्रार्थनादिभिः पूर्वमाक्षारितोऽभिशास्तः—‘अयमेनामुपजपती’त्यमुत्र दृष्टदोषः शङ्क्यमान-दोषो वा चपलः । रहः उद्वातादौ—निषिद्धसम्भाषण केचित् । कारणादप्यन्यपत्न्या सम्भाषणं कुर्वन्प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयादापयितव्य इत्यर्थः ॥३५४॥

हिन्दी—पहले परस्त्री-सम्भोग-विषयक निन्दा से युक्त जो पुरुष एकान्त में परस्त्री से बातचीत करता हो, उसे प्रथम साहस (८।१३८ अर्थात् २५० पण) से दण्डित करना चाहिए ॥३५४॥

१. ‘एज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः ।’ इति ।

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।

न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥

भाष्य—पूर्वस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । अनाक्षारितोऽप्यकारणात्सम्भाषयन्मिश्र-
यन्पूर्वदण्डभाक् ॥३५५॥

हिन्दी—पहले कभी भी परस्त्री-सम्भोग के विषय में अनिन्दित पुरुष किसी कारण से परस्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करे तो वह कुछ दोषी नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है ॥३५५॥

उक्त विधान का अपवाद—

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।

नदीनां वाऽपि सम्भेदे स सङ्ग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

भाष्य—‘परस्य पत्येति’ प्रकृते पुनः परस्त्रीग्रहणं मातृभगिनीगुरुपत्न्यादी-
नामप्रतिषेधार्थम् । न हि ताः सत्यपि परसम्बन्धित्वे परस्त्रीव्यपदेश्याः ।

तीर्थमुच्यते येन मार्गेण नदीतडागादिभ्यो जलमानेतुमवतरन्ति । स हि विजनप्रायो
भवति । नानुदकार्थेन तत्र सन्निधीयते । सङ्केतस्थानं तादृशमत्र कल्पितायामवश्यमेव
गन्तव्यमहमपि सन्निधीयमानो नाशङ्क्यो भविष्यामीति उदकार्थी दिवा शौचाचारं वा
करिष्यन्प्रतिपालयन्निति जना मंस्यन्ते । प्रदेशान्तरं तु किमत्रायं प्रतिपालयतीति शङ्का
स्यात् । अतस्तीर्थे प्रतिषेधः । अरण्यं हि ग्रामाद्विजनो देशो गुल्मवृक्षलतादिगहनः ।
वने वृक्षसंततौ । नदीनां सम्भेदः समागमः । सोऽपि हि सङ्केतस्थानम् । स सङ्ग्रहणं
प्राप्नुयात् । परस्त्रीकामत्वं ‘सङ्ग्रहणम्’ । अतश्च यस्तत्र दण्डः सोऽस्य स्यादित्युक्तं
भवति । अनाक्षारितस्यापि सत्यपि कारणेऽयं प्रतिषेधः । यत्त्वापस्तम्बेनोक्तं “नासम्भाष्य
स्त्रियमतिव्रजेदिति” तदन्येषु सन्निहितेष्वेतच्छास्त्रज्ञेषु प्रकाश्ये—‘भगिनि नमस्ते’
इत्याद्यभिवादनमविलम्बमानेन कर्तव्यम् ॥३५६॥

हिन्दी—पहले परस्त्री-सम्भोग के विषय में अनिन्दित भी जो पुरुष नदी के किनारे
(लता गुल्म आदि से घिरे हुए), अरण्य में, घने वृक्ष आदि से युक्त वन में, अथवा नदियों
के सङ्गम स्थान अर्थात् एकान्त में परस्त्री के साथ बातचीत करता है; वह पुरुष ‘स्त्री-
संग्रहण’ (८।३५७) के दण्ड (१००० पण) से दण्डनीय है ॥३५६॥

‘स्त्री-संग्रहण’ का लक्षण—

उपकारक्रियाकेलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।

सह खट्वासनं चैव सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥

भाष्य—या न केनचित्सम्बन्धेन सम्बन्धिनी तस्या वस्त्रमाल्यादिदानेन उपकार-

करणम् । तथा भोजनपानादिना । **केलिः** परिहासो वक्रभणितादिना । **स्पर्शो भूषण-वाससाम्** । **भूषणं** हारकटकादि तदङ्गलङ्गनं—तदीयमेतद्वेति ज्ञात्वा विनाप्रयोजने-नान्यगृहीतमपि स्पृश्यते । एकस्यां खट्वायामसंसक्ताङ्गयोरपि सहासनम् । सर्वमेत-तुल्यदण्डम् ॥३५७॥

हिन्दी—परस्त्री के पास सुगन्धित तेल-फुलेल, इत्र-माला आदि भेजना, केलि (हंसी-मजाक आदि) करना, उसके भूषण तथा वस्त्रों का स्पर्श करना और साथ में एक खाट पर बैठना (यहाँ सर्वत्र निर्जन अर्थात् बिलकुल एकान्त स्थान से तात्पर्य है) ये सब कार्य मनु आदि ऋषियों के द्वारा ‘संग्रहण’ कहा गया है ॥३५७॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।

परस्परस्यानुमते सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥३५८॥

भाष्य—अदेशस्पर्शस्य—यत्र विनैव तत्स्पर्शनं गमनागमनादि संसिध्यति । महाजनसङ्कुले न दोषः । तथा शरीरावयवोऽपि ‘देशः’ । तत्र हस्तस्कंधधृतभाण्डावरोपणे तत्स्पर्शं न दोषः । ओष्ठचिबुकस्तनादिषु दोषः । तथा वा स्तनादिस्पर्शेनोत्पीडितो यदि तत्सहते ‘मा कार्षी’ रित्यादिना न प्रतिषेधति । **परस्परस्यानुमते** मतिपूर्वमेतस्मिन्कृते दोषोऽयम् । न पुनः कर्मादौ । स्वलन्ती पुरुषं कण्ठोऽवलम्बते—पुरुषो वा स्तनान्तरे स्त्रियं तद्धस्तगृहीतद्रव्यादानप्रवृत्तौ—शुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पततीतिवत्तावपि न दुष्येताम् ॥३५८॥

हिन्दी—यदि पुरुष परस्त्री के अस्पृश्य अङ्ग (जङ्घा, स्तन, गाल आदि अङ्ग) का स्पर्श करे, या उसके द्वारा अपने अङ्ग से स्पर्श करने पर सहन करे (रुष्ट नहीं होवे), ये सब कार्य परस्पर में अनुमति (राजीखुशी) से हो तो ये ‘संग्रहण’ कहे गये हैं ॥३५८॥

स्वयं पुरुष के पास स्त्री के आने पर—

[कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत् ।

राज्ञा दास्येनियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम् ॥२६॥]

[हिन्दी—यदि काम के वशीभूत होकर स्त्री पुरुष के पास स्वयं जावे तो राजा उसके दोष को घोषित (सर्वप्रत्यक्ष) कर इसे दासी के कर्म में नियुक्त कर ले ॥२६॥]

स्त्रीसंग्रहणकर्ता शूद्र को दण्ड—

अब्राह्मणः सङ्ग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥

भाष्य—उक्तं सङ्ग्रहणस्वरूपम् । दण्ड इदानीमत्रोच्यते । **अब्राह्मणः** क्षत्रियादिः सङ्ग्रहणे कृते **चतुर्णामपि वर्णानां** हीनोत्तमजातिभेदमनपेक्ष्य **प्राणान्तं** प्राणत्याजने

मारणे पर्यवसितं दण्डमर्हति ।

कथं पुनर्ब्राह्मण्यां शूद्रायां च सङ्ग्रहीतस्य समो दण्डः ।

अत्र हेतुस्वरूपमर्थमहा दारा रक्ष्यतमाः सदा । सर्वस्य कस्यचिद्राज्ञा दारा धनशरीरेभ्योऽतिशयेन रक्ष्याः । तुल्ये हि सङ्करे शूद्रस्यापि कुलनाशः । एतदुक्तं भवति । वाचनिकोऽयमर्थोऽत्र हेतुर्वक्तव्यः, उक्तीऽसौ ।

अत्र पूर्वं व्याचख्युः—न सर्वस्मिन्सङ्ग्रहणे प्रागुक्तदण्डोऽयम् । किं तर्हि मुख्ये स्पर्शविशेषे जन्यप्रीतिविशेषात्मके गमने । कथं हि तीर्थादिष्वभिवदनं गमनं च समदण्डा-
वुपपद्येयाताम् । तस्मादब्राह्मणः शूद्रो द्विजातिस्त्रीगमने प्राणच्छेदाहो नान्यः । न हि विषमसमीकरणं न्याय्यम् । अतश्च प्रागुक्तेषु सङ्ग्रहणेष्वनुबन्धाद्यपेक्षया दण्डः कल्प्यः । अत्रैवं निश्चितं गमनार्थ एवायमुपकारक्रियादिरुपक्रमस्तत्र मुख्यदण्ड एव युक्तः । न ह्यत्र वैषम्यमस्ति । दृष्टं चैतदुभयत्रापीति । यच्चेदमुक्तं—“यद्यत्रायं दण्डो मुख्ये सङ्ग्रहणे किं करिष्यतीति”—नैवान्यन्मुख्यसङ्ग्रहणमस्ति । न ह्यस्य लौकिकः पदार्थोऽवधृतो येन परदारोपकारादौ प्रयुक्त इत्येवमस्यैव । यं च भवान् मुख्यं सङ्ग्रहणं मन्यते तत्र महान्दण्डः । प्रतिषिद्धं परस्त्रीगमनं शास्त्रं पर्यनुयोज्यमिति चेत् उपकारादावपि प्रतिषेधं विद्धि । प्रतिषेधवद्धि प्रायश्चित्तमपि तुल्यं प्रसक्तमिति चेत्का नामेयमनिष्ठापतिः । किन्तु प्रसज्यत यदा सङ्ग्रहणशब्देन तदुच्येत । सिक्ते हि रेतसि गमनाद्यभिधानम् । यत्र यादृशो दण्डस्तत्र तत्समानं दुःखं प्राप्तम् । अतोऽस्मिन्विपर्यये रेतःसेकनिमित्तं प्रायश्चित्तं तच्छब्देनाभिधानात् उपकारादौ कल्प्यम् । यदि च संलापादौ स्वल्पो दण्डः स्यात्तदा प्रवर्तेरन् । ततश्च परस्त्रीसंलापादिभूतेनान्येनाभिभवता व्यादीपितमन्मथाः स्मरशराकृष्य-
माणाः शरीरनिरपेक्षा राजनिग्रहं न गणयेयुः । आद्यायामेव तु प्रवृत्तौ गृह्यमाणेष्वप्रबन्ध-
वृत्तौ रागे शक्यं निराकरणम् । तस्मात्परस्त्रीमुपजपतामेव महादण्डो युक्तः ।

इह त्वन्तग्रहणादादिभूतेनान्येन दण्डेन भवितव्यम् । न ह्यसत्यादावन्तो भवन्ति । प्राणोऽन्तो यस्य प्राणान्तस्तावत्पातयितव्यो यावत्प्राणेषु पतति । तेन सर्वस्वग्रहणा-
ङ्गच्छेदाद्यप्युक्तं भवति । एकैकस्य च दण्डत्वमन्यत्र ज्ञातं न समुदाये दंड्यते इति बहु-
दण्डेष्वाम्नातेषु स महान् यो द्विजातिस्त्रीसंग्रहणेऽब्राह्मणस्य । अतो युक्तैव मारणकल्पना सर्वत्र । तत्र कुलस्त्रीभिरनिच्छन्तीभिर्भर्तृमतीभिः संगृह्यमाणस्य प्राणपहरणं हीनजातीया-
भिरपि ॥३५९॥

हिन्दी—अब्राह्मण अर्थात् शूद्र पुरुष यदि सम्भोगादि की इच्छा नहीं करनेवाली ब्राह्मणी का ‘संग्रहण’ (८।३५७-३५८) करे तो वह प्राणदण्ड (फाँसी देने) के योग्य होता है; क्योंकि चारों वर्णों की स्त्रियाँ सर्वदा रक्षणीय हैं ॥३५९॥

विमर्श—यहाँ पर कठोर दण्ड विधान होने से ‘अब्राह्मण’ शब्द को मन्वर्थमुक्तावली कार ने शूद्रार्थक माना है । चारों वर्णों की स्त्रियों को रक्षणीय कहने से ऐसे प्रसङ्ग को रोकने के लिए सब वर्णों की स्त्रियों (के सतीत्व) की रक्षा राजा को सर्वदा करनी चाहिये ।

भिक्षुकादि के परस्त्री-भाषण की अनिन्दनीयता—

भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

सम्भाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥३६०॥

भाष्य—भिक्षुकाभिक्षाजीविनो भिक्षायाचनारूपं सम्भाषणमवारिताः कुर्युर्यदि स्वामिना न निषिद्धाः । अथवा नैते वारयितव्याः । **बन्दिनः** स्तावकाः । **दीक्षिता** यज्ञ भृतिवचनार्थं सम्भाषेरन् । **कारवः** सूपकारादयः । एते तीर्थादिष्वपि न निवार्याः ॥३६०॥

हिन्दी—भिक्षुक, वन्दी (चारण, भाट आदि) दीक्षित (यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण किया हुआ । रसोइया (पाचक) परस्त्री के साथ अनिवारितरूप में बातचीत करे अर्थात् इनका बातचीत करना ‘संग्रहण’ नहीं है अतएव परस्त्री के साथ बातचीत करने पर ये दण्डनीय भी नहीं हैं ॥३६०॥

निषेध करने पर परस्त्री-भाषणकर्ता को दण्ड—

न सम्भाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।

निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥३६१॥

भाष्य—केचिद्भिक्षुकादीनां निवारितानां सम्भाषणे दण्डोऽयमिति मन्यन्ते । तदसत् । नैव ते निवार्या इत्युक्तम् । कुतश्च भिक्षुकाणां सुवर्णं **दण्डः** । तस्मात्कोऽपि प्रकाश-मनाक्षारितोऽपि कथचिन्निषिद्धः स्वामिना समाचरन्सुवर्णं दण्ड्यः ॥३६१॥

हिन्दी—(स्वामी, स्त्री का पति या अन्य अभिभावक के) मना करने पर पुरुष परस्त्री के साथ बातचीत न करे, मना करने पर (परस्त्री के साथ) बातचीत करता हुआ पुरुष सौ सुवर्ण (८।१३५) से दण्डनीय होता है ॥३६१॥

नटादि की स्त्री के साथ भाषण निर्दोष—

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।

सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥३६२॥

भाष्य—यः सम्भाषणप्रतिषेध उपकारक्रियाप्रतिषेधश्च नैष चारणदारेषु स्यात् । चारणा नटगायनाद्याः प्रेक्षणकारिणः । तथा **आत्मोपजीविषु** वेपथे जीवत्सु ये दाराः । अथवाऽऽत्मजायैव “अर्धो ह वा एष आत्मेति” तां य उपजीवन्ति उपपत्तिक्षमकाः । **सज्जयन्ति** संश्लेषयन्ति ते चारणाः परपुरुषेण । **निगूढाः** प्रच्छन्नम् । आपणभूमौ न तिष्ठन्ति । गृहवेषत्वादेव ताः प्रसिद्धवेश्याभ्यो भिद्यन्ते । **चारयन्ति च** ता मैथुनं

प्रवर्तयन्ति नेत्रभ्रूविलासपरिहासादिभिः पुरुषानाकर्षयन्ति । तदनुज्ञानं 'सज्जनं', 'चारणं' संप्रयोग एव । अथवा स्वा नारीः 'सज्जयन्ति' योजयन्ति, अन्याश्च स्वस्त्रीभिश्चारयन्ति' प्रवर्तयन्ति वेश्यात्वं कुट्टनीत्वं च स्वदाराणां कारयन्तीत्यर्थः ॥३६२॥

हिन्दी—स्त्रियों के साथ बातचीत करने के निषेध का यह (८।३५४-३६१) विधान नट तथा गायकों की स्त्रियों के साथ बातचीत करने में नहीं है; क्योंकि वे (नट, गायक आदि) अपनी स्त्रियों को (शृङ्गार आदि के द्वारा) सुसज्जित कर दूसरों से मिलाने तथा छिपकर स्त्रियों के साथ सम्भोग करते हुए परपुरुष को देखते हैं ॥३६२॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्सम्भाषां ताभिराचरन् ।

प्रेष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥३६३॥

भाष्य—रहोऽप्रकाशं विजने देशे चारणनारीभिः सम्भाषां कुर्वन् किञ्चित्सुवर्णाद्य-
त्यन्ताल्पं सत्रिंशद्भागिकं जातिप्रतिष्ठाने अपेक्ष्य दण्ड्यः । यतो न परिपूर्णं तासु वेश्यात्वम् ।
भर्तृभिरनुज्ञाता हि ताः पत्यायन्ते । तत्र भर्तृविज्ञानार्थं दूतीमुखेन व्यवहर्तव्यम् । न तु
साक्षात्ताभिरस्वतन्त्रत्वात् । प्रकाशं तु नृत्यन्तीनां गायन्तीनां वाऽभिनयतालादिनिरूपणा-
वसरे कीदृशमेतदित्यादिप्रश्नद्वारं सम्भाषणमनिषिद्धम् ।

प्रेष्या दास्यः सप्तभिर्दासयोर्निभिरुपनताः । एकं भजन्ते **एकभक्ता** एकेनावरुद्धाः ।
तत्रान्योऽप्यस्ति दण्डलेशः ।

“किंपुनरयं दासीशब्दः सम्बन्धिशब्दो य एव यस्याः स्वामी तस्यैव दासी— उत
सूपकारादिशब्दवत् कर्ममूलकः” ।

इह तावदाद्या एव स्थितिः । विशेषणोपादानेऽसामर्थ्यात् । या यस्य दासी वेश्याव-
च्चान्यैः संसृज्यते, राजदासीव दासी वा, सा निगृह्यते । सा चेन्नावरुद्धा न दोषः
संग्रहणे । अवरुद्धायामनेन दण्ड उक्तः । रिक्थविभागे चैतन्निपुणं वक्ष्यामः । **प्रव्रजिताः**
अरक्षकाः शीलमित्रादयः । ता हि कामुक इव लिङ्गप्रच्छन्नाः ॥३६३॥

हिन्दी—(तथापि चरणादि की स्त्रियों, दासियों, बौद्धमतवालम्बिनी स्त्रियों, ब्रह्म-
चारिणियों से एकान्त में बातचीत करते हुए मनुष्यों को राजा साधारणतम दण्डित करे,
(क्योंकि ये सब भी परस्त्री ही हैं, अतएव उनके साथ एकान्त में बातचीत करने से दोष
लगता ही है) ॥३६३॥

कन्या-सम्भोग करने पर—

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।

सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥३६४॥

भाष्य—प्रासङ्गिकमिदम् । तुल्यः समानजातीयः । सोऽनिच्छन्तीं कुमारीं दूष-

येत्कौमार्यादपच्यावयेत्स्त्रीपुरुषसम्भोगेन— सद्यस्तस्मिन्नेवाहन्यविलम्बं हन्तव्यः । सकामाया दूषणे नास्ति वधप्राप्तिः । यच्चात्र भविष्यति तद्वक्ष्यामः । यद्यपि तुल्य इत्येवात्र श्रुतं वधोऽपि जात्यपेक्षायामवश्यंभाविन्यां प्रत्यासत्त्या सम्बध्यते ॥३६४॥

हिन्दी—समानजातीय कोई पुरुष सम्भोग की इच्छा नहीं करती हुई कन्या को सम्भोग के द्वारा दूषित करे तो वह (ब्राह्मणेतर जाति का होने पर) शीघ्र ही लिङ्गच्छेदन आदि रूप वध से दण्डनीय होता है और सम्भोग की इच्छा करती हुई कन्या को दूषित करनेवाला समाजातीय पुरुष (उक्त लिङ्गच्छेदनादि) वध से दण्डनीय नहीं होता (क्योंकि उक्त कार्य गान्धर्व विवाह (३।३२) माना जाता है) ॥३६४॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् ।

जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥३६५॥

भाष्य—जातिधनशीलविद्यानामन्यतमेनापि पितृकुलादुत्कृष्टं भजन्तीं प्रवर्तित-मैथुनां न किञ्चिद्दण्डयेत् । कन्यायाः स्वातन्त्र्याभावात्तद्रक्षाधिकृतानां पित्रादीनां दण्डे प्राप्ते प्रतिषेधः । जघन्यं जात्यादिभिर्हीनं सेवमानां मैथुनायोत्कलयन्तो संयतां निवृत्त-क्रीडाविहारं कञ्चुकिमिरधिष्ठितां पितृगृह एव वासयेद्यावन्निवृत्ताभिलाषा सञ्जाता । अथ हीनजातीये निवृत्तप्रतीतिविशेषा तदा आऽन्त्योच्छ्वासात्संयतैव तिष्ठेत् ॥३६५॥

हिन्दी—अपने से श्रेष्ठ जाति वाले पुरुष के साथ सम्भोग करती हुई कन्या को (राजा) थोड़ा भी दण्डित न करे, किन्तु अपने से हीन जाति वाले पुरुष का सेवन करती हुई कन्या को यत्नपूर्वक घर में रोक रक्खे (जिससे उसकी कामेच्छा निवृत्त हो जाय) ॥३६५॥

उत्तमां सेवमानस्तु जपन्यो वधमर्हति ।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥३६६॥

भाष्य—अकामायाः कन्याया दूषणे ब्राह्मणवज्रमविशेषेण हीनोत्तमानां वध एव दण्ड इत्युक्तम् । सकामाया दूषणे त्विदमाहुः । उत्तमां रूपयौवनजात्यादिभिः । जघन्योऽत्यन्तनिकृष्टः । नातिसाम्येऽपि गुणैर्वध्यः । समां तु गच्छन्सकामां स शुल्कमासुर-विवाह इव पित्रे दद्यात् । न चेदिच्छति पिता तदा राज्ञे दण्डं तावन्तम् ।

“ननु च गान्धर्वोऽयं विवाह ‘इच्छयाऽन्योन्यसंयोग’ इति । तत्र न युक्तो दण्डः ।”

केनोक्तं गान्धर्वे नास्ति दण्डः । अत एव नायं सतीधर्मः, न चायं विवाहः, अग्निसंस्काराभावात् । यदपि शाकुन्तले व्यासवचनममन्त्रकमनग्निकमिति तदुप्यन्तेन कामपीडितेनैवं कृतम् । न चेच्छासंयोगमात्रं विवाहः । स्वीकरणोपायभेदादष्टौ विवाहाः, न पुनर्विवाहभेदात् । वृत्तवरणं तत्र पुनः कर्तव्यमेवमिति । अथवा ऋतुदर्शनोत्तरकालं

गान्धर्वः । प्रागृतोः शुल्को दण्डो वा ।

“अथ कन्यायाः काप्रतिपत्तिः?” तस्मा एव देया । निवृत्ताभिलाषा चेत्काममन्यत्र प्रतिपाद्या । शुल्कग्रहणं चात्रापि सकृदुपभोगनिष्कृत्यर्थमस्त्येव । वरश्चेन्निवृत्ताभिलाषो हठाद्ग्राहयितव्यः ॥३६६॥

हिन्दी—हीनजातीय पुरुष अपने से श्रेष्ठ जातिवाली (सम्भोग की इच्छा करती हुई या नहीं करती हुई) कन्या के साथ सम्भोग करे तो वह (जात्यनुसार लिङ्गच्छेदन, ताडन या मारण आदि) वध के योग्य है तथा समान जातिवाली कन्या के साथ सम्भोग करे और उस कन्या का पिता उस कर्म को स्वीकार करे तो उसे उचित मात्रा में धन देवे (तथा उस कन्या के साथ विवाह कर ले) ॥३६६॥

अङ्गुलिक्षेपण से कन्या को दूषित करने पर दण्ड—

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्विषेण मानवः ।

तस्याशु कर्त्या अङ्गुल्यो दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥३६७॥

भाष्य—यद्यपि सकामा कन्या पित्रादयस्तु तस्याः सन्निहितास्ताननिच्छतोऽभिषह्याभिभूय **द्विषेण** बलेन—कः किं कर्तुं मे शक्तः—कन्यानुरागमात्राश्रितः कन्यां **कुर्याद्वि-**कुर्याद्विषयेत् । अनेकार्थः करोतिः । **तस्याशु कर्त्याः** छेत्तव्या अर्धाङ्गुलयः । षट्शतानि वा दण्डयः ।

अन्ये तु योऽकामां दूषयेदित्यस्यैव वध्यर्थस्योपसंहारोऽयम् । ताडनात्प्रभृतिमारणं यावद्वध्यर्थः । तत्रेमां निकृष्टजातीयां च दूषयन्न मार्यतेऽपि त्वङ्गुली अस्य च्छिद्येत ॥३६७॥

हिन्दी—जो पुरुष समानजाति वाली कन्या के साथ सम्भोग न करके बलात्कार-पूर्वक उसकी योनि (मूत्रमार्ग) में अङ्गुलि डालकर उसे दूषित करे, राजा उसकी अङ्गुलि को शीघ्र कटवा ले तथा उसे ६०० पण (८।१६६) दण्डित करे ॥३६७॥

सकामां दूषयन्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ।

द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥३६८॥

भाष्य—सकामामित्यनुवादः । पूर्वस्यापि सकामविषयात् । अभिषह्य करणे पूर्व दण्डः, अप्रकाशं चौर्यवद्द्विशतोऽङ्गुलीच्छेदवर्जितः । अथ कस्मिंश्चित्पुरुषेऽनुरागवती कन्या तेन संयुज्यमाना कन्यात्वनिवृत्तौ सकामा येन विकृतीक्रियते तस्यायं दण्डः । अथवा हस्तस्पर्शमात्रमिह दूषणम् । प्रार्थनीयायाः कन्याया हस्तस्पर्शः—मया स्पृष्टां ज्ञात्वा नान्य एतामर्थयिष्यतेऽन्यस्मिन्ननुरागिणीं मन्यमानः ॥३६८॥

हिन्दी—समान जातिवाली कामवासनायुक्त कन्या के साथ सम्भोग न करके उसकी योनि में अङ्गुलि डालकर जो पुरुष उस कन्या को दूषित करे; राजा उस पुरुष की अङ्गुलि

तो नहीं कटवावे, किन्तु भविष्य में ऐसे प्रसङ्ग को रोकने के लिए उसे २०० पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥३६८॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः ।

शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥३६९॥

भाष्य—बालभावादूपादिद्वेषाद्वा कन्यैव कन्यां नाशयेत्सा द्विशतं दाप्या ।

शुल्कश्च त्रिगुणः ।

किंपुनः शुल्कस्य परिमाणम् ।

एषामन्यतमरूपसौन्दर्याद्यपेक्षं सौभाग्यापेक्षं च ।

शिफा रज्जुलताप्रहाराः ॥३६९॥

हिन्दी—यदि कोई कन्या ही किसी दूसरी कन्या की योनि में अङ्गुलि डालकर उस कन्या को दूषित करे तो राजा कन्यात्व नष्ट करनेवाली उस कन्या को २०० पण से दण्डित करे, दुगुना (४०० पण) उस दूषित कन्या के पिता के लिए दिलवावे तथा दश कोड़े या बेंत से उसे दण्डित करे ॥३६९॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।

अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥३७०॥

भाष्य—स्त्रियां कन्यानां कन्यालिङ्गं नाशयन्त्यां मौण्ड्यं केशवपनं दण्डोऽङ्गुलि-छेदो वा । खरेणोद्वहनं केशच्छेदपक्षे । कन्याजात्यादिभेदान्निग्राह्य भेदात् त्रैवर्णिक-स्त्रीणां ब्राह्मणादिक्रमेणमं दण्डमिच्छन्ति मुद्राश्च कल्पयन्ति । ते प्रमाणाभावादुपेक्षणीयाः ॥३७०॥

हिन्दी—यदि कोई स्त्री किसी कन्या की योनि में अङ्गुलि डालकर उस कन्या को दूषित करे तो राजा तत्काल उस स्त्री का शिर मुँड़वा दे, अङ्गुलि कटवा ले तथा गधे पर चढ़ाकर उस स्त्री को सड़कों पर घुमवावे ॥३७०॥

व्यभिचारिणी स्त्री को दण्ड—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।

तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥३७१॥

भाष्य—‘लङ्घनं’ भर्तारमतिक्रम्यान्यत्र गमनम् । तच्चेत् स्त्री करोति । दर्पेण—बहवो मे ज्ञातयो बलिनो द्रविणसम्पन्नाः । स्त्रीगुणो रूपसौभाग्यातिशयसम्पत् । किमनेन शीलरूपेणेत्येव दर्पेण । तां श्वभिः खादयेद्यावन्मृता । संस्थानं देशः । बहवः संस्थिता यत्र जनाश्चत्वरदौ ॥३७१॥

हिन्दी—जो स्त्री पिता या बान्धवों के अधिक धनी होने या अपने सौन्दर्य के

अभिमान से परपुरुष के साथ सङ्गति करके अपने पति का अपमान करे, उसे राजा बहुत लोगों से युक्त स्थान में (सबके सामने) कुत्तों से कटवावे ॥३७१॥

व्यभिचारी पुरुष को दण्ड—

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।

अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥३७२॥

भाष्य—योऽसौ पत्न्या जारः स आयसे लोहशयने तप्तेऽग्निसमे कृते दाहयितव्यः । तत्र च शयनस्थितस्य काष्ठानि वध्यघातिनोऽभ्यादध्युरुपरि क्षिपेयुः । यावत्काष्ठ-प्रहारैरग्निज्वालाभिः शयनतापेन च मृतः ॥३७२॥

हिन्दी—और उस पापी जार को तपाये हुए लोहे की खाटपर सुलाकर जलावे तथा उस खाट पर लोग लकड़ी डाल दें, जिसमें वह पुरुष जल (कर मर) जाय ॥३७२॥

कलङ्कित पुरुष के पुनः अपराध करने पर दण्ड—

संवत्सरेभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।

व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥३७३॥

भाष्य—अभिशस्तस्तत्पापकारीत्यभिशब्दितः । यो यस्यां स्त्रियां सङ्गृहीतः सोऽभिशस्तो दण्डितः । स चेत्संवत्सरं प्रतिपाल्यातीते **सम्बत्सरे** पुनस्तस्यामेव सङ्गृह्यते तदा तस्यैकं वारमभिशस्तस्य **सम्बत्सरे** गते पुनर्दुष्टस्य द्विगुणो दण्डः ।

सम्बत्सराभिशस्तस्येति समासपाठे कथञ्चिद्योजना ।

व्रात्यया सह संवासे तावदेव । “किं यावदेव पुनर्दुष्टस्य” । नेति ब्रूमः । तत्राप्युत्तमाधममध्यमानामनेकविधो दण्डः । तत्र कोऽसाविह ‘द्विगुणा’ इति न ज्ञायते । किं तर्हि **चाण्डाल्या संवासे** यावदेव तावदेव **व्रात्ययेति** । “सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियमिति” (३८५) । ‘व्रातः’ पूगः सङ्घस्तेन चरन्ती पुंश्चलीति कथञ्चिद् यः कर्तव्यः । अथवा व्रातमर्हति व्रात्येत्यस्तु—यकारो दण्डादिः । “काच व्रातमर्हति ।” याऽनेकपुरुषोपभोग्या पुंश्चली सा हि पुरुषव्रातमर्हति । अथवाऽनेकपुरुषस्वामिका ग्रामस्य दास्यश्च ‘व्रात्याः’ । ये तूद्वाहहीनां व्रात्यां मन्यन्ते—तेषां मतेन मुख्यः शब्दार्थः । अयं हि व्रात्यशब्दः स्मृतिकारैः सावित्रीपतितेषु प्रयुक्तः । न च स्त्रीणां तत्सम्भवः । अथ स्त्रीणां विवाहस्य तदापत्तिवचनादुपनयनं तद्धीनपुरुषवद्व्रात्या,—गौणस्तर्हि न मुख्यः । यदि नामोपनयनशब्दोऽनुपनयने विवाहे प्रयुक्तस्तथाप्युपनयनहीनो व्रात्या इत्युक्तेन विवाहहीन इति प्रतीयते । यथाऽसिंहोऽयं देश इत्युक्ते न सिंहशब्दस्य माणवके प्रयुक्तस्यापि देशस्यामाणवकत्वं प्रतीयते । अस्ति तत्र मुख्य इहासम्भव इति चेन्नासम्भवमात्रनिबन्धना गौणी प्रतीतिः, किं तर्हि, सम्बन्धमपरमपेक्ष्य । भवेदुपनयनशब्दो विवाहे गौणः,

ब्रात्यशब्दस्तु गौण इति को हेतुः ? गौणत्वेऽपि विवाहाभावनिबन्धन इति दुरुपपादम् । ब्रात्यजापि—काकाज्जातः काकः श्येनाज्जातः श्येन इति—ब्रात्येति शङ्क्यते । ब्रात्य-सम्बन्धप्रत्यासत्त्या हि तत्र रूपातिदेशप्रतिपत्तिः । ब्रात्यभार्या तु सत्यपि सम्बन्धे न ब्रात्यशब्देन शक्याऽभिधातुम् । सोऽयमित्यभिसम्बन्धे हि पुंयोगादाख्यायामिति (पा० ४। १। ४८) तथा भवितव्यम् । तावत्तश्चायं भेदविवक्षायां तद्धितेनेति । तस्माद्यदि गौणो ब्रात्यशब्दो गृहीतव्यस्तज्जाता प्रत्येया । अथशब्दार्थे ब्रातमर्हतीति । विवाहभ्रष्टा तु न मुख्या न गौणीति । न च विवाहकालः स्त्रीणां नियतो यत्कालाद्भ्रष्टा ब्रात्याः स्युः । यदपि प्रागृतोर्विवाहाः तदपि स्वयंवरस्य ऋतुमत्या विना तत्परेणाभ्यनुज्ञात एव काममा-मरणं तिष्ठेद्गृहे कन्या ॥३८३॥

हिन्दी—परस्त्री-गमन से दूषित (अदण्डित भी) पुरुष एकवर्ष के बीतने पर पुनः परस्त्रीगमन रूप अपराध करे तो उसे पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होता है; तथा हत्या (१०।२०) तथा चाण्डाली (१०।२६-२७) के साथ गमन (सम्भोग) करने पर भी उतना (दुगुना) ही दण्ड होता है ॥३७३॥

विमर्श—पहले परस्त्री सम्भोग से दूषित व्यक्ति यदि ब्रात्या या चाण्डाली स्त्री के साथ एक वर्ष बीतने पर सम्भोग करे तो वह दुगुना दण्डनीय होता है । इसी प्रकार पूर्व दूषित पुरुष एक वर्ष बीतने पर जब किसी परस्त्री के साथ सम्भोग करे तो वह दुगुना दण्डनीय होता है । यह वचन पहले का ही ब्रात्या तथा चाण्डाली के साथ सम्भोग करने पर दण्डनिर्देश के लिए है ।

अरक्षितादि स्त्री के साथ शूद्रादि को दण्ड—

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।

अगुप्तमङ्गसर्वस्वी गुप्तं सर्वेण हीयते ॥३७४॥

भाष्य—शूद्र आचाण्डालात् । गुप्तं वर्णं द्वैजातं द्विजातीनां स्त्रिय आवसन्मैथुनेन गच्छन् रक्षितां भर्त्रादिभिः नियमेन दण्ड्यः । को दण्ड इति चेत्—अगुप्तां चेद्रक्ष-त्यङ्गसर्वस्वी हीयते । अङ्गं च सर्वस्वं तद्वान् । केन हीयते । प्रकृतत्वात्ताभ्यामेवान्यस्या-निर्देशाद्विशेषस्यानुपादानात् । अपराध्येवाङ्गम् । गुप्तं चेद्रक्षति सर्वेण हीयते । नैके-नाङ्गेन यावच्छरीरेणापि । हान्युद्देशेनाङ्गच्छेदनसर्वस्वहरणमरणान्युपदिष्टानि भवन्ति । हानिरस्य कर्तव्येत्यर्थः । तथा च गौतमः (१२।२-३) “आर्यस्यभिगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं च । गुप्तां चेत्” ॥३७४॥

हिन्दी—(पति या अभिभावक के द्वारा) सुरक्षित या असुरक्षित द्विज-स्त्री के साथ सम्भोग करनेवाले शूद्र को, असुरक्षित द्विज स्त्री के साथ सम्भोग करने पर उसके लिङ्ग को कटवाकर तथा धन को जप्तकर दण्डित करे तथा सुरक्षित द्विज-स्त्री

के साथ सम्भोग करने पर उसकी सब सम्पत्ति को जप्तकर उसे प्राणदण्ड से दण्डित करे ॥३७४॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।

सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।

वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

भाष्य—वैश्यस्य सर्वस्वदण्ड उक्तः । इह तु साहचर्यात्सत्यपि द्विजातित्वे न वैश्यस्य समानजातीयागमे दण्डोऽयं किंतर्हि ब्राह्मणक्षत्रिययोरेव । एवं क्षत्रियस्य ब्राह्मणी-गमने सहस्रं मौण्ड्यं च मूत्रेण । उदकस्थाने गर्दभमूत्रं ग्रहीतव्यम् ।

अन्ये व्याचक्षते—अन्यस्यानुपादानात्समानजातीय एव संवत्सरनिरोधनेन दण्डाधिक्यम् । यदि संवत्सरमवरुद्धं करोति ततोऽयं दण्डः ।

आद्यमेव तु व्याख्यानं न्याय्यम् । न च समहीनोत्तमानां कथं समदण्डत्वमिति वाच्यम् । यत उक्तं “सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा” इति ।

अगुप्ता व्याख्याता । भ्रष्टशीलाऽनाथा च । तद्गमने **वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्** । करोतिः प्रकरणाद्दण्डने वर्तते । दण्डयेदित्यर्थः । पञ्च शतान्यस्येति **पञ्चशतः** । बहुव्रीहिर्मत्वर्थीयः । तथा कर्तव्यं यथा पञ्च शतान्यस्य भवन्ति । ‘किं यदधिकं तत्तस्याप-हर्तव्यमित्यर्थः’ । नेति ब्रूमः । तथा सति यस्य पञ्च वै शतानि धनं वा न्यूनं तस्य दण्डो न कश्चिदुक्तः स्यात् । कस्तर्ह्यर्थः पञ्चशतं कुर्यादिति । दण्डाधिकाराद् दण्डं पञ्चशत-सम्बन्धिनं कुर्यात् ।

एवं **सहस्रिणं क्षत्रियमिति** । सहस्रमस्यास्ति दण्डो, न गृहे धनम् ।

अङ्गसर्वस्वीति (३७४) व्याख्येयं—तथा कर्तव्यं यथाङ्गं सर्वस्वं च तस्य दण्डो भवति ।

क्षत्रियस्याधिको दण्डो रक्षाधिकृतो रक्षति तत्पुनः स एवापराध्यति ॥३७६॥

हिन्दी—(पति आदि से सुरक्षित ब्राह्मणी के साथ सम्भोग करने पर) वैश्य को १ वर्ष तक जेल में रखने के बाद सर्वस्व हरण का दण्ड (जुर्माना) देना चाहिए और क्षत्रिय को १००० पण का दण्ड देना चाहिए एवं उसका सिर गधे के मूत्र से मुँडवा देना चाहिए (पति या अभिभावकादि के द्वारा असुरक्षित) ब्राह्मण-स्त्री के साथ यदि वैश्य सम्भोग करे तो राजा उस पर ५०० पण तथा यदि क्षत्रिय गमन करे तो उसपर १००० पण दण्ड (जुर्माना) करे ॥३७५-३७६॥

विमर्श—जातिमात्रोपजीवनी ब्राह्मणी के साथ शूद्रा के भ्रम से गमन करनेवाले

वैश्य के लिए यह दण्ड-विधान है, किन्तु उससे भिन्न ब्राह्मणी के साथ गमन करनेवाले वैश्य भी १००० पण से ही दण्डनीय होता है ।

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।

विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यो दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥३७७॥

भाष्य—तावेव क्षत्रियवैश्यौ गुप्ता ब्राह्मण्या विप्लुतौ कृतमैथुनौ मैथुनप्रवृत्ता-
वेव शूद्रवद्दण्ड्यौ—‘गुप्तं सर्वेण हीयत’ इति (३७४) । **दग्धव्यौ वा कटा-**
ग्निना । वा शब्दो वधप्रकारविकल्पे न वधविकल्पे । न हि शूद्रस्यागुप्ते वधादन्यो दण्ड
आम्नातः ॥३७७॥

हिन्दी—(पति आदि से सुरक्षित तथा) गुणवती ब्राह्मणी के साथ यदि वे दोनों
(वैश्य तथा क्षत्रिय) मैथुन करें तो वे शूद्र के समान (८।३७४) दण्डनीय हैं या तृणाग्नि
में जलाने योग्य हैं ॥३७७॥

विमर्श—‘वसिष्ठके वैश्यं लोहितदर्भैः क्षत्रियं शरपत्रैर्वावेष्ट्य’ इस वचन के
अनुसार उक्तापराध करनेवाले को जलते हुए लाल कुशाओं से तथा क्षत्रिय को शरपत्रों
से वेष्टितकर जलाना चाहिए । कृत वचन का गुणवती ब्राह्मणी विषयक होने से
पूर्ववचन (८।३७५) के साथ विरोध नहीं होता है ॥

ब्राह्मणों के साथ सम्भोग करनेवाले ब्राह्मण को दण्ड—

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह सङ्गतः ॥३७८॥

भाष्य—गुप्ता भ्रष्टशीलाऽपि यदि केनचिद्रक्ष्यते पित्रा भ्रात्रा बन्धुभिर्वा तां हठा-
द्वच्छन् सहस्रं ब्राह्मणो दाप्यः । गुप्ता शीलवती चेत्यवसासनाङ्कनेऽधिके । अथापि
शीलवत्यपि गुप्तशब्देनोच्यते—तथापि सहस्रमात्राद्ब्राह्मणो मुच्यते । अङ्कनप्रवासने
सर्वत्र मुखीक्रियेते परदाराभिमर्शे ॥३७८॥

हिन्दी—(पति या अभिभावक के द्वारा) सुरक्षित ब्राह्मणी के साथ बलात्कारपूर्वक
सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पण से तथा सम्भोग की इच्छा करनेवाली ब्राह्मणी
के साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पण (८।१३६) से दण्डनीय होता है ॥३७८॥

मुण्डनमात्र ही ब्राह्मण का प्राणदण्ड—

मौण्ड्यं प्राणान्तको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।

इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तो भवेत् ॥३७९॥

भाष्य—यत्र क्षत्रियादीनां वध उक्तस्यत्र ब्राह्मणस्य मौण्ड्यम् । यथाऽब्राह्मणः
सङ्ग्रहणात्प्राणान्तं दण्डमर्हति—तथा तु पुमांसं दाहयेदिति । प्राणानामन्तं गच्छति
मनु ॥ २३

प्राणान्तं वा करोति प्राणान्तकः । “अन्येष्वपि दृश्यते” (पा०सू० ३।२।१०१) इति ण्वुल् । अन्ये तु प्राणान्तिक इति पाठान्तरम् । प्राणान्ते भवः प्राणान्तिकः—अध्यात्मादित्वाद्वा ।

इतरेषां ब्राह्मणादन्येषां क्षत्रियादीनां वर्णानां प्राणान्तिक एव श्रुतं मारणादि पूर्वमेव । तदनन्तरमिदमुच्यते । उच्यमानं मौण्ड्यं तच्छेषतया सहस्रं दण्डो विधीयत इति मन्यन्ते । अन्यथा ब्राह्मणस्य प्राणान्तदण्डाविधानात्कः प्रसङ्गो ब्राह्मणस्य येनैव-मुच्यते ‘मौण्ड्यं प्राणान्तिक’ इति । पुमांसं दाहयेदिति सामान्यविधानप्रसक्तमिति चेत्तत्रैव कर्तव्यं स्यात्तथा हि स्फुटं तद्विषयत्वं प्रतीयेत ॥३७९॥

हिन्दी—ब्राह्मण को प्राणदण्ड होने पर उसका मुण्डन करा देना ही उसका प्राणदण्ड होता है तथा अन्य वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का प्राणनाश करना ही प्राणदण्ड होता है ॥३७९॥

ब्राह्मणवध का निषेध—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।

राष्ट्रादेनं बहिःकुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥

भाष्य—सर्वपापेष्विति प्रकरणविधौ न केवलं सङ्ग्रहणे ब्राह्मणो न हन्यते याव-दन्येष्वप्यपराधेषु । अपिशब्दो युगपत्सर्वपापकार्यपि ब्राह्मणो न जातु कदाचिद्धन्तव्यः । किं तर्हि तस्य पापकारिणः कर्तव्यम् । राष्ट्रादेनं विषयाद्ब्राह्मणं बहिःकुर्यान्निर्वासयेत् । समग्रधनं सर्वस्वसहितम् । अक्षतमक्षतशरीरम् । धनमप्यस्य नापहर्तव्यम् । कथं तर्हि दण्डो ब्राह्मणस्य । केचिदाहुर्निर्वासने त्वाधीयमानं सधनं निर्वास्य धनदण्डं प्रति-षेधति । अन्ये तु समग्रधनं हतसर्वस्वं कृत्वा निर्वास्यत इति मन्यन्ते ॥३८०॥

हिन्दी—राजा समस्त पाप करनेवाले भी ब्राह्मण का वध कभी न करे; किन्तु सम्पूर्ण धन के साथ अक्षत शरीर वाले उस (ब्राह्मण) को राज्य से निर्वासित कर दे ॥३८०॥

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।

तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥३८१॥

भाष्य—पूर्वशेषोऽयमर्थवादः । न ब्राह्मणवधादन्यो बहुतरोऽधर्मो दुःखफलो-ऽस्ति । अन्यशब्दाध्याहारेण पञ्चमी । तस्माद्धेतोरस्य ब्राह्मणस्य राजा मारणमङ्गच्छेदं वा मनसाऽपि नेच्छेत् ॥३८१॥

हिन्दी—ब्राह्मण वध के समान पृथ्वी पर दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, अतएव राजा मन से भी ब्राह्मण के वध करने का विचार न करे ॥३८१॥

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।

यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥८२॥

भाष्य—अगुप्ताया ब्राह्मण्या गमने वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं सहस्रिणमिति (३७६) । तत्र वैश्यस्य पञ्चशतम् । य एव परिपालयति स एव चेन्नाशयति युक्तं तस्य दण्डमहत्त्वम् ॥३८२॥

हिन्दी—(पति आदि के द्वारा सुरक्षित) क्षत्रिया के साथ वैश्य तथा वैश्या के साथ क्षत्रिय सम्भोग करे तो वे अरक्षित ब्राह्मणी के साथ सम्भोग करने पर कहे गये दण्ड से (८।३७६ के अनुसार वैश्य ५०० पण तथा क्षत्रिय १००० पण) दण्डनीय है ॥३८२॥

विमर्श—यहाँ पर गुणहीना तथा जातिमात्रोपजीविनी असुरक्षित क्षत्रिया को शूद्रा समझकर उसके साथ सम्भोग करनेवाले गुणवान् वैश्य के लिए क्षत्रिय से कम अर्थात् आधा (५०० पण) दण्ड कहा गया है, किन्तु उसे क्षत्रिया जानकर सम्भोग करनेवाला वैश्य भी १००० पण से दण्डनीय होता है तथा सुरक्षित वैश्या को वैश्या जानकर भी सम्भोग करनेवाले क्षत्रिय पर १००० पण दण्ड करना उचित है ही ।

[क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन् ।

न मूत्रमुण्डः कर्त्तव्यो दाप्यस्तूतमसाहसम् ॥२७॥]

[हिन्दी—(पति या अभिभावकादि से सुरक्षित) क्षत्रिया अथवा वैश्या के साथ गमन (सम्भोग) करनेवाले ब्राह्मण पर मूत्रमुण्ड (गधे के मूत्र से शिर मुंडवाने का दण्ड नहीं करना चाहिये, किन्तु एक उत्तम साहस (८।१३८) अर्थात् १००० पण) का दण्ड करना चाहिये ॥२७॥]

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।

शूद्राया क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥३८३॥

भाष्य—गुप्ते क्षत्रियावैश्ये गच्छन्ब्राह्मणः सहस्रं दण्ड्यः । प्रवासनाङ्कने स्थिते एव । शूद्राया गमने क्षत्रियवैश्ययोः साहस्रो दण्डः । सहस्रमेव साहस्रम् । स्वार्थिकोऽण् । सहस्रं वा यस्मिन् दण्डोऽस्ति साहस्रो दण्डोऽत्र पदार्थः । मत्वर्थो-योऽण् ॥३८३॥

हिन्दी—(पति या अभिभावकादि से सुरक्षित) क्षत्रिया या वैश्या के साथ में सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पण से दण्डनीय है तथा सुरक्षित शूद्रा के साथ सम्भोग करनेवाले क्षत्रिय और वैश्य भी १०००-१००० पण (८।१३६) से ही दण्डनीय होते हैं ॥३८३॥

असुरक्षित क्षत्रिया के साथ सम्भोग करनेवाले वैश्य को दण्ड—

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।

मूत्रेण मौण्ड्यमृच्छेत् क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥३८४॥

भाष्य—वैश्यस्य पञ्च शतानि दण्डः, अगुप्तां चेत् क्षत्रियां गच्छति । क्षत्रियस्य स एव । यदि वा मौण्ड्यं मुण्डनमृच्छेत्त्राप्नुयाद्दर्दभमूत्रेण । एष एव वैश्यागमन-उभयोर्दण्डः ॥३८४॥

हिन्दी—(पति आदि से) असुरक्षित क्षत्रिया के साथ सम्भोग करनेवाले वैश्य को ५०० पण दण्ड होता है और क्षत्रिय को गधे के मूत्र से शिर मुंडवाने का या ५०० पण का दण्ड होता है ॥३८४॥

असुरक्षित क्षत्रिया आदि के साथ सम्भोग करनेवाले ब्राह्मण को दण्ड—

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥३८५॥

भाष्य—ब्राह्मणस्य क्षत्रियाद्यगुप्तास्त्रीगमन उभयोर्दण्डः । अन्त्यजश्चण्डालश्चपचादिः । तत्र सहस्रम् । तत्रायं सहस्रपणदण्डसङ्ग्रहः । ब्राह्मणस्य चतुर्वर्षि वर्णेषु गुप्तागमने सहस्रम् । श्रोत्रियदारेषु प्रवासनाङ्कने । अन्यत्र प्रवासनमेव । श्रोत्रियदारेषु प्रायश्चित्तमहत्वादेव कल्प्यते । अगुप्तागमने पञ्चशतानि प्रवासनाङ्कने । यद्यप्यगुप्ता परदारव्यपदेश्या भवति विवाहसंस्कारे सति—, तथापि स्वैरिणी भर्तृस्वतामतिक्रान्ता । अब्राह्मणस्य प्राणान्तो गुप्तागमने दण्डो बलात् । सकामागमने साहस्रो दण्डः प्रवासनाङ्कने च । गुप्तागमने 'वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं सहस्रिणमिति' (३७६) ॥३८५॥

हिन्दी—(पति आदि से असुरक्षित) क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्रा के साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पण से तथा अन्त्यज स्त्री (चाण्डाली आदि सर्वाधम स्त्री) के साथ सम्भोग करनेवाला (ब्राह्मण) १००० पण से दण्डनीय होता है ॥

[शूद्रादि के धन को कोष में रखने का निषेध—]

[शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्न वै मुञ्जेत किल्बिषात् ।

तेभ्यो दण्डाहतं द्रव्यं न कोशे सम्प्रवेशयेत् ॥२८॥

अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद् मृतकवेतनम् ।

यथादण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्बयेत् ॥२९॥

भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधा जनाः ॥३०॥]

[हिन्दी]—राजा शूद्रोत्पन्न पाप सम्बन्धी दोष से नहीं मुक्त होता है, अतएव उनसे प्राप्त दण्ड-द्रव्य को खजाने में नहीं जमा करावे ॥२८॥]

चौरादिहीन राज्यवाले राजा की प्रशंसा—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।

न साहसिकदण्डघ्नो स राजा शक्रलोकभाक् ॥३८६॥

भाष्य—यस्य राज्ञः पुरे देशे राष्ट्रे स्तेनश्चौरो नास्ति स शक्रस्येन्द्रस्य लोकं स्थानं भजते स्वर्गं प्राप्नोति । नान्यस्त्रीगमनम्—अन्यस्य या स्त्री भार्याऽवरुद्धा पुनर्भूया । स्त्री-ग्रहणमभार्याया अप्यसम्बन्धिन्याः प्रतिषेधार्थम् । दुष्टवाक् त्रिविधस्याक्रोशस्य कर्ता । साहसिक उक्तः । दण्डेन हन्ति दण्डपारुष्यकृत् । शक्रलोकभागिति सर्वत्रानुषङ्गः । स्तेनादीनां स्त्रीसङ्ग्रहशेषोऽयमर्थवादः ॥३८६॥

हिन्दी—जिस (राजा) के राज्य में चोर, परस्त्री-सम्भोग करनेवाला, कठोर वचन बोलनेवाला, गृहदाह आदि साहस कार्य करनेवाला तथा कठोर दण्ड (ताडनमारण आदि दण्ड पारुष्य) करनेवाला पुरुषः नहीं है, वह (राजा) स्वर्गगमन करता है ।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।

साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥

भाष्य—साम्राज्यं परप्राणयिता । स्वातन्त्र्यम् । सजात्येषु । समानस्पर्द्धिनो राजानः ‘सजात्या’ अभिप्रेताः । तेषु मूर्द्धन्यधितिष्ठति, तस्याज्ञाकराः भवन्तीत्यर्थः । लोके च यशस्करः कीर्तिमुत्पादयति । उभयत्रापि निग्रह एव कर्ता हेतुत्वम् । जनमारकोऽयं क्रोधन इति वदन्त्यपि तु स्तुवन्ति ॥३८७॥

हिन्दी—इन पाँचों (चोर, परस्त्री सम्भोगकर्ता, कटुभाषणकर्ता, साहसकर्मकर्ता और दण्डपारुष्यकर्ता) का अपने राज्य में निग्रह करनेवाला राजा समानजातीय राजाओं में साम्राज्य करनेवाला तथा इस लोक में यशस्वी होता है ॥३८७॥

पुरोहित तथा यजमान का करने पर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यादि ।

शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥

भाष्य—यज्ञे कर्मकर ऋत्विग् होतोद्वात्रादिः । यद्यपि वरणोत्तरकालमाप्रयोग-समाप्तेस्तद्व्यपदेशस्तथाप्यत्र प्रारब्धकर्मणोरितरेतरत्यागे न विधिरयं किं तर्हि प्राग्वरणात् । भूतपूर्वगत्या ऋत्विग्व्यवहारः । यः प्रयोगान्तरे वृतः स एव शक्तः प्रयोगान्तरेऽपि वरितव्यः । न केवलं पूर्ववृतस्यायमत्यागः किं तर्हि तत्पित्रादिभिरपि । तथाहि ‘पूर्वो जुष्टः स्वयंवृत’ इति नारदः । न चायमैकपुरुषिको नियमः । किं तर्हि कुलधर्मोऽयम् । तथा च महाभारते संवर्तमरुतीयेषु प्रपञ्चितम् । तेन यत्कुलाः पित्रादिभिर्ऋत्विजो वृतास्त एव वरीतव्याः ।

याजनकानामप्येष एव विधिः । तैरपि ते याजनीयाः । ऋत्विजं कृतात्विज्यं तत्कुलीनं वाऽन्यं यो न वृणीत यियक्षुः, अपि त्वन्यं याजकमर्थयेत् । शक्तं कर्मणि यज्ञे प्रयोगज्ञ-**मदुष्टम**भिशंसनाङ्गवैकल्यादिभिर्दोषैरयुक्तम् । एवमीदृश एवत्विगर्थ्यमानो यदि नाङ्गीकुर्याद्याजनकत्वं **अदुष्टमे**भिरेव दोषैरनाक्रान्तं याज्यं **शक्तं** विद्वत्तया च । तादृशे त्यागे **तयोः शतं दण्डः** । ऋत्विक् शतं दाप्यो **याज्यं त्यजन्, याज्यं ऋत्विजम्** ।

न केवलमयमृत्विग्याजकधर्मः, शिष्याचार्ययोरपि । तथाच गौतमः—(१२।१२-१३) “अथायाजकावृत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां च हेयावान्यत्र हानात्पतति” इति ।

दातृसम्प्रदानयोरपि प्रतिग्रहे केचिद्धर्ममिममिच्छन्ति ॥३८८॥

हिन्दी—जो यजमान (कर्मानुष्ठान में समर्थ) पुरोहित का और पुरोहित (अधार्मिक पातकादि दोषवर्जित) यजमान का त्याग करे, वह (त्यागकर्ता यजमान या पुरोहित) १००-१०० पण से दण्डनीय होता है ॥३८८॥

माता आदि का त्याग करने पर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।

त्यजन्नपतितानेतान्तराज्ञा दण्डयः शतानि षट् ॥३८९॥

भाष्य—**माता न त्यागमर्हति** । न त्याज्या । ‘त्यागः’ स्वगृहान्निष्कासनं मातृवृत्तेः स्खलितायाः, उपकारस्योपक्रियायामुदितायामकारणे । एवं पित्रादीनामपि व्याख्येयम् । सम्बन्धसाहचर्यात्स्त्री भार्यैवाभिप्रेता । अपतितानामेषां त्यागो नास्ति । मातुस्तु “न माता पुत्रं प्रतिपततीत्येक इति” शातातपः । भार्यायाश्चापि ‘त्यागः’ असम्भोगो गृहकार्यनिषेधः । भक्तवस्त्रादिदानं तु न निषिध्यते । “योषित्सु पतितास्वपि—वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुः स्वगृहान्तिके” इति पठ्यते ॥३८९॥

हिन्दी—माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं हैं, (अतएव अपतित) इनमें से किसी का त्याग करनेवाले को राजा ६०० पण से दण्डित करे ॥३८९॥

ब्राह्मणों के शास्त्रीय विवाद में राजा के हस्तक्षेप का निषेध—

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।

न विब्रूयानृपो धर्मं चिकीर्षहितमात्मनः ॥३९०॥

भाष्य—वानप्रस्थादीनामरण्याश्रमवासिनामाश्रमेषु कार्यं धर्मं सङ्कटरूपम्—अयं शास्त्रार्थो नायमिति—इतरेतरं विवदमानानां न धर्मव्यवस्थां सहसा **विब्रूयात्प्रभु**तया निर्णय-मन्येषामिव न कुर्यात् । कथं तर्हि? वक्ष्यमाणेन प्रकारेण । एवमात्मने हितं कृतं भवति—

शास्त्रार्थत्यागो न भवतीत्यर्थः । गृहस्थानां चाश्रमित्वेऽपि यथोक्त एव निर्णयप्रकारः । **कार्यं** धर्मसंशयात्मकविवादपदम् । **आश्रमग्रहणाच्च** विशिष्टविषयता व्याख्यायते ॥३९०॥

हिन्दी—(गार्हस्थ्यदि) आश्रम-सम्बन्धी धार्मिक विषयों में (‘शास्त्र का ऐसा अभिप्राय है, तुम्हारे कहने के अनुसार नहीं है’ इत्यादि रूप में) परस्पर विवाद करते हुए द्विजातीयों के कार्य में अपना हित चाहनेवाला राजा ‘इस प्रकार धर्म (शास्त्रवचन) है’ ऐसा कोई निर्णय न करे ॥३९०॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।

सन्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥

भाष्य—यथा तत्कर्तव्यं तथेदानीमाह । यो यादृशीं जामर्हति गुणानुरूपेण तं तथैवाभ्यर्च्य **ब्राह्मणैर्मन्त्रिपुरोहितादिभिः** । अर्चायां साहित्यं धर्मप्रवचने वा । तदा च **ब्राह्मणाः** सत्या विज्ञेयाः । तैः **सह स्वधर्मं** न्याय्यमर्थं बोधयेत् । सिद्धे सहत्वे सभ्येभ्य उपदेशः प्राधान्यार्थः । तान्पुरस्कुर्यात् तथाहि । न राज्ञः क्रुध्यन्ति शास्त्रेण । प्रीतिस्तुतिवचनैः प्रथमं प्रशमय्य व्यपनीतक्रोधान्कृत्वा ब्रूयात् ॥३९१॥

हिन्दी—राजा यथोचित पूजा (आदर-सत्कार) कर ब्राह्मणों के साथ सान्त्व (शम-प्रधान) वचनों से उन्हें शान्त करके इनका अपना जो धर्म है, उसे समझावे ॥३९१॥

सामाजिक भोजन के विषय में दण्डविधान—

प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।

अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥३९२॥

भाष्य—विशन्त्यस्मिन्निति ‘वेशो’ निवासः—तत्प्रतिगतः ‘प्रतिवेशः’ गृहाभिमुखं, तत्र भवः **प्रतिवेश्यः** । आदिदीर्घपाठे स्वार्थिकोऽण् । एवम**नुवेश्यः** पृष्ठतो वसन्नुच्यते । तौ चेन्न भोजयेत् । यदि स्वगृहमानीय **कल्याणे** विवाहाद्युत्सवे **विंशतिमात्रा** यत्र **द्विजाः** अन्ये भोज्यन्ते । तदा माषकं सुवर्णं दण्डं दाप्यः । हिरण्यमित्युत्तरत्र विशेषणादिहापि विज्ञायते । **अर्हौ**—यदि तौ प्रतिवेश्यानुवेश्यौ योग्यौ भवतः, न द्विषन्तौ नात्यन्त-निर्गुणौ ॥३९२॥

हिन्दी—किसी शुभ कार्य में बीस ब्राह्मणों को भोजन कराना हो तो प्रतिवेशी और अनुवेशी योग्य ब्राह्मणों को नहीं भोजन कराने वाला ब्राह्मण एक मासे चाँदी से दण्डनीय होता है ॥३९२॥

विमर्श—बिलकुल सटे हुए मकानों में रहनेवाला ‘प्रतिवेशी’ तथा एक मकान छोड़कर दूसरे मकान में रहनेवाला ‘अनुवेशी’ कहा जाता है ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।

तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हैरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥

भाष्य—अप्रातिवेश्यार्थोऽयमारम्भः । सब्रह्मचारिणामयं नियमः । श्रोत्रियस्तादृशमेव श्रोत्रियं गुणवन्तं भूतिकृत्येषु । भूतिर्विभवस्तन्निमित्तेषु कार्येषु—विभवे धनसम्पत्तौ सत्यां यानि क्रियन्ते गोष्ठीभोजनादीनि । अथवा भूतिग्रहणं कृत्यविशेषणम् । भूतिमन्ति यानि कृत्यानि प्राचुर्येण प्रभूततया विवाहादीनि क्रियन्ते—यत्र विंशतेरधिकनरा भोज्यन्ते । तादृशेषूत्सवेषु अभोजयंस्तदर्थमन्नं यावत् भूतिकृत्येषु भोक्तव्यं तावद्विगुणं तस्मै दापयेत् । राज्ञे वा दातव्यं हैरण्यं माषकम् ॥३९३॥

हिन्दी—प्रतिवेशी या अनुवेशी सज्जन श्रोत्रिय को विवाहादि शुभ कार्यो में नहीं भोजन करानेवाले श्रोत्रिय से (राजा) उस (भोजन नहीं कराये गये) श्रोत्रिय के लिए दुगुना अन्न तथा एक मासा सोना दण्ड स्वरूप दिलवावे ॥३९३॥

करग्रह से मुक्त करने योग्य व्यक्ति—

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।

श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥

भाष्य—सप्तत्या स्थविरः । प्रकृत्या विरूप इतिवत्तृतीया । सप्ततिर्वर्षाणि यस्य जातस्य स एवमुच्यते । श्रोत्रियेषु वेदाध्यायिषूपकुर्वन्पादशुश्रूषादिना कारुकर्मणा वा । एते न केनचित् 'शिल्पिनो मासिमासीत्यादि' (मनु ७।१३८) दाप्याः । क्षीणकोशेनापि न दाप्या इति केनचिद्ग्रहणम् ॥३९४॥

हिन्दी—अन्धा, जड़, पङ्गु, सत्तर वर्ष से अधिक बूढ़ा और अन्न आदि से श्रोत्रियों का उपकार करते रहनेवाला, इन लोगों से कोई (क्षीणकोषवाला भी) राजा कर (टैक्स) नहीं लेवे ॥३९४॥

श्रोत्रियं व्याधितात्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।

महाकुलीनमार्यं च राजा सम्पूजयेत्सदा ॥३९५॥

भाष्य—सम्पूजनमनुग्रहः । अनेकार्थत्वाद्भातूनाम् । न हि बालादीनामन्या पूजोपपद्यते । श्रोत्रियोऽत्र ब्राह्मण एवेति स्मरन्ति । आर्तः प्रियवियोगादिना । अकिञ्चनो दुर्गतः । महाकुलीनः । ख्यातिधनविद्याशौर्यादिगुणे कुले जातो 'महाकुलीनः' । आर्य ऋजुप्रकृतिरवक्रः । एतेषां दानमानादिभिरनुग्रहः कर्तव्यः ।

केचिदकिञ्चनं महाकुलीनविशेषणं व्याचक्षते ॥३९५॥

हिन्दी—श्रोत्रिय (विद्वान् तथा आचारवान् ब्राह्मण) रोगी, (पुत्रादि के विरह से) दुःखी, बालक, वृद्ध, दरिद्र, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न और उत्तम चरित्रवाले की राजा सदैव

पूजा (दान, मान आदि हिताचरण से सत्कार) करता रहे ॥३९५॥

धोबी को कपड़ा धोने का विधान—

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे-नेनिज्यात्रेजकः शनैः ।

न च वासांसि वासोभिर्निहरिन्न च वासयेत् ॥३९६॥

शाल्मली नाम वृक्षस्तद्विकारे **फलके** । स हि प्रकृत्यैव श्लक्ष्णो भवति । न च वाससोऽपि पातैरवयवा अस्य च्यवन्ते । ते हि च्युता वासः पाटयेयुः । न चायं जाति-नियमोऽदृष्टाय । तेनान्यदपि यत्कष्टमेवंस्वभावं तत्फलके न दोषः । **श्लक्ष्णे**ऽपरुषे च । **वासांस्यन्यदीयान्यन्यदीयैर्वासोभिन निहरिन्** । बद्ध्वोपरिवेष्ट्य तीर्थे प्रक्षालयितुं न नयेत् । बन्धनाद्वाससां विनाशो माऽभूत् । अधिकं हि तानि पीडितानि भवन्ति । **न च वासयेत्** । अन्यदीयानि वासांस्यन्यस्मै न प्रयच्छेत् । मूल्येन वसनार्थं न दद्यात् । एतद्धि ‘वासनं’—वस्तेऽपरः, तं रजको वासयति । अश्रुतत्वाद्दण्डस्य प्रकृतमाषक-योजना कर्तव्या ॥३९६॥

हिन्दी—धोबी सेमल की लकड़ी के बने हुए चिकने पाढ (मोटे तख्ते) पर धीरे-धीरे कपड़ों को धोवे, किसी के कपड़े को दूसरों के कपड़ों में नहीं मिलावे और दूसरे को पहनने के लिए नहीं देवे । (यदि वह ऐसा नहीं करे तो राजा के द्वारा दण्डनीय होता है) ॥३९६॥

सूत को बुनकर कपड़ा देने का विधान—

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।

अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो-द्वादशक दमम् ॥३९७॥

भाष्य—तन्तून्वयति **तन्तुवायः** कुविन्दः । शाटकादेः पटस्य कर्ता । स सूत्र-पलानि दश गृहीत्वा शाटकं वयन् एकपालाधिकं वस्त्रं दद्यात् । अनया वृद्ध्या सर्वं दद्यात् । स्थूलसूक्ष्मादिवाससां रोमवतां च कल्पना कर्तव्या । **अन्यथा** द्वादश-पणो दण्डः । वृद्ध्यदानेऽयं दण्डः । मूलच्छेदे तु गणोक्तः । एवं विंशतिपलं यदि न ददाति वृद्धिं द्विगुणो दण्डः । एवं कल्पना कार्या—त्रिगुणश्चतुर्गुण इत्यादि । अन्ये तु दण्डं राजभागमित्याहुः ॥३९७॥

हिन्दी—कपड़ा बुननेवाला (जुलाहा आदि) दश पल सूत के बदले में (माँड़ी आदि लगने में बढ़ जोने के कारण) ग्यारह पल कपड़ा दे, इसके विपरीत करने (कम कपड़ा देने) वाले को राजा बारह पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे (तथा स्वामी अर्थात् सूत के बदले में कपड़ा लेनेवाले को उचित कपड़ा दिलवाकर सन्तुष्ट करे) ॥३९७॥

विक्रेय वस्तु के कर ग्रहण का प्रमाण—

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।

कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥३९८॥

भाष्य—येषु प्रदेशेषु शुल्कमादीयते तानि **शुल्कस्थानानि** राजभिर्वणिगभिः स्वप्रतिदेशनियतानि कल्पितानि । तेषु स्थानेषु ये **कुशलाः** शौल्किकाः—ये धूर्तेर्न शक्यन्ते वञ्चयितुं—तथा सर्वेषां पण्यानामागमक्रयविक्रयक्षयव्ययसारासारादिविधिज्ञा **विचक्षणाः** । ते भाण्डस्यागतस्य देशान्तरात्रीयमानस्य **वाऽर्घं कुर्युः** । **ततो विंशति-**भागं राजा गृह्णीयात् । “किंपुनरर्घकरणेन । एतावदेव वक्तव्यं पण्यानां विंशतिभागमिति” । सत्यम् । यदा स्वरूपेण द्रव्यं राजा गृह्णाति । स्वरूपकान्युपयुज्यन्ते साटकादीनि—तत्र विंशतिभागः न पाटनमन्तरेणोपपद्यत इत्येवमर्थमर्घकरणम् । अविक्रेयाणामात्मोपयोगिनां नास्ति शुल्क इति ज्ञापितुं यथापण्यम् । एवं कालानुरुप्येण । न सर्वपण्यं सर्वदा विक्रियत एकरूपेणार्धेण । अतो देशकालापेक्षया पण्यानामर्घव्यवस्था, न नियतोऽर्घ इति ॥३९८॥

हिन्दी—स्थल तथा जल के मार्ग से व्यापार करने में चतुर और बाजार के सौदों के मूल्य लगाने में निपुण व्यक्ति बाजार के अनुसार जिस वस्तु का जो मूल्य निश्चित करे, उसके लाभ में से राजा बीसवाँ भाग कर रूप में ग्रहण करे ॥३९८॥

प्रतिषिद्ध वस्तु का निर्यात करने पर दण्ड—

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।

तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेत्नृपः ॥३९९॥

भाष्य—**राज्ञः** सम्बन्धितया **प्रख्यातानि** यानि **भाण्डानि** राजोपयोगितया—यथा हस्तिनः, काश्मीरेषु कुङ्कुमम्, प्राच्येषु पट्टोर्णादीनि, प्रतीच्येष्वश्वाः, दाक्षिणात्येषु मणिमुक्तादीनि । यद्यस्य राज्ञो विषये सुलभमन्यत्र दुर्लभं तत्र तस्य ‘प्रख्यापनं’ भवति । तेन हि राजान इतरेतरं संदधते । **प्रतिषिद्धानि यानि** राज्ञा मदीयादेशान्नैतदन्यत्र नेयम् अत्रैव वा विक्रेयं यथा दुर्भिक्षे धान्यमित्येवमादीनि । **लोभात्निर्हरतो** देशान्तरं नयतो विक्रीणानस्य वा **सर्वहारं** हरेत्सर्वहरणं ‘सर्वहारः’ । अयं धनलोभात्रयतो दण्डः । राजान्तरोपायनार्थं त्वधिकतरः शारीरोऽपि दुर्गावरोधादिः ॥३९९॥

हिन्दी—राजा से सम्बद्ध विक्री करने योग्य विख्यात (बर्तन या रोजोपयोगी हाथी, घोड़ा, गाड़ी आदि) सामान तथा निर्यात (निकासी) के लिए मना किये गये पदार्थ (यथा—दुर्भिक्ष के कारण अन्नादि, पशूनृति आदि के लिए गाय, भैंस, बैल आदि या इसी प्रकार अन्याय पदार्थ) को लोभ (अधिक लाभ होने की आशा) से दूसरे देश (या स्थान) में ले जानेवाले व्यापारी की सम्पूर्ण सम्पत्ति को राजा हरण (जप्त) कर ले ॥३९९॥

असमय में विक्रयादि करने पर दण्ड—

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।

मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

भाष्य—क्रयविक्रयी वाणिजक उच्यते । शुल्कस्थानं परिहरन्नुत्पथेन गच्छन् । अकाले वा रात्रौ शुल्काध्यक्षेषु गतेषु । संख्याने मिथ्यावादी नयूनं कथयति गणनायाम् । उपलक्षणं चैतत्संख्यानम् । तेन प्रच्छादनेऽप्येष एव विधिः । दाप्योऽष्टगुणमत्ययं दण्डः । यावदपह्नुते तावदष्टगुणम्, यावान्वा तस्यापह्नु तस्योचितः शुल्कस्तमष्टगुणं दाप्यः । आद्यमेव युक्तम् । ‘अत्यय’शब्दो हि तत्र समञ्जसः तद्धेतुत्वाद्भव्ये ।

अन्ये त्वकाले क्रयविक्रयी इति सम्बन्धं कुर्वन्ति । अकालश्चागृहीते शुल्के रहसि वा प्रतिषेधोऽयम् ॥४००॥

हिन्दी—शुल्क (चुङ्गी-कस्टम) से बचने के लिए चुङ्गीघर का रास्ता छोड़कर दूसरे रास्ता से सौदा ले जानेवाला, असमय (रात्रि आदि में गुप्त रूप से) विक्रय करनेवाला; (चुङ्गी कम लगने के लिए) तौल, माप या मूल्य को झूठ (कम) बतलानेवाला व्यापारी चुङ्गी के वास्वविक मूल्य के अठगुने द्रव्य से दण्डनीय होता है ॥

विदेश में विक्रय करने का मूल्य निर्णय—

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।

विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥४०१॥

भाष्य—आपणभूमौ ये विक्रेतारस्ते न स्वेच्छया मूल्यं कर्तुं लभेरन्नापि राजा क्रीणीयात् स्वरुचिकृतेन मूल्येन । कथं तर्हि । इदमिदं निरूप्यम् । आगमम्—किं प्रत्यागच्छति देशान्तरादुत न, तथेयतो दूरादागच्छति । एवं निर्गमस्थाने । किं सम्प्रत्येव विक्रियत उत तिष्ठति । सम्प्रति निष्क्रामतो द्रव्यस्य स्वल्पोऽपि लाभो महाफलस्तदुत्थितेन मूल्येन द्रव्यान्तराविषयेण क्रयविक्रयेण पुनर्लाभः । स्थानात् वृद्धिक्षयौ । कियत्यस्य वृद्धिस्तिष्ठति कीदृशो वा क्षयः—इत्येतत्सर्वं परीक्ष्य स्वदेशे क्रयविक्रयौ कारयेत् । यथा न वणिजां पीडा भवति नापि क्रेतृणां तथाऽर्घ्यं व्यवस्थापयेत् ॥४०१॥

हिन्दी—(राजा) आयात-निर्यात की दूरी, स्थान, कितने दिनों तक रखे रहने से कितना लाभ होगा, कितना बढ़ेगा, कर्मचारियों या अन्य कुली आदि तथा कीड़े आदि के कारण कितना माल घटेगा; इत्यादि सब बातों का विचारकर बाजार में बेचने योग्य सब सौदों (अन्न, वस्त्र, शस्त्र, काष्ठ आदि सामान) का मूल्य निश्चित कर उनका क्रय-विक्रय (खरीद, बेची) करावे ॥४०१॥

मूल्य निर्धारण—

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।

कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥४०२॥

भाष्य—आगमनिर्गमनादेर्द्रव्यस्यानित्यत्वादुपचयापचयावर्धस्यानेकरूपौ । ततोऽर्घ-
संस्थापनं **पञ्चरात्रे** पञ्चरात्रे प्रत्यक्षीकार्यं, न सकृत्कृतं मन्तव्यं, नापि वणिजो विश्वसि-
तव्याः । किंतर्हि स्वयं प्रतिजागरणीयम् । यद्द्रव्यं चिरेण निष्क्रामति तत्र **पक्षेऽर्घगवेषण-**
मन्यत्र पाञ्चरात्रिकम् ॥४०२॥

हिन्दी—राजा पाँच-पाँच या पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के बाद मुख्य व्यापारियों के सामने
(उनसे विचार विनिमय करके सौदों के) मूल्य का निर्धारण करता रहे ॥४०२॥

तराजू, बाट आदि की जाँच—

तुला मानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥४०३॥

भाष्य—तुला प्रसिद्धा । मानं प्रस्थो द्रोण इत्यादि । **प्रतीमानं** सुवर्णादीनां
परिच्छेदार्थं यत्क्रियते । सर्वतोभागे तत्सुलक्षितं राजचिह्नैरङ्कितं कार्यम् । स्वयं प्रत्यक्षेण
परिच्छिद्य स्वमुद्रया । **परीक्षयेत् षट्सु षट्सु मासेषु** पुनः परीक्षां कारयेदाप्तैरधिकारि-
भिर्यथा न विचालयन्ति केचित् ॥४०३॥

हिन्दी—तुलामान, प्रतीमान और तराजू की राजा अच्छी तरह जाँचकर परीक्षा करे
तथा प्रति छः मासपर उनकी जाँच कराता रहे ॥४०३॥

विमर्श—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य वस्तु तौलने के बाँट (तोला, मासा, रती
आदि बटखरों) को 'तुलामान' तथा अन्न आदि तौलने के बाँट (सेर, पसेरी, मन आदि
बड़े बटखरों) को 'प्रतीमान' कहते हैं । इसी प्रकार राजा कपड़े नापने का गज, पैमाना
आदि की भी जाँच कराता रहे ।

नाव का भाड़ा—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्घपणं तरे ।

पादे पशुश्च योषिच्च पदार्थं रिक्तकः पुमान् ॥४०४॥

भाष्य—नदीतीरे यानं गन्त्री शकटादितरेण **पणं दाप्यम्** । भाण्डपूर्णानामुत्तरत्रो-
पदेशाद्रिक्तभाण्डानां यानानां यानद्रव्यानयनार्थमुत्तार्थमाणानामयं राजभागः । पौरुषवाह्यो
भारो द्रव्यानयनार्थमानीयमानोऽर्घपणं दाप्यः । **पशुर्गोमहिष्यादिः पादम्** । स्त्री च । **रिक्तको**
न किञ्चित् । यो गृहीतवान्भारं स पुमान्पादार्थं दाप्यः । रिक्तस्य पुंसो नदीलङ्घनसामर्थ्य-

सम्भावनया लाघवादल्पमादानम् । स्त्री अशक्तत्वात्स्वयं तरणे बहु दाप्यते । तरे तर-
निमित्तम् ॥४०४॥

हिन्दी—(नदी आदि को) नाव से पार करने में मनुष्य गाड़ी का एक पण, एक आदमी के बोझ (लगभग एक मन) का आधा पण, गौ आदि पशु तथा स्त्री का चौथाई पण तथा खाली (बोझ रहित) मनुष्य का अष्टमांश पण (८।१३६) नाव का भाड़ा (खेवाई) देवे ॥४०४॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।

रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥४०५॥

भाष्य—भाण्डं द्रव्यं वस्त्रव्रीह्यादि—तेन पूर्णानि यानानि सारतस्तार्यं तारार्यं दाप्यानि । यदि महार्घं वस्त्रादि तत्र बह्वारोपितं तदा बहु दाप्यानि, अथ व्रीह्यादिना नातिभारेण तदाल्पम् । एवं नद्याः सुतरदुस्तरत्वेन कल्पना कर्तव्या । **रिक्तभाण्डानि** यानानि **यत्किञ्चित्**—पणपादानि । **भाण्ड**शब्दोऽत्र धनवचनः । ये चा**परिच्छदाः** ते न पादार्थमपि तु यत्किञ्चित्ततोऽधिकं न्यूनं वा । अत्र न शक्यो नियमोऽतः कल्पनैव शास्त्रार्थः ॥४०५॥

हिन्दी—सामान से भरी हुई गाड़ी या ठेले आदि की खेवाई उनके हलकापन तथा भारीपन के अनुसार देवे तथा खाली बर्तन और दरिद्र मनुष्य का भाड़ा जो भी कुछ अर्थात् अत्यन्त थोड़ा देवे ॥४०५॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।

नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥४०६॥

भाष्य—पारावारोत्तारणे पूर्वं दानम् । अयं नावा ग्रामान्तरगमने । **दीर्घाध्वनि** योजनादिपरिमाणेन गन्तव्ये । **यथादेशं**—यस्मिन्देशे यत्तरिदानं नाविकैः स्थापितं तदेव । **यथाकालं**—कालो वर्षादिबहूदकस्तत्रान्यन्मूल्यम् । स्वल्पोदकायां सरिति चिरेण ग्राम-प्राप्तौ नाविकानामधिकतरायासवतामधिकमूल्यम् । तरमूल्ये कारणे कार्यशब्दस्तरो भवे-दिति । यावद्यावद्दीर्घो देशस्तावत्तावत्तरपणो वर्धते । एतच्च **नदीतीरेषु विद्यात्** । **समुद्रे** सागरे **नास्ति तरलक्षणम्** । न शक्यते लक्षयितुं कति योजनानि नौर्व्युढा येन तदनु-सारेण मूल्यं कल्प्ये । नदनदीषु शक्यते ज्ञातुमयं पन्था योजनमात्रो द्वियोजन इति । तत्र हि तत्र ग्रामाः परिमाणचिह्नम् । तत्रैकयोजनेऽध्वनि यन्मूल्यं द्विगुणं तद्वियोजने । समुद्रे तु बहुवाह्या नौः, न च सुष्ठु शक्यते योजनादिपरिच्छेदः कर्तुम् । अत एवोक्तं **समुद्रे नास्ति लक्षणमिति** ॥४०६॥

हिन्दी—दूर तक जाने के लिए नदी की प्रबलता (तेज बहाव), स्थिरता, गर्मी तथा

वर्षा आदि के समय के अनुसार नावभाड़ा (खेवाई) होता है; इसको नदी-तट के लिए समझना चाहिए । समुद्र में नदी से भिन्न स्थिति होने से यह नियम (८।४०४-४०५) नहीं है (अतएव उसका भाड़ा उचित ही लेना चाहिये) ॥४०६॥

गर्भिणी आदि नाव भाड़ा से मुक्त—

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।

ब्राह्मण लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥४०७॥

भाष्य—द्वाभ्यां मासाभ्यामृतुदर्शनस्य व्यक्तगर्भा स्त्री भवति तस्या अनुग्राह्यत्वात्तर-
पणो न ग्राह्यः । प्रव्रजितश्चतुर्थश्रमी । मुनिस्तापसः । ब्राह्मणा लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः ।
ब्राह्मणग्रहणं विशेषणम् । तेन बाह्यप्रव्रज्यालिङ्गधारिणां नैष विधिः । तरप्रयोजनं तारिकं
पणादि तरनिमित्तं न दाप्याः । वृत्तानुरोधात् तारिकमिति सिद्धे तरग्रहणम् ॥४०७॥

हिन्दी—दो मास से अधिक गर्भवती स्त्री, संन्यासी, ब्राह्मण और ब्रह्मचारी से नदी
के पार जाने में कोई नावभाड़ा नहीं लेना चाहिये ॥४०७॥

मल्लाह के दोष से सामान नष्ट होने पर—

यत्रावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।

तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः ॥४०८॥

भाष्य—नाव्यारोपितभाण्डं तरणिकायां यदि दशानां नाविकानामपराधादावर्त-
मानजलेन प्रदेशेन नयतां वा तत्स्थानं ज्ञात्वा दृढबन्धेन जलप्रवेशमकुर्वतां वद्ध्यादिनह-
नीभिरयोमयोभिश्चर्मबन्धैः सूत्रबन्धैर्वा शिथिलीकृतवतां—यदि भाण्डं विशीर्येत विन-
श्येत तदा तैरेव दातव्यं स्वतोऽंशतः स्वभागाद्भाण्डस्वामिने । समागम्य यावन्तो
नाव्यारूढा दाशाः ॥४०८॥

हिन्दी—मल्लाहों की मल्लाहों की गलती से जो सामान नाव में नष्ट हो जाय,
उसकी पूर्ति सब मल्लाहों को मिलाकर अपने-अपने हिस्से में से करनी चाहिये ॥४०८॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।

दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥

भाष्य—नौभिर्यान्ति तच्छीला नौयायिनस्तेषामेष विधिरुक्तो यदा दाशापरा-
धाद्यद्भ्रष्टमुदके तद्दद्युः । दैविके दोष उत्पाते वातादिना नौभङ्गे नास्ति नाविकानां
द्रव्यनाशो निग्रहः ।

एष स्थले भाण्डवाहकानां भारिकाणां वा न्यायः । यद्यप्रमादेन प्रक्रामति भारिको
गृहीतदण्डावलम्बनो दृढबन्धोपरिभागोऽकस्माद् वृष्ट्या पथि कर्दमीकृते पतितस्य भाण्डं

नश्येन्न भारिकस्य दोषः स्यात् ॥४०९॥

हिन्दी—(भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि) नाव से पार जानेवालों के लिए यह निर्णय कहा गया है । नाविकों (नाव पर काम करनेवाले) मल्लाहों की असावधानी से नष्ट हुए सामान के देनदार नाविक होते हैं, किन्तु दैवी उपद्रव (आँधी-तूफान आदि) से सामान के नष्ट होने पर उसके देनदार नाविक नहीं होते, वह हानि नष्ट हुए सामान के स्वामी को ही भोगनी पड़ती है ॥४०९॥

वैश्यादि से व्यापारादि कराना—

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।

पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥

भाष्य—इह केचिद्व्याचक्षते—अनिच्छन्तावपि वैश्यशूद्रौ बलादेव तानि कर्माणि कारयितव्यौ यत एतयोः स्वधर्मोऽयम् । सत्यपि दृष्टार्थत्वेऽदृष्टार्थता विद्यते नियमविधि-त्वात् । एवं च सति ब्राह्मणोऽपि हठात्प्रतिग्राहयितव्य इत्यापतति । पक्ष एव दोषत्वेनाय-मुक्त इति चेदत्राप्येष एव पक्षः ।

तदयुक्तम् । सत्यां धनार्थितायां शास्त्रतो नियमः । न तु विधिनिबन्धनैव प्रवृत्तिः । यत्र स्वयं प्रयोजकमस्ति तत्र न विधेः प्रयोक्तृत्वम् । नियमांशे तु विधेर्व्यापारः । स चेदृशो नियमः । **वैश्यमेव कारयेद्वाणिज्यम्**—अन्यं कुर्वाणमसत्यामापदि दण्डयेत् । एवं ब्राह्मणमेव प्रतिग्रहम् । तथा च प्रतिग्रहसमर्थोऽपि सन्तोषपरश्च स्यादित्यापद्यते । यदपि श्रूयते—‘अनिच्छतोपीति’ । (४१२) सोऽर्थवादः । **शूद्रमेव दास्यमित्येवं सर्वत्र** नियमरूपता द्रष्टव्या ॥४१०॥

हिन्दी—राजा वैश्यों से व्यापार, व्याज (सूद) की जीविका, खेती तथा पशु-पालन और शूद्रों से द्विजों की सेवा करावे ॥४१०॥

क्षत्रिय-वैश्य के दासकर्म का निषेध—

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ ।

बिभृतादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥४११॥

भाष्य—वृत्त्या कर्षितौ ब्राह्मणो बिभृयाद्भक्तादानादिना क्षत्रियवैश्ययोर्भरणं कुर्यात् । **आनृशंस्येनानुकम्पया स्वानि कर्माणि कारयेत्** । ब्राह्मणस्य वानि स्वानि समित्कुशोदकुम्भाहरणादीनि । अथवा क्षत्रियवैश्ययोर्यानि स्वानि । क्षत्रियो ग्राम-रक्षादौ नियोक्तव्यो वैश्यः स्वकृषिपशुपाल्यादौ । महाधनो यो ब्राह्मणो महापरिच्छदश्च सामर्थ्यात्तस्यैष विधिः । **स्वानि कर्माणीति** वचनात् दास्यं न कारयितव्यौ गर्हितोच्छिष्ट-मार्जनादि ॥४११॥

हिन्दी—जीविका (के अभाव) से दुःखित क्षत्रिय तथा वैश्य को, उनसे अपनी जाति के अनुसार रक्षण तथा खेती आदि करवाता हुआ धनवान् ब्राह्मण करुणापूर्वक पालन करे ॥४११॥

विमर्श—इस वचन से यह बात प्रकरण द्वारा सिद्ध होती है कि यदि धनवान् ब्राह्मण जीविका के अभाव से दुःखित क्षत्रिय तथा वैश्य को उक्त प्रकार से पालन न करे तो वह राजदण्डनीय होता है ।

दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।

अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥४१२॥

भाष्य—संस्कृता उपनीताः । यद्यपि द्विजग्रहणादेवैतल्लभ्यते तथापि त्रैवर्णिक-जात्युपलक्षणार्थं न विज्ञायीति । यो ब्राह्मणः समानजातीयान्दास्यं पादधावनोच्छिष्टावकरणसम्मार्जनादिरूपमनिच्छतः । प्रभवतो वाचः प्राभवत्यं प्रभुत्वम् । शक्त्यतिशयोगतो बलादिना यः कारयति स षट्शतानि दण्ड्यः । लोभादेतद्, द्वेषादिभिस्त्वधिको दण्ड्यः । शत्रन्तस्य भवतेर्भावप्रत्यये प्राभवत्यादिति रूपम् । प्रभुत्वेनेति वचनाद्गुरोर्न दोषः । अनिच्छत इति वचनादिच्छतामल्पो दण्डः ॥४१२॥

हिन्दी—सम्पत्तिशाली होने के कारण यदि ब्राह्मण लोभ से यज्ञोपवीत संस्कार युक्त द्विज से उसकी इच्छा के बिना दासकर्म करावे तो वह ब्राह्मण राजा के द्वारा ६०० पण (८१३६) से दण्डनीय होता है ॥४१२॥

शूद्र से दासकर्म कराने का विधान—

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।

दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥४१३॥

भाष्य—क्रीतमक्रीतं भक्ताद्युपनतम् । वक्ष्यमाणस्य विधेरनुवादोऽयम् । दास्यायै-वेत्यर्थवादः ॥४१३॥

हिन्दी—किन्तु बेतन देकर या नहीं देकर (जैसा वे चाहें वैसा करके) शूद्र से दास कर्म को करावे; क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मणों की सेवा के लिए शूद्रों की सृष्टि की है ॥४१३॥

दासत्व से शूद्र की अमुक्ति—

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।

निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

भाष्य—यमाश्रितः सप्तमिर्दासयोनिभिस्तेन निसृष्टोऽपि तन्मुक्तोऽपि । न स्वामिना निसृष्टोऽपि दास्याद् विमुच्यते । किंतु निसर्गजं सहजं जातिसहभावि

कः तस्माच्छूद्राद् तत् दास्य मपोहत्यपनयति । यथा शूद्रजातिर्न तस्यापनेतुं शक्यैवं दास्यमपि । अर्थवादोऽयम् । यतो वक्ष्यति निमित्तविशेषे शूद्रस्य दास्यान्-
मोक्षम् ॥४१४॥

हिन्दी—स्वामी के द्वारा छोड़ा गया भी शूद्र दासत्व से छुटकारा नहीं पाता है, क्योंकि वह (दासत्व), उसका स्वाभाविक कर्म है, (अतएव) उस (दासत्व कर्म) से उसको कौन मुक्त कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥४१४॥

दास के सात प्रकार—

ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।

पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥४१५॥

भाष्य—ध्वजग्रहणं वाहनोपलक्षणार्थम् । ध्वजिनी सेनोच्यते । तत आहतः । संग्रामे जितः सन्दासीकृतः । “किंपुनरिदं क्षत्रियस्य वचनम्—युद्धेजितः क्षत्रियो दासीभवति ।” नेति ब्रूमः । शूद्रस्यैव प्रकृतत्वात् । “दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ” इति । स्वामिनं जित्वा तदीयो दास आहतः । आहर्तुर्दास्यं प्रतिपद्यते । “ननु शूद्रस्याविशेषेणैव दास्यमुक्तं ‘निसर्गजं तत्तस्य’ इति” ।

नैवम् । तथा सत्यव्यवस्था स्यात्—कस्यासौ दास इति न विज्ञायेत । सर्वे हि त्रैवर्णिकास्तस्य दास्याः । स्वधर्ममनुवृत्तस्य चानियमोऽविधित्वात् । अन्ये तु सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुरित क्षत्रियादीनामपि दास्यमस्ति (गौतम १०/६६) ।

तदसत् । अन्यद् ‘दास्यम्’ अन्या ‘परिचर्या’ । निकृष्टकर्मकारित्वमप्यज्ञातस्य “दास्यम्”, सर्वस्य प्रेषितस्याप्रतिबन्धः । ‘परिचर्या’ तु शरीरसंवाहनमर्थदारादिरक्षाधिकारः । न्नारदेन चैतत्प्रपञ्चितम् ।

भक्तलाभार्थं दास्यं प्रतिपन्नो भक्तदासः ।

गृहे जातो गृहजः । दास्यामुत्पन्नो गर्भदासः ।

क्रीतो मूल्येन स्वामिनः सकाशात् ।

दत्रिमः प्रीत्याऽदृष्टार्थं वा दत्तः ।

क्रमागतः पैत्रिकः ।

“अथ गृहजस्यास्य च को विशेषः” ।

गृहजस्तदीयायामेव दास्यां जात इतरस्तु क्रमागतः ।

दण्डदासो राज्ञे दण्डं दातुमशक्ता दासीक्रियते । “कर्मणाऽपि समं कुर्यात्” इत्यन्यवर्णस्यापि दास्यमिच्छन्ति । तदयुक्तम् । अन्यद्दास्यमन्यच्च तत्कर्मकारित्वम् ।
मानु . 1 24

न चायं दण्डो येनान्तर्भवेत् । न च दासयोनिपुरुषधारणमुक्तं, केवलं कर्मणापीति । तथा दासकर्मा-ऽप्यस्ति ।

“ननु च धर्मोपनतोऽपि शूद्रो दास इष्यते । तत्र कथं सप्त दासयोनयः” ।

नैष दोषः । न तस्यौत्पत्तिकं दासत्वम् । इच्छाधीनत्वाद्धर्मार्थिनः । न हि तस्य दानाधानक्रिया युज्यते—क्रीतगृहजादिदासवत् । एवं ह्युक्तं—‘यथायथा हि सद्वृत्तमिति’ (१०।१२८) तेनैवं ब्रुवतैतत्प्रदर्शितं भवति—न तस्य नित्यं दास्यं किं तर्हि फलविशेषार्थिनः । ततश्चानिच्छतो न दास्यमस्ति । अतो यदि शूद्रो विद्यमानधनः स्वान्त्येण जीवेद्ब्राह्मणाद्यनपाश्रितो न जातु दुष्येत् ॥४१५॥

हिन्दी—(१) युद्ध में स्वामी के पास से जीता गया, (२) भोजन करने आदि के लोभ से आया हुआ, (३) दासी-पुत्र, (४) मूल्य देकर खरीदा गया, (५) किसी के देने से प्राप्त हुआ, (६) पिता की परम्परा से चला आता हुआ, (७) दण्ड (ऋण आदि) को चुकाने के लिए स्वीकृत किया गया, दासों की ये सात योनियाँ (कारण) हैं ॥४१५॥

भार्या, दासादि के अपने धन का अभाव—

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।

यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥

भाष्य—एते त्रयोऽर्जितधना अप्यधनाः । स्वामिनो धनम् । यत्किञ्चित्ते धनमर्जयन्ति तद्धनं तस्य स्वं यस्य ते स्वत्वमापन्नाः । भार्याधनं भर्तुः, पितुः पुत्रस्य, स्वामिनो दासस्य ।

“ननु च यद्येते निर्धनाः कथमेषां कर्मभिरधिकारः । तत्रेदं नोपपद्यते—‘पुत्रौ चेदाहिताग्नी स्यातां येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्र’ इति । दम्पत्योरपि सहधर्मश्चरितव्यः । “धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेति” । यदि च निर्धनाः कोऽन्योर्थेऽनतिचारः । शूद्रस्यापि ‘पाकयज्ञैः स्वयं यजेतेति’ निर्धनत्वे विरुध्यते । स्वच्छन्दशूद्रविषयत्वेन विरोधो न भवेत् । अस्ति तावद्दासानां स्वधने स्वाम्यं, यदा स्वधनमिति व्यपदिश्यते । न ह्यसति सम्बन्धे व्यपदेशः । अर्जनं च स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धम् । तस्माद्विरुद्धमिदं यत्ते समधिगच्छन्ति न तत्तेषां स्वमिति । यथा कश्चिद्ब्रूयाद्यस्या अहं पुत्रः सा न मम जननीति तादृगेतत् । असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यै वा तदनुमतं क्रियते । “पत्नी वै पारिणाह्यस्येष्टे” इत्यादि श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः” ।

अत्रोच्यते । पारतन्त्र्यविधानमेतत् । असत्यां भर्तुरनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्र्येण यत्रक्वचिद्धनं विनियोक्तव्यम् । एवं पुत्रदासयोरपि द्रष्टव्यम् ।

अन्ये तु मन्यन्ते—भार्यापुत्रग्रहणं दासार्थम् । तस्य चैतद्वचनमुत्तरार्थम् । आपदि

तेषां धनग्रहणे न विचिकित्सितव्यं—भतुरिव हि तत्स्वम् ॥४१६॥

तथा हि—

हिन्दी—स्त्री, पुत्र तथा दास—इन तीनों को (मनु आदि महर्षियों ने) निर्धन ही कहा है, ये जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह उसका होता है जिसके वे (भार्या, पुत्र या दास) हैं ॥४१६॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्रव्योपादानमाचरेत् ।

न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥४१७॥

अत्र कश्चिदाह—“धर्मोपगतशूद्रविषयमिदम्” । तदयुक्तं, विशेषे प्रमाणाभावात् । तस्मात्सर्वस्य दासः शूद्रस्तस्यैव प्रतिग्राह्यत्वमुच्यते ।

विस्रब्धं निःशङ्कम् । शूद्रधनं कथं प्रतिगृहीयात्प्रतिषिद्धं हि तदित्येषा शङ्का न कर्तव्या । यतो न तस्य किञ्चिदर्थो यस्य निचयः स्यादित्युक्तं भवति । स्वामी न हियते धनस्य एतदेवार्जने तस्य प्रयोजनं स्वामी हीयते । अतो **विस्रब्धं द्रव्योपदानं** द्रव्य-ग्रहणं कुर्यात् । तेनोपनीयमानमपि स्वगृहस्थमिव विनियुञ्जीत । सति प्रयोजन एतद्युक्तं भवति—अविद्यमानधनस्य दासाच्छूद्रात्प्रतिगृह्यतो न दोषः ॥४१७॥

हिन्दी—ब्राह्मण बिना विकल्प किये (दास) शूद्र से धन को ले लेवे, क्योंकि उस (दास शूद्र) का निजी धन कुछ नहीं है और वह (दास शूद्र) स्वामी से ग्रहण करने योग्य धनवाला है अर्थात् उस शूद्र के धन को ग्रहण का अधिकार उसके स्वामी को है ॥४१७॥

विमर्श—इस वचन के अनुसार आपत्तिकाल में शूद्र से बलात्कारपूर्वक धन ग्रहण करनेवाला ब्राह्मण दण्डनीय नहीं होता है ।

वैश्य तथा शूद्र से अपना-अपना कर्म कराना—

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।

तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८॥

भाष्य—कर्म व्यतिक्रामन्तः क्षीभयेयुराकुलीकुर्युर्जगत् । अतस्ते प्रयत्नेन स्व-कर्मभ्यश्चयावयितुं न लभेरन् । अनल्प एवातिक्रामे भूयसा दण्डेन योजनीया वैश्या अपि । बन्धनं नास्त्यपि, धनशक्यः स्वधर्मः ॥४१८॥

हिन्दी—राजा वैश्य तथा शूद्र से यत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मों (वैश्य से व्यापार, पशु पालन और खेती आदि तथा शूद्र से द्विजसेवा) को करवाता रहे, क्योंकि अपने-अपने कर्म से भ्रष्ट ये दोनों (वैश्य तथा शूद्र, अन्यायोपार्जित धनादि के अभिमान से) इस संसार को क्षुभित कर देंगे ॥४१८॥

प्रतिदिन आय-व्यय का निरीक्षण—

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मन्तान्वाहनानि च ।

आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥

भाष्य—राजधर्माणामनुसन्धानार्थम् । **कर्मन्ताः** कृषिशुल्कस्थानादयः । **वाहनम्** हस्त्यादि । **आयव्ययौ**—इदमस्य प्रविष्टमिदं निर्यातमित्येव सततं गवेषणीयम् । **आकरा** घातवः सुवर्णाद्यूत्पादे भवन्ति भूमयः । **कोशो** द्रव्यनिचयस्थानम् ॥४१९॥

हिन्दी—राजा प्रतिदिन (उन-उन विभागीय अधिकारियों के द्वारा) आरम्भ किये गये कार्यों की समाप्ति, हाथी-घोड़ा आदि वाहन, आय, व्यय, (कोयला, अभ्रक, लोहा सोना आदि की) खान और कोष—अनेक कार्य में फँसे रहने पर भी सदैव देखता रहे ॥४१९॥

व्यवहार को यथावत् देखने का फल—

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ।

व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४२०॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मे व्यवहारि-
निर्णये सामान्यव्यवहारो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

भाष्य—उक्तेन प्रकारेण व्यवहारानृणादीन्समापयन्निर्णयावसानं कुर्वन्त्यत्किञ्चित्सर्वमविज्ञातदोषं तत्सर्वं व्यपोह्यापनुद्य पापं—परमां गतिमभिप्रेतां स्वर्गापवर्गभूमिं प्राप्नोति लभते ॥४२०॥

इति श्री भट्टमेघातिथिविरचिते मनुभाष्ये अष्टमोऽध्यायः ॥

हिन्दी—इस प्रकार सब व्यवहारों को समाप्त (पूरा) करता हुआ राजा सब पापों को दूरकर उत्तम गति को प्राप्त करता है ॥४२०॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् व्यवहारादिनिर्णयः ।

‘लोकनाथ’ कृपादृष्ट्या ह्यष्टमे पूर्णतां गतः ॥८॥



❖ ❖ ❖ ❖

भाष्य—स्वेच्छया स्त्रीणां धर्मार्थकामेषु व्यवहर्तुं न देयम् । यत्किञ्चन धनं धर्मादौ विनियुज्यते तत्र यथावयः स्वपुरुषाः पत्यादयोऽनुज्ञापनीयाः । ‘स्वपुरुषाः’ रक्षाधिगताः “पिता रक्षती”त्यादिनिर्दिष्टाः । **विषयेषु** हि गीतादिषु सज्जन्त्यः प्रसङ्गं कुर्वन्त्य

आत्मनो वशे स्थाप्याः ततो निवारणीयाः । यद्यप्यस्वतन्त्रा इत्यनेनैव सर्वक्रियाविषया स्वातन्त्र्यनिवृत्तिरुपदिष्टा भवति तथापि पुनर्विषयव्यावृत्तिवचनं यत्नतः परिहारार्थम् । मा विज्ञायि यत्तेभ्य एव परपुरुषसम्पर्कादिभ्यो निवारणीयाः गृहावस्थितास्तु मद्यपानादि-सक्ता न दुष्यन्ति ।

चशब्देन तावदयं धर्मः पुरुषाणामुक्तः—स्वातन्त्र्यं स्त्रीणां तावन्न देयम्, अर्थात् ताभिरपि स्वतन्त्राभिर्न भवितव्यमित्युक्तं भवति । एवं च “पुरुषस्य स्त्रियाश्चैवेति” च-शब्द इतरेतरविषययोर्ये स्त्रीपुंसयोर्धर्मास्त एवोच्यन्ते । न तु यागादय इति समन्वयो । भवति ॥२॥

हिन्दी—पति आदि आत्मीय जनों को चाहिये कि वे रात-दिन स्त्रियों को स्वाधीन रखें (उनकी देख-भाल किया करें—उन्हें स्वतन्त्र न रहने दें), अनिषिद्ध (रूप-रस आदि) विषयों में आसक्त होती हुई उन्हें अपने वश में करें ॥२॥

अवस्थानुसार स्त्री-रक्षा के अधिकारी—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३॥

भाष्य—‘रक्षा’ नामानर्थप्रतीघातः । अनर्थस्त्वनाचारवृत्तातिक्रमेणाप्रवृत्तिपरेण चान्या-यतो धनहरणादिना परिभवः । तस्य प्रतीघातो निवारणम् । तत्पित्रादिभिः कर्तव्यम् । **रक्षतीति** भवन्तिर्लिङ्गार्थे छान्दसत्वात् । ततो रक्षेदितिविधेयप्रत्ययः । वयोविभाग-श्रवणं चाधिकतरदोषार्थम् । सर्व एव तु सर्वदा रक्षार्थमधिक्रियन्ते । कौमारग्रहणं दानात्पूर्व-कालोपलक्षणार्थम् । एवं **यौवनं** जीवद्भर्तृकायाः प्रदर्शनम् । अतश्च नित्यानुवाद एवायम् । यदा यदा यदधीना तदा तदा तेनावश्यं रक्षितव्या । तथा च जीवत्यपि भर्तरि पितुः पुत्रस्य चाधिकारः । तथा दर्शितं मानवे । सर्व एते सर्वदा तत्संरक्षणं कुर्युः । कथ्यमानं तु ग्रन्थगौरवं करोति ।

“ननु च ‘बालया वा युवत्या वे’त्यनेनोक्तमेवैतत्” ।

मैवम् । अन्यदेवास्वातन्त्र्यमन्या च रक्षा । तत्र चास्वातन्त्र्यमुदिष्टम्, इह तु रक्षोच्यते । अन्यतन्त्राया अपि शक्योऽनर्थः प्रतिहन्तुम् ।

“ननु चेहापि पठ्यते ‘न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीति’ ।”

उच्यते । नानेन सर्वक्रियाविषयमस्वातन्त्र्यं विधीयते, किंतर्हि, नास्वतन्त्राऽन्य-मनस्का स्वात्मसंरक्षणाय प्रभवति शक्तिविकलत्वात्स्वतः । पञ्चमे तु वचनमस्वातन्त्र्यार्थ-मर्थान्तरस्य तत्रोक्तत्वात् ॥३॥

हिन्दी—स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है और

वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं; स्त्री स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है । (पति-पुत्रहीन स्त्री की रक्षा युवावस्था में पिता आदि स्वजन भी कर सकते हैं, अतएव युवावस्था में पति का रक्षा करना प्रायिक समझना चाहिये) ॥३॥

पिता-पत्यादि के निन्दनीय होने का कारण—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्यतिः ।

मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥४॥

भाष्य—दानकाले प्राप्ते यदि पिता न ददाति + + + + + यः । कः पुनः कन्याया दानकालः । ‘अष्टमाद्वर्षात्प्रभृति प्रागृतोरिति’ स्मर्यते । इहापि लिङ्ग-मस्ति + + + + + तिः । अनुपयन्नगच्छन्नरमयन्भार्याभि-निघ्नः । उपगमने कालश्च ऋतुः सद्रतस्य पर्ववर्ज्यमित्युक्तः ॥४॥

हिन्दी—समय पर (ऋतुमती होने के पूर्व) नहीं देने (विवाह नहीं करने) वाला पिता निन्दनीय है, समय पर (ऋतुमती होने पर शुद्धि के बाद) सम्भोग नहीं करने वाला पति निन्दनीय होता है और पति के मर जाने पर माता की रक्षा नहीं करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥४॥

अरक्षित स्त्रियों से हानि—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रिया रक्षया विशेषतः ।

द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥५॥

भाष्य—प्रसङ्गः कुसंपर्कः । यया कदाचिदविज्ञातशीलया + + + + + न बालेन वा गृहद्वारावस्थानादिनोज्वलवेषपुरुषदर्शनशीलयेत्येवामादय उच्यन्ते । अर्थाच्चित्त-चलने + + + + + क्षयत्वं चैषाम् । नैते किल साक्षादोषरूपाः । न हि साक्षात्स्त्री-सम्पर्कः स्त्रियो दोषरूपाः + + + + + सूक्ष्ममादित्युच्यते । ततो रक्षयाः निवारणीयाः । विशेषतः प्रयत्नेन निवारणे दारदः + + + + + तश्च । सर्वैस्तत्कुलीनैर्भ्रातृपितृव्यदेवराद्यै रक्षितव्या इति सिद्धं भवति । न तत्रा + + + + + ॥५॥

हिन्दी—साधारणतम प्रसङ्गों, (दुःशीलता-सम्पादक अवसरों) से स्त्रियों को विशेष रूप से बचाना चाहिये; क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ दोनों (पिता तथा पति के) कुलों को सन्तप्त करती हैं ॥५॥

स्त्री-रक्षा से आत्मा की रक्षा—

[भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥१॥]

[हिन्दी—स्त्री की रक्षा करने पर सन्तान सुरक्षित होती है तथा सन्तान के सुरक्षित होने पर आत्मा सुरक्षित होता है ॥१॥]

दुर्बल पत्यादि को भी स्त्री-रक्षा करना आवश्यक—

इमं हि सर्ववणानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।

यतन्ते रक्षितुं भार्या भर्तारो दुर्बला अपि ॥६॥

भाष्य—चातुर्वर्ण्यस्य एष उत्तमो + + + + + पश्यन्तो जानानाः दुर्बला अपि भर्तारो भार्या रक्षितं यतेरन्प्रयत्नं कुर्युः । लिङ्गैर्भवन्ती । यत + + + + + वस्त्वनिजगुप्तीतमतरेयत्तत्र मणा-परिवृत्तं बहिराविरोद्भिजातं वधूवपुरहोस्तयेऽतिरागात् । अ + + + + + क्षाभाय कियञ्चित्रियमेनवतिद्युमानाराजकुलमाश्रयादिना रक्षितव्या ॥६॥

हिन्दी—(ब्राह्मण-क्षत्रियादि) समस्त वर्णों के इस उत्तम धर्म को देखते हुए दुर्बल (अन्धे, लंगड़े, रोगी, निर्धन आदि) पति भी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं ॥६॥

स्त्री-रक्षा से सन्तानादि की रक्षा—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।

स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्ति रक्षति ॥७॥

भाष्य—न केवलं शास्त्रोपदेशादेव स्त्रीरक्षा कर्तव्या, यावदिमानि बहूनि प्रयोजनानि । प्रसूतिरपत्यं पुत्रदुहितृलक्षणाम् । सङ्करो न भवतीत्यर्थः । चरित्रं शिष्टा-समाचारः । कुलं पूर्वोक्तम् । कस्यापि सत्कुलस्य भ्रष्टशीलायां भार्यायां दोषः सर्वं कुलमुप-तिष्ठतीति—न साध्यः स्त्रिय एतेषामिति । अथवा पितृपितामहादीनां संततिशुद्ध्यभावा-दौर्ध्वदैहिकस्यानिवृत्ते रक्षा स्यात् । आत्मानम् । प्रसिद्धमुपपतिनाऽवश्यं हन्यते भार्ययैव वा विषादिना । स्वं च धर्मम् । व्यभिचारिण्या धर्मानधिकारात् । अतो जायां रक्षिता सर्वमेतद्रक्षति ॥७॥

हिन्दी—(प्रयत्नपूर्वक) स्त्री की रक्षा करता हुआ मनुष्य अपनी सन्तान, आचरण, कुल, आत्मा और धर्म—इनकी रक्षा करता है; (इस कारण स्त्रियों की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिये ॥७॥

‘जाया’ शब्द का अर्थ—

पतिभार्या सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥

भाष्य—अर्थवादाऽयम् । न च पत्या पत्या उदरे प्रवेशदर्शनम् । अतः शरीर-

सारभूतशुक्रद्वारेण गुणवादतः प्रवेशोऽयमुच्यते । “आत्मा वै पुत्रनामासीति” — एतदेव जायाशब्दस्य भार्यावचनत्वे प्रवृत्तिनिमित्तम् । यतोऽस्यां पतिर्जायते । अपत्यजन्मनिमित्ते जायाशब्दे जायस्यापि जायोच्यते ॥८॥

हिन्दी—पति वीर्यरूप से स्त्री में प्रवेशकर गर्भ होकर पुत्ररूप से उत्पन्न होता है, जाया (स्त्री) का वही जायात्व (स्त्रीपन) है; जो इस (स्त्री) में (पुत्र रूप से पति) पुनः उत्पन्न होता है ॥८॥

पत्यनुकूल सन्तानोत्पत्ति—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।

तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्रयत्नतः ॥९॥

भाष्य—“स्वां प्रसूतिमिति” (श्लो० ७) यदुक्तं तददर्शयति । न चैवं मन्तव्यं— यादृशं ‘द्वितीयं पुरुषं सेवेत सुतं सूते पुत्रं जनयति तथाविधजातीयम्’ । नापि गुणसादृश्य-मभिप्रेतम् । यतः शुद्रादिजातस्य चण्डालादिजातित्वम् । समानजातीयजातस्यापि नैव तज्जातीयत्वं— “पत्नीष्वक्षतयोनिष्विति” वचनात् । गुणसादृश्येऽपि विशीलदरिद्रपति-काया उत्कृष्टपुरुषगमनमनुज्ञां स्यात् । यदा त्वयमर्थवादस्तदा यादृशं तथाविधमित्यकुला-नुरूपमिति नीयते ॥९॥

हिन्दी—स्त्री जिस प्रकार के (शास्त्रानुकूल या शास्त्रप्रतिकूल) पति का सेवन (सम्भोग) करती है, उसी प्रकार के (श्रेष्ठ या नीच) सन्तान को उत्पन्न करती है, अतएव स्त्री की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

बलात्कार से स्त्री-रक्षा की असम्भवता—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।

एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

भाष्य—वक्ष्यमाणोपायप्रशंसार्थः श्लोकः । प्रसह्य बलेनावष्टभ्य शुद्धान्तावरो-धादिना परपुरुषादिनिष्कासनादिना न शक्या रक्षितुम् । किंत्वेतैरुपाययोगैः शक्याः । ‘योगाः’ प्रयोगाः । ‘उपायैः’ प्रयुज्यमानैरित्यर्थः ॥१०॥

हिन्दी—कोई (पिता, पति, पुत्रादि) बलात्कार कर स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन (आगे कहे जाने वाले) उपायों से उन (स्त्रियों) की रक्षा की जा सकती है ॥१०॥

स्त्री-रक्षा के उपाय—

अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।

शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥११॥

भाष्य—अर्थो धनम् । तस्य संग्रहः संख्यादिना परिच्छिद्य रक्षार्थं वेश्मनि निधानं रज्ज्वायसबन्धादिना संयम्य स्थापनं मुद्राङ्कमित्येवमादि । **व्ययो** विसर्गस्तस्यैव—इदमेतावद्भक्तार्थमिदं च सूपार्थमेतावच्छाकार्थमिति । **शौचं** दर्विपिठरादिशुद्धिभूमिलेपनादिश्च । **धर्म** आचमनोदकतर्पणादिदानं स्त्रीवासगृहकादौ बलिकुसुमविकारैर्देवार्चनम् । **अन्नपक्तिः** प्रसिद्धा । **पाणिणाहं** विस्यासंदीखट्वादि । तत्प्रत्यवेक्षणेनियोक्तव्या ॥११॥

हिन्दी—(पिता, पति या पुत्रादि अभिभावक) उस (स्त्री) को धन के संग्रह, व्यय, वस्तु तथा पदार्थों की शुद्धि, पति तथा अग्नि की सेवा (पति एवं गुरुजन की शुश्रूषा तथा अग्निहोत्र कर्म), घर तथा घर के वर्तन आदि की सफाई में नियुक्त करे ॥११॥

धर्मज्ञान द्वारा स्त्री-रक्षा—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

भाष्य—आप्तं प्राप्तं काले कुर्वन्त्याप्तकारिणोऽवधानवन्त उच्यन्ते शुद्धान्ताधिकारिणः । कञ्चुकिनः । तैः स्वे गृहे रुद्धाश्चास्वतन्त्रीकृता यथेष्टविहारनिषेधेन रक्ष्यमाणा न रक्षिता भवन्ति । किंत्वात्मनाऽऽत्मानं रक्षन्ति । “ताः कथं रक्षन्ति” । यद्येतेषु कार्येषु नियुज्यन्ते ।

उक्तोपायप्रशंसा नोपायान्तरनिषेधः ॥१२॥

हिन्दी—(यदि स्त्रियाँ धर्मविरुद्ध बुद्धि होने से अपनी रक्षा स्वयं नहीं करती तो) आप्त एवं आज्ञाकारी पुरुषों से घर में रोकी गयी भी वे स्त्रियाँ अरक्षित हैं, जो स्त्रियाँ धर्मानुकूल बुद्धि होने से अपनी रक्षा स्वयं करती हैं, वे ही सुरक्षित हैं (अतः पति आदि अभिभावकों को चाहिये कि धर्म का सफल बतलाकर उन्हें संयम में रहने का उपदेश दें) ॥१२॥

स्त्रियों के छः दोष—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट् ॥१३॥

भाष्य—अटनमापणभूमिषु अन्नशाकादिक्रयार्थम् । देवतायतनेषु च । ज्ञातिकुले बहूनि दिनान्यवस्थानम् **अन्यगेहवासः** । **नारीसन्दूषणानि** । स्त्रीणामेते चित्तसंशोभहेतवः । एता हि श्वशुरादिभयं जनापवादभयं च त्यजन्ति ॥१३॥

हिन्दी—(मद्यादि मादक द्रव्यों का) पीना (या प्रकारान्तर से सेवन करना), दुष्टों का संसर्ग, पति के साथ विरह, इधर-उधर घूमना, (असमय में) सोना और दूसरे के घर में निवास करना—ये स्त्रियों के छः दोष हैं (अतएव इनसे इन स्त्रियों को बचाना चाहिये) ॥१३॥

स्त्रियों का स्वभाव—

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥१४॥

भाष्य—नायमभिमानो वोढव्यः—सुभगः स्वाकृतिस्तरुणोऽयं मां हित्वा कथ-
मन्यं कामयिष्यते । यतो नैता दर्शनीयोऽयं शूराकृतिरयमित्येव विचारयन्ति । **पुमानय-**
मित्येतावतैव भुञ्जते संयुज्यन्ते तेन ॥१४॥

हिन्दी—ये (स्त्रियाँ पुरुष के) सुन्दर रूप की परीक्षा नहीं करती, युवावस्था आदि में
आदर (विशेष चाहना) नहीं करतीं, किन्तु ‘पुरुष है’ इसी विचार से सुन्दर या कुरूप पुरुष
के साथ सम्भोग करती हैं ॥१४॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।

रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥१५॥

भाष्य—यस्मिन्कस्मिंश्च पुंसि दृष्टे धैर्याच्चलनं—कथमनेन सम्प्रयुज्येयेति—चेतसो
विकारः स्त्रीणां—**तस्पांश्चल्यम्** । अन्यत्रापि धर्मादौ कार्येऽस्थिरता **चलचित्तत्वम्** । य
एव द्वेष्यः स एव स्पृह्यत इति भ्रातृपुत्रादिर्यो दृष्टस्तस्मा एव कामुकत्वेन स्पृहयन्ति स्नेहो
रागस्तृष्णा च भर्तरि पुत्रादौ मानविरुद्धहृदया भवन्ति ।

एतैर्दोषैर्योगाद्विकुर्वते विक्रियां भर्तृषु गच्छन्ति ॥१५॥ तस्मात्—

हिन्दी—व्यभिचारिता (सम्भोगादि की अतिशय इच्छा होने) से चित्त की चञ्चलता
से और स्वभावतः स्नेह का अभाव होने से यत्नपूर्वक (पति आदि के द्वारा) सुरक्षित
भी ये (स्त्रियाँ व्यभिचारादि दोष से) पतियों में विकृत (विपरीत प्रकृति वाली) हो
जाती हैं ॥१५॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।

परमं यत्रमातिष्ठेत्युरुषो रक्षणं प्रति ॥१६॥

भाष्य—प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । तदीये निसर्गे सृष्टिकाले जातम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥१६॥

हिन्दी—ब्रह्मा की सृष्टि से ही इनका ऐसा स्वभाव जानकर पुरुष इनकी रक्षा के लिए
विशेष यत्न करे ॥१६॥

शय्यासनमलङ्कार कामं क्रोधमनार्यताम् ।

द्रोघृभावं कुचर्या च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥१७॥

भाष्य—शय्या शयनं स्वप्नशीलत्वम् । आसनमनभ्युत्थानशीलता । अलङ्कारः
शरीरमण्डनम् । कामं पुरुषोपभोगस्पृहा । क्रोधो द्वेषः । अनार्यता स्निग्धेऽपि द्वेषो

द्विष्टेऽपि स्नेहः, आकारसम्बरणं, निर्द्धर्मता । द्रोग्धृभावः । द्रोग्धृत्वं भर्तृपित्रादेः द्रुहेः कर्तरि तृचा भावशब्देन समासः । कुचर्या नीचपुरुसेवनम् ।

एष स्वभावः स्त्रीणां मनुना सर्गादौ कल्पितः । शय्यासनालङ्कारा द्रोहकुचर्ययोर्दृष्टान्तत्वेनोपादीयन्ते । यथैते पदार्थाः स्वभावभूता अविचालिता एवं कुचर्यादयोऽपि ॥१७॥

हिन्दी—शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण—इनको स्त्रियों के लिए मनु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही बनाया (अत एव यत्नपूर्वक इनसे स्त्रियों को बचाना चाहिये) ॥१७॥

स्त्रियों की समन्त्र क्रिया का निषेध—

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।

निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥१८॥

भाष्य—केचिदेवं मन्यन्ते—‘सत्यपि प्रमदाव्यभिचारे वैदिकेन जापेन रहस्यप्रायश्चित्तादिना शुद्धिमाप्स्यन्ति ततो नास्ति दोष इति’ । तत्र । न हि स्त्रीणां मन्त्रैः क्रिया जपोऽप्यस्ति । येन वृत्तव्यतिक्रमेऽप्रख्यातैः स्वत एव वैदुष्याच्छुद्धिमाप्नुवन्ति । तस्माद्यत्नतो रक्ष्या इत्येतच्छेषमेवैतत् । अतो ये केचिदविशेषेण मन्त्रप्रतिषेधोऽयमिति वर्णयन्ति—ततश्च प्रतिषेधं मन्यमाना यत्किञ्चित् स्त्रीसम्बन्धि कर्म येन केनचित् क्रियते तत्र सर्वत्र यत्र स्त्रियः कर्तृतया सम्बध्यन्ते सायंबलिहरणादौ तथा संस्कार्यतया चूडादिषु सम्प्रदानतया श्राद्धादौ,—तत्र सर्वत्र मन्त्रप्रतिषेधादमन्त्रकं स्त्रीणां श्राद्धादि कार्यमिति—तेऽयुक्तवादिनोऽन्यपरत्वादस्य । अर्थवादतया यदस्ति तदालम्बनं न्यायेन विहितप्रतिषेधमन्त्रसम्बन्धमन्त्रचूडासंस्कारापेक्षं व्याख्येयमेतत् । अध्ययनाभावाच्च प्रायश्चित्तमन्त्रजपाभावः ।

निरिन्द्रियाः । ‘इन्द्रियं’ वीर्यं धैर्यप्रज्ञाबलादि तासां नास्त्यतोऽनिच्छन्त्योऽपि कदाचित्पापाचारैर्बलेनाक्रम्यन्ते । ततो रक्षितुं युक्ताः । **स्त्रियोऽनृतमिति** । शीलस्नेहयोरस्थिरत्वादनृतवचनेन निन्द्यन्ते ॥१८॥

हिन्दी—इन (स्त्रियों) का जातकर्मादि संस्कार (वेदोक्त) मन्त्रों से नहीं होता, यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है; धर्मप्रमाण-श्रुति स्मृति से हीन और पापनाशक (वेदोक्त अघमर्षणादि) मन्त्रों के जप का अधिकार नहीं होने से पापयुक्त वे (स्त्रियाँ) असत्य के समान अपवित्र हैं यह शास्त्र की मर्यादा है (अतएव इनकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये) ॥१८॥

व्यभिचार-प्रायश्चित्त—

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।

स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥१९॥

भाष्य—स्वभावतोऽशुद्धहृदयाः स्त्रिय इत्यस्मिन्नर्थे वैदिकानि मन्त्रार्थवादरूपाणि

वाक्यानि साक्षित्वेनोपन्यस्यति । तथा च यथा मयोक्तं ‘स्त्रियोऽनृतम्’ इति तथैव निगमेषु वेदेषु श्रुतयः सन्ति । निगमशब्दो वेदपर्यायो दृष्टप्रयोगश्च । निगमो वेदार्थव्याख्यानाङ्ग-वचनोऽप्यस्ति—‘निगमनिरुक्तव्याकरणान्यङ्गानीति’ निरुक्ते हि प्रयोगो—‘निगमा इमे भवन्तीति’ । तस्येह श्रुतिग्रहणाद्वा वक्ष्यमाणोदाहरणाच्चासम्भवः । अतो वेदवचनो निगम-शब्द इह गृह्यते । समुदायावयवभेदोच्चाधाराधेयभावः । तेषु निगमेषु श्रुतयः एकदेश-भूतानि वाक्यानि निगीता अधीताः संशब्दिताः पठ्यन्त इति यावत् । नित्य प्रवृत्ते च कालाविभागादि निरुक्तम् ।

पाठान्तरम् ‘निगदा’ इति । ‘निगदा’ मन्त्रविशेषाः । श्रुतयो ब्राह्मणवाक्यानि । मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चायमर्थो दर्शितो यदनृता स्त्रिय इति । बह्व्यस्ताः संतीत्यस्मिन्पक्षेऽध्या-हाराः । तासां श्रुतीनां या या निष्कृतिरूपा व्यभिचारप्रायश्चित्तभूतास्ताः शृणुत । किमर्थमुदाह्रियन्त इति चेत्स्वालक्षण्यपरीक्षार्थम् । ‘स्वलक्षणं’ नित्यसन्निहितस्वभाव-स्तत्प्रतिपादनार्थम् । अङ्गदकुण्डलादि यत् लक्षणं तत्परिभूतमिदं ‘स्वलक्षणं’ स्वभाव इत्यर्थः । एतदासां ‘स्वलक्षणं’ यदव्यभिचारात्मकम् ॥१९॥

हिन्दी—(स्त्री-स्वभाव को व्यभिचारशील बतलाकर अब उसमें प्रमाण कहते हैं—) और शास्त्रों में बहुत-सी श्रुतियाँ (‘न चैतद्विद्यो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वा’ इत्यादि वेदवाक्य) व्यभिचार की परीक्षा के लिए पढ़ी गयी हैं, उनमें से (प्रायश्चित्तरूप) एक श्रुति को (आप लोग) सुनें ॥१९॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।

तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥२०॥

भाष्य—इतिकरणान्तेन पादत्रयेण मन्त्रैकदेशोऽनुकृतः ।

यन्मे माता अपतिव्रता—‘पत्युरन्यपुरुषे न कामश्चेतसापीति’ यस्या ‘व्रतं नियमः सा ‘पतिव्रता’ । तद्विपरीताऽपतिव्रता । विचरन्ती परगृहान्गच्छन्ती । तत्रोज्ज्वलवेषं दृष्ट्वा प्रलुलुभे । लोभं स्पृहामन्यपुरुषं प्रति कृतवती । तत्पापं ममोत्पत्त्या मत्पितुः सम्बन्धि यद्रेतः शुक्रं तद्वृङ्क्तामपनुदतु । तद्रेतसा स दोषोऽपमृज्यताम् । पितेति षष्ठी स्थाने प्रथमा व्यत्ययेन । अथवा रेत एव पितृत्वेन परिकल्प्यते । अपरित्यक्तस्वलङ्ग एव रेतसा सामानाधिकरण्यमनुभवति । “द्यौर्मे पितेति” (ऋग्वेदे २।३।२०) यथा । अथवा मातृ-बीजमप्युच्यते ‘रेतः’ । तद्रेतः पिता जनको वृङ्क्तां शोधयताम् । पितृजबीजप्रभावेन मातृदोषोऽपनुद्यतामित्यर्थः ।

अस्य व्यभिचारात्मकस्यैतन्निदर्शनं दृष्टान्तः । सर्वे जपमाना एतं मन्त्रमुच्चार-यन्ति । यदि च सर्वाः स्त्रियो दुष्टस्वभावास्ततो मन्त्रस्य नित्यवत्प्रयोगोपपत्तिः । इतरथा

पाक्षिकः स्यात् । चातुर्मास्येष्वयं मन्त्रो विनियुक्तः (आपस्तम्ब श्रौत० १।९९) पाद्यानु-
मन्त्रणे च श्राद्धे (शांखायन गृह्य० ३।१३।५) ॥२०॥

हिन्दी—‘दूसरे के घर में विचरण करती (जाती) हुई मेरी माता अपतिव्रता होती हुई परपुरुष के प्रति लोभयुक्त अर्थात् आकृष्ट हुई, उस (परपुरुष सङ्कल्प) से दूषित माता के रजोरूप वीर्य को मेरे पिता शुद्ध करें’ यही पादत्रय स्त्री के व्यभिचार का उदाहरण है ॥२०॥

विमर्श—मानसिक, वाचिक या कायिक इच्छामात्र से भी परपुरुष-सम्भोग पाति-
व्रत्य धर्म को नष्ट करता है, इस सिद्धान्त से दूसरे पुरुष के लिए मानसिक पाप करने-
वाली माता को जानकर उसका पुत्र इस मन्त्र द्वारा उसकी शुद्धि की कामना करता है,
ऐसा समझना चाहिए ।

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।

तस्यैष व्यभिचारस्य निह्वः सम्यगुच्यते ॥२१॥

भाष्य—पाणिग्रहो भर्ता । तस्य चेतसा यदनिष्टमप्रियं परपुरुषसम्पर्कादिकं स्त्री
चिन्तयति तस्या मानसस्य व्यभिचारस्य निह्वः शुद्धिरनेन मन्त्रेण कर्मणि नियुक्तेनो-
च्यते । प्रसङ्गान्मन्त्रप्रयोजनं दर्शितम् । यद्यपि कर्मगुणतैव कर्माङ्गमन्त्रप्रयोजनं तथापि
जपादौ विनियोगान्मानसव्यभिचारनिवृत्त्यर्थताऽप्युच्यते ॥२१॥

हिन्दी—स्त्री परपुरुष-गमनरूप जो पति का अहित मन से सोचती है, उसी मानसिक
व्यभिचार को शुद्ध करने वाला यह मन्त्र मनु आदि महर्षियों ने कहा है।

विमर्श—‘अन्ये माता.....’ (९/२०) में ‘माता’ शब्द के कहने से यह
प्रायश्चित्त मन्त्र पुत्र के लिए ही है, माता के लिए नहीं ।

पतिगुणानुकूल स्त्री गुण होना—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।

तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥२२॥

भाष्य—भार्यासंरक्षणकामेन दौःशील्यादात्मा रक्षितव्यः । नाप्येतयैव केवलया ।
यतो दुःशीलस्य भार्याऽपि तथाविधैव भवति, गुणवतः शीलवती । यथा समुद्रेण निम्नगा
नदी संयुज्यमाना क्षारोदका भवति मधुररसापि सती ॥२२॥

हिन्दी—स्त्री जैसे गुण वाले (सद्गुणी या दुर्गुणी) पति के साथ विधिवत् विवाहित
होती है, वह समुद्र में मिली हुई नदी के समान वैसे ही गुणवाली (सद्गुणी पति के साथ
सद्गुणवती और दुर्गुणी पति के साथ दुर्गुणवती) हो जाती है ॥२२॥

पतिसंसर्ग से स्त्री के श्रेष्ठ होने का दृष्टान्त—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२३॥

भाष्य—हीनजातीयाऽप्यक्षमाला वसिष्ठभार्या तत्संयोगादभ्यर्हणीयतां प्राप्ता । शारङ्गी तिर्यग्जातिः चटका मन्दपालेन मुनिना संयुक्ता तथैव पूज्या । अतो हीनजातीयाः कनीयस्योऽपि भूयो भर्तृवत्पूज्याः । तथा चोक्तं “वयसि स्त्रिय” इति ॥२३॥

हिन्दी—नीच योनि में उत्पन्न हुई ‘अक्षमाला’ नामक स्त्री वसिष्ठ से तथा ‘शारङ्गी’ नाम की स्त्री ‘मन्दपाल’ ऋषि से विवाहित होकर पूज्यता को प्राप्त हुई ॥२३॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नकृष्टप्रसूतयः ।

उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥

भाष्य—अवकृष्टा निकृष्टा प्रसूतिरुत्पत्तिर्यासां ता अवकृष्टप्रसूतयः । अन्याश्च गङ्गाकालीप्रभृतयः । द्वयोः प्रकृतत्वादेता इति बहुवचनं चशब्देन तृतीयामाक्षिप्य । द्विर्वचनं वा ‘एते च’ ॥२४॥

हिन्दी—इन (पूर्व श्लोकोक्त ‘अक्षमाला’ तथा ‘शारङ्गी’) और दूसरी (‘सत्यवती’ आदि) नीच कुलोत्पन्न स्त्रियों ने अपने-अपने पति के शुभ गुणों से श्रेष्ठता को प्राप्त किया है ॥२४॥

प्रजाधर्म-कथन—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।

प्रेत्येह च सुखोदकान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥२५॥

भाष्य—लोकयात्रा लोकवृत्तं लोकाचारः । लोकसिद्धमेतत् । नायं विधिलक्षणोऽर्थो यदेवं शक्यते रक्षितुं नान्यथेति—अपरिरक्षिताभिश्च ताभिः प्रसूत्यादिदोषो भवतीति ।

इदानीं प्रजाधर्मान्निबोधत । कस्य प्रजा बीजिनो वा क्षेत्रिणो वेति ।

उदकं आगामीकालः—स सुखो येषाम् । सर्वे हि वस्त्ववसाने विरमन्ते—ते तु नैवमिति प्रशंसा ॥२५॥

“ननु च का सुखोदकता प्रजाधर्मस्य । या च प्रजाऽस्याधीना स्त्रियश्च बहुभिर्दोषैरावृत्तवत्यागार्हाः को हि गृहे सर्वान्निभृयात्”—इत्येतन्निवृत्त्यर्थमाह—

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि मैंने) स्त्री-पुरुषों का सदा शुभ यह लोकाचार कहा, अब इस लोक में तथा परलोक में सुखदायक सन्तानों के धर्मों को (कहूँगा, उन्हें) आप लोग सुनें ॥२५॥

स्त्री-प्रशंसा—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

भाष्य—शक्यप्रतिविधानत्वाद्वोषाणां पूजार्हाः । यदेतद्वोषपञ्चनं तत्रावज्ञानार्थं परिवर्जनार्थं वाऽभिशास्तपतितादिवत् । किं तर्हि—रक्षार्थं दोषाणाम् । न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाली नाधिश्रियते । न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्त इति ।

प्रजनं गर्भग्रहणात्प्रभृत्यपत्यपरिपोषणपर्यन्तो व्यापारोऽभिप्रेतः । तथा च वक्ष्यति “उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्” इति (२७) । गृहे दीप्तय इव । न हि गृहे सेवा स्त्रीभिर्विना काचिदस्तीति सुप्रसिद्धमेतत् । सत्यपि श्रीविभवे भार्यायामसत्यां सुहृत्-स्वजनादिष्वागतेषु न गृहस्थाः प्रतिपुरुषं भोजनादिभिरावर्जयितुं समर्थाः । यथा दरिद्रे न भवति शक्तिः अतः स्त्रियः श्रियश्च न विशेषो गेहेष्विति ॥ २६ ॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) हे महाभाग (मुनियों)! सन्तानोत्पादन के लिए वस्त्राभूषण से आदर-सत्कार के योग्य घर की शोभारूपिणी ये स्त्रियाँ और लक्ष्मी (या-लक्ष्मियाँ = शोभाएँ) घरों में समान हैं (जिस प्रकार शोभा के बिना घर सुन्दर नहीं लगता उसी प्रकार स्त्री के बिना भी घर सुन्दर नहीं लगता, अतः श्री तथा स्त्री में कोई भेद नहीं) ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।

प्रत्यर्थं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ २७ ॥

भाष्य—स्त्री निबन्धनम् निमित्तम् । अपत्योत्पादनादौ प्रत्यक्षमेतत् । लोकयात्रा गृहा-गतानामन्नादिदानेनावर्जनमामन्त्रणनिमन्त्रणादि । अस्य प्रत्यर्थं सर्वस्मिन्नर्थे स्त्री निबन्धनम् ।

प्रत्यहमिति पाठः ।

प्रत्यक्षशब्दोऽन्तरङ्गवचनः । अन्तरङ्गमित्यर्थः ॥ २७ ॥

हिन्दी—सन्तानोत्पादन, उत्पन्न हुई सन्तान की रक्षा (पालन-पोषण) और प्रतिदिन के लोक-व्यवहार (अतिथि मित्रादि—भोजनादिरूप गृहप्रबन्ध) का मुख्य कारण स्त्रियाँ ही हैं ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि श्रुशूषा रतिरुत्तमा ।

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

भाष्य—प्राग्दर्शितार्थोऽयं श्लोकः ॥ २८ ॥

हिन्दी—सन्तान (को उत्पन्न करना), धर्मकृत्य (अग्निहोत्री यज्ञादि कार्य), श्रुशूषा

(पति, सास-श्वसुरादि गुरुजनों की सेवा) श्रेष्ठ रति और पितरों का तथा अपना (सन्तानोत्पादनादि द्वारा) स्वर्ग—ये सब स्त्रियों के अधीन हैं ॥२८॥

अव्यभिचार का सत्फल—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।

सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥२९॥

हिन्दी—जो (स्त्री) मन, वचन तथा काय (शरीर) को संयत रखती हुई पति का उल्लङ्घन (अनादर या परपुरुष-सम्भोग) नहीं करती; वह (मर कर) पतिलोकों को पाती है तथा (जीती हुई) इस लोक में सज्जनों से पतिव्रता कही जाती है ॥२९॥

व्यभिचार का कु-फल—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्दताम् ।

शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥३०॥

भाष्य—पञ्चमे श्लोकाविमौ व्याख्यातौ (५।१६४—१६५) ॥२९-३०॥

हिन्दी—स्त्री परपुरुष के संसर्ग से इस लोक में निन्दित होती है, (मरकर) शृगाल की योनि पाती (स्यारिन होती) है और (कुष्ठ आदि) पाप रोगों से पीड़ित होती है ॥३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।

विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥३१॥

भाष्य—उपन्यासो विचार्यवस्तुप्रक्षेपः । विचारो वा । तं निबोधत । पुत्रं प्रति पुत्रमधिकृत्योदितमुक्तम् । सद्भिर्विद्वद्भिर्महर्षिभिश्च । विश्वजन्यं सर्वेभ्यो जनेभ्यो हितम् । पुण्यं कल्याणकरम् ।

स्त्रीस्तुत्या व्यवधानात् ‘प्रजाधर्मं निबोधत’ इत्यस्यार्थस्यापि पुनरादरार्थमुपन्यासः उपन्यासं निबोधतेति ॥३१॥

हिन्दी—(महर्षियों से भृगुजी कहते हैं कि) श्रेष्ठ (मनु आदि) तथा प्राचीन महर्षियों ने पुत्र के विषय में सर्वहितकारी एवं पवित्र जो विचार कहा है, उसे (आप लोग) सुनें ॥३१॥

बीज तथा क्षेत्र का बलाबल—

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु कर्तरि ।

आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥३२॥

भाष्य—भर्ता उद्बोधा । विवाहसंस्कारेण संस्कृता येन या नारी तस्यां यस्तस्मा-देव जातस्तं पुत्रं तस्य विजानन्त्यभ्युपगच्छन्ति सर्व एव विद्वांसः । नात्र विप्रति-पत्तिः । सिद्धान्तोऽयम् ।

श्रुतिद्वैधं तु कर्तरि । यः कर्तैव केवलमुत्पादयिताऽन्यदीयक्षेत्रे न तूदोढा—तत्र श्रुतिद्वैधं मतभेदः, तं दर्शयति । आहुरुत्पादकमपत्यवन्तं केचित् । अपरे क्षेत्रिणम्—यस्य सा भार्या तस्यामनुत्पादकमपि ।

एवमाचार्यविप्रतिपत्तेः संशयमुपन्यस्य कारणकथनेन तमेव समर्थयते ॥३२॥

हिन्दी—पुत्र पति (भर्ता) का होता है (ऐसा मुनि लोग) मानते हैं, पति के विषय में दो प्रकार की श्रुति है (उनमें से पहली श्रुति यह है कि) कुछ मुनि पुत्रोत्पादक अविवाहित पति को भी उस पुत्र से पुत्री (पुत्रवाला) मानते हैं (तथा दूसरी श्रुति यह है कि) अन्य (मुनि लोग) विवाहकर्ता (परन्तु स्वयं पुत्रोत्पादन नहीं करनेवाले पति) को (अन्य पुरुषोत्पादित) पुत्र से पुत्री (पुत्रवाला) मानते हैं ॥३२॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।

क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥

भाष्य—क्षेत्रमिव क्षेत्रभूता नारी । ब्रीह्यादेरुत्पत्तिस्थानं भूमिभागः क्षेत्रं, तत्तुल्या नारी । यथा क्षेत्रे बीजमुप्तं तत्र विध्रियमाणं जायते एवं नार्यामपि निषिक्तं रेतः । बीजभूत एव पुमान् । अत्रापि भूतशब्द उपमायाम् । तदीयं रेतो 'बीजं' न साक्षात्पुमान्—तदधिकरणत्वात् तथावद्व्यपदिश्यते । समायोगः सम्बन्ध आधाराधेयलक्षणः । ततः सम्भव उत्पत्तिः सर्वदेहिनां शरीरिणाम् । चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स्वेदजानामप्याकाशः क्षेत्रं, बीजं स्वेदः । अतो युक्तः संशयः । उभयमन्तरेण सम्भवानुपपत्तेः । अपत्योत्पत्तौ उभयोर्व्यापारः । विनिगमनाय च हेत्वभावात्कस्य तत्—उभयोः अथान्यतरस्येति संदेहः ।

सर्वस्य च प्रकरणस्यायमर्थो नानुमा र्छिच्छेद्योऽपत्यापत्यवद्भावः । तथा च विभाग-श्लोके वक्ष्यामः ॥३३॥

हिन्दी—स्त्री क्षेत्ररूप (धान्य बोने के खेततुल्य) है और पुरुष बीजरूप (धान्यादि के बीजतुल्य) है । क्षेत्र तथा बीज (स्त्री-पुरुष) के संसर्ग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३३॥

विमर्श—यहाँ पर क्षेत्र तथा बीज दोनों का कारणत्व विवक्षित होने से उक्त युक्ति उचित ही है; क्योंकि जिसका खेत होता है; वही किसी दूसरे के द्वारा बोए गये बीज से उत्पन्न धान्यादि का स्वामी होता है, अथवा दूसरे के खेत में जो बीज बोता है, वह भी उस बीज से उत्पन्न धान्यादि का स्वामी होता है । इसी प्रकार क्षेत्ररूपा स्त्री तथा बीजरूप पुरुष से उत्पन्न धान्यरूप पुत्र का स्वामी होने के विषय में भी जानना चाहिये यद्यपि पुरुष का वीर्य (शुक्र) है पुरुष नहीं, तथापि वीर्याधिकरण होने से पुरुष को बीज कहा गया है ।

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।

उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥३४॥

भाष्य—बीजस्य वैशिष्ट्यं व्यासऋष्यशृङ्गादीनां महर्षीणां दृष्टम् । स्त्रीयोनिस्त्वेव क्षेत्रजादिपुत्रेषु धृतराष्ट्रादिषु । ब्राह्मणाज्जाता अपि मातृजातयः क्षत्रियास्ते । उभयं तु समं एकस्वामिकमेकजातीयं समम् । सा प्रसूतिः प्रशस्यते विप्रतिपत्त्यभावात् तदुक्तमेतत्—“भर्तुः पुत्रं विजानन्तीति” ॥३४॥

हिन्दी—कहीं पर बीज प्रधान है और कहीं पर क्षेत्र प्रधान है । जहाँ पर बीज तथा क्षेत्र (पुरुष तथा स्त्री—दोनों) समान हैं अर्थात् उन दोनों के मध्य में तीसरा कोई नहीं है । वह सन्तान श्रेष्ठ मानी जाती है ॥३४॥

विमर्श—बृहस्पति की स्त्री ‘तारा’ में चन्द्रमा से उत्पन्न ‘बुध’ चन्द्रमा के पुत्र हैं तथा व्यास और ऋष्यशृङ्ग भी दूसरे की स्त्री में उत्पन्न होकर भी उत्पन्न करनेवाले पिता के ही पुत्र माने जाते हैं; अतएव ऐसे स्थलों में बीज को प्रधान समझना चाहिये । इसके विपरित विचित्रवीर्य की स्त्री में ब्राह्मण (द्वैपायन-व्यासजी) से उत्पन्न धृतराष्ट्र तथा पाण्डु क्षेत्र स्वामी (विचित्रवीर्य) के ही माने जाते हैं, अतएव ऐसे स्थलों में क्षेत्र को प्रधान समझना चाहिये ।

बीज-प्राधान्य—

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।

सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥३५॥

भाष्य—एवमुपपादिते संशये बीजप्राधान्यपक्षं पूर्वं परिगृह्णाति । तत्प्राधान्याद्यस्य बीजं तस्यापत्यम् । तस्य च प्राधान्यं ब्रीह्यादेर्द्रव्यस्य क्षित्याद्यनेककारणत्वेऽपि तद्धर्मानुविधानदर्शनात् । अतश्च स्फुटमदृष्टबीजानुविधानस्यापत्यस्य कार्यत्वाद् ब्रीह्यादीनामिव तद्धर्मानुविधायित्वं युक्तमभ्यपगंतुम् । तथाहि सर्वत्र कार्य ऐक्यरूप्यं न त्यक्तं भवति । तथा च बीजे प्राधान्यं तद्दर्शयति सर्वभूतप्रसूतिर्हि । सर्वेषां भूतानां प्रसूतिरुत्पत्तिर्बीजलक्षणलक्षिता । बीजस्य यल्लक्षणं रूपदर्णसंस्थानादि तेन लक्षिता चिह्निता तद्रूपा-नुविधायिनीति यावत् ॥३५॥

हिन्दी—बीज तथा क्षेत्र में बीज ही श्रेष्ठ कहा जाता है । अतएव सब जीवों की सन्तान बीज के लक्षणों से युक्त ही उत्पन्न होती है ॥३५॥

बीज प्राधान्य में दृष्टान्त—

यादृशं तूच्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।

तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥३६॥

भाष्य—अनन्तरस्यैवार्थविस्तरत्वेन श्लोकोऽयं वक्रान्वयप्रदर्शनेन । यादृशं शब्द-

स्यार्थं व्याख्यास्यति (३९) 'ब्रीह्यः शालय' इत्यादिना। कालोपपादिते— काले वर्षादौ वपनकाले उपपादिते कृष्टसमीकरणादिना संस्कृते। ताद्वग्रोहति जायते। स्वैर्गुणैर्वर्ण-संस्थानरसवीर्यादिभिर्गुणैः व्यञ्जितं परिदृश्यरूपम् ॥३६॥

हिन्दी—समय पर जोते तथा सींचे गये खेत में जैसा (जिस जातिवाला) बीज बोया जाता है, अपने गुणों से वह बीज उस खेत में वैसा (अपनी जाति के समान) ही उत्पन्न होता है ॥३६॥

क्षेत्र के अप्राधान्य में दृष्टान्त—

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।

न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७॥

भाष्य—बीजगुणानुवृत्तिः पूर्वोक्तोक्ता। अनेन क्षेत्रगुणानामभावमाह। एषा भूमि-भूतानां स्थावराणामोषधीतृणगुल्मलतानां योनिः क्षेत्रमुच्यते। न च तद्गुणास्तेषु भूतेषु केचन दृश्यन्ते। न मृदः। पांसवो वा तत्रोपलभ्यन्ते।

बीजं पुष्यति पुष्टिषु। बीजशब्दोऽत्राङ्कुरनिर्गतब्रीह्यादिवचनो न मूलवचनः। तदपि हि पुनरुपभुक्तशेषमुप्यमानमपरस्मिन्वत्सरे भवत्येव बीजम्। तन्न पुष्यति नानुवर्तते। पुष्ट्यङ्गभूतायामनुवृत्तौ पुष्यतिर्वर्तमानः। सकर्मकत्वं द्वितीयानिमित्तम्। **योनिगुणान्-**प्राप्नोति वा भजते। **पुष्टिषु** तदवयवेषु। यदि पुष्ट्यङ्गाऽनुवृत्तिराख्यातेनोच्यते पुष्टिष्वित्य-नर्थकम्। तस्मादनेकार्थत्वाद्भातूनामन्यवचनमात्र एवाख्यातेनानुव्याख्येयः।

श्लोकपूरणार्थं वा **पुष्टिष्विति**। कथञ्चित्पौनरुक्त्यं परिहार्यम्। सामान्यविशेषभावेन वाऽन्वयो वक्तव्यः। 'स्वपोषं पुष्ट' इति यथा ॥३७॥

हिन्दी—यह भूमि भूत (क द्वारा आरब्ध वृक्ष, लता, गुल्म आदि) की नित्य (अनादि कालगत) क्षेत्ररूप कारण कही गयी है, किन्तु कोई बीज योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के किन्हीं गुणों को अपने अङ्कुर आदि में धारण नहीं करता; (अतएव योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के गुण का बीज के द्वारा अनुवर्तन नहीं होने से क्षेत्र की प्रधानता नहीं होती है) ॥३७॥

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः।

नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

भाष्य—अनन्तरोक्तोऽर्थ उदाहरणेन व्याक्रियते। **एककेदारे**—'अपि'रत्र योजनीयः। एकस्मिन्नपि क्षेत्रे भूमेः। **काले**। यस्य बीजस्य यो वैकः कालस्तस्मिन् **उप्तानि** कर्षकैः **भिन्नरूपाणि जायन्ते बीजानि** स्वभावानुविधानादित्यर्थः। यदि च क्षेत्रे प्राधान्यं स्यात्क्षेत्र-स्येकत्वात्सर्वाण्येकरूपाणि स्युः ॥३८॥

हिन्दी—भूमि में किसानों के द्वारा एक खेत में भी समय-समय पर बोये गये

(विभिन्न जातीय) बीज अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपवाले उत्पन्न होते हैं (भूमिका एक रूप होने पर भी बीजों का एक रूप नहीं होता, अत एव बीज को ही प्रधान मानना चाहिये ॥३८॥

ब्रीहयः शालयो मुद्रास्तिला मापास्तथा यवाः ।

यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥३९॥

भाष्य—तानि नानारूपत्वेन बीजानि दर्शयति । **यथाबीजम्** बीजस्वभावाभिपत्या । सर्वत्र जात्याख्यायां बहुवचनम् ॥३९॥

हिन्दी—ब्रीहि (साठी धान), शालि (अगहनी धान), मूँग, तिल, उड़द, यव, लहसुन तथा गन्ना ये (अनेक प्रकार के) बीज खेत में उत्पन्न होते हैं ॥३९॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।

उप्यते यद्धि यद्वीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥४०॥

भाष्य—एष एवार्थः शब्दान्तरेण निगम्यते । मुद्गेषूप्लेषु ब्रीहयो जायन्त इत्येतन्नास्ति । प्रतिषेधमुखेनोक्तय विधिमुखेन पुनः प्रतिपादनमुच्यते **यद्धि यद्वीजम्** ॥४०॥

हिन्दी—दूसरा (बीज) बोया गया और दूसरा (उससे भिन्न) ही उत्पन्न हो गया, ऐसा कभी भी नहीं हुआ, किन्तु जो बीज बोया जाता है, वही बीज उत्पन्न होता है ॥४०॥

विमर्श—उपर्युक्त (९।३६-४०) दृष्टान्त से क्षेत्र तथा बीज के गुणों के अनुसार स्त्री-पुरुषों में भी बीज (पुरुष) को ही प्रधान समझना चाहिये ।

पर-स्त्री में बीजवपन का निषेध—

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।

आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥४१॥

भाष्य—एवं पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह—क्षेत्रप्राधान्यमनेनोच्यते ।

“ननु च नात्र क्षेत्रप्राधान्याभिधायकं किञ्चित्पदमस्ति केवलं परक्षेत्रोपगमन-निषेधः श्रूयते **वप्तव्यं न जातु परयोषितीति**—परदारेषु बीजनिषेको न कर्तव्य इत्यस्यार्थः । न पुनर्यस्य क्षेत्रं तस्यापत्यमित्यनेनोक्तं भवति” ।

सत्यम् । “तथा नश्यति वै क्षिप्तं बीजं परमरिग्रह” इत्यनेनैकवाक्यत्वात् दृष्टापत्यापहारलक्षणदोषनिमित्तोऽयं प्रतिषेधः—नादृष्टार्थ उपगमनप्रतिषेधः । स हि चतुर्थ विहित एव—“न हीदृशमनायुष्यम्” इत्यादिना (४।१३४) । तस्मादन्यशेषतया प्रतिषेधश्रुतेरनन्तरेणैकवाक्यत्वादसति स्वातन्त्र्ये युक्ता क्षेत्रप्राधान्यप्रतिपादनपरता ।

प्राज्ञेन सहजया प्रज्ञया । विनीतेन पित्रादिभिरनुशिष्टेन । ज्ञानविज्ञानवेदिना करण-

साधनौ ज्ञानविज्ञानशब्दौ । 'ज्ञानं' वेदाङ्गशास्त्राणि । 'विज्ञानं' तर्ककलादिविषयम् । एतदुक्तं भवति । यस्य काचिद्बुद्धिर्विद्यते तेनैवं न कर्तव्यं—यतः सर्वशास्त्रेष्वेषा स्थितिः । यस्तु मूर्खस्तिर्यक्प्रख्यः सोऽत्र नाधिकृत एवेत्यनुवादोऽयम् ।

आयुष्कामेनेति चातुर्थिकस्य प्रतिषेधस्य प्रत्यभिज्ञानार्थमेतत् । ततश्च पृथक्प्रतिषेधशङ्का निरस्ता भवति ॥४१॥

हिन्दी—इस कारण से विद्वान्, विनीत ज्ञान (वेद) तथा विज्ञान (वेदाङ्गादि सब शास्त्र) का ज्ञाता और आयुष्य चाहनेवाले पुरुष को पर-स्त्री में बीजवचन (सम्भोग द्वारा वीर्यपात) कभी नहीं करना चाहिये ॥४१॥

उक्त विषय में वायु कथित गाथा की प्रमाणता—

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।

यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥४२॥

भाष्य—गाथाशब्दो वृत्तविशेषवचनः । यथोक्तं पिङ्गलेन “अत्रासिद्धं गाथेति” । अविगीताः परम्परागताः श्लोका अप्युच्यन्ते । ‘तदेषापि विज्ञगाथा गीयत’ इत्युक्ता ‘गाथाः श्लोका उत्तरत्र वेदे पठ्यन्ते—यदस्य पूर्वमपरं तदस्येति’ ।

वायुना गीताः पठिता वायुप्रोक्ताः ।

पुराविदः पुराणकल्पान्तरवेदिनः ।

परपरिग्रहे परक्षेत्रे ॥४२॥

हिन्दी—पूर्वकाल के ज्ञाता लोग इस विषय में वायु की कही गयी गाथा (वचन) कहते हैं कि पुरुष को परस्त्री में कभी नहीं बीज बोना (सम्भोग द्वारा वीर्य निषेक करना) चाहिए ॥४२॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।

तथा नश्यति वै क्षिप्तं बीजं परपरिग्रहे ॥४३॥

भाष्य—ता इदानीं गाथादर्शयति । **इषुः** शरः । **स नश्यति** । **खे** छिद्रे । अन्येनेष्वासेन **विद्धं** मृगमनुविध्यतः पूर्वस्य वेधकस्यात्र स्वाम्यम् ।

अथवाऽऽकाशे **खे** शरः क्षिप्तो लक्ष्यमन्तरेण—**नश्यति** निष्फलो भवति—**विद्धं चानुविध्यतः**—एवं परस्त्रियां तेजो निःक्षिप्तं तस्य बीजिनः । क्षेत्रस्वामिनोऽपत्यं भवति ॥४३॥

हिन्दी—जिस प्रकार किसी शिकारी या व्याध के द्वारा मारे गये मृग शरीर के उसी (पूर्व शिकारी से विद्ध) स्थान में दूसरे शिकारी या व्याध का बाण नष्ट हो जाता है अर्थात्

उस मृग को पाने का अधिकार पहले शिकारी या व्याधा को ही होता है, दूसरे को नहीं उसी प्रकार परस्त्री में छोड़ा गया बीज (वीर्य) शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; (क्योंकि उससे उत्पन्न सन्तान को पाने का अधिकार वीर्य निषेक करनेवाले को नहीं होता, अपितु उस क्षेत्र (स्त्री) के पति को होता है, अतएव परस्त्री सम्भोग नहीं करना चाहिये ॥४३॥

क्षेत्र स्वामी के पुत्राधिकारी होने में अन्य दृष्टान्त—

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्वविदो विदुः ।

स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥४४॥

भाष्य—ईदृशोऽयं पुराणकृतो जायापतिलक्षणसम्बन्धो यद्विन्नावपि तावेकीकृता-
विव दर्शयति । तथाहि अनेकवर्षसहस्रातीतपृथुसम्बन्धा मही तेनैव व्यपदिश्यते पृथिवीति ।
तस्मादन्याऽपि स्त्री यस्य भार्या तस्य पुत्रोऽन्येनापि जातः ।

स्थाणुच्छेदस्य केदारं स्वमाहुः—सम्बन्धान्तरस्याभावात् स्वस्वामिसम्बन्धं षष्ठी
प्रतिपादयति । ‘स्थाणु’ गुच्छगुल्मलतादिप्ररूढो यत्र भवति तच्छिनत्ति यः स ‘स्थाणुच्छेदः’ ।
तस्य तत्क्षेत्रं येन प्ररूढगुल्मलतावीरुधः छित्त्वा भूमिः क्षेत्रीकृता । तत्र कर्षणवपनजातं
फलं तस्यैव ।

शल्यवतो मृगमाहुरित्यनुषज्यते । बहूनां मृगमनुधावतामाखेटकार्यं यस्यैव सम्बन्धि
शरशल्यं मृगे दृश्यते तस्य तमाहुः । यत् प्रथमवेद्भुश्च स भवतीत्युक्तं “नश्यतीषुः”
इत्यत्र ॥४४॥

हिन्दी—पुरावित् (प्राचीन इतिहास के ज्ञाता महर्षि आदि) लोग इस पृथ्वी को पृथु
की भार्या मानते हैं^१, खुत्थ (ठुठ पेड़) काटने (कर भूमि को समतल करके खेत बनाने)
वाले का खेत मानते हैं और पहले बाण मारनेवाले का मृग मानते हैं ॥४४॥

विमर्श—इस श्लोक का स्पष्ट आशय यह है कि पूर्वकाल में राजा पृथु ने इस पृथ्वी
को जो बहुत ऊँची-नीची थी—अपने धनुष से बराबर (समतल) बनाया; अतएव इस
(पृथ्वी) के साथ अब वर्तमान में राजाओं का सम्बन्ध होने पर भी प्राचीन इतिहासज्ञ महर्षि
लोग पृथु को ही इस पृथ्वी का स्वामी मानते हैं । इसी प्रकार जो व्यक्ति ठूठ-शाखाविहीन
सूखे पेड़ आदि को खोदकर भूमि को जोतने-बोने योग्य खेत बना देता है, उसी को उस
खेत का स्वामी मानते हैं और जो शिकारी या व्याध किसी मृग को पहले बाण से मारता

१. अत्र कुल्लूकभट्टः—तथा च वाजसनेयब्राह्मणम्—अर्थो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां
न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते
सर्वो भवति, तथा चेतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता इति’ इति ।
(म०मु०)

है, उसे ही उस मृग को पाने का अधिकारी मानते हैं। इन तीनों महर्षि-सम्मत दृष्टान्तों से जिस पति ने स्त्री के साथ पहले विवाह किया है, वही पति उस स्त्री में अन्य पुरुष के द्वारा उत्पादित सन्तान का अधिकारी होता है, परस्त्री में सन्तानोत्पादन करनेवाला पुरुष उस सन्तान का अधिकारी नहीं होता। अतः पुरुष को परस्त्री में वीर्य-निषेध (वीर्यपात) नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसका वह बीजनिषेक व्यर्थ होता है।

स्त्री-पुरुष की एकता—

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।

विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥

भाष्य—युक्तं च यस्य भार्या तस्यापत्यं यस्माद्भार्याया भर्तुश्चैकत्वमेव—प्रजाऽप्यात्मभूतैव । कथं वाऽन्यस्यात्मा सोऽन्यस्य भवेत् । एवं तावदृष्टमेतल्लोके । शास्त्रज्ञा अप्येवमेव विप्राः प्राहुरिति ॥४५॥

हिन्दी—‘केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं होता अर्थात् अपूर्ण ही रहता है, किन्तु स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान—ये तीनों मिलाकर ही पुरुष (पूर्णरूप) होता है, ऐसा (वेदज्ञाता) ब्राह्मण कहते हैं’ और जो पति है वही स्त्री है, अतएव उस स्त्री में (परपुरुष से भी) उत्पन्न सन्तान उस स्त्री के पति की ही होती है ॥४५॥

विक्रय या त्याग से स्त्रीत्व से अमूक्ति—

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।

एवं धर्म विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

भाष्य—अथ मन्येत—‘धनादिदानेन क्रीत्वा स्वीयाः करिष्यन्ते, परभार्यायां ततो विनिवृत्ते दुःस्वाम्ये तज्जातो जनयितुः पुत्रो भवतीति’—एतन्न । यतो न शक्या भार्यात्वेन निष्कसहस्रैरप्यन्यदीयाः स्वत्वमानेतुम् । नापि भर्ता त्यक्ता प्रहीणद्रव्यतया प्रतिग्रहीतुः स्वत्वमापद्यते । यत “उद्वहेतेति” (मनु० ३।४) कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविषयादात्मनेपदाल्लिङ्गान्नान्येन संस्कृताऽन्यस्य भार्या भवति । यथा नाहवनीयादय आधातुरन्यस्य क्रयादिनाऽऽहवनीयादिव्यपदेश्याः ।

निष्क्रयो विक्रयो विनिमयश्च । विसर्गस्त्यागः । ताभ्यां न विमुच्यते । न भार्यात्वमस्या अपैति ॥४६॥

हिन्दी—‘बेचने या त्याग करने से स्त्री पति के स्त्रीत्व से मुक्त नहीं होती’ पहले ब्रह्मा के बनाये हुए ऐसे धर्म को हम जानते हैं । (अतएव पति स्त्री को छोड़ दे या द्रव्य लेकर बेच दे तब भी उस स्त्री में परपुरुषोत्पादित सन्तान पति की ही होती है; सन्तानोत्पादक दूसरे पति की नहीं) ॥४६॥

विमर्श—इस वचन से उन लोगों की आँखें खुलनी चाहिये, जो केन्द्रिय संसद में ‘तलाक विल’ आदि रखकर आर्षधर्म विरुद्ध विधि (कानून) पारित (पास) कराना चाहते हैं ।

भाग-विभाजनादि का एक बार कर्तव्य—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥४७॥

भाष्य—अयमनुशयविधावष्टमे व्याख्यातः (८।२२७) । विभागकाले हि समविष-मांशभागिभिः समविषमांशभागेषु परिकल्प्य विभागः कर्तव्यः । तत्र कृते यो विप्रतिपद्येत तस्य प्रतिषेधार्थमिदम् । तत्रापि यद्यादावेव यथार्थतां कस्यचिदंशस्य प्रज्ञापयेत्तदा स्यादेव पुनर्विभागः । अथ बहुना कालेनायथाकृततां ब्रूयाद्यावदितरैः स्वेषु स्वेषु भागेष्वन्य-निवेशशीर्णप्रतिसंस्कारादि कृतं भवेद्—वस्त्रहिरण्यादि चोपयुक्तं स्यात्—तदा समतामात्र-करणे प्रभवति, न पुनः सर्वं समवायविभागम् ।

अन्ये तु क्लीबादीनामनर्हितविभागकानां पश्चादभागहरत्वनिमित्तक्लीबत्वादिपरि-ज्ञानान्नास्ति भागापहार इति सकृन्निपातप्रयोजनं वदन्ति ।

एवं द्वित्रिचतुर्भागहराणां यदृच्छया ये समतां प्रकल्पयेयुः पश्चादनुशयनाः प्राक्तनं व्यवस्थानमतिक्रम्यापहर्तुं न लभेरन् । पतितस्य तु लब्धभागस्याप्यपहारं वक्ष्यामि ।

सकृत्कन्या प्रदीयते । यद्यपि चानेन वाग्दानोत्तरकालं प्रागपि विवाहाद्भर्तुः स्वतो-च्यते । तथापि “दत्तामपि हरेत्कन्यां” (याज्ञ० १।६५) “तेषां तु निष्ठा विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पद” (मनु० ८।२२७) इत्यादिपर्यालोचनया विशिष्टविषयतैव । सा च व्याख्याता ।

सकृदाह ददामीति गवादयो हि येनैव रूपेणात्मनः स्वं तेनैवान्यस्मा आपद्यन्ते । कन्या तु दुहितृत्वेन स्वं सती भार्यात्वेनानिवृत्तस्वसम्बन्धा दीयत इति पृथगुपन्यासः ।

“ननु चानिवर्तमाने पितुः स्वसम्बन्धे कथं कन्यादानं प्रवर्तते । एतद्धि दानस्य रूपं यदेकस्य सम्बन्धो निवर्ततेऽन्यस्योपजायत इति” ।

नैष दोषः । द्वावत्र सम्बन्धौ—अपत्यापत्यवद्भावः स्वस्वामिसम्बन्धश्च । तत्रा-पत्यापत्यवद्भावो न निवर्तते, इतरस्तु निवर्तते । तथा च “बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठत्” इति (मनु० ५।१८८) पितुश्चात्र स्वाम्यनिवृत्तिमाह “पाणिग्राहस्येति” भर्तुस्तदुत्पत्तिम् ॥४७॥

हिन्दी—पिता पुत्रादि के हिस्से को एक बार ही बाँटता है (उसे बार-बार बदलता नहीं), कन्या एक ही बार (पिता आदि के द्वारा पति के लिए) दी जाती है (फिर उसे पति आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य लेकर या बिना द्रव्य लिए दूसरे को नहीं दे सकता अर्थात् विवाहकर्ता पति आदि कोई भी उस स्त्री को न तो बेच सकता है न त्यागकर दूसरे के लिए

है, उसे ही उस मृग को पाने का अधिकारी मानते हैं। इन तीनों महर्षि-सम्मत दृष्टान्तों से जिस पति ने स्त्री के साथ पहले विवाह किया है, वही पति उस स्त्री में अन्य पुरुष के द्वारा उत्पादित सन्तान का अधिकारी होता है, परस्त्री में सन्तानोत्पादन करनेवाला पुरुष उस सन्तान का अधिकारी नहीं होता। अतः पुरुष को परस्त्री में वीर्य-निषेध (वीर्यपात) नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसका वह बीजनिषेक व्यर्थ होता है।

स्त्री-पुरुष की एकता—

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।

विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥

भाष्य—युक्तं च यस्य भार्या तस्यापत्यं यस्माद्भार्याया भर्तुश्चैकत्वमेव—प्रजा-
ऽप्यात्मभूतैव । कथं वाऽन्यस्यात्मा सोऽन्यस्य भवेत् । एवं तावदृष्टमेतल्लोके । शास्त्रज्ञा
अप्येवमेव विप्राः प्राहुरिति ॥४५॥

हिन्दी—‘केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं होता अर्थात् अपूर्ण ही रहता है, किन्तु स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान—ये तीनों मिलाकर ही पुरुष (पूर्णरूप) होता है, ऐसा (वेदज्ञाता) ब्राह्मण कहते हैं’ और जो पति है वही स्त्री है, अतएव उस स्त्री में (परपुरुष से भी) उत्पन्न सन्तान उस स्त्री के पति की ही होती है ॥४५॥

विक्रय या त्याग से स्त्रीत्व से अमूक्ति—

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।

एवं धर्म विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

भाष्य—अथ मन्येत—‘धनादिदानेन क्रीत्वा स्वीयाः करिष्यन्ते, परभार्यायां ततो विनिवृत्ते दुःस्वाम्ये तज्जातो जनयितुः पुत्रो भवतीति’—एतन्न । यतो न शक्या भार्या-
त्वेन निष्कसहस्रैरप्यन्यदीयाः स्वत्वमानेतुम् । नापि भर्ता त्यक्ता प्रहीणद्रव्यतया प्रति-
ग्रहीतुः स्वत्वमापद्यते । यत “उद्वहेतेति” (मनु० ३।४) कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविषयादा-
त्मनेपदाल्लिङ्गात्रान्येन संस्कृताऽन्यस्य भार्या भवति । यथा नाहवनीयादय आधातुरन्यस्य
क्रयादिनाऽऽहवनीयादिव्यपदेश्याः ।

**निष्क्रयो विक्रयो विनिमयश्च । विसर्गस्त्यागः । ताभ्यां न विमुच्यते । न भार्यात्व-
मस्या अपैति ॥४६॥**

हिन्दी—‘बेचने या त्याग करने से स्त्री पति के स्त्रीत्व से मुक्त नहीं होती’ पहले ब्रह्मा के बनाये हुए ऐसे धर्म को हम जानते हैं । (अतएव पति स्त्री को छोड़ दे या द्रव्य लेकर बेच दे तब भी उस स्त्री में परपुरुषोत्पादित सन्तान पति की ही होती है; सन्तानोत्पादक दूसरे पति की नहीं) ॥४६॥

विमर्श—इस वचन से उन लोगों की आँखें खुलनी चाहिये, जो केन्द्रिय संसद में ‘तलाक विल’ आदि रखकर आर्षधर्म विरुद्ध विधि (कानून) पारित (पास) कराना चाहते हैं ।

भाग-विभाजनादि का एक बार कर्तव्य—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥४७॥

भाष्य—अयमनुशयविधावष्टमे व्याख्यातः (८।२२७) । विभागकाले हि समविष-मांशभागिभिः समविषमांशभागेषु परिकल्प्य विभागः कर्तव्यः । तत्र कृते यो विप्रतिपद्येत तस्य प्रतिषेधार्थमिदम् । तत्रापि यद्यादावेव यथार्थतां कस्यचिदंशस्य प्रज्ञापयेत्तदा स्यादेव पुनर्विभागः । अथ बहुना कालेनायथाकृततां ब्रूयाद्यावदितरैः स्वेषु स्वेषु भागेष्वन्य-निवेशशीर्णप्रतिसंस्कारादि कृतं भवेद्—वस्त्रहिरण्यादि चोपयुक्तं स्यात्—तदा समतामात्र-करणे प्रभवति, न पुनः सर्वं समवायविभागम् ।

अन्ये तु क्लीबादीनामनर्हितविभागकानां पश्चादभागहरत्वनिमित्तक्लीबत्वादिपरि-ज्ञानात्रास्ति भागापहार इति सकृन्निपातप्रयोजनं वदन्ति ।

एवं द्वित्रिचतुर्भागहराणां यदृच्छया ये समतां प्रकल्पयेयुः पश्चादनुशयनाः प्राक्तनं व्यवस्थानमतिक्रम्यापहर्तुं न लभेरन् । पतितस्य तु लब्धभागस्याप्यपहारं वक्ष्यामि ।

सकृत्कन्या प्रदीयते । यद्यपि चानेन वाग्दानोत्तरकालं प्रागपि विवाहाद्भर्तुः स्वतो-च्यते । तथापि “दत्तामपि हरेत्कन्यां” (याज्ञ० १।६५) “तेषां तु निष्ठा विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पद” (मनु० ८।२२७) इत्यादिपर्यालोचनया विशिष्टविषयतैव । सा च व्याख्याता ।

सकृदाह ददामीति गवादयो हि येनैव रूपेणात्मनः स्वं तेनैवान्यस्मा आपद्यन्ते । कन्या तु दुहितृत्वेन स्वं सती भार्यात्वेनानिवृत्तस्वसम्बन्धा दीयत इति पृथगुपन्यासः ।

“ननु चानिवर्तमाने पितुः स्वसम्बन्धे कथं कन्यादानं प्रवर्तते । एतद्धि दानस्य रूपं यदेकस्य सम्बन्धो निवर्ततेऽन्यस्योपजायत इति” ।

नैष दोषः । द्वावत्र सम्बन्धौ—अपत्यापत्यवद्भावः स्वस्वामिसम्बन्धश्च । तत्रा-पत्यापत्यवद्भावो न निवर्तते, इतरस्तु निवर्तते । तथा च “बाल्ये पितुर्वंशे तिष्ठत्” इति (मनु० ५।१८८) पितुश्चात्र स्वाम्यनिवृत्तिमाह “पाणिग्राहस्येति” भर्तुस्तदुत्पत्तिम् ॥४७॥

हिन्दी—पिता पुत्रादि के हिस्से को एक बार ही बाँटता है (उसे बार-बार बदलता नहीं), कन्या एक ही बार (पिता आदि के द्वारा पति के लिए) दी जाती है (फिर उसे पति आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य लेकर या बिना द्रव्य लिए दूसरे को नहीं दे सकता अर्थात् विवाहकर्ता पति आदि कोई भी उस स्त्री को न तो बेच सकता है न त्यागकर दूसरे के लिए

दे ही सकता है) और गौ आदि को देता हूँ' ऐसा वचन एक ही बार कहा जाता है (दान की हुई गौ को बार-बार दान नहीं किया जा सकता) । सज्जनों के तीनों दान कार्य एक ही बार होते हैं, अनेक बार नहीं ॥४७॥

विमर्श—जब गौ तथा पितृधन-विभाजन तक एक ही बार करने का विधान है, तो स्त्री को अनेक बार देना किसी प्रकार धर्मसङ्गत नहीं हो सकता, अतएव पूर्व विवाह-कर्ता पति ही स्त्री में परपुरुषोत्पादित सन्तान का अधिकारी होता है, सन्तानोत्पादक पर-पुरुष नहीं ।

क्षेत्र प्राधान्य में अन्य दृष्टान्त—

यथा गोश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।

नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

हिन्दी—जिस प्रकार गाय, घोड़ी, ऊँटिनी, दासी, भैंस, बकरी और भेंड़ में उत्पन्न सन्तान को पाने का अधिकारी सन्तानोत्पादक नहीं होता (किन्तु उक्त गाय आदि का स्वामी ही होता है); उसी प्रकार दूसरे पुरुष की स्त्रियों में उत्पादित सन्तान को पाने का अधिकारी (उन स्त्रियों का) पति ही होता है; (उत्पन्न करने वाला दूसरा पुरुष नहीं) ॥४८॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।

ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९॥

भाष्य—प्रसिद्धमेवैतत् । अक्षेत्रिणो बीजवन्तो ब्रीह्यादिबीजस्वामिनः सस्यस्य मुद्रमाषादेर्जातस्य न लभन्ते फलं—परक्षेत्रे चेदुत्पत्तिः ॥४८-४९॥

हिन्दी—जो क्षेत्र (खेत) का स्वामी नहीं होकर भी दूसरे के क्षेत्र में बीज बोते हैं, वे उस (क्षेत्र) में उत्पन्न होने वाले अन्न के फल को कहीं (किसी देश आदि में) भी नहीं पाते हैं ॥४९॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।

गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥

भाष्य—पूर्वेण स्थावरेषु धर्मः प्रसिद्धवदुदितो ज्ञापितो वा । अनेन तिर्यक्षु परि-गृहीतेषु गवादिषु निदर्श्यते । अन्यदीयो वृषभो यद्यप्यन्यगवीषु वत्सान्बहूनपि जनयेन्न वृषभस्वाम्येकमपि वत्सं लभेत—सर्व एव ते वत्सा गोमिनां गोस्वामिनाम् । आर्षभमृषभ-सम्बन्धिस्कन्दितं बीजनिषेको मोघं वृथा निष्फलम् ॥५०॥

हिन्दी—जो दूसरों की गाय में साँड़ सैकड़ों बछड़ों को उत्पन्न कर दे, वे सब बछड़े गाय के स्वामी के ही होते हैं (और साँड़ के स्वामी के नहीं होते, अतः) साँड़ का वीर्यक्षरण करना व्यर्थ है ॥५०॥

विमर्श—‘यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु (९/४८)’ श्लोक में पर क्षेत्र में सन्तानोत्पादक का सन्तानाधिकारी होने का निषेध किया गया है, तथा इस श्लोक में क्षेत्रस्वामी को सन्तानाधिकारी होने का विधान किया गया है, अतएव पूर्व (९/४८) श्लोक से इसकी पुनरुक्ति नहीं होती ।

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।

कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥५१॥

भाष्य—पूर्वस्य निर्देशोऽयम् । यथा गवादिषु स्थावरेषु चैवं मनुष्येष्वपि कुर्वन्ति । क्षेत्रस्वामिनामर्थं प्रयोजनं बीजकार्यं सम्पादयन्ति ॥५१॥

हिन्दी—उसी प्रकार (स्त्रीरूप) क्षेत्र का स्वामी नहीं होते हुए जो पुरुष दूसरे के (स्त्रीरूपी) क्षेत्र में बीज बोते (वीर्यक्षरण) करते हैं, वे बीजवाला (परस्त्री में वीर्यक्षरण करनेवाला पुरुष, सन्तानरूपी) फल को नहीं प्राप्त करता ॥५१॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥५२॥

भाष्य—अविशेषेणोक्तं क्षेत्रिणां फलं न बीजिनः । तस्यावशिष्टविषयत्वमाह—**अनभिसन्ध्यायेति** । अभिसन्धानं बीजक्षेत्रिणोरितरेतरसम्बिद्ध्यवस्थापनम्—‘नष्टाश्व-दग्धरथवदुभयोरावयोः फलमस्त्विति’—यत्र वचनव्यवस्था न भवति तत्र क्षेत्रिण एव प्रत्यक्षोऽर्थो निश्चितं फलम् । प्रत्यक्षशब्देन निःसन्दिग्धतामाह । यतो बीजाद्योनिर्बलीयसी । क्षेत्रमधिकबलम् ॥५२॥

सत्यां तु संविदि—

हिन्दी—खेतवाला और बीज बोनेवाला— ये दोनों परस्पर में फल उत्पन्न होने के कारण अन्न-फल आदि के विषय में नियम (इस खेत में तुम्हारे बीज होने पर जो अन्न उत्पन्न होगा, वह हम दोनों का होगा, ऐसी शर्त) नहीं करे तो उस खेत में उत्पन्न (अन्न-फल आदि) खेतवाले का होता है; क्योंकि बीज की अपेक्षा क्षेत्र (खेत) ही प्रधान है (यही नियम सन्तानोत्पत्ति के विषय में भी जानना चाहिये) ॥५२॥

क्रियाभ्युपगमात्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।

तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥५३॥

भाष्य—अनभिसंधाय क्षेत्रिणः फलमुक्तम् । अभिसंधाने किं बीजिन उतोभयोरिति संशय उभयोरित्याह । क्रियाया अभ्युपगमोऽङ्गीकरणमेवमेवैतदिति संविल्लक्षणः यो निश्चयः सा ‘क्रिया’ऽभिप्रेता तामभ्युपगमय्य बीजार्थं बीजकार्यफलनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रदीयते—सामर्थ्याद्बीजमिति गम्यते । तस्येह द्वावपि भागिनौ ॥५३॥

हिन्दी—खेत का स्वामी बीज बोनेवाले से नियम (इस खेत में तुम्हारे बीज बोने पर उत्पन्न अन्नादि हम दोनों का होगा, ऐसी शर्त) करके जो खेत देता है, इस लोक में उस उत्पन्न अन्नादि का स्वामी दोनों—खेत के स्वामी तथा बीज बोनेवाले के होते देखा गया है ॥५३॥

ओघवाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।

क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न बीजी लभते फलम् ॥५४॥

भाष्य—परक्षेत्रे वपुर्बीजनाश उक्तः । तत्र मन्येत—“पुरुषापराधात्तस्य युक्तोपहारो नूनमसौ क्षेत्रं जिहीर्षति—नो चेत्किमिति परक्षेत्रे वपतीति । येन तु स्वक्षेत्रे व्युत्पन्नमोघ-वाताभ्यामन्यत्रानीतं तस्य कोऽपराधो यदि स्वं द्रव्यं हारयति”—तदर्थमाह । **ओघ-वाताहतं बीजम् । ओघो** जलनिषेकः, तेन वायुना चाहतं नीतं **यस्य क्षेत्रे प्ररोहति** तस्यैव तद्भवति । एतेनैव सिद्धे विस्पष्टार्थं **न बीजी लभते फलमिति** । सर्वत्र क्षेत्र-प्राधान्यमित्यर्थः ॥५४॥

हिन्दी—पानी या हवा के वेग से (दूसरे के खेत में बोया गया) जो बीज बहकर या उड़कर दूसरे के खेत में जाता (अङ्कुरित होता) है, वह बीज (उस बीज का फल—अन्न) खेत (जिसमें बीज जाता है, उस खेत) के स्वामी का ही होता है, बीज बोने वाला उसका कुछ भी फल (लाभ) नहीं पाता ॥५४॥

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।

विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥५५॥

भाष्य—अपत्याधिकारात्तद्विषयतैव माविज्ञायीति गवाश्चादिग्रहणम् । यदि वा बीज-फलव्यवहारः सस्यादिविषयतया प्रसिद्धतरस्तन्निवृत्त्यर्थमाह । द्विपदां चतुष्पदां पक्षिणां स्थावराणां च सर्वत्रैष धर्मः । **एष** इति द्वयं प्रत्यवमृश्यते । अनभिसंधाने यस्य चेत् तस्य फलमभिसंधाने चोभयोः । उदाहरणार्थत्वाच्च गवाश्चादिग्रहणस्य श्वमार्जारादिष्वप्यय-मेव न्यायः ।

तर्हि किमर्थं “यद्यन्यगोषु” इति ।

प्रायेण गावः पुरुषाणां भवन्ति, न तथा विहङ्गमादय इति प्रसिद्धेरनुवादोऽसौ । **दास्यः** सप्तभिर्दासयोनिभिरुपगताः । **प्रसवः** कायजन्म । तं प्रति तत्रेत्यर्थः ॥५५॥

हिन्दी—यही (९/४९-५४ में कथित) व्यवस्था गाय, घोड़ा दासी, बकरी, भेंड़, पक्षी और भैंस की सन्तान के प्रति भी जाननी चाहिये ॥५५॥

विमर्श—उक्त व्यवस्था के अनुसार गाय आदि का स्वामी ही उनमें उत्पन्न हुई सन्तान (बछवा-बछिया आदि) को पाने का अधिकारी होता है, साँड़ आदि का स्वामी नहीं,

किन्तु परस्पर में बाँटने का नियम करने पर तो दोनों ही उसको पाने के अधिकारी हाते हैं ।

स्त्री-धर्म—

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥

भाष्य—सारं प्रधानम् । फल्ग्वसारम् । उपसंहारः पूर्वप्रकरणस्य । उत्तरार्धेन वक्ष्यमाणसूचनम् ।

आपत् जीवनस्थितिहेतुभूतभोजनाच्छादनाभावः, सन्तानविच्छेदश्च ॥५६॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि मैंने) बीज तथा क्षेत्र की प्रधानता और अप्रधानता को तुम लोगों से कहा—इसके बाद आपत्ति में (सन्तान नहीं होने पर) स्त्रियों के धर्म को कहूँगा ॥५६॥

भ्रातृपत्नी-सम्भोग से पतित होना—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।

यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥

भाष्य—श्लोकद्वयेन प्राकृतव्यवस्थामनुवदत्यापदि नियोगं विधातुम् । ज्येष्ठोऽग्रे जातः । अनुजः पश्चाज्जातः कनीयान् । यवीयाननुज एव ॥५७॥

हिन्दी—बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई की गुरुपत्नी (के तुल्य) होती है और छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई की स्नुषा (पुत्र वधू अर्थात् पतोहू के तुल्य) होती है ॥५७॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान्वाऽग्रजस्त्रियम् ।

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥

भाष्य—इतरतरभार्यागमने ज्येष्ठानुजयोः पातित्यमनापदि सत्यपि नियोगे ॥५८॥

हिन्दी—(अतएव) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री (भवह) के साथ तथा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री (भौजाई) के साथ आपत्तिकाल के बिना नियुक्त होने पर भी सम्भोग करके पतित हो जाते हैं ॥५८॥

नियोग प्रकरण—

देवराद्वा सपिंडाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।

प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥५९॥

भाष्य—सर्वविशेषेण विशिष्टोऽनेन नियोगो विधीयते । संतानस्य परिक्षये नियुक्तया देवरादिभ्यः सम्यक् प्रजोत्पादयितव्येति । तदुक्तं “योषितां धर्ममापदि” इति सेयमापत् “संतानस्य परिक्षयः” । संतानशब्देन पुत्र उच्यते दुहिता च पुत्रिका । सा हि पितृवंशं

संतनोति नान्या । तस्य **परिक्षयोऽनुत्पत्तिरुत्पन्ननाशो** वा पुत्रिकायाश्चाकरणम् । न हि स्त्रियाः केवलायाः पुत्रिकायामन्यस्मिन्वा पुत्रप्रतिनिधावधिकार इति वक्ष्यामः । नियुक्तोत्पादयेदनुज्ञाता गुरुभिः ।

“कुतः पुनः गुरुभिरिति” ।

स्मृत्यन्तरनिदर्शनात् । अथवा नियोगशब्दादेव । नियोगो हि गुरुसम्बन्धी लोकेऽप्युच्यते । न हि शिष्येण नियुक्तोऽध्यापयतीत्युच्यते । आचार्येण नियुक्तः करोत्येव वदति । ‘गुरवश्च’ श्वश्रूश्चशुरदेवरादयो भर्तृसगोत्रा द्रष्टव्याः, न पित्रादयः । एतेनापत्येनापत्यवन्तस्ते उच्यन्ते येषां चोपकारस्तत्कृत और्ध्वदेहिको भवति ।

“यद्येवं मातामहस्यापि दौहित्रोपकारोऽस्ति । ततः पित्रा दुहिता नियोक्तव्येत्यापन्नम् ।”

उक्तं—येनापत्यवन्त उच्यन्ते । देवरसपिण्डग्रहणेन तद्गोत्रा एव हृदयमागच्छन्ति । महाभारते च तत्र तत्र नियोक्तृभावो भर्तृपक्षिणामेव दर्शितः । अत एव भ्रातृपुत्रे सति न नियोगः कर्तव्यः ।

“ये हि नियुक्तास्तेषामेव सन्तानोपकारः । पुत्रजनिते स्नेहेऽपत्योपकारमर्थयमाना अधिक्रियन्ते । न मृतस्याधिकारोऽस्ति । कथं तर्हि तस्यापत्यमिति व्यपदिश्यते” ।

कथंचित्पिण्डदाने स उपकरोति । वचनादिति च ब्रूमः । न ह्यपत्यमुत्पादयितव्यमित्येष विधिस्तेनानुष्ठित इति—तथापि तदीये क्षेत्रे नियोगविधिजातेन पिण्डदानादि कर्तव्यमिति शास्त्रार्थः । ततश्च तस्योपकारकमवगतम् । यथा चैतत्तथा पुरस्तान्निपुणं वक्ष्यामः ।

देवरः पतिभ्राता । **सपिण्डः** पत्यन्वयः । स्मृत्यन्तरे जातिमात्राच्चेत्युक्तं भवति समर्थागति नियमं वक्ष्यमाणमनुवदति । प्रजेप्सिताधिगन्तव्या विधौ कृत्ये । ईप्सितशब्देन कार्यक्षमतामाह । ततो दुहितर्यन्धबधिरादौ च जाते पुनर्नियोगोऽनुष्ठेयः ॥५९॥

हिन्दी—सन्तान के अभाव होने पर पति या गुरु से नियुक्त (आज्ञप्त) स्त्री को देवर (पति का छोटा भाई) या सपिण्ड के साथ (९/६०) श्लोक में वर्णित विधि के अनुसार) सन्तान प्राप्त करना चाहिये ॥५९॥

नियोग-नियम तथा द्वितीय पुत्रोत्पादन का निषेध—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥६०॥

भाष्य—विधवाग्रहणमतन्त्रम् । क्लीबादिरूपे पत्यौ जीवत्यप्येष एव विधिः । यतो वक्ष्यति “नियुक्तौ यौ विधिंहित्वेति” (६३) । एतदेव तस्य प्रयोजनम् । नियमोऽत्र-विषयाणाम्, न नियमानामन्यथा विज्ञाते प्रकृतत्वाद्विधवाया एव स्युः । **निशि** । प्रदीपाद्या-

लोकनिवृत्त्यर्थमेतत् । वचनान्तरेण दिवोपगमनप्रतिषेधात् । अन्य त्वाहुः—पुरुषार्थोऽसौ प्रतिषेधः कर्मार्थस्त्वयम् । तेनाहि गमनेन न क्षेत्रजमुत्पादयेत् ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयम् ॥६०॥

अस्य प्रतिप्रसवः—

हिन्दी—विधवा स्त्री में पति या गुरु से नियुक्त देवर या सपिण्ड पुरुष सम्पूर्ण शरीर में घी लगाकर तथा मौन होकर रात में (सम्भोग करके, एक पुत्र को उत्पन्न करे, द्वितीय पुत्र को कदापि उत्पन्न नहीं करे) ॥६०॥

विमर्श—‘यहाँ ‘विधवा’ शब्द से सन्तानोत्पादन में समर्थ पति के नहीं होने से ‘विधवा के समान’ अर्थ समझना चाहिये’ ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकार का मत है ;परन्तु ‘ततः प्रभृति.....(९।६८)’ श्लोक में ‘प्रमीतपतिकां’ पद से स्पष्टता या मरे हुए पतिवाली अर्थात् अर्थात् ‘विधवा’ ही स्त्री विवक्षित है; ऐसा प्रतीत होता है, अथवा उक्त श्लोक में ‘प्रमीतपतिकां’ पद से ‘सन्तानोत्पादन में अशक्त होने से मृत (मृततुल्य) पतिवाली’ ऐसा अर्थ करने से उक्त व्याख्याकार से विरोध नहीं होता ।

मतान्तर से नियोग द्वारा द्वितीयपुत्रोत्पादन का विधान—

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।

अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥६१॥

भाष्य—द्वितीयः पुत्र इत्येकेषां मतम् । तद्विदः क्षेत्रजोत्पत्तिविधिज्ञाः । अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तः । नियुक्ताया प्रजोत्पादयितव्येत्यस्य विधेरेकस्योत्पादनेनासम्पत्ति मन्यन्ते ।

“कस्तेषामभिप्रायः ।”

एकवचनमविवक्षितं मन्यन्ते । द्रव्यप्रधानत्वात् कर्मणो गुणभावादविवक्षा—ग्रहैकत्ववत् ।

ननु चानुपात्तोपदेशे सत्यपि द्वितीयया द्रव्यप्राधान्यावगमे संख्यादिविशेषेण विवक्षा स्थितैव । “उद्वहेत द्विजो भार्याम्” इति लिङ्गादपत्यविधावेकत्वसंख्यातिक्रमो “दशास्यां पुत्रानाधेहीति” (ऋग्वेदे ९१०।८) यद्येवं न द्वित्व एवावस्थानम् ।

अस्यामेवाशङ्कायां द्वितीयमिति वचनं अन्यनिवृत्त्यर्थम् । अर्थवत्ता तस्याप्ययमभिप्रायः । औरस लिङ्गम्—विवाहप्रकरणे मन्त्रपाठात् । इह त्वेकत्वातिक्रमः । ‘अपुत्र एक-पुत्र’ इति शिष्टप्रवादात् । अथवाऽस्या एव स्मृतेर्द्वितीयपुत्रस्तुतिकल्पनात् ।

धर्मतः शिष्टाचारतः ॥६१॥

हिन्दी—नियोग से पुत्रोत्पादन विधि के ज्ञाता कुछ आचार्य ('अपुत्र एकपुत्रः' अर्थात् 'एक पुत्र वाला पुत्रहीन है' इस शिष्ट वचन के अनुसार) एक पुत्र की उत्पत्ति होने से नियोग के उद्देश्य की पूर्णता नहीं मानकर दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने के लिए भी उन्हें (देवर या सपिण्ड के पुरुष को) अनुमति देते हैं ॥६१॥

विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥६२॥

भाष्य—इह तु नियोगविषयो यत्र नियुज्यते । स च सम्प्रयोगाभिमर्दपर्यवसान उप-
गमनलक्षणः तस्मिन्निवृत्ते पूर्वैव वृत्तिः । **गुरुवत्स्नुषावत्** । ज्येष्ठस्य भार्यायां गुरुवच्च-
वीयसः स्नुषावत् । **परस्परग्रहणात्** स्नुषावद्वर्तेत स्त्री पुरुषे ज्येष्ठे, देवरे गुरुवत् ॥६२॥

हिन्दी—विधवा (९।६० का विमर्श देखें) में नियोग के उद्देश्य (गर्भधारण आदि) के विधिवत् पूरा हो जाने पर (बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः) गुरु तथा स्नुषा (पुत्रवधू) के समान परस्पर बर्ताव करे ॥६२॥

नियोग में कामवासना से सम्भोग की निन्दा—

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥६३॥

भाष्य—विधिं "धृताक्त" इत्यादिः । तदतिक्रमे पातित्यम् । **नियुक्तौ** ज्येष्ठः,
स्नुषागः पुमान्, **गुरुतल्पगः** कनीयान् ॥६३॥

हिन्दी—जो नियुक्त छोटी या बड़ा भाई परस्पर की स्त्री के साथ विधि (९।६० में वर्णित समस्त अङ्गों में धृतलेपन, मौन तथा रात्रिकाल) को छोड़कर कामवशीभूत हो सम्भोग करते हैं, वे दोनों (बड़ा भाई तथा छोटा भाई क्रमशः) स्नुषासम्भोग तथा गुरुपत्नी-सम्भोग के पापभागी होकर पतित हो जाते हैं ॥६३॥

नियोग-निन्दा—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

अन्यस्मिन् हि नियुज्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥६४॥

भाष्य—पूर्वेण विहितस्य नियोगस्य प्रतिषेधोऽयम् ।

तत्र केचित्—'विधवाग्रहणान्मृतभतृकायाः प्रतिषेधः क्लीबेन तु पत्या नियोक्त-
व्येति विधिप्रतिषेधौ विभक्तविषयाविति' प्रतिपन्नाः ।

अन्ये तु—विधिवाक्ये सन्तानविच्छेदस्य निमित्तश्रवणात्तस्य च क्लीबव्याधि-
तयोर्मृतस्याप्युपपत्तिः । तथा च विधिवत् प्रतिषेधोऽप्यविशिष्ट एव । अपेतधवसम्बन्धा
विधवेत्युच्यते । तत्तुल्यमुभयत्रापि ।

अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । इतरथा घृताभ्यक्तादिनियमोऽपि क्लीबेन नियुज्यमानाया न स्यात् । तत्रापि ह्यामनन्ति “विधवायां नियुक्तश्च घृताक्त” इति । तस्माद्विहितस्याविशेषेण प्रतिषेधोऽप्यविशिष्टः । अतश्च विषयसमत्वे विधिनिषेधयोर्विकल्पः अयं च नित्योऽपत्यो-त्पादनविधिर्विकल्प एव कल्पते ग्रहणाग्रहणवत् ।

यदा तु “पुत्रेण जयति” इत्येवमादिफलोत्पादनविधिस्तदाऽसत्यपत्ये तत्कार्यस्यौ-र्ध्वदेहिकस्योपकारस्याभावाद्भिन्नफलयोः कुतो विकल्पः । समानविषयौ विधिनिषेधावेकायै विकल्प्येते । षोडशीग्रहणाग्रहणयोरिति केचित् ।

उक्तमङ्गभूयस्त्वे फलभूयस्त्वम् । प्रधानकार्यसिद्धौ त्वविशेषः । तस्मादस्मिन्पक्षे पुत्रोपकाराभावमाह । उपकारविशेषर्थेनास्य प्रवृत्तौ प्रतिषेधातिक्रमेण श्येनतुल्यता ।

इदं त्वत्र निरूप्यम् । योऽसौ नियुज्यते स किमिति प्रवर्तते । न हि तस्य विधिरस्ति । ‘नियुक्तेन गन्तव्यम्’ इति । स्त्रिया पुनर्विद्यते “सम्यक् स्त्रिया नियुक्तयेति” । न च— “देवरादिषु प्रवर्तमानेषु स्त्रिया नियोगसिद्धिरित्यर्थः । तेषामपि प्रवृत्तिस्तद्विधिना । क्षेत्रज ईप्सित” इति वाच्यम् । यतो रागतः प्रवृत्तिरुपपद्यते । “घृताक्तादिनियमविधानमनर्थक-मिति” चेन्नानर्थकम् । तथानियमैरुत्पन्ने क्षेत्रजव्यपदेशो नान्य इति ।

यदपि गुरुवचनं कर्तव्यमिति केचित्प्रवृत्तिनिबन्धनमाहुः—एवं सति सुरापानादि-ष्वपि गुर्विच्छया प्रवृत्तिः प्राप्नोति । न चासौ गुरुरकार्ये यः प्रवर्तयति ।

“गुरोरप्यवलितस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयत ॥”

इति स्मरणात् । परित्यागश्च गुरुकार्यान्निवृत्तिः ।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तं—“यन्त्रियमातिक्रमपातित्यवचनं नियमपूर्विकां वृत्तिमनुजानाति— “तावुभौ पतितौ स्याताम्” इति । इतरथा सर्वप्रकारं गच्छतः पातित्यमिति विशेषपातित्य-मनुपपन्नम्” ॥ यतस्तत्र केवलस्य पुंसः श्रूयते किं तर्हि स्त्रिया इति । तस्याश्च पुत्रार्थिन्या नियोगो विहितः । तदपेक्षं हि व्यतिक्रमे पतितवचनं “तावुभौ पतितौ स्यातामिति” । असति व्यतिक्रम एकः पतितः पुमानेव, अतिक्रमे तु द्वावपीत्येवमपि लिङ्गान्निर्गच्छत्येव । तस्माद्देवरादिविधिलक्षणा प्रवृत्तिः कथमिति वक्तव्यम् ।

उच्यते । व्यासादिदर्शनेनापत्यपिण्डदान इव क्षेत्रजोत्पत्त्यर्थं सपिण्डानां गुरुनियोगा-पेक्षा । तदा नोपगमने च्युतिरस्तीत्यनुमन्तव्यम् । न हि महात्मनां रागलक्षणप्रवृत्तिरभ्युप-गन्तुं न्याय्या । यच्चोक्तं नियमातिक्रमे पतितत्ववचनं लिङ्गमिति—तदयुक्तम् । यताः पुंसः पतितत्वे पतितोत्पन्नस्याधिकाराभावादुत्पादनमनर्थकम् । तस्मादस्ति देवरादिविधेरा-भ्यासोऽयम् ॥६४॥

हिन्दी—ब्राह्मणादि (गुरु या पति आदि) विधवा (९।६० का विमर्श देखें) को दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में नियुक्त न करे अर्थात् सन्तान न होने पर भी सन्तानोत्पादन करने की देवर आदि को आज्ञा न दे; क्योंकि दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में स्त्री को नियुक्त करते हुए (वे ब्राह्मणादि) सनातन धर्म को नष्ट करते हैं ॥६४॥

वर्णसङ्कर काल—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥६५॥

भाष्य—उद्वाहनं कर्म—तत्र ये मन्त्राः प्रयुज्यन्ते “अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम-यक्षत” इत्यादयः । तथान्येऽपि तत्सम्बन्धाः “मया पत्या जरदष्टिः” इति, “मया पत्या प्रजावतीति”—तत्र सर्वत्र वादुर्वरयितुः स्वापत्यं भवतीत्याहुः । न तत्र श्रूयते ‘मया यत्र नियुज्यसे ततो जनयेति’ ।

मन्त्रग्रहणेनैतद्दर्शयति मन्त्रार्थवादा अपि नैवविधाः सन्ति । दूरत एव तद्दर्शयति न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः । ‘आवेदनं’ गमनमभिप्रेतमत्र । अथ—“विवाह एवेयं वा संयुज्यते । विवाहयिष्यति देवरो भ्रातृजायाम् । ततोऽयं नियोगो विवाहो विहित एव ।” न त्वत्र विवाहविधिरिति पूर्वशेषोऽयमर्थवादः ॥६५॥

हिन्दी—विवाह सम्बन्धी किन्हीं मन्त्रों में किसी भी शाखा में नियोग को नहीं कहा गया है और न विवाह की विधि में विधवा को पुनः देने (दूसरे पुरुष के साथ पुनर्विवाह करने) को ही कहा गया है ॥६५॥

अयं द्विजैरविद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥६६॥

भाष्य—अयमप्यर्थवाद एव नियोगप्रतिषेधशेषः । येऽविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानते तत्र व्यवहारिणो लिङ्गाद्यन्यपरत्वं च न जानते तैरयं पशुधर्मः—स चात्यन्त-गर्हितो मनुष्याणामपि प्रोक्तः प्रवर्तितः । स चेदानींतनो न, आदि वेने राज्ञि प्रशासति राष्ट्रं पालयति ।

“ननु च लिङ्गानि नैव सन्तीत्युक्तम् ।”

नैवम् । उद्वाहकेषु मन्त्रेषु न सन्तीत्युक्तम् । अन्यत्र तु दृश्यते । “को वा स पुत्रो विधवे देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ” इत्यादि । यथा विधवा स्त्री देवरपतिं मनुष्यं कुरुते समानशयन एवं को वा मनस्विनौ कुरुते येन नागच्छतः । को विशेषो विवाहमन्त्रेषु । स किलापत्योत्पत्तिविध्यनुक्रमरूप इत्यभिप्रायः ।

अन्यैर्विद्वद्भिरिति पठितम् । गर्हितो मनुष्याणां प्रोक्तः । पशूनामेष धर्मो भ्रातृ-

स्त्रीगमनं नाम । स च प्रवृत्तो वेनस्य राज्ये ॥६६॥

हिन्दी—राजा वेन के शासनकाल में मनुष्यों के लिए भी कहे गये इस पशु धर्म की विद्वान् द्विजों ने निन्दा की है ॥६६॥

विमर्श—उक्त वचन के अनुसार यह नियोग द्वारा आपत्ति काल में सन्तानोत्पादन का विधान वेन के शासनकाल से चलाये जाने के कारण सादि है, किन्तु सनातन नहीं है अतएव अमान्य है ।

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।

वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥६७॥

भाष्य—भुञ्जन्पालयन् । “कथं पुनर्वर्णसङ्करं प्रवर्तयन् राजर्षीणां प्रवर इत्युक्तम्” **महीमखिलां** भुनक्ति यः महाराजत्वात् । **कामेन** रागादिलक्षणेनोपहता नाशिता चेतसा चित्तस्थैर्यं यस्य सः ॥६७॥

हिन्दी—समस्त पृथ्वी का पालन करते हुए राजर्षिप्रवर वेन ने काम से नष्ट बुद्धि होकर मनुष्यों को) भाई की स्त्री के साथ सम्भोग का नियम चालूकर) वर्ण सङ्कर बनाया ॥६७॥

विमर्श—यहाँ पर धर्म-विरुद्ध कार्य करनेवाले राजा ‘वेन’ को ‘राजर्षिप्रवर’ केवल समस्त पृथ्वी का शासक होने से ही कहा गया है, धर्मप्रवर्तक या धर्म संरक्षक होने से नहीं ।

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्येत्यर्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥६८॥

भाष्य—स्पष्टार्थोऽर्थवादः ॥६८॥

हिन्दी—तब (‘वेन’-शासन-काल) से जो मनुष्य मृतपतिवाली विधवा स्त्री को सन्तान के लिए (देवर आदि के साथ) मोहवश नियुक्त करता है; उसकी सज्जन लोग निन्दा व्करते हैं ॥६८॥

विमर्श—मनु भगवान् ने स्वयं ‘नियोग’ के द्वारा सन्तानोत्पादन का पहले (९।५९-६२) विधानकर जो इस श्लोक से उसका निषेध किया है, वह कलियुगविषयक है, जैसा कि बृहस्पति ने कहा है—‘मनु ने ‘नियोग’ का विधानकर स्वयं निषेध किया है; क्योंकि वह युगक्रम से दूसरे लोगों से विधिवत् नहीं हो सकता; मनुष्य सत्य, त्रेता तथा द्वापर युग में, तप तथा ज्ञान से युक्त होते थे (अतएव वे मनुक्त नियमानुसार नियोग से सन्तानोत्पादन करने में समर्थ होते थे, किन्तु) कलियुग में वे शक्तिहीन होते हैं (अतएव मनुक्त नियमानुसार नियोग से सन्तानोत्पादन में समर्थ नहीं होते) —इसी बात को स्पष्ट

करते हुए बृहस्पति आगे कहते हैं कि) 'प्राचीन ऋषियों ने अनेक प्रकार से पुत्रों को उत्पन्न किया, किन्तु शक्तिहीन आज-कल के मनुष्य इस समय ऐसा नहीं कर सकते' । इस कारण से गोविन्दराज का 'युगव्यवस्था को नहीं समझकर सन्तान के अभाव में नियोग पक्ष से अनियोगपक्ष श्रेष्ठ है' ऐसा करना मुनिव्याख्या विरुद्ध होने से मान्य नहीं है ऐसा 'मन्वर्थमुक्तावलीकार' का मत है ।

वाग्दत्त कन्या के पति के मरने पर—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥६९॥

भाष्य—नियोगरूपत्वात्कन्यागतोऽयं धर्म उच्यते । वाचा सत्ये कृते वाग्दाने निवृत्ते एकेन दत्ताऽपरेण प्रतिगृहीता । तामनेन वक्ष्यमाणेन विधानेन निजः सोदरो देवरः विन्देत विवाहयेत् ॥६९॥

हिन्दी—वाग्दान करने के बाद जिस कन्या का पति मर जाय, उस कन्या के साथ उसका अपना देवर (उसी मृत पति का छोटा सहोदर भाई) इसके आगे (९।७०) कथित विधि से विवाह (उस कन्या को प्राप्त) करे ॥६९॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।

मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदुतावृतौ ॥७०॥

भाष्य—यथाविधि यथाशास्त्रं वैवाह्यो विधिस्तथा विवाहः । वाचनिकोऽयं विवाहः । पुनर्भूश्च तथोच्यते । नवा व्यूढाऽपि सती भार्या भवति । केवलं परार्थोऽस्या वाचनिको विवाहः । यथा च दर्शयति (७१) “न दत्वा कस्य चित्कन्यां पुनरन्यस्य दीयत” इति । नासौ देवराय दीयत इत्यर्थः । अदत्ता चास्वभूता कथमिव भार्या भवेत् ।

शुक्लवस्त्राम् । नियमो गमने । अन्यस्मिन्नपि नियोगे धर्मोऽयमिष्यते ॥७०॥

हिन्दी—वह देवर (वाग्दत्त कन्या के मृत पति का सहोदर छोटा भाई) विधिपूर्वक इसे स्वीकारकर (कायिक, वाचिक और मानसिक) शुद्धिवाली उस (वाग्दत्ता मृतपति कन्या) के साथ प्रत्येक ऋतुकाल में १-१ बार गर्भ धारण होने तक सम्भोग करे ॥७०॥

विमर्श—इस प्रकार कन्या के 'नियोग' का विधान होने से तथा विवाह के स्वीकार्य नहीं होने से जिसके लिए उस कन्या का वाग्दान किया गया है, उसी मृत पति के उक्त देवर से उत्पन्न वह सन्तान होगी ।

उक्त कन्या के पुनर्दान का निषेध—

न दत्वा कस्य चित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।

दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥

“तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पद” इति (८।२२७) प्राग्विवाहान्मृते वरे दत्तायामपि पुनर्दानाशङ्कायां प्रतिषेधोऽयम् । विशिष्टे तु पुनर्वचनम्—तथाविधा पुनर्भूक्ता । नान्यस्मै दत्त्वा तस्मिन्मृतेऽन्यस्मै दद्यात् । तथा कुर्वन्प्राप्नोति पुरुषानृतम् । मनुष्यहरणे यत्पापं तत् तस्य भवति ॥७१॥

हिन्दी—चतुर (शास्त्रज्ञानी मनुष्य) कन्या का किसी के लिए वाग्दानकर उस पति के मर जाने पर पुनः उस कन्या के लिए दे; क्योंकि उक्त कन्या को दूसरे पति के लिए देता हुआ वह ‘पुरुषानृत’ दोष को प्राप्त करता है और ‘सहस्रं त्वेव चोत्तमः’ (८।१३८) में कथित दण्ड का भागी होता है ॥७१॥

सप्तपदी के पूर्व दोषवती कन्या का त्याग—

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।

व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥७२॥

भाष्य—विधिः शास्त्रं तदर्हतीति विधिवत् । यादृशः शास्त्रेण विधिरुक्तः “अद्भिरेव द्विजाभ्याणाम्” इति (३।३५) । स च कैश्चिदुदकाधिकारः कन्याविषये स्मर्यते । तेन प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां प्राग्विवाहात् । विगर्हितां दुर्लक्षणाम् । पूर्व प्रतिगृहीतामक्षत-योनिमपि । तथा निर्लज्जां बहुपुरुषभाषिणीम् । व्याधितां क्षयव्याधिगृहीताम् । विप्रदुष्टां रोगिण्यादिशब्दितामन्यगतभावां च त्यजेत् ।

अन्ये क्षतयोनिं विप्रदुष्टां व्याचक्षते ।

न ते सम्यङ्मन्यन्ते । यदि तावत्पुरुषानुपभुक्ता स्त्रीकन्यादिविकृता तदा नैव दुष्यति । अथ पुरुषसंयुक्ता तदा कन्यैव न भवति । तत्र “त्यजेत्कन्यामिति” सामानाधिकरण्या-नुपपत्तिः । उक्तश्च तस्यास्त्यागः । छद्मना चोपपादिताम् । न्यूनाधिकाङ्गीम् । यतो हेतु-रुक्तोऽकथितेषु स्वल्पेष्वपि दोषेषु कृतवरणाऽपि त्याज्यैव ॥७२॥

हिन्दी—विधि (३।३५) के अनुसार कन्या को ग्रहणकर भी विधवा के लक्षणों से युक्त, रोगिणी, क्षतयोनि (या शापादि) दोष से युक्त अथवा (अधिकाङ्गी या हीनाङ्गी होने पर भी उस दोष को छिपाकर) कपटपूर्वक दी गयी कन्या को द्विज सप्तपदी होने के पहले छोड़ दे ॥७२॥

विमर्श—‘उक्त अवस्थावाली कन्या को सप्तपदी के पूर्व छोड़ देने पर पति दोषी नहीं होता’ इस अभिप्राय से यह वचन कहा गया है ‘उसका छोड़ना आवश्यक विधि है’ ऐसे अभिप्राय से यह वचन नहीं कहा गया है । अतः उक्त अवस्था में पति उस कन्या को स्वीकार कर ले तो उसका वह कार्य विधान-विरुद्ध नहीं माना जायेगा ।

दोषवती कन्या को देने पर त्याग—

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।

तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥७३॥

भाष्य—कन्यादोषा उक्ताः । ताननाख्यायानुक्त्वा प्रयच्छति ददाति तस्य ददानं वितथं निष्फलं कुर्यात्प्रत्यर्पणेन । उक्त एवायमर्थः पूर्वश्लोकेनातिस्पष्टीकृतः ॥७३॥

हिन्दी—जो (कन्या का पिता, भ्राता या अन्य अभिभावक आदि) दोषयुक्त कन्या को (उसका दोष नहीं कहकर) दान करता है, कन्या-दान करनेवाले उस दुरात्मा के दान को (वर) व्यर्थ कर दे अर्थात् वैसी कन्या को ग्रहण करना अस्वीकार कर दे ॥७३॥

स्त्री-वृत्ति की व्यवस्था कर परदेश गमन—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ।

अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥

भाष्य—यदा प्रवसेत्तदा भार्याया वृत्तिं विधाय प्रवसेदिति विधिं विधायेत्येवमर्थं द्रष्टव्यम्—प्रवसन्भार्याया वृत्तिं विदधीतेति । तथा कुर्याद्यथाऽस्या यावत्प्रवासं वृत्तिर्भवति । शरीरस्थितिहेतुभोजनाच्छादनगृह्योपकरणादि । तां विधाय प्रवसेत्स्वदेशादेशान्तरं गच्छेत् । कार्यवान् कार्यं पुरुषार्थो दृष्टोऽदृष्टश्च । अदृष्टो धर्मो दृष्टावर्थकामौ । यथा वक्ष्यति (७६) “प्रोषितो धर्मकार्यार्थम्” इत्यादिना । अन्तरेणैतानि निमित्तानि भार्या हित्वा प्रवासो निषिध्यते । अवृत्तिकर्षिता हि । दृष्टदोषप्रदर्शनमर्थवादः । अवृत्त्या दारिद्रेण कर्षिता पीडिता प्रदुष्येत् पुरुषान्तरसम्पर्कादिना । स्थितिमत्यपि । स्थितिः कुलाचारस्तत्सम्पन्ना क्षुधावसरे दीना दोषमवाप्नुयादन्यं भर्तारमाश्रित्य जीवतीति सम्भाव्यत एतत् । सम्भावनायां लिङ् ॥७४॥

हिन्दी—आवश्यक कार्य वाला मनुष्य स्त्री को जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर प्रवास करे (दूसरे देश या नगर आदि को जाय); क्योंकि जीविका के अभाव से पीड़ित शीलवती भी स्त्री (परपुरुष-संसर्ग आदि से) दूषित हो जाती है ॥७४॥

पति के परदेश जाने पर स्त्री का कर्तव्य—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।

प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥७५॥

भाष्य—‘नियमो’ यथा सन्निहिते भर्तरि परगृहप्रयाणादिनिषेध एवं प्रोषितेऽपि आस्थिता आश्रिता गृहीतवती । अकृत्वा तु वृत्तिं प्रोषिते शिल्पैर्जीवेदिति । कर्तन-जालिकाकरणादिना । गर्हितानि वस्तूनि विजनादीनि । एष एव विधवादीनां निजश्रम-जन्यो वृत्युपायः ॥७५॥

हिन्दी—जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर पति के परदेश जाने पर स्त्री नियम पालती (शृङ्गार, परगृहगमन आदि का त्याग करती) हुई जीए तथा (भोजन, वस्त्र आदि का) प्रबन्ध किये बिना ही पति के परदेश चले जाने पर स्त्री अनिन्दित शिल्प (सीना, पिरोना, सूत कातना आदि कार्यों) से जीए ॥७५॥

परदेश गये पति की प्रतीक्षा का समय—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।

विद्यार्थं षड्यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥

भाष्य—यदुक्तं कार्यवान्प्रवसेदिति तानि कार्याणि दर्शयति । तद्विशेषण प्रतीक्षा-कालभेदः । परतस्त्विदं तथा कर्तव्यमिति नोक्तम् ।

तत्र केचिदाहुः—प्रकरणादगर्हितैर्जीवेदिति ।

तदयुक्तम् । प्रागस्मात्कालादगर्हितैरितीयं किं प्रियताम् । न ह्यस्या आत्मत्याग इष्यते । पुंस इव प्रतिषिद्धत्वात् । तस्मात्प्रागप्यस्मात्प्रतीक्षणविधेरगर्हितैः शिल्पैर-जीवन्ती गर्हितैर्जीवेत् ।

अन्ये व्यभिचारमिच्छन्ति । तथा च स्मृत्यन्तरे (नारद० १२।९७)

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥”

अन्येऽप्याहुः । नास्या ज्ञानेन ब्रह्मचर्यमपनेतुं शक्यते । स्त्रीधर्मेषु हि तदस्या विहितं मनुनाऽपि—“न तु नामापि गृहीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु” इति (५।१५८) । मृते भर्तरि नास्ति व्यभिचारः, किमङ्गप्रोषिते । पतिशब्दो हि पालनक्रियानिमित्तकः—ग्रामपतिः सेनायाः पतिरिति । अतश्चास्माद्वचनात्रैषा भर्तृपरतन्त्रा स्यात् । अपि त्वात्मनो जीवनार्थं सैरङ्ग्री-करणादिकर्मभिरन्यमाश्रयेत् । तच्च यदा षण्मासभृत्या संवत्सरभृत्या वा कस्मिंश्चिदाश्रिते भर्ता यद्यागच्छेत्तदानीं तां चेद्वशीकर्तुं शक्नुयात्—‘त्यज त्वं भार्यामिति’ यावद्भवति कालो न पूर्णः प्राक् पत्युरेव सा । पञ्चमे चर्वितमन्यत् (५।१५६) ।

अन्येऽप्यर्थमिममाहुः ।

पूर्वे तु पुनर्भूवृत्तिमिच्छन्ति । या पत्या वा परित्यक्ता भवति, यस्याः किल पतिरियन्तं कालं विहितवृत्तिको नागच्छति, सा तेन त्यक्तैव भवति । ततश्च यदि सा पुनर्भूधर्मेणान्ये-नोढा भवेत्तदा भर्ताऽभ्यागतो न किञ्चिद् ब्रूयात् । पुनर्भवस्येयं भार्येति ।

तदयुक्तम् । ‘न निष्क्रयविसर्गाभ्याम्’ । इति (६/४६) तस्य श्लोकस्यार्थवत्त्वं दर्शयिष्यामः । धर्मश्च तत्कार्यं च धर्मकार्यम् । सोऽर्थः प्रयोजनं प्रवासस्येति धर्मकार्यार्थम् ।

“कुतः ? न गृहस्थस्य धर्मार्थो दीर्घकालः प्रवासः । अवश्यं ह्यग्नयस्तेन परिचरणीयाः । पाञ्चयाज्ञिकमनुष्ठेयम् । कुतो गन्तव्यम् । “वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यष्टव्यमिति” । तीर्थस्नानादीन्यपि स्मार्तानि च श्रौताविरोधीन्यनुष्ठेयानि । संविधाय प्रोषितस्य वा भवतीति न च येनोच्येत संविधायापि प्रवास आपर्वणः । स्वयं पर्वणि जुहुयादृत्विजामेकतरकालमित्युक्तम् । अनाहिताग्नेस्तीर्थयात्रायां पाञ्चयाज्ञिकस्य तुल्यत्वेऽपि स्मार्तत्वे भार्यासहितस्योपपत्तेः न तत्त्यागे तीर्थगमनं युक्तम् ।” उच्यते । गुरुवचनेन । यं गुरवो धर्मार्जने राजोपसेवायां वा स्वकार्याय प्रेषयन्ति स ‘धर्मार्थ’ प्रवासः । प्रायश्चित्तं वा—तपोवनदेश-भ्रमणेन । अथवाऽर्थार्जनार्थमेव **धर्मकार्यार्थमभिप्रेतम्** । दरिद्रोऽहं कुतश्चिद्धनमर्जयिष्ये ।

विद्यार्थम् । “ननु स्नातस्य च भार्याधिगमः । कृतविद्यस्य च स्नानम् । तत्र कुतः कृतविवाहस्य विद्यार्थिता ।”

दर्शितमेतत् । ईषदवगतवेदार्थो विवाहेऽधिक्रियते । निश्चिते स्नानादौ ।

“नैतद्युक्तम् । कृतायां धर्मजिज्ञासायां स्नानं—जिज्ञासा च विचारपूर्वकसंशयच्छेदेन निश्चितार्था ।”

सत्यम् । नायं विधिर्विद्यार्थितायाः । तथा च सति धर्मकार्यार्थमित्यनेनैवावगता स्यात् । उत्पन्नेऽप्यधिकारोपयोगिन्यवगमेऽभ्यासातिशयार्थं विशेषार्थं चान्यासु विद्यासु ।

क्षिप्रं शौर्ययशःख्यापनार्थं बहिः सविशेषविद्वत्त्वख्यापनार्थं देशान्तरप्रवसने यशोहेतुः प्रवासः ।

कामार्थं रूपाजीवानुगमोऽभिप्रेततरां भार्यामुद्वोढुम् ।

स्मृत्यन्तरे प्रसूताभेदेन च कालभेदः स्मर्यते । तथा च विष्णुः—“अष्टौ विप्रसूताः षट् राजन्याः चतुरो वैश्या द्विगुणं प्रसूतेति । न शूद्रायाः कालनियमः स्यात् । संवत्सरमित्येक” इति ॥७६॥

हिन्दी—स्त्री धर्मकार्यार्थं परदेश गये हुए पति की आठ वर्ष तक, विद्या (पढ़ने) या (विद्यादि गुण-प्रचार के द्वारा) यश के लिए परदेश गये हुए पति की छः वर्ष तक और भोग आदि अन्य साधनों के लिए परदेश गये हुए पति की तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे (इसके बाद वह स्त्री पति के पास चली जावे) ॥७६॥

विमर्श—‘वसिष्ठ ने परदेश गये हुए पति की पाँच वर्षतक प्रतीक्षा करने पर पति के पास जाने का सामान्य वचन कहा है’ ऐसा ‘मन्वर्थमुक्तावली’कार कहते हैं ।

१. “.....ऊर्ध्वं पतिसन्निधिं गच्छेत् । तदाह वसिष्ठः—‘प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्’ इति । (म०मु०)

द्वेषयुक्त स्त्री की प्रतीक्षा का समय—

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषाणां योषितं पतिः ।

ऊर्ध्वं संवत्सरात्वेनां दायं हत्वा न संवसेत् ॥७७॥

भाष्य—द्वेष्यः पतिर्यस्यास्तां द्विषाणाम् । एतेन तु न निष्कासनं कुर्यात् । सम्पूर्वस्य वसेरेनामिति च द्वितीयानुपपत्तेः । वासयेदिति निर्भर्त्सयेत् । पातकेऽपि तस्या निष्कासनं नास्ति “निरुन्ध्यादेकवेशमनि” इति वचनात् । प्रायश्चित्तेऽप्यस्मिन्निमित्ते विनयाधानार्थो-
ऽपहार इष्यते । न सर्वेण सर्व आत्यन्तिक आच्छेदः ॥७७॥

हिन्दी—पत्नि अपने (पति के) साथ द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक (उसके सुधार द्वेष त्याग के लिए) प्रतीक्षा करे, इसके बाद उसके लिए दिये गये भूषण आदि को उससे लेकर उसके साथ सहवास करने का त्याग कर दे, (किन्तु आभरण लेकर भी उसके भोजन वस्त्र की व्यवस्था तो करे ही) ॥७७॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।

सा त्रीन्मासान्यरित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥७८॥

भाष्य—अतिक्रमस्तदुपचर्याऽवज्ञानं पथ्यौषधादिष्वतत्परता—न पुरुषान्तरसञ्चारः । मासत्रयं परित्यागश्च सम्भोगस्यैति, पूर्वस्मादेव हेतोः । हारकटकादिभूषणैर्वियुक्ता कर्तव्या । परिच्छदपरिग्रहेण भाण्डकुण्डादिना दासीदासेन च ॥७८॥

हिन्दी—जो स्त्री (जुआरी आदि होने से) प्रमादयुक्त, (मदपान आदि से) मतवाले तथा रोग से पीड़ित पति की उपेक्षा (सेवा आदि न) करे, पति उसका भूषण आदि लेकर तीन माह तक त्याग कर दे (उसके साथ सहवाह न करे) ॥७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।

न त्यागोऽस्ति द्विषंत्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥७९॥

भाष्य—क्लीबाबीजशब्दौ नपुंसकमाहतुः । भेदस्तु एको वातरेता, अप्रवृत्ते-
न्द्रियोऽपरः । तादृशं या द्वेष्टि तस्या नास्ति निग्रहः पूर्वोक्तः ।

अपवर्तनमपहारः । प्रोषितप्रतिषिद्धानादयः स्मृत्यन्तरनिषिद्धाः ॥७९॥

हिन्दी—(वायु आदि के दोष से) उन्मत्त (पागल), पतित (११।१७०-१७८) नपुंसक, निर्वीर्य (जिसका वीर्य स्थिर नहीं रहे) और पापरोगी (कोढ़ी आदि) की सेवा नहीं करनेवाली स्त्री का पति न तो त्याग करे और न उसके धन या भूषण आदि का ही ग्रहण करे ॥७९॥

वक्ष्यमाण स्त्री के रहते दूसरा विवाह करना—

मद्यपाऽसत्यवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।

व्याधिता वाऽधिचेतव्या हिंसाऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥८०॥

भाष्य—मद्यपाऽसौ मद्यपानरता । पत्तिसंस्कारगृहकार्यानुष्ठानासमर्था । तत्परि-
रक्षणाय सा परिवेदनमर्हति । या तु गुरुभिः प्रतिषिद्धमद्यपाना । तस्या दण्डं वक्ष्यति
“प्रतिषेधे पिवेदिति” (८४) । स्वयं नियमस्य त्वन्यनियमव्यतिक्रमवत्प्रायश्चित्तेन प्रत्या-
पत्तिर्युक्ता, पुनरधिवेदनं च ।

तथा च धर्मानुष्ठानप्रजोत्पत्तिगृहकार्योपघातनिमित्तान्यधिवेदननिमित्तानि पठ्यन्ते—
प्रतिकूला व्याधितार्थघ्नीति” ।

ब्राह्मण्यास्तु शास्त्रेण प्रतिषिद्धमद्यायास्तत्पानप्रायश्चित्तमेव भूयोऽप्रवृत्तौ । पातित्यं—
भ्रूणहनि हीनसेवायां स्त्री पततीति परिसंख्यानान्न मद्यपाने पातित्यमिति । तदेकादशे
वक्ष्यामः । उक्तं च पञ्चमे (५।९०) ।

असत्यवृत्ताऽसाध्वाचारा—भृत्येष्वसत्पुरुषवाक्, बलिकर्मणां प्रागेव भुङ्के, दैव-
पत्र्ययोर्ब्राह्मणभोजनादौ न श्रद्धावती । **अर्थघ्नी** अतिव्ययशीला भाण्डोपस्करणं न परि-
रक्षति अनल्पमूल्येन क्रीणाति । हिंसा नाकुलशङ्कयास्यादेवातिताडनशीला अन्वाहिकस्य
व्ययस्यापहन्त्री ।

अधिवेदनं तस्या उपर्यन्याविवाहः ॥८०॥

अन्यासामप्यधिवेदनमाह—

हिन्दी—(निषिद्ध) मद्यपान करनेवाली, दुराचारवाली (पति के) प्रतिकूल रहनेवाली,
(कुष्ठ यक्ष्मा आदि) रोगवाली, (दास-दासी आदि को सदा) मारने या फटकारनेवाली
और अधिक धन-व्यय करनेवाली स्त्री हो पति उसके जीवित रहने पर भी दूसरा विवाह
कर ले ॥८०॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥८१॥

भाष्य—तत्र **वन्ध्याऽष्टमेऽब्देऽधिवेद्या** दशमे तु मृतप्रजा । नाधिवेदनेऽपत्यो-
त्पत्त्यभावाद्भि वन्ध्याया अनुष्ठानपरिपातनं स्यात् अपत्योत्पत्तिविधेराधानविधेश्च । नापुत्रे
ह्याधानं श्रूयते । एवं **मृतप्रजायाः स्त्रीजनन्याः । अप्रियवादिन्यास्तु** दोषाभावेन नाधि-
वेदनेन सत्यां क्षमायां श्रमनियमः (?) ॥८१॥

हिन्दी—सन्तान-हीन स्त्री की आठवें वर्ष में, मृत-सन्तान स्त्री की दसवें वर्ष में
कन्या को ही उत्पादन करने वाली स्त्री की ग्यारहवें वर्ष में और अप्रियवादिनी स्त्री की

तत्काल उपेक्षा करके जीवित रहने पर भी पति दूसरा विवाह कर ले ॥८१॥

विमर्श—‘अप्रियवादिनी भी सन्तानयुक्त स्त्री की उपेक्षा करके दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये’ ऐसा आपस्तम्ब का मत है ।

रोगिणी तथा पतिपरायणा होने पर—

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः ।

साऽनुज्ञाप्याऽधिचेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥८२॥

भाष्य—भर्त्रेहिता परिचर्यापरा । अनुज्ञापना अवमानयोरिह विधानम्, पूर्वासामेत-
द्भावात् ।

रोगिणीग्रहणं वन्ध्यास्त्रीजनन्यावपि लक्षयति । प्रकृतत्वाविशेषादवमाननिमित्ता-
भावाच्च **कर्हिचित्**कदाचिदवमाननं शिष्ट्यर्थं परिभाषितम् ॥८२॥

हिन्दी—जो स्त्री रोगिणी हो परन्तु पति की हिताभिलाषिणी तथा शीलवती हो, पति उससे सम्मति लेकर दूसरा विवाह करे तथा उसका अपमान कदापि न करे ॥८२॥

दूसरा विवाह करने से स्त्री के कुपित होने पर—

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्दुषिता गृहात् ।

सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥८३॥

भाष्य—क्रोधेनाधिवेदनहेतुना निर्गतायास्त्यागसन्निरोधौ विकल्पतो विधीयेते । न
तु यथोपपन्नहेतुना भोजनाच्छादनादिना तत्र प्रीत्या क्रोधावमार्जनं श्वश्रूभिः श्वशूरादिभिर्वा
परिभाषणम् । **सन्निरोधो** रक्षिपुरुषाधिष्ठानम् । **त्यागो** व्याख्यातः—असम्भोगः सह-
शय्यावर्जनम् । **कुलं** ज्ञातयः—तत्पितृपक्षाः स्वपक्षाश्च ॥८३॥

हिन्दी—उक्त (९।८०-८१) अवस्था में पति के दूसरा विवाह करने पर जो स्त्री
कुपित होकर घर से निकल जाय (या निकलना चाहे) तो पति उसे (क्रोध शान्त होने तक
रस्सी आदि से) बाँधकर रोके अथवा पिता आदि के पास पहुँचा कर छोड़ दे ॥८३॥

स्त्री के मद्यपान करने पर राजदण्ड—

प्रतिषेधे पिवेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।

प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥८४॥

भाष्य—प्रतिषेधे गुरुसम्बन्धिभिः । अयं दण्डः क्षत्रियादिस्त्रीणाम् । न शास्त्रीयो
ब्राह्मणीनाम् । न हि तत्र दण्डमात्रेण मोक्षः । किं तर्हि महता । न च तत्राभ्युदयेषु पाना-
शङ्का । अप्रतिषिद्धमद्यानां तु नियमेनोत्सवसमागतानामादरवती प्रवृत्तिर्दृश्यते ।

यां सम्यङ्निषेधत्यभ्युदयेष्वपीति । दण्डश्चायं भर्त्रा दीयते । सत्यपि राजवृत्तित्वे

“स्त्रीणां भर्ता प्रभुः” इति विज्ञायते । अन्येषामपि परिग्रहवतां भृत्यादिविषये कियति दण्डे स्वातन्त्र्यम् ।

अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादय उत्सवाः । **प्रेक्षा** नटादिदर्शनम् । **समाजो** नितान्त-मपि जनसमूहः । तत्र कुतूहलिन्या अयं दण्डः ॥८४॥

हिन्दी—जो (क्षत्रिया आदि) स्त्री (पति आदि स्वजनों के) मना करने पर भी विवाहादि उत्सवों में भी (निषिद्ध मद्य का पान करे अथवा सबके सामने नाचने गाने आदि में सम्मिलित हो) तब राजा उसे ६ कृष्णल (रत्ती) सुवर्ण से दण्डित करे ॥८४॥

वर्णानुसार स्त्रियों का दाय-विभाजनादि—

यदि स्वाश्रापराश्रैव विन्देरन्योषितो द्विजाः ।

तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥८५॥

भाष्य—कामतः प्रवृत्ता यदि समानजातीया असमानजातीयाश्च **विन्देरन्विवाहयेयु-**स्तासां **वर्णक्रमेण** जात्यनुरूपं **ज्यैष्ठ्यं**—न वयस्तो न च विवाहक्रभतः । फले हि दाननिमित्ते **पूजा** । प्रथमं ब्राह्मण्यास्ततः क्षत्रियावैश्ययोरित्येष वर्णक्रमः । **वेश्म** प्रधानं गृहम् । तद्ब्राह्मण्याः सवर्णानां विवाहक्रमो निश्चयः स्मृतः ॥८५॥

हिन्दी—यदि द्विज सजातीय (समान जातिवाली) तथा विजातीय (भिन्न जाति-वाली) स्त्रियों के साथ विवाह कर ले तो उनके वर्ण-क्रम के अनुसार भाषण, दान, (भाग हिस्सा), वस्त्राभूषणादि से सत्कार तथा (निवास के लिए) घर होते हैं अर्थात् उच्च वर्ण वाली पत्नी के लिए श्रेष्ठ तथा हीनवर्ण वाली पत्नी के लिए उसकी अपेक्षा हीन वे सब प्राप्त होते हैं ॥८५॥

सजातीया स्त्री के साथ धर्म कार्य का विधान—

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।

स्वा स्वैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ॥८६॥

भाष्य—**शरीरशुश्रूषा** भर्तुरुपयोगिपाकादिलक्षणा दानभोजनप्रतिजागरणं **स्वा स्वैव** कुर्यात् । पृष्ठपादसंवाहननिर्णोजनादौ त्वनियमः । युगपत्सन्निधौ तु शरीरावयवक्रमो वर्ण-क्रमेण । **नैत्यकं धर्मकार्यं** “सायं त्वन्नस्येत्यादि” अग्निशरणोपलेपनाचमनोदकतर्पण-दानादि ॥८६॥

अस्या निन्दार्थवादः—

हिन्दी—उन (सजातीय तथा विजातीय स्त्रियों) में भोजन आदि देकर पतिक सेवा तथा नित्य (भिक्षादान, अतिथिभोजन, अग्निहोत्रकर्म आदि) धर्म कार्य सजातीय (समान जातिवाली ही) स्त्री करे, अन्य जातिवाली स्त्री कदापि न करे ॥८६॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।

यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥८७॥

भाष्य—यस्त्वेतत्कर्माऽन्ययाऽसमानजातीयया कारयेत्सजातीययां स्थितायां ब्राह्मण एव स चाण्डालः पूर्वस्माद्दृष्टः ॥८७॥

हिन्दी—जो पति सजातीय (समान जातिवाली) स्त्री के सन्निहित रहने पर मोहवश विजातीय (दूसरी जातिवाली) स्त्री द्वारा शरीर-सेवादि कार्य करवाता है, वह ब्राह्मण चाण्डाल (ब्राह्मणी स्त्री में शूद्र पति से उत्पन्न पुत्र के तुल्य) प्राचीन ऋषियों द्वारा देखा (माना) जाता है ॥८७॥

गुणी वर के लिए कन्यादान विधान—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।

अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥८८॥

भाष्य—उत्कृष्टायाभिरूपायेति विशेषविशेष्यभावः । उत्कृष्टायाभिरूपतराय इत्यर्थः । अथवोत्कृष्टाय जात्यादिभिरभिरूपायेति पृथग्विशेषणम् । रूपमाकृतिमाभिमुख्येन प्राप्तो-
ऽ‘भिरूपः’ । स्वभाववचनो वा । सुस्वभावो विद्वानप्यभिरूप उच्यते । सदृशाय जात्या-
दिभिः । वरो वोढा जामाता । अप्राप्तामप्ययोग्यामपि कामावशत्वेन बालामप्राप्तां कौमारं
वयः । स्मृत्यन्तरे नग्निकेत्युच्यते । कामः स्पृहा यस्या नोत्पन्ना सा चाष्टवर्षा षड्वर्षा वा,
न त्वत्यन्तबालैव । तथाहि लिङ्गम् “अष्टवर्षामिति” ।

इदमेव लिङ्गं धर्मप्रयुक्ततायामपि विवाहस्येति । अन्यथा रागस्यैव प्रयोजकत्वे
कुतोऽप्राप्ताया विवाह इत्याहुः ।

तदयुक्तम् । धनार्थिनोऽपि बालां विवाहयन्ति । न शास्त्रीयैव सर्वा प्रयुक्तिस्तृतीये
निरूपिता ॥८८॥

हिन्दी—(कुल तथा आचार में) श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो (पिता या अन्य अभिभावक आदि) कन्या की अवस्था (आयु) विवाह योग्य न होने पर भी अर्थात्
‘दक्ष’ के वचनानुसार आठ वर्ष से कम आयु रहने पर भी उस कन्या को उस वर के लिए
ब्राह्मविधि (३।३७) से दान (विवाहित) कर दे ॥८८॥

[प्रयच्छेत्रग्निकां^१ कन्यामृतुकालभयान्वितः ।

ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति ॥२॥]

[हिन्दी—ऋतुमती होने के समय के भय से युक्त (पिता आदि कन्या के अभिभावक

१. अमरकोष ‘.....गौरी तु नग्निकाऽनागतार्तवाः’ (३।६।८) इत्यस्य व्याख्याने ‘अष्टवर्षा भवेद्गौरी नवमे नग्निका भवेत्’ इति स्मार्तो विशेषो नादृत इति क्षीरस्वामी आह ।

जन) 'नग्निका' (नव या दश वर्ष से कम अवस्थावाली) कन्या को (वर के लिए) दे, ऋतुमती कन्या के हो जाने पर दान करनेवाले को उसका पाप प्राय होता है ॥२॥]

निर्गुणी वर के लिए कन्यादान का निषेध—

काममा मरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥८९॥

भाष्य—प्रागृतोः कन्याया दानम् । ऋतुदर्शनेपि न दद्याद्यावद्गुणवान्वरो न प्राप्तः । गुणो विद्याशौर्यातिशयः शोभनाकृतिर्वयोमहत्वोपेतता लोकशास्त्रनिषिद्धपरिवर्जनं कन्या-यामनुराग इत्यादिः ॥८९॥

हिन्दी—ऋतुमती भी कन्या जीवनपर्यन्त पिता घर में भले ही रह जाय, (किन्तु पिता आदि अभिभावक) इसे (ऋतुमती भी कन्या को) गुणहीन वर के लिए कदापि न देवे ॥८९॥

स्वयंवरण का समय—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥९०॥

भाष्य—रेतोऋतुकालं—तद्वत्यपि त्रीणि वर्षाणि तद्गृहे आसीत । अतः परम-मुत्कृष्टाभावे सदृशं समानजातीयं स्वयं वृणुयात् ॥९०॥

हिन्दी—कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक (पिता आदि के योग्यतर पति के लिए दान करने की) प्रतीक्षा करे, इसके बाद (योग्यतर पति नहीं मिलने पर) समान योग्यता वाले भी पति को स्वयं वरण कर ले ॥९०॥

स्वयंवरण में पति-पत्नि की निर्दोषता—

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।

नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥९१॥

भाष्य—वर्षत्रयादूर्ध्वमदीयमाना यं भर्तारं वृणुते तस्य दोषो न । कन्यायाः पूर्वैर्नैव दोषाभाव उक्ते त्रियमाणस्य दोषार्थमिदम् ।

ऋतुदर्शनं च द्वादशवर्षाणामिति स्मर्यते ॥९१॥

परमभिधानचिन्तामणौगौरी तु नग्निकाऽऽरजाः' (३।१७४) इत्यस्य व्याख्याने 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी दशमे नग्निका भवेत्'। इति पाठान्तरं हेमचन्द्राचार्योक्तमुपलभ्यते । आसां विविधाः संज्ञास्तु मत्कृते 'समणिप्रभानुवादापरकोषस्य' 'अमरकौमुदी' टिप्पण्यां द्रष्टव्या जिज्ञासुभिरिति ।

हिन्दी—(पिता आदि के द्वारा किसी योग्यतर) वर के लिए नहीं दान करने पर जो (ऋतुमती कन्या ऋतुकाल से तीन वर्ष तक प्रतीक्षा कर अपनी समान योग्यतावाले) पति का स्वयं वरणकर लेती है तो वह कन्या तथा पति थोड़ा भी दोषभागी नहीं होते हैं ॥९१॥

स्वयंवरणावस्था में पितादि के भूषण आदि का त्याग—

अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयम्बरा ।

मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥९२॥

भाष्य—भ्रात्रादिभिर्यदादौ दत्तं स्वयंवरणाभिप्रायं तस्या अजानद्भिस्तदलङ्करणं तेषामेव प्रत्यर्पयेत् । यदि तु तथाविधाया एव ददाति तदा न त्यागः । तेनास्मै न वयमेनां दास्याम इत्येवमभिप्रायं यद्भूषणं न तस्मिन्नन्यथात्वमापत्रे युक्तम् ।

“**स्तेनः स्यादिति**” पुँल्लिङ्गेन पाठान्तरम् । वरस्य चौरत्वमाहुः । तस्मात्तेनऽलङ्कारस्त्याजयितव्यः ॥९२॥

हिन्दी—उक्त नियम (९।९०) के अनुसार पति का स्वयं वरण करनेवाली कन्या पिता, भाई, माता (या अन्य किसी अभिभावक) के दिये हुए अलङ्कारों को न लेवे, (किन्तु उन्हें वापस लौटा दे), यदि वह (पिता आदि के दिये हुए अलङ्कार को) लेती है तो चोर होती है ॥९२॥

ऋतुमती-विवाह में कन्या-पिता के लिए द्रव्य देने का निषेध—

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।

स च स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥

भाष्य—शुल्कदेयाया ऋतुमत्याः शुल्कनिषेधोऽयम् । तत्र हेतुः—**स च स्वाम्या-**दतिक्रामेत् । “बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्” इत्युक्तम् । वयोन्तरप्राप्तौ चाददतः पितुः स्वाम्यं नास्ति । शुल्कादेयाया अपि हेतोः समानत्वात्पितुः स्वाम्यनिवृत्तिः । ‘अपक्रमणं’ निवृत्तिः । **प्रतिरोधनं** प्रतिरोधोऽपत्योत्पत्तिकार्ये ।

केचिदाहुः अमानवोऽयं श्लोकः ॥९३॥

हिन्दी—ऋतुमती कन्या को ग्रहण (उसके साथ विवाह) करनेवाला पति (कन्या के) पिता के लिए धन न देवे; क्योंकि वह पिता ऋतु (के कार्यरूप सन्तानोत्पादन) के रोकने से (उस कन्या के) स्वामित्व से हीन हो जाता है ॥९३॥

कन्या-वर की आयु का नियम—

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥९४॥

भाष्य—इयता कालेन यवीयसी कन्या वोढव्या न पुनरेतावद्वयस एव विवाह इत्युपदेशार्थः । अथापि न यथाश्रुतवर्षसंख्यैव । किं तर्हि । बहुना कालेन यवीयसी वोढव्या । न ह्येतद्विवाहप्रकरणम् श्रुतम् । येन संस्कार्यविशेषणत्वेन तदङ्गं कालो दशादिवर्षा पञ्चविंशत्यादिवर्ष च निवर्तयेत् । “ननु च वाक्यान्तरस्थस्याप्यङ्गविधिर्भवत्येव” । सत्यमिह प्रकरणोत्कर्षेण पाठादाचार्यस्याभिप्रायान्तरमनुमीयते । तथा शिष्टसमाचारः । सुतस्य च पुनर्दारक्रियायां नैष कालः सम्भवतीति “पुनर्दारक्रियां कुर्यात्” इति नोपपद्यते ॥९४॥

हिन्दी—तीस वर्ष की अवस्था वाला पति बारह वर्ष की अवस्था वाली सुन्दरी कन्या के साथ विवाह करे, अथवा (गार्हस्थ्य धर्म के सङ्कटावस्था में रहने के कारण से) शीघ्रता करने वाला चौबीस वर्ष की अवस्था वाला पति आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे ॥९४॥

विमर्श—यह वचन योग्य समय का प्रदर्शकमात्र है, नियामक नहीं है, प्रायः इतनी अवस्था में मनुष्य वेदों का अध्ययन कर लेता है तथा युवक पति के तृतीयांश आयु वाली कन्या योग्य समझी जाती है, अतः यदि वेदाध्ययन पूरा कर लिया हो तो चौबीस वर्ष की आयु वाला युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर ले ।

विवाह की आवश्यकता—

देवदत्तां पतिभार्या विन्दते नेच्छयात्मनः ।

तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥९५॥

भाष्य—साध्वी भार्या प्रातिकूल्याप्रियवादादिदोषयुक्ताऽपि भर्ता न त्याज्येति श्लोकार्थः । अवशिष्टा प्रशंसा । यत् तु ‘निरुध्यादेकवेशमनी’त्यसाध्व्या अपि विहितं तत्सकृद्व्यभिचारे । अभ्यासे तु त्याग एव । नान्यथा तां साध्वीं बिभृयादित्यनेन किञ्चित्कृतं स्यात् ।

यद्यपि “हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् । परिभूतामधःशय्यां वासये द्व्यभिचारिणीम् ॥” (याज्ञ० १।७०)—तच्च सत्यां शक्तौ पत्युरिच्छा सा । अनिच्छायां तु त्याग एव ।

यच्चेदं पतितास्वपि ‘वस्त्रान्नदानं देयं चे’त्यादि वक्ष्यति तद्ब्रह्महत्यादिषु प्रायश्चित्तेषु भैक्ष्यभोजनारम्भे निर्वास प्राप्तौ प्रतिषेधवचनमिति वक्ष्यामः । सर्वथा तु पुनर्व्यभिचारिण्या भरणं नास्ति । न चात्र त्यागः श्रुतो येन सम्भोगविषयतया कल्प्येत ।

“सोमोऽददत्” इत्यादिमन्त्रार्थवादेभ्यो (ऋग्वेद १०।८५।४१) देवतानां दातृत्वं प्रतीयते ।

अथवा विवाहे देवताया भार्या भवत्यत उच्यते—**देवदत्तामिति ।**

विन्देत—नात्मन इच्छया । यथान्यद्गोहिरण्याद्यापणभूमौ । लभ्यते तथा नेयं भार्या । अत उच्यते **नेच्छयात्मन** इति ।

देवानां प्रियं देवेभ्यो हितं—त्यक्तायां भार्यायां वैश्वदेवादिक्रियानिमित्तेनास्ति देव-हितम् । अतस्तां द्विषंतोमपि **बिभृयात्** । पातित्ये तामनधिकारप्राप्तां पतिरधिविन्देत ॥९५॥

हिन्दी—पति (सूर्य आदि) देवों के द्वारा ही दी गयी स्त्री को प्राप्त करता है, अपनी इच्छा से नहीं प्राप्त करता, अतएव (उन) देवों का प्रिय करता हुआ (वह पति) उस सदाचारिणी स्त्री का अन्न, वस्त्र तथा आभूषण आदि से सर्वदा पोषण करे ॥९५॥

स्त्री के साथ धर्मकार्य विधान—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ।

तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्या सहोदितः ॥९६॥

भाष्य—प्रजनं गर्भग्रणम् । सन्तानो गर्भाधानम् । तस्माद्धेतोरपत्योत्पत्तेरुभया-धीनत्वाद्देवे स्त्रीपुंसयोः **साधारणो धर्मः पत्या सह** पुंस उक्तः । अतः केवलस्या-धिकाराभावात् स्त्रियो द्वेष्या अपि न त्याज्याः ॥९६॥

हिन्दी—गर्भ-ग्रहण करने के लिए स्त्रियों की तथा गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की सृष्टि हुई है, इस कारण वेद में अग्न्याधान आदि साधारण धर्म भी (गर्भधारण तथा गर्भाधान के समान) पुरुष का स्त्री के साथ ही कहा गया है (अतः पुरुष का कर्तव्य है कि वह स्त्री का अन्न-वस्त्र तथा आभूषण आदि से पोषण करे ॥९६॥

कन्या-शुल्क देने वाले पति के मरने पर—

कन्यायां दत्तशुल्कायां प्रियेत यदि शुल्कदः ।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥९७॥

भाष्य—यस्याः पित्रादिभिर्गृहीतं शुल्कं, न च दत्ता, केवलवचनेन देयत्वेन व्यवस्थिता,—अत्रान्तरे स चेन्प्रियेत तदा—“अन्यद्रव्यवद्देवरेषु प्राप्ता सर्वेषु वा युधिष्ठिरादिवत्, तदभावे सपिण्डेषु”—अतो विशेषार्थमिदमुच्यते—**देवराय प्रदात-व्येति—**न सर्वेभ्यो भर्तृभ्रातृभ्यो नापि सपिण्डेभ्यः, किं तर्ह्येकस्मै देवरायैव । तत्रापि कन्याया अनुमतौ सत्याम् । “अथासत्यां कन्यायाः शुल्कस्य च का प्रतिपत्तिः” यदि कन्यायै रोचते ब्रह्मचर्यं तदा शुल्कं कन्यापितृपक्षाणामेव । अथ पत्यन्तरमर्थयते तदा प्राग्गृहीतं शुल्कं त्यक्त्वाऽन्यस्मादादाय दीयते ॥९७॥

हिन्दी—कन्या का मूल्य (उसके पिता आदि को) देकर (विवाह के पहले ही) यदि पति मर जाय तो उस कन्या की अनुमति होने पर उसे (उसके) देवर के लिए दे देना चाहिये ॥९७॥

कन्यामूल्य लेने का निषेध—

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।

शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छत्रं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥

भाष्य—इच्छातः शुल्कग्रहणे पूर्वेण विधिरुक्तः । कस्यचित्तत एवाशङ्का स्यात्—
'अदोषं शुक्लग्रहणं शास्त्रे गृहीतशुल्काया विशेष उक्तो यतः'—अत इमामाशङ्कामपनेतु-
माह । आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कमिति । इच्छातः प्रवृत्तौ शास्त्रीयो नियमो न तु
शास्त्रेण पदार्थस्यैव कर्तव्यतोक्ता । यथा मद्यपीतस्य प्रायश्चित्तविधानेन न मद्यपानं शास्त्रणा-
नुज्ञातं भवति । शुल्कसंज्ञेन यदेवोक्तं “गृह्णन्हि शुल्कं लोभेन” इति । येन तु विशेषेण
पुनः पाठोऽसौ प्रदर्शित एव ॥९८॥

हिन्दी—कन्या-दान करता हुआ (शास्त्र-ज्ञान हीन) शूद्र भी (मूल्य आदि रूप में कोई) धन पति से न लेवे (जब शूद्र तक के लिए निषेध है तो द्विज को तो कन्या का मूल्य कदापि नहीं लेना चाहिए); क्योंकि पति से धन लेता हुआ (पिता आदि कन्याभिभावक) छिपकर कन्या को बेचता है ॥९८॥

वाग्दान करके दूसरे को कन्या का दान निषेध—

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।

यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥९९॥

भाष्य—यदुक्तं 'गृहीते शुल्के कन्येच्छायां सत्यां मृते तु शुल्कदेऽस्या अन्यत्र दानमिति' तन्निषेधति । यदन्यस्य शुल्कदस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते पुनः शुल्कं गृहीत्वेति वरं स्वयंवरं तु कारयेत्कन्याम्—एष एवार्थः ॥९९॥

हिन्दी—महर्षि भृगुजी मुनियों से कहते हैं कि) कन्या को दूसरे के लिए देने का वचन देकर पुनः वह किसी दूसरे के लिए दे दी जाय, ऐसा न तो किसी पुराने सज्जन ने किया और न वर्तमान में ही कोई सज्जन करता है ॥९९॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।

शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छत्रं दुहितृविक्रयम् ॥१००॥

भाष्य—न कुतश्चिदस्माभिः श्रुतम् । पूर्वेषु जन्मसु कल्पान्तरेष्वित्यर्थः ॥१००॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी मुनियों से पुनः कहते हैं कि) पूर्वजन्मों में भी यह नहीं सुना कि 'शुल्क' नामक मूल्य से किसी सज्जन ने कभी भी गुप्तरूप से कन्या को बेचा हो ॥१००॥

संक्षेपतः स्त्री-पुरुष का धर्म—

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः ।

एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥१०१॥

भाष्य—अविशेषेण वचनक्रिया सर्वक्रियास्वव्यभिचारः । तथा चापस्तम्बः “धर्मे चार्थे च कामे च नाभिचरितव्या” इति । एतावच्च श्रेयो धर्मोऽर्थः कामः । तथा चोक्तम्—
“त्रिवर्ग इति तु स्थितिः” इति ।

यच्चाहुः—“अपरित्यागोऽव्यभिचारः, इतरथा स्त्रीवत्पुरुषस्यानेकाभार्यापरिणयनं न स्यात्”—तदयुक्तम् । अस्ति पुरुषे वचनं “कामतस्तु प्रवृत्तानाम्”, तथा “वन्ध्याष्टमे-
ऽधिचेतव्या” इति । न तु स्त्रियाः । तथा च लिङ्गान्तरं स्यात् “एकस्य बह्व्यो जाया
भवन्ति नैकस्या बहवः सह पतय” इति (ऐतरेयब्राह्मणे ३।३) ।

आमरणान्ते भव आमरणान्तिकः । अन्यतरमरणेऽपि तस्यान्तोऽस्तीत्यर्थः ।

एष संक्षेपेण स्त्रीपुंसयोः प्रकृष्टो धर्मो वेदितव्यः ॥१०१॥

हिन्दी—मरण-पर्यन्त स्त्री-पुरुष का परस्पर में व्यभिचार अर्थात् धर्मार्थकाम-विषयक
कार्यों में पार्थक्य (अलगाव) न होवे, यही संक्षेप में स्त्री-पुरुष का धर्म जानना चाहिये ॥१०१॥

स्त्री-पुरुष का कर्तव्य—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।

यथा नातिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥१०२॥

भाष्य—यतेयातां प्रयत्नवन्तौ तथा स्यातां यथेतेतरं परस्परं नातिचरेताम् ।
‘अतिचारो’ऽतिक्रमः । धर्मार्थकामेष्वसहभावः । कृतक्रियौ कृतविवाहादिसंस्कारौ नियुक्तौ ।
ततः परोपसंहारश्लोकोऽयं नानुक्तार्थोपदेशकः ॥१०२॥

पूर्वोक्तप्रकरणयोः सम्बन्धश्लोकोऽयम् ।

हिन्दी—(अतएव) विवाह किये हुए स्त्री-पुरुष को ऐसा यत्न करना चाहिये कि वे
परस्पर में (धर्मार्थकाम-विषयक कार्यों में) कभी पृथक् न होवें ॥१०२॥

दायभाग—

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।

आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायधर्म निबोधत ॥१०३॥

भाष्य—उक्तेषु स्त्रीपुंसयोश्चापत्योत्पत्तौ च दायधर्मस्य विभागस्यावसरः ॥१०३॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) मैंने आप लोगों से रति (स्नेह—अनुराग)
युक्त स्त्री-पुरुष के धर्म तथा उनके आपत्काल में सन्तान-प्राप्ति के विधान को कहा, (अब

आप लोग) दायभाग (पिता आदि के धन के विभाजन—बाँटवारा) को सुनें ॥१०३॥

दाय विभाजन-काल—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।

भजेरन्यैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥

भाष्य—भजेरन्निति प्राप्तकालतायां लिङ् । (तथा पञ्चमे प्रपञ्चितम् । अथवा यस्मिन् शयने संक्रामति) ॥१०४॥

हिन्दी—माता-पिता के मरने पर सब भाई एकत्रित होकर पैतृक (पितृ-सम्बन्धी) सम्पत्ति को बराबर बाँट लें; क्योंकि (वे पुत्र) उन दोनों (माता-पिता) के जीवित रहते सम्पत्ति लेने में असमर्थ रहते हैं ॥१०४॥

विमर्श—पिता के मरने के बाद पितृ-सम्बन्धी धन तथा माता के मरने के बाद मातृ-सम्बन्धी धन सब भाईयों को बराबर-बराबर बाँट लेना चाहिये । ज्येष्ठ भ्रातृ सम्बन्धी उद्धार को आगे (९।१२-१४) कहेंगे, अतएव समभाग बाटने का विधान ज्येष्ठ भाई के वक्ष्याण उद्धार नहीं चाहने पर समझना चाहिये । तथा प्रकृत वचन से माता-पिता—दोनों के मरने के बाद विभाजन के कारण को कहा गया है, हाँ 'यदि पिता चाहे तो अपने जीवित रहते ही अपना धन पुत्रों को बाँटकर दे सकता है' ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्य का मत है ।'

सम्मिलित रहने पर ज्येष्ठ भाई की प्रधानता—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।

शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥१०५॥

हिन्दी—अथवा बड़ा भाई ही पिता के सब-धन को प्राप्त करे और अन्य छोटे भाई पिता के समान उन बड़े भाई से भोजन-वस्त्र आदि पाते हुए जीवें अर्थात् उसी के साथ में सम्मिलित होकर रहें । (ज्येष्ठ भाई के धार्मिक एवं भ्रातृवत्सल होने पर ही ऐसा हो सकता है ॥१०५॥

ज्येष्ठ-प्रशंसा—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।

पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥१०६॥

हिन्दी—मनुष्य ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति मात्र से (उसके संस्कार युक्त नहीं होने पर भी) पुत्रवान् हो जाता है और पितृऋण से छूट जाता है; अतएव वह (ज्येष्ठ-पुत्र) पिता की सब सम्पत्ति पाने योग्य है ॥१०६॥

१. तदुक्तं याज्ञवल्क्येन महर्षिणा—'विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्' इति ।
(या०स्मृ०-२।११४)

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥

भाष्य—इतरानित्यर्थवादोऽयम् । यथाश्रुततात्यर्यग्रहणाद्धि कनीयसामभागाहृतैव स्यात् । ततश्च वक्ष्यमाणविरोधः ॥१०७॥

हिन्दी—पिता जिस पुत्र के उत्पन्न होने से पितृ-ऋण से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है, वही (ज्येष्ठ-पुत्र) धर्म से उत्पन्न है, अन्य (शेष-छोटे पुत्र) कामवासना से उत्पन्न हैं, ऐसा (मुनि लोग) मानते हैं (अतएव वही ज्येष्ठ पुत्र पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होने के योग्य है) ॥१०७॥

बड़े-छोटे भाईयों के परस्पर व्यवहार—

पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन्यवीयसः ।

पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

भाष्य—पुत्रवत्पालनीया न तु बाला इति धनादिना गर्हणीयाः । तैरप्ययं पितेति भावनीयम् । तदाह—पुत्रवच्चापि वर्तेरन्निति ॥१०८॥

अपरा प्रशंसा ।

हिन्दी—ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयों का पालन पिता के समान करे तथा छोटे भाई ज्येष्ठ भाई में धर्म के लिए पुत्र के समान वर्ताव करें अर्थात् ज्येष्ठ भाई को पिता मानें ॥१०८॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।

ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९॥

भाष्य—य एवंगुणो ज्येष्ठः स वर्धयति कुलम् । अयमेव निर्गुणस्तत्कुलं विनाशयति । शीलवति ज्येष्ठे कनीयांसोऽपि तथा वर्तन्ते । तेऽपि गुणहीनेन विवदन्ते ॥१०९॥

हिन्दी—धर्मात्मा ज्येष्ठ (भाई) ही कुल की उन्नति करता है अथवा अधर्मात्मा होकर कुल का) नाश करता है । गुणवान् ज्येष्ठ भाई संसार में पूज्य तथा सज्जनों से अनिन्दनीय होता है ॥१०९॥

ज्येष्ठ भाई के अपने योग्य वर्ताव न करने पर—

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।

अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स सम्पूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥

भाष्य—ज्येष्ठस्य वृत्तिः पुत्रे इव स्नेहः, पालनं, शरीरधनेषु तदीयेषु स्ववदनुपेक्षा, अकार्येभ्यो निवर्तनम् । यस्त्वन्यथा वर्तते तत्र बन्धुवत्प्रत्युत्थानाभिवादनैः मातुलपितृ-व्यवत्संपूजा कर्तव्या । अन्यथाकरणे विधेयतानिवृत्तिः ॥११०॥

हिन्दी—यदि ज्येष्ठ भाई (छोटे भाईयों के साथ) ज्येष्ठ के अर्थात् पिता आदि के समान (लालन-पालन आदि उत्तम) वर्ताव करे तो वह (छोटे भाइयों के द्वारा) माता-पिता के समान पूज्य है तथा यदि (वह ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयों के साथ) ज्येष्ठ के समान वर्ताव न करे तो उसके साथ (छोटे भाईयों को) बन्धु (मामा आदि बन्धुजन) के तुल्य व्यवहार करना चाहिये ॥११०॥

सम्पत्ति-विभाग में हेतु—

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।

पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥१११॥

भाष्य—स्वेच्छानियोज्यत्वाभावान्निरपेक्षस्तद्द्रव्यसाध्येषु ज्योतिष्टोमादिष्वसम्भवात्-त्सिद्धयर्थोऽयं न्यायप्राप्तो विभाग उच्यते । पृथग्वा धर्मकाम्येयति—न पुनरविभागादधर्मो विभाग एवाग्निहोत्रादिवद्धर्मः । “ननु च धर्मानुष्ठानप्रतिबन्धहेतुत्वादधर्मतैवाभागस्य” । नैष दोषः । अधिकृतस्याननुष्ठाने प्रत्यवायः । न चाविभक्तधनस्याधिकारोऽग्निमत्त्वा-भावात् । विभागकाल एवाग्निपरिग्रहस्य विहितत्वात् । यस्तु जीवत्येव पितरि कृतविवाहस्तदैव च परिगृहीताग्निस्तस्याधिकृतत्वात्रैवाविभागः । सोऽपि यदि विच्युतः परिग्रहादन्यतो वा विहितानुष्ठानपर्याप्तधनस्तदा नैव सह वसन्प्रत्यवेयात् । न हि विभागाविभागयोर्धर्मा-धर्मत्वं स्वरूपेणास्तीत्युक्तम् । “ननु च ‘भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते’ इति वचना-दम्पत्योरिव सहानुष्ठाने प्राग्विभागादस्त्येव धर्मव्यक्तिः—साधारण्याद्द्रव्यस्य सर्वैः सम्भूय कर्तव्यमिति ।” नैतदग्निहोत्रादौ । आहवनीयादिषु ह्यग्निहोत्रादयः । संस्कारनिमित्ताश्चा-हवनीयादय आत्मनेपददर्शनान्यतरस्य सम्बन्धितां न प्रतिपद्यन्ते । परकीयं वाऽग्नौ जुह्वतः प्रतिषेधदर्शनमस्ति—‘नान्यस्याग्निषु यजेतेति’ । न स्मार्ते ह्यापि गृह्योऽग्नौ विधानम् । गृहशब्दस्य विशिष्टोपादानादग्निवचनत्वादेव एव न्यायः । अतिथ्यादिभोजनदाने महायज्ञ-मध्ये पाठात् ‘वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ॥ पञ्चयज्ञविधानं च’ इति गृह्यत एवाधिकारः । तेनैद्वचनमेको धर्म इति श्राद्धपूर्तान्नादिमात्रं विज्ञेयम् ॥१११॥

हिन्दी—इस प्रकार (१।१०५-११०) वे (छोटे भाई) एक साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा से अलग-अलग रहें । अलग-अलग रहने से (पञ्चमहायज्ञादि कार्य सब भाइयों को अलग-अलग ही करने के कारण^१) धर्मबुद्धि होती है, अतएव भाइयों को अलग-अलग रहना भी धर्मयुक्त है ॥१११॥

१. तथाच बृहस्पतिः—‘एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।

एकं भवेद्, विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे ॥ —इति (म०मु०)॥

पैतृक धन में से ज्येष्ठादि का ‘उद्धार’ द्रव्य-भाग—

ज्येष्ठस्य विंश ऊद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।

ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥

भाष्य—“इयमुद्धारनियोगस्मृतिरतिक्रान्तकालविषया, न त्वद्यत्वेऽनुष्ठेया, नियतकाल-त्वात्स्मृतीनामिति’ केचित् । अनुष्ठेयत्वव्यपदेशो दीर्घसत्रवज्ज्ञानादभ्युदयो यथा स्यादिति । न हि दीर्घसत्रमद्यत्वे केचिदाहरमात्रा दृश्यन्ते । अधीयते तु तदुपदेशं ब्राह्मणाः । तथाच ‘अन्ये कलियुगे धर्मा’ इत्युक्तम् । (१।८५) तेन देशनियमवत्कालनियमोऽपि धर्माणां द्रष्टव्यः । न ह्युपदिष्टो धर्मा सर्वत्र देशेऽनुष्ठीयते । तथाहि देशधर्मा नियतदेशव्यवस्थिता उच्यन्ते । अन्यथा सर्वानुष्ठाने न देशव्यपदेश्यता धर्माणाम् । तथा च पठति (१।६६) ‘अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः’ इत्यादि । तस्मादुद्धारनियोगगोवधस्मृतय उपदिष्टा नानुष्ठेयाः ।

तदेतदपेशलम् । न ह्येवंविधः कालनियमः क्वचिदपि श्रूयते सायंप्रातःपर्वीदिनिय-मादन्यत्र । यच्च ‘अन्ये कृतयुगे धर्मा’ इति तत्प्रथम एव व्याख्यातम् । न हीदं युगभेदेन धर्मव्यवस्थाहेतुः । देशनियमोऽपि प्राचीनप्रवणादिव्यतिरेकेण मध्यदेशपूर्वदेशकृतो नैवा-स्तीत्युक्तम्—(८।४१) ‘जातिजानपदान् धर्मान्सद्विराचरितान्’ इत्यत्र । दीर्घसत्रेष्वद्य-त्वेऽप्यनुष्ठानसम्भवः । संवत्सरशब्दस्त्वहःसु प्रथम एव दर्शितः । यत्तु नाद्यत्वे केचिद-नुतिष्ठन्तो दृश्यन्त इति—उपदिष्टार्थस्य नित्यवदाम्रातस्यापि बहुभिः प्रकारैरनुष्ठानसाध-नाशक्त्या फलानिच्छया वा नास्तिकतया वा । यत्तु ‘वेने राज्यं प्रशासति’ (१।६६) तदाप्रभृतिकं महापौर्वकालिकमनुष्ठानं दर्शयतीत्यर्थवादोऽसौ न कालोपदेशः ।

ज्येष्ठस्य विंशः । ज्येष्ठस्य सर्वद्रव्याद् विंशतितमो भाग उद्धृत्य दातव्य एव । मध्यमस्य तदर्थं चत्वारिंशत्तमो भागः । एवं कनिष्ठस्य तुरीयो ज्येष्ठापेक्षयाऽशीतितमो भागः । एवमुद्धृते परिशिष्टं त्रिधा कर्तव्यम् । तत्र सर्वेभ्यो द्रव्येभ्यो यद्वरं श्रेष्ठं तज्ज्येष्ठ-स्यैव । अथवा “द्रव्येष्वपि परं वरम्” इति पाठः । उत्तमाधममध्यमानि यानि द्रव्यादीनि सन्ति ततस्तस्माद्यदेकं श्रेष्ठं तत्तस्यैव तदुक्तं भवति । यत्र गावोऽश्वा वा सन्ति एकः श्रेष्ठा ज्येष्ठस्य दातव्यो न द्रव्यान्तरेण मूल्येन वा स्वीकर्तव्याः । त्रयाणां सर्वेषां गुणिनामयमु-द्धारविधिः । गुणवतामुद्धारदर्शनात् ॥११२॥

हिन्दी—पिता के सम्पूर्ण धन में से ज्येष्ठ भाई का बीसवाँ भाग तथा श्रेष्ठ पदार्थ (चाहे वह एक ही हो) कनिष्ठ (सबसे छोटे भाई का अस्सीवाँ भाग और मध्यम (मझिला) भाई का चालीसवाँ भाग ‘उद्धार’ होता है ॥११२॥

विमर्श—उदाहरण—मान लिया कि पितृ-सम्पत्ति २४०) रु० है, उसमें बीसवाँ भाग (२४० ÷ २० = १२) १२ रु० बड़े भाई का, चालीसवाँ भाग (२४० ÷ ४० = ६)

६ रु० मझले भाई का और अस्सीवाँ भाग ($२४० \div ८० = ३$) रु० छोटे भाई का 'उद्धार' द्रव्य हुआ। अब शेष ($१२ + ६ + ३ = २१$; $२४० - २१९$), २१९ रु० में तीनों भाइयों को बराबर-बराबर भाग ($२१९ \div ३ = ७३$) ७३ - ७३ रु० हुए। इस प्रकार बड़े भाई को ($७३ + १२ = ८५$) ८५ रु०, मझले भाई को ($७३ + ६ = ७९$) ७९ रु० और छोटे भाई को ($७३ + ३ = ७६$) ७३ रु० मिले।

तीन से अधिक भाइयों में पितृ-धन विभाजन—

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।

येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥११३॥

भाष्य—त्रिभ्योऽधिकपुत्रस्य ज्येष्ठकनिष्ठयोर्गुणवतोर्यथोक्तमुद्धृत्य बहूनामपि मध्यमानां गुणवतो मध्यमस्य यश्चत्वारिंशत्तमो भाग उक्तोऽनन्तरश्लोके बहुभिरपि मध्यमैः स विजभनीयः। समगुणानां तु मध्यमानां सर्वेषामेकैकस्य पूर्ववचनाच्चत्वारिंशत्तमो भाग उक्त उद्धार्यः। तेषां स्यान्मध्यमं धनमिति उभयथा वचनं व्यज्यते। मध्यमधनं यदनन्तरश्लोके निर्दिष्टं तत्सर्वेषां समवायेन दातव्यम्। यदि वा प्रत्येकमेव ज्येष्ठकनिष्ठतामपेक्ष्य। तत्र प्रथमपक्षी निर्गुणेषु युक्तः। ते न बहुधनार्हाः। द्वितीयो गुणवत्स्वेव ॥११३॥

हिन्दी—(यदि तीन से अधिक भाई हो तो) सबसे बड़े और छोटे भाई का 'उद्धार' क्रमशः बीसवाँ तथा अस्सीवाँ भाग और अन्य मध्यम (मझिला; सझिला आदि) भाइयों का चालीसवाँ भाग 'उद्धार' भागर पितृधन में निकालना चाहिये। पहले ही पूर्ववर्णित क्रम से निकालकर शेष धन का समान-समान भाग सब भाइयों को प्राप्तव्य होता है ॥११३॥

विमर्श—सबसे बड़े तथा सबसे छोटे भाई के अतिरिक्त शेष अनेक मध्यम (मझले-सझले आदि) भाइयों में, फिर अवान्तर भेदकर न्यूनाधिक (कम-वेशी) 'उद्धार' भाग का निषेध करने के लिए यह वचन है। इस प्रकार मध्यम भाइयों के अनेक होने पर सबको 'उद्धार' भाग कुल धन का चालीसवाँ-चालीसवाँ भाग ही प्राप्तव्य होता है।

एक भी श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाई का भाग—

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।

यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशश्चाप्नुयाद्वरम् ॥११४॥

भाष्य—आद्येनार्थश्लोकेन "सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्" इत्युक्तमनुवदति। जातशब्दो जातिपर्यायः प्रकारवचनो वा। अग्रजोज्येष्ठः। अग्रयं श्रेष्ठम्। यच्च सातिशयमेकमपि वस्त्रमलङ्कारं वा। दशतो दशावयवाद्वावरमेकमाददीत। यदि दशगावोऽश्वा वा सन्ति तदा एकं श्रेष्ठमाददीत। अर्वाद्दशावयवाद्वा न लभते। वर्गे दशशब्दः। अन्ये तु स्वार्थे

तसिं चाचक्षते । “दशैव दशतो वरान्” इति बहुवचनं पठन्ति । दशवरानाददीत । अन्य-
स्तद्विशिष्टान्स्मरति “दशतः पशूनामेकशफद्विपदानाम्” इति ॥११४॥

हिन्दी—सम्पूर्ण सम्पत्तियों से श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाई को मिलती है, यदि एक ही
श्रेष्ठ वस्तु हो तो भी वह उसे ही मिलती है तथा दश-दश गाय आदि पशुओं में से एक-
एक श्रेष्ठ गाय आदि उस ज्येष्ठ भाई को मिलती है ॥११४॥

विमर्श—पूर्वोक्त (९।११२-११४) ‘उद्धार’ भाग ज्येष्ठ भाई के गुणवान् तथा अन्य
भाइयों के गुणहीन होने पर ही प्राप्त होता है; अन्यथा सब भाइयों को समान ही भाग प्राप्त
होता है ।

समान गुणी होने पर उक्तोद्धार का निषेध—

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।

यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥११५॥

भाष्य—दशसु पशुषु यः पूर्वत्रोद्धार उक्तः स नास्ति । ये भ्रातरः स्वकर्मसु
श्रुताध्यय-नादिषु संपन्ना विशेषवंतो दशस्विति चोपलक्षणं व्याख्यानयन्ति । दशसु यत्र
श्लोक उद्धार उक्तः स सर्व एव नास्ति । कर्मसम्बन्धात् । किन्तु तैरपि यत्किञ्चिदेवा-
धिकमुपायनविधं मानवर्धनं पूजाकरं ज्येष्ठाय देयम् ॥११५॥

हिन्दी—सब छोटे भाइयों के अपने-अपने कर्मों में युक्त रहने पर पूर्वश्लोकोक्त दश-
दश गाय आदि पशुओं में से एक-एक गाय आदि पशु ‘उद्धार’ रूप में ज्येष्ठ भाई को
नहीं प्राप्तव्य होता; किन्तु ज्येष्ठ भाई के मान को बढ़ाने के लिए उसे कुछ भी अधिक भाग
देना चाहिये ॥११५॥

सम तथा विषम भाग—

एवं समुद्भूतोद्धारो समानंशान्प्रकल्पयेत् ।

उद्धारोऽनुद्भूते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥

भाष्य—समुद्भूते पृथक्कृत उद्धारोऽधिके भागेऽवशिष्टे धने समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
अनुद्भूते वक्ष्यमाणा भागकल्पना ॥११६॥

हिन्दी—इस प्रकार (९।११२-११५) सबके ‘उद्धार’ (अतिरिक्त भाग विशेष) को
पृथक् कर (शेष धन-राशि को) समान भाग कर ले; ‘उद्धार’ पृथक् नहीं करने पर भाइयों
के भाग की कल्पना इस (९।११७) प्रकार करे ॥११६॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।

अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७॥

भाष्य—एकेनांशेनाधिकं स्वांशं हरेत्स्वीकुर्यात् द्वावंशौ प्रतिपद्येतेत्यर्थः ।

**ततोऽनुजस्तदनन्तरमध्यर्धमर्धद्वितीयम् । यवीयांसस्तस्मादर्वाग्जाताः सर्वे सम-
मंशं नाधिकं किञ्चिन्नाल्पमित्यर्थः ॥११७॥**

हिन्दी—(पितृ-धन-राशि में से) ज्येष्ठ भाई दो भाग, उससे छोटा भाई डेढ़ भाग तथा उससे (या तीन भाई से अधिक होने पर छोटा) भाई एक भाग ले; यह व्यवस्थित धर्म है ॥११७॥

विमर्श—उक्त पितृ-धन के विभाजन की व्यवस्था ज्येष्ठ तथा उससे छोटे भाई को अधिक भाग देने के कारण उन दोनों भाइयों के अधिक गुणवान् और सबसे छोटा भाई (या तीन भाई से अधिक होने पर भाइयों) के गुणहीन होने पर समझनी चाहिये ।

स्वाभ्यः स्वाभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भातरः पृथक् ।

स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥

कन्याशब्दः प्रायोऽनूढासु प्रयुज्यते । ‘कानीनपुत्रः’ । स्मृत्यन्तरे चो‘पात्तानामि’ति पठ्यते । अतोऽनूढायामयं भाग उच्यते ।

स्वाभ्यः स्वजात्यपेक्षया **स्वाभ्यो भ्रातरः** कन्याभ्यश्चतुर्भागमंशं दद्युः **स्वादंशात्** । यत्र बह्वयः कन्याः सन्ति तत्र समानजातीयभ्रात्रपेक्षया चतुर्थांशकल्पना कर्तव्या । तथा चायमर्थः । त्रीनंशान्पुत्र आददीत चतुर्थं कन्येति ।

यदपि कैश्चिदुक्तं—“महानुपकारः पितृकरणं कन्यानामदत्तानां, येन जीवति पितरि तदिच्छयाऽमूल्येनापि धनेन संस्क्रियन्ते मृते त्वंशहरा इति” तत्पुत्रेऽपि तुल्यम् । वाचनिके चार्थे केयं नोदना । अथाभिप्रायः “समाचार उद्वाहमात्रप्रयोजनं दानमि”त्याचारो दुर्बलः स्मृतेरिति न चैकान्तिकः । अनैकान्तिकत्वे च स्मृतितोऽयं नियमो युक्तः ।

यदपोदं केनचिदुक्तं “मुद्वाहमात्रप्रयोजनं देयं, न चतुर्थो भागो यथाश्रुतमिति ।” स इदं वाच्यो नोद्वाहेऽपरिमितधनदानमस्ति । तस्य द्वादशशतं दक्षिणेतिवत् ‘केवलमाच्छाद्या-लङ्कृतां विवाहयेत् । सौदायिकं वाऽस्या दद्यादिति’ श्रूयते । अलङ्कारस्तु सुवर्णमणिमुक्ता-प्रवालादिरनेकधा भिन्न इति । तत्र न ज्ञायते कियद्वातव्यं धनं कीदृशो वाऽलङ्कार इत्य-तश्च परिमाणार्थमेवेदं युक्तं **स्वादंशाच्चतुर्भागमिति** । न चास्मिन्नर्थे शास्त्रविरोधो युक्ति-विरोधो वा ।

स्मृत्यन्तराण्येवमेव पक्षमुपोद्बलयन्ति । “असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्व-संस्कृतैः । भगिन्यश्च निजादंशाद्वत्वांशं तु तुरीयकम्” ॥ इति (या०व०स्मृ० २-१२४) । तथा “आ संस्काराद्धरेद्भागं परतो बिभृयात्पत्तिः” इति ।

अस्यायमर्थः—यत्र स्वल्पं धनमस्ति भ्रातुर्भागिन्याश्च न चतुर्भागे कन्याया भरणं

भवति तत्र समभागं कन्या हरेत् आसंस्कारात् । परतस्तु स्मृत्यन्तराच्चतुर्भागं गृह्णीयात्स्वल्पमपि । कथं तर्हि भरणमात्रं कुर्यादत उक्तं—“परतो बिभृयात्पत्तिः” इति ।

भ्रातृग्रहणं सोदर्यार्थं व्याचक्षते । कोऽभिप्रायः भ्रातृशब्दो निरुपपदसोदर्य एव मुख्यया वृत्त्या वर्तते । **पृथक्** वचनं च लिङ्गम् ।

यस्यास्तु हि सोदर्यो नास्ति तस्या आदयः सौदायिकस्य प्राप्नोति । “वैमात्रेयो दास्यतीति” चेन्नासति वचनान्तरे ददात्ययम् । भ्रातृशब्दा एकात्ममातृकाश्च गृह्यन्ते । पैतृष्वेयादिषु तूपचाराद्वर्तत इति युक्तम् । एवमेकशब्दस्यानेकार्थत्वं नाभ्युपगतं भवति । स्मृत्यन्तरसमाचारश्चेति श्रेयान् । तत्र हि पठ्यते “यच्छिष्टं पितृदायेभ्यः प्रदानिकम्” इति । नात्र भगिनीशब्दो भ्रातृशब्दो वा श्रूयते यत इयमाशङ्का स्यात् ।

यत्तु **पृथगिति** तदेकैकस्यैव समूहः भागः सर्वाभ्य इत्येवमपि युज्यते ।

इदमप्युच्यते । अददतां प्रत्यवायो न तु हठादाप्यन्ते । यत उच्यते **पतिताः स्युर-दित्सव इति** । यो हि यत्र यावत्त्यंशे स्वामी स ‘हरेदि’त्युच्यते । न पुनरनेनास्मै दातव्यमिति । यथा नोच्यते भ्राता मात्रे दद्यादिति । यच्चोच्यते तत् पुनरस्वामिभ्यः ॥११८॥

हिन्दी—अपने-अपने भाग का चतुर्थांश भाग (अविवाहित सोदर्या) बहनों के लिए (ब्राह्मणादि चारों वर्ण के) भाई देवें । यदि वे (उन बहनों के विवाह-संस्कारार्थ) चतुर्थांश नहीं देना चाहते हैं तो वे पतित होते हैं ॥११८॥

विमर्श—छोटी सोदर्या बहन का विवाह-संस्कार नहीं होने पर बड़े भाइयों को अपने-अपने भाग में से चतुर्थ भाग (चौथाई हिस्सा) उसके विवाह-संस्कार के लिए देना ही चाहिए । बहन के सोदर्या नहीं होने पर भी वैमातृज (विमाता से उत्पन्न) भाइयों को ही अपने-अपने भाग में से चतुर्थांश देकर उस बहन का विवाह संस्कार करना चाहिये ।

घोड़े आदि के विषम होने पर ज्येष्ठ भाई का भाग—

अजाविकं चैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।

अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥११९॥

भाष्य—**एकशफ**मश्वातरगर्दभादयः विभागकाले समसंख्यया यद्विभक्तुमजाविकं न शक्यते **ज्येष्ठस्यैव**स्यात्र तदन्यद्रव्यांशपातेन समतां नयेद्विक्रीतं वा ततस्तन्मूल्यं दापयेत् ।

अजाविकमिति पशुद्वन्द्वविधावेकवद्भावः ॥११९॥

हिन्दी—बकरा (खस्सी), भेंड़ तथा घोड़ा आदि के विषम होने (भाइयों में समान भाग नहीं विभाजित हो सकने) पर वह बड़े भाई का ही भाग होता है, उसे विषम नहीं किया

जाता अर्थात् समान भाग करने के लिए उसे बेचकर या उसके बराबर धन को सब भाइयों में नहीं विभाजित किया जाता ॥११९॥

क्षेत्र के साथ विभाग होने पर—

यवीयाज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।

समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१२०॥

भाष्य—ज्येष्ठस्य नियोगधर्मेण पितृवत्सोदरेऽतिदेशे प्राप्ते तत्रिवृत्यर्थमुच्यते । **सम-**
स्तत्र विभागः स्यात् । न चोद्धारं न चै“वाधिकं हरेज्येष्ठ” इति । नापि यत्किञ्चिदेव
देयमिति ।

समः स्यात् । केन । उत्पादकेन पितृव्यकेण कनीयसा । अनियुक्तासुतस्य त्वभा-
गार्हतैव वक्ष्यते । इदं च लिङ्गं भ्रातरि सहिते । सत्यपि भ्रातृशब्दे भ्रातृपुत्रेणाप्यसति भ्रातरि
सह विभागः कर्तव्यः ॥१२०॥

हिन्दी—यदि छोटा भाई श्रेष्ठ भाई की स्त्री में ‘नियोग’ (९।५९-६२) द्वारा पुत्र
उत्पन्न करे तो वह (क्षेत्रज) पुत्र अपने चाचाओं के बराबर ही भाग पाने का अधिकारी होता
है अर्थात् उसके भाई के पुत्र होने के कारण वह ‘उद्धार’ (९।११२-११४) अर्थात्
अतिरिक्त भाग का अधिकारी नहीं होता, ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥१२०॥

विमर्श—यद्यपि पहले (९।१०४) सब भाइयों को ही एकत्रित होकर पिता के धन
का विभाजन करने के लिए वचन कहा गया है; तथापि इसी वचन में पिता के मरने पर
ज्येष्ठ भाई के पुत्र अर्थात् पौत्र को भी पितामह के धन को पाने का विधान किया गया है ।

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।

पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥

भाष्य—उपसर्जनमप्रधानं क्षेत्रजः । प्रधानस्यौरसस्य तुल्य इत्येतदध्याहृत्य ।
तद्धर्मतः शास्त्रतो न युज्यते । औरसः किल पितृवज्ज्येष्ठांशं कृत्स्नं लभते । अयं तु
क्षेत्रजोऽप्रधानम् ।

तस्माद्धर्मेण तं भजेत् । ‘धर्मः’ पूर्वोक्ता भागकल्पना ।

“ननु चायमपि ज्येष्ठः पुत्रो भवति किमित्यौरसवन्न लभते” ।

अह आह **पिता प्रधानं प्रजने** । ‘पिता’ जनकोऽत्राभिप्रेतः । स प्रधानमपत्यो-
त्पादने । अयं चाप्रधानः, कनीयसा जनितः । ‘उपसर्जनं प्रधानस्य सम’मित्येवाध्या-
हृत्य श्लोको गम्यते । अर्थवादोऽयं पूर्वस्य ज्येष्ठांशनिषेधस्य । अर्थवादत्वाच्च प्रधानोप-
सर्जनशब्दयोर्यत्किञ्चिदालम्बनमाश्रित्य व्याख्या कर्तव्या ।

अन्ये पठन्ति “तस्माद्धर्मेण तं त्यजेत्” इति । तदयुक्तं, सर्वत्र समभागस्योक्त-
त्वात् । अर्थवादत्वाच्चास्य न विकल्पाशङ्का कार्या ॥१२१॥

हिन्दी—उपसर्जन (छोटे भाई के द्वारा ज्येष्ठ भाई की स्त्री में ‘नियोग’ (९।५९-६१) से उत्पन्न अप्रधान) पुत्र धर्मानुसार प्रधान (साक्षात् पिता के द्वारा उत्पन्न पुत्र के भाग । ‘उद्धार’ (९।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भाग को) पाने का अधिकारी नहीं होता; क्योंकि अपने क्षेत्र (स्त्री) में सन्तान उत्पन्न करने में पिता ही मुख्य है, अतः धर्म से उस पुत्र को पितृव्यों के साथ पूर्व वचन के अनुसार समान भाग लेना चाहिए ॥१२१॥

विमर्श—‘ज्येष्ठ भाई का नियोगज पुत्र पिता के समान ‘उद्धार’ (९।११२-११४) भाग पाने का अधिकारी नहीं होता है, इस पूर्व (९।१२०) कथित विषय को इस वचन द्वारा सकारण पुष्ट किया गया है ।

अनेक माताओं की सन्तान में ज्येष्ठत्व—

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां य पूर्वजः ।

कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥१२२॥

भाष्य—ज्येष्ठा प्रथमोद्भा । पश्चादूढा कनिष्ठा । तयोर्जातानां किं मातुरुद्वाहक्रमेण ज्यैष्ठ्यं स्यात्स्वजन्मक्रमेण वेति संशयमुपन्यस्योत्तरत्र निर्णेष्यते सम्प्रतिपत्तुम् ॥१२२॥

हिन्दी—यदि बड़ी (प्रथम विवाहिता) स्त्री का पुत्र छोटा हो तथा छोटी (बाद में विवाहित) स्त्री का पुत्र बड़ा हो तो वहाँ (‘माताओं के विवाह क्रम से उन पुत्रों की बड़ाई छोटाई का विचार होगा या पुत्रों के जन्मक्रम से होगा?’ ऐसा सन्देह उपस्थित होने पर) विभाजन (धन का बँटवारा) किस प्रकार किया जाय अर्थात् किस पुत्र को बड़ा तथा किस पुत्र को छोटा मानकर पितृ-धन को भाइयों में बाँटा जाय एवं किस पुत्र का कितना ‘उद्धार’ (९।११२-११४) हो ऐसा सन्देह हो तो—

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।

ततोऽपरेऽज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥१२३॥

भाष्य—पूर्वस्यां जातः पूर्वजः । कनीयान् वृषभस्योक्तो भागवान् ।

ततो वृषादन्ये ये वृषभा अज्येष्ठास्ते बहूनामेकशः कृत्वा देयाः ।

अतश्च ज्यैष्ठिने यस्यैतावदुक्तमधिकं यच्छ्रेष्ठो वृषो गुणमात्रेणाधिक्यं न संख्यया तदूनानां तस्मात्पूर्वजादूनानाम् । कियतामित्याह । स्वमातृतः पुनर्मुख्यतोढत्वात्तेनात्र मातृ-ज्यैष्ठ्यमाश्रितं भवति न जन्मतः ॥१२३॥

हिन्दी—पहली (प्रथम विवाहिता) स्त्री का छोटा पुत्र (पितृ-सम्पत्ति में से) एक श्रेष्ठ बैल ‘उद्धार’ (अतिरिक्त भाग—९।११२-११४) लेवे, इसके बाद उससे बचे जो श्रेष्ठ बैल

हैं उनमें से एक-एक बैल अपनी माता (विवाह के) क्रम से उत्पन्न पुत्र लेवें ॥१२३॥

ज्येष्ठस्तु जातोऽज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः ।

ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥१२४॥

भाष्य—उद्धारान्तरं वैकल्पिकमेषामुच्यते । **अज्येष्ठायां ज्येष्ठो जातः** पञ्चदश गा हरेत् । षोडशो वृषभो वृषभसम्बन्धाद्भावो लभ्यन्ते । यथास्य गोर्द्वितीयेनार्थ इति ।

अन्ये **शेषा** गा हरेरन्स्वमातृतः यथैवैषां माता गरीयसी स गरीयसी यस्य कनीयसी स कनीयसोमाहरेत् ।

अथवा ज्यैष्ठिने यस्यायमुद्धारोऽधिक उच्यते पूर्वस्तु स्थित एव । नात्रानडुत्प्रश्लेषः ।

शेषाः कनीयांसः स्वमातृतो हरेरन् । स्वमातृत इति विविच्यते ।

श्लोकद्वयस्यार्थवादत्वात् विवेके यत्नः । उपक्रममात्रमेतत् । सिद्धान्तस्त्वयमुच्यते ॥१२४॥

हिन्दी—ज्येष्ठ (प्रथम विवाहित) माता में उत्पन्न (जन्मकालानुसार भी) ज्येष्ठ पुत्र पन्द्रह गायों के साथ एक बैल ले, तदनन्तर शेष स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र माताओं के विवाह-क्रम से बचे हुए धन में से अपना-अपना भाग लें ॥१२४॥

सजातीय माताओं से उत्पन्न पुत्र में जन्म से ज्येष्ठत्व—

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।

न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥१२५॥

भाष्य—**सदृशः** समानजातीयः ॥१२५॥

हिन्दी—समान (एक) जातिवाली स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों में जाति सम्बन्धी विशेषता नहीं होने से माता के क्रम से ज्येष्ठत्व नहीं होता; किन्तु जन्म (के क्रम) से ही ज्येष्ठत्व कहा जाता है ॥१२५॥

विशेष—इस वचन में समान जातिवाली स्त्रियों में उत्पन्न सन्तान में जाति सम्बन्धी विशेषता नहीं होने से माता के क्रम से ज्येष्ठत्व का महर्षियों ने निषेध किया है, जन्म से ज्येष्ठ के लिए पहले (९।११२) ही 'उद्धार' भाग का विधान किया जा चुका है । इस प्रकार निषेध तथा विधान—दोनों ही होने से यहाँ षोडशी ग्रहण के समान विकल्प मानकर गुणवान् तथा गुणहीन भाइयों की श्रेष्ठता तथा हीनता समझनी चाहिये । इसी कारण से बृहस्पति ने भी जन्म, विद्या और गुण की अधिकता से ज्येष्ठ को त्र्यंश 'उद्धार' दायादों से लेने का विधान किया है माता के क्रम से ज्येष्ठत्व होने पर गुणहीन के लिए एक बैल तथा गुणवान् के लिए पन्द्रह गायों के साथ एक बैल, 'उद्धार' भाग प्राप्त करने का विधान पहले (९।११२-१२४) कह चुके हैं । मेधातिथि ने

तो; ‘ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायाम्’.... (९।१२४) इस श्लोक में ‘ज्येष्ठायाम्’ पद में ‘अज्येष्ठायाम्’ ऐसा सन्धिविच्छेद कर व्याख्यान किया है और गोविन्दराज ने इसे मतान्तर माना है। विशेष जिज्ञासुओं को इस श्लोक की ‘श्रीनेने’ शास्त्री द्वारा लिखित टिप्पणी देखनी चाहिये।

जन्म से ज्येष्ठत्व का अन्य प्रमाण—

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥१२६॥

भाष्य—अर्थवादोऽयं जन्मज्येष्ठतामभ्युपगमयति । सुब्रह्मण्या नाम मन्त्रो ज्योति-
ष्टोमे छन्दोगैः प्रयुज्यत “इन्द्राह्वनाय सुब्रह्मण्यो ३३ इन्द्र आगच्छे”त्यादिप्रयोगे—बहु-
त्वादबहुवचनम् । तत्रेदमुच्यते । प्रथमपुत्रेण पितरं व्यपदिश्य हूयते । ‘देवदत्तस्य पिता
यजते’ । जन्मनो ज्यैष्ठ्यं मुख्यम् । अन्यत् तु मातृविवाहसम्बन्धादौणम् । यमयोर्गर्भ
एककालनिषिक्तयोरपि जन्मतो ज्यैष्ठ्यम् ॥१२६॥

हिन्दी—(इन्द्र के आह्वान के लिए प्रयुक्त होने वाले) ‘सुब्रह्मण्या’ नामक मन्त्र में भी
जन्म से ही ज्येष्ठत्व कहा गया है तथा गर्भ के एक काल में आधान होने पर भी यमज
सन्तानों भी जन्म ही ज्येष्ठत्व कहा गया है ॥१२६॥

पुत्रिकाकरण—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥१२७॥

भाष्य—यदपत्यमस्यां जायेत तन्मे मह्यं स्वधाकरम् । और्ध्वदेहिकस्य श्राद्धादि-
पुत्रकार्यस्योपलक्षणार्थः स्वधाशब्दो न त्वयमेवोच्चार्यः । तथा च गौतमः—“पितोत्सृजेत्-
पुत्रिकामनपत्योग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वास्मदर्धमपत्यमिति सम्वाद्य” ‘अभिसम्बन्धमात्रात्पुत्रिके-
त्येषाम्’ (गौ० २८-१९) इति मन्त्रादियोगेन विनाऽपि भवति पुत्रिका ।

“ननु सम्वादाभावेन यद्यप्यभिसम्बन्धो हृदयात्कृत इत्युच्यते पुनर्वचनेन यावन्न-
ज्ञापितस्तावज्जामाता विप्रतिपद्येत” । कुर्वीत पुत्रिकामेष तस्या व्यपदेशः ॥१२७॥

हिन्दी—पुत्र-हीन पिता कन्या-दान करते समय—‘इस कन्या से जो पुत्र होगा वह
मेरी श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया करनेवाला होगा’ ऐसा जामाता (जमाई-दामाद) से कहकर
उस कन्या को ‘पुत्रिका’ करे ॥१२७॥

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥३॥]

[हिन्दी—‘भाई से हीन अलङ्कृत इस कन्या को मैं तुम्हारे लिए दे रहा हूँ, इससे जो पुत्र हो वह मेरा पुत्र हो ॥३॥]

पुत्रिका करने में पुराना इतिहास—

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।

विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥

भाष्य—प्रजोत्पादनविधिज्ञः प्रजापतिर्दक्षः स एवोदाहियते । अर्थवादोऽयं परिकृतिर्नाम ॥१२८॥

हिन्दी—अपने वंश की वृद्धि के लिए दक्ष प्रजापति ने पुरातन काल में इस विधि से ‘पुत्रिका’ की थी ॥१२८॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥

भाष्य—सत्कृत्येति । एतदत्र विधीयते । दशेत्यादिलिङ्गादनेकपुत्रिकाकरणमपीच्छन्ति ॥१२९॥

हिन्दी—प्रसन्न आत्मावाले उस (दक्ष प्रजापति) ने (-वस्त्र-अलङ्कार आदि से) अलंकृत कर धर्मराज के लिए दस, कश्यप के लिए तेरह और सोम (चन्द्रमा) के लिए सत्ताईस कन्याओं को दिया था ॥१२९॥

विमर्श—दक्ष प्रजापति के द्वारा अलंकृतकर दस, तेरह और सत्ताईस कन्याओं को देने के दृष्टान्त से ‘पुत्रिका’ करने से पहले कन्या को वस्त्र-भूषणादि से अलंकृत करके ही दे तथा एक से अधिक ‘पुत्रिका’ करने का भी विधान सूचित होता है ।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥१३०॥

भाष्य—“यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्” इत्युक्तम् । अपत्यं च ऋक्थभाक् । अतः पितरि मृते पुत्रिकाया अनुत्पन्नपुत्राया धनहरत्वमप्राप्तं विधोयतेऽर्थवादेन । तस्यामात्मनि पुत्रनिमित्ते तिष्ठन्त्यामेव धनं न पुत्रोत्पत्तिस्तदीयाय युज्यते । अथवा तस्यामात्मभूतायां पितृरूपायामिति ।

पुत्रेण दुहिता समेति सामान्यवचनो दुहितृशब्दः प्रकरणात्पुत्रिकाविषयो विज्ञेयः ॥१३०॥

हिन्दी—(‘आत्मा वै पुत्रनामासि’ इत्यादि श्रुतिवचनों से) पुत्र पिता की आत्मा है जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है, (अतएव) आत्म-स्वरूप उस (पुत्री) के वर्तमान रहने पर दूसरा

((दायाद आदि, मरे हुए पिता की) सम्पत्ति को कैसे लेगा (अतएव ‘पुत्रिका’ को ही मरे हुए पिता के धन लेने का अधिकार न्याय प्राप्त है, दूसरे को नहीं) ॥१३०॥

माता का निजी धन कन्या का भाग—

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।

दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥१३१॥

भाष्य—यौतकशब्दः पृथग्भावेन च स्त्रीधने । तत्र हि तस्या एव केवलायाः स्वाम्यम् । अन्ये तु सौदायिकमेव न सबन्धस्त्रीधनम् । तत्र हि तस्याः स्वातन्त्र्यम् ।

“सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते” ।

इतर तु भक्तभूषाद्युपयोगिनः आन्वाहिकाद्भर्तृदत्ताद्धनादुपयुक्तशेषमेव । युवत्या स्वीकृतं यौतकमाहुः ।

कुमारीभाग एव कुमारीग्रहणादूढा नास्ति । एवकारस्य च प्रसिद्धानुवादकत्वात्प्रकरणबाधकत्वमतश्च पुत्रिकाकुमारीविषयमपि यौतकम् । एवं च गौतमः—(२८।२४) “स्त्रीधनं तदपत्यानाम्” इत्युक्त्वाऽऽह “दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां चेति” । तत्रा-
‘प्रतिष्ठिता’ या ऊढा अनपत्या निर्धना भर्तृगृहे याभिः प्रतिष्ठा न लब्धा ।

दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्यानौरसपुत्रस्याखिलं धनं हरेत् । सति त्वौरसे यावानं-
शस्तं वक्ष्यति । अत्रापि पुत्रिकापुत्र एव ‘दौहित्रो’ न सर्वत्र, पूर्ववत्प्रकरणत्यागस्य यौतक-
विविषयत्व एव प्रमाणसम्भवात् ॥१३१॥

हिन्दी—माता का (विवाहादि-काल में पिता या माता आदि से प्राप्त हुआ) धन उसकी कन्या (अविवाहित पुत्री) का ही भाग होता है तथा पुत्रहीन नाना के सब धन को दौहित्र (धंवता, नाती अर्थात् पूर्व (९।१२७) वचनानुसार ‘पुत्रिका’ की गयी कन्या का पुत्र) ही प्राप्त करता है ॥१३१॥

‘पुत्रिका’ के पुत्र को धन लेने का अधिकार—

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरिन् ।

स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥१३२॥

भाष्य—अपुत्रमातामहप्रमातामहाय ।

पूर्वेणैव पौत्रिकेयदौहित्रस्याखिलं रिक्थहरत्वमुक्तम् । अतोऽयं श्लोकस्तदनुवादेन पिण्डदानविधानार्थ इति कैश्चिद्व्याख्यातम् । ‘हरेद्यदी’ति च ते पठन्ति । यस्मिन्पक्षे सर्वं हरेत्तस्मिन्नेव पक्षे दद्यात् । यदा तु “समस्तत्र विभागः स्यात्” इति पक्षस्तदा न दद्यात् । अन्यथा “यो यत आददीत स तस्मै दद्यात्” इत्यनेनैव पिण्डदाने सिद्धे पुनर्वचनम-
मनु ॥ २८

नर्थकम् । अखिलरिक्थग्रहणानुवादश्चानर्थक एव ।

तदयुक्तम् । “अपुत्रस्य पितृहरेत्” इत्ययमेवार्थोऽवगीतश्चिरन्तनपाठः । पितृशब्दश्च जनके प्रसिद्धतरो न मातामहे । अतश्च पुत्रिकाया भर्ता यदि तदन्यभार्यायामपुत्रः पुत्रिका च पुत्रवती । तदाऽनेनैव पुत्रेण जातेन पिता मातामहश्चोभावपि पुत्रवन्तौ वेदितव्यौ । यदा तु बीजीतरासु जातपुत्रस्तदा पुत्रिकापुत्रः समानजातीयायामूढायां जातोऽपि नैव बीजिनो रिक्थं हरेन्नापि पिण्डं दद्यात् । अन्यो हि जन्यजनकभावोऽन्यश्चापत्यापत्यवत्सम्बन्धः । अजनका अपि क्षेत्र क्षेत्रजादिभिरपत्यवन्तो जनकाश्च विक्रीतापविद्धादिपितरो नैवाजी-गर्तादयः पुत्रवन्तः । तथा चौरसलक्षणे ‘स्वक्षेत्र’ (मनु० ९।१६६) इति स्वग्रहणम् । क्षेत्रं च पुत्रिकापितुरेव । भर्ता हि तस्य चानुविधेयवर इति मातृकुले स्वामी । तस्मादेवं तद्वक्तव्यम् । यस्मिन्पक्षेऽविद्यमानान्यपुत्रं पुत्रिकाभर्ता पुत्रिकापुत्रश्चाखिलद्रव्यहारी । तस्मिन्पक्षे कार्यमतः पिण्डदानम् । यदा तु बीजी स पुत्रः सम्पद्यत तदा स पुत्रिकापुत्री नैव बीजिने पिण्डं दद्यात् । स तु दौहित्र इत्युच्यते । पौत्रिकेय इत्यर्थः यथा मातामहपक्षे पितुरपि यो हरेत्तत्रापि स च दद्यादिति श्रूयते । न पुनः पक्षान्तरेऽपि पक्षान्तरेषु दद्यात् । न च सर्व-ग्रहणपक्षे दद्यादिति नोदना पक्षान्तरेऽपि निषेधमनुमापयति । पित्रे पितामहाय चेत्युभयोर-प्राप्तत्वात् । द्योतनं । परिसंख्येति अनुद्यमाने द्योतनमन्यस्मा एव दद्यात्तद्युगपदुभाभ्या-मनेनायमनुवादः । यथैव पित्रे मातामहाय च एवं पितामहाय प्रमातामहाय च । तथैव च ततः पराभ्यां द्वाभ्याम् ॥१३२॥

हिन्दी—नाती (‘पुत्रिका’ (९।१२७) का पुत्र) ही दूसरे पुत्र के नहीं रहने पर पिता का भी सब धन प्राप्त करे और वही अपने पिता तथा नाना के लिए दो पिण्ड देवे ॥१३२॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।

तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥१३३॥

भाष्य—पूर्वशेषोऽयमर्थवादः ।

कथमविशेषस्तयोर्हि मातापितराविति ॥१३३॥

हिन्दी—संसार में पौत्र (पुत्र का पुत्र = पोता) तथा दौहित्र (धेवता, नाती अर्थात् ‘पुत्रिका’ (९।१२७) से पुत्र) में कोई भेद नहीं है; क्योंकि उन दोनों के माता-पिता उसी के शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥१३३॥

‘पुत्रिका’ तथा औरस पुत्र का विभाग—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥

भाष्य—समस्तत्र तुल्यो विभागो जातेन पुत्रेण ज्येष्ठांशनिषेधः । ज्येष्ठता नास्ति

हि स्त्रियाः रिक्थभाग एव ज्येष्ठता निषिध्यते न त्वस्यां गुरुवृत्तौ ॥१३४॥

हिन्दी—‘पुत्रिका’ (९।१२७) करने के बाद यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाय तो उन दोनों (पुत्रिका-पुत्र अर्थात् धेवता तथा पौत्र अर्थात् पोतों) को समान भाग मिलते हैं; क्योंकि ज्येष्ठ होने पर भी ‘उद्धार’ (९-१११-११२) अर्थात् अतिरिक्त भाग निकालने में ज्येष्ठत्व नहीं होता ॥१३४॥

पुत्रहीन पुत्रिका के धन का अधिकारी—

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।

धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥१३५॥

भाष्य—अस्वामिन्यास्तु पुत्रिकाया भर्तुरप्राप्तधनसम्बन्ध उच्यते ।

अथ किं पुत्रिकाविवाहेन संस्क्रियते । उताहो न किञ्चन । यदि संस्क्रियते, भार्ये-वासौ भवति । भार्याकरणो हि विवाहः । ततश्च तद्धनं.....न संस्तूयते । कन्यागमनं प्राप्नोति ‘स्वदारनिरतः सदा’ इति नियमातिक्रमश्च । यथेच्छसि तथास्तु ।

ननु चास्मिन्यक्षे श्लोकोऽयमनर्थकः ।

नैष दोषः । अपरिपूर्णत्वायार्थवत्त्वस्य । यथैतदयमपत्यं न भर्तुस्तेन वेत्याशङ्का-निवृत्त्यर्थो युक्त एव श्लोकारम्भः । बहवश्चार्थवादिनो मानवाः श्लोकाः ।

अथवा पुनस्तु न संस्क्रियत इति । न तु चास्मिन्यक्षे कन्यागमनं प्राप्नोति । किं कृतम् । तथाविधायां जातो मातामहस्य पुत्र इतः साध्यं गंतुर्विध्यर्थीतिक्रमनिरूपणेन प्राकरणिकम् । न च तानि नामानि न पतनीयानि ।

किं पुनर्भवां कन्याशब्दार्थं मत्वा चोदयति कन्यागमनं प्राप्नोतीति । त्रिधा हि कन्या—एका तावदप्रवृत्तपुंप्रयोगा । यथा.....देवहिता प्रथमे वयसि वर्तमाना च । तत्र यदि तावत्पुंसाऽसंप्रयुक्ता रूढाया अपि प्राथमिकात्संप्रयोगादनपगतमेवानुषज्येत । प्रायेण ह्यत्र शास्त्रे कन्याशब्दः पुंसाऽसंप्रयोगमाचष्टे ।

अथसंस्कारहीनेति तदपि न । यतः प्रथममेव वचनमेवं स्मरणाभिप्रायेण तत्र संभवि । प्रामाणान्तरवशाल्लक्षणया ‘हिता’ इत्यत्र प्रतीयते । यथोक्तं—

पाणिग्रहणिकामन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।

नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ (मनु० ८।२२६) इति ।

अत्र धर्मलोपनवचनलिङ्गात्पुरुषापभुक्ताऽकन्येत्युच्यते । तद्विपर्ययेणानुपभुक्ता कन्येति सार्वत्रैव मुख्यार्थमनुरुध्य क्रियमाणा धर्मा लक्ष्यन्ते । ते च न सर्वे, किं तर्हि । यावतां प्रम्माणमस्ति । तथा हि कानीन इति पितुः स्वता, संस्काराभावश्च प्रतीयते । केवले हि

संस्काराभावे चोढास्वैरिणीपुत्राः कानीनाः । केवलायां च पितृस्वतालक्षणायां पुत्रिकापुत्रोऽपि कानीन इति व्यपदिश्यते ।

यच्चोक्तं “स्वदारतस्तु नियमातिक्रमः प्राप्नोती”ति । न ह्यस्यायमर्थः ‘स्वदारेभ्योऽन्या गन्तव्येति । परस्त्रियं च न कामयते न चापरां दाराम् ।’ तथा सत्यनेनैव गतत्वात्परदारप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । किंतर्हि स्वदारेषु रतिर्धारयितव्या रतिभावनयाऽऽभ्यासात्प्रीत्यतिशयोत्पत्तेः । ‘स्त्रियं च न कामयते न चापरान्दारांस्तथा सति धर्मेभ्यो न हीयत’ इत्यनुवादोऽयम् । अथवा स्वदारनिरतोऽपि पर्ववर्जनमेनां ब्रजेयुः । असौ सुषुप्त्यैवमपत्यशेष एव । परदाराप्रतिषेधोऽपि नास्ति । अनूढत्वात्केनचिदारव्यपदेशाभावात् ।

किं पुनरपुत्रयुक्तम् । अविवाहोति । अष्टौ हि विवाहाः । ते च स्वीकारभेदेन ब्राह्म-दिव्यपदेशभेदं प्रतिपद्यन्ते । न चास्याः स्वकरणं भर्तुरस्ति । पितुरेव स्वत्वानतिवृत्तेः । अत्रातृकायां च विवाहप्रतिषेधः पुत्रिकामविवाह्यां दर्शयति । यथा ‘नात्रातृकामुपयच्छेत् तोकं ह्यस्य तद्भवतीति’ । प्राकरणिकश्चायं प्रतिषेधस्तदतिक्रमे विवाहस्य संस्कारतैव नास्ति शूद्राद्याधानस्येवाहवनीयाद्यर्हता रनिगिन्यादिप्रतिषेधेषूपलभ्यमानमूलत्वात्प्रकरणाधीनोऽपि न संस्कारत्वमपनुदति । तथा च शिष्टां दर्शनीयकन्याभावे कपिलादिरूपामुपयच्छन्ति, तथा च सहधर्मानुष्ठानमाचरन्ति (क्षतयोन्यन्यपूर्वाभागोऽत्र) । समानप्रवरादिकयोढयापि कथञ्चिन्न पत्नीकार्यं कुर्वन्ति । एतदर्थमेव कैश्चिन्नोद्बहेत्कपिलामि’ (३-८)-त्यत्र दृष्टदोषोपवर्णनं, प्राकरणिकत्वेऽपि सपिण्डादिप्रतिषेधस्य चैकरूप्यं मा विज्ञायीति ।

“कथं पुनः स्पृष्टिप्रतिषेधो भ्रातृकामुपयच्छते तस्मिन्नोद्वाहशङ्का” ।

उच्यते । अस्य प्रतिषेधस्य वाक्यशेषः श्रूयतेऽ‘पत्यं ह्यस्य तद्भवती’ति अनेन । ततश्चापत्योत्पत्तावेव पुत्रिका न भार्या । धर्मार्थमर्थकामयोस्त्वस्त्वेव सहाधिकार इति ।

भवत्वयं, परिहारस्तु स्वकरणाभावादविवाहः ।

ननु तस्मिन्पक्षे कानीन एव पुत्रिकापुत्रः स्यात् । न ह्यसौ पितुः ‘स्वं’ स्यादसंस्कृतयोश्चापत्यमिति । संस्कारपक्षे तु पितृस्वतासंस्कारभावोभयलक्षणवान् प्रत्यक्षादन्यतरधर्माभावे तु कानीनाद्भिद्यत इति युक्तम् ।

अत्रोच्यते । न वयं पुत्रिकापुत्रस्य कानीनस्य लक्षणं तदस्य नास्तीति ब्रूमः । इदं हि तस्य लक्षणम्—

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।

तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ (मनु० ९।१७२) इति ।

अस्य चार्थः । य एवंलक्षणः स इह शास्त्रे कानीनग्रहणेषु ग्रहीतव्यः । स च कस्यापत्यमित्यपेक्षायां ‘वोढुः कन्यासमुद्भवम्’ इति द्वितीयं वाक्यम् । अथवा नेह पदार्थो

लक्ष्यते । किं तर्हि ? सम्बन्धिता नियम्यते । य एवंविधः कानीनस्तं वोढुः सम्बन्धिनं वदेदित्येकवाक्यतैव । सम्बन्धिता च पदार्थभेदे चाप्युपाधिभेदाद्भिद्यत एव । रहः प्रकाश-भेदेन । (चैव मातामहस्य । अन्ये चाहुरिति पदार्थस्तु) तदा कानीनशब्दस्य शब्दार्थ-सम्बन्धोऽबाधित एवावगन्तव्यः । तेन चापत्यमात्रो कानीनो भवति । भवतु पैतृके कानीने व्यवहारः ।

अन्ये तु स्मृतिमेव विशेषनिष्ठामाहुः । न हि कन्यापत्यमात्रे सर्वत्र कानीनशब्दः प्रयुज्यते । किं तर्हि, मानवस्मृतिलक्षिते ।

एतदप्यनुमन्यामहे (निश्चिते प्रयोगाभावेऽवशेषस्मरणेऽपि पुण्यसिद्ध्यादितद्विशेषा-वगतिः प्रयोगतो न्याय्यैव ॥१३५॥

हिन्दी—किसी प्रकार (दुर्भाग्य आदि के कारण से) विना पुत्र उत्पन्न किये ही ‘पुत्रिका’ (९।१२७) आदि मर जाय तो उसके पिता (श्वसुर) के धन को ‘पुत्रिका’ का पति ही निःसन्देह होकर ग्रहण करे ॥१३५॥

‘पुत्रिका’ के दो भेद—

अकृता वा कृता वाऽपि यं विंदेत्सदृशात्सुतम् ।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥१३६॥

भाष्य—अधस्तनोपरितनवाक्यपर्यालोचनया पुत्रिकापुत्रविषय एवायमतिशयोक्त्या प्रतीयते ।

अकृताया अपि दुहितुः पुत्रो मातामहधनभागित्युक्तम् । किं पुनः कृताया इत्येवम् । अन्यशेषत्वात्पुत्रिकाया विधिष्वानर्थक्यप्रसङ्गात्त दौहित्रस्य रिक्थप्राप्त्यर्थः ।

ननु च स्मृत्यन्तरे दौहित्रमात्रस्य पिण्डदानाधिकारः श्रूयते “मातामहानामप्येवमिति” (या० १।२२८) । इहापि प्रकरणं हित्वा श्रुतिवाक्यसामर्थ्येन दौहित्रमात्रविषयतैव प्रति-पत्तुं न्याय्या । **दद्यात्पिण्डं हरेद्धनमिति** । तथापरमुक्तं “दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थम्” (मनु० १।१३२) इत्यादि ।

अत्रोच्यते । यदुक्तं मातामहानामिति तद्वहुवचनं किं व्यक्त्यपेक्ष्यमुत लक्षणाया प्रमातामहाद्यभिप्रायेण । व्यक्तिपक्ष एकस्यैव मातामहस्य पिण्डदानं प्राप्नोति श्रद्धादिवत् । तच्च सपिण्डीकरणे कृते विरुद्धम् । एवं ह्याहुः ‘अत ऊर्ध्वं त्रिभ्यो दद्यात्’ इति । अथापि “पितुरन्यस्य सपिण्डीकरणमेव न करिष्यत” इत्युच्यते, तदपि न, निषेधाभावात् । लक्षणायाः सन्निकर्षो विशेषाभावाल्लक्षणविशेषपरिज्ञानेऽनवगमत्वमेव श्रुत्वादिबलेन च प्रकरणत्यागस्येति विरोधप्रसङ्गस्तं निवेशो हि पदार्थः प्रकरणादुत्कृष्यते । द्वादशोपसदो हीनस्येतिवत् । **अकृता वेत्यस्य** चान्यपरत्वमुक्तम् । तस्मात्पात्रिकेयविषयमेतत् ॥१३६॥

हिन्दी—‘पुत्रिका’ (१।१२७) की गयी अथवा नहीं की गयी पुत्री के गर्भ से समान जातिवाले पति के द्वारा उत्पन्न पुत्र से ही नाना पुत्रवान् होता है, (अतएव) वह (पुत्र) ही नाना के लिए पिण्डदान करे तथा पुत्र उसका सब धन प्राप्त करे ॥१३६॥

विमर्श—गोविन्दराज का मत है कि अपुत्रिका ही कन्या तथा उसका पुत्र भी नाना के धन में पौत्रिकेय (पुत्रिका के पुत्र) के समान नाना आदि के वर्तमान रहने पर भी भाग प्राप्त करने का अधिकारी होता है; किन्तु पुत्र का तो पुत्र-तुल्य होती है और अपुत्रिका तथा उसके पुत्र (पुत्रतुल्य) नहीं होते, अतएव उनके पुत्र भी तुल्य नहीं हो सकते, इस कारण वे पौत्रिकेय के समान नाना के वर्तमान रहने पर भी उसके धन का भागी नहीं हो सकते।

पुत्र तथा पौत्रादि का धन भाग आदि—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रह्मस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥

भाष्य—पुत्रेण जातेन तत्कृतेनोपकारेण लोकान्स्वर्गादीन्दश विशोकान् जयति प्राप्नोति । तत्रोत्पद्यत इति यावत् ।

एवं पौत्रेणानन्त्यं तेष्वेव चिरन्तनकालमवस्थानं लभते ।

पौत्रस्य पुत्रेण ब्रह्मस्य विष्टपमादित्यलोकं प्राप्नोति । प्राकाश्यमश्नुते न केनचित्तमसा त्रियते ॥१३७॥

हिन्दी—(पिता) पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र (पुत्र के पुत्र—पोते) से उन लोकों में अनन्तकाल तक निवास करता है तथा प्रपौत्र (पुत्र के पौत्र—परपोते) से सूर्य लोक को प्राप्त करता है ॥१३७॥

विमर्श—‘स्त्री आदि के रहने पर भी पिता के धन में पुत्र का और उस (पुत्र) के अभाव में पौत्र (तथा प्रपौत्र) का भाग होता है’ यह निर्देश करने के लिए दाय भाग के प्रकरण में यह वचन कहा गया है ।

‘पुत्र’ शब्द का अर्थ—

पुत्राप्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयं भुवा ॥१३८॥

भाष्य—अपत्योत्पादनविधिशेषोऽयमर्थवादः ।

पुंनामनरकं चतुर्विधभूतोत्पत्तिः पृथिव्यां व्यपदिश्यते । ततस्त्रायते पुत्रो जातः देवयोनौ जायत इत्यर्थः ।

तस्माद्धेतोः पुत्र इति व्यपदिश्यते ॥१३८॥

हिन्दी—जिस कारण पुत्र “पु” नामक नरक से पिता की रक्षा करता है, उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे ‘पुत्र’ कहा है ॥१३८॥

पौत्र तथा पौत्रिकेय की समानता—

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।

दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥

भाष्य—अत्रापि दौहित्रः पुत्रिकापुत्र एवं विज्ञेयः ।

दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् । अयमप्यर्थवाद एव । विहितत्वादर्थस्य ।

एतयोर्विशेषो नास्ति । एकस्य माताऽन्यकुलीनाऽपरस्य पिता । तस्माद्दौहित्रोऽप्यमुत्र लोक एनं प्रेतं सन्तं सततं संतारयति नरकात्पूर्वस्मात् ॥१३९॥

हिन्दी—संसार में पौत्र (पोता-पुत्र के पुत्र) तथा दौहित्र (धेवता-पुत्री के पुत्र) में भेद नहीं सिद्ध होता; क्योंकि दौहित्र भी पौत्र के समान ही इस (नाना) का परलोक में उद्धार कर देता है ॥१३९॥

विमर्श—यह वचन पौत्र तथा दौहित्र में समानता का प्रदर्शक है और उनमें समानता सिद्ध होने पर पौत्र के समान ही दौहित्र को भी नाना के धन में भाग पाने का अधिकार बतलाने के लिए है ।

पौत्रिकेय (दौहित्र) कृत श्राद्ध करने में—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।

द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥१४०॥

भाष्य—‘स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च’ (मनु० ९।१३२) इत्यत्र पुत्रिकापुत्रपिण्डदानं मातामहप्रक्रममुक्तम् । तस्मादयमपरः क्रमः पुत्रिकापुत्रपिण्डदानस्य । मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेदित्येवमादि । द्वितीयं तु तस्या एव पितुरित्यनुमन्तव्यम् ।

ये तु पठन्ति ‘पितुस्तस्येति’ तत्प्रथमं पुत्रिकायै निरुप्य जनकाय निर्वपन्ति । तत्पितुः पितुरिति च जनकस्यैव पित्रे तृतीयम् । अस्मिंस्तु पक्षे मातामहाय पिण्डदानं नो स्यात् ॥१४०॥

हिन्दी—पुत्रिका-पुत्र (नाती-धेवता अर्थात् पुत्रिका-पुत्र, श्राद्ध करते समय) पहला पिण्ड माता के लिए, दूसरा पिण्ड उसके पिता (अपने नाना) के लिए और तीसरा पिण्ड माता के पितामह (अपने परनाना) के लिए दे ॥१४०॥

गुणीदत्तक पुत्र को भाग का अधिकार—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।

स हरेतैव तद्विक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥

भाष्य—“न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः” (मनु० ९।१८५) इति सर्वपुत्राणां रिक्थहरत्वमुक्तम् । सति त्वौरसे प्रजीवनमात्रभाक्त्वं क्षेत्रजादीनाम् ।

“एक एवौरसः पुत्रः पितृस्य वसुनः प्रभुः ।

शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात् पुत्रजीवनमिति” ॥ (मनु० ९।१६३) ।

अतोऽस्ति सिद्धमेव दत्त्रिमस्य रिक्थहरत्वम् । इदं तु वचनं सत्येवौरसे प्राप्त्यर्थ-
मन्यथा न किञ्चिदनेन क्रियते ।

कियांस्तु तस्य भाग इति । विशेषादेशाभावात्सम औरसेनेति केचित् ।

तदयुक्तम् । साम्ये ह्यभिधीयमाने यथैव पुत्रिकाप्रकरणे पठितमेवमत्राप्यपठिष्यत्
“समस्तत्र विभागः स्यात्” (मनु० ९।१३४) इति । तस्मात्क्षेत्रजवत्षष्ठपञ्चमादिभाग-
कल्पना कार्येत्युच्यते ।

अत्राप्यस्ति वक्तव्यम् । यथैव भागविशेष उक्तः क्षेत्रजस्य “षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशम्”
(मनु० ९।१६४) इति तथैव दत्त्रिमे वक्ष्यति । तस्मात्पुनर्वचने प्रयोजनं चिन्त्यम् ।

अत्राप्यस्ति वक्तव्यम् । यथैव भागविशेष उक्तः क्षेत्रजस्य “षष्ठं तु क्षेत्रजस्यां-
शम्” (मनु० ९।१६४) इति तथैव दत्त्रिमे वक्ष्यति । तस्मात्पुनर्वचने प्रयोजनं चिन्त्यम् ।

उपाध्यायस्त्वाह—पुनर्वचनाद्विशेषनिर्देशाभावाच्च क्षेत्रजाभ्यूना कल्पना युक्ता; न
त्वभागता, नापि समभागता, न क्षेत्रजतुल्यतेति ॥१४१॥

हिन्दी—जिसका दत्तक पुत्र सब गुणों से युक्त हो, परन्तु अन्य गोत्र से आया हो,
तथापि वह पिता के धन को पाता ही है ॥१४१॥

विमर्श—आगे ‘पुत्रा रिक्थहराः पितुः’ (९।१८५) वचन से १२ प्रकार के पुत्रों का
पितृधन में भाग लेना कहेंगे तथा ‘दशापरे तु क्रमशः’ (९।१६५) इस वचन से औरस पुत्र
के अभाव में दत्तकपुत्र का पितृ-धन में भाग स्वतः प्राप्त है; अतएव औरस पुत्र के विद्यमान
होने पर विद्यादि गुणोंवाले दत्तकपुत्र को पितृधन में भाग-प्राप्ति का विधान करने के लिए
यह (९।१४१) वचन कहा गया है और इस वचन के अनुसार अन्य गोत्र से आया हुआ
भी दत्तकपुत्र पितृ-धन का भागी होता ही है । विशेष यह है कि ‘एक एवौरसः पुत्रः.....’
(९।१६३) वचन के अनुसार औरसपुत्र का स्थान सर्वश्रेष्ठ होने से दत्तकपुत्र औरस
के समान (बराबर) भाग को नहीं पाता, अपितु क्षेत्रजपुत्र के समान षष्ठांश हो पाता
है । गोविन्दराज का मत है कि यह वचन ‘औरसपुत्र के अभाव में सर्वगुणसम्पन्न दत्तकपुत्र

पितृ-धन का भागी होता है’ इसका प्रतिपादन करता है, किन्तु कृत्रिमादि निर्गुण पुत्रों को पितृ-धन का भागी होना तथा उसके प्रथम पठित दत्तक का सर्वगुणसम्पन्न होने पर ही पितृ-धन का भागी होना न्यायसङ्गत नहीं है। अतएव गोविन्दराज का मत युक्तिविरुद्ध होने से उपेक्ष्य है।

दत्तकपुत्र को पूर्व पिता के धन पाने का अधिकाराभाव—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्तमः क्वचित् ।

गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

भाष्य—इतश्च भागहरत्वं दत्तमस्य तूक्तम् । यतो जनयितुः सकाशाद्गोत्रं धनं च न हरति, वंशादपेतत्वात् । गोत्ररिक्थग्रहणाभावे च पिण्डमपि जनयित्रे न ददाति । गोत्र-रिक्थानुगो हि पिण्डो गोत्ररिक्थेऽनुगच्छति । यदीये गोत्ररिक्थे गृह्येते तस्मै पिण्डोदक-दानाद्यौर्ध्वदेहिकं क्रियते ।

व्यपैति तस्मान्निवर्तते । स्वधाकरसाधनं पिण्डश्राद्धादि लक्ष्यते । तदेतत् योऽन्य-स्मै स्वपुत्रं ददाति तस्मान्निवर्तते । न तस्य कर्तव्यमित्यर्थः । एष एव न्यायः कृत्रिमादीनां सहोढापविद्धद्व्यामुष्पायणानामुभयोपकारकत्वम् ।

अन्ये तु न हरेन्न हारयेदित्यन्तर्भावितण्यर्थं व्याचक्षते । तेनोभयस्यापि द्व्या-मुष्पायणवदुपकर्तव्यमित्याहुः ।

उत्तरस्तूपकारोपक्रमः । तमेवं गमयन्ति । यदि गोत्ररिक्थे न हरेत्पुत्रस्तदा तु व्याख्येयम् । न चैतद्युक्तम् । न ह्यर्थान्तरभावे प्रमाणं वक्तव्यम् ॥१४२॥

हिन्दी—दत्तक पुत्र अपने पिता (जिससे उसका जन्म हुआ है) के गोत्र तथा धन कहीं भी नहीं प्राप्त करता है, इसलिए पुत्र को दूसरे के लिए देते हुए (उत्पन्न करनेवाले) पिता के गोत्र तथा धन सम्बन्धी स्वधा (श्रद्धादि-कर्माधिकार) नष्ट हो जाते हैं ॥१४२॥

कामजादि पुत्र को पितृ-धनभाग प्राप्ति का अधिकार—

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात् ।

उभौ तौ नार्हतौ भागं जारजातककामजौ ॥१४३॥

भाष्य—अपुत्रे भर्तरि मृते पुत्रोत्पादने स्त्रिया गुरुनियोगोऽपेक्षितव्य इत्युक्तम् । तस्यवायमनुवादः ।

या गुरुभिरनियुक्ता पुत्रार्थिनी पुत्रमुत्पादयेत्—‘क्षेत्रं किलाहं भर्तुः, क्षेत्रजश्च पुत्रस्त-र्थहर’ इत्यनया भ्रान्त्या—स तस्यां समुत्पन्नो न रिक्थहरः । यतः क्षेत्रजादिविशिष्टेन विधिनोत्पन्नस्य शास्त्रे क्षेत्रजव्यपदेशात् । तेनैव चास्य क्षेत्रजस्य रिक्थहरत्वमत्र वार्यते । पिण्डदानं तु न निषिध्यते । यद्यपि पतितोत्पन्नो भवति ।

नारदस्तु विशेषं स्मरति—

“जाता ये त्वनियुक्तायामेकेन बहुभिस्तथा ।
अरिक्थभाजस्ते सर्वे बीजिनामेव ते सुताः ॥
“दद्युस्ते बीजने पिण्डं माता चेच्छुल्कतो हता ।
अशुल्कोपनतायां तु पिण्डदा वोढुरेव ते॥”

(अ० १३ श्लो० १९-२०) ॥ इति

सुतवचनात्कृत्रिमादिवदुत्पत्तिविध्यभावात्पुत्रमध्ये चापरिगणितत्वात् त्रैवर्णिकानां च बीजजाः प्रजीवनमात्रभागा, न रिक्थहराः । यतोऽविशेषेण सर्वपुत्राणां भर्तरि प्रेते स्मर्यते—
‘ऊर्ध्वमपि पितुः’ पुत्रोपकर्तव्यशिष्टस्य धनस्य विभाज्यत्वान्नभेरेव प्रजीवनम् । एव-
मेवौरसादिपुत्रस्य सपिण्डबीजकाः प्रजीवनमात्रभागाः कर्तव्याः । रिक्थहरत्वं तु नास्ति ।
परिगणितपुत्रविशेषोद्देशेन रिक्थहरत्वस्य श्रवणात् । उक्तं चैतत् उक्तानां “यद्येकरिक्थिनौ
स्यातामिति” (मनु० ९।१६२) ।

अत्रानेन च दर्शनेनानियुक्तासुतादय इतरत्रानंशत्वाद्बीजिनो रिक्थं लभेरन्निति । रिक्थं
प्रजीवनपर्याप्तमेतद्विज्ञेयम् । उक्तत्वादस्या भागार्थ एव दासीव भण्यते । या “सप्तैता
दासयोनय” (मनु० ८।४१५) इति निरूपिता यासां प्रयोगार्थमवगन्तव्यं क्रियते । तस्यां
जातो न दासः सुतव्यपदेशाभावः शूद्रस्यापि तज्जा ब्राह्मणादिवत्प्रजीवनभाजः ।

अन्यस्त्वाह—नियतकर्मकरा अपि दासा भवन्ति । यथा स्नापकः प्रसाधकः पाचकः
इति । एवं कामतोऽप्यवरुद्धा भक्ताच्छादनेन पोष्यमाणा दास्यो भवन्ति । एवं पुत्रिण्या-
विद्यमाने पुत्रे आप्तो देवरात्रियुक्तयाऽपि । कथं पुनः पुत्रवत्या नियोगः । देवर एव
कामार्थं नियुक्तिः । पुत्रोत्पादनव्यपदेशेनेत्यभिप्रायः ।

‘जारजातकत्व’मुभयोः, ‘कामजत्वं’ तु पुत्रवत्यां जातस्य । आद्यार्थायां पुत्रार्थैव
प्रवृत्तिर्न कामतो लोभेन ॥१४३॥

हिन्दी—अनियोग (९।५९-६१) से उत्पन्न अथवा पुत्रवती स्त्री में नियोग (गुरु आदि
की आज्ञा से देवरादि से) उत्पन्न पुत्र क्रमशः जार तथा कामवासना से उम्पन्न होने से पितृ
धन के भागी नहीं होते हैं ॥१४३॥

नियुक्तायामपि पुत्रान्नार्याञ्जातोऽविधानतः ।

नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥१४४॥

भाष्य—अविधानतः शुक्लवस्त्रादिनियमत्यागो ‘विधानाभावः’ । स नार्हति रिक्थं,
नासौ क्षेत्रज इत्यर्थः । नियमत्यागेन देवरभ्रातृजाययोः पुत्रोत्पादने प्रवर्तमानयोर्युक्तं पति-
तत्वम् । शास्त्रेण नियमितयोगमनानुज्ञानात् ॥१४४॥

हिन्दी—नियुक्त (गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त की हुई) स्त्री में भी विधिहीन (९।५९-६१ के अनुसार घृताक्त आदि न होकर) उत्पन्न किया गया पुत्र पितृ-धन का भागी नहीं होता है; क्योंकि वह (९।६३ के अनुसार) पतित से उत्पन्न हुआ है ॥१४४॥

क्षेत्रज पुत्र को पितृ-धन प्राप्ति का अधिकार—

हरेत्तत्र नियुक्तायाज्ञातः पुत्रो यथौरसः ।

क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥

भाष्य—**यथौरस** इत्येतदत्र विधीयते ज्येष्ठांशप्राप्त्यर्थमन्यदा नोच्यते । अनेन विधानेन ज्येष्ठांश उद्धारः क्षेत्रजस्य प्राप्यते ज्येष्ठभार्याजातस्य । अतश्च यत्पुत्रसमांशभाक्त्वमुप-सर्जनं प्रधानस्य’त्यनेन तस्यायमपवादः । उभयस्य च प्रामाण्यात् विकल्पितस्य च गुणापेक्षया व्यवस्था । न ह्यन्यदस्य श्लोकस्य प्रयोजनमस्ति, प्रागुक्तत्वात् सर्वस्य ।

क्षेत्रिकस्य क्षेत्रस्वामिनस्तद्बीजं तत्कार्यकरत्वात् प्रशंसयैवमुच्यते । अत एवाह **धर्मतः** धर्मेण शास्त्रीयया व्यवस्थया । तत्र प्रमाणान्तरं दृश्येन रूपेण **प्रसवः** अपत्यम् । अर्थवादः श्लोकः ॥१४५॥

हिन्दी—नियुक्त (९।५९-६१) स्त्री से उत्पन्न पुत्र औरस पुत्र के समान पिता के धन का भागी होता है; क्योंकि वह क्षेत्रज (स्त्री का बीज) है और धर्मानुसार सन्तान भी है ॥१४५॥

विमर्श—पहले (९।१२०) क्षेत्रज पुत्र को पितामह के धन में पितृव्य (चाचा, काका आदि) के बराबर भाग पाने का अधिकार कह चुके हैं, अब श्रेष्ठगुणयुक्त पुत्र को औरस पुत्र के समान ही ‘उद्धार’ (९।११२-११४) भाग पाने का अधिकार प्रतिपादन करने के लिए यह वचन कहा गया है ।

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।

सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥

भाष्य—विभक्तधनस्य भ्रातुरभावे विधिरयमुच्यते । पूर्वस्तु सह वसतः । एतावान्पूर्वोत्तरयोर्विध्योर्विशेषः ।

सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य नियोगधर्मेणेति व्याख्येयम् । **दद्यात्तस्यैव** न पुनस्तदीयायै च मात्रे । अनेनैव च दर्शनेन स्त्रियो भरणार्हाः । न तु पतिधनैश्चर्य इति । अन्यथैव रक्ष्यमाणत्वात् । **तस्य तद्धनम्** । ‘तस्य’ विभक्तधनस्य ‘धनं’ दद्यादिति ॥१४६॥

हिन्दी—निःसन्तान मरे हुए (बड़े) भाई के धन तथा स्त्री की जो भाई रक्षा करे, वह (छोटा भाई अर्थात् उस स्त्री का देवर) नियोग (९।५९-६०) धर्म से स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके मृत भाई का सब धन उसी पुत्र को दे देवे ॥१४६॥

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।

तं कामजमरिक्थीयं मिथ्योत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥

भाष्य—अनियुक्तेति प्रश्लेषो द्रष्टव्यः । पूर्वोक्तेन च विरोधो यतः तथा सत्यनर्थक इति चेदुक्तः पौनरुक्त्यपरिहारः तत्र तत्र । पूर्वे तु न तमिच्छन्ति । ततश्चेयं व्याख्या । नियुक्तायामपि जातः पैतृकं रिक्थं नार्हति । कामजमिति ।

यत्तु उत्तर उच्यते । यद्यपि नियोगात्प्रवर्तते न कामात्तथापि तत्र कामोऽवश्यम्भावी अत उच्यते । तं कामजमिति । मिथ्योत्पन्नं यदर्थमुत्पादितस्तत्कार्यानर्हत्वादेवमुच्यते । एवं च पूर्वोक्तस्य भागार्हत्वस्य प्रतिषेधोऽयमतश्च विकल्पितम् । अनियुक्तेति पाठे पुनः पाठान्न सङ्गच्छेतेतरामित्युपाध्यायः ॥१४७॥

हिन्दी—कामवशीभूत जो स्त्री नियोग (९।५९-६१) से दूसरे (सपिण्ड व्यक्ति) या देवर से पुत्र प्राप्त करे, उस पुत्र को मनु आदि महर्षि कामजन्य, पितृधन का अनधिकारी और वृथोत्पन्न बतलाते हैं ॥१४७॥

विमर्श—मुख से (चुम्बनादि के लिए) मुख का, शरीर (हाथ आदि) से (स्तनादि का) स्पर्श बचाते हुए तदवशिष्ट कुल में सन्तान के लिए (सम्भोग कर) पुत्रोत्पादन करे, काम (वासना) से न करे—इस नारद वचन के अनुसार पुत्रोत्पत्ति नहीं करने पर वह पुत्र कामजन्य कहा जाता है और वह पितृधन का भागी नहीं होता ।

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।

बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥

भाष्य—एकयोनिषु एकजातीयजानां सर्वहरत्वमेव ।

नानास्त्रीषु नानाजातीयास्विदानीं व्याचक्षते । बह्वीष्वित्यनुवादः ।

अन्ये तु विवक्षितं मन्यन्ते । नानाजातीयासु बह्वीषु जातानां वक्ष्यमाणा 'चतुरो-
शान्हरेदि'(मनु० ९।१५३)त्यादि भागव्यवस्था । एकस्यां तु विजातीयायां कदापि न प्रयुज्यते तस्येहासम्भवादग्रहणम् ॥१४८॥

हिन्दी—(भृगुमुनि ऋषियों से कहते हैं कि) समान जातिवाली स्त्रियों में एक पति से उत्पन्न पुत्रों का यह (९।१०३-१४७) विभाग-विधान (बटवारे का नियम) जानना चाहिये । जब अनेक जातियों वाली बहुत-सी स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के विभाग (हिस्से) को (आपलोग) ज्ञात करें ॥१४८॥

अनेकजातीय माताओं में उत्पन्न पुत्रों का भाग—

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ।

तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥१४९॥

भाष्य—अनुपूर्वग्रहणं तृतीये दर्शितस्य क्रमस्यानुवादः । अयमपि वक्ष्यमाण-संक्षेपप्रतिज्ञानार्थः ॥१४९॥

हिन्दी—यदि ब्राह्मण (पति) की ब्राह्मणी आदि चारों वर्णों (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा) की स्त्रियाँ हों तो उनमें उत्पन्न पुत्रों का यह (९।१५०-१५५) में कहा जानेवाला) विभाग का विधान है ॥१४९॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च ।

विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥१५०॥

भाष्य—कीनाशो वाहः । तथा च मन्त्रः “इन्द्र आसीत्सीरपतिः, कीनाशा आसन्मरुतः, यथा सुतं कीनाशा अभियंतु वाहैरिति” । यानं गन्त्र्यादिः । अलङ्कारः पितृधृताङ्गुलीय-कादिः । वेश्म प्रधानम् । एकांशश्च यावन्तोऽशास्तत एकः प्रधानभूतस्तस्य दातव्यः । ज्येष्ठस्य एतन्मध्यकादुद्धृत्य शिष्टं वक्ष्यमाणकल्पनया विभजनीयम् ॥१५०॥

हिन्दी—ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र के लिए खेती करने योग्य एक बैल, (या हल तथा बैल), सवारी (घोड़ा आदि), भूषण, घर, इनमें से जो श्रेष्ठ हो, उनको सब भागों में से एक भाग देना चाहिये ॥१५०॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।

वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५१॥

भाष्य—सत्यप्येकत्वश्रवणो द्विबहुष्वपि समांशेष्वेषैव कल्पना दर्शिता । विषम-संख्येषु तु कल्पना ॥१५१॥

हिन्दी—(पूर्व (९-१५०) वचनानुसार ‘उद्धार’ भाग करने के बाद बचे हुए पितृ धन में से) तीन भाग ब्राह्मणी का पुत्र, दो भाग क्षत्रिय का पुत्र, डेढ़ भाग वैश्या का पुत्र और एक भाग शूद्रा का पुत्र पाता है ॥१५१॥

विमर्श—यदि केवल ब्राह्मणी तथा क्षत्रिया के ही पुत्र हों तो उस प्रकार से ‘उद्धार’ भाग निकालने के बाद बचे हुए पितृ-धन का पाँच भागकर उनमें से तीन भाग ब्राह्मणी के पुत्र का तथा दो भाग क्षत्रिय के पुत्र का होता है । इसी प्रकार ब्राह्मणी तथा वैश्या के ही पुत्र हों तो उद्धार से बचे हुए पितृधन में से साढ़े चार भाग करके तीन भाग ब्राह्मणी के पुत्र का तथा डेढ़ भाग वैश्या के पुत्र का होता है, इसी प्रकार तीनों वर्णवाली स्त्रियों में किसी एक या दो स्त्री को पुत्र न होने पर कल्पना कर विभाजन करना चाहिये ।

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥१५२॥

भाष्य—**रिक्थजातं** धनरूपम् । धर्मप्रवचनाद्धर्म्यम् । पूर्वोक्तं नानुमन्यते, वक्ष्यमाणप्रतिज्ञाश्लोकात् ॥१५२॥

हिन्दी—अथवा सम्पूर्ण (पूर्व (९/१५०) के अनुसार 'उद्धार' भाग निकालने पर (बचे हुए) पितृ धन के दश भागकर धर्मज्ञाता पुरुष (९/१५३) इस प्रकार से विभाजन करे ॥१५२॥

चतुरोऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।

वैश्यापुत्रो हरेत् द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५३॥

भाष्य—इह विशेषेणपि क्षत्रियादिपुत्राणां भागश्रवणे स्मृत्यन्तरे विशिष्टयोरगमयोरन्यो भागविशेषः श्रूयते—

न प्रतिग्रहभूदेया क्षत्रियायाः सुताय वै ।

यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥ (बृहस्पतिस्मृति) इति ।

प्रतिग्रहोपात्ता 'प्रतिग्रहभूः' । क्रयाद्युपात्ताया न निषेधः । तथाऽन्यत्र पठ्यते—
“शूद्रायां तु द्विजाज्जातो न भूमेर्भागमर्हति” इति भूमिमात्रस्य शूद्रापुत्रे निषेधः ।

एतच्च यत्रान्यद्धनमस्ति तद्विषयं द्रष्टव्यम् । अन्यथा दशमांशवचनमुपतिष्ठेत । धनान्तराभावे च जीविकैव न स्यात् ।

अहं तु ब्रुवे भागदानं तु निषिध्यते, प्रजीवनार्थत्वं चोपकल्पनमनिवारितमेव ।

को विशेषे इति चेत्—भागपक्षे सर्वेण सर्वत्र स्वत्वोत्पत्तौ दानविक्रयादिष्वपि युज्यते । इतरत्र तूपजीवनं तदुत्पन्नस्य । व्रीह्योदनं च प्रजीवनं ब्राह्मणीपुत्रादेव शूद्रो लभते, किं भूमि-भागकल्पनया । तथा चोक्तं—“लभते तद्वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिनेति” (गौ० २८।३९) ।

सत्यम् । पितृधननिमित्तं तु तस्य प्रजीवनं कल्पयितव्यम् । भागकाले च यदि न कल्प्येत, तदा द्विजातयो भ्रातरः कदाचिदसद्वृत्तयो निमित्तान्तरतो वा दानविक्रयादिनाऽपहरेयुः । उच्छिद्येत तदाऽस्य जीवनम् । विकल्पिते तु तदीयामनुज्ञामन्तरेण न लभन्तेऽन्यत्र नियोक्तुम् ॥१५३॥

हिन्दी—पूर्वोक्त वचनानुसार दश भाग किये गये पितृ-धन में से चार भाग ब्राह्मणी का पुत्र, तीन भाग क्षत्रिय का पुत्र, दो भाग वैश्य का पुत्र और एक भाग शूद्रा का पुत्र लेवे ॥१५३॥

विमर्श—यहाँ भी इस वचन के अनुसार विभाग करने के पक्ष में यदि ब्राह्मणी तथा क्षत्रियों के ही पुत्र हों तो उक्त (९।१५०) 'उद्धार' भाग निकालने के बाद बचे हुए पितृधन के सात भागकर उनमें से चार भाग ब्राह्मणी का पुत्र तथा तीन भाग क्षत्रिया का पुत्र प्राप्त

करे । ब्राह्मणी-वैश्या; क्षत्रिया-वैश्या; ब्राह्मणी-शूद्रा; ब्राह्मणी-वैश्या और शूद्रा; ब्राह्मणी, क्षत्रिया और शूद्रा; क्षत्रिया; वैश्या और शूद्रा स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र भी इसी प्रकार विभाग करके पितृधन को प्राप्त करते हैं ।

शूद्रा पुत्र का दशमांशमात्र भाग—

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।

नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥१५४॥

भाष्य—सत्पुत्रो विद्यमानपुत्रः । ब्राह्मणीपुत्र एव वा विद्यमानो विवक्षितो, न द्विजातिपुत्रमात्रम् । अतश्चासति ब्राह्मणपुत्रे क्षत्रियवैश्ययोः सतोरप्यष्टमांशं लभते, केवले च वैश्यपुत्रे तृतीयम् ।

अन्ये त्वविशेषेण द्विजातिपुत्राभावोऽपुत्रपदेनोक्त इत्याहुः ।

अस्मिन्पक्षे सपिण्डगामि दशमांशशेषधनं शूद्रो लभते ।

इयं त्वदुष्टा व्यवस्था । यदा बहुधनं क्षेमे तदा दशमांशं हरेच्छौद्रः । अथ कतिपय-जनजीवनपर्याप्तं तदा शूद्रपुत्रस्यैव ।

क्षत्रियादीनां समानासमानजातीयास्त्रीजातानां स्मृत्यन्तरे (याज्ञ० २।१२५) विधिर्दर्शितः—“क्षत्रजास्त्रिद्वेयकभागा विड्जाः स्युर्द्वयेकभागिनः” । क्षत्रियाजाताः स्वजातीयविजातीयासु शूद्रपर्यन्तासु वर्णक्रमेण त्र्यादिभागहराः । तदा तेन स्वधनं क्षत्रियस्य शूद्राः षष्ठमांशं लभन्ते, विशश्च तृतीयम् ।

अन्ये त्वस्य श्लोकस्य सामर्थ्यमाहुः । शूद्रपुत्राय यदा ददाति तदाऽनेन धनं सङ्कलय्य दशोऽंशे दातव्यो न तदधिकः सत्यपि स्वातन्त्र्ये । यथा वक्ष्यति—“यदेवास्य पिता दद्यात्” (१।१५५) इति ।

अस्मिन्पक्षे ‘स पुत्रो दद्यादिति’ समानाधिकरणे पदे उपपन्नतरे । इतरथा ‘यस्य सदसत्पुत्रः पिता स दद्यादिति’ सम्बन्धो दुर्लभः स्यात् । सत्पुत्रपदेनास्य पुत्रादेरभिधानं, ‘दद्यादिति’ जीवतः पुत्रसपिण्डादेः ।

ततश्च यदि क्षत्रियवैश्यापुत्रौ न स्तः केवलौ ब्राह्मणशूद्रौ, तदा न शूद्रस्य दशमांशः, किं तर्हि । अत्यल्पं, नाधिकतरं, धनं लभते । यत्र दश गावः सन्ति तत्र चतस्रो ब्राह्मणस्यैका शूद्रस्य पञ्च क्षत्रियवैश्ययोः । यदा तौ न स्तः तदा पञ्चगावस्तयैव कल्पनया ब्राह्मणशूद्राभ्यां विभजनीयाः । यदि सर्वा ब्राह्मण आदद्यान् चांशहरः स्यान् चतुरंशहरः । तस्माच्चतुरोऽंशान्हरेदिति (१।१५३) चतुर्षु भ्रातृषु सत्सु कल्पना । शूद्रस्यापि दशमो-शहरत्वं चतुर्ष्वेव । द्वयोस्त्रिषु चतुर्षुभयोर्भागाधिक्यम् ॥१५४॥

हिन्दी—(ब्राह्मण यद्यपि समान जातिवाली स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रवाला हो या पुत्रहीन हो; किन्तु धर्मानुसार शूद्रापुत्र के लिए दशमांश से अधिक धन पिता ब्राह्मण न देवे ॥१५४॥

विमर्श—यह निषेध शूद्रा के पुत्र के विषय में किया गया है, अतएव समान जाति वाली अर्थात् ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न पुत्र न रहने पर ब्राह्मण पिता के धन पाने के अधिकारी क्षत्रिया तथा वैश्या में उत्पन्न पुत्र होते ही हैं ।

अविवाहिता-शूद्रा के पुत्र के भाग का निषेध—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।

यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥१५५॥

भाष्य—न रिक्थभाग द्विजातीनां शूद्रापुत्रः ।

किं सदा । नेत्याह । यदेवास्य पिता दद्यात् । दायस्य । पित्रा दशमांशकल्पना कृता तदेव तत्तस्य, तदधिकं पैत्रिकं नान्यल्लभते ।

तत्रापि—शङ्खेनोक्तं—“न शूद्रपुत्रोऽर्थभागो । यदेवास्य पिता दद्यात्स एव तस्य भागो, गोमिथुनं दद्युर्विभागकाले भ्रातर” इति वाक्यशेषः ।

अन्ये त्वनूढायाः शूद्रायाः पुत्रस्येमं विधिमिच्छन्ति । न ह्यत्र विवाहलिङ्गं किञ्चिदस्तीति वदन्तः । जातिविशेषवचनः शूद्राशब्दः । अतो यदेवास्य पिता दद्यात्, अतो यदस्य प्रजीवनं पित्रा दत्तं, तदेव दातव्यम् । अथ तेन काचित् विभागकल्पना कृता, यावज्जीवं जीवनाय, तदा तदेवास्य धनं न भ्रातृभिः किञ्चिद्दातव्यम् । यथा गौतमः शूद्रापुत्रप्रकरण एवाह—“अपरिग्रहीतास्वपि शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना” (२८।३९) इति ।

तेषां मते क्षत्रियवैश्ययोरनूढयोर्जाता रिक्थहराः प्राप्नुवन्ति । तत्र च कियानंश इति न ज्ञायते । “यावानंश ऊढयोरि”ति चेत्तत्रापि नोढाग्रहणं न लिङ्गं वचनं वास्ति ।

‘कथन्नास्ति’ । “एक एवौरसः पुत्र, इति धर्मपत्नीष्वौरसो न चानूढयोर्जातानामौरसलक्षणमस्ति । उक्तं च अनियुक्तासुतश्चैवेत्यादि” ।

अथ “भ्रातृजायाविषयमेतत् । तत्र किल नियोगे विहितेऽनियुक्तासुत इति प्रतिषेधेऽपि तद्विषया बुद्धिरुपजायते” ।

अत्राप्यस्ति तर्हि जातमात्रेष्विति । तस्मात्परस्त्रीषु नियोगेन विनाऽनियुक्तासुताः सर्वेषां च तेषां प्रजीवनमुक्तम् ॥१५५॥

हिन्दी—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य पिता से धन का भागी शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र नहीं

होता किन्तु इसका पिता जो कुछ इसके लिए दे देता है, वही इस (शूद्र के पुत्र) का धन होता है ॥१५५॥

विमर्श—पहले (९।१५१ तथा १५३) शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र के लिए एक भाग पिता के धन में से पाने का अधिकार कह चुके हैं तथा इस वचन से उसको पितृ-धन पाने का निषेध किये हैं; अतएव गुणी तथा गुणहीन पुत्र की अपेक्षा इन दोनों (९।१५१, १५३ तथा ९।१५५) पक्षों में विकल्प समझना चाहिये; अथवा दशमांश का निषेधक यह वचन अविवाहिता शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र के लिए है यह समझना चाहिये ।

सजातीय अनेक माताओं में उत्पन्न पुत्रों का भाग—

समवर्णासु वा जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।

उद्धारं ज्यायसे दत्वा भजेरन्नितरे समम् ॥१५६॥

भाष्य—वाशब्दो द्वितीयं विकल्पमन्तरेणानुपपद्यमानः प्रकृतमपेक्ष्य निराकाङ्क्षो भवति । समवर्णास्वसमवर्णासु वा शूद्रस्यैव सर्वधनहरत्वनिषेधाद्द्विजातिविषयमेव विज्ञायते । तेन ब्राह्मणस्यासति ब्राह्मणीपुत्रे क्षत्रियादिजाताः सर्वधनहरा भवन्तीत्युक्तं भवति । एवं क्षत्रियस्य वैश्यापुत्रः ।

न त्वयमर्थः ‘उद्धारं ज्यायसे दत्वा सर्वेऽसवर्णा जाताः समं सवर्णापुत्रैर्भजेरन् । प्रागुक्तैकांशापचयविरोधात् ।

यद्यप्युक्तं ‘निर्गुणेषु सवर्णापुत्रेषु गुणवत्स्वितरेषु युक्तमेव साम्यम्’ । तथा चोक्तं ‘सवर्णापुत्रो अन्यायवृत्तो न लभेत केषामिति’ (गौ० २८।४०), तदेतदसत् । जातेरत्यन्तमान्यत्वात् । “उत्पन्नौ वाऽर्थस्वाम्यमित्याचार्या” इति । तेनेयमत्र व्याख्या । असत्सु सवर्णेष्वसवर्णास्वपि ये जातास्तेऽपि ज्यायोऽशमुद्धारेण सवर्णाद्विभजेरन् ॥१५६॥

हिन्दी—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिया तथा वैश्य) की समान जातिवाली स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र बड़े भाई के लिए ‘उद्धार’ (९।११२-११५) के अनुसार अतिरिक्त भाग) देकर पिता के शेष धन को बराबर-बराबर ले लेवें ॥१५६॥

शूद्र की शूद्रामात्र स्त्री तथा शूद्रपुत्रों का समान भाग—

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते ।

तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥

भाष्य—प्रतिलोमविवाहः शूद्रस्य नेष्यते । उक्तानुवादोऽयम् । तस्यां जाताः समांशाः स्युरिति ।

पञ्चमस्य जात्यन्तरस्याभावादेवमुक्तम् । सवर्णैव तस्य भार्या, नान्याऽस्तीति ॥१५७॥

हिन्दी—शूद्र की स्त्री शूद्रा ही होती है दूसरी (श्रेष्ठ वर्ण की या नीच जातीय) नहीं तथा उस (शूद्रा स्त्री) में यदि सौ पुत्र भी उत्पन्न हों तो वे सब समान ही भाग (पितृ-धन में से) प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्व (९।११२-११५) कथित 'उद्धार' भाग उनमें से ज्येष्ठ पुत्र के लिए पृथक् नहीं दिया जाता ॥१५७॥

दायाद तथा अदायाद का बान्धवत्व—

पुत्रान्दादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।

तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥१५८॥

भाष्य—वक्ष्यमाणसूत्रस्थानमेतत् ।

बन्धुशब्दो बान्धवपर्यायः ।

गोत्रहरा दायहराश्च षट्, इतरे विपरीताः ।

यदत्र तत्त्वं तदुपरिष्ठात्रिदर्शयिष्यते ॥१५८॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी मुनियों से कहते हैं कि) ब्रह्मा के पुत्र मनु ने मनुष्यों के जिन बारह पुत्रों को (९।१५९-१६०) कहा है; उनमें से प्रथम ६ पुत्र दायाद (पितृ-धन के भागी) तथा बान्धव (तिलोदक देने के अधिकारी)—दोनों ही होते हैं और अन्तिम ६ पुत्र केवल बान्धवमात्र हैं ॥१५८॥

विमर्श—इस वचन का सार यह है कि प्रथम ६ पुत्र दायाद तथा बान्धव दोनों ही होने से सपिण्ड तथा समानोदकों के लिए पिण्डदान (श्राद्ध) तिलाञ्जलिदान कर सकते हैं और अनन्तर सन्तान के अभाव में पितृधन भी ले सकते हैं किन्तु अन्तिम ६ पुत्र दायाद-वर्जित बान्धव मात्र होने से तिलाञ्जलिदान आदि तो कर सकते हैं और अनन्तर सन्तान के अभाव में भी पितृधन को नहीं ले सकते । मेधातिथि का मत है कि 'अन्तिम पुत्र न दायाद ही होते हैं और न बान्धव ही । किन्तु बौधायन ने कानीन (कन्या-पुत्र) आदि को बान्धव माना है अतएव मेधातिथि का वचन बौधायन-विरुद्ध होने से चिन्त्य है ।

द्वादशविध पुत्रों में ६ दायाद-बान्धव-पुत्र—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।

गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥१५९॥

हिन्दी—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध; ये ६ प्रकार के पुत्र

१. 'तदाह— कानीनं च सहोदं च क्रीतं पौनर्भवं तथा ।

स्वयंदत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते ॥' इति (म०मु०)

दायाद (पितृधन के भागी) तथा बान्धव (पिण्डोदक देने अर्थात् श्राद्ध एवं तर्पणकरने वाले) होते हैं ॥१५९॥

द्वादशविध पुत्रों में ६ बान्धव पुत्र—

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।

स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥१६०॥

भाष्य—श्लोकद्वयेन संख्यानिर्देशो वर्गद्वयप्रदर्शनार्थः ॥१५९-१६०॥

हिन्दी—कानीन (कान्या-पुत्र), सहोढ, क्रीत, पौनर्भव (विधवा-पुत्र), स्वयंदत्त तथा शौद्र (शूद्रा-पुत्र) ये ६ प्रकार के पुत्र दायाद (धन के भागी) नहीं हैं किन्तु बान्धव (तिलोदकादि देने के अधिकारी हैं) ॥१६०॥

औरस पुत्र से क्षेत्रजादि पुत्रों की हीनता—

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरं जलम् ।

तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः ॥१६१॥

भाष्य—क्षेत्रजादीनामौरसेन सहोपदेशात्तुल्यत्वाशङ्का । तन्निषेधार्थमिदम् । न तुल्य-मौरसेनोपकारं कर्तुं शक्ताः कुपुत्राः क्षेत्रजादयः ।

असत्यपि विशेषश्रवणे प्रकृतत्वादेवं व्याख्यानयन्ति ।

अन्ये तु कुपुत्राननियुक्तासुतात्मन्यन्ते ।

एतदुक्तं भवति । नैतेषु सत्सु पुत्रवानहमिति कृतिनमात्मानं मन्यन्ते । किं तद्यौरसो-त्पादने पुनरपि यत्नवता भवितव्यम् ।

तमः पारलौकिकं दुष्कृतकर्मजं दुःखं ऋणानपाकरणनिमित्तं “सप्रजया पितृभ्यः” इति ॥१६१॥

हिन्दी—तृण आदि की बनी हुई दूषित नाव से पानी को पार करता हुआ मनुष्य जैसा फल पाता है वैसा ही फल (क्षेत्रज आदि) कुपुत्रों के द्वारा अन्धकार (रूप पारलौकिक दुःख) को पार करता हुआ पाता है (अतएव क्षेत्रजादि पुत्र औरस पुत्र के समान सम्पूर्ण कार्य करने में समर्थ नहीं होते; बल्कि पारलौकिक दुःख को पार करने में औरस पुत्र ही समर्थ होता है) ॥१६१॥

औरस तथा क्षेत्रज पुत्र के विभाग का निर्णय—

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।

यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृहीत नेतरः ॥१६२॥

भाष्य—क्लीबस्य प्रागुपात्ते क्षेत्रजे ‘यस्तत्पजः प्रमीतस्य व्याधितस्य वे’ति, पश्चा-

दौषधे कथञ्चित् क्लीबत्वनिवृत्तौ सम्भवति, तदीयमेवासौ रिक्थं लभेतेति ।

जनयितुर्यदि नाम पितृव्यपदेशः स्यादपि जननहेतुकः, तस्मादपि पुत्रः सुतोयमुपचारात्क्षेत्रज इत्युक्तः । तत्रौरसेन पितृधने गृहीते । कथञ्चित् जनयितुः अन्यदपत्यन्नोत्पादितं भवतीति । न च 'परा'यत्तमेव प्रीत्यादिना धनं कृतं न चास्य सपिण्डाः सन्ति । अस्यामवस्थयां यद्यस्य पित्र्यमुपपद्यते एतदेव लिङ्गम् । अनियुक्तासुतादयोऽसत्सु सपिण्डेषु जनयितु रिक्थहरा भवन्तीति ।

अन्ये तु व्याचक्षते । सति दायादे समुत्पन्नः क्षेत्रजः स जनयितुर्लभते रिक्थं, न क्षेत्रिकात्, सत्यौरसे । उक्तश्च तस्य सत्यौरसे भागः "औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितू रिक्थस्य भागिनौ" इति । "षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशम्" इति ।

एकरिक्थिनौ एकहस्तस्थधनौ यथा च तौ भवतस्तथा दर्शयति ॥१६२॥

हिन्दी—यदि एक व्यक्ति के धन के अधिकारी औरस तथा क्षेत्रज—दोनों ही—पुत्र हों तो वह धन जिसके पिता का है, वही अर्थात् औरस पुत्र ही ग्रहण करे दूसरा अर्थात् क्षेत्रज पुत्र नहीं ॥१६२॥

विमर्श—'पुत्रहीन देवर या सपिण्ड द्वारा नियोगपूर्वक (९।५९-६१) उत्पन्न पुत्र दोनों (अपने उत्पादक पिता तथा जिसकी स्त्री से उत्पन्न हुआ है, उस पिता) के धन पाने तथा उन दोनों को पिण्डदान करने का अधिकारी होता है' इस याज्ञवल्क्य स्मृति के वचनानुसार उक्त दोनों पुत्र को पिता के धन का अधिकार प्राप्त करने का विधान होने से यह वचन कहा गया है । आगे (९।१५४) 'क्षेत्रज पुत्र के लिए औरस पुत्र पिता के धन का षष्ठांश देवे' यह वचन बहुपुत्रविषयक होने से प्रकृत वचन (९।१६२) से विरुद्ध नहीं पड़ता । पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन तो पिता के औरस पुत्र नहीं होने पर व्यवस्थापक है । मेधातिथि तथा गोविन्दराज की 'औरस तथा अनियुक्ता-पुत्र के विषय में यह वचन कहा गया है' ऐसी व्याख्या—अनियुक्ता-पुत्र के अक्षेत्रज होने से पहले 'अनियुक्तासुतश्च.....' (१।१४३) उसके धनसंग्रह करने का निषेध करने से और 'एक धन के अधिकारी हों' एतदर्थक 'यद्येकरिक्थिनौ' (९।१६२) का अन्वय नहीं होने से ठीक नहीं है ।

क्षेत्रज पुत्र के बाद औरस पुत्र के उत्पन्न होने पर विभाग—

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।

शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥१६३॥

भाष्य—सत्यौरसे क्षेत्रजादयः सर्वेऽदायादाः प्रजीवनमौरसाल्लभेरन् ।

आनृशंस्यमपापम् । अददत्पापमाप्नोति ॥१६३॥

हिन्दी—केवल औरस पुत्र ही पिता के धनका स्वामी होता है, शेष (क्षेत्रज पुत्र को छोड़कर बाकी दत्तक आदि) पुत्रों को दोषनिवृत्ति के लिए भोजन-वस्त्र आदि (खोरिश के रूप में) देना चाहिये ॥१६३॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकान्धनात् ।

औरसो विभजन्दायं पितृयं पञ्चममेव वा ॥१६४॥

भाष्य—क्रीतादिपुत्रवत्प्रजीवनमात्रे प्राप्ते क्षेत्रजस्य भागविकल्पोऽयमुच्यते । स च गुणापेक्षः ॥१६४॥

हिन्दी—पिता के धन में से विभाजन (बँटवारा) करता हुआ औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्र का षष्ठांश या पञ्चमांश दे देवे ॥१६४॥

विमर्श—पञ्चमांश तथा षष्ठांश का विकल्प दत्तकादि पुत्रों के गुणी तथा गुणहीन होने का क्रम से जानना चाहिये ।

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।

दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥१६५॥

भाष्य—आद्योऽयं श्लोकः पूर्वोक्तविध्यनुवाद एव न पुनर्विध्यन्तरम् । औरसेन साम्यं क्षेत्रजस्य नेष्यते ।

गोत्रभागिनो रिक्थांशभागिनश्च । रिक्थांशः प्रजीवनसंमित इत्युक्तः । दत्तके च क्षेत्रजवत् । स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति ।

क्रमशः । औरसक्षेत्रजौ युगपद्भागहरावन्येषां तु पूर्वाभाव उत्तरस्य भागहरत्वम् ।

“यद्येषां षट् दायादाः षड्दायादा इति, वर्गद्वयप्रतिभागेन दायादादायादयोरमयो रिक्थवचनमुपपन्नम् ।”

सत्यौरसेऽदायादा इति । आद्याः षण्महोपकारा इतरे षट् न्यूना इति । आद्य औरसादन्ये समानफलाः । एवमुत्तरे षट् ततो न्यूनाः । अवान्तरापेक्षया तुल्या एव । न पूर्वोत्तरपठितानां भेदोऽस्ति ॥१६५॥

हिन्दी—(बारह प्रकार (९।१५९-१६०) के पुत्रों में से) केवल औरस तथा क्षेत्रज-न्ये दो ही पुत्र पिता के धन के भागी होते हैं, शेष दस प्रकार के पुत्र तो क्रमशः गोत्र के समान पितृधन के भागी होते हैं ॥१६५॥

बारह प्रकार के पुत्रों में ‘औरस’ पुत्र का लक्षण—

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।

तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्राथमकल्पिकम् ॥१६६॥

आत्मीयवचनः स्वशब्दो न समानजातीयतामाह । एतेन स्वयं संस्कृतायां जात औरस इतरथाऽसंस्कृतायां निवृत्तिपरः संस्कृतशब्दः सम्भाव्यते । ततश्चान्येन संस्कृतायामन्य औरसः स्यात् । उक्तार्थे च स्वशब्दे क्षत्रियादिपुत्रा आप्यौरसा भवन्ति । न हि तेषामन्यत्पुत्रलक्षणमस्ति ।

अन्ये तु प्राथमकल्पिकमौरसविशेषणं मन्वानाः क्षत्रियापुत्रानौरसानसम्पूर्णलक्षणान्मन्यन्ते ।

एवं तु व्याख्याने यथा स्वक्षेत्रे संस्कृतायामसम्पूर्णलक्षण औरसस्तच्च स्वेऽसंस्कृतायां प्राप्नोति । किं पुनः क्षत्रियादीनामौरसत्वेन । पुत्रास्तावद्भवन्ति परिमितांशभाजश्च ।

अथोच्यते “असत्यौरसक्षेत्रजादिलक्षणे द्वादशसंख्यानियमात्कथं पुत्रत्वमिति” ।

अत्रोच्यते । किं लक्षणेन । लोकतो व्यवहारप्रसिद्धेः । तथाहि यो यतो जातः स तस्य पुत्र इति लौकिका व्यवहरन्ति । तथा चाजनके कश्चित्पितृव्यवहारं कुर्वन्नन्येनेति बोध्यते नैष ते पिता न हि त्वमनेन जात इति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकः पिता जन्यश्च पुत्र इत्येतदवगम्यते ।

विशेषव्यपदेशार्थस्तु लक्षणारम्भः । यत्तु क्षेत्रजादेरजनके वा पुत्रत्वमिति, तत्कार्यनिबन्धनमपुत्रास्यापि कार्यविधानात्पुत्रत्वम् ।

पुत्रत्वस्य तन्निषेधात् जातत्वमिति । तथा चैते प्रतिनिधय उच्यन्ते । तैरत्रायम् । जन्मनिबन्धे हि पुत्रत्वे औरसपुनर्भवनियुक्तासुतानां विशेषो न स्यात् । जन्मनस्तुल्यत्वात् । किञ्च पुत्रकार्यकारणान्नैव कश्चिदपुत्रः स्यात् । यस्तु लौकिको व्यवहारः, असौ जनकेऽपि पितृव्यवहारदर्शनादव्यभिचारी ।

तेन सत्यपि प्रयोगे इन्द्रादिशब्दवल्लोकतोऽर्थातिशयाच्छास्त्रे चोत्पत्तिविधानाद्भार्यादिव्यवहारवत् पुत्रव्यवहारोऽवगन्तव्यः ।

“तत्र च यदौरसस्य प्राथमकल्पिकत्ववचनं तत्र व्यवहारोऽवगन्तव्यः । न व्यवहारे किं तर्ह्युपकारेऽपि । पितरुपकारेण दृष्टं यथौरसो भूयांसं शक्रोत्युपकर्तुमिति प्राथमकल्पिकमिति पदं ज्ञापयति । उपकारापचयाभिप्रायाश्च प्रतिनिधिव्यवहारः । न ह्येषां प्रतिनिधिता सम्भवति प्रारब्धस्य कर्मणोऽङ्गोपचारप्रतिनिधेः । न च पुत्रः कर्मगं, अपत्योत्पादनकर्मणो गुणकर्मत्वात् । तेन सत्येव क्षेत्रजादीनां पुत्रत्वे प्रतिनिधित्ववचनमौरसत्वप्रशंसार्थम् । यथा-‘ऽपशवो वाऽन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वा इति’ पशूनामपशुत्ववचनं गवाश्चानां प्रशंसितुम् ।

यथा च यो यदीयाद्वीजाज्जातः स तस्य न पुत्र इति, तथा च दर्शितं महाभारते । द्वैपायनाज्जाताः पाण्डुघृतराष्ट्रविदुरादयो नैते व्यासपुत्रा इति व्यपदिश्यन्ते ।

यथा च सप्रयोजनं चत्रियादिपुत्राणामौरसत्वं तथोपपादितम् । पुत्रिकापुत्रस्य पुत्रत्वे द्वादशसंख्यातिरेक आप्नोति ।

भवतु को दोषः । त्रयोदशोऽयं पुत्रोऽस्तु । औरसेन तुल्यफलत्वात् तदग्रहणम् । तत्साम्याच्च । तथा च स्मृत्यन्तरं “तत्समः पुत्रिकासुतः” इति (याज्ञवल्क्य २।१२८)॥१६६॥

हिन्दी—विधिपूर्वक विवाहित समान जातिवाली स्त्री में पुरुष स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, उसे मुख्य (सब प्रकार के पुत्रों में प्रधान) ‘औरस’ पुत्र जानना चाहिये ।

‘क्षेत्रज’ पुत्र का लक्षण—

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥१६७॥

भाष्य—व्याधितस्याप्रतीकारराजयक्ष्मादिव्याधितस्य ।

अवशिष्टं स्पष्टम् ॥१६७॥

हिन्दी—मरे हुए, रोगी अथवा नपुंसक पुरुष की स्त्री में ‘नियोग विधि’ (९।५९-६२) से उत्पन्न पुत्र ‘क्षेत्रज’ कहा गया है ॥१६७॥

‘दत्तक’ पुत्र का लक्षण—

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तिमः सुतः ॥१६८॥

भाष्य—‘च’ शब्दः पठितुं युक्तो “माता पिता चेति” । न ह्युभयोरपत्यमन्यतरानिच्छायां दातुं युक्तम् ।

अथापि वाशब्दः पठ्यते । तथा चोक्तम् “माता पिता वा दद्यात्, तयोरपि पिता श्रेयान्” इति कार्यान्तरविनियोगविषयमेतत् ।

ननु सत्त्वापत्तौ सानुमापीदृशं दशान्तु पितरि पुत्रं प्रति दातृत्वं नास्ति । सत्यपि तूत्तरवचने अभावो बीजिनो नास्ति वियोगे विशेषविषयत्वात्सदृशेत्युक्तम् । आह च वसिष्ठः—“न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृहीयाच्च” (अ० १५, सू० १) इति ।

सदृशं न जातितः । किं तर्हि, कुलानुरूपैर्गुणैः । क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणास्य दत्तको युज्यते ।

प्रीतिग्रहणं लोभादिना प्रतिषेधार्थम् ॥१६८॥

हिन्दी—माता या पिता (ग्रहण करनेवाले) समान जातिवाले जिस पुत्र को (पुत्र के अभाववरूप) आपत्तिकाल में प्रेमपूर्वक (भय या लोभ से नहीं) जल के साथ अर्थात् सङ्कल्प

कर देते हैं, उसे 'दत्त्रिम' (दत्तक, दत्त) पुत्र जानना चाहिये ॥१६८॥

'कृत्रिम' पुत्र का लक्षण—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥१६९॥

भाष्य—अत्रापि सदृशो गुणत एव विज्ञेयः ।

ये तु 'सदृशं' सर्वर्णं व्याचक्षते, तेषां 'सजातीय' इति एष पाठो युक्तो यद्ययमर्थो-
ऽभिप्रेतः । न तु जात्या सादृश्यमपि तूक्तमेव ।

गुणदोषविचक्षणम् । केचिदाहुः—'तावन्न क्रियते यावन्न प्राप्तव्यवहारः, न ह्यसौ गुणदोषान् जानाति । तदा त्वेवं जानाति येनाहं जातो येन च सम्प्रति पुत्रतया भरणं मे क्रियते तस्याप्यहं पुत्र' इत्यभ्युपगतपुत्राभावात्तथैव ग्रहीतव्योऽपि त्वन्यतरत्वे विशेषो नास्ति ॥१६९॥

हिन्दी—मनुष्य, गुण तथा दोष (समान जातिवाले माता-पिता के श्राद्ध आदि पारलौकिक क्रिया करना गुण तथा नहीं करना दोष) को जाननेवाले एवं (माता-पिता आदि की) सेवा आदि कार्य से युक्त समान जातिवाले जिस पुत्र को अपना पुत्र मान लेता है, वह 'कृत्रिम' पुत्र कहा जाता है ॥१६९॥

'गूढ' पुत्र का लक्षण—

उत्पद्यते गृहे यस्तु न च ज्ञायेत कस्य सः ।

स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥१७०॥

भाष्य—न च ज्ञायेत माता यद्युद्भ्रान्ता बहुशो गता वा तदा न ज्ञायते का पुनस्तस्य जातिर्यतः पूर्वेरुक्तं 'अविज्ञातबीजिनो मातृतः' ।

एतच्च यत्र हीनजातीयपुरुषशङ्का नास्ति । तदाशङ्कायां हि प्रतिलोमसम्भवः । प्रतिलोमत्वात् न क्वचित्पुत्रकार्याधिकारिणः ॥१७०॥

हिन्दी—जिसके घर में स्त्री को पुत्र उत्पन्न हो तथा 'यह पुत्र समान जातिवाला है' ऐसा ज्ञात होते हुए भी 'किससे उत्पन्न हुआ है?' यह मालूम नहीं हो; इस प्रकार गुप्त रूप से घर में उत्पन्न वह पुत्र जिस स्त्री से उत्पन्न होता है उसी के पतिका 'गूढ' पुत्र कहा जाता है ॥१७०॥

'अपविद्ध' पुत्र का लक्षण—

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।

यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥१७१॥

भाष्य—बहुप्रजातया भरणसमर्थेनात्यन्तदुर्गत्या केनचिद्वा दोषयोगेन मातापितृ-
भक्तिहीनत्वादिना । न पुनः प्रत्यक्षत्वेन, तस्य न क्वचिदेव पुत्रकार्येऽधिकार इति दर्शितं
अन्यत्र । तथैवमप्यन्यतरेणोत्सर्गः ।

‘परिग्रहः’ पुत्रबुद्ध्या, न तु तज्जीवितेच्छया च ॥१७१॥

हिन्दी—माता-पिता (दोनों) या माता या पिता (किसी एक) द्वारा त्यक्त जिस पुत्र
को मनुष्य स्वीकार कर लेता है, वह ‘अविविद्ध’ पुत्र कहा जाता है ॥१७१॥

‘कानीन’ पुत्र का लक्षण—

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।

कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥१७२॥

भाष्य—अयं श्लोकः प्राक् व्याख्यातः । स्वयंदत्तकृत्रिमापविद्धेषु अस्य च भाग-
कल्पना प्राक् निरूपिता । प्रतिग्रहभूमिनिषेधश्च सत्यन्यस्मिन्धने न तावत् ॥१७२॥

हिन्दी—पितृ-गृह में रहती हुई कन्या (अविवाहित पुत्री) गुप्तरूप से जिस पुत्र को
उत्पन्न करती है, उसे ‘कानीन’ पुत्र कहते हैं, तथा वह पुत्र कन्या के साथ विवाह करनेवाले
पति का होता है ॥१७२॥

‘सहोढ’ पुत्र का लक्षण—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती ।

वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥

हिन्दी—ज्ञातावस्था (जानकारी) में या अज्ञातावस्था (अजानकारी) में जिस गर्भिणी
कन्या का विवाह किया जाता है, उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र विवाहकर्ता पति का होता है तथा
उस पुत्र को ‘सहोढ’ पुत्र कहते हैं ॥१७३॥

‘क्रीत’ पुत्र का लक्षण—

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४॥

हिन्दी—माता-पिता को मूल्य देकर समान जातिवाले या असमान जातिवाले
जिस पुत्र को अपना पुत्र बनाने के लिए मनुष्य खरीदता है, खरीदे हुए पुत्र को ‘क्रीत’ पुत्र
कहते हैं ॥१७४॥

‘पौनर्भव’ पुत्र का लक्षण—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥१७५॥

हिन्दी—पति से छोड़ी गयी या विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे को पति बनाकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, उसे 'पौनर्भव' पुत्र कहते हैं ॥१७५॥

‘पुनर्भू’ स्त्री का लक्षण—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्व्रतप्रत्यागताऽपि वा ।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥१७६॥

हिन्दी—यदि अक्षतयोनि वह स्त्री दूसरे पति के पास जावे और द्वितीय पति विवाह कर ले, अथवा कुमारावस्थावाले पति को छोड़कर दूसरे पति के पास जाकर पुनः प्रथम पति के पास जाने पर स्त्री के साथ वह प्रथम कुमार पति विवाह कर ले; तो वह उसकी 'पुनर्भू' स्त्री कहलाती है ॥१७६॥

‘स्वयंदत्त’ पुत्र का लक्षण—

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।

आत्मानमर्पयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥

हिन्दी—माता-पिता से हीन अथवा उनसे निष्कारण त्यक्त (छोड़ा गया) पुत्र जिस पुरुष के लिए (पुत्ररूप होकर) अपने को समर्पण कर दे, वह उस पुरुष का 'स्वयंदत्त' पुत्र कहलाता है ॥१७७॥

‘पाराशव’ पुत्र का लक्षण—

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।

स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥१७८॥

भाष्य—कामादित्यनुवादः “कामतस्तु प्रवृत्तानाम्” इत्यस्य ।

पारयन् पिण्डदानादिना उपकुर्वन्नपि शवतुल्यः । अनुपकारकः । असम्पूर्णोपकार-
कत्वात् ॥१७३-१७८॥

हिन्दी—ब्राह्मण स्व-विवाहिता शूद्रा में जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, वह जीता हुआ भी मरे हुये के समान होने से 'पाराशव' पुत्र कहलाता है ॥१७८॥

दासीपुत्र का समान भाग—

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।

सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥

भाष्य—शूद्रस्यानूढायामनियुक्तायामपि जातः सुत एव । एवं यद्यपि दासस्य दासी-
त्यर्थेऽपि वचनात्तस्यां जातो न दासस्य दासस्वामिनः ।

सोऽनुज्ञातः पित्रा । सममंशमौरसेन हरेत् । जीवितभागे क्रियमाणे, अन्यथा वा

यदि ब्रूयादेष वः समांश इति ।

यदा तु पितानानुजानाति, तत्स्मृत्यन्तरे पठितं—“जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतो-
ऽशहरो भवेत्” (याज्ञवल्क्य २।१३३) । ‘कामतो’ यावन्तमंशं पिताऽनुजानाति । “मृते
पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम्” (याज्ञवल्क्य २।१३४) । तं कुर्युः स्वांशापेक्षया,
आत्मनो द्वौ द्वौ परिगृहीयुर्भागौ तस्यैकं दद्युः । “अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितृणां सुतादृते”
(याज्ञवल्क्य २।१३४) । असत्स्वौरसेषु सर्वं रिक्थं स एव हरेद्यदि दौहित्रो न स्यात् ।
सति तस्मिन्नौरसवत्कल्पना दौहित्रस्य, अन्यस्याश्रुतत्वात्, तस्य च प्रकृतत्वेन बुद्धौ
सन्निवेशात् ।

ब्राह्मणादीनां तु दासीसुताः प्रजीवनमात्रभाजो न रिक्थभाज इति स्थितिः ॥१७९॥

हिन्दी—दासी (८।४१५) में, दासी की दासी में जो पुत्र शूद्र से उत्पन्न होता
है, वह पिता से ‘तुम भी विवाहित स्त्री के पुत्रों के बराबर धन का भाग (हिस्सा) लो’
इस प्रकार आज्ञा पाकर (पितृ-धन का) बराबर भाग लेनेवाला होता है, ऐसी धर्म की
व्यवस्था है ॥१७९॥

‘क्षेत्रज’ आदि पुत्र, पुत्र के प्रतिनिधि—

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।

पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥१८०॥

भाष्य—मुख्याभावे ‘प्रतिनिधिः’ । अतोऽसत्यौरस एते कर्तव्या इत्युक्तं भवति ।

एतेषां स्मृत्यन्तरेऽन्यादृशः क्रम उक्तः । यथा गूढोत्पन्नः कैश्चित्पञ्चमोऽपरैः षष्ठ इति ।
तत्र पाठक्रमो नात्राङ्गमत एवानियमपाठात् । प्रयोजनं चोत्तरत्रानङ्गत्वे दर्शयिष्यामः ।

क्रियालोपाद्धेतोः क्रियतेऽपत्यमुत्पादयितव्यमि’त्यस्य विधिलोपो माभूदिति । नित्यो
ह्ययं विधिः । स यथाकथञ्चिद्गृहस्थेन सम्पाद्यः । तत्र मुख्यः कल्प औरसः । तद-
सम्पत्तावेतेऽनुकल्पा आश्रयितव्याः ॥१८०॥

हिन्दी—इन ‘क्षेत्रज’ आदि (‘औरस’ पुत्र को छोड़कर शेष (९।१६९-१७८) ग्यारह
प्रकार के पुत्रों का ‘श्राद्ध आदि क्रिया का अभाव न हो’ इसलिए मुनियों ने पुत्र (‘औरस’
पुत्र) का प्रतिनिधि कहा है ॥१८०॥

‘औरस’ पुत्र के रहने का ‘दत्तक’ आदि का निषेध—

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।

यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥१८१॥

भाष्य—पूर्वोक्तस्याभावे विधिप्रतिषेधोऽयमिति व्याचक्षते । य एते औरसाभावे

प्रतिनिधयः कर्तव्यतया उक्तास्ते न कर्तव्याः । यतस्तेऽन्यबीजजातास्तस्यैव ते पुत्रा नेतरस्य । ये क्रियन्ते तस्य ते न भवन्तीत्यर्थः ।

अतश्च पूर्वेण विधिरनेन प्रतिषेध इति विकल्पः । स च व्यवस्थितो रिक्थग्रहणे । कानीनसहोदपुनर्भवगूढोत्पन्ना न रिक्थभाजः । दत्तकादयस्तु रिक्थभाजः असत्यौरसे । कानीनादयश्चासत्यप्यौरसे न पितृधनहराः, ग्रासाच्छादनभाजः केवलं सत्यसति चौरसे । यत उक्तं—

“सर्वेषामपि च न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यद-
दद्भवेत्” (१।२०२) ॥१८१॥

हिन्दी—(‘औरस’ पुत्र के वर्णन के) प्रसङ्ग में ‘दूसरे के वीर्य से उत्पन्न जो ये (क्षेत्रज आदि पुत्र ९।१५९-१७८) कहे गये हैं, वे जिसके वीर्य से उत्पन्न होते हैं। उसी के हैं, दूसरे (क्षेत्रिक के) नहीं; (अतः ‘औरस’ पुत्र (९।१५८) तथा ‘पुत्रिका’ (९।१२) के विद्यमान रहने पर उस क्षेत्रजादि पुत्रों को नहीं करना चाहिये) ॥

एक भाई के पुत्र से सब भाइयों का पुत्रवान् होना—

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।

सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुब्रवीत् ॥१८२॥

हिन्दी—एक माता तथा पिता अर्थात् सहोदर भाइयों में से यदि एक भाई को पुत्र हो तो उसी से (पुत्रहीन भी) अन्य सभी भाई पुत्रवान् होते हैं ऐसा मनु ने कहा है ॥१८२॥

विमर्श—किसी एक भाई के उत्पन्न पुत्र से सब भाइयों को पुत्रवान् होने से अन्य भाइयों को दूसरे प्रकार के पुत्र प्रतिनिधियों (दत्तक, क्षेत्रज आदि पुत्रों) को नहीं करना चाहिये; क्योंकि वही भ्रातृ-पुत्र सब भाइयों के लिए श्राद्धादि करने वाला तथा उनके धन का अधिकारी होता है ।

एक पत्नी के पुत्र से अन्य पत्तियों का पुत्रवती होना—

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।

सर्वास्तास्तेन पुत्रेण ग्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥१८३॥

हिन्दी—एक पतिवाली स्त्रियों में से यदि एक स्त्री को पुत्र उत्पन्न हो जाय तो (पुत्रहीन शेष भी सब स्त्रियाँ) उसी पुत्र से पुत्रवती होती है, ऐसा मनु ने कहा है ॥१८३॥

विशेष—पूर्व (९।१८८) वचने के समान ही एक पत्नी के पुत्र से अन्यान्य पत्नियों के पुत्रवती होने से शेष पुत्रहीना पत्नियों को दत्तक आदि पुत्र को नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वही एक सपत्नी-पुत्र सब का श्राद्धकर्त्ता तथा धन-ग्रहीता होता है ।

श्रेष्ठ क्रम से पुत्रों का पितृ-धन का भागी होना—

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्क्वथमर्हति ।

बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥१८४॥

हिन्दी—(पूर्वोक्त ९।१४९-१६०) बारह प्रकार के पुत्रों में से उत्तम-उत्तम पुत्र के अभाव में हीन-हीन पुत्र (पिता के) धन का भागी होता है और सबके समान गुणी होने पर समान धन पाने के अधिकारी होते हैं ॥१८४॥

विमर्श—पहले (९।१५९-१६०) कहे गये बारह प्रकार के पुत्रों में से पूर्व-पूर्व पुत्र श्रेष्ठ होता है। अतः इस वचनानुसार ‘औरस’ पुत्र के अभाव में ‘क्षेत्रज’ पुत्र, उसके अभाव में ‘दत्तक’ पुत्र (इसी क्रम से आगे भी जानना चाहिये) पिता के धन का भागी होता है। समान गुण होने पर सभी समान भाग प्राप्त करते हैं और ‘औरस’ आदि पूर्व-पूर्व पुत्र विद्यमान हों तो ये ही पितृधन पाते तथा अन्यान्य क्षेत्रादि पुत्रों का पालन-पोषण करते हैं। इस प्रकार ‘क्षेत्रज’ आदि पुत्र के विद्यमान रहने पर ‘पौनर्भव’ तथा शूद्रापुत्र (९।१७५-१७६) पितृधन के भागी नहीं होते। समान गुण होने पर सब पुत्र पितृ-धन में भाग पाते हैं।

क्षेत्रज आदि पुत्रों को पिता के धन का भागी होना—

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥१८५॥

हिन्दी—(पिता के) धन पाने का अधिकारी सहोदर भाई या पिता नहीं होते; किन्तु ‘औरस’ पुत्र (९।१६६) के अभाव में ‘क्षेत्रज’ आदि पुत्र (९।१६६-१७६) ही पिता के धन पाने का अधिकारी होता है पुत्र (मुख्य पुत्र तथा स्त्री और कन्या) से हीन पुरुष के धन का भागी पिता या भाई होते हैं ॥१८५॥

क्षेत्रजादि पुत्रों को पितामह के धन का भागी होना—

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।

चतुर्थः सम्प्रदातेषा पञ्चमो नोपपद्यते ॥१८६॥

हिन्दी—तीन (पिता, पितामह और प्रपितामह) का उदक (तर्पण, तिलाञ्जलिदान) करना चाहिये और तीन का ही पिण्डदान (श्राद्ध) होता है; चौथा इनको देनेवाला होता है, इनके साथ पाँचवें किसी का कोई सम्बन्ध नहीं होता ॥१८६॥

विमर्श—इसी कारण पुत्रहीन पितामह तथा प्रपितामह के धन का अधिकारी ‘क्षेत्रज’ आदि (९।१६६-१७६) ग्यारह प्रकार के गौण (अप्रधान) पुत्र भी होते हैं। ‘पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पौत्रस्थ पुत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥’ (९।१३७)

इस वचन से पितामह प्रपितामह के धन के भागी होने का विधान पौत्र-प्रपौत्र पहले कर ही चुके हैं, इस वचन से गौण (क्षेत्रज आदि) पुत्रों को पितामह आदि के धन का भागी होने का विधान किया है ।

[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।

पितामहश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥४॥]

[हिन्दी—पुत्रहीना पिता की स्त्रियाँ समान भागवाली कही गयी हैं तथा पितामह की स्त्रियाँ भी मातृतुल्य कही गयी हैं ॥४॥]

सपिण्डादि का धन पाने का भागी होना—

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।

अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥१८७॥^१

हिन्दी—सपिण्डों में निकट सम्बन्धी मृतव्यक्ति के धन का भागी (हकदार) होता है तथा इसके बाद (सपिण्ड के अभाव में) क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृतव्यक्ति के धन का भागी होता है ॥१८७॥

विमर्श—यह वचन औरस आदि सपिण्ड मात्र के विषम में मानने पर व्यर्थ होता है, अतएव स्त्री आदि को दायभाग प्राप्त होने के लिए यह वचन है । इस वचन के पूर्वार्द्ध में निकटतम सपिण्ड को मृतव्यक्ति के धन का भागी कहा गया है, उसमें पूर्व (९।१६२) वचनानुसार 'औरस' पुत्र ही मृतव्यक्ति के धन का भागी होता है, क्षेत्रज तथा गुणवान् दत्तक पुत्र पञ्चमांश या षष्ठांश धन के भागी होते हैं और कृत्रिम पुत्रों को पालन-पोषण मात्र के लिए धन दिया जाता है । औरस पुत्र (९।१६६) के अभाव में पुत्रिका या उसका पुत्र मृतव्यक्ति के धन का भागी होता है, उसके अभाव में क्रमशः क्षेत्रज आदि एकादशविध (९।१६७-१७९) पुत्र मृत पिता के धन के भागी होते हैं, उनमें भी विवाहित शूद्रा का पुत्र 'नाधिकं.....' (९।१५४) वचन के अनुसार पितृ-धन में से केवल दशमांश धन का भागी होता है, शेष धन का भागी मृत व्यक्ति का समीपवर्ती सपिण्ड होता है । तेरहवें प्रकार के पुत्र के होने पर स्त्री ही मृत पति के धन को पाने की अधिकारिणी होती है । ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा वृद्ध मनु^२ का मत है । 'स्त्रिणां तु जीवनं दद्यात्' अर्थात् 'स्त्रियों के भरण-पोषण मात्र के लिए धन दे' यह वचन दुःशीला, अधार्मिक तथा सविकार युवावस्थावाली स्त्री के विषय में होने से विरुद्ध नहीं पड़ता है । इसी से स्त्रियों को मृतपति के धन की अधिकारिणी होने का निषेध मेधातिथि का वचन सम्बद्ध नहीं है; क्योंकि स्त्री

१. श्लोकास्यास्य व्याख्यानं कुर्वता कुल्लूकेन 'अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्ध-मुक्तं तदसम्बद्ध'मित्यादिना श्लोकस्यास्यापि भाष्यं मेधातिथिविरचितमासीदिति सूचितम् ।

२. एतत्सर्वं 'यदाह याज्ञवल्क्य लभेत चा॥' इति मन्वर्थमुक्तावल्यां द्रष्टव्यम् ।

के अभाव में पुत्ररहित पुत्री, उसके अभाव में पिता तथा माता उन दोनों के अभाव में सहोदर भाई, उसके अभाव में उस (सहोदर भाई) का पुत्र मृत व्यक्ति के धन का भागी होने का आगे (९।२१७) विधान किया गया है। उनके अभाव में सन्निकट सपिण्ड धन का भागी होता है। जो व्यक्ति मृत व्यक्ति के धन का भागी होता है, वहीं उसका पिण्डदानादि-क्रिया करने वाला होता है।

[हरेरनृत्वजो वापि न्यायवृत्ताश्च याः स्त्रियः ॥५॥]

[हिन्दी—अथवा जो ऋत्विक की स्त्रियाँ धर्मपरायण सती साध्वी हों, वे मृत व्यक्ति के धन को) ग्रहण करें ॥५॥]

सब के अभाव में ब्राह्मण का अधिकार—

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।

त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥१८८॥

हिन्दी—सब (औरस पुत्र, पत्नी, सपिण्ड आदि) के अभाव में वेदत्रय (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) के पढ़नेवाले, शुद्ध (शरीर सम्बन्धी ब्राह्म शुद्धि तथा मनः सम्बन्धी आभ्यन्तर शुद्धि से युक्त), जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही मृत व्यक्ति के धन पाने के अधिकारी होते हैं, इस प्रकार धर्म (मृत व्यक्ति के पिण्डदानादि क्रिया) की हानि नहीं होती है ॥१८८॥

ब्राह्मणेत्तर धन का राजा अधिकारी—

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।

इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेनृपः ॥१८९॥

हिन्दी—ब्राह्मण के धन को राजा कदापि (मृत ब्राह्मण के धन लेनेवाले औरस पुत्रादि के किसी के नहीं रहने पर भी) नहीं लेवे यह शास्त्र मर्यादा है। दूसरे (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वर्णों के धन को सब (औरस पुत्रादि उत्तराधिकारी किसी भी व्यक्ति के नहीं रहने पर राजा ग्रहण करे ॥१८९॥

मृत-पति का नियुक्तपुत्र अधिकारी—

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।

तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्नतिपादयेत् ॥१९०॥

हिन्दी—सन्तानहीन मृत पति की स्त्री नियोग धर्म (९।५९-६२) के द्वारा सगोत्र से पुत्र उत्पन्न करे तथा मृत पति का जो-जो धन हो, उसे उस पुत्र के लिए दे देवे ॥१९०॥

विमर्श—पहले (९।५९) देवर या सपिण्ड से ही नियोग धर्म द्वारा पुत्रोत्पादन करने तथा उसी के पितृ-धन का भागी होने का विधान किया है, इस वचन से सगोत्र से उत्पन्न पुत्र को भी पितृधन को पाने का अधिकारी कहा गया है।

औरस तथा पौनर्भव पुत्रों का स्व-स्वपितृधन का अधिकार—

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।

तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृहीत नेतरः ॥१९१॥

हिन्दी—दो पिताओं से उत्पन्न दो पुत्र स्त्री (माता) के धन के विषय में विवाद करे तो जो पुत्र जिस पिता से उत्पन्न हुआ है, वह पुत्र उसी (अपने ही) पिता के धन पाने का अधिकारी होता है, दूसरा पुत्र नहीं ॥१९१॥

विमर्श—पहले औरस तथा क्षेत्रज पुत्रों के लिए धनविभाजन का निर्णय कर चुके हैं, अब इस वचन से औरस तथा पौनर्भव पुत्रों के लिए धन विभाजन का निर्णय कहते हैं । स्त्री औरस पुत्र के उत्पन्न होने पर पति के मर जाने के बाद उस पुत्र के छोटे होने से अपने मृत पति का धन ले लेवे तथा पुनः दूसरे पति से पौनर्भवसंज्ञक दूसरा पुत्र उत्पन्न करे और उस द्वितीय पति के भी मर जाने पर उसके धन को पाने का दूसरा उत्तराधिकारी नहीं होने पर उस पति का धन ले लेवे, अनन्तर वे दोनों (औरस तथा पौनर्भव) पुत्र सयाने होकर उस माता के द्वारा लिए हुए धन को पाने के लिए विवाद करें तब वे अपने-अपने जनक पिता के धन को पाने के अधिकारी होते हैं, ऐसा निर्णय है ।

माता के धन के अधिकारी—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।

भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥

हिन्दी—माता के मरने पर सब सहोदर भाई तथा अविवाहित सहोदरी बहनें उसके धन को बराबर भाग में पाती हैं ॥१९२॥

विमर्श—विवाहित सहोदरी भी बहनें मृतमाता के धन में से भाग नहीं पातीं किन्तु उसके सम्मानार्थ भाइयों का कर्तव्य है कि पितृधन के समान मातृधन में से अपने भाग का चतुर्थांश उनके लिए देवें ।

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।

मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥

हिन्दी—उन (सहोदरी) पुत्रियों की जो अविवाहित पुत्रियाँ (पोतियाँ) हों, उनके सम्मानार्थ भी नानी के धन में से कुछ भाग उनके लिए प्रेमपूर्वक देना चाहिये ।

स्त्री धन के ६ प्रकार—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥

हिन्दी—(१) विवाह काल में अग्निसाक्षित्व के समय पिता आदि के द्वारा दिया गया, (२) पिता के घर से पति के घर लायी जाती हुई कन्या के लिए दिया गया, (३) प्रेम्-सम्बन्धी किसी सु-अवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया तथा (४) भाई, (५) माता और (६) पिता के द्वारा विविध अवसरों पर दिया गया छः प्रकार का धन ‘स्त्री-धन’ कहलाता है ॥१९४॥

सपुत्र-स्त्री धन के अधिकारी—

अन्वाधेयं च यद्वत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।

पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥

हिन्दी—विवाह के बाद पति कुल में या पितृ कुल में प्राप्त हुए स्त्री के धन को पाने का अधिकारी उसके पति के जीवित रहने पर भी पुत्रियों को ही होता है ॥१९५॥

सन्तानहीना स्त्री के धन का अधिकारी—

ब्राह्मदैवार्थगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।

अप्रजायामतीतायां भर्तृरिव तदिष्यते ॥१९६॥

हिन्दी—ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य संज्ञक (क्रमशः ३।२७, २८, २९, ३० और ३२ विवाहों से प्राप्त सन्तानहीना स्त्री के पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकार के धन का अधिकारी पति ही होता है ऐसा मनु आदि का मत है ॥१९६॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।

अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥

हिन्दी—आसुर आदि (आसुर, राक्षस तथा पैशाच, क्रमशः ३।३१, ३३ और ३४) संज्ञक विवाहों में स्त्री के लिए जो धन दिया गया हो, सन्तानहीन उस स्त्री के मरने पर पूर्वोक्त (९।१९४) ६ प्रकार के स्त्री-धन को पाने के अधिकारी उसके माता-पिता होते हैं ॥१९७॥

स्त्रियान्तु यद्वेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन ।

ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥१९८॥

हिन्दी—ब्राह्मण की अनेक जातिवाली सन्तान हीन क्षत्रियादि वर्णोंवाली स्त्रियों के मरने पर उसके पिता आदि के द्वारा दिये गये पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकार के स्त्री-धन को पाने का अधिकार सजातीय या विजातीय सपत्नियों की सन्तान रहने पर भी ब्राह्मण जातीया सपत्नी की कन्या को ही होता है और उसके अभाव में उसकी (पुत्री) को अधिकार प्राप्त होता है ॥१९८॥

साधारण से स्त्रीधन करने का निषेध—

न निहरीं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।

स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥

हिन्दी—स्त्री-भाई आदि बहुत परिवारवाले धन में से तथा अपने पति के धन में से भी पति की आज्ञा के बिना अलङ्कार आदि के लिए धन का संग्रह न करे (अतएव उक्त धन 'स्त्री-धन' नहीं होता है ॥१९९॥

स्त्री-भूषणों की अविभाज्यता—

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।

न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

हिन्दी—पति के जीवित रहने पर स्त्रियाँ जिन भूषणों को पहनती हों, उनको भाई आदि हिस्सेदार न लेवें, यदि वे उन्हें लेते हैं तो वे पतित हो जाते हैं ॥२००॥

नपुंसक आदि को भाग का अनधिकार—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥२०१॥

हिन्दी—नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा, पागल, जड़, गूँगा और जो किसी इन्द्रिय से शून्य (लँगड़ा, लूला आदि) हों, वे धन के भागी (हिस्सेदार) नहीं होते हैं, (किन्तु भोजन वस्त्रमात्र पाते रहने के अधिकारी होते हैं ॥२०१॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥२०२॥

भाष्य—सर्वेषामपि क्लीबादीनां च प्रकृतत्वेन दर्शितमिति । अत्यन्तं यावज्जीव-मित्यर्थः । शरीरधारणार्थत्वाद्ग्रासाच्छादनस्य, भृत्यादेस्तदुपयोगिनः परिचारकस्यापि वेतन-दानं विज्ञेयम् । न ह्यन्धादेः परिचारकमन्तरेण जीवनसम्भवः । येषां दारकरणं मतं सभार्याणां भरणं दातव्यम् । शक्त्येति धनानुरूपेण भोजनवस्त्रादि देयम् । पतितं इत्यर्थवादः ॥२०२॥

हिन्दी—सब (पूर्व श्लोकोक्त नपुंसक आदि) के धन को न्यायपूर्वक लेने वाला शास्त्रज्ञ विद्वान् उन (नपुंसक-पतित आदि) के लिए भोजन-वस्त्र यथाशक्ति देवे और नहीं देनेवाला पतित होता है ॥२०२॥

नपुंसकादि के क्षेत्रज पुत्र को धन-प्राप्ति का अधिकार—

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथञ्चन ।

तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं

दायमर्हति ॥२०३॥

भाष्य—अर्थिता सम्प्रयोगेच्छा रतिनिमित्तम् । तस्यां सत्यां विवहेत् । तत्रोत्पन्न-
सन्तानो **नामापत्यं** पुत्रो दुहिता वा **दायं** रिक्थविभागमर्हति ।

दुहितुर्यावान्भागः प्रागुक्तः ।

“वान्तरेतास्तु यः क्लीबस्तस्य भवत्येव मैथुनेच्छा । कुतः पुनस्तस्य तन्तूत्पत्तिः” ।
उक्तं च तस्य “यस्तत्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य” (९।१६७) इति ।

रागप्रयुक्तता वाऽनेन श्लोकेन विवाहस्य दर्शिता । धर्मप्रयुक्तत्वे ह्यनधिकृतानां
कर्मसु कुतस्तेषां विवाहः । उपनेयता च जात्यन्धपङ्गूनां वातरेतसः क्लीबस्य दर्शिता ।
उन्मत्तादयस्त्वनुपनेयाः कुतस्तेषां विवाहः ।

आदिग्रहणं चोक्तविषये चरितार्थम् । यदि हि आदिग्रहणसामर्थ्यात्सर्व एव गृह्ये-
रन्यतितोऽपि गृह्येत । तच्च स्मृतिविरोधात्रेष्टम् ।

अथवा कृताध्ययनानां कृतविवाहानामुन्मत्तादिरूपे समुपजाते विधिरेष विज्ञेयः ।

“ननु च कृतविवाहानां ‘यद्यार्थिता तु दारैरिति’ नोपपद्यते” ।

नैतदेवम् । कृतविवाहानां जायार्थितायाः सम्भवात् ।

पूर्वेस्तु धर्म्येऽपि विवाहेऽस्य प्रयोजनं दृष्टम् । ततश्च क्लीबस्य स्मार्तेष्वधिकारा-
त्तदर्थो विवाहोऽसत्यामप्यर्थितायां युक्त एव । जातपुत्रस्याधानात्क्लीबस्य नाधिकारः ।
यस्य च प्रयोजकत्वं युक्तं तददर्शितम् ॥२०३॥

हिन्दी—इन नपुंसक, पतित आदि (९।२०१) को किसी प्रकार विवाह करने की
इच्छा हो तो (इनके विवाह होने पर) उत्पन्न (नपुंसक की क्षेत्रज तथा पतितादि की औरस)
सन्तान उनके धन पाने की अधिकारिणी होती है ॥२०३॥

अविभक्त धन के अधिकारी—

यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।

भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥२०४॥

पितृक्रमागतान्मित्राद्राजामात्यपुरोहितादेर्वा क्षेत्राद्वा चिद्युक्त्याऽधिकोत्पत्तिं जनयेत्तत्सर्वेषां
साधारणम् । नैव मन्तव्यं ‘मयैतबुद्ध्या पित्रा प्रागनुपार्जितं मयैतल्लब्धं ममैवैतदिति’ ।

विद्यानुपालिन इति वचनाद्विद्याजीविनां शिल्पिकारुकप्रभृतीनामेष विधिर्वैद्यनट-
गायनादीनाम् ॥२०४॥

हिन्दी—पिता के मरने के बाद यदि बड़ा भाई अपने पुरुषार्थ से धनोपार्जन करे तो
उस धन में पढ़े-लिखे छोटे भाइयों का भाग होता है (मूर्खों का नहीं) ॥२०४॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥२०५॥

भाष्य—अविद्या 'कृषिवाणिज्यराजोपसेवादि' तत्र ईषत्र्यूनाधिकभावो न गण-
यितव्यः । तत्रापि यदि केनचिदपि बह्वर्जितं तदाऽस्त्येवऽविभागता ।

ज्येष्ठस्य तु ज्येष्ठांशनिषेधार्थं वचनम् ।

ईषदाधिक्ये तु सर्वेषां समांशकल्पना ।

अपित्र्य इति हेतुवचनादनपत्यधनस्याप्येष एव विधिः ॥२०५॥

हिन्दी—बिना पढ़े लिखे सब भाइयों के प्रयत्न (खेती, व्यापार आदि) से यदि धन प्राप्त हो तब पितृ-धन को छोड़कर उस प्रयत्नोपार्जित धन में से ज्येष्ठ भाई का उद्धार (अतिरिक्त भाग) नहीं होता, (किन्तु पिता के धन में से ही वह उद्धार भाग होता है) ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥२०५॥

विद्यादि प्राप्त धन की अविभाज्यता—

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥२०६॥

भाष्य—'विद्यया' अध्यापनादिना शिल्पकौशलेन वा । तथा मित्रात् । अर्जितम् ।
औद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमात्विज्येन । यद्यप्येतदपि विद्याधनं भवति तथापि याजनेन
निमित्तेनोपादीयमानत्वाद्भेदेन व्यपदिश्यते ।

श्वसुरगृहलब्धमौद्वाहिकम् । अपने उद्वाहनिमित्तेन यद्धनं लभ्यते ॥२०६॥

हिन्दी—विद्या से, मित्र से, विवाह में और मधुपर्क के समय पूज्यता के कारण जिसको जो धन प्राप्त हो; वह धन उसी का होता है ॥२०६॥

विमर्श—कात्यायन ने 'विद्याधन' के निम्नलिखित भेद कहे हैं—दूसरे से भोजन पाकर पढ़ी हुई विद्या के द्वारा उपार्जित धन; पणपूर्वक विद्या के द्वारा उपार्जित धन; शिष्य से यज्ञ में ऋत्विक् कार्य कराने से, दान से, सन्दिग्ध प्रश्न के निर्णय से उपार्जित धन, अपने ज्ञान से, वाद से तथा बहुत धन में प्राप्त हुआ धन ।^१ अतएव मेधातिथि का

१. तदुक्तं कात्यायनेन—

'परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।

तथा प्राप्तं च विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥

उपन्यस्ते च यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।

विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभागे न विभज्यते ॥

शिष्यादात्विज्यतः प्रश्नात्सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।

विद्याधनं तु तत्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥' इति । (म०मु०)

म्माधुपर्किक धन को ऋत्विक् कार्य कराने से प्राप्त धन कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसकी गणना विद्याधन में ही हो जाती है ।

सशक्त भाई के भागग्रहण में उपेक्षा करने पर—

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।

स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्व्योपजीवनम् ॥ २०७ ॥

भाष्य—ये भ्रातरः सह वसन्ति विद्यमानपितृधनाश्च कृष्यादिना व्यवहरन्ति तेषां व्यद्येको न व्यवहरेत्तस्येयं निर्भाज्यता पठ्यते स निर्भाज्यः स्वकादंशादिति । भागान्ने-
त्तव्योऽपसारयितव्यः । स्वाकादंशाद्यावदधिकं तदीयाद्धनाद्व्यवहारेणोत्पन्नं तत्तस्य न
दातव्यं, न तु मूलधनस्य पैतृकस्य निषेधः तत्रापि न सर्वेण सर्वं निर्भाज्यं, किञ्चिदन्योप-
जीवनं क्लेशफलमात्मनो गृहीत्वा शिष्टमस्मै दातव्यम् ।

अथवा निर्भाज्यः पृथक्कार्यः सह वस्तुं न देयम् । कदाचिदुत्तरकालशक्तिसाधा-
रण्येन धनेनार्जितत्वात्समांशता । तत्र भागकल्पना नारदेन दर्शिता । तत्र वचनेनोद्गतस्य
निर्गतस्य भूयान्भागो गृह्यतेऽनुक्तस्य स्वल्प इति ॥ २०७ ॥

हिन्दी—भाइयों में से अपने उद्योग में समर्थ जो भाई पिता के धन से भाग लेना नहीं
चाहे, तब सब भाई पिता के धन में से कुछ भाग देकर उसे अलग कर दें ॥ २०७ ॥

विमर्श—ऐसा करने से उसके पुत्र पितामह के धन में से भाग लेने के लिए विवाद
नहीं कर सकते ।

अविभाज्य धन—

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।

स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

भाष्य—विद्यानिमित्तस्य स्वयमर्जितस्यादानमुक्तम् । अनेन व्यतिरिक्तस्य कृष्यादि-
लब्धस्यादातव्यतोच्यते ।

“ननु चायमेव श्लोको वक्तव्यः—‘स्वयमीहितेन स्वयं चेष्टया यत्लब्धं तन्ना-
कामो दातुमर्हतीति’ किं विद्याधनादिश्लोकेन” ।

उच्यते । मैत्रे विवाहादौ न सर्वस्य स्वयमीहोपपत्तिरिति भेदेन व्यपदेशः ॥ २०८ ॥

हिन्दी—पिता के धन को नष्ट नहीं करता हुआ यदि कोई पुत्र केवल अपने पुरुषार्थ
(व्यापार आदि) से उपार्जित धन में से किसी के लिए कुछ नहीं देना चाहे तो वह (अपने
पुरुषार्थ से उपार्जित धन में से) किसी को कुछ नहीं देवे ॥ २०८ ॥

पितामह के अप्राप्त धन का अविभाजन—

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।

न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥

भाष्य—ग्रहणादन्यदर्थयन्पित्रा स्वयमर्जितं तदाकामो न विभजनीयोऽधिकार-
प्राप्तोरपि पुत्रैः ।

“कः पुनर्जीवति पितरि पुत्राणां विभागकालः” ।

उच्यते । यदा तावत्स्वयं पिता पुत्रान्विभजते । तदुक्तम्—“निवृत्ते रजसि मातु-
र्जीवति वेच्छतीति” (गौ० २८।२) तथा “मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च । निवृत्ते
चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे” (नारद १३।३) इति ।

अन्यथा तु यदैव प्राप्ताः पुत्रा भवन्ति तदैव ते पितामहधनस्येशते । तथा चोक्तं—
“भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।

तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥” (या०व०स्मृ० २।१२१) इति ॥

सत्यपि च पुत्रस्य स्वाम्ये यावदप्राप्तास्तावत् सर्वथा विशेषाभावात्सर्वे पितामह-
धनमाजः स्वत्वपूर्वकत्वाद्विभागस्य । बन्धक्रयादिक्रियासु पितृधनं जातपुत्रेण न नियोक्त-
व्यम् । योगकुटुम्बभरणादौ तु विनियोगो दर्शितः । आचारेण सत्यपि चास्यामवस्थायां
पुत्राणां स्वाम्ये ‘पित्रा चाकामेन विभक्तानिति’ निन्दादर्शनाद्विभाजयन्तः पापा इत्य-
नुमीयते । यथाऽसकृत्प्रतिग्रहेण भवति स्वाम्यं दोषस्तु पुरुषस्य । तेनान्वयागतमितीदृश-
मशुद्धमेव । अतः सम्भवत्युपायान्तरे न पिताऽर्थनीयः । अधर्मो हि तथा स्यात् ।

स्वयमर्जितमपि धनमधिकारप्राप्तान्गुणवतः पुत्रान् ज्ञात्वा विभक्तव्यमेव । उक्तं च—
“वयसि स्थितः पिता पुत्रान्विभजेत् ज्येष्ठं श्रेष्ठं शिनेतरान्समैरंशैः” इति । न चैतत्पितामह-
धनविषयम् । न हि तत्र पिता ज्येष्ठस्याधिकांशदानाय प्रभवति । तुल्यत्वादुभयोः स्वाम्यस्य ।

यत्त्विदं “न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः” (या०व०स्मृ० २।११६)
इति तत्पितामहेऽपि स्वल्पया मात्रयेच्छन्ति । यत्र न परिपूर्णं भागद्वयं गृहीतं स्वयमर्जित-
विषये ह्यपवाद एव स्यात् ॥२०९॥

हिन्दी—पिता अपनी असामर्थ्य के कारण उपेक्षित जिस पैतृक धन को नहीं पा सका
है, उस (पैतामहिक) धन को यदि पुत्र अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर ले और उसमें से दूसरे
भाइयों को भाग नहीं देना चाहे तो न देवे ॥२०९॥

पुनः सम्मिलित किये धन का अविभाजन—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्युनर्यदि ।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

भाष्य—स्पष्टार्थः श्लोकः ।

विभागधर्मे विभागस्योद्धारप्रत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थ, “अपित्र्य इति धारणेति” (१।२०५) वचनान् । पित्र्यस्य सर्वधनस्योद्धारः । इह तु भूतपूर्वगत्या पित्र्यं नास्तीत्याशङ्कया वचनम् ॥२१०॥

हिन्दी—पहले कभी अलग हुए भाई पुनः सम्मिलित होकर एकत्र रहने लगे और फिर कभी अलग होना चाहें तो उस समय तक भाइयों का समान भाग होता है, बड़े भाई का ‘उद्धार’ (१।११२-११५) अर्थात् अतिरिक्त भाग नहीं मिलता है ॥२१०॥

विदेशादिगत भाई के भाग का लोपाभाव—

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।

ग्रियेनान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥

भाष्य—येषां भ्रातृणां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा भ्रातांशप्रदानाद्धीयते । ‘अंशप्रदानं’-विभागकालः । ‘हीयते’ पातित्याद्यविभागार्थं च हेतुमासादयेत् । ग्रियेत वा । तस्य भागो न लुप्यते । तस्येयं प्रतिपत्तिः ॥२११॥

हिन्दी—जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई (विदेश जाने या संन्यासी होने आदि वृत्ते कारण) भाग से रहित हो जाय अर्थात् अपना भाग नहीं पावे या मर जाय तो उसके भाग का लोप (नाश) नहीं होता है ॥२११॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।

भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥

भाष्य—सोदर्या भ्रातरो येषां संसृष्टोर्ये, ते गृह्णीयुः । भगिन्यश्च सनाभयः । सोदर्या अप्रतास्ता हि सनाभिव्यपदेश्याः । प्रताः पुनः पतिगोत्रभावन्तीति न भ्रातृणां ‘सनाभयः’ ।

ये च संसृष्टा इति चशब्दो भगिनीं समुच्चिनोति । न त्वियमाशङ्का कर्तव्या—
“सोदर्या गृह्णीयुर्ये च भ्रातरः संसृष्टा” इति ।

तथा सत्यसोदर्याणामपि संसृष्टानां भागः प्रसज्येत । सन्त्येव सोदर्या असंसृष्टाः संसृष्टाश्च । संसृष्टा असंसृष्टाश्च सोदर्या यत्र सन्ति, तत्रोभयोरपि विभागेन विभागं गृह्णीयुः । न चेदं विरुध्येत ।

“अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत् ।

असंसृष्टोऽपि वा दद्यात्सोदर्यो नान्यमात्रिकः ॥” (याज्ञ० २।१३९) ॥

अस्यायमर्थः । सापत्नो भ्राता सत्यपि संसृष्टित्वे न गृह्णाति । यदा सोदर्योऽसंसृष्टो-

ऽपि विद्यते सोदर्याणां मध्याद्येन संसृष्टः स एव नान्यः, सत्यपि सोदर्यत्वे । तदुक्तं—
“संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदर्यस्य तु सोदरः” (याज्ञ० २।१३४) इति । यदा तु सोदरा नैव
सन्ति तदायैरेव सापत्नैः संसृष्टस्य एव गृह्णीयुर्न त्वितरे । सोदर्यविभक्तानां सह वसतां महा-
निकटमावसत्यपि सान्निध्यं विशेषकार्यं सामान्योत्थं विभक्तानामपि विज्ञायत इत्याहुः ।

तेन विभक्तानामप्यन्यतरप्रमेये सोदर्य एव गृह्णीयात्रास्य भागः परिलुप्यते ।

न चैतच्चोदनीयं “नैवास्य तदानीं भाग उत्थितः परलोको वा चिन्त्यते ।”

यत उक्तम्—“समुत्पन्नो वाच्यः स्वामीति” । “अनोशास्ते हि जीवतोः” (१।१०४)
इति तत्र पितुरूर्ध्वं समनन्तरमेव पुत्राणां स्वाम्यं दर्शयति ॥११२॥

हिन्दी—(किन्तु उसके पिता, माता, स्त्री या पुत्र नहीं हों तो) सब सहोदर भाई और
बहनें तथा सपत्नी-पुत्रों (सौतेले भाइयों) में से जो सम्मिलित रहते हों, सभी मिलकर उसके
भाग में से समान-समान भाग परस्पर में बाँट लें ॥२१२॥

वञ्चक ज्येष्ठ भाई का उद्धारभाव—

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातृन्यवीयसः ।

सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियंतव्यश्च राजभिः ॥२१३॥

भाष्य—विनिकारो राजपूजादिष्ववज्ञा परे धनेन वचनम् ।

अज्येष्ठो बन्धुवत्पूज्य इत्युक्तम् । न सर्वेण सर्वे ज्येष्ठवृत्तिनिषेधः ।

अभागकत्वं च ज्येष्ठांशानर्हत्वम् ।

नियन्तव्यम् । अविशेषोपदेशात् । वाग्दण्डधिग्दण्डाभ्यां धनं चार्थानुरूपेऽ-
पराधे ॥२१३॥

हिन्दी—जो ज्येष्ठ भाई लोभ से छोटे भाइयों को ठगे (पिता के धन में से उन्हें उचित
भाग न दे या कम दे), वह ज्येष्ठ भाई के आदर को नहीं पाता, उसका ‘उद्धार’ (अतिरिक्त
भाग—१।११२-११५) भी नहीं मिलता तथा वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है ॥२१३॥

विकर्मियों को भाग की अप्राप्ति—

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।

न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥२१४॥

भाष्य—विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धाचरणाः ।

कुटुम्बार्थे चानुतिष्ठमानानां तेषामन्येषां भ्रातृणां सम्बन्ध्युपविष्टं स्थापयेद्यदा ते
वक्ष्यन्ते कुतस्तद्धनमिति तदा मूलं दर्शयिष्यामीति’ तादृशं वृद्धिसहितमपि सर्वेषामपि
दापयेत् । यदि तु तस्मिन्नेव काले भ्रातृणां दर्शयेदिदमधिकं दृश्यते तद्यथांशं गृहीताहमपि

स्वतस्तपृथक्कृत्य वृद्धिं नेष्यामीति’ तदा नास्ति तेषां भागः । तस्यैव तद्यौतकम् ॥२१४॥

हिन्दी—(पतित नहीं होने पर भी) शास्त्रविरुद्ध (जुआ खेलना, मद्य पीना, वेश्या-गमन करना आदि) करनेवाले सभी भाई पिता के धन के भागी (हकदार) नहीं होते हैं तथा ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयों के भाग को बिना पृथक् किये अपने लिए कुछ भी धन (पिता के धन में से) नहीं लेवे ॥२१४॥

पिता के जीवित रहने पर उपार्जित धन का समभाग—

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।

न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥

भाष्य—यदुक्तं—“न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः” (याज्ञवल्क्य २।११६) इति तस्यास्मिन्विषये प्रतिषेधः ।

सहोत्थानं सर्व एव धनमर्जयन्तीत्यर्थः । कश्चित्कृष्यादिना कश्चित्प्रतिग्रहेण कश्चित्सेवया कश्चिद्यथाहृतं परिरक्षति यथोपयोगमसन्निहितेषु विनियुंते । तत्सर्वमेकीकृत्य समं विभजनीयम् । न स्नेहादिना कस्मैचित्पत्राऽधिकं देयम् ॥२१५॥

हिन्दी—यदि सम्मिलित रहते हुये सब भाई साथ में ही धनोपार्जन करें तो पिता किसी प्रकार भी किसी पुत्र को अधिक भाग को कदापि न देवे ॥२१५॥

पितृधन विभाजन होने के बाद पुत्रोत्पन्न होने पर—

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पितृमेव हरेद्धनम् ।

संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६॥

भाष्य—विभागोत्तरकालं पित्रा यद्विभागे भागद्वयं गृहीतं “द्वावंशौ प्रतिपद्येते” इति तदेव सत्यां पितुरिच्छायां ग्रहीतव्यम् । पितरूर्ध्वं वा । न तत्र भ्रातृभिर्वाच्यं “किमित्ययं द्वावंशौ गृह्णातीति” । अथ च नास्ति पितुरिच्छा, तदा समं च स्वसमोऽस्य भाग उद्धर्तव्यः ।

ये पितरूर्ध्वं संसृष्टास्तेषामेव स पैतृकोंऽशः । तदुत्थं दद्यात् । अपरेषां स्वांशं “जातस्य च मृतस्य च” इति । जातस्य संसृष्टिन एव दद्युः । पितरूर्ध्वं तदीयमंशं च तत एव । ‘विभक्ताः सह’ (९।२१०) इत्यनया बुद्ध्या । “भगिन्या आ प्रसवान्नैव विभागोऽस्ति” इति वसिष्ठेन दर्शितम् ॥२१६॥

हिन्दी—पिता के जीवित रहते ही उन पुत्रों की इच्छा से उनमें धन का विभाजन (बँटवारा) होने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो तो वह पुत्र पिता के मरने पर उसके धन का भागी होता है तथा यदि कुछ भाई विभाजन होने पर भी पिता के साथ मिलकर रहने लगे तो बाद में उत्पन्न पुत्र पिता के मरने पर उसके साथ मिलकर रहनेवाले भाइयों के साथ

सभी धन में से समान भाग प्राप्त करता है ॥२१६॥

सन्तानहीन पुत्र के धन का अधिकारी—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥२१७॥

भाष्य—व्याख्यातोऽयं श्लोकः ॥२१७॥

हिन्दी—सन्तानहीन पुत्र के धन को माता लेवे तथा मर गयी हो तो पिता की माता (दादी) लेवे ॥२१७॥

विमर्श—पहले (९।१८५) पुत्रहीन पुत्र के धन का अधिकार पिता के लिए कह चुके हैं और इस वचन द्वारा माता को अधिकार कहा गया है, अतएव महर्षि याज्ञवल्क्य (२।२३५) तथा विष्णु के वचनानुसार^१ माता तथा पिता—दोनों ही पुत्रहीन पुत्र के धन को समान भाग में प्राप्त करते हैं। उत्तरार्द्ध का आशय यह है कि यदि माता मर गयी और पुत्रहीन उसके पुत्र, स्त्री, पिता, भाई और भतीजे नहीं हों तो उसके धन को उसकी पितामही (दादी) को मिलता है।

ऋण तथा धन का समान विभाग—

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।

पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥२१८॥

भाष्य—अविज्ञानान्मूनमधिकं वा विभक्तं परतो ज्ञातं समांशकीकर्तव्यम् । किञ्च विभागोत्तरकालं लब्धे नास्ति ज्येष्ठस्योद्धार इति ॥२१८॥

हिन्दी—पिता के धन तथा ऋण का विधिपूर्वक विभाजन (बँटवारा) करने के बाद यदि पिता का कोई धन या उसके द्वारा लिया हुआ ऋण शेष रह गया हो तो उसको सब भाई बराबर-बराबर बाँट लें (उस धन में से ज्येष्ठ भाई को 'उद्धार' अर्थात् अतिरिक्त (९।११२-११५) नहीं मिलेगा ॥२१८॥

अविभाज्य वस्तु—

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतात्रमुदकं स्त्रियः ।

योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥२१९॥

भाष्य—वस्त्रपत्रालङ्कारकृतात्रोदकानामेकत्वं विवक्षितम् ।

पत्रं वाहनं गन्त्रीशकटादि । **अलङ्कारोऽङ्गुलीयकादि । वस्त्रं** सममूल्यं, न तु

१. विष्णुना च—'अपुत्रस्य धनं पत्यमभिगामि तदभावे दुहितृगामि तद मा दे पितृमायि' इत्येकशेषस्य कृतत्वात्' इति (म०मु०)

महार्घम् । उदकं कूपवाप्यादि । स्त्रियो दास्यः । योगक्षेमं यतो योगे क्षेमो भवति, मन्त्रिपुरोहितामात्यवृद्धाः वास्तु च । चौरादिभ्यस्ततो रक्षा भवति । स्मृत्यन्तरे च पठ्यते—
‘वास्तुनि विभागो न विद्यते’ ।

प्रचारं यत्र गावश्चरन्ति । प्रवेत्रे (?) त्याह ।

तेन यत्पैतृकेनोक्तं ‘न ह्यत्र धर्मातिक्रमः कश्चिदस्तीति’ तदनुपपन्नं दर्शयति । अदृष्टासु हि ते प्रतिषेधाः । तदतिक्रमादधर्मो न स्यात् ॥२१९॥

हिन्दी—वस्त्र, वाहन, आभूषण, पक्वान्न; जल (कूप आदि सार्वजनिक जलस्थान स्त्रियाँ (दासियाँ), मन्त्री, पुरोहित आदि योगक्षेमसाधक मार्ग इनको (मनु आदि महर्षि) विभाज्य मानते हैं ॥२१९॥

विमर्श—वस्त्र, वाहन, भूषण आदि का उपभोग विभाजन के पूर्व जो करता हो, वह उसी का होता है, उसका विभाजन नहीं किया जाता; किन्तु यदि वे बहुमूल्य हों और उसके मूल्य में बहुत अधिक अन्तर हो तो उनको बेचकर या उसका मूल्य लगाकर उनका विभाजन करना चाहिये । इसी प्रकार पक्वान्न सत्तू आदि का भी विभाजन मूल्य में सामान्य अन्तर रहने पर नहीं होता, किन्तु बहुत अधिक मूल्य होने पर कच्चे अन्न से बदलकर उनका विभाजन होता ही है तथा सामान्य कार्य करनेवाली दासियों का भी विभाजन नहीं होता, किन्तु उनसे सामान्य कार्य करवाना चाहिये ।

द्यूतकर्म—

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।

क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्म निबोधत ॥२२०॥

हिन्दी—(महर्षि भृगुजी मुनियों से कहते हैं कि मैंने) आप लोगों से वह विभाजन का विधान तथा (क्षेत्रज आदि) पुत्रों के भाग (हिस्से) का प्रकार क्रमशः कहा, अब आप लोग द्यूतकर्म को सुनिये ॥२२०॥

द्यूतादि का निषेध—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।

राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥

हिन्दी—राजा के अपने राज्य से द्यूत तथा समाह्वय (१।२२३) को दूर करना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष राजा के राज्य को नष्ट करने वाले हैं ॥२२१॥

प्रकाशमेतत्तात्स्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।

तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

हिन्दी—द्यूत तथा समाह्वय (१।२१३) ये दोनों ही प्रत्यक्ष में चोरी करना (डाका

डालना) है अतएव उनको रोकने में राजा को सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥२२२॥

घूत तथा समाह्वय के लक्षण—

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके घूतमुच्यते ।

प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥

हिन्दी—बिना प्राणी (कौड़ी, पाशा, तास, तीर आदि की निशानेबाजी तथा सट्टा आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'घूत' (जुआ) तथा प्राणियों (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि पक्षियों एवं भेड़ा आदि को लड़ाकर तथा कुत्ता, घोड़ा आदि दौड़ाकर-कुत्तारेस, घोड़ारेस आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'समाह्वय' कहलाता है ॥२२३॥

घूतादि करने वालों को दण्ड—

घूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।

तान्सर्वान्यातयेद्राजा शूदांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥२२४॥

हिन्दी—जो मनुष्य घूत तथा समाह्वय (१।२२३) खेलें या खेलावें, उनको तथा यज्ञोपवीत आदि ब्राह्मण के चिह्नों को धारण करने वाले शूद्रों को (राजा) हाथ आदि कटवाकर दण्डित करे ॥२२४॥

कितवादि का देशनिर्वासन—

कितवान्कुशीलवान्कूरान्याषण्डस्थांश्च मानवान् ।

विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥२२५॥

हिन्दी—जुआरियों (जुआ खेलने या खेलानेवाले), कुशीलवों (नाचने गानेवाले), वेद-शास्त्र के विरोधियों, पाखण्डियों (श्रुति-स्मृति में अकथित व्रतादि धारण करनेवाले), आपत्तिकाल नहीं होने पर भी दूसरों की जीविका करनेवाले और मद्य बनानेवाले मनुष्यों को राजा राज्य से शीघ्र ही बाहर निकाल दे ॥२२५॥

कितवादि को राज्यनिर्वासन में कारण—

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।

विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६॥

हिन्दी—राज्य में रहने वाले गुप्त और चौर— ये (पूर्व श्लोकोक्त कितव आदि) विरुद्धाचरण से सज्जन प्रजाओं को पीड़ित करते रहते हैं ॥२२६॥

उपहासार्थ भी घूत का निषेध—

घूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।

तस्माद्घूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥२२७॥

हिन्दी—(केवल इस समय में ही नहीं किन्तु) पूर्वकाल में भी यह धूत (जुआ) बड़ा विरोधकारक देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान मनुष्य हँसी-मजाक के लिए भी धूत का सेवन न करे ॥२२७॥

धूतकारक का राजेच्छानुसार दण्ड—

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।

तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

भाष्य—विविधः कल्पो विकल्पः । सम एव राज्ञोच्यते ।

‘धूतधर्म निबोधत’ (९।२२०) इति तत आरभ्य द्वित्राः श्लोका विधायकाः । सर्वोऽप्यर्थवादः ॥२२०-२२८॥

हिन्दी—जो छिपकर या प्रकट रूप में धूत (जुआ) खेलता है, उसके लिए राजा की जैसी इच्छा होती है, उसी के अनुसार दण्ड होता है ॥२२८॥

दण्ड देने में असमर्थ होने पर—

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।

आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥२२९॥

भाष्य—क्षत्रियादयो निर्धना न बन्धनेनावसादयितव्याः । किंतर्हि? कर्मणा यद्यस्योचितं कर्म राजोपयोगि तेन दण्डधनं संशोधयितव्याः ।

ब्राह्मणस्तु कुटुम्बानामविरोधेन शनैर्दाप्यः । बन्धताडनकर्मणी तस्य निषिध्येते ।

धनिकविषयः प्रागुक्तः श्लोकः । दण्डविषयोऽयम् । अपौनरुक्त्यम् ॥२२९॥

हिन्दी—राजा के द्वारा दण्डित क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र दण्डद्रव्य (जुर्माना) देने में असमर्थ हो तो राजा उनसे काम कराकर दण्डद्रव्य की पूर्ति (वसूली) करे। ब्राह्मण यदि दण्ड द्रव्य देने में असमर्थ हो तो राजा उससे धीरे-धीरे दण्डद्रव्य (जुर्माना) को ग्रहण करे (किन्तु ब्राह्मण से काम कराकर दण्डद्रव्य की पूर्ति न करावे) ॥२२९॥

स्त्री, बाल आदि को दण्ड—

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।

शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यानृपतिर्दमम् ॥२३०॥

भाष्य—दमम् । कर्मकरणेऽप्यसमर्था दरिद्रा एव गृह्यन्ते । महापातकिनां साम्यात-च्छिफादिभिस्ताडनम् ।

शिफा लता । विदलं वृक्षत्वक् ॥२३०॥

हिन्दी—स्त्री, बालक, उन्मत्त (पागल), वृद्ध, दरिद्र और रोगी मनुष्यों को पेड़ों की

(जड़) या बाँस से मारकर या रस्सी से बाँधकर राजा दण्डित करे (इनपर अर्थदण्ड अर्थात् जुर्माना न करे) ॥२३०॥

राजनियुक्त अधिकारी को कार्य न करने पर दण्ड—

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।

धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥२३१॥

भाष्य—ये कार्यिणामर्थिप्रत्यर्थिनां कार्येषु व्यवहारदर्शितादिषु नियुक्ता अधिकृता राजस्थानीयप्रभृतयस्ते धनोष्मणा पच्यमाना अन्यतरस्माद्धनं गृहीत्वा कार्याणि नाशयेयुःस्तान्निःस्वान्कारयेत्सर्वस्वहरणं तेषां कार्यम् ।

सत्यानामभ्यासेन वर्तमानानां सत्यपि वक्ष्यमाणदण्डान्तरविधावेष एव दण्डी न्याय्यः ।

येऽप्यन्ये सेनापतिप्रभृतयः कस्यचित्साहाय्यके नियुज्यन्ते ततश्चार्थं गृहीत्वा शयन्ति तेऽप्येवमेव दण्ड्याः ।

अन्ये तु 'येऽनियुक्ता' इत्यकारप्रश्लेषं पठन्ति । ये राजवल्लेख्याद्वलातिशयाद्वाऽन्यस्य साहाय्यं कुर्वन्ति, कार्यनाशनार्थं द्वितीयस्य, तेषामयं दण्डः ।

धनोष्मणेत्यविवक्षितम् । अनियुक्ता इत्येतदेव प्रधानम् ॥२३१॥

हिन्दी—राजा के द्वारा कार्य में नियुक्त जो राजाधिकारी पुरुष घूस आदि के धन की गर्मी (घमण्ड) से कार्य को नष्ट कर दें तो राजा उनकी सम्पत्ति को अपने अधीन कर ले ॥२३१॥

कपटपूर्वक लेखादि लिखने वालों को दण्ड—

कूटशासनकर्तृश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।

स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥२३२॥

भाष्य—कूटशासनस्य कर्तारो यन्नैव राजादिष्टं तद्राजकृतमिति वदन्ति । शासनं राजादेशः । 'एतस्य गृहे न भोक्तव्यम्', 'अस्य चायं प्रसाद आज्ञात', 'इयं वा स्थिती राज्ञा कृतेति' पत्रकं राजाधिकृतलेखकलिखितमिति 'शासनं' राजादेशसम्बन्धेन शासनम् । तत्कूटं कुर्वन्ति पालयन्ति ।

प्रकृतीनां क्रुद्धलुब्धानां दूषका भेदकाः ।

स्त्रीबालयोर्ब्राह्मणस्यापि हन्तारः ।

द्विट्सेविनो राजशत्रुसेविनः प्रच्छन्नं गतागतिकान् ॥२३२॥

हिन्दी—कपटपूर्वक राजाज्ञा लिखनेवाले, प्रकृति (मन्त्री, सेनापति आदि राज-

परिजनों) को फोड़नेवाले तथा स्त्री, बालक और ब्राह्मणों की हत्या करनेवालों एवं शत्रु का सेवन करने वालों का वध करके दण्डित करे ॥२३२॥

धर्मपूर्वक किये कार्यादि का अपरिवर्तन—

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।

कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥२३३॥

भाष्य—यत्र क्वचन राजाधिकरणे व्यवहारपदं तीरितम् । पारतीरकर्मसमाप्तौ । निश्चितम् । असौ यत्र प्रयुज्जीतेति न केवलं वाचा सत्यैरुक्तं यावदनुशिष्ट दण्डप्रणयनं कृतम् ।

तद्राजा कृतमेव विद्यात् । न पुनर्निवर्तयेदन्तरेण द्विगुणं दण्डम् । यथाह—“द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्” इति ॥२३३॥

धनग्रहणसम्बन्धेन पूर्वं निःस्वीकरणम् । अयं तु निमित्तान्तरेणाज्ञानादिना ।

हिन्दी—जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में जो शास्त्रव्यवस्था के अनुसार निर्णीत कर लिया गया हो और जो दण्डविधमान कर दिया गया हो; उसे धर्मपूर्वक किया हुआ जानना चाहिये और उसमें (निष्कारण) परिवर्तन नहीं करना चाहिये (तथा किसी कारण-विशेष के होने पर तो परिवर्तन भी करना ही चाहिये) ॥२३३॥

[तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा ।

द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥६॥]

[हिन्दी—जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में निर्णय कर लिया गया हो और दण्ड भी कर दिया गया हो; किन्तु राजा उसे न्याययुक्त नहीं समझे तो अधिकारियों को दुगुना दण्डित करके उस कार्य को फिर से देखे ॥६॥]

अधर्मपूर्वक किये गये कार्यादि का परिवर्तन—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तं सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

भाष्य—धनग्रहणसम्बन्धेन पूर्वं निःस्वीकरणम् । अयं तु निमित्तान्तरेण अज्ञादिना ।

अमात्यो राजस्थानीयादिः ।

तं सहस्रं च दण्डयेत् । गर्गशतदण्डनवत्समुदायेन वाक्यपरिसमाप्तिः ॥२३४॥

हिन्दी—मन्त्री या न्यायाधीश (जज आदि राजाधिकारी) जिस कार्य को ठीक (न्यायपूर्वक) नहीं किये हों, उस कार्य को राजा स्वयं करे और उन्हें सहस्र पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥२३४॥

विमर्श—राजनियुक्त अधिकारियों पर यह दण्डविधान बिना घूस लिये अन्यायपूर्वक निर्णय करने पर है, घूस लेकर अन्यायपूर्वक निर्णय करने पर तो उन अधिकारियों की सब सम्पत्ति लेकर दण्डित करने का विधान पहले (९।२३१) में ही कह चुके हैं।

चतुर्विध महापातकी—

ब्रह्महा च सुरापश्च तस्करो गुरुतल्पगः ।

एते सर्वे पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥२३५॥

भाष्य—सुरापो ब्राह्मण एव महापातकी । तस्करो ब्राह्मणसुवर्णापहारी । नराः कथिताः ।

उक्तार्थकथनमुत्तरार्थम् ॥२३५॥

हिन्दी—(१) ब्राह्मण की हत्या करनेवाला, (२) मद्य पीनेवाला ('पैष्टी' मद्य को पीनेवाला) द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) और 'पैष्टी-माध्वी-गौडी' (क्रमशः आटा, महुआ तथा गुड़ से बने हुए) मद्य को पीनेवाला ब्राह्मण, (३) (ब्राह्मण के सुवर्ण को) चुरानेवाला एवं (४) गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करनेवाला और पृथक्-पृथक् कर्म करनेवाले इन सबको महापातकी जानना चाहिये ॥२३५॥

प्रायश्चित्त नहीं करने वाले महापातकियों को दण्ड—

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।

शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥२३६॥

भाष्य—“ननु च सुरापो ब्राह्मण एव पातकी । तस्य च शरीरसंयुक्तो दण्डो नास्ति 'न. शारीरो ब्राह्मणो दण्ड' इति तत्र चतुर्णामपीति कथं” केचिदाहुः । पतितः सम्प्रयुक्तो गृह्यते पूर्वमनुपात्तोऽपि । चतुःसंख्यासामर्थ्यात् ।

अन्ये त्वंकनं शरीरसंयुक्तमित्याहुः । तच्च ब्राह्मणस्याप्यस्ति ।

अन्ये त्व'पि'शब्दात्पञ्चानामयं दण्ड इत्याहुः ।

चतुर्णामपि । अपिशब्दात्पञ्चमस्यापि तत्संसर्गिणः ।

ब्राह्मणस्य वधे पूर्वं शरीरदण्ड उक्त एव, “स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्यादि”ति । अनेनान्तःशरीरयुक्तमङ्कनमेवोच्यते ।

धर्म्यमित्यपराधानुरूपेण गुरुतरलाघवं कार्यमित्यर्थः ॥२३६॥

हिन्दी—राजा प्रायश्चित्त नहीं करनेवाले इन चारों प्रकार के महापातकियों को शारीरिक तथा अपराधानुसार आर्थिक दण्ड से धर्मानुसार (आगे (९।२३७-२४०) कहे गये दण्ड से) दण्डित करे ॥२३६॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।

तस्करे श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७॥

भाष्य—ललाटाङ्गनम् । प्रतिषेधविधौ “नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युः” (९।२४०) इतितच्छ्रवणात् ॥२३७॥

हिन्दी—गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करनेवाले (के ललाट) में भग का चिह्न, मद्य पीने वाले (के ललाट) में सुरापान का चिह्न, ब्राह्मण के सुवर्ण को चुराने वाले (के ललाट) में कुत्ते के पैर का चिह्न तथा ब्राह्मण की हत्या करनेवाले (के ललाट) में शिरकटे मनुष्य को चिह्न (तपाये हुए लोहे से) करा देवे ॥२३७॥

असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविगर्हिताः ।

चरेयुः पृथिवीं दीनां सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥२३८॥

भाष्य—सर्वधर्मग्रहणादेवासम्भोजनादीनां सिद्धे प्रतिषिद्धे दोषगुरुत्वख्यापनार्थ-
मेषामुपादानम् ।

सम्भोग एकत्र ग्रसनं गीतादिश्रवणं च ।

संयाजनं तेषामेव याजनं तैः सह याजनं वा । एवं **संपाठोऽपि** द्रष्टव्यः । **असंपाठ्या-
विगर्हिता** इति । असंपाठ्याश्च विगर्हिताश्चेति द्वन्द्वः ।

दीना इति । सत्यपि स्वरत्वे तत्सम्बन्धिनिषेधमिक्षादिभोजनेन परयाऽवज्ञया च वस्त्रखण्डादिवर्जनम् ॥२३८॥

हिन्दी—(ये चतुर्विध (९।२३५) महापातकी) असम्भोज्य (अन्न आदि खिलाने के अयोग्य), असंयाज्य (यज्ञादि सत्कर्म कराने के अयोग्य), असंपाठ्य (पढ़ाने के अयोग्य), अविवाह्य (विवाह के अयोग्य), समस्त धर्म—(कार्यों) से बहिष्कृत एवं दीन होकर पृथ्वी पर घूमा करें ॥२३८॥

ज्ञातिसबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।

निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥२३९॥

भाष्य—कृतलक्षणा इति निश्चिते कार्यकारणत्वे इत्यर्थः ।

व्याध्यादियोगेष्वेव दया न कर्तव्या । ज्येष्ठ्यादिगुणयोगेऽपि च नैते नमस्कार्याः प्रत्युत्थानादिभिः ।

एष एव वचनसामर्थ्याद्धर्मो विज्ञेयः ॥२३९॥

हिन्दी—उक्त (९।२३७) चिह्नों से चिह्नित ये जातिवालों तथा (मामा आदि) सम्बन्धियों से त्याज्य हैं, दया के अयोग्य हैं और नमस्कार के अयोग्य हैं; ऐसा मनु का आदेश है ॥२३९॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः पूर्वे वर्णा यथोदितम् ।

नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूतमसाहसम् ॥२४०॥

भाष्य—शूद्रादन्ये पूर्वे वर्णाः । तेषां प्रायश्चित्तं कुर्वतामङ्कनं नास्ति । दण्डस्तू-
तमसाहसं पणसहस्रं दाप्यते ॥२४०॥

हिन्दी—शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करनेवाले इन सब वर्णों के ललाट में राजा (तपाये लोहे
से) चिह्न न करे, किन्तु उत्तम साहस (८।१३८-१०० पणों) से दण्डित करे ॥२४०॥

महापातकी ब्राह्मण को दण्ड—

आगस्सु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥

भाष्य—प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणा इत्येतदत्र नापेक्षते ।

एतेषु ब्रह्महत्यादिष्वपराधेषु ब्राह्मणो मध्यमसाहसं दण्ड्यः ।

अकामत इत्युत्तरश्लोकादपकृष्यते ।

दण्डयित्वा प्रायश्चित्तं कारयितव्यः ।

सपरिच्छदः । गुणवतो ब्राह्मणस्यानुग्राह्यस्यैतत् । अकामं वाऽनिर्वास्यः ॥२४१॥

हिन्दी—इन (९।२३५) अपराधों को अकामपूर्वक करनेवाले गुणवान् ब्राह्मण को
मध्यम साहस (५०० पण) से दण्डित करना चाहिए तथा सकाम होकर करने पर धन-
धान्यादि के सम्पत्ति तथा साधनों के साथ देश से निकाल देना चाहिये ॥२४३॥

विमर्श—पूर्व श्लोक (९।२४०) में किया गया समस्त वर्णों के लिए उत्तम साहस
परिमित दण्डविधान निर्गुण ब्राह्मण के लिए समझना चाहिये ।

महापातकी क्षत्रियादि को दण्ड—

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्योतान्येकामतः ।

सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥२४२॥

भाष्य—इतरे क्षत्रियादयो वर्णा एतानि पापानि महापातकान्येकामतोऽनिच्छया
कृतवन्तः सर्वस्वहरणाः कार्याः ।

केचित्प्रायश्चित्तमपि कुर्वतामेतद्दण्डं पूर्वेण वैकल्पिकमिच्छन्ति ।

कामतस्तेषां वध उक्तः ।

शूद्रस्याकामतोऽङ्कनसर्वस्वहरणे । कामतो वधः ॥२४२॥

हिन्दी—अकामपूर्वक इन (९।२३४) अपराधों को करने वाले क्षत्रियों, वैश्यों व

शूद्रों को सर्वस्व हरणकर दण्डित करे तथा कामपूर्वक अपराध करने वाले इनको वधरूप दण्ड दे ॥२४२॥

महापातकी के धनग्रहण का निषेध—

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।

आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥

भाष्य—“ननु धनेन दण्डनं राजा वृत्तिरिति स्थापितम्। कथमिह तद्धनस्याग्रहणम्।”

उक्तम्—‘राजनिर्धूतदण्डा’ इत्यत्रान्तरे ॥२४३॥

हिन्दी—धर्मात्मा राजा महापातकियों (९।२३५) से धन को नहीं ग्रहण करे, लोभ से उनके धन को ग्रहण करता हुआ राजा उस (महापातक) दोष से युक्त होता है ॥२४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।

श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

भाष्य—‘वरुणायेदमि’ति मनसा ध्यायन्नप्सु दद्यादप्सु निक्षिपेत् । ब्राह्मणाय वा विद्याशीलसम्पन्नाय दद्यात् ॥२४४॥

हिन्दी—(अतएव) राजा उन महापातकियों से लिये गये धन को पानी में डालकर वरुण के लिए दे देवे अथवा शास्त्र तथा सदाचार से युक्त विद्वान् ब्राह्मण के लिए दे देवे ॥२४४॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।

ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥

भाष्य—पूर्वस्य प्रतिपत्तिविधेरर्थवादोऽयम् ।

महापातकिनो दण्डस्य वरुण ईष्टे । यतो राज्ञां स दण्डधरो नेता ईशितेति यावत् । एवं ब्राह्मणोऽपि तद्धनस्येशोऽनेन ग्राह्यः ॥२४५॥

हिन्दी—क्योंकि महापातकियों (९।२३५) के अर्थदण्ड को ग्रहण करनेवाला स्वामी वरुण है, अतएव वही राजाओं के भी अर्थदण्ड को ग्रहण करनेवाला है तथा वेद-पारङ्गत (एवं सदाचारी) ब्राह्मण सम्पूर्ण संसार का स्वामी है, (इस कारण उन महा-पातकियों के धन को) वे ही दोनों (वरुण या वेदपारङ्ग सदाचारी ब्राह्मण ही) ग्रहण करने के अधिकारी हैं ॥२४५॥

महापातकियों के धन नहीं लेने की प्रशंसा—

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।

तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

हिन्दी—जिस राज्य में राजा महापातकियों (९।२३५) के धन को दण्डरूप में भी नहीं लेता है (अपितु 'अप्सु प्रवेश्य.....(९।२४४) के अनुसार पानी में डाल देता या सदाचार-सम्पन्न वेदपारगामी ब्राह्मण के लिए दे देता है), उस राज्य में यथा समय मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे दीर्घजीवी होते हैं ॥२४६॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।

बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४६॥

भाष्य—प्रसिद्धाविमावप्यर्थवादश्लोकौ ।

कालेन जायन्त इति वर्तमानजन्य विवक्षितम् ।

जातं जनिष्यमाणं च । **विकृतं** करचरणाक्षिविहीनम् ॥२४७॥

हिन्दी—वैश्यों (कृषकों) के द्वारा खेती में बोये गये बीज यथावत् पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं, (अकाल में) बालक नहीं मरते हैं और कोई प्राणी विकृत (किसी अङ्ग से हीन या विकारयुक्त) नहीं उत्पन्न होता है ॥२४७॥

ब्राह्मण को पीड़ित करनेवाले को दण्ड—

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।

हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥२४८॥

भाष्य—अवरवर्णजः शूद्रः ।

बाधनं धनाद्याहरणं शरीरोपपीडनं च । **चित्रा** विविधोपायाः शूलारोपणं शिरश्छेदः अङ्गकल्पनं खड्गप्रहारकर्तिका इत्याद्याः । **उद्वेजनकरैर्दीर्घकालपीडाकरैः** ॥२४८॥

हिन्दी—जान-बूझकर (शरीर-पीड़ा तथा धन आदि चुराकर) ब्राह्मण को पीड़ित करनेवाले शूद्र को राजा उद्वेगकारक विचित्र बधों (हाथ-पैर आदि को काटने) से मार डाले ॥२४८॥

वध्य को छोड़ने से दोष—

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।

अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥२४९॥

भाष्य—अवध्यवधे यो दोषस्तत्तुल्यो वध्यमोक्षणे राज उपर्युक्तेषु ।

अर्थभागहरस्य धर्मान्कुर्वतः प्रत्यवायेन अवश्यमेव भवितव्यम् । कुर्वतस्तु न कदाचिदृष्टसिद्धिः । यस्त्वयं धर्मस्तु विनियच्छत इति एवमादिधर्मप्रवापदः, सर्वोऽसौ स्वकर्मानुष्ठानानुशंसार्थोऽर्थवादः ।

निग्रहोपसंहारार्थस्त्वयं वधोपदेशः । अतो यथाश्रुति चित्रवधोपायैः कर्तव्यः । दृष्टार्थेषु

राज्यतन्त्रसिद्ध्यर्थमुपदेशेषु प्रवचनं, यथादृप्तं योधांश्च हन्यादित्युक्तम् । तत्र दृष्टप्रयोजन-
त्वादुपदेशस्य, न नियतो वधः । एवं च सत्युपायांतरेणापि बन्धनादिना ‘विनियच्छतो’
न दोषः ॥२४९॥

हिन्दी—अवध्य (नहीं मारने योग्य) को वध करने में जितना अधर्म होता है, उतना
ही अधर्म (अपराध के कारण) वध करने योग्य व्यक्ति को छोड़ने में राजा को होता है और
शास्त्रानुसार दण्डित करनेवाले राजा का धर्म देखा जाता है (अतः राजा दण्डनीय व्यक्ति
को अवश्य दण्डित करे) ॥२४९॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।

अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥२५०॥

भाष्य—सर्वव्यवहारोपसंहारार्थः श्लोकः ॥२५०॥

हिन्दी—(महामुनि भृगुजी मुनियों से कहते हैं कि मैंने) परस्पर विवाद करते हुए
वादी तथा प्रतिवादियों (मुद्दई तथा मुद्दालहों) के अठारह प्रकार के (८।४-७) विवादों में
व्यवहार (मुकदमे) के निर्णय को विस्तारपूर्वक कहा ॥२५०॥

एवं धर्म्याणि कर्माणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।

देशानलब्धान्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥२५१॥

भाष्य—अलब्धान्लिप्सेतेति संतोषपरेण न भवितव्यमित्यर्थः ॥२५१॥

हिन्दी—धर्मयुक्त कार्यों को इस प्रकार अच्छी तरह करता हुआ राजा अप्राप्त देशों
को प्राप्त करने की इच्छा कर तथा प्राप्त हुए देशों का यथावत् पालन करे ॥२५१॥

कण्टकोद्धार करना राजा का कर्तव्य—

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।

कण्टकोद्धारणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥२५२॥

भाष्य—देशनिवेशो दुर्गकरणं यत्सप्तमाध्याये उक्तं तत्कृत्वा कण्टकोद्धारणम् ।
तेनापि राष्ट्ररक्षा क्रियते ।

कण्टकशब्दः पीडाहेतुसामान्यात्तस्करादिषु प्रयुक्तः ॥२५२॥

एतदेव दर्शयति—

हिन्दी—राजा पूर्व (७।६९) कथित सस्यादि-सम्पन्न देश का आश्रयकर वहाँ दुर्ग
(७।७० में वर्णित दुर्गों में से किसी एक प्रकार का दुर्ग-किला) बनवाकर कण्टकों (चोरों
तथा साहस कर्म करनेवाले अर्थात् आग लगाने वाले डाका डालने वाले आदि व्यक्तियों)
को दूर करने में सर्वदा अच्छी तरह प्रयत्न करता रहे ॥२५२॥

आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधन का फल—

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।

नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥

भाष्य—आर्य शास्त्रनोदितं कर्तव्यमितरानुष्ठाननिषेधः, तद्वृत्तं येषामित्युत्तरपद-लोपी समासः । तेन दीनानाथश्रोत्रिया अकरशुल्कदा गृह्यन्ते । तद्रक्षणाद्धि त्रिदिवगमनं युक्तम् । अन्येषां तु वृत्तिपरिक्रीतत्वादकरणे प्रत्यवायः यथोत्तरत्र वक्ष्यते “स्वर्गाच्च परिहीयत” इति । रक्षानुवृत्तिनिष्क्रयणेन प्रत्यवायाभावामात्रं न तु स्वर्गः ।

अथवा वृत्तिनियमापेक्षं त्रिदिवप्राप्तिवचनं यथोक्तं प्राक् ।

अन्येषां तु वृत्तिपरिक्रीतत्वाददर्शनम् । अर्थवादमात्रं राज्ञः स्वर्गवचनम् । अवृत्ति-परिपालनमपि वृत्तिप्रयुक्तं स्वराज्यभागस्थानीयस्य तद्राज्ञः । यथैव च ‘शिल्पिजीविनः शिल्पिनो मासि मास्येकैकं काम्यं कुर्युरिति’ वृत्त्यर्थं शिल्पं कुर्वाणा राजा कर्म कार्यन्ते करग्रहणाय, एवं राजापि वृत्तियुक्तः प्रजापालनप्रवृत्तो नित्यकर्मवदार्थपरिपालनं कार्यते शास्त्रेण । यथैव हि कामश्रुतितोऽग्न्याहितो नित्याननुतिष्ठति, न स्वर्गादिलाभाय, न हि तानि फलार्थतया नोदितानि, अथ च क्रियन्ते; तद्वदेतद्द्रष्टव्यम् । अतो यावती काचित्-फलश्रुतिः सा सर्वाऽर्थवाद इति कोवरविष्णुस्वामी ।

यदत्र तत्त्वं तद्वर्शितमधस्तात् ॥२५३॥

हिन्दी—सदाचारियों की रक्षा तथा कण्टकों (चोरों तथा साहस कर्म करनेवालों-आग लगानेवालों या डाका डालने वालों आदि) के शोधन (दण्डितकर नष्ट) करने से प्रजापालन में तत्पर राजा (मरने पर) स्वर्ग को जाते हैं (अतएव आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधन में राजा को प्रयत्नशील रहना चाहिये) ॥२५३॥

चौरादि के शासन नहीं करने पर दोष—

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाश्च परिहीयते ॥२५४॥

भाष्य—‘शासनं’ यथाशास्त्रं वधादिदण्डमन्तरेण तस्कराणां निग्रहं रक्षा न शक्यते । अतो वृत्तिं गृहीत्वा यस्तस्करवधाज्जुगुप्सते तस्योभयो दोषः । इह राष्ट्रकृतोऽमुत्र स्वर्ग-परिहानिः । युक्ता च बलिपरिगृहीतस्य तन्निष्कृतिमकुर्वतो दोषवत्ता ॥२५४॥

हिन्दी—जो राजा चौर आदि का शासन नहीं करता हुआ, प्रजाओं से कर (राजग्राह्य भाग-विशेष-टैक्स) लेता है, उसके राज्य में निवास करने वाले लोग क्रुद्ध हो जाते हैं तथा वह राजा स्वर्ग पाने के अधिकार से हीन हो जाता है ॥२५४॥

निर्भय राज्य की समृद्धि—

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।

तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥

भाष्य—प्रसिद्धमेवैतच्छ्लोके तत्स्करधर्मविशेषतयाऽनूद्यते ॥२५५॥

हिन्दी—जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से राज्य (चौर आदि से) निर्भय होता है, उस राजा का राज्य सींचे गये वृक्ष के समान वृद्धि को पाता है ॥२५५॥

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चौर का ज्ञान—

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।

प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

भाष्य—चाराः प्रच्छन्ना राष्ट्रे राजकृत्यज्ञानिनः । ते चक्षुषी इव यस्य स चार-चक्षुः । प्रकाशस्तस्कराणां नातितस्करव्यवहारो यथा लोकेऽन्येषामटवीरात्रिचरणाम् । आप्तस्तैः सामान्योपादानं तद्वन्निरग्रहार्थं क्रियते ॥२५६॥

हिन्दी—(गुप्तचरों के द्वारा सब काम देखने से) चारचक्षुष (गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके ऐसा) राजा गुप्त (छिपकर) तथा प्रकाश (प्रकट) रूप में दूसरों के धन को चुरानेवाले दो प्रकार के चोरों को मालूम करे ॥२५६॥

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चोर के लक्षण—

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।

प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥

भाष्य—तत्र ये क्रेयार्थं मानतुलाविशेषेण मुष्णन्ति द्रव्याणामागमस्थाननिर्गमनापेक्षार्थं कुर्वन्ति ते प्रकाशवञ्चका वाणिजकाः ।

प्रच्छन्नास्तु ये रात्रेरनुहरन्ति ते । स्तेना आटविका विजने प्रदेशे वसन्ति । अपरे तु प्रसह्य हारिणी न केवलमेत एव, किंतर्हीमेचान्ये यानूर्ध्वं वक्ष्यामः ॥२५७॥

हिन्दी—उन दो प्रकार के चोरों में से मूल्य तथा तोल या नापने में लोगों के देखते-देखते सोना, कपड़ा आदि बेचते समय ठगनेवाले प्रथम (प्रत्यक्ष) चोर हैं तथा सेंध डालकर या जङ्गल आदि में छिपकर रहते हुए दूसरों के धन को चुरानेवाले द्वितीय (परोक्ष) चोर हैं ॥२५७॥

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।

भङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्रप्रेक्षणिकैः सह ॥२५८॥

भाष्य—उत्कोचका ये कस्य चित्कार्येण कस्य चिद्राजामात्मयादेः प्रवृत्ता

ग्रहणातिकार्यसिद्धौ प्रवर्तन्ते ।

औपधिकाः छद्मव्यवहारिणः । अन्यदब्रुवन्त्यन्यदाचरन्ति । प्रत्यक्षं प्रीतिं दर्शयित्वा हठोपकारे वर्तन्ते । विनाप्यर्थग्रहणेन निमित्तान्तरतः अन्यतोऽपरस्य कार्यसिद्धिमवश्यं विज्ञाय 'मया तवैतत्क्रियत' इति परं गृह्णन्ति । भीषिकाप्रदर्शनं वा 'उपधिः' ।

कितवा धनग्रहणवञ्चका विप्रलम्भकाः । 'इदं कार्यं वयमेव करिष्यामस्तव नान्यत्रोद्यथा' इत्युक्त्वा न कुर्वते । उपेत्य नानाकारिणो नानाविधैरुपायैर्ग्रामीणान्मुष्णान्ति ।

शिवमाधवादयः शिवामादित्यं जीवन्ति । **मङ्गलादेशवृत्ता** ये ह्युपदेशिका ज्योतिषिकादयः । अथवा 'एतां देवतां त्वदर्थेनाहं प्रीणयामि दुर्गां मार्तण्डं चेति' तथ्यऽऽढ्यानां धनमुपजीवन्ति । अथवा मङ्गलं 'तथाऽस्त्विति' वादिनः, '**मङ्गलादेशवृत्ताः**' ।

सर्वस्य करवर्धने **भद्रप्रेक्षणिकाः** प्रशंसिपुरुषलक्षणाः ॥२५८॥

हिन्दी—(और) घूसखोर, डराकर धन लेनेवाले ठग, जुआरी (१।२२३ में वर्णित द्यूत या समाह्वय से धन लेनेवाले), धन या पुत्रादि के लाभ होने की असत्य बातें कहकर लोगों से धन लेनेवाले, उत्तम (साधु, संन्यासी आदि का वेष धारण कर अपने दूषित कर्म को छिपाकर लोगों से धन लेनेवाले, हस्तरेखा आदि को देखकर नहीं जानते हुए भी फल को बतलाकर धन लेनेवाले ॥२८५॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।

शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥२५९॥

भाष्य—महामात्रा मन्त्रिपुरोहितादयो राजनिकटिकः । ते चेदसम्यक्कारिणः । चिकित्सका वेद्याः ।

शिल्पोपचारयुक्ताः चित्रपत्रछेदरूपकारादयः । 'उपचार' उपायनमनुपयुज्यमानं स्वशिल्पकौशलं दर्शयित्वाऽनुष्ठाय धनं नयन्ति ।

एवं **पण्ययोषितो निपुणाश्चोपचारेणासत्प्रीतिदर्शनेन ।**

असम्यक्कारिण इति सर्वत्रानुयुज्यते ॥२५९॥

हिन्दी—अशिक्षित हाथीवान्, अशिक्षित चिकित्सक (वैद्य डाक्टर, हकीम) चित्रकार आदि शिल्पी, परद्रव्यापहरण में चतुर वेश्या ॥२५९॥

एवमाद्यान्विजानीयात्प्रकाशाल्लोककण्टकान् ।

निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यालिङ्गिनः ॥२६०॥

भाष्य—एवमाद्यान् न शक्यन्ते धूर्तानां परद्रव्यापहाराणां प्रकारान्संख्यातुमित्याद्यग्रहणम् । तथा ह्यशक्यां कथयन्ति अवधारयन्तीमनुरागिणीम् । तथाऽभृत्यो भृत्य-

वदात्मानं दर्शयित्वा नयति । हिरण्यमृजुप्रकृतेः न चार्थभृतस्त्वं ब्रह्मा त्वं बृहस्पति-
रित्युक्त्वा मूर्खाढ्यान्नयन्ति । ‘देहि प्रसादेन कतिपर्यैर्वाऽहोभिः, प्रत्यर्पयामीति’ सिद्धे
प्रयोजने तनुतरो भवति प्रियवाद्यप्रियवादी सम्पद्यते ॥२६०॥

हिन्दी—इन्हें तथा इस प्रकार के अन्य लोगों को तथा ब्राह्मणादि का वेष धारणकर
गुप्तरूप से जनता का उगने वाले शूद्र आदि को प्रत्यक्ष कण्टक (प्रकटरूप में चोर)
जानना चाहिये ॥२६०॥

तान्वदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।

चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥२६१॥

भाष्य—निगूढचारिणः । तुल्यकर्मकारिभिर्विद्या । पूर्वं ये तत्कर्म कृतवन्तः ।
अथवा सम्प्रत्येव तत्कर्म कार्यन्ते अन्तर्भावसिद्ध्यर्थं लब्धान्तरा आगत्य कथयिष्यन्ति
तथाद्यैरपि चारैस्तत्कर्मकारिभिरनेकसंस्थानैः ॥२६१॥

हिन्दी—उन्हीं के कर्मों को करनेवाले, गुप्त, सदाचारी एवं विविध वेष धारण
किये दूतों (७।६३-६४) से उन वञ्चकों (ठगों) को मालूम करके उनका शासन कर उन्हें
वश में करे ॥२६१॥

उन द्विविध चोरों का शासन—

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥२६२॥

हिन्दी—राजा उन वञ्चकों (प्रत्यक्ष या परोक्ष चोरों) के जो गुप्त या प्रत्यक्षकृत
अपराध हों, उन्हें सबके सामने कहकर उनके अपराध, शरीर एवं धन के अनुसार उनको
दण्डित करे ॥२६२॥

दण्डाभाव में पापनिवारण की असमर्थता—

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।

स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥२६३॥

हिन्दी—इन चोरों, पापबुद्धियों तथा गुप्तरूप से विचरण करनेवालों का पाप
बिना दण्डित किये नहीं रोका जा सकता है (अतएव उन्हें दण्डित करना राजा का
धर्म है ॥२६३॥

चोरों का अन्वेषण करना—

सभा प्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।

चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥२६४॥

हिन्दी—सभास्थान, प्याऊ (पौसरा), पूआ-पूड़ी आदि वेचने की दूकान (होटल आदि), गल्ले की दूकान, चौरास्ता, मन्दिर, बड़े-बड़े प्रसिद्ध वृक्षों की जड़ (के नीचे का भाग), अनेक लोगों के एकत्रित होने का स्थान, प्रदर्शनी आदि दर्शनीय स्थान ॥२६४॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।

शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥२६५॥

हिन्दी—पुराने उद्यान, जङ्गल, शिल्पियों (विविध प्रकार के कारीगरों-चित्रकार आदि) के घर, सूने घर, वन, फुलवारी ॥२६५॥

एवंविधानृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।

तत्स्करप्रतिषेधार्थं चौरैश्चाप्यनुचारयेत् ॥२६६॥

हिन्दी—ऐसे गुप्त स्थानों में घूमने-फिरने तथा एक स्थान में रहने वाले चोरों को रोकने के लिए राजा गुप्तचरों (या पहरेदारों) को नियुक्त करे ॥२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नाकर्मप्रवेदिभिः ।

विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतत्स्करैः ॥२६७॥

हिन्दी—उन चोरों के सहायक, उनके विविध कार्यों (सेंध मारना आदि) के जानकार जो पहले निपुण चोर रहे हों; ऐसे गुप्तचरों से उन चोरों को मालूमकर राजा उनका नाश करे ॥२६७॥

उन चोरों को पकड़ने का उपाय—

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।

शौर्यकर्मपदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥२६८॥

हिन्दी—वे गुप्तचर भक्ष्य-भोज्य पदार्थों का लोभ दिखाकर (तुम लोग मेरे यहाँ या अमुक स्थान पर आवो, हम सब एक साथ अमुक स्थान पर चढ़कर उत्तमोत्तम पदार्थ भोजन करेंगे इत्यादि प्रकार से खाने का लोभ देकर), ब्राह्मणों के दर्शन (अमुक स्थान में सब बातों के ज्ञाता एक सिद्धब्राह्मण रहते हैं, उनका दर्शनकर हम लोग अपना मनोरथ पूर्ण करें) इत्यादि कहने से साहस कर्म के कपट से (अमुक व्यक्ति के यहाँ एक बड़ा शूरवीर रहता है, वह अकेला ही अनेक आदमियों के साध्य कार्य को कर सकता है आदि कपट वचनों से), उन चोरों को एकत्रितकर राजा द्वारा नियुक्त शासन पुरुषों (सैनिक सिपाहियों) से उनका समागम करा दे अर्थात् उन्हें गिरफ्तार करा दें ॥२६८॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च चे ।

तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥

हिन्दी—जो चोर उन गुप्तचरों के उस प्रकार (पूर्व श्लोक में कथित भक्ष्य-भोज्यादि

विषयक कपटयुक्त वचनों से) अपने पकड़े जाने की शङ्का से वहाँ (गुप्तचर के सङ्केतित स्थान में) नहीं आवे तथा उन गुप्तचरों से सावधान ही रहते हों; उन चोरों को राजा अपने गुप्तचरों से मालूम कर मित्र, ज्ञाति तथा बान्धवों के सहित उनपर आक्रमण कर उन्हें दण्डित करे ॥२६९॥

चुराये गये धन का पता न लगाने पर—

न होढेन विना चौरं घातयेद्भार्मिको नृपः ।

सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥२७०॥

हिन्दी—धार्मिक राजा चुराये गये धन का, सेंध मारने आदि के शस्त्रादि साधनों का पता नहीं लगने से चोर का पूर्णतः निर्णय नहीं होने से उनका वध नहीं करे तथा चुराये गये धन तथा सेंध मारने के शस्त्रादि साधनों के द्वारा चोर का निर्णय हो जाने पर बिना विचारे (दूसरा विकल्प उठाये) उस चोर का वध (अपराधानुसार उन्हें दण्डित) करे ॥२७०॥

चोरों के आश्रयदाताओं को दण्ड—

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।

भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥२७१॥

हिन्दी—गाँवों में भी जो कोई चोरों के लिए भोजन, चोरी के उपयोगी बर्तन या वस्त्रादि देते हों; राजा उनका भी वध (या निरन्तर अथवा एकबार किये गये अपराध के अनुसार दण्डित) करे ॥२७१॥

अपराधी सीमारक्षकों को दण्ड—

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।

अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥२७२॥

हिन्दी—राज्य की रक्षा में नियुक्त तथा सीमा के रक्षक राजपुरुष भी चोरी करने में मध्यस्थ होकर चोरों के सहायक होते हैं; (अत एव राजा) उनको भी चोरों के समान ही शीघ्र दण्डित करे ॥२७२॥

धर्मभ्रष्ट धर्मजीवि ब्राह्मण को दण्ड—

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।

दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥२७३॥

हिन्दी—धर्मजीवी (यज्ञ कराने से तथा दान लेकर दूसरों में यज्ञादि धर्मप्रवृत्ति उत्पन्न

कर जीविका करनेवाला) ब्राह्मण यदि धर्म मर्यादा से भ्रष्ट हो जाय तो राजा उसे भी दण्ड द्वारा शासित करे ॥२७३॥

चौरादि के उपद्रव निवारणादि में सहायक नहीं होने वाले को दण्ड—

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।

शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥२७४॥

भाष्य—शक्तौ सत्यामालस्यादिना । ते निर्वास्याः ।

ये तु चौरैः कृतसङ्केतास्तेषां पूर्वत्र वध उक्तो 'घातयेदिति' ।

परिच्छदो गवाश्वादिः । तदपि निर्वास्य नापहर्तव्यम् । नासत्परिच्छदः कर्तव्यो धनं तु हर्तव्यम् ॥२७४॥

हिन्दी—चौरादि के द्वारा गाँव के लूटने में, पुल या बाँध के टूटने में (मेधातिथि के मत से खेत में उत्पन्न अन्न के नष्ट होने में तथा जीविका नाश होने में) तथा रास्ते में चोर आदि के दिखलाई पड़ने पर यथाशक्ति दोड़कर रक्षा नहीं करनेवाले पार्श्ववर्ती (समीप में रहने वाले) लोगों को शय्या, गौ, घोड़ा आदि गृहसाधनों के साथ देश से बाहर निकाल दे ॥२७४॥

राजकोष के चोर आदि को दण्ड—

राज्ञः कोशापहर्तृश्च प्रातिकूल्येष्ववस्थितान् ।

घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥२७५॥

भाष्य—कोशो राज्ञां धनसञ्चयस्थानं तत्रापहर्तारो द्रव्यजातिपरिमाणानपेक्षमेव वध्याः । ये च प्रातिकूल्येन वर्तन्ते । यद्राज्ञां देशान्तरादानेतुमभिप्रेतं तद्देशदुर्लभमाञ्जनेयाश्वादि प्राच्यानाम् । उद्दीच्यानां कलिङ्गदेशोद्भवहस्त्यादि । तदानयनप्रतिबन्धे ये वर्तन्ते । तथा यानि मित्राणि तानि शत्रून्कुर्वते । कृत्वा शत्रुभिः संयोजयन्ति ।

अरीणामुपजापकाः प्रोत्साहकाः । तान् घातयेत् ।

स्वतन्त्रप्रयोजनत्वावश्यकं घातनमित्युक्तम् ॥२७५॥

हिन्दी—राजा के कोष (खजाने) से धन चुरानेवाले, राजाज्ञा को मारनेवाले तथा शत्रु पक्षवालों से मिलकर राजकीय लोगों में फूट पैदा करनेवाले लोगों को राजा अनेक प्रकार के (हाथ-पैर जीभ आदि काटकर) वध से दण्डित करे ॥२७५॥

संघ मारनेवाले चोर को दण्ड—

सन्धिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।

तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णो शूले निवेशयेत् ॥२७६॥

हिन्दी—जो चोर रात में सेंध मारकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथों को कटवाकर तेज शूलीपर चढ़ा दे ॥२७६॥

गिरहकट चोर को दण्ड—

अङ्गुलीग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।

द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥२७७॥

भाष्य—ग्रन्थिं भिनत्तीति ग्रन्थिभेदः । ‘भेदनं’ मोक्षो ग्रन्थेर्वस्त्रप्रान्तादौ ग्रन्थिः ।

यद्वा यद्द्रव्यं तत्केनाचिच्छलेन ग्रन्थिमवमोच्य ये निनीषन्ति ते ग्रन्थिभेदाः । तेषां प्रथमायां प्रवृत्तावङ्गुलीनां छेदः । द्वितीयस्यां प्रवृत्तौ हस्तचरणयोः । तृतीयस्यां मारणम् ॥२७७॥

हिन्दी—राजा गाँठ काटनेवाले (गिरहकट या जेबकट) चोर को पहली बार पकड़े जाने पर उनकी (अँगूठा तथा तर्जनी) अङ्गुलियों को कटवा ले, दूसरी बार पकड़े जाने पर उसके हाथ-पैर कटवा ले और तीसरी बार पकड़े जाने पर उसका वध कर दे ॥२७७॥

चोरों के सहायक तथा चोरित धन लेने वालों को दण्ड—

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।

सन्निधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥२७८॥

भाष्य—अग्निदाः शीतापनोदनाद्यर्थं येऽग्निं ददति ।

शस्त्रं कर्तरिकादि ।

मोषस्य सन्निधातारः कर्तारः ।

सर्वे चौरवत् ज्ञेयाः ।

शस्त्रावकाशदग्रहणं प्रागुक्तमप्युपसंहारार्थमुच्यते ॥२७८॥

हिन्दी—जो लोग (गिरहकट आदि को जानकर) अग्नि, अन्न, शस्त्र तथा अवसर (चोरी का मौका) देते हों और चुराये हुए धन को रखते हों, राजा उन लोगों को भी चोर के समान दण्डित करे) ॥२७८॥

तडागादि के तोड़ने वालों को दण्ड—

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।

यद्वाऽपि प्रतिसंस्क्रुयाद्वाप्यस्तूतमसाहसम् ॥२७९॥

भाष्य—तडागग्रहणमुपलक्षणार्थम् । नद्युदकहरणेऽप्ययं दोष इति केचित् ।

तदयुक्तम् । महान्हि तडागभेदनेऽपराधः । स्वल्पो नदीभेदने । तडागस्य हि वप्रभे-
दनेनोदकेऽप्ययमेव विधिः ॥२७९॥

हिन्दी—तडाग (पोखरा, अहरा आदि सार्वजनीन जलाशय) के बाँध या पुल तोड़नेवालों को राजा पानी में डुबाकर या दूसरे प्रकार से वध करे अथवा यदि वह उस तोड़े हुए पुल या बाँध को ठीक करा दे तो उसे उत्तम साहस (८।१३८ एक सहस्र पण) से दण्डित करे ॥२७९॥

अन्नागारादि तोड़नेवालों को दण्ड—

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।

हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥२८०॥

हिन्दी—राजा राज्य के अन्नभाण्डार, शस्त्रागार तथा देवमन्दिर तोड़नेवालों तथा घोड़ा हाथी और रथ आदि चुरानेवालों को बिना विचारे (दूसरे प्रकार के दण्ड देने का विकल्प छोड़कर शीघ्र ही) वध करे ॥२८०॥

विमर्श—आगे 'संक्रमध्वजयष्ठीनां.....(९।२८५)' वचन से देवप्रतिमा तोड़ने वालों को पाँच सौ पण से दण्डित करने का जो विधान कहा जायेगा, वह वचन इसी वचन से देवमन्दिर तोड़ने वालों को वधरूप दण्ड से दण्डित करने के कारण मिट्टी की बनी हुई पूजाघर त्यक्त प्रतिमा के भेदन करनेवालों के विषय में है, ऐसा समझना चाहिये ।

व्यक्तिगत तड़ागादि के तोड़ने वाले को दण्ड—

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।

आगमं वाप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥२८१॥

हिन्दी—पुत्र आदि के लिए बनवाये गये तडाग आदि के पानी को जो कोई चुरावे अर्थात् चोरीकर खेत आदि की सिंचाई करे अथवा उसके पानी जाने के मार्ग को बाँधकर आदि बाँधक रोके या नष्ट कर दे, उस व्यक्ति को राजा प्रथम साहस (८।१३८-२५० पण) से दण्डित करे ॥२८१॥

राजमार्ग को गन्दा करने पर दण्ड—

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।

स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥२८२॥

भाष्य—राजमार्गे ग्रामनगरे रथ्यायाममेध्यं मूत्रपुरीषं समुत्सृजेदन्यतो वाऽऽनीय चण्डालादिभिर्निक्षिपेत् ।

अनापदि आपद्वेगेनात्यर्थमुक्तं भवति ।

चण्डालादेर्मूल्यं दत्त्वाऽपासयेत्स्वयं वाऽन्यासम्भवे ॥२८२॥

हिन्दी—स्वस्थ रहता हुआ जो व्यक्ति राजमार्ग (प्रधान सड़क, सार्वजनिक रास्ते) पर मल-मूत्र कर दे (या फेंक दे) राजा उसे दो कार्षापण (८।१३६) से दण्डित करे तथा उसी से उस मल-मूत्र को शीघ्र साफ करावे ॥२८२॥

आपद्रुतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।

परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥२८३॥

भाष्य—आपद्रुतः पूर्वोक्तः । वृद्धादयो ये बहिर्यामं निर्गन्तुमशक्ताः ते गृह्यन्ते । शोणितमपि कर्तुमित्याशङ्क्य तेऽमेध्यमपि व्यपदेष्टुम् ।

‘न पुनरेवं कर्तव्यम्’ । पुनःकरणे राजतो महान्प्रत्यवायो भवति क्रोधगर्भमीदृशवचनं परिभाषणम् ।

तच्च शोध्यमिति राज्ञ उपदेशः । यद्युत्सृष्टारो न ज्ञायन्ते । तथा च स्थ्याचण्डालादिभिरपासनीया ॥२८३॥

हिन्दी—रोगी (या आपत्ति में फँसा हुआ) बूढ़ा, गर्भिणी अथवा बालक राजमार्गपर मल-मूत्र कर दे (या कूड़ा-करकट डालकर उसे गन्दा कर दे) तो (‘तुमने यह क्या किया, सावधान? फिर कभी ऐसा मत करना’ इत्यादि रूप से) निषेध कर दे तथा उस स्थान की सफाई करा ले (उसे आर्थिक दण्ड न दे) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥२८३॥

अज्ञ चिकित्सक को दण्ड—

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः ।

अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥२८४॥

भाष्य—चिकित्सका भिषजः । तेषां मिथ्याप्रचाराणामौषधदानमुभयथा सम्भवति । यदि वाऽविज्ञातशास्त्रप्रयोगतया, शास्त्रे परिचितेऽपि वाऽतत्परतयाऽर्थलिप्सया ।

अमानुषेषु गवाश्वहस्त्यादिषु । **प्रथमः** साहसशब्दोनुषक्तव्यः ।

एवं मानुषेषु तु मध्यम इति ।

तथाप्रचारेण यद्याश्वेव विपद्येत तदा महान्दण्डः कल्पनीयः ॥२८४॥

हिन्दी—चिकित्सा करनेवाला यदि अज्ञानवश पशुओं की ठीक चिकित्सा न करे तो उसे प्रथम साहस (२५० पण—८।१३८) तथा मनुष्यों की ठीक चिकित्सा न करे तो उसे मध्यम साहस (५०० पण—८।१३८) से राजा दण्डित करे ॥२८४॥

विमर्श—‘चिकित्सक’ शब्द से यहाँ पर दोनों प्रकार के चिकित्सक इष्ट हैं, प्रथम शरीर-चिकित्सक जो औषध देकर शरीर की चिकित्सा करता हो तथा द्वितीय शल्य-

चिकित्सक—जो चीर-फार अर्थात् ऑपरेशन करके चिकित्सा करता हो ।

संक्रम तथा प्रतिमादि तोड़ने पर दण्ड—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥२८५॥

भाष्य—संक्रमः । येन संक्रामन्ति मार्गेणावतरन्ति जलोपस्पर्शादिना निमित्तेन ।

शुभ्रं वासः । ध्वजः चिह्नं राजामात्यादीनाम् । देवायतनेषु च यष्टिः ।

ईदृशे च प्रतिमानामिति व्याख्यातम् ।

प्रतिकुर्यात्समदधीत प्रत्यापत्तिं नयेत् ॥२८५॥

हिन्दी—संक्रम (नाले या छोटी नहर आदि को पार करने के लिए रखे गये पत्थर या काष्ठ आदि) ध्वज (राजचिह्न या देवताओं की ध्वजा), यष्टि (जाठ—तालाब, पोखरा, बावली आदि के बीच में गाड़े गये लकड़ी आदि या पत्थर का खम्भा आदि), प्रतिमा (मिट्टी आदि की छोटी-छोटी पूजित मूर्तियाँ) इनको तोड़ने या किसी प्रकार नष्ट करनेवाले से राजा उन्हें ठीक करावे तथा उस व्यक्ति को पाँच सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥२८५॥

शुद्ध पदार्थ को दूषित करनेवाले को दण्ड—

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने यथा ।

मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥२८६॥

भाष्य—यानि स्वयमदुष्टानि द्रव्याणि लाभार्थी दूषयति । तथा धान्यविक्रयो क्षेत्रे निर्दोषं धान्यमुत्तमं तृणबुसैर्योजयति । कुंकुमादेश्च अकुंकुमादिना द्रव्यान्तरेणैकीकरणम् ।

मणयो मुक्तास्तेषां भेदनं द्विधाकरणम् । अवेधितव्यप्रदेशेन विध्यते इति अपवेधः । अनेकार्थत्वाद्धातूनां विध्यते रूपमेतत् ।

मणयो हीनमध्यमोत्कृष्टतमा भवन्ति । तत्र दण्डकल्पना कर्तव्या । मध्यमेषु मध्यम उत्तमेषूत्तमः ॥२८६॥

हिन्दी—शुद्ध पदार्थ में अशुद्ध पदार्थ मिलाकर दूषित करनेवाले, नहीं छेदने योग्य माणिक्य आदि को छेदनेवाले और छेदने के योग्य मोती माणिक्य आदि को ठीक-ठीक योग्य स्थान पर नहीं छेदने वाले व्यक्ति को राजा प्रथम साहस (ढाई सौ पण ८।१३८) से दण्डित करे तथा जिसके उपर्युक्त पदार्थ नष्ट या दूषित हो गये हों उसे उन पदार्थों का मूल्य देकर वह (पदार्थ-दूषक मनुष्य) प्रसन्न करे ॥२८६॥

विषम व्यवहार करने पर दण्ड—

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।

समाप्नुयादमं पूर्वं नरो मध्यमेव वा ॥२८७॥

भाष्य—येषां द्रव्याणां समत्वेन विनिमय उक्तो यथा “तिला धान्येन तत्समा” इति, तत्र यदि **विषम**माचरति व्यवहारार्थं तिलं दत्त्वा बहुधान्यं ब्रीह्यादि गृहीयात् । असति वा विनिमये मूल्यतः क्रयव्यवहारेण ब्रीह्यादिधान्येभ्योऽधिकेन मूल्येन तिलान् क्रीणाति । अथवा कस्यचिदुत्तरीयमुपबर्हणमस्ति विक्रेतव्यं कस्यचिदन्तरे शाटकाः । तत्र यस्योपबर्हणमस्ति तस्यान्तर उपयुज्यन्ते । उपबर्हणेन च ते सममूलाः । तत्र तदीयां कार्य-वत्तां ज्ञात्वा समत्वेन न ददात्यधिकमूल्यं गृह्णाति । स उच्यते ‘समैर्विषमं चरति मूल्येन’ । तयोः क्रेतुर्विक्रेतुश्च तौ दण्डौ । ‘चरति मूल्यत’ इत्येकार्थस्तथैव । वाशब्दोऽस्मिन्पक्षे पादपूरण एव । प्रथममध्यमोक्तौ क्रयविक्रयौ विकल्पितौ द्रव्यसारापेक्षया ॥२८७॥

हिन्दी—जो मनुष्य समान मूल्य देनेवाले किसी को अच्छी या अधिक वस्तु दे तथा किसी को निकृष्ट या कम वस्तु दे अथवा समान मूल्य की कोई वस्तु किसी को कम मूल्यों में दे और किसी को अधिक मूल्य में दे तो वह मनुष्य (वस्तु के मूल्य आदि के अनुसार) प्रथम साहस (२५० पण) या मध्यम साहस ५०० पण—८।१३८) से दण्डित होता है ॥२८७॥

बन्धनगृह को राजमार्ग पर बनवाना—

बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् ।

दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

भाष्य—प्रसिद्धे राजरथ्याप्रदेशे बन्धगृहाणि सन्निवेशयेत्कुर्यात् ।

दुःखिता यत्र दृश्येरन्वित्यन्यत्रापि सन्निवेशनं तत्प्रदेशभ्रमणं दर्शयति । एतेनान्या अपि बन्धसंस्थानां पीडा कर्तव्या इत्याह ।

शरीरात्यन्तकार्शाद्यवस्थांतरापत्त्या **विकृताः** अभोजनेनेषद्भोजनादिना ।

शेषं स्पष्टम् ॥२८८॥

हिन्दी—राजा सब प्रकार के बन्धनगृह (जेल, हवालात आदि) को सड़क पर बनवावे । (हथकड़ी-बेड़ी पहनने से) दूषित, दाढ़ी-मूछ आदि बढ़ने से विकृत तथा भूख आदि से दुर्बल अपराधी बन्दियों (कैदियों) को लोग जहाँ देखें ॥२८८॥

प्राकार आदि तोड़नेवाले को दण्ड—

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।

द्वाराणां चैव भङ्गारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

दुर्गगतानां प्राकारादीनां विनाशने प्रवासनं दण्डः ।

परिखा भूभागाः खाताः ॥२८९॥

हिन्दी—प्राकार (नगर या मकान का परकोटा अर्थात् चहारदिवारी) को तोड़ने वाले परिखा (खाई) को मिट्टी आदि से भरनेवाले और द्वार (राजद्वार या नगरद्वार) को तोड़नेवाले मनुष्य को (राजा) शीघ्र ही देश से बाहर निकाल दे ॥२८९॥

अभिचार कर्म करने वाले को दण्ड—

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।

मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

भाष्य—अदृष्टेनोपायेन मन्त्रादिशक्त्या मारणमभिचारः । तत्र प्रवृत्तनाममृतेऽभिचारणीये दण्डोऽयम् । अनभिवारणीयाभिचारेषु नैतावता मुच्यते तत्र । मनुष्यमारणदण्डः स विज्ञेयः ।

सर्वग्रहणं लौकिकवैदिकयोरविशेषेण दण्डार्थम् । वैदिकाः श्येनादयः । लौकिकाः पादपांशुग्रहणसूचीभेदानादयः ।

मूलकर्म वशीकरणादि । **आप्ताः** पौत्रभार्यादयस्ततोऽन्येऽनाप्ताः ।

कृत्या अभिचारप्रकारा एव मन्त्रादिशक्तयः, उच्चाटनं सुहृद्वन्धुकुलाद्धि विचितीकरणादिहेतवो भूतविद्याः प्रसिद्धाः ॥२९०॥

हिन्दी—सब प्रकार से अभिचार (शास्त्रोक्त—हवनादि करके तथा लौकिक चरण की धूलि लेकर या केश को भूमि में गाड़कर इत्यादि रूप मारणोपाय) कर्म जिसके लिए किया गया हो वह मनुष्य नहीं मरे तो उक्त कर्म करनेवाले पर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है (तथा यदि वह मनुष्य पर गया हो तो उक्त कर्म करनेवाले को प्राणदण्ड होता है) और माता-पिता-स्त्री आदि को छोड़कर दूसरे झूठे लोगों द्वारा मोहितकर धन आदि लेने के लिए वशीकरण और उच्चाटन आदि कर्म करनेवाले पर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ॥२९०॥

दूषित बीज आदि बेचने पर दण्ड—

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्क्रष्टा तथैव च ।

मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥२९१॥

भाष्य—अबीजं बीजमित्युक्त्वा विक्रीणीते स्वरूपलोपेन । धान्यशाकादीनां बीजानि चिरप्रोषितानि क्षेत्रे प्ररोहन्ति न च तानि शक्यन्ते बन्ध्यानीति ।

क्षेत्रात्तु बीजमुत्कर्षति शोभनं यद्वीजं क्षिप्रं प्ररोहति तदुत्कृष्य तदाभासं प्रतिधान्यादि

क्षिप्त्वा विक्रीणीते । अथवा न्युप्तं बीजं क्षेत्रादेवोद्धृत्य नयन्ति ।

मर्यादा शास्त्रदेशाचारनिरूढा स्थितिः ।

विकृतं कर्णनासादिकर्तनम् ॥२९१॥

हिन्दी—जो मनुष्य नहीं जमनेवाले बीज को जमनेवाला कहकर बेचे तथा अच्छे बीज में दूषित बीज मिलाकर बेचे और (ग्राम-नगर आदि की) सीमा को नष्ट करे उसे राजा विकृत वध (हाथ, नाक, कान आदि अङ्गों को काटने) से दण्डित करे ॥२९१॥

चोर सोनार को दण्ड—

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।

प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत्खण्डशः क्षुरैः ॥२९२॥

भाष्य—यावन्तः केचन कण्टकाः पूर्वमुक्तास्तेषां सुवर्णकारः ।

यदि निर्धारणे पृष्ठी । कथं न “न निर्धारण” इति समासाभावः ।

तस्य च पापतमत्वं स्वल्पेनैवापहरणेन महत एनसोत्पत्तिर्ब्राह्मणस्वर्णापहरणे च महापातकम् । अतस्तमन्याये **प्रवर्तमानं छेदयेत्खण्डशः** ।

परिवर्तनतुलान्तरपातच्छेदादिभिः अपहरन्ति गृह्णते । न चात्र हियमाणद्रव्यपरि-
माणापेक्षा, न स्वामिजात्यपेक्षा । अभ्यासस्त्वपेक्ष्यत इति, महत्त्वाद्दण्डस्य । आद्यायां तु
प्रवृत्तौ धनदण्डेन क्षुरमांसलवच्छेदो विनिमातव्यः ।

शारीरनिग्रहे निगृह्यमाणानां पापमपैतीति प्रतिपादितम् ॥२९२॥

हिन्दी—सब कण्टकों (चोरी आदि पाप कर्म करने से राज्य में कण्टकतुल्य लोगों) में अधिक पापी सोनार यदि अन्याय करने (किसी प्रकार सोना-चाँदी आदि चुराने, या अच्छे धातु के साथ हीन धातु मिलाकर देने) वाला प्रमाणित हो जाय तो राजा उसके प्रत्येक शरीर को शस्त्रों से टुकड़े-टुकड़े कटवा डाले ॥२९२॥

खेती के साधन हल आदि का चुराने आदि पर दण्ड—

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।

कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥२९३॥

भाष्य—कृष्णमाणा भूमिः सीता । तद्द्रव्याणि लाङ्गलकुद्दालकादीनि । तदपहरणे
दण्डः प्रकल्प्यः ।

किं इच्छयैव । नेत्याह । **कालमासाद्य कार्यं च** । कर्षणकाले प्रत्यासन्ने महान्
दण्डः । अकृष्टे च यदा तस्मिन्महतः फलस्य नाशस्तदा भूयानेव ।

आसाद्यासत्रं ज्ञात्वेत्यर्थः । अन्यदा तु द्रव्ये जात्यनुरूपः ।

एवं शास्त्राणां च खड्गादीनां युद्धकाले । औषधस्य भेषजार्थमुपयोगकाले । तेन चौषधेन हतेनानुपयुक्तेन यद्यातुरस्य महती पीडा जायते, अन्यच्च तस्मिन्काले न लभ्यते, तल्लभ्यमपि बाधकादिसंस्कारापेक्षया चिरेणोपयोगार्थम्, एवमाद्यपेक्षा राजदण्डप्रकल्पनायै प्रभवेत् ।

शास्त्राणां राजोपकरणानाम्, अन्यथापि जनपदस्य भातृव्यतस्काराशङ्किनः । तदा महान्दण्डः । स्वल्पे स्वल्पः ॥१९३॥

हिन्दी—खेती के साधन हल-कुदाल आदि, तलवार आदि शस्त्र और दवा को चुराने पर चुरायी गयी वस्तुओं की समयोपयोगिता का विचारकर तदनुसार दण्ड-विधान करे ॥२९३॥

सात प्रकृतियाँ या सप्ताङ्ग राज्य—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।

तप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥

भाष्य—समाप्तायां कण्टकशुद्धौ केवलं राज्यतन्त्रोपयोगी राजधर्म उच्यते । यथैतस्मिन्ननुष्ठीयमाने राज्यानाशः, एवं व्यवहारदर्शने कण्टकशुद्धौ वा क्रियमाणायां तुल्यो राज्यानाशः । किञ्च महिषीकुमारराजवल्लभसेनाध्यक्षाश्रिताः प्रायेण भवन्ति कण्टकाः, तान् कदाचिदनया बुद्ध्या नोद्धरेत् 'प्रकृतक्षोभशङ्कायां महत्तमं प्रयोजनं सेनाध्यक्षेण सामन्तेन च,—किमनेन निगृहीतेन राष्ट्रपराधिना'—तदर्थमुच्यते । तुल्यं राष्ट्रं स्वाम्यादिनेति राज्यप्रकृतित्वेन गुरुलघुभावश्च । प्राकृतीनामेवार्थमुच्यते । यदि महान् क्षोभोऽमात्यादिति राज्यप्रकृतित्वेन तत्परिहर्तव्यम् । राष्ट्रं ततो दुर्बलं केनचिदुपायेन वा बोधयित्वा कण्टकशुद्धिं करिष्यामीति न सहसा प्रवर्तितव्यम् । अतः सप्तमाध्यायोपदेशतोऽप्युत्कृष्टास्मिन्नवधा बुध्यते ।

स्वामी राजैव । अमात्यो मन्त्रीपुरोहितः सेनानी । पुरं निवासनगरम् । राष्ट्रं जनपदाः । कोशो रूप्यसुवर्णरूपकादिधनसञ्चयः । हस्त्यश्वरथपादातं दण्डः धर्मदण्डादिव । सुहृत्समानकार्य । यथोक्तं “मित्रं तस्मादनन्तरमिति” ।

एता राज्यस्य प्रकृतयः कारणम्, अवयवा यथा घटस्य कपालानि ।

स्वभाववचनो वा प्रकृतिशब्दः । एवं तदात्मकमेव राज्यं समस्तं क्षिप्तम् ।

अस्यैव भेदो विस्तारो द्वासप्ततिस्तत्रापि यो भेदः स उक्त एव ॥२९४॥

हिन्दी—(१) स्वामी (राजा), (२) मन्त्री, (३) पुर (किला, परकोटा, खाई आदि से सुरक्षित राजधानी), (४) राज्य, (५) कोष, (६) दण्ड (चतुरङ्गिणी अर्थात् हयदल,

गजदल, रथदल और पैदल सेना) तथा (७) मित्र, ये सात राजप्रकृतियाँ हैं, इनसे युक्त ‘सप्ताङ्ग’ (सात अङ्गोंवाला) राज्य कहलाता है ॥२९४॥

सात प्रकृतियों में पूर्व-पूर्व की श्रेष्ठता—

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।

पूर्वं पूर्वगुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥२९५॥

भाष्य—मित्रव्यसनात्स्वव्यसनं गरीयः । स्वबलसम्पन्नो हि शक्नोति मित्रमनु-
ग्रहीतुम् । एवं दण्डकोशयोः । कोशनाशे हि दण्डोऽपि नश्यत्येव । एवं कोशराष्ट्रयोः
राष्ट्रनाशे हि कृतः कोशोत्पत्तिः ।

पुनः राष्ट्रविनाशङ्कायां पुरं यत्ततो रक्षितव्यम् । तत्र हि सर्वावयवसाधनादि सम्भवति ।

पुरादमात्यः प्रधानम् । प्रधानामात्यनाशे सर्वनाशः ॥२९५॥

तथा च दृष्टान्तः ।

हिन्दी—राज्य की इन (९।२९४) सात प्रकृतियों में क्रमशः पूर्व-पूर्व की आपत्ति को
राजा अधिक समझे ॥२९५॥

विमर्श—अतः राजा का कर्तव्य है कि आगे-आगे वाली प्रकृति की आपत्ति की
उपेक्षा करके उससे पहले वाली प्रकृति की आपत्ति को दूर करने में प्रथम प्रयत्नशील होवे
अर्थात् मित्र तथा सेना दोनों को एक समय में आपत्ति में फँसने या हानि की सम्भावना
होने पर पहले सेना की आपत्ति को दूर करे ॥

त्रिदण्डवत् सात प्रकृतियों की समानता—

तप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।

अन्योन्यगुणवैशेष्यात् किञ्चिदतिरिच्यते ॥२९६॥

भाष्य—विष्टब्धस्य त्रिदण्डवदिति । विष्टब्धस्यान्योन्यस्याधारभावेन । एतदे-
वाह । अन्योन्यगुणवैशेष्यात् परस्परस्योपकार्योपकारकाभावेनैकैकस्य न विनाशोत्पत्तेः
भूमिबीजोदकसामग्र्या इव अङ्कुरजनने ।

तस्मात्सर्वेषां पूज्यताऽत्रोच्यते । अस्त्येवात्र गुरुलघुभावः । यत्तु न किञ्चिदति-
रिच्यत इति तन्महतादरेण मित्रादिरक्षायां वर्तितव्यमित्येवंपरमेतत् । मित्रनाशोऽचिरेण
राज्यनाशो यदा बलवतोपरोधो न तु तदानीमेवेत्यालम्बनं लघीयस्तायाः ॥२९६॥

हिन्दी—त्रिदण्ड (टिकटी-तिपाई) के समान परस्पर में सम्बद्ध सप्ताङ्ग (९।२९४)
राज्य में उन अङ्गों को परस्पर में विलक्षण उपकारक होने से कोई भी अङ्ग एक दूसरे से
बढ़कर नहीं है ॥२९६॥

विमर्श—यद्यपि पूर्व श्लोक (९।२९५) में उत्तर अङ्ग की अपेक्षा पूर्व अङ्ग को श्रेष्ठ कहा गया है तथापि दूसरे अङ्गसम्बन्धी कार्य को दूसरा अङ्ग नहीं कर सकता अतएव सब अङ्गों की समानता उसी प्रकार है, जिस प्रकार तीन काष्ठों को परस्पर रस्सी या गौ के बाल आदि से बाँधने पर कोई काष्ठ छोटा-बड़ा नहीं होता; किन्तु परस्पर सम्बद्ध वे तीनों ही काष्ठ समानरूप से उपकारक होते हैं ।

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।

येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥२९७॥

भाष्य—नास्ति तद्वस्तु यद्राज्ञो नोपयुज्यते । भवति हि तत्कार्यं यन्निकृष्टेन साध्यते न महता । तस्मात्सर्वाः प्रकृतयो यत्नतः पालनीयाः, असद्वण्डादिना न राष्ट्रं कर्शनीयम्, चौराद्युपद्रवेभ्यश्च यत्नतो रक्ष्यमिति तात्पर्यार्थः । अतः कण्टकशुद्धिशेषोऽयम् ॥२९७॥

हिन्दी—(उन (९।२९४) सात प्रकृतियों में से उन-उन कार्यों में उन-उन प्रकृतियों का विशिष्ट स्थान होता है, (अतएव) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है उस कार्य में वह प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है (इस प्रकार कार्य की अपेक्षा से समयानुसार सबकी श्रेष्ठता है) ॥२९७॥

स्वपरशक्ति का ज्ञान—

चारेणोत्साहयोगेन क्रियथैव च कर्मणाम् ।

स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यात्परात्मनोः ॥२९८॥

भाष्य—परस्यात्मनश्च नित्यं शक्तिं विद्यात् । ‘किमयं प्रारिप्सते किञ्च मयि कर्तुं शक्तं किं चाहमस्मिन्निति’—एवन्नित्यं वेदितव्यम् । कथं चैतच्छक्यते वेदितुम् ।

चारेण सप्तमाध्यायोक्तेन ।

उत्साहयोगेन दानादिपरितोषिता उत्साहेन युज्यन्ते सम्पन्नकृष्यादिफलाश्च ।

क्रियथैव च कर्मणाम् । ‘कर्माणि’ निवेशादीनि, तदारम्भेन शक्तिमान् रिपुरवगम्यते । तानि ह्यर्थसम्पत्कराणि । ततः सामर्थ्योत्पत्तेः ॥२९८॥

हिन्दी—राजा गुप्तचरों से सेना के उत्साहसम्बन्ध से और कार्यों मार्ग-निर्माणादि के करने से उत्पन्न अपनी तथा शत्रु की शक्ति को सर्वदा मालूम करता रहे ॥२९८॥

कार्यारम्भ में राज्य का कर्तव्य—

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।

आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥

भाष्य—पीडनानि नरकदुर्भिक्षपातादीनि । तथाऽवर्षादिवर्षपर्जन्यमूषिकशलभा-
शनिप्रभृतयः ।

व्यसनानि कामक्रोधसमुत्थानि स्वपुत्रसम्प्राप्तद्वैवविघटनयोपन्यासेन वा । तथापि
न नित्यमुत्साहेन भवितव्यम् । अथवा न सन्तोषिणा भवितव्यम् । अथ तावत्षाड्-
गुण्यचिन्ता, अन्वाहिकौ चायव्ययौ, कया चिन्मात्रया गतौ च राष्ट्रवृत्तं प्रकृति-
समीहितं चरमुखादवधृतम् । नृत्यगीतादिसुखानुभवव्यापारान्तरेण वा पुनः कर्माणि
वेदितव्यानि ॥२९९॥

हिन्दी—(राजा अपने तथा शत्रु के राज्य में काम तथा क्रोध से किये गये मारण
ताड़न आदि) पीड़न और व्यसनों की कमी-वेशी को मालूमकर और विचारकर इसके बाद
कार्य (सन्धि-विग्रह आदि) को आरम्भ करे ॥२९९॥

उद्योगशील को श्रीप्राप्ति—

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥३००॥

भाष्य—पुरुषग्रहणं ‘तिष्ठतु तावद्राजा’ अन्योऽपि जानपद उद्योगश्रियोपचीयते ।
एतदुक्तम् “आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्” ॥३००॥

हिन्दी—राजा शत्रुकृत कपट आदि से बार-बार कार्य नाश होने पर भी अपने राज्य
को समुन्नत करने वाले कार्यो को बार-बार करता ही रहे; क्योंकि बराबर कार्यारम्भ करने-
वाले (उद्योगशील) मनुष्य को श्री (विजयलक्ष्मी) निश्चित ही सेवन करती है ॥३००॥

राजा को युगकथन—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।

राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥

भाष्य—इतश्च कर्मारम्भपरेण भवितव्यम् । अनारम्भी कलिः स्यात् । स च
महान्दोष । न चैवं मन्तव्यं राज्ञा ‘कलिर्नाम कालविशेष इतिहासप्रसिद्धः कथमहं स्या-
मिति’ यतो राज्ञो वृत्तानि युगादि ।

तदुत्तरेण ॥३०१॥

हिन्दी—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग, ये चारों युग राजा के ही चेष्टा-
विशेष (आचार, व्यवहार) से होते हैं, अतएव राजाही ‘युग’ कहलाता है (इस कारण युग
के अनुसार कार्य फल देते हैं ऐसा विचारकर राजा को कार्यारम्भ से उदासीन कभी नहीं
होना चाहिये) ॥३०१॥

कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रद्द्वपरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥३०२॥

भाष्य—अनुत्थानशीलः प्रसुप्तः कलिर्भवति ।

जानानश्चोत्कर्षाभ्युपायाननुत्तिष्ठन्सजाग्रद्द्वपरं भवति ।

व्यवसितकर्मप्रयोगस्त्रेतायुगं भवति ।

विश्वस्य सर्वरूपाणि यथाशास्त्रं कर्मफलसम्पदा कृतयुगं भवति ॥३०२॥

हिन्दी—सोते हुए (अज्ञान तथा आलस्यादि के कारण उद्यमहीन) राजा के होने पर कलियुग, जागते हुए (जानते हुए भी उद्यम नहीं करनेवाले) राजा के होने पर द्वापरयुग, कर्म (सन्धि-विग्रहादि राजकार्य) में लगे हुए राजा के होने पर त्रेतायुग और शास्त्रानुसार विचरण करने वाले राजा के होने पर सत्ययुग होता है ॥३०२॥

विमर्श—राजा को सर्वदा कर्तव्य में लगे रहना चाहिये । यही इस श्लोक का मुख्य तात्पर्य है युगों के होने में तात्पर्य नहीं है ।

इन्द्रादि के तेज के समान आचरण करना राजा का कर्तव्य—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।

चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥

तेजः शुक्रं कार्यं सामर्थ्यमित्यर्थः ॥३०३॥

हिन्दी—राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथिवी के तेज का आचरण करना चाहिये। (राज्य के कण्टकभूत चोर आदि को वश में करने के लिए प्रताप = दण्ड तथा स्नेह—दोनों का ही समयानुसार कार्य में प्रयोग करना चाहिए) ॥३०३॥

राजा को इन्द्रादि के तेज के समान आचरण करने का प्रकार—

वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।

तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥

भाष्य—नात्र प्रकरणे मासनियमोऽभिप्रेतः । केवलं चतुर्षु मासेषु सन्ततवर्षी पर्जन्यो भवति । अतः सन्ततं सर्वकालं स्वं राष्ट्रं कामैः पूरयेदित्युक्तं भवति । तथा कर्तव्यं यथा स्वराष्ट्रिया अनुरक्ता भवन्ति ॥३०४॥

हिन्दी—जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासों में (अन्नादि की वृद्धि के लिए) जल बरसाते हैं, उसी प्रकार इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ राजा अपने राज्य में आए हुए साधु-महात्माओं की इच्छा को पूरा करे ॥३०४॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।

तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥

भाष्य—तोयं स्तोकमपि रसमीषत्तापेनादत्ते यथाऽऽदित्यस्तथा करमादद्यादित्येष उपमार्थः ॥३०५॥

हिन्दी—जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासों में किरणों के द्वारा जल को हरण करता (लेता = सुखाता) है, उसी प्रकार राजा राज्य से कर को लेवे यह राजा का ‘सूर्यव्रत’ है ॥३०५॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।

तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥३०६॥

हिन्दी—जिस प्रकार वायु सब प्राणियों में प्रवेशकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिये, यह राजा का ‘वायुव्रत’ है ॥३०६॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।

तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥

भाष्य—अपराधे प्रियद्वेष्ययोर्निग्रहसमत्वेन वर्तितव्यम् ॥३०७॥

हिन्दी—जिस प्रकार यमराज समय आने पर प्रिय और अप्रिय सब को मारता है, उसी प्रकार राजा समय आने (अपराध करने) पर प्रिय-अप्रिय सब प्रजाओं को दण्डित करे; यह राजा का ‘यमव्रत’ है ॥३०७॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।

तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥३०८॥

भाष्य—अविशेषिता एव अकार्यकारिणो निग्रहीतव्या, यथा न पलायन्ते ॥३०८॥

हिन्दी—जिस प्रकार बन्धन के योग्य मनुष्य वरुण के पाश से बँधा हुआ ही दीखता (अवश्य बाँधा जाता) है, उसी प्रकार राजा पापियों (अपराधियों) को, जब तक वे सन्मार्ग पर नहीं आ जायँ तब तक) निग्रह करे, यह राजा का ‘वरुणव्रत’ है ॥३०८॥

परिपूर्ण यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।

तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥३०९॥

भाष्य—अक्रोधनेन प्रसाधनालङ्कारवत् प्रहृष्टवदनेन प्रजादर्शनकाले भवितव्यम् । निर्वातपरितापा भवन्तीत्यर्थः ॥३०९॥

हिन्दी—जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं उसी प्रकार अमात्य आदि प्रकृति (९।२९४) तथा समस्त प्रजा) जिस राजा को देखकर हर्षित हों, वह

राजा चान्द्रव्रतिक ('चन्द्रव्रत' वाला) है ॥३०९॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।

दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥३१०॥

भाष्य—भृशमुद्वेजनीयो दुष्ट इत्याग्नेयव्रतम् ।

सामन्ता अमात्या एव साधनयुक्ताः ॥३१०॥

हिन्दी—राजा पापियों (अपराधियों) को दण्डित करने में सर्वदा प्रचण्ड तथा असह्य तेजवाला होवे तथा दुष्ट (प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले) मन्त्री आदि का वध करनेवाला होवे, यह राजा का 'आग्नेयव्रत' है ॥३१०॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।

तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥३११॥

भाष्य—धरा पृथ्वी । तद्वद्दीनानाथाश्च वंशाश्च भरणीयाः ॥३११॥

हिन्दी—जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियों को समान भाव से धारण करती है, उसी प्रकार सब प्रजाओं का समान भाव से पालन करते हुए राजा का वह 'पार्थिव' (पृथिवी-सम्बन्धी) व्रत' है ॥३११॥

इन उपायों से चोर का निग्रह करना—

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।

स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥३१२॥

भाष्य—उपसंहारश्लोकः । एतैर्देवव्रतैरन्यैर्लोकतोऽवगम्यैः ॥३१२॥

हिन्दी—राजा इन सब तथा अपनी बुद्धि से प्रयुक्त दूसरे उपायों से युक्त एवं सर्वदा आलस्यहीन होकर अपने राज्य में रहनेवाले तथा दूसरे राज्य में रहते हुए अपने राज्य में आकर चोरी करनेवाले चोरों का निग्रह करे (उन्हें दण्डितकर रोके) ॥३१२॥

ब्राह्मणों को क्रुद्ध करने का निषेध—

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥

भाष्य—यः क्षीणकोशो बलीयसा च राज्ञा दण्ड्यते, तथापि न ब्राह्मणधनमप्यापदि ग्रहीतव्यम् । न चावज्ञानादिना प्रकोपनीयाः ॥३१३॥

हिन्दी—(कोषक्षयादि रूप) महाविपत्ति में फँसा हुआ भी राजा ब्राह्मणों को क्रुद्ध न करे; क्योंकि वे क्रुद्ध ब्राह्मण सेनावाहन के सहित इस राजा को (शाप तथा अभिचार मारण-मोहनादि कर्म से) तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥३१३॥

ब्राह्मण-प्रशंसा—

यैः कृतः सर्वभक्षोऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।

क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥३१४॥

भाष्य—प्रागुक्तार्थसिद्धये ब्राह्मणमाहात्म्यं इतिहासं लोकप्रसिद्धमनुवदति । एष्वर्थे-
ष्वारख्यानानि महाभारतादवगमयितव्यानि ॥३१४॥

हिन्दी—जिन ब्राह्मणों ने (शाप देकर) अग्नि को सर्वभक्षी, समुद्र को अपेय (नहीं पीने योग्य-खारे पानी वाला) और चन्द्रमा को क्षययुक्त कर पीछे पूरा किया, उन (ब्राह्मणों) को क्रुद्धकर कौन नष्ट नहीं हो जायेगा? अर्थात् सभी नष्ट हो जायेंगे (अतएव ब्राह्मणों को क्रुद्ध कदापि नहीं करना चाहिये) ॥३१४॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।

देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्स मृध्नुयात् ॥३१५॥

भाष्य—क्षिणोति छादयति तदविशेषात्स्मृतीनां क्षिण्वन्हि संक्षेपोऽप्युत्तमाना-
मेवेति युधिष्ठिरेण गाण्डीवे विक्षिप्ते व्यासमुनिना दर्शितम् ॥३१५॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण स्वर्ग आदि दूसरे लोकों तथा लोकपालों की रचना कर सकते हैं तथा क्रोधित करने पर शाप आदि से देवों को भी अदेव (मनुष्य आदि) कर सकते हैं; उन ब्राह्मणों को पीड़ित करता हुआ कौन मनुष्य उन्नति को पा सकता है ॥३१५॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।

ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥३१६॥

भाष्य—लोकास्त्रयः पृथिव्यादयः । देवा आहुतिद्वारेण ब्राह्मणोपाश्रिताः । अध्या-
पनाधिक्येन कर्मबहुत्वेन ब्राह्मणो देवानामाश्रयो न तथा क्षत्रियवैश्यौ ॥३१६॥

हिन्दी—यज्ञ को करने-कराने वाले जिन ब्राह्मणों का आश्रयकर (पृथ्वी आदि) लोक तथा (इन्द्र आदि) देव स्थिति पाते हैं और ब्रह्म (वेद) ही जिनका धन है, उन ब्राह्मणों को जीने का इच्छुक कौन व्यक्ति मारेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥३१६॥

मूर्ख ब्राह्मण का भी पूज्यता में दृष्टान्त—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥३१७॥

भाष्य—जातिमात्राश्रयाणामनवज्ञानं, न विद्वत्तामपेक्षेत । दानादिक्रियास्विव । यथा
‘चैतन्न पादतः कुर्या’दित्यग्नौ ॥३१७॥ भाष्य—

हिन्दी—जिस प्रकार शास्त्र-विधि से स्थापित अग्नि तथा सामान्य अग्नि दोनों ही

श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार मूर्ख तथा विद्वान् दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ देवता हैं (इस कारण मूर्ख ब्राह्मण का भी निरादर नहीं करना चाहिए) ॥३१७॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।

हूयमानश्च यज्ञेषु भूय वाभिवर्धते ॥३१८॥

भाष्य—गतार्थोऽयम् । दुराचारोऽप्यनविज्ञेय इत्यर्थः ॥३१८॥

हिन्दी—जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानों में भी (शव को जलाती हुई) दूषित नहीं होती, और यज्ञों में हवन करने पर फिर अधिक बढ़ती ही है ॥३१८॥

ब्राह्मण में क्षत्रिय को शान्त होने के दृष्टान्त—

एव यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥३१९॥

भाष्य—अनिष्टेषु प्रतिषिद्धेषु वर्तमाना मृद्रूपक्रमैर्यथाशास्त्रं दण्ड्या न सहसाऽऽक्रम्य, वर्णान्तरवत् ॥३१९॥

हिन्दी—उसी प्रकार यद्यपि ब्राह्मण निन्दित कर्मों में भी प्रवृत्त होते हैं, तथापि सब प्रकार से ब्राह्मण पूज्य हैं; क्योंकि वे उत्तम देवता हैं ॥३१९॥

तेजस्वी क्षत्रिय द्वारा भी ब्राह्मण को पीड़ित करने का निषेध—

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।

ब्रह्मैव सन्नियंतु स्यात्क्ष हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥

भाष्य—क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रतिबाधितुं प्रवृत्तस्य ब्राह्मणा एव संनियन्तारः । श्रीमदावलिप्ताः व्यवस्थाभङ्गेन वर्तमानाः क्षत्रियाः, जपहोमादिशापादिना ब्राह्मणैर्मार्गे व्यवस्थाप्यन्ते ।

अत्र हेतुः **क्षत्रं ब्राह्मसम्भवम्** । ब्राह्मणजातेः सकाशात्क्षत्रियाणां सम्भवः । अत्रार्थ-वाद एवायम् ॥३२०॥

ननु यो यस्योत्पत्तिहेतुर्नासौ तस्य नाशकः । नैवम्—

हिन्दी—अत्यन्त समृद्ध (तेजस्वी) भी क्षत्रिय यदि ब्राह्मण को पीड़ित करे तो उसका (शाप आदि के द्वारा) शासन करनेवाला ब्राह्मण ही है; क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण (की बाहु) से उत्पन्न है ॥३२०॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥

भाष्य—अद्भ्य ओषधिवनस्पतिभ्य एव जायत इत्येवमाग्निरद्भ्य एव उत्पन्नः ।

तस्य सर्वगं तेजः सर्वदाहं दहति तेजसाऽभिभवति । अपः प्राप्य तदस्य तेजः शाय्यति । अश्मनो लोहं खड्गादि । तेन सर्वं विदार्यते अश्मसम्पातात्स्फुटति । एवं क्षत्रियाः सर्वत्र जिगीषवो विजयन्ते ब्राह्मणेषु चेदौद्धत्येन वर्तन्ते तदा विनश्यन्ति ॥३२१॥

हिन्दी—पानी से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा (परम्परा द्वारा तलवार, बाण आदि शस्त्र) उत्पन्न हुए हैं; सर्वतोगामी उनका तेज अपनी योनि (उत्पन्न करने वाले) में शान्त (शक्तिहीन) हो जाता है ॥३२१॥

विमर्श—सब को जलाने में समर्थ अग्नि का तेज अपने उत्पादक पानी में, सबको जीतने या पीड़ित करने में समर्थ क्षत्रिय का तेज अपने उत्पादक ब्राह्मण में और सबको काटने में समर्थ लोहे (से बने तलवार आदि) का तेज अपने उत्पादक पत्थर में शान्त हो जाता है ।

ब्राह्मण-क्षत्रिय का परस्पर सहायकत्व—

नाब्रह्म क्षत्रमृज्जोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।

ब्रह्म क्षत्रं संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥३२२॥

भाष्य—यत्क्षत्रं यद्ब्राह्मणरहितं राज्यं, मन्त्रिपुरोहितादयो यत्र नप ब्राह्मणास्तत्र कुतः समृद्धिः । एवं ब्राह्मणा अपि राजोपाश्रिताः कुतः सम्पत्तिं लभन्ते । उभौ युक्तौ जगज्जयतः ।

ब्रह्मक्षत्रशब्दौ ब्राह्मणक्षत्रियजातिवचनौ ॥३२२॥

हिन्दी—ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण समृद्धि को नहीं पा सकते, (किन्तु) मिले हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इस लोक में तथा परलोक में (धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थ को पाने से) समृद्धि को पाते हैं ॥३२२॥

पुत्र को राज्य सौंपकर युद्ध में प्राणत्याग करना राज्यकर्तव्य—

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।

पुत्रे राज्यं समासाद्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥

भाष्य—यदा तु जरसाऽभिभूयेत कृतकृत्यः स्यात्तदा वसुनि धने सति सर्वदण्ड-समुद्भूतं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । महापातकिधनस्य वरुणाय प्रतिपादनमुक्तम् । न राज्ञा तदग्रहीतव्यम् । अन्यतु दण्डधनं राज्ञा दृष्टादृष्टकार्यार्थवादाद्बहुधनमस्ति प्रयाणकालश्च, तदा सर्वस्यायं विनियोगः ।

अन्ये तु दण्डग्रहणं करशुल्कादीनामपि प्रदर्शनार्थं व्याचक्षते । तथा सति सर्वस्वं

तद्यादित्युक्तं भवति । वाहनायुधभूमिपुरुषवर्जं सर्वं दातव्यम् ।

एवं तु व्याख्याने पुत्रे राज्यं समासाद्य इति न घटते । न हि तस्याकोशस्य राज-
करणसम्भवः ।

कुर्वीत प्रायणं रणे । आत्मत्यागे संग्रामं कुर्यात् । यदि कथञ्चिदन्त्यावस्थायां रणं
नोपलभेत तदाग्न्युदकादिना शरीरं जह्यात् । फलातिशयसम्पत्तिस्तु रणे समासं जन-
मारोपणम् ॥३२३॥

हिन्दी—सब दण्डों (जुर्माने) से प्राप्त धन को ब्राह्मणों के लिए देकर तथा राज्य को
पुत्र के लिए सौंपकर (क्षत्रिय राजा) युद्ध में प्राणत्याग करे (और युद्ध के असम्भव होने
पर) अनशन आदि से प्राणत्याग करे ॥३२३॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।

हितेषु चैव लोकेभ्यः सर्वान्भृत्यान्प्रियोजयेत् ॥३२४॥

भाष्य—एवं चरन्विहरन् राजधर्मेषु यथाशास्त्रोपदिष्टेषु । सदा युक्तस्तत्परः ।
लोकेभ्यः स्वराष्ट्रीयेभ्यो हितेषु । सर्वान्भृत्यान्प्रियोजयेत् ॥३२४॥

हिन्दी—इस प्रकार (सप्तम से नवम अध्याय तक में वर्णित) राजधर्मों में तत्पर
होकर व्यवहार करता हुआ राजा लोक-व्यवहार कार्यों में समस्त भृत्यों को नियुक्त
करे ॥३२४॥

वैश्य-शूद्र के कर्मविधान का कथन—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।

इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥३२५॥

भाष्य—आद्येनानेन कण्टकशुद्धिपर्यन्तो राजधर्म उपसंह्रियते । द्वितीयेन 'वैश्य-
शूद्रोपचारं' चेत्युक्तमनुस्मारयति ॥३२५॥

हिन्दी—(भृगुजी मर्षियों से कहते हैं कि मैंने) राजा के इस समस्त सनातन
कर्मविधान को कहा, अब क्रमशः वैश्य तथा शूद्र के वक्ष्यमाण कर्मविधान को जानना
चाहिये ॥३२५॥

वैश्य के धर्म—

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।

वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणम् ॥३२६॥

भाष्य—कृतसंस्कार उपनीतः कृतविवाहश्च । वार्तायां वक्ष्यमाणकालसमुदायो
'वार्ता' । तत्र नित्ययुक्तः स्यात् । यथा बार्हस्पत्ये वार्ता समुपदिष्टा ॥३२६॥

हिन्दी—वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार होने के बाद विवाह को करके खेती आदि करने तथा पशुपालन में सर्वदा लगा रहे ॥३२६॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥

भाष्य—पशुरक्षणं वैश्यस्य न केवलं जीविकायै, यावद्धर्मायापीति दर्शयत्यर्थ-
वादेन ।

“कथं पुनर्दृष्टे सत्यदृष्टमुक्तम्” ।

प्रजापालनवन्नियमात्परिपालनीयं त्वयेति नियोगपरिदानम् । क्षत्रियस्य प्रजापालने-
ऽधिकारो निरूपितः । ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तोपदेशादिना जपहोमादिना च “आदित्या-
ज्जायते वृष्टिः” इति सर्वाधिकारः ।

दृष्टान्तार्थं चैतत् । तथैव धर्म एव वैश्यस्य पशुरक्षणादिः ॥३२७॥

हिन्दी—ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि करके पालन (करने के लिए) वैश्यों को दिया तथा
सब प्रजाओं की सृष्टि करके (रक्षा करने के लिए) ब्राह्मण तथा राजा को दिया ॥३२७॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥

भाष्य—“ननु को जीवितार्थं कामः यदुक्तं यद्यप्यदृष्टं तदा दृष्टाश्रितमेव । भोजने
प्राङ्मुखतायामेव । तत्र कथञ्चिदिदमुच्यते न च वैश्यस्य कामः स्यादिति । न ह्यबुभुक्ष-
माणः प्रत्यवैति” ।

सत्यमेवं ‘कृष्टाविकृतं पाशुपाल्यमिति’ ज्ञापयितुम् । कश्चिन्मन्यते सर्वाण्येतानि
नियमार्थानि तुल्यफलानीति । तत्र तुल्यफलत्वे च पक्षेऽकामोऽपि स्यात्कर्मन्तरं कामय-
मानस्य । यदा त्वन्येभ्यो गुणवत्तरः तदा तु तेनाजीवेन्न कर्मन्तरे प्रवृत्तिः । अत एव तदा-
लम्बनो जीवेत् ॥३२८॥

हिन्दी—‘मैं पशुपालन नहीं करूँ’ ऐसी इच्छा वैश्य को कदापि नहीं करनी
चाहिये और वैश्य को पशुपालन की इच्छा करते रहने पर राजा को दूसरे से पशु-पालन
नहीं कराना चाहिये ॥३२८॥

मणि आदि के मूल्य का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य—

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तांतवस्य च ।

गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥३२९॥

भाष्य—लोहशब्देन ताम्रायस्कांस्यान्याह ।

अर्धबलाबलं न्यूनताऽर्धस्य न्यूनताधिक्ये देशकालापेक्षे । कस्मिन्देश इदं महार्धम् ।
कस्मिन्वाऽपचितार्धम् । एवं कालेऽपि ॥३२९॥

हिन्दी—मणि, मोती, मूँगा, लोहा, कपड़ा गन्ध (कर्पूर आदि) और रस (नमक आदि) के मूल्य की कमी-वेशी को वैश्य देश-कालानुसार मालूम करे ॥३२९॥

बीजादि का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य—

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।

मानयोगं च जानीयात्तुयोगांश्च सर्वशः ॥३३०॥

भाष्य—इदं बीजं विस्तृतमुप्यत इदं संहतमुप्यत इत्येनामुप्तिं विंद्यात् । इदं बीजमस्मिन् क्षेत्रे प्ररोहतीदं न । इदं च बलवत्फलति । एवमादयो गुणदोषाः । द्रोण-शूर्पाढकादयो मानविशेषास्तेषां योगा ये हस्तेन मीयन्ते ॥३३०॥

हिन्दी—सब बीजों को बोने की विधि (कौन बीज किस समय कैसे खेत में, कितने प्रमाण में किस प्रकार बोया जाता है, इत्यादि विधि), खेतों के गुण तथा दोष, तौल (मन, आधमन, पसेरी, सेर, छटाक आदि तथा तोला, मासा, रत्ती आदि) तथा तौलने के उपाय; इन सबको अच्छी तरह मालूम करे ॥३३०॥

वस्तुओं की सारासारतादि का ज्ञान करना वैश्य का कर्तव्य—

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।

लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥३३१॥

भाष्य—भाण्डशब्देन विक्रेयवस्त्राजिनान्युच्यन्ते । तत्र सारासारता, यत्कालान्तरे स्थितं च न नश्यति तत् 'सारम्' । तदितरद'सारम्' ।

अस्मिन्देशे ब्रीहयो भूयांसोऽस्मिन्काले यवा अस्मिन्नीदृश आचार ईदृशो जान-पदानां स्वभाव एवामादयो देशे गुणागुणाः ।

अनेन च यवसेनेदृशेन च लवणेनास्मिन्काले प्रयुक्तेन पशवो वर्धन्त इति ॥३३१॥

हिन्दी—वस्तुओं की सारता (अच्छापन) तथा निःसारता (खराबी) देशों के गुण तथा दोष, सौदों (बेचे जानेवाली वस्तुओं) के लाभ तथा हानि, पशुओं को बढ़ाने के उपाय (किस समय में कैसा कार्य करने से पशुओं की उन्नति होगी इत्यादि उपाय) ॥३३१॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।

द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

भाष्य—भृत्या दासा प्रेष्यादयः गोपालाजपालमहामात्राद्याः । तेषां च कियती भृतिरिति विद्यात् ।

मालवकमगधद्रविडादिदेशभाषाः एतद्देशा अस्मिन्नर्थ ईदृशमुच्चारयन्ति । इदं द्रव्य-
मेवं स्थाप्यत एवं सम्वर्तत एवमात्रियतेऽनेन योज्यत इयता विक्रीयते ॥३३२॥

हिन्दी—नौकरों (या मजदूरों) का (देश, काल तथा परिश्रम के अनुसार) वेतन,
मनुष्यों की अनेक देश की भाषा, वस्तुओं के योग्य स्थान तथा मिलावट (अमुक वस्तु
अमुक स्थान में रखने पर तथा मिलाने पर बिगड़ेगी या सुरक्षित रहेगी, इत्यादि), क्रय-
विक्रय का ज्ञान (अमुक वस्तु को स्थान तथा समय में खरीदने तथा बेचने से लाभ होगा,
इत्यादि) इन सब विषयों को वैश्य अच्छी तरह मालूम करे ॥३३२॥

अन्न देना वैश्य का कर्तव्य—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।

दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥३३३॥

भाष्य—बहु अन्नं दातव्यमित्यर्थः । अन्यथा राज्ञा दण्ड्यः । एवमर्थमत्रोच्यते
महाधनस्य चैतत् ॥३३३॥

हिन्दी—वैश्य इस प्रकार (९।३२६-३३२) धर्म से (व्यापार, पशुपालन तथा खेती
के द्वारा) धन बढ़ाने का उद्योग करता रहे तथा सब प्राणियों के लिए प्रयत्नपूर्वक अन्न का
ही अधिक दान करता रहे ॥३३३॥

शूद्र का धर्म—

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परम् ॥३३४॥

भाष्य—यशस्विनामिति साध्वाचारो लक्ष्यते ।

शुश्रूषा परिचर्यैव । तस्य धर्मः परं श्रेय आवहति ॥३३४॥

हिन्दी—वेदज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी सद्गृहस्थों की सेवा करना ही शूद्र का
कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥३३४॥

द्विज सेवादि से शूद्र को उत्तमजातिलाभ—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।

ब्राह्मणापाश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥३३५॥

भाष्य—शुचिः मृद्धारिशुद्धेन्द्रियसंयमनेन च । उत्कृष्टान्त्यैवर्णिकान् शुश्रूषुः ।
मृदुवाक् न तर्कादिशास्त्रगन्धितया परुषभाषी । उत्कृष्टां ब्राह्मणादिजातिमाप्नोतीत्यर्थः ।
स्पष्टमुक्तं प्रयोजनम् । पुनर्ब्राह्मणापाश्रयग्रहणात् अन्यानप्याश्रितस्यान्यशुश्रूषकस्यैतद-
विरोधेन धर्म एव ॥३३५॥

हिन्दी—शुद्ध (बाहरी शारीरिक शुद्धि तथा भीतरी मानसिक शुद्धि से युक्त), अपने से श्रेष्ठ जाति वालों की सेवा करनेवाला, मधुर भाषण करनेवाला, अहङ्कार से रहित और सदा ब्राह्मणादि के आश्रम में रहनेवाला शूद्र श्रेष्ठ जाति को प्राप्त करता है ॥३३५॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।

आपद्यपि हि यस्येषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥३३६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥९॥

भाष्य—स्पष्टमुक्तं प्रयोजनं च ॥३३६॥

इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनोभट्टमेधातिथिकृतौ मनुभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि मैंने) आपत्तिकाल नहीं रहने पर वर्णों (ब्राह्मणादि चारों वर्णों) के कल्याणकारक कर्म को कहा, उन (ब्राह्मणादि वर्णों) के आपत्तिकाल में भी जो धर्म हैं, उसे (आप लोग कहते हुए मुझसे) मालूम कीजिये ॥३३६॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् ख्यादिधर्मविनिर्णयः ।

‘पूर्णचन्द्र’ कृपादृष्ट्या नवमे पूर्णतामगात् ॥



॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥



केवल ब्राह्मण को अध्यापनाधिकार—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।

प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥

भाष्य—“वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना” इति ग्रहणार्थं त्रैवर्णिकानां स्वाध्यायविधिरुक्तः । गृहीतस्य चाविस्मरणमप्युक्तं सर्वाश्रमिणाम् । ‘स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्या’ तथा ‘नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत’ । शास्त्रं प्रमुख्यया वृत्त्यैव शासनाद्धि शास्त्रं प्रमाणान्तरानवगतविधिप्रतिपादनाच्च वेद एवेति । तदेव शास्त्रम् । अन्यत्र ग्रन्थसन्दर्भ-सामान्याच्छास्त्रप्रयोगः । तथा नियतो वेदमभ्यसेत् । ब्रह्मोभयता वेदनिन्देति । यस्तु ब्रह्मयज्ञः स एकेनापि सूक्तेन सामानुवाकेन खण्डेन कण्डिकया वैक्यैव यावज्जीवमधीतया सिध्यति । न तेन ब्रह्मस्मरणमाक्षिप्यते । तदेवं निर्विषयत्वादस्य विधेरनुवादार्थतैव ।

प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्तेषां नेतराविति क्षत्रियवैश्ययोः प्रवचनं निवर्तयितुम् ।

“ननु च ‘अध्यापनं ब्राह्मणस्य’ इत्यादिना तयोस्तदप्राप्तमेव” ।

नैष दोषः । वृत्तिकरणस्य श्रुतत्वात्तदर्थैव निवृत्तिः सम्भाव्यते । धर्मार्थं तु विद्यादानं तयोरप्यस्त्येवेत्याशङ्कां निवर्तयति ।

अथास्ति सामान्येन निषेधः एवं तर्हि जातिलक्षणप्रसङ्गजननार्थं सिद्धमेवोच्यते । एवं च कृत्वाऽनुक्रमणीयः सम्बन्धो न हातव्योऽयमिति भविष्यति । “वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भव” इति ।

कश्चिदाह । ‘अध्यापनं’ शब्दोच्चारणशिक्षणम्, ‘प्रवचनं’ तु तदर्थव्याख्यानमपि । अतो भिन्नत्वान्नाध्यापननिवृत्त्या तदर्थव्याख्याननिवृत्तिर्भवतीत्यतः पुनरुपदेशः ।

“ननु च नात्र वेदशब्दोऽस्ति । कुतस्तत्कर्मता अध्ययनक्रियायाः । अथवा-लौकिकगद्यपद्यविषयमपीदमध्ययनमुच्यते” ।

उच्यते । तथा सत्यदृष्टार्थो विधिः स्यात् । अतश्चाधिकारकल्पना प्रसज्येत मूलकल्पना च स्यात् । यथा तु व्याख्यातं उपलब्धमूलैवेयं स्मृतिर्भवतीति नादृष्टमूलकल्पनाप्रसङ्गः ।

द्विजातय इति सिद्धे त्रयो वर्णा इति पादपूरणम् । एवं स्वकर्मस्था इति ॥१॥

हिन्दी—अपने-अपने कर्म में तत्पर तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वर्णवाले द्विज (वेद को) पढ़ें तथा ब्राह्मण उन तीनों वर्णों को पढ़ावें, दूसरे दोनों (क्षत्रिय तथा वैश्य) वर्ण नहीं पढ़ावें ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥१॥

विमर्श—पूर्व प्रतिज्ञा ('सङ्कीर्णानाञ्च सम्भवम्' १।११६) के अनुसार प्रसङ्ग-प्राप्त वर्णसङ्करोत्पत्ति-कथन में वर्णों से ही वर्णसङ्कर की उत्पत्ति होने से वर्णानुवादार्थ वर्णत्रय के धर्म में ब्राह्मणमात्र का अध्यापन कार्य इस वचन से प्रतिपादित किया गया है। इस वचन के तृतीयपाद ('प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषाम्') कथन से ही यद्यपि क्षत्रिय तथा वैश्य के अध्यापन कार्य का निषेध हो जाता है, तथापि 'नेतरौ' अन्य दो वर्ण— क्षत्रिय तथा वैश्य को अध्यापन कार्य का पुनर्निषेध प्रायश्चित्तगौरवार्थ समझना चाहिये ।

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्युपायान्यथाविधि ।

प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥२॥

भाष्य—'न चास्योपदिशेद्धर्मम्' इति न कश्चिदद्धर्मोपदेशः शूद्रस्य कर्तव्य इत्युक्तम् । धर्मा उपदेष्टव्या इति तस्यापवादः ।

वृत्तिः शरीरकुटुम्बस्थितिस्तदार्था उपायास्तान् विद्यात्

प्रब्रूयात्सर्वेभ्य इतरेभ्य इति । बहुवचनं शूद्रावरोधार्थम् ।

स्वयं च तथा भवेद्यथोपदिष्टा वृत्तिनियमा अनुष्ठेया इत्यर्थः ॥२॥

हिन्दी—ब्राह्मण सबों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों) की जीविका के उपाय को स्वयं मालूम करे, उसका उन्हें उपदेश दे तथा स्वयं भी वैसा ही (शास्त्रोक्त नियमानुसार आचरण करने वाला) होवे ॥२॥

ब्राह्मण को सब वर्णों का स्वामित्व—

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।

संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥३॥

भाष्य—“किं पुनः कारणं ब्राह्मण एव प्रकृतत्वेनाऽधिक्रियते, न पुनः क्षत्रियादयोऽपि” । यत् एतच्छेषतया प्ररोचनं पठति ।

वैशेष्याद्विशिष्टत्वादित्यर्थः, गुणाधिक्यादिति यावत् ।

तदिदानीमाधिक्यमाह। **प्रकृतिश्रैष्ठ्यादुत्तमाङ्गोद्भवादिदमुक्तम्।** 'प्रकृतिः' कारणम्।

नियमस्य च धारणान्मद्यपानप्रतिषेधादयमेव नियमोऽभिप्रेतः । स्नातकव्रतानि वा वैणवधारणादीनि ब्राह्मणस्यैव ।

संस्कारस्य च विशेषो नियमोऽभिप्रेतः, स्नातकव्रतानि च ‘विशेषो’ हृदयङ्गमाभिरित्यादेरुपनयनादेर्वा बालस्यैव विधानात् । क्षत्रियवैश्ययोस्त्वतीतशैशवयोरेकादशद्वादशयोः ।

अतो हेतोर्वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः शासिता ॥३॥

के पुनरमी वर्णा नाम मनुष्यजातिवचनोः वर्णशब्दो नेत्याह —

हिन्दी—जाति की विशिष्टता से, उत्पत्ति-स्थान (ब्रह्मा के मुख) की श्रेष्ठता से, (अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यान आदि के द्वारा) नियम (श्रुति-स्मृति विहित आचरण) के धारण करने से और यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता से सब वर्णों में ब्राह्मण ही वर्णों का स्वामी है ॥३॥

द्विजवर्ण कथन—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥४॥

भाष्य—चत्वारो वर्णा ब्राह्मणाद्याः शूद्रपर्यन्ताः । अन्ये तु बर्बरकैवर्तादयः संकीर्णयोनयो यथा वक्ष्यन्ते । तत्र चतुर्णां त्रयो द्विजातयः, उपनयनस्य तेषां विहितत्वात् । **एकजातिः** शूद्रो, न हि तस्योपनयनमस्ति । उपनयनविधौ ब्राह्मणादिवर्णविशेषसंयोगात् । “अष्टमे ब्राह्मणमुपनयोतैकादशे राजन्यं द्वादशे वैश्यम्” इति । न कस्मिंश्चित्काले शूद्रं पठन्ति ।

“ननु कालविशेषानुपादानादनियतकालं शूद्रोपनयनमस्तु ।”

भवेद्यद्यसंयुक्ता सामान्येनोपनयनस्योत्पत्तिः स्यात् । एताश्च वर्णकालविशेषयुक्ता निमित्तार्थाः स्तुतयः स्युः । न तु पृथगुत्पत्तिरस्यास्ति । तत्कस्य प्रमाणस्य सामर्थ्येनास्योपनयनमनियतकालं क्रियताम् ।

“यद्येवं किं तर्ह्यनेन चतुर्थ एकजातिरिति” ।

सत्यम् । आशङ्कामात्रनिवारणार्थम् । ‘मन्त्रवर्जं तदुच्यते’ इति अमन्त्रकस्यानियतकालस्य प्राप्तिराशङ्क्येपत ।

“ननु च पाकयज्ञविधावेतद्वाक्यं तत्सन्निधौ श्रवणात्तत्र कृतार्थं नान्यत्र भवितुमर्हति” ।

अत एवाशङ्कामात्रमित्युक्तम् । परमार्थतस्तु व्यवहारनियमार्थपरः श्लोकः ॥४॥

हिन्दी—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ‘द्विजाति’ (या ‘द्विज’) हैं, और चौथा एक वर्ण शूद्र है, पाँचवाँ (वर्ण कोई भी) नहीं है ॥४॥

सजातीय कथन—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।

आनुलोभ्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥५॥

भाष्य—के पुनरमी ब्राह्मणादयो नाम । न ह्येषां परस्परौ भेदः शक्योऽवसातुम् । व्यक्त्यधीनाधिगमा हि जातयो न च व्यक्तयः स्वावयवसन्निवेशविशेषावगमशून्याः शक्नुवन्ति तासां भेदमावेदयितुम् । न च ब्राह्मणक्षत्रियादीनां गवाश्वस्येव वाऽऽकारभेदोऽस्ति, येन रूपिसमवायाच्चक्षुष्यः स्युः । नापि विलीनघृततैलगन्धरसादिभेदेन क्रियान्तरगोचराः । नापि शौचाचारपिङ्गलकेशत्वादिभिर्धर्मैः शक्यभेदावसानाः, तेषां सर्वत्र संकरोपलब्धेः । व्यवहारश्च पुरुषाधीनो, विप्रलम्भभूयिष्ठत्वाच्च पुरुषाणां नान्ततो वस्तु-सिद्धिः । इत्यतो जातिलक्षणमुच्यते ।

सर्ववर्णेष्वेतल्लक्षणं जातेर्यतुल्यासु समानजातीयासु सम्भूतासु पत्नीषूढासु जातास्त एव जात्या ज्ञेयाः । प्रायेण मातापित्रोर्या जातिः सैवापत्यस्योढायां जातस्य वेदितव्या । सम्बन्धिशब्दत्वात्पत्नीग्रहणास्यातो वोढा 'पिता' लभ्यते । तेन येनैवोढा तत एव यस्तस्यामेव जातस्तदा तज्जातीयो भवति ।

अक्षतयोनिग्रहणं पुनर्विवाहसंस्कारेण पत्नीत्वमाशङ्कमानं निवर्तयति । सहोढकानीनमातृणां च ।

“ननु च नैवैतासां विवाहसंस्कारोऽस्ति, “पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यासु” (८।२२६) इति वचनात् । यदपि “वोढुः सगर्भो भवति” (९।१७३) इति विवाहश्रवणेन शास्त्रीय-संस्कारप्रतिपत्तिः, प्राप्तिमात्रवचनत्वात्तस्य न विहितवचनीयं प्रत्यभिज्ञानमस्ति । तस्मात्स्वीकारमात्रे धातुर्वर्तते स्वीकर्तुरित्यर्थः । पित्रादीन् वंचयित्वा येनैव स्वीकृतं तस्यैव सा भवति; ततः पुत्रश्चेति तस्यार्थः । पुनर्भसंस्काराभावात् सा चेदक्षतयोनिः स्यात्” (९।१७६) इति पठ्यते । गतप्रत्यागतायामपि पुनःशब्दप्रत्यभिज्ञानाद्भर्तुरुक्ताः । न च ताभिः सहाभिः सहाधिकारोऽस्ति । यज्ञसंयोगेऽस्ति पत्नीशब्दः । अतो‘ऽक्षतयोनि’-शब्दोऽतिरिच्यते । अत्र पूर्वं पत्नीशब्दपर्यायेण नारीष्विति पठन्ति तदपि न किञ्चित् केवले ह्यक्षतयोनिशब्दे त्वसंस्कृतास्वपि जातास्तज्जातीयाः स्युः । पत्नीशब्दपाठेन शास्त्रीयेण विधिना या संस्कृता भार्यात्वमापादिता सा गृह्यते । यास्तु कुमार्य एवोपगम्यन्ते भवन्ति ता ‘अक्षतयोनयो’ न तु ‘पत्यः’ । तस्मादक्षतयोनिशब्दस्य प्रयोजनं वाच्यम्” ।

उच्यते । यत्तावदुक्तं ‘न ताः ‘पत्यो’ यज्ञसंयोगाभावादिति’ यदि विवाहोऽयं स एव यज्ञः स्यात् । तत्रापि पूषवरुणार्यम्णामस्त्येव यागः । समानार्थौ च यागयज्ञशब्दौ ।

तस्मात्स्युरेव पत्न्यः । अकन्यात्वादविवाह्यतयैव न पत्न्य इति युक्तम् ।

अतश्चानर्थक्येऽक्षतयोनिशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते । दृश्यते लक्षणयाऽसत्यपि यज्ञ-
संयोगे पत्नीशब्दः प्रयुज्यमानो लोके रजकस्य पत्नी । यथाऽन्यत्रावरुद्धासु स्त्रीषु गृहिणी-
शब्दः सोऽपि भार्यावचन एव केनचिद्धर्मसाम्येन तत्रापि प्रयुज्यते । यद्यपि सति मुख्ये
लक्षणा न न्याय्या, तथापि मन्दधियां सुहृद्भूत्वा आशङ्कामात्रं निवर्तयति । किं नाम
नाशङ्क्यते मूढमतिभिः ।

आनुलोम्यग्रहणमुत्तरार्थम् ।

येऽपि ‘त एव त’ इति पठन्ति तेषामपि स एवार्थस्तज्जातीया इति ।

अत्रोच्यते । “किं प्रमाणमूलमेतस्मृतिकाराणां स्मरणम् । अमकार्यरूपत्वान्न धर्मा-
धर्मोपदेशतुल्यम् । प्रमाणान्तरञ्च नास्तीत्युक्तम् । स्मृत्यन्तरमूलत्वेऽन्धपरम्पराप्रसङ्गः
प्रमाण-श्लोके दर्शितः” ।

उच्यते । वृद्धव्यवहार एव मूलं साधुत्वस्मृतिवत् ।

ननु च सापराधाऽसावित्युक्तम् ।

अत एव नियामिकाः स्मृतयः फलवत्यः । अभियुक्तस्मरणमन्यथेति न शक्यते
वक्तुम् । शास्त्रस्थाः प्रसिद्धाः प्रमाणतराः । सम्भवति च तेषामनादिव्यवहारो मूलम् ।

एतत्स्मृतिसंस्कृतानां वावगताभिजनजातीयानां प्रत्यक्षमप्युपपद्यत इति केषाञ्चि-
दर्शनम् । एतत्स्मृतिविवेके प्रपञ्चितम् ।

ननु च स्मृत्यन्तरे नायं विशेषोऽस्ति “सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः॥” (याज्ञ० १।९०) इति । आद्येनार्धेन जाति-
र्लक्ष्यते । उत्तरेण हि ब्राह्मादिविवाहजातानां संतानवर्धनत्वम् । तत्र सवर्णेभ्यः सवर्णा-
स्त्विति नात्र पत्नीशब्दोऽस्ति ।

कथं नास्ति । यावता “वित्रास्वेष विधिः स्मृत” (याज्ञ० १।९२) इति । मा वा
भूत् । अविशेषस्मृतेर्विशेषस्मृतिर्बलीयसी । अदर्शनाद्दर्शनं बलीयः । यत एकेन विशेषो
न दृष्टोऽपरेण दृष्ट सम्भवत्येतत् ।

अतोऽभियुक्तस्मरणं सम्भवन्मूलतया प्रमाणम् ।

“ननु चाव्याप्तेरलक्षणमेतत् । न हि सहोढकानीनपौनर्भवादीनामनेन ब्राह्मण्यं
भवति । ‘कुण्डगोलकयोः क्षेत्रजस्य च अनभिप्रेतमेव तत्तेषामिति’ चेत् का तर्हि तेषां
जातिः । कुण्डगोलकयोश्च असति ब्राह्मण्ये श्राद्धे प्राप्त्यभावादनर्थको निषेधः स्यात् ।
स्मृत्यन्तरविरोधश्च । “सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः” (या०व०व्य० १३३)

इति । किं च यदेव लक्षणं तदेव लक्ष्यम् । अनिर्ज्ञां लक्ष्यं भवति । निर्ज्ञातं लक्षणम् । यथा को देवदत्त इति संशयेऽङ्गदी कुण्डली व्यूढोरस्को वृत्तबाहुः । इह तु यथा कश्चित् ब्रूयात्कः काक इत्युक्ते काकाज्जात इत्युत्तरं तादृगेव 'को ब्राह्मणो' यो ब्राह्मणाज्जात इति । जनकेऽपि हि ब्राह्मण्यमप्रसिद्धमेव । न्यायविरोधश्च । सजातीयात्सजातीयायां जातः स लोके सजातीयो भवति । यथा गौर्गवि गौरश्चाद्वडवायामश्वः ।

अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तं का तेषां जातिरिति— किमन्यथा जात्या । मनुष्यास्तावद्भवन्ति । पुरुषधर्मैश्चाधिक्रियन्ते अनुपातजातिविशेषैः । पुत्रत्वाच्छ्राद्धादिभिश्च । दाने च सर्वेषामधिकारः ।

“ननु च विशेषस्योपदेशेन विना व्यवहारो न सिध्यति । सर्वसाधारणत्वान्मनुष्यजातेः” ।

असदेतत् । सर्वस्यैव स्वसंज्ञाविशेषो विद्यते । प्रतिपुरुषं देवदत्ती यज्ञदत्त इति ।

अथापि सम्बन्धव्यपदेशः कर्तव्य इति “कानीनः सहोढ” इत्येव व्यपदिश्यते । ‘सोऽपि चातुर्वर्ण्ये सद्भावात्सामान्यरूप एवेति’ चेद्देवदत्तस्य कानीन इत्यादि जनकेन व्यपदेशः करिष्यते । तस्मादसम्बद्धमेतद्यदुच्यते व्यवदेशः कथमिति ।

एवं तर्हि सर्व एव धर्माश्चातुर्वर्ण्यं प्रतिबोध्यन्ते ‘अन्तरप्रभवानां च’ (मनु १।२) । तत्र बहुत्वं ब्राह्मणादिजातिचतुष्टयविषयम् । न चैतेषामप्येकजातिः । सर्वजातिष्वेतस्य लक्षणस्य प्रवृत्तेः । यथैव ब्राह्मणादूढायां ब्राह्मण्यां जातो ब्राह्मणः, एवं क्षत्रियादयोऽपि समजातायमातृपितृजाताः । सर्वविशेषाभावे च कुतः सामान्यम् । न हि शिंशपादिसर्वविशेषाभावे वृक्षत्वसम्भवः ।

अन्तरप्रभवाश्चानुलोमप्रतिलोमाः । तत्रानुलोमा मातृजातीयाः । प्रतिलोमास्तु धर्महीना अन्यत्राहिंसादिभ्यः । ते च सर्वे स्वसंज्ञाभिर्विशेषतो निर्दिष्टाः । न चैषां नामापि तत्रास्ति ।

“तत्र कतमे ते धर्मा यत्रामी अधिक्रियेरन् । क्व च तद्वचनं यदेतानधिकुर्वीत । न हि कश्चिज्जातिविशेषः स्त्रियो धर्मविधिरस्ति । सर्ववर्णानामन्तरभावानां चेति’ शास्त्रादधिकृतत्वाच्च” ।

उच्यते । यत्तावदसिंहादिषु चातुर्वर्ण्यवचनं तन्नरमात्रोपलक्षणार्थमेव । सत्यपि प्रतिलोमाधिकारे मुख्यार्थवृत्तेः । प्रत्युत सहचारिजात्यन्तरपरत्वमेव लक्षयितुं क्षमं नान्तराऽवस्थातुमर्हति । तत्रैव च वक्ष्यामः । इदं चास्ति । “शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः” (मनु० १०।४१) इति । ‘अपध्वंसो’ऽसंस्कारः । स चाष्टविधः । ‘व्यभिचारेण वर्णानाम्’ (मनु० १०।२४) इत्यादिनोक्तः । व्यभिचारः परस्त्रीषु गमनं

सजातीयासु । अन्यद्वक्ष्यामः । तस्मादसत्यपि वर्णत्वे वाचनिक एव तेषामधिकारः ।

क्षत्रियस्य तु मातृजातीयत्वमेव, लिङ्गदर्शनात् । पुत्रोद्व्यामुष्यायणस्य संविधानादितिकर्तव्यताविशेषः श्रुतः । अन्येष्वपि श्रौतेषु तस्य विधानान्तरं दृश्यते ।

तस्मादेष ब्राह्मणादिजातीय एव समभागः स्वपितृव्येण, “तस्माद्धर्मेण तं भजेत्” इति । न च यथोक्ते विधौ तद्युक्तम् । तदा ह्ययं शूद्रधर्मा । धनस्य यज्ञार्थतायामुक्तायां कुतस्तस्य तावद्भागः ।

कुण्डगोलकौ क्षेत्रजावेव । शिष्टसमाचारश्चैवमेव । पाण्डुधृतराष्ट्रविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृजातीयाः । अतो युक्तः श्राद्धे प्रतिषेधः । किं च पतितोऽपि तत्र प्रतिषिद्धः, यस्य सर्वधर्मबहिष्कृतत्वात्प्राप्त्याशङ्कैव नास्ति ।

यतु सजातीयेष्वपि स्मृत्यन्तरं तदुक्तानुवादत्वाद्यथासम्भवं कार्यपुत्रविषयतया वा ।

यच्च निर्ज्ञातं लक्षणं भवति तत्किं ब्राह्मणार्थं नैव लोकप्रसिद्धः । यत्र ब्राह्मणादि-शब्दः प्रयुज्यते तत्रापध्वंसनिवृत्त्यर्थं वचनम् । मातापित्रोरेतदेव जातिलक्षणम् । न चानवस्था, अनादित्वात्संसारस्य ।

प्रस्तुतन्यायविरोधस्तु साक्षात् व्यवसायगम्यत्वे आसां जातीनां स्यात् । तास्तु स्मृतिलक्षणाः यथास्मरणं भवितुमर्हन्ति । यथा वा वसिष्ठादयः शब्दा अन्तरेणैवान्वयधर्ममनवच्छिन्नस्मृतिपारम्पर्यं कैश्च विदितार्थेषु प्रयुज्यन्ते, भवन्ति व्यवहारहेतवो वसिष्ठ ब्राह्मणा ‘वासिष्ठाः’ शृण्वन्तीति । तद्वदेतद्द्रष्टव्यम् । यथा समाने ब्राह्मणत्वे केचिद्भृगवो वत्सा भारद्वाजा इत्यादिविशेषः स्मृत्येकप्रमाणः, तथैव समाने पुरुषत्वेऽमी ब्राह्मणा अमी क्षत्रिया इत्यादिरुपपन्नो व्यवहारः ।

यैरपि लिङ्गदर्शनत्वेन जाबालश्रुतिरुक्ता “सत्यकामो जाबालो मातरमपृच्छत्किं-गोत्रोऽहमस्मीति । सैवं प्रत्यब्रवीत्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे नाहं तद्वेदेति”, स एवमुपश्रुत्य हारिद्रुमतं गौतममियाय । तं होवाच ब्रह्मचर्यं भवतो विवत्स्यामि । स एवमुवाच । किंगोत्रस्त्वमसीति । स प्रत्युवाच । अपृच्छं मातं सा माता प्रत्यब्रवीत् “यौवने त्वामि”त्यादि । गौतमो न चैतद्ब्राह्मणो वक्तुमर्हति समिधं सोम्या-हर उप त्वानेष्ये” — अस्यायमर्थः । बहुभिरहं यौवने पुंभिः संगताऽभूवं न जाने केन जातोऽसीति । गौतमस्तु सत्यवचनात्रिश्चिकाय ब्राह्मणेनायं जातस्ततस्तमुपनिन्ये-ऽतो मन्यामहे स्वैरिणीष्वप्यनूढासु समानजातीयाज्जातासु तज्जातीया भवन्ति” ।

तदेतन्न किञ्चित् । यतो यौवने त्वामालभे, यौवने किल न स्मृतिर्दृढीभवति । उत्कलिकाबहुलत्वाद्यौवने चेतसः । किञ्च परिचारिणीपरिचारिकाहेतोः क्षुधापीडिता बहु-विचरन्ती नैकस्मिंस्थाने, ततो मे न स्मृतिरस्ति भर्तुः किं गोत्रमिति ।

अतः स्थितमेतत्समानजातीयोढायां जातास्तज्जातीया इति । गौतमस्यापि न ततो वचनाद्ब्राह्मणोऽयमित्यवगमः । प्रागेवासौ तं ब्राह्मण इति वेद । गोत्रं तु न वेद । गोत्रप्रश्नेन चरणप्रश्नो वेदितव्यः । तत्र उपनयनभेदोऽस्ति । न तु गोत्रभेदेनोपनयने प्रयोजनम् ।

ननु यथा केचिदाहुः “जातिप्रश्नोऽयमाभिजात्याद्गोत्र एव जातिमवगमिष्यामि, साक्षाज्जातिप्रश्ने हि मुखरता स्यात्” ॥५॥

हिन्दी—(इन पूर्वोक्त) सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) अथवा योनि-समान जातिवाली स्त्रियों में क्रमशः उत्पन्न सन्तान ‘सजातीय’ कहलाते हैं ॥५॥

विमर्श—ब्राह्मण वर्णवाले पिता से ब्राह्मण वर्णवाली माता में उत्पन्न सन्तान सजातीय होगी, भिन्न वर्णवाली माता में उत्पन्न सन्तान ‘सजातीय’ नहीं होगी ।

पिता की जाति के समान जाति होना—

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।

सदृशानेव तानाहुर्मतृदोषविगर्हितान् ॥६॥

भाष्य—अनन्तरास्वव्यवहितास्वानुलोम्येन य उत्पन्नाः पुत्रास्ते सदृशा ज्ञेयाः, न तु तज्जातीयाः । यथा ब्राह्मणाक्षत्रियायां क्षत्रियाद्वैश्यायाम् । तेन सदृशाः, न तु त एव ।

अत्र हेतुः मातृदोषविगर्हितान् ।

तत्सदृशग्रहणान्मातृत उत्कृष्टान्पितृतो निकृष्टान् ।

द्विजैरिति बहुवचननिर्देशान्मातृश्च ग्रहणादानुलोम्येष्वेतत्सम्भवति । प्रातिलोम्ये पितृतो ग्रहणेन मातृतः, पितुर्निकृष्टजातीयत्वात् ।

अत आनुलोभ्यग्रहणं पूर्वश्लोके । यदुक्तमुत्तरार्थमिति तदिहानर्थकम् । अतः परेषु श्लोकेषूपदिश्यते ॥६॥

हिन्दी—द्विजाति (१०।४) के द्वारा बादवाले वर्ण की स्त्रियों में (ब्राह्मण से क्षत्रिया में, क्षत्रिय से वैश्या में तथा वैश्य से, शूद्रा में) उत्पन्न किये हुए माता के (हीन वर्णवाली होने से) दोष से निन्दित पुत्रों को पिता के समान जातिवाला कहा गया है ॥६॥

विमर्श—‘पिता की समान जातिवाला’ का तात्पर्य पिता की जाति से कुछ हीन तथा माता की जाति से कुछ श्रेष्ठ जातिवाला समझना चाहिये । इनमें ब्राह्मण पिता से क्षत्रिय माता में उत्पन्न पुत्र ‘मूर्धाविसिक्त’, क्षत्रिय पिता से वैश्या माता में उत्पन्न पुत्र ‘माहिष्य’ और वैश्य पिता से शूद्रा माता में उत्पन्न पुत्र ‘करण’ संज्ञक होता है, ऐसा महर्षि

याज्ञवल्क्य ने^१ कहा है, उनमें से से हाथी-घोड़े को सिखाना तथा शस्त्र धारण करना ‘मूर्धाविसिक्त’ के, नाचना-गाना आदि ‘माहिष्य’ के और द्विजसेवा, धन-धान्य की अध्यक्षाता, राजसेवा, दुर्ग तथा अन्तःपुर की रक्षा करना ‘पारशव-उग्र-करण’ के काम उशनाने^२ कहे हैं ।

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।

द्वेयकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥७॥

भाष्य—आद्येनार्धश्लोकेनोक्तमर्थमनुवदति द्वितीयेन वक्ष्यमाणसंक्षेपः । **द्वेयका-**
न्तरा द्व्यन्तरा ब्राह्मणस्य शूद्रो । एकान्तरा वैश्या ।

नातीवश्लोकः सप्रयोजनः ॥७॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) अनन्तर वर्णवाली स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों का यह सनातन विधान है। एक या दो वर्णों के अनन्तरवाली स्त्री में क्रमशः एक वर्ण की अनन्तरवाली जैसे ब्राह्मण से वैश्या में, क्षत्रिय से शूद्रा में, दो वर्णों की अनन्तरवाली जैसे— ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र का विधान यह (आगे कहा हुआ) समझना चाहिये ॥७॥

अनुलोमज वर्णसङ्करों का कथन—

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामंबष्ठो नाम जायते ।

निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥८॥

भाष्य—एकान्तरा ब्राह्मणस्य वैश्या, तत्र जातोंऽबष्ठः । स्मृत्यन्तरे (गौ० ४।२०)
‘भृज्यकण्ठ’ इत्युक्तः ।

द्व्यन्तरायां शूद्रकन्यायां निषादः पारशवश्च ।

निषादशब्दः प्रतिलोमजातीयेऽपि वर्तते ।

कन्याग्रहणं स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थमिति व्याचक्षते, वैश्यस्त्रियामित्यर्थः । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥८॥

१. तद्यथा— ‘विप्रान्मूर्द्धाविसिक्ता हि.....

वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यन्माहिष्यमौश्रौ सुतौ स्मृतौ ।

वैश्यास्तु करणः शूद्रायाम्.....॥’ इति । (याज्ञ० स्मृ० १।९१-९२)

२. ‘वृत्तयश्चैषामुशनसोक्ताः— ‘हस्त्यश्चरथशिक्षा साधारणं च मूर्द्धाविसिक्तानाम्, अस्त्रधारणं नृत्यगीतनक्षत्रजीवनं सस्यरक्षा च माहिष्याणाम्, द्विजातिशुश्रूषा धनधान्याध्यक्षाता राजसेवा दुर्गान्तःपुररक्षा च पारशवोग्रकरणानाम्’ इति । (म०मु०)

हिन्दी—ब्राह्मण से (विवाहिता) वैश्या में उत्पन्न 'अम्बष्ठ' नामक, शूद्रा में उत्पन्न 'निषाद' नामान्तर से 'पारशव' नामक पुत्र होता है ॥८॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।

क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥९॥

भाष्य—आचारविहारौ कायचेष्टावाग्व्यापारश्च । तावस्य क्रूरौ भवतः ।

स्वभावानुवादोऽयम् । वपुः शब्दः स्वभाववचन एव । उभयजातिसम्भूत्वादुभय-धर्मा भवति ॥९॥

हिन्दी—क्षत्रिय से (विवाहिता) शूद्र वर्णवाली स्त्री में उत्पन्न पुत्र क्रूरकर्मा तथा क्रूर चेष्टावाला एवं क्षत्रिय शूद्र के स्वभाववाला 'उग्र' नामक पुत्र होता है ॥९॥

उक्त षड्विध पुत्रों का हीनत्वकथन—

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।

वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्बडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥१०॥

भाष्य—अत्र त्रिपादी अनुवाद एव । चतुर्थस्तु पादोऽपसदाभिधानार्थः ।

एते त्रैवर्णिकानामेकान्तरद्वयन्तरस्त्रीजाता अपसदा वेदितव्याः । अपसदा पुत्रार्थ-फलादवसन्नाः समानजातीयपुत्रापेक्षाया निन्द्यन्ते ॥१०॥

हिन्दी—ब्राह्मण से तीन (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियों में; क्षत्रिय से दो (वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियों में और वैश्य से एक (शूद्र) वर्णवाली स्त्री में उत्पन्न-ये ६ प्रकार के पुत्र निकृष्ट कहे गये हैं ॥१०॥

प्रतिलोमज वर्णसङ्करो का कथन—

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।

वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥११॥

भाष्य—अनुलोम्ये पूर्वो विधिः । प्रातिलोम्ये न त्वयमुच्यते ।

कन्याग्रहणमुक्तार्थम् ।

वैश्यान्मागधवैदेहौ यथासंख्येन । राजस्त्रियां मागधः ब्राह्मण्यं वैदेहः ॥११॥

हिन्दी—क्षत्रिय से ब्राह्मण वर्ण की कन्या में उत्पन्न पुत्र 'सूत' वैश्य से क्षत्रिय वर्ण की कन्या में उत्पन्न पुत्र 'मागध' और ब्राह्मण वर्ण की कन्या में उत्पन्न पुत्र 'वैदेह' संशक होता है ॥११॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।

वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥१२॥

भाष्य—अत्रापि यथासंख्यमेव ।

वैश्यराजन्य इति निर्देशे जातिपरेऽपि सामर्थ्यात्स्त्रीलिङ्गप्रतिपत्तिः । ‘मृगक्षीरं’, ‘कुक्कुटाण्ड’ इति यथा । वृत्तानुरोधात्स्त्रीप्रत्ययो न कृतः ॥१२॥

हिन्दी—शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण की कन्या में उत्पन्न पुत्र क्रमशः ‘आयोग व क्षत्ता’ और मनुष्यों में नीचतम ‘चण्डाल’ संज्ञक होता है ॥ १२॥

क्षत्ता तथा वैदेहक की स्पर्शयोग्यता—

एकान्तरे त्वानुलोम्यादंबष्ठोग्रौ यथास्मृतौ ।

क्षत्तुवैदेहकौ तद्वत्प्रालिलोम्येऽपि जन्मनि ॥१३॥

भाष्य—एकान्तरे वर्णे ब्राह्मणा वैश्यायामम्बष्ठः, क्षत्रियाच्छूद्रायामुग्रः एता-
वानुलोम्येन; एवमेकान्तरे प्रतिलोम्येन शूद्राक्षत्रियायां क्षत्ता, वैश्याद्ब्राह्मण्यां वैदेहः,
तौ तुल्यौ, भवनादिक्रियासु, न तु यजनादिषु ।

चण्डाल एकः प्रतिलोमोऽस्पृश्यः । यथा च दिवाकीर्तिश्लोके तत्स्पर्श एव स्नानं
नान्येषु प्रतिलोमेषु । सूतमागधयोगवानाममनन्तरजातानां चण्डालवद्दण्डापूपिकायां
सिद्धः स्पर्शादिसम्बन्धः ॥१३॥

हिन्दी—अनुलोम क्रम से (उच्च वर्णवाले पुरुष से नीच वर्णवाली स्त्री में) एक
वर्ण के अन्तरवाली स्त्री में उत्पन्न ‘अम्बष्ठ’ (१०।८) तथा ‘उग्र’ (१०।९) संज्ञक पुत्र
जिस प्रकार स्पर्शादि के योग्य हैं, उसी प्रकार प्रतिलोम क्रम से (नीच वर्णवाले पुरुष से
उच्च वर्णवाली स्त्री में, एक वर्ण के अन्तरवाली स्त्री में) उत्पन्न ‘क्षत्ता’ (१०।९) तथा
‘वैदेह’ (१०।११) संज्ञक पुत्र भी स्पर्शादि के योग्य हैं ॥१३॥

विमर्श—एक वर्ण के अन्तरवाली स्त्रियों में अनुलोमज प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न
‘अम्बष्ठ, उग्र, क्षत्ता और वैदेह’ (१०।८-११) संज्ञक पुत्रों को स्पृश्य कहने से अनन्तर
वर्णवाली स्त्रियों में प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न ‘सूत’ मागध और आयोगव’ (१०।११-
१२) संज्ञक पुत्र स्वतः स्पर्श के योग्य सिद्ध होते हैं, अतएव प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न
एकमात्र ‘चण्डाल’ (१०।१२) संज्ञक पुत्र को ही स्पर्श के अयोग्य कहा गया है।

अनन्तरादि वर्ण की स्त्री में उत्पन्न पुत्र का मातृजातीय संस्कार—

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।

तानन्तरनाम्स्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥१४॥

भाष्य—यथा ब्राह्मणात्क्षत्रियायां वैश्यायां च एवं क्षत्रियादुभये स्ताननन्तरनाम्ना प्रचक्षते । अनन्तराऽनुलोमा जातिः समाना तेषां, मातृजातीना इत्यर्थः ।

अनन्तरग्रहणमविवक्षितमत एवाह मातृदोषादिति । पितृजात्युत्कर्षेण नो दुष्यन्ते । अतश्च सत्यपि वर्णसंकरत्वे वचनान्मातृजात्याः स्मृताः । संस्कारास्तेषु कर्तव्या इत्युक्तं भवति । न ह्येतद्वचनमन्तरेण क्षत्रियादि संस्कारास्तेषु लभ्यन्ते । अश्वतरवज्जात्यन्तरत्वात् । वचनेन तु मातृजातावुक्तायामदोषः ॥१४॥

हिन्दी—द्विजों (१०।४) से अनन्तर (ब्राह्मण से क्षत्रिया में क्षत्रिय से वैश्या में तथा वैश्य से शूद्रा में), एकान्तर (ब्राह्मण से वैश्या में तथा क्षत्रिय से शूद्रा में) और द्व्यन्तर (ब्राह्मण से शूद्रा में) वर्णवाली स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र जो कहे गये हैं; मातृदोष (माता की नीचवर्णता) से उत्पन्न उनके संस्कार आदि माता की जाति के अनुसार ही मन्वादि महर्षियों ने बतलाया है ॥१४॥

अन्यान्य वर्ण सङ्कर जातियों का कथन—

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।

आभीरोऽबष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥१५॥

हिन्दी—ब्राह्मण से 'उग्र' (१०।९) 'अम्बष्ठ' (१०।८) तथा 'आयोगव' (१०।१२) की कन्याओं में उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आवृत, आभीर और धिग्वण' संज्ञक होते हैं ॥१५॥

हीन वर्णसङ्कर—

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।

प्रतिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥१६॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।

प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥१७॥

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।

शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥१८॥

भाष्य—अयं 'निषादो' ऽस्मिँश्लोके न शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यः प्रागुक्तः । किंतिर्हि । यः प्रतिलोमो वक्ष्यमाणः, प्रतिलोमाधिकारात्प्रतिलोमा हि पुल्कसाजातिः प्रसिद्धा ।

एवं शूद्रान्निषाद्यां कुक्कुटकः ॥१६-१८॥

हिन्दी—शूद्र से प्रतिलोमक्रम से (नीचवर्ण के पुरुष से उच्चवर्ण की कन्या में) उत्पन्न 'आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल' संज्ञक पुत्र शूद्र की अपेक्षा हीन तथा मनुष्यों में अधम होते हैं । प्रतिलोम क्रम से वैश्य से (क्रमशः क्षत्रिय तथा ब्राह्मण की कन्याओं में)

उत्पन्न ‘मागध तथा वैदेह’ और क्षत्रिय से (ब्राह्मण की कन्या में) उत्पन्न ‘सूत’ (१०।११) संज्ञक ये तीनों पुत्र भी (पुत्रकार्य की अपेक्षा) नीच माने गये हैं। ‘निषाद’ (१०।८) से शूद्र वर्ण की कन्या में उत्पन्न पुत्र ‘पुक्कस’ और शूद्र से ‘निषाद’ की कन्या में उत्पन्न पुत्र ‘कुक्कुट’ संज्ञक कहा गया है ॥१६-१८॥

क्षत्तु जतिस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ।

वैदेहकेन त्वंबष्ट्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥१९॥

भाष्य—अनुलोमाः स्त्रियः, प्रतिलोमाः पुमांसः, तयोः सम्भवे श्वपाकवेणौ प्रतिलोमजातीयौ ॥१९॥

हिन्दी—क्षत्ता (१०।१२) से ‘उग्र’ (१०।२१) की कन्या में उत्पन्न पुत्र ‘श्वपाक’ संज्ञक कहा जाता है और वैदेह’ (१०।११) से ‘अम्बष्ठ’ (१०।१२) की कन्या में उत्पन्न पुत्र ‘वेण’ संज्ञक कहा गया है ॥१९॥

‘व्रात्य’ संज्ञक पुत्र—

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।

तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥२०॥

भाष्य—नैते प्रतिलोमवर्णसंकराः स्युः । अतोऽस्मिन्विधावुच्यन्ते ।

द्विजातयो यान्सवर्णासु जनयन्ति तेऽवेदव्रता भवन्ति, अब्रह्मचारिणः सावित्री-परिभ्रष्टा उपनयनहीनाश्च तदा ब्रात्या इति तान्निर्दिशेत् ।

अव्रताञ्जनयन्तीति नायं सम्बन्धः । न हि व्रतिनोऽव्रता वा जन्यन्ते, जातानामुप-नयनसंस्कारविधानात् । उक्तब्रात्यलक्षणानुवादः, उत्तरविवक्षया ।

यस्त्वयं पाठोऽव्रतायाञ्जनयन्ति तान्ब्रात्यान्विनिर्दिशेत् तदसत् उक्ताब्रात्य-लक्षणविरोधात् ॥२०॥

हिन्दी—द्विज (१०।४) द्वारा अपने समान वर्णवाली स्त्रियों से उत्पादित यज्ञो-पवीत संस्कार के अयोग्य एवं सावित्री से भ्रष्ट पुत्रों को ‘व्रात्य’ कहा जाता है ॥२०॥

व्रात्य ब्राह्मण से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

ब्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भृञ्जकण्टकः ।

आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पघः शैख एव च ॥२१॥

भाष्य—स्ववर्णास्वपि पूर्वश्लोकादनुवर्त्यते ।

इह स्त्रीजातेरनुपादानादवश्यंभावाच्च तदपेक्षायाः स्मृत्यन्तरे वैश्यायां ब्राह्मणा-ज्जातो भृञ्जकण्टकः स्मर्यते । अतो विशिनष्टि पापात्मेति । स ह्यनुलोमत्वान्न

पापात्मा । अयं चासंस्कृतात्मनो ब्रात्याज्जातोऽनधिकारित्वाद्युक्तं यन्निन्द्यते ।

न च पर्यायशब्दा देशभेदेन प्रसिद्धप्रयोगभेदाः ।

पूर्वेस्तु व्याख्यातं तत्पुत्रपौत्राणामेता आख्याः । भृज्जकण्टको ब्राह्मण्यां जातः ।
आवन्त्यश्चावन्त्याम् । तस्यामेव **वाटधानः ।** वाटधानात्पुष्पशेखरः । एवमुत्तरेष्वपि ॥२१॥

हिन्दी—‘ब्रात्य’ (१०।२०) संज्ञक ब्राह्मण से ब्राह्मणी में ‘भूर्णकण्टक’ संज्ञक पापी पुत्र उत्पन्न होता है । देशभेद से इसी के ‘आवन्त्य; वाटधान, पुष्पध और शैख’ संज्ञाएँ भी हैं ॥२१॥

‘ब्रात्य’ क्षत्रिय से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

झल्लो मल्लश्च राजन्याद्ब्रात्याल्लिच्छिविरेव च ।

नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥२२॥

हिन्दी—‘ब्रात्य’ (१०।२०) संज्ञक क्षत्रिय से क्षत्रिया में उत्पन्न ‘झल्ल, मल्ल’ लिच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड’ संज्ञक पुत्र उत्पन्न होते हैं । (ये सब संज्ञाएँ भी देशभेद से एक ही पुत्र की हैं) ॥२२॥

‘ब्रात्य’ वैश्य से उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

वैश्यात्तु जायते ब्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।

कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥२३॥

भाष्य—एताभिः संज्ञाभिः प्रसिद्धा एवंजातीया वेदितव्याः ॥२२-२३॥

हिन्दी—‘ब्रात्य’ (१०।२०) संज्ञक वैश्य से वैश्या में उत्पन्न पुत्र ‘सुधन्वाचार्य (सुधन्वा तथा आचार्य), कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत’ संज्ञक होता है । (ये सब संज्ञाएँ देशभेद से एक ही पुत्र की हैं) ॥२३॥

वर्णसङ्कर सन्तान के उत्पन्न होने में कारण—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥२४॥

भाष्य—व्यभिचारः परस्त्रीगमनम् । तत्समानजातीयासु परकीयास्वनुलोमप्रति-लोमासूढास्वनूढासु च स्वयम् ।

अवेद्यावेदनमविवाह्याविवाहः । ‘अविवाह्याः’ स्वसृणप्रादयस्तदयोन्यः ।

स्वकर्मणां त्याग उपनयनवेदग्रहणादीनाम् ।

क्षात्रवृत्त्यादयोऽपि पुत्रपौत्रान्वयिन एवमुक्ताः इति केचित् ॥२४॥

हिन्दी—ब्राह्मणादि वर्णों के (परस्पर-परस्त्री के साथ) व्यभिचार से, एक गोत्र में

विवाह करने से और यज्ञोपवीत संस्कार आदि अपने कर्मों को छोड़ने से ‘वर्णसङ्कर’ सन्तानें उत्पन्न होती हैं॥२४॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।

अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥

भाष्य—व्यतिषङ्गः सम्बन्धः । इतरेतरमुनलोमानामनुलोमैः प्रतिलोमैश्चैवं प्रति-लोमानामन्यैः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च ।

वक्ष्यमाणसंज्ञायै वचनम् ॥२५॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि—) जो प्रतिलोम (नीचवर्ण पुरुष से उच्चवर्णा स्त्री में) और अनुलोम (उच्चवर्ण पुरुष से नीचवर्णा स्त्री में) क्रम से उत्पन्न होनेवाली परस्परमिश्रित जो ‘सङ्कीर्ण’ योनियाँ अर्थात् वर्णसङ्कर जातियाँ हैं; उन्हें (मैं) विशेष रूप से कहूँगा ॥२५॥

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।

मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥२६॥

भाष्य—उक्तलक्षणा एते प्रातिलोमा उत्तरार्थं पुनरुपन्यस्यन्ते ॥२६॥

हिन्दी—सूत, वैदेह, नराधम चण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव—॥२६॥

एते षट्सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।

मातृजात्याः प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥२७॥

भाष्य—एते सूतादयः प्रतिलोमाः स्वयोनिषु सदृशान् जनयन्ति, तज्जातीया-नित्यर्थः । तद्यथा । सूतः सूतायां सूतमेव जनयति । एवं चण्डालः चण्डालायाम् ।

ये च मातृजात्याः प्रसूयन्तैऽनुलोमा मातृजातीय ये पूर्वमुक्ता ‘स्ताननन्तरानाम्’ (१०।१४) इति, तेऽपि स्वयोनिषु सदृशानेव जनयन्ति । यथाऽम्बष्ठोऽम्बष्ठायाम् ।

तथा वैश्यायामात्मनो हीना वैश्याजनयन्ति । मातृजातित्वस्योक्तत्वात् ।

अन्ये पुनः पठन्ति ‘मातृजातौ प्रसूयन्ते’ । अर्थश्चायम् । स्वयोनिषु आम्बष्ठादौ मातृजातौ च वैश्यायां सदृशानेव जनयन्ति । यद्यपि शुद्धवैश्येभ्य उत्कृष्टा आम्बष्ठादय-स्तथापि साम्यमुच्यते, वैश्यधर्म उभयेषामधिकारात् ।

अनुलोमग्रहणं मातृजातिपदसामर्थ्याल्लभ्यते सत्यपि प्रकृतिप्रतिलोमप्रत्यवमर्श-कत्वे एत इति ।

प्रवरासु च योनिषु प्रतिलोमा गच्छन्तो जनयन्ति हीनतरमित्येवं ज्ञेयं, वक्ष्य-माणपर्यालोचनया ।

न हि आयोगवादिभिः स्वजातीयासु जनिता अयोगवादिव्यपदेशं लभन्ते । सदृश-
ग्रहणं तु प्रतिलोम्यसामान्येन । हीनतरत्वं चावान्तरविशेषमनपेक्ष्य प्रयुक्तम् । तेनायमत्र
वाक्यार्थः । 'प्रतिलोमेभ्यः समानजातीयासूक्तृष्टजातीयासु च प्रतिलोमा एव भवन्ति' ॥२७॥

हिन्दी—ये ६ प्रतिलोमज (नीच पुरुष से उच्चवर्णा स्त्रियों में उत्पन्न) पुरुष अपनी-
अपनी जातिवाले, अपनी-अपनी माताओं की जाति, अपने से श्रेष्ठ क्षत्रियादि जाति
तथा नीच शूद्रादि जातिवाली स्त्रियों में अपने ही समान जातिवाले हीन वर्णों को उत्पन्न
करते हैं ॥२७॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते ।

आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमः ॥२८॥

भाष्य—अस्य ब्राह्मणस्य त्रयाणां वर्णानामात्मा जायते । द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रिय-
वैश्ययोर्द्विजत्वं जायते । तथा स्वयोनौ । एवं त्रयाणां वर्णानां ब्राह्मणो द्विजान् जनयति ।

एवं बाह्येष्वपि प्रतिलोम्येन वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियब्राह्मणयोरात्मा द्विजत्वं भवति ।
सति च द्विजत्वे उपनयनं कर्तव्यम् । वक्ष्यन्ति च 'एते षट्द्विजधर्माणः' इति । एतावांस्तु
विशेषः । अनुलोमाज्जाता मातृजात्या मातृजातीया । स्तुतिमात्रमिदं वक्ष्यामः ॥२८॥

हिन्दी—जिस प्रकार तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में से दो वर्णों (क्षत्रिया
तथा वैश्या) में इस (ब्राह्मण) की आत्मा (द्विज) सन्तान उत्पन्न होती है और अपनी
सवर्णा (ब्राह्मणी) में द्विज सन्तान उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ब्राह्मण वर्णों (वैश्य तथा
क्षत्रिय से क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में भी) क्रम से द्विज सन्तान होती है ॥२८॥

विमर्श—इस श्लोक का विशद अभिप्राय यह है कि— ब्राह्मण, क्षत्रिया, वैश्या
तथा शूद्रा— इन तीन वर्णों में से प्रथम दो वर्णों (क्षत्रिय तथा वैश्या) में द्विज सन्तान
उत्पन्न करता है और अपनी सवर्णा स्त्री (ब्राह्मणी) में तो द्विजसन्तान उत्पन्न करता ही
है; उसी प्रकार वैश्य क्षत्रियों और क्षत्रिय ब्राह्मणी में प्रतिलोमज क्रम से द्विज सन्तान
उत्पन्न करता है, अर्थात् ये सन्तान 'द्विज' स्त्री (ब्राह्मणी, क्षत्रिय तथा वैश्या) में द्विज
सन्तान उत्पन्न करता है उसी प्रकार वैश्य क्षत्रिया में और क्षत्रिय ब्राह्मणी में द्विज सन्तान
उत्पन्न करता है और ये भी सन्तान 'द्विज' होने से उपनयन संस्कार के योग्य हैं, यही
बात 'एते षट्द्विजधर्माणः' वचन से कहेंगे भी, हाँ, उनमें इतनी विशेषता है कि अनु-
लोमभाव मातृजाति से है; किन्तु 'प्रतिलोमजास्तु धर्महीनाः' इस गौतम मुनि के वचन
से ऐसे द्विजों के संस्कार का निषेध ही किया गया है ।

ते चापि बाह्यान्सुबहूस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।

परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥२९॥

भाष्य—चाप्ययोगवादयः षट् बाह्यान् सुबहून् परस्परदारेषु जनयन्ति । तद्यथाऽऽयोगवः क्षत्तृजायायां क्षत्ताऽऽयोगव्याम् । परस्परमात्मापेक्षया गर्हितान् जनयन्ति । तद्यथाऽऽयोगवः क्षत्तृजायायामात्मनो बाह्यतरं जनयति । ततोऽपि बाह्यतरं चण्डाल्याम् । एवं सर्वत्र ॥२९॥

हिन्दी—वे आयोगव (१०।१२) आदि ६ वर्णसङ्कर जातिवाले पुरुष परस्पर जातिवाली स्त्रियों में बहुत, अनुलोमज सन्तान से भी अधिक दूषित तथा (सत्कार्यो में) निन्दित सन्तानों को उत्पन्न करते हैं ॥२९॥

विमर्श—उदाहरण— यथा— ‘आयोगव’ (१०।१२) जातीय पुरुष ‘क्षता’ (१०।१२) जातिवाली स्त्री में एवं ‘क्षता’ जातिवाला पुरुष भी ‘आयोगव’ जातिवाली स्त्री में अपने से अधिक हीन सन्तान को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार शेष वर्णसङ्कर जाति वालों के विषय में भी जानना चाहिए ।

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।

तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥३०॥

भाष्य—एवं परस्परगमने स्त्रीप्रतिलोमानां पूर्वेण बाह्यतरोत्पत्तिर्वर्णिता । इदानीं चातुर्वर्ण्यं कथ्यते । सूयतिर्जनिनात्यन्तसमानार्थोऽत्र प्रकरणे प्रयुक्तः । प्रसूयते जनयतीत्यर्थः । तदुत्तरश्लोकेन निर्दिश्यते ॥३०॥

हिन्दी—जिस प्रकार शूद्र पुरुष ब्राह्मणी में सर्वथा त्याज्य ‘चण्डाल’ (१०।१२) जातिवाली सन्तान को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चण्डाल भी ब्राह्मणी आदि चारों वर्णवाली स्त्रियों में अपने से भी अधिक हीन सन्तान को उत्पन्न करता है ॥३०॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्मुनः ।

हीनाहीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्यञ्चदशैव तु ॥३१॥

भाष्य—एकैकस्य तु वर्णस्य संकीर्णयोग्यो भवन्ति । कस्यचिदनुलोमाः, कस्यचित्प्रतिलोमाः, कस्यचिदनुलोमप्रतिलोमाः । ब्राह्मणस्यानुलोमाः, शूद्रस्य प्रतिलोमा एव । क्षत्रियवैश्ययोरनुलोमाः प्रतिलोमाः । क्षत्रियस्य द्वावनुलोमौ, एक प्रतिलोमः । वैश्यस्यैकोऽनुलोमो द्वौ प्रतिलोमौ । एवमेते द्वादशानुलोमप्रतिलोमाः । एतेषामेकैकस्य चतुर्षु गच्छतश्चत्वारो भेदा भवन्ति । ते च केचिद्धीनाः केचिदहीनाः । बाह्यतरास्तु सर्व एव । बाह्यतरत्वं मातापितृजातेर्विप्रकर्षः, कर्मभ्यो हीनत्वात् । तदेतदुदाहरणैः स्फुटीक्रियते ।

प्रतिलोमांस्तावद्गृहीत्वा वक्ष्यामः ।

अयोगवो वैश्यायां शूद्राज्जातः शूद्राया वैश्यायां क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां चतुरो जनयति । सोऽयमात्मना सह पंचधाऽऽयोगवः । एवं क्षत्तृचण्डालावपि । एवं शूद्रस्त्रियः

पंचकाः पंचदशधा भवन्ति ।

एवं वैश्यप्रभवौ द्वौ प्रतिलोमौ क्षत्रियायां मागधो ब्राह्मण्यां वैदेहकः । शूद्रायामनुलोमः । तत्र यः शूद्रायां जातः स यदा चातुर्वर्ण्यं जनयति तदैष एव प्रकारः । स यदा शूद्रां गच्छति तदा हीनतरो वर्णो जायते तदपेक्षया । एवं वैश्यां गच्छन्हीनतरं जनयति ।

एवं क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां च केवलशूद्राज्जाता उत्कृष्टा । एवमित्यपेक्षावशाद्धीनां श्राहीनांश्च । एव क्षत्रिये ब्राह्मणे च द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणस्य त्वयं विशेषः । अनुलोमा एव तस्य भवन्ति ।

एवं चतुर्वर्णानां प्रत्येकं पंचदशधा भेदाः षष्टिः सम्पद्यन्तो मुख्याश्चत्वारो वर्णाः सा चतुःषष्टिर्भवति । परस्परसम्पर्कतिषामन्येऽनन्तभेदा भवन्ति । तदुक्तम् । “ते चापि बाह्यान्सुबहून्” इति (१०।२९) ।

प्रतिकूलं शास्त्रव्यतिक्रमेण ।

वर्तमाना मिथुनीभवन्तः ।

हीनाहीनानित्येकं पदम् । अथवा हीनाः सन्तोऽहीनान्प्रसूयन्ते जनयन्तीत्यर्थः ।

वर्णान्यंचदशैवेति ‘नास्ति तु पंचम’ (१०।४) इति पंचमस्य वर्णाभावात्पंचदशसु वर्णत्वमुपचाराद्द्रष्टव्यम् ॥३१॥

हिन्दी—(द्विज प्रतिलोमजों की अपेक्षा हीन होने से) ब्राह्म प्रतिलोमज अर्थात् आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल (१०।१२) ये तीनों चारों वर्णवाली स्त्रियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्या तथा शूद्र) में और एक (आयोगवी में) कुल मिलाकर १५ प्रकार की अपने से बाह्य (सर्वकर्मबहिर्भूत) तथा हीन सन्तानों को उत्पन्न करते हैं ॥३१॥

विमर्श— आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल— ये तीनों ही प्रतिलोमज सन्तान सब श्रौतस्मार्त क्रिया से बहिर्भूत तथा सब वर्णों में हीन हैं । ये इनमें से प्रत्येक चारों वर्ण की स्त्रियों में तथा अपनी जातिवाली स्त्री में अपने से भी बाह्य तथा हीन पाँच-पाँच प्रकार की सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । यथा— आयोगव (वैश्या में शूद्र से उत्पन्न पुरुष) ब्राह्मणी आदि चारों वर्णों में चार प्रकार की तथा आयोगवी में एक कुल पाँच प्रकार की सन्तान को उत्पन्न करता है, जो सर्वकर्मबाह्य तथा उस उत्पादक पुरुष से हीन होती है । इसी प्रकार क्षत्ता तथा चण्डाल भी ५.५ प्रकार की सन्तानों को उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार प्रतिलोम बाह्य तीनों वर्ण १५ प्रकार की सन्तानें उत्पन्न करते हैं तथा वैश्य और क्षत्रिय से क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न ‘मागध, वैदेह और सूत’ १०।११ जातीय पुरुष भी चार वर्णों की स्त्रियों में तथा स्वकीय स्त्री में उपर्युक्त क्रमानुसार ही प्रत्येक बाह्य तथा अपने से हीन पाँच-पाँच प्रकार की सन्तानों को उत्पन्न करते हैं ।

इस प्रकार कुल मिलाकर ३० प्रकार की सन्तानें होती हैं (विस्तृत विवेचन पं० गोपाल-शास्त्री नेने द्वारा संपादित मन्वर्थमुक्तावली की टिप्पणी ३३७ में देखिये ।)

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दास्यजीवनम् ।

सैरन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥३२॥

भाष्य—प्रसाधनं मण्डनम् । उपचारोऽनुवृत्तिः । केशरचनाकुंकुमचन्दनादिना-
ऽनुलेपनविच्छित्तिः पाणिपादविमर्दनं प्राप्तिलोभात् कर्मकारिक्षिप्रकारिकार्याणामव-
सरमित्यादिविधिज्ञ एवमुच्यते ।

अदासं दास्यजीवनम् । वत्सरभृत्या षण्मासभृत्या च कंचन सेवते ।

अथवैतद्विधिज्ञताया सर्वोपस्थापको भवति जीवनाय । मता (?)

वागुरावृत्तिम् । द्वितीयोऽयं वृत्युपायः ‘वागुरा’ अरण्यपशुहिंसनम् । तच्चार्याणां
दैवपितृयर्थं क्षुधार्थं च, न तु व्याधवत्पशून्हत्वा मांसविक्रयेण जीवनम् । राजनियोगाद्बहु-
प्राणिवधो जीविकार्थः ।

सैरन्ध्रनामानं सूते उत्पादयति । दस्युर्नाम वक्ष्यमाणः ।

अयोगवे जातिविशेषे । सामर्थ्यात्स्त्रीत्वलाभः ॥३२॥

हिन्दी—‘दस्यु’ (१०।४५) जातिवाला पुरुष ‘आयोगव’ (१०।२२) जातिवाली
स्त्री में केश सँवारने में चतुर, (जूठा नहीं खाने से दास-भिन्न, पाद-संवाहन— पैर-
दवाना-आदि सेवा-कार्य करने से) दास की जीविकावाला (देवकार्य— यज्ञ और
पितृकार्य— श्राद्ध के लिए) मृगवधादि कार्य से जीविका चलानेवाला ‘सैरन्ध्र’ जाति का
पुत्र उत्पन्न करता है ॥३२॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं सम्प्रसूयते ।

नृप्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥३३॥

भाष्य—मैत्रेयकं नाम्ना वर्णमायोगव्याम् । सम्प्रसूयते जनयति । वैदेहनामा
ब्राह्मण्यां वैश्याज्जातो यः ।

पाठान्तरं मैरेयकमिति ।

माधूकम् । उपमापदमेतत् मधूककुसुतुल्यम्, मधुरभाषित्वात् । अथवा मधुकाय-
तीति ‘अन्येष्वपि दृश्यते’ (पा० ३।२।१०१) इति डः । अन्येषामपीति दीर्घः ।
स्वार्थिकेन चादिवृद्धिस्तस्य वृत्तिः ।

नृन् मनुष्यान् प्रशंसन्ति अजस्रं सर्वदा बन्दीति यः कथ्यते ।

अरुणोदये प्रबोधकाले घण्टा ताडयत्याहन्ति, राज्ञामीश्वराणां चान्येषां प्रबोधाय ।

आयोगव्यामेवानुजनयति, प्रकृतत्वात् ॥३३॥

हिन्दी—‘वैदेह’ (१०।११ जातिवाला पुरुष ‘आयोगव’) (१०।१२) जातिवाली स्त्री में ‘मैत्रेयक’ संज्ञक जातिवाले मधुरभाषी पुत्र को उत्पन्न करता है, जो प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजा आदि बड़े लोगों की स्तुति करता हुआ जीविका करता है ॥३३॥

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।

कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥३४॥

भाष्य—प्रतिलोमप्रकरणात् न यः शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषाद पूर्वमुक्तः स इह गृह्यते, अपि तु दस्युवत्प्रतिलोम एव ।

मार्गवं नाम प्रतिलोमं सूते, आयोगव्यामेव ।

यस्येमे अपरे नामनी ‘दासः’ **कैवर्त** इति ।

आर्यावर्तः प्रसिद्धः ।

तस्य वृत्तिर्नौकर्मणा नौवाहनेन जीवति ॥३४॥

येऽनन्तर उपदिष्टास्त्रयो मार्गवपर्यन्तास्तेषां मातृजातिर्नोक्ता, तत्प्रतिपादनार्थोऽयं श्लोकः ।

हिन्दी—‘निषाद’ (१०।८) जातिवाला पुरुष (‘अयोगव’) (१०।१२) जातिवाली स्त्री में नाव से जीविका करनेवाले ‘मार्गव’ या ‘दास’ संज्ञक पुत्र को उत्पन्न करता है, जिसे आर्यावर्त के निवासी लोग, कैवर्त (केवट = मल्लाह) कहते हैं ।

मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु गर्हितात्राशनासु च ।

भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥३५॥

भाष्य—आयोगवीषु स्त्रीष्वेते जायन्ते ।

तासां च विशेषणम् । मृतवस्त्रभृत्सु शक्वासांसि परिदधतीष्वित्यर्थः । **अनार्या** अस्पृश्याः । **गर्हितमुच्छिष्टं** मांसादि चान्नमश्नन्ति ॥३५॥

हिन्दी—कफन (मृतक का वस्त्र) पहननेवाली क्रूर और (जूठा आदि) निन्दित अन्न खानेवाली ‘आयोगव’ (२।१२) जातिवाली स्त्रियों में हीन जातीय ये तीनों (सैरिन्ध्र, मैत्रेयक और मार्गव) पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं ॥३५॥

कारावरो निषादात्तु चर्मकारं प्रसूयते ।

वैदेहिकादन्धमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥३६॥

भाष्य—उत्तरार्धे वैदेह्यामेव जायन्त इत्येवकारकरणाल्लिङ्गादिहापि वैदेह्यां निषादात्कारावरो नाम जायत इति सम्बन्धप्रतीतिः ।

वैदेहिकाद्वावन्ध्रमेदौ । कस्यां स्त्रियाम् । कारावरीनिषाद्योः । तयोस्त्र सन्निधानात् ।
वैदेह्यां च वैदेह्याद्भित्रवर्णसम्भवादेवं व्याख्यायेते । स्त्रीभेदेन चैकस्माद्वर्णादिते द्वे जाती ।

बहिर्ग्रामं प्रतिश्रयो निवासो ययोः ॥३६॥

हिन्दी—‘निषाद’ (१०।८) जातिवाला (पुरुष ‘वैदेह’ (१०।१७) जातिवाली स्त्री में) ‘कारावर’ संज्ञक चर्मकार (चमार) जातिवाले पुत्र को उत्पन्न करता है और ‘वैदेहक’ (१०।१७) जातिवाला पुरुष (‘निषाद’ १०।८) तथा ‘कारावर’ (१०।३६) जातिवाली स्त्रियों में क्रमशः ‘अन्ध्र’ और ‘मेद’ संज्ञक जातिवाले पुत्रों को उत्पन्न करता है, ये दोनों ग्राम के बाहर निवास करते हैं ॥३६॥

चाण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।

आहिण्डको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥३७॥

भाष्य—चाण्डालात् वैदेह्यां पाण्डुसोपाको नाम वर्णो जायते ।

तस्य वृत्तिस्त्वक्सारव्यवहारवान् । ‘त्वक्सारो’ वेणुः तद्व्यवहारेण वंशक्रय-
विक्रयादिना कटादिकरणेन वा जीवति ।

निषादात्तस्यामेवाहिण्डकस्तस्य वृत्तिरेषैव, अन्येष्या वा ॥३७॥

हिन्दी—‘वैदेह’ (१०।१७) जातिवाली स्त्री में ‘चण्डाल’ (१०।१२) जातिवाला पुरुष बांस के व्यवहार से जीविका करनेवाले ‘पाण्डुसोपाक’ संज्ञक जातिवाले पुत्र को उत्पन्न करता है ॥३७॥

विमर्श—इस ‘आहिण्डक’ की जीविका बन्धन-स्थान (जेल, हवालात आदि) की रक्षा करना होता है ऐसा उशनाका^१ कथन है । कारावर (१०।३६) तथा इस ‘आहिण्यक’ के माता पिताओं के समान होने पर भी वृत्तिभेद से व्यपदेश (जातिभेद) समझना चाहिये ।

चाण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।

पुल्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥३८॥

भाष्य—व्यसनं दुःखं तस्य मूलं मारणं तद्वृत्तिर्वध्यमारणं राजादेशादनाथशव-
वहनं तद्वस्त्रादिग्रहणं प्रेतपिण्डभोजनमित्येवमादिवृत्तिः ।

पुल्कस्यां चाण्डालेन जायते ।

अथवा मूलादिवृक्षादीनां तद्व्यसनं विभागकरणं सा वृत्तिर्व्यवच्छिन्नेषु वृक्षेषु
यदनुवृत्तं मूलं तदुद्धृत्य विक्रयादिना जीवति ॥३८॥

१. ‘अस्य च बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डकानाम्’ इत्यौशन से वृत्तिरुक्ता । समानपितृ-
कत्वेऽपि कारावराहिण्डकयोर्वृत्तिभेदश्रवणाद्व्यपदेशभेदः । इति (म०मु०)

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।

श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥३९॥

भाष्य—अन्त्यावसायिनं चण्डालमेव वदन्ति ।

अथवा निषाद्यां चण्डालादुत्पन्नस्यान्त्यावसायीति नामधेयम् ।

श्मशानगोचरं शवदहनादिवृत्तिः । अतश्चाण्डालदपि कुत्सिततरो विज्ञेयः तदेत-
दानन्त्यात् संकराणां प्रदर्शनीमात्रं कृतम् ॥३९॥

हिन्दी—‘चण्डाल’ (१०।१२) जातिवाले पुरुष से ‘पुक्कस’ (१०।१८) जातिवाली स्त्री में ‘सोपाक’ संज्ञक पुत्र उत्पन्न होता है, सज्जनों से निन्दित यह पापी ‘जल्लाद’ (अपराधियों को राजाज्ञा से फांसी देनेवाले) का काम करके जीविका करता है ।

सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।

प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥४०॥

भाष्य—यान्येतान्यनन्तरमुद्दिष्टानि त्वक्सारव्यवहारादीनि कर्माणि तैः अप्रसिद्धाः सोपाकादिनामतया तज्जातीया वेदितव्याः ।

पित्रा मात्रा च विभागेन दर्शिताः ।

प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा तज्जातीया वेदितव्याः । आयोगव्यां मात्रा विभागो निषादाद्वैदेहिकादान्ध्रभेदाविति पित्रा दर्शितो विभागः ॥४०॥

हिन्दी—‘वर्णसङ्कर’ के विषय में इन जातियों को इसकी यह माता है और यह पिता है यथा इसकी अमुक जाति है । यह माता-पिता के कहने से दिखाया गया है और छिपकर या प्रकट रूप से उत्पन्न इनको कर्मों (जीविकाओं) से जानना चाहिए ॥४०॥

यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य पुत्र—

स्वजातिजानन्तरजाः षट्सुता द्विजधर्मिणः ।

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥४१॥

भाष्य—स्वजातीयास्त्रैवर्णिकेभ्यः समानजातीयासु जातास्ते द्विजधर्माण इत्येत-
त्सिद्धमेवानूद्यते । अनन्तरजानां तुल्यताभिधानं तद्धर्मप्राप्त्यर्थम् । अनन्तरजा अनु-
लोमाः । ब्राह्मणात् क्षत्रियवैश्ययोः क्षत्रियाद्वैश्यायां जाताः तेऽपि द्विजधर्माणं उपनेया
इत्यर्थः । उपनीताश्च द्विजातिधर्मैः सर्वैरधिक्रियन्ते ।

“ननु च ‘ताननन्तरनाम्न’ इति मातृजातीयत्वमेषामुक्तमेव । ततश्च तज्जात्या
समेषु धर्मेषु सिद्ध एवाधिकारः” ।

सत्यम् । अनन्तरनाम्न इति नामग्रहणात्संज्ञैवैषां न तु जात्यतिदेश इति कस्य-

चिदाशङ्का स्यादतः स्पष्टार्थ ‘षट्सुता द्विजधर्मिण’ इति वचनारम्भः ।

ये पुनरपध्वंसजाः संकरजास्ते शूद्राणां सधर्माणः समानाचारास्तद्धर्मैरधिक्रियन्त इत्यर्थः ।

प्रतिलोमानां तु विशेषा वक्ष्यते ।

अनन्तरग्रहणमनुलोमोपलक्षणार्थमेव । तेन व्यवहितोऽपि ब्राह्मणाद्वैश्यायां जातो गृह्यते ।

षट्संख्यातिरिक्तत्वात् शूद्रायां पारशवः ॥४१॥

हिन्दी—द्विजों (१०।४) से (विधिवत् विवाहित एवं) सजातीया (अपने समान जातिवाली) तथा अनन्तर (अपने बाद की जातिवाली) स्त्रियों में उत्पन्न ६ पुत्र (ब्राह्मण से ब्राह्मणी में, क्षत्रिय से क्षत्रिया में और वैश्य से वैश्या में उत्पन्न तीन पुत्र तथा ब्राह्मण से क्षत्रिया तथा वैश्या में, क्षत्रिय से वैश्या में तीन प्रकार ३+२+१ = ६ पुत्र) द्विजधर्मा (द्विज के धर्मवाले यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य) हैं तथा प्रतिलोमज (उच्चवर्णवाली स्त्रियों में नीच वर्णवाले) पुरुष से उत्पन्न ‘सूत, मागध, वैदेह’ (१०।११) आदि जाति-वाले जो पुत्र हैं; वे शूद्रों के समान धर्मवाले (यज्ञोपवीत संस्कार के आयोग्य) कहे गये हैं ॥४॥

तप तथा वीर्य के प्रभाव से जातिश्रेष्ठता—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥४२॥

भाष्य—तएतेऽनन्तरजाः तपः सामर्थ्येन बीजसामर्थ्येन युगे युगे जन्मनि जन्मनि उत्कर्षमपकर्षं च गच्छन्ति। तद्वक्ष्यामः ‘शूद्रायां ब्राह्मणाज्जात’ (१०।६४) इत्यत्र ॥४२॥

यदुक्तं ‘स्वकर्मणां त्यागेनेति’ तस्यैवायं प्रपञ्चः ।

हिन्दी—वे (१०।४१ में वर्णित सजातीय वर्णों से उत्पन्न तीन तथा अनन्तर जातीय वर्णों से अनुलोम क्रम से उत्पन्न तीन-कुल ६ प्रकार के) पुत्र तपस्या तथा वीर्य के प्रभावों से (तपस्या के प्रभाव से विश्वामित्र के समान तथा वीर्य के प्रभाव से ऋष्यशृङ्ग के समान) मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा नीच जाति को प्राप्त करते हैं ॥४२॥

क्रियालोप से जातिहीनता—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥४३॥

भाष्य—क्रियालोपो यत्र संस्काराणां सम्बध्यते, यथोपनयनादिषु; यत्र वा कर्तृतया, यथा नित्याग्निहोत्रसंध्योपासनादिषु । तासां **लोप** उभयासामप्यननुष्ठानम् । अतश्च न केवलमुपनयनसंस्काराभावेन जातिभ्रंशः, अपि तूपनीतानां विहितक्रियात्यागे-नापि । तथा चाह **शनकैरिति** । पुत्रपौत्रादिसंततेः प्रभृतिशूद्रत्वं, न तु जातस्यैव । उप-नयनाभावे तु तस्यैव व्यपदेशान्तरं प्रवर्तते । यद्यपि सा जातिर्न निवर्तते तत्पुत्रपौत्राणां भृज्जकण्टकादिजात्यन्तरमेव व्यपदेशहेतुकमिति ब्राह्मणातिक्रमेण ब्राह्मणविधिविहिता-तिक्रमेणेत्यर्थः । अथवा शास्त्रार्थसंशये प्रायश्चित्ते वा परिषद्गनाभावः ॥४३॥

हिन्दी—इन क्षत्रिय जातियों ने धीरे-धीरे क्रिया (यज्ञोपवीत संस्कार तथा सन्ध्या-वन्दनादि क्रिया) के लोप होने (छूट जाने) तथा ब्राह्मणों के दर्शन (के बिना यज्ञ, अध्ययन तथा प्रायश्चितादि) के अभाव होने से लोक में शूद्रत्व को प्राप्त कर लिया है ॥४३॥

क्रियालोप से शूद्रत्वप्राप्त जातियाँ—

पुण्ड्रकाश्चोडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पादापह्नुवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥

भाष्य—पुण्ड्रकादयः शब्दाः परमार्थतो जनपदशब्दाः, इह तु 'क्षत्रियेषु मुख्या-स्तत्सम्बन्धत्वाज्जनपदेषु वर्तन्त' इत्येनदर्शनमाश्रितम् । यथालुग्विधौ 'तस्य निवासो', 'जनपदे लुगिति' न तु यथा 'लुग्योगात्प्रख्यानादिति' ।

नैतेषु देशेषु बाहुल्येन चातुर्वर्ण्यमस्तीत्येतदालम्बनं वृषलत्ववचनम् ।

यदि वा पुण्ड्रादयः शब्दाः कथञ्चिद्देशसम्बन्धेन विना दृश्यन्ते, तदैतज्जातीया वेदितव्याः । 'महाभारतादौ क्षत्रिया वर्ण्यन्ते तथाऽऽद्यत्वेऽप्येते क्षत्रिया एवेति' कस्य-चित् भ्रान्तिः स्यादत एवमुक्त 'मेते वृषला' इति ।

ये चैते दिगन्तवासिनः किरातवेनदरदादयस्तेषामप्राप्तरूपं वेदेनानूद्यते 'न जन-मियात्रान्तमियादिति' (बृह० १।३।१०) ॥४४॥

हिन्दी—पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद और शक (— ये भूतपूर्व क्षत्रिय जातियाँ क्रियालोपादि के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गयी हैं) ॥४४॥

दस्यु जातियाँ—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।

स्नेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

भाष्य—असदविद्यमानार्थासाधुशब्दान्वया वाक् म्लेच्छोच्यते । यथा शबराणां किरातानामन्येषां वान्त्यानाम् ।

आर्यवाच आर्यावर्तनिवासिनः । ते चातुर्वर्ण्यादन्यजातीयत्वेन प्रसिद्धास्तदा दस्यव उच्यन्ते । एतदुक्तं भवति । न देशनिवासेन म्लेच्छवाक् संकरत्वे कारणमपि तु यथोक्त-बर्बरादिशब्दप्रसिद्धिर्मुखादिजानां बहिष्क्रियते ब्राह्मणादिशब्दैरप्रसिद्धैरित्यर्थः । ते सर्वे दस्यव उच्यन्ते ॥४५॥

हिन्दी—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के (क्रियालोपादि होने से) म्लेच्छ-भाषाभाषी या आर्य-भाषाभाषी जो बाह्य जातियाँ हैं, वे सभी ‘दस्यु’ कहलाती हैं ॥४५॥

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ।

ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्धि जानामेव कर्मभिः ॥४६॥

भाष्य—अपसदा अनुलोमाः प्रतिलोमाः । अपध्वंसजा गोबलीवर्दवन्देदः । द्विजानामुपयोगिभिः प्रेष्यकर्मभिर्वर्तयेयुः आत्मानम् ।

निन्दितैः प्रेष्यकार्यत्वान्निन्दितानि ॥४६॥

तथा च वक्ष्यते

हिन्दी—द्विजों में (पिता के उच्चवर्ण होने से) जो ‘अपसद’ (१०।१०) अनुलोमज तथा (पिता के नीचवर्ण होने से) जो ‘अपध्वंसज’ प्रतिलोमज पुत्र हैं; उन सभी को द्विजों के ही (उपकारक) निन्दित (वक्ष्यमाण १०।४६-५६) कर्म अपनी वृत्ति के लिए करने चाहिये ॥४६॥

वर्णसङ्करो के कर्म—

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् ।

वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥४७॥

भाष्य—स्त्रीकार्यमन्तःपुररक्षाकारित्वम् । वणिक्पथः स्थलपथवारिपथादिः प्रसिद्धः ॥४७॥

हिन्दी—‘सूतों’ (१०।११) का कोचवानी (रथ आदि हांकना) ‘अम्बष्ठों’ (१०।८) का चिकित्सा ‘वैदेहक’ (१०।११) का अन्तःपुर-रक्षा, ‘मागधों’ (१०।११) का स्थल मार्ग से व्यापार करना (कर्म है) ॥४७॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।

मेदान्मृचुश्चुमद्दूनामारण्यपशुर्हंसनम् ॥४८॥

भाष्य—त्वष्टिर्दारुतक्षणं तक्षकर्म ॥४८॥

हिन्दी—‘निषादों (१०।८) का मत्स्यकार्य (मछली मारना आदि), ‘आयोगव (१०।१२) का बड़ईगिरी, ‘भेद तथा आन्ध्र’ (१०।३६) एवं ‘चुञ्चु’ तथा ‘मद्हु’ जाति वालों का जङ्गली पशुओं को मारना— (कर्म है) ॥४८॥

विमर्श—ब्राह्मण से ‘वैदेहक’ (१०।१०) की स्त्री में उत्पन्न ‘चुञ्चु’ तथा ‘बन्दी’ (क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न) स्त्री में उत्पादितपुत्र ‘मद्हु’ कहलाता है ऐसा बोधायनोक्त मत को यहाँ ग्रहण करना चाहिये ।

क्षत्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौको वधबन्धनम् ।

धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥४९॥

भाष्य—बिलौकसोऽहिनकुलगर्गरादयः । तेषां वधबन्धनं क्षत्रादीनां जीविका । चर्मकार्यं कवचादिसीवनमुपानदग्रथनमित्येवमादि । भाण्डवादनं मुरजार्धमुरजादीनाम् ॥४९॥

हिन्दी—‘क्षता (१०।१२), उग्र (१०।९) और पुक्कसों’ (१०।१८) का विल में रहनेवाले (गोह, खरगोश आदि) जीवों को मारना या फँसाना, ‘धिग्वणों’ बाजाओं को बजाना ये कर्म हैं ॥४९॥

इन वर्णसङ्करों का निवास-स्थान—

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥५०॥

भाष्य—बहिर्ग्रामनिवासिनः पर्वतलक्षणप्रदेशे निवसेयुः । विज्ञाता जातिचिह्नं विदुषाम् । यद्यस्य कर्म विहितं स तेनैव जीवेत् । उत्कृष्टं कर्मसंकरं कर्तुं न लभते ॥५०॥

हिन्दी—इन वर्णसङ्कर जातियों को चैत्यद्रुम (ग्राम के पास का प्रसिद्ध वृक्ष), श्मशान, पड़ाव और उपवनों में अपनी-अपनी जीविका (१०।४७-४९) के कर्म करते हुए निवास करना चाहिये ॥५०॥

चण्डाल तथा श्वपाक के कर्मादि—

चण्डालश्चपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।

अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥५१॥

भाष्य—प्रतिश्रयो निवासस्तेषां ग्रामान्निष्क्रान्तः स्यात् । अपपात्राश्चिरवसानीया-

१. ‘चुञ्चुर्मद्गुश्च’ वैदेहक-वन्दिस्त्रियोर्ब्राह्मणेन जातौ बोधायनोक्तौ बोद्धव्यौ । वन्दिस्त्री च क्षत्रियेन शूद्रायां जाता सोऽग्रेव ग्राह्या ।’ (म०मु०)

स्तैर्येषु पात्रेषु भुक्तं तानि न संस्कार्याणि, त्यक्तव्यानि । सौवर्णराजताभ्यामन्यानि । तयोः शुद्धिविशेषा उक्ताः ।

अथवाऽवपात्राः । तदीयेषु च सक्तेषु पात्रेषु सक्तुभक्तादि न दातव्यम् । भूमिष्ठे पात्रेऽन्यहस्तस्थे वा दत्त्वा तत्पात्रं भूमौ स्थितं ते गृहीयुः ।

भिन्नं वा पात्रमवपात्रं यथा वक्ष्यति “भिन्नभाण्डे च भोजनम्” इत्यादि ।

धनमेषां श्वर्गदभम् । गवाश्वादि सुवर्णरजतादि न धनत्वेन गृहीयुः ॥५१॥

हिन्दी—‘चण्डाल’ (१०।१२) तथा ‘श्वपच’ (१०।१९) गाँव के बाहर निवास करें, अपपात्र हों, उनका धन कुत्ते तथा गधे हों (बैल, गाय, घोड़ा आदि नहीं) ॥५१॥

वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।

काष्णायिसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥

भाष्य—सर्वकालं परिव्रज्या, नैकत्रस्थाने वसेयुः ॥५२॥

हिन्दी—कफन इनका वस्त्र हो, फूटे बर्तनों में ये भोजन करें, इनके भूषण लोहे के बने हों और ये सर्वदा भ्रमण करते हुए रहें (एक स्थान पर बहुत दिनों तक निवास नहीं करें) ॥५२॥

चण्डाल तथा श्वपचों के साथ भाषणादि का निषेध—

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।

व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥

भाष्य—समयः ‘संकेत’ ‘एककार्यता’ ‘संगति’ रित्यनर्थान्तरम् । एकत्र स्थाना-सनविहारस्तैः सह न कर्तव्या इत्यर्थः । विवाहो दारग्रहणादिः । सोऽप्येवमेव ॥५३॥

हिन्दी—धर्माचरण करनेवाला मनुष्य इन (चण्डाल तथा श्वपाक कों-१०।१२, १९) के साथ बातचीत न करें, उन्हें मत देखें और उनका व्यवहार (लेन-देन तथा विवाह आदि) अपनी जाति वालों के साथ ही होवे ॥५३॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्विन्नभाजने ।

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥५४॥

भाष्य—उत्साक्षादेषां न दातव्यम् । प्रेष्यैः कैश्चित्पूर्वोक्तेन प्रकारेण दापयितव्यः ।

रात्रौ स्पर्शाशङ्कयाऽन्तर्ग्रामनगरचर्याप्रतिषेधः ॥५४॥

हिन्दी—इन (चण्डाल तथा श्वपाकों-१०।१२, १९) का भोजन पराधीन (दूसरे के भरोसे) होवे, (नौकरों के द्वारा) टूटे-फूटे बर्तनों में इनके लिए अन्न दिलवा दें; रात के समय गाँवों या नगरों में ये नहीं घूमें ॥५४॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।

अबान्धवं शवं चैव निहरियुरिति स्थितिः ॥५५॥

भाष्य—दिवा विचरन्ति कार्यार्थं क्रयविक्रयस्वकार्यसिद्ध्यर्थम् । राजकार्याय वा चरेयुर्नगरोत्सवप्रेक्षादिनिमित्तम् । तत्रापि च चिह्निता राजशासनैरुपलक्षिता राजादिष्टैर्वज्रादिचिह्नैः, वध्यवधशासनैर्वा परशुकुठारादिभिः स्कन्धारोपितैः ॥५५॥

तथा चाह—

हिन्दी—राजाज्ञा से चिह्नविशेष धारण किये हुए ये (चण्डाल तथा श्वपाक-१०। १२, १९) काम के लिए दिन में घूमें और बन्धु-बान्धवों से रहित (लावारिस) मुर्दे को गाँव से बाहर (श्मशानों में) ले जावें, यह (शास्त्रोक्त) मर्यादा है ॥५५॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।

वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥५६॥

हिन्दी—(ये) वध्य (प्राणदण्ड की आज्ञा पाये हुए) मनुष्यों को शास्त्रानुसार राजाज्ञा से मारें अर्थात् जल्लाद का काम करें और उनके कपड़े शय्या तथा आभूषणादि को ग्रहण करें ॥५६॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥५७॥

भाष्य—वर्णादपेतं चातुर्वर्ण्याद्भ्रष्टम् ।

अविज्ञातं सत्यां शङ्कायां जारजातम् ।

वक्ष्यमाणैः कर्मभिः स्वभावातिशयैश्च निश्चिनुयात् ।

हीनकर्मरतिः क्रूरकर्मा च सत्यां शङ्कायां कलुषयोनिजो जारजातो वेदितव्यः ॥५७॥

हिन्दी—वर्णभ्रष्ट (हीन वर्णवाले), अप्रसिद्ध, नीच जाति से उत्पन्न देखने में सज्जन (उच्च जातिवाले किन्तु वास्तविक में) नीच जातिवाले मनुष्य को उसके कर्मों (वर्तावों) से जानना चाहिये ॥५७॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।

पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥५८॥

भाष्य—अनार्यो द्वेषमत्सरप्रधानः । निष्ठुरः स्वार्थपरः । क्रूरो लोभहिंसापरः । निष्क्रियात्मा विहितक्रियावर्जितः ।

एतैः स्वभावैः कलुषयोनिता व्यज्यते ॥५८॥

हिन्दी—इस लोक में अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञ-सन्ध्यावन्दनादि

कार्य—) हीनता, ये सब नीच जाति में उत्पन्न पुरुष को मालूम करा देती है अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य को नीच जातिवाला जानना चाहिये ॥५८॥

स्वोत्पादक गुण का त्यागाभाव—

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।

न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥५९॥

भाष्य—दुर्योनिः संकीर्णजन्मा । प्रकृतिं स्वामात्मीयं कारणं न नियमेन निगृह्णाति ॥५९॥

हिन्दी—(क्योंकि) ये नीच जाति में उत्पन्न मनुष्य पिता के, माता के या दोनों के शील को प्राप्त करते हैं, वे अपने स्वभाव को किसी प्रकार नहीं छिपा सकते ॥५९॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः ।

संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहुः ॥६०॥

भाष्य—तस्य शीलं येन जातो, न तु यस्य क्षेत्रम् । स लोके प्रसिद्धः ॥६०॥

हिन्दी—उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य भी गुप्त रूप से यदि वर्णसङ्कर (दोगला) होता है तो थोड़ा या बहुत अपने उत्पादक (पिता) के स्वभाव को प्राप्त करता ही है ॥६०॥

वर्णसङ्कर की निन्दा—

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।

राष्ट्रीयैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥६१॥

भाष्य—तस्माद्वर्णसंकरो राज्ञा परिवर्जनीयः ।

राष्ट्रिया जानपदाः ।

राष्ट्रममात्यादयः ॥६१॥

हिन्दी—जिस राज्य में वर्णों को दूषित करनेवाले ये वर्णसङ्कर (दोगले) उत्पन्न होते हैं, वह राज्य प्रजाओं के सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, (अतएव राजा को इनकी उत्पत्ति रोकनी चाहिए) ॥६१॥

ब्राह्मणादि के लिए वर्णसङ्करों का प्राण-त्याग श्रेष्ठ—

ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।

स्त्रीबालाभ्यवपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२॥

भाष्य—अनुपस्कृतो धनमगृहीत्वा ।

अभ्यवपत्तिरनुग्रहः ।

बाह्यानां प्रतिलोमानाम् ।

सिद्धिकारणं उत्कृष्टजातौ जन्मसिद्धेः सिद्धिहेतुत्वादेवमुच्यते ।

तादृशं जन्म लभन्ते यथाधिकृता भवन्ति ।

स्वर्गादिप्राप्तिर्वा सिद्धिः ॥६२॥

हिन्दी—ब्राह्मण, गौ, स्त्री, या बालक इनमें से किसी के लिए सद्भावना से बाह्य (वर्णसङ्कर) जातिवाले मनुष्य का प्राणत्याग करना सिद्धि (स्वर्गादि प्राप्ति) का कारण होता है ॥६२॥

[श्राद्धकर्मातिथेयं च दानमस्तेयमार्जवम् ।

प्रजनं स्वेषु दारेषु तथा चैवानसूयता ॥१॥]

[हिन्दी—श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, दान, अस्तेय, सरलता, अपनी स्त्रियों में सन्तानोत्पादन और अनसूया अर्थात् दूसरे के शुभ द्वेष का न होना ॥१॥]

वर्णचतुष्टय के सामान्य धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥

भाष्य—शौचं मृज्जलादिबाह्यगतम् ।

सामासिकं समस्तस्य सर्वमनुष्यभेदजातेरुक्तम्, न ब्राह्मणादिजातिविभागेन । व्याख्यातमन्यत् ।

“यद्यहिंसाप्रतिलोमानां धर्मः स्यात्कथं तर्हि तदुक्तम्— ‘मत्स्यघातो निषादानां’, ‘बिलौको वधबन्धम्’, क्षत्रादीनामरण्यपशुहिंसनमेव च” ॥

केचिदाहुः । ये जीविकाहेतुतया वध्यत्वेनोक्तस्ततोऽन्यत्राहिंसा ।

अन्ये मन्यन्ते । ‘अहिंसा’ तेषामभ्युदयसाधनहेतुत्वेन धर्मो, न तु प्रतिषेधो हिंसायाः संमत इति । यथा “न मांसभक्षणे दोषः” इतिवत् ।

“यद्यहिंसाधर्मस्तेषां कथं तर्हितैर्जीवितव्यम् ।” “यथा कुतश्चिदवगमात् तेषामनुपपन्ना हिंसानिवृत्तिर्धर्मायेति” चेत्तदा को जीवनोपायः । अन्याश्च वृतयः प्रतिवर्णनियताः । अध्यापनादयस्तावदत्यन्तासम्भवादप्राप्ताः । कृष्यादयोऽपि वैश्यनियताः । शूद्रस्य सेवाऽन्या वा साधारणी वृत्तिरस्ति” ।

यथा “वर्तेरन्विद्याशिल्पं” (१०।११६) इत्यत्र दर्शयिष्यामः । यदपीदमुच्यते “ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः” इति तत्र किमस्ति निन्दिततरमन्यदतो हिंसायाः ।

न च मत्स्यघातो द्विजानामुपयुज्यते । श्राद्धेऽतिथिभोजनादौ च कदाचित्क उपयोगे, न सार्वकालिको जीविकाभावः ।

तस्मान्न घातादि स्वतंत्रम् ॥६३॥

हिन्दी—अहिंसा (दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (बिना पूछे किसी की कोई वस्तु नहीं लेना), शुद्धता (आन्तरिक अर्थात् भीतरी मानसिक तथा बाह्य अर्थात् शरीर आदि की स्वच्छता), इन्द्रियों को (उनके विषयों से) रोकना ।

विमर्श—यह संक्षेप में चारों वर्णों (तथा प्रकरण-सामर्थ्य से सङ्कीर्ण जातियों) का धर्म मनु ने कहा है ॥६३॥

सप्तम जन्म में नीच सन्तान को ब्राह्मणत्वादि की प्राप्ति—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्यजायते ।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद्युगात् ॥६४॥

भाष्य—‘गर्भे गृह्णाति’, ‘गर्भश्च श्रवणाज्जात’ इति पुल्लिङ्गनिर्देशेऽपत्यर्थयोगता विज्ञेया । अत इदमुक्तं भवति । **शूद्रायां ब्राह्मणात्** या जाता कुमारी, **सा चेच्छ्रेयसा** जात्युत्कर्षवता ब्राह्मणेनैव, **प्रजायते** विवाहादिसंस्कृताऽपत्योत्पत्तिहेतुसम्बन्धं प्राप्नोति । तस्यामपि यदि कुमारी जायते सा ब्राह्मणेनैव विवाह्यते । एवमनया परस्परया सप्तमे पुरुषे प्राप्ते ब्राह्मण्यं यस्तत्र जायते तस्य भवति ।

श्रेयसेति यद्यप्युत्कृष्टजातीयमात्रे वर्तते, तथापीह ब्राह्मणपदसन्निधानादुत्तरत्र च “शूद्रां ब्राह्मणतामेति” इति वचनात् ब्राह्मण्यप्राप्तिः शूद्रवर्णस्य विज्ञेया ।

अनयैव कल्पनया पञ्चमे वैश्यायां जातस्य वर्णस्य; तृतीये क्षत्रियायाम् । अत्रापि स्त्रीत उत्कर्षः । एवं वैश्यस्य तृतीये क्षत्रियत्वम् । शूद्रायां जातायाः कुमार्या वैश्यान्तरेण संयोगे तृतीये जन्मनि वैश्यत्वम् । क्षत्रियजातायाः शूद्रायाः पञ्चमे **युगे** इति ।

‘युग’शब्दो जन्मवचनः ।

अश्रेयान्निकृष्टजातीयः श्रेयसीमुत्कृष्टाजातिं गच्छति प्राप्नोति ।

आङ् अभिविधौ व्यापकार्थः ॥६४॥

हिन्दी—ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न (‘पारशव’— १०।८) जाति की कन्या ब्राह्मण से विवाह कर कन्या उत्पन्न करे (इस प्रकार) वह सप्तम जन्म (पीढ़ी) में श्रेष्ठ जाति को प्राप्त करती है ॥६४॥

विमर्श— इस श्लोक का विशद आशय यह है कि— ‘पारशव’ (१०।८) जाति की कन्या ब्राह्मण से विवाहकर कन्या उत्पन्न करे; वह उत्पन्न हुई कन्या पुनः, ब्राह्मण मनु .॥ 35

से विवाह कर पुनः कन्या ही उत्पन्न करे; इसी क्रम से छः जन्म तक उत्पन्न होती हुई कन्याएँ ब्राह्मण से विवाह करती हुई कन्याओं को उत्पन्न करती रहे तो वह कन्या सप्तम जन्म (सातवीं पीढ़ी) में अपने ब्राह्मण से जिस सन्तान (पुत्र या पुत्री) को उत्पन्न करती है; वह सन्तान नीच क्षेत्रज होकर भी वीर्य की प्रधानता से सप्तम जन्म में उच्च वर्ण (ब्राह्मण) को प्राप्त करती है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥६५॥

भाष्य—शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्युक्तोऽर्थः ।

ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । ब्राह्मणोऽत्र पारशवो ब्राह्मणजातो विज्ञेयः । स चोक्त-
लक्षणशूद्रां यदि परिणयते तदाऽपकर्षं जन्मनि प्राप्नोति । तृतीय इति व्याचक्षते ।

यथोक्ते युगपरिवर्ते उत्कर्षं प्राप्ता यथा संस्कारैः कर्मभिश्चाधिक्रियन्ते ॥६५॥

हिन्दी—(पूर्व (१०।६४) श्लोके के अनुसार सातवें जन्म में) शूद्र ब्राह्मण ('पारशव' १०।८) शूद्रत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान (पुत्र या पुत्री) क्रमशः क्षत्रियत्व तथा वैश्यत्व रूप उत्कर्ष को तथा इसी क्रम से अपकर्ष को प्राप्त करती है ॥६५॥

विमर्श—शूद्र को सप्तम जन्म में ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का क्रम पहले (१०।६४) श्लोक के 'विमर्श' में स्पष्टकर दिया गया है, अब यहाँ पर ब्राह्मण को शूद्रत्व पाने का क्रम कहते हैं— यदि ब्राह्मण केवल शूद्रा के साथ विवाहकर पुरुष को ही उत्पन्न करे, वह पुरुष भी केवल शूद्रा के साथ विवाहकर पुरुष को ही उत्पन्न करे, इस प्रकार वह ब्राह्मण पुरुष सप्तम जन्म (पीढ़ी) में केवल शूद्रत्व को प्राप्त करे, इस प्रकार वह ब्राह्मण पुरुष सप्तम जन्म (पीढ़ी) में केवल शूद्रत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य से शूद्रा में उत्पादित सन्तान को उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्राप्ति को जानना चाहिए किन्तु जाति का उत्कर्ष सप्तम या पञ्चम जन्म में जानना चाहिए (जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तेऽपि वा'— या०स्मृ० १।९६) ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्य के कहने से क्षत्रिय से (शूद्रा में) उत्पन्न सन्तान का पञ्चम जन्म (पीढ़ी) में जाति के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्राप्ति को जानना चाहिए। और महर्षि याज्ञवल्क्य के उक्त वचन में 'वा' शब्द के द्वारा पक्षान्तर का संग्रह होने से वृद्ध व्याख्या के अनुरोध से वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान तीसरे जन्म में ही उत्कर्ष की तथा अपकर्ष की प्राप्ति को समझना चाहिए। इसी न्याय से ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न सन्तान के पञ्चम जन्म में, ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान का तृतीय जन्म में और क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न सन्तान का भी तृतीय जन्म में उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्राप्ति को जानना चाहिए। यह

सब मनुस्मृति के इसी श्लोक की ‘मन्वर्थमुक्तावली’ व्याख्या में कुल्लूकभट्ट ने स्पष्ट किया है। यह जाति के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्राप्ति उन-उन वर्णों में उत्पन्नकर अनापत्ति काल में भी उन्हीं की जीविका करते रहने पर होती है, य ‘जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः.....’(या०स्मृ० १।९६), श्लोक की वीरमित्रोदय तथा मिताक्षरा व्याख्याओं में सविस्तार प्रतिपादित है, उसे वहाँ देखना चाहिये।

दो वर्णसङ्करों से श्रेष्ठत्व का निर्णय—

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।

ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं कस्य चिद्भवेत् ॥६६॥

भाष्य—किंशब्दः क्षेपे ।

यदि बीजप्राधान्याद्धीनजातीयासु जाता मातृजातेरुत्कृष्टाः क्रमेण पितृजातितां प्राप्नुवन्ति, इदं तर्हि क्षेत्रप्राधान्येऽपि द्रष्टव्यम्, यथा क्षेत्रजः पुत्रः । अतश्च यथाऽनार्यायां शूद्रायां ब्राह्मणाज्जात उत्कृष्टो भवति, यदृच्छया यथाकथञ्चिदनूढायामपि, एवं ब्राह्मण्यामनार्याच्छूद्रात्क्षेत्रप्राधान्येन श्रेयस्त्वम् । यथोक्तं “कचित् बीजं कचिद्योनिः” इति ॥६६॥

हिन्दी—ब्राह्मण में यदृच्छा से अर्थात् अविवाहित शूद्रा में उत्पन्न (पारशव) तथा शूद्र से अविवाहित ब्राह्मणी में उत्पन्न (चण्डाल) इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? (ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर) ॥६६॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।

जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥६७॥

भाष्य—नार्या स्त्रियामनार्यायां हीनजातीयायामार्याज्जात उत्कृष्टजातीयाद्ब्राह्मणादार्य एव भवेत् ।

किं ब्राह्मणजातीयत्वम् । नेत्याह— गुणैः । गुणतो गौण्या वृत्त्या पाकयज्ञाद्यधिकारमात्रेण ।

वक्ष्यमाणानार्यापेक्षयाऽऽर्य इत्युच्यते ।

अनार्याच्छूद्रादार्यायां ब्राह्मण्यां जातोऽनार्य एवैष निश्चयः ।

एतदुक्तं भवति । यावद्वचनमेव प्राधान्यमवतिष्ठते, नानुमानेन शक्यमन्यत्प्रसंजयितुम् । अतः समानजातीयागमनमेव युक्तं, क्षेत्रप्राधान्यं क्षेत्रज एव नान्यत्र ॥६७॥

एवं च कृत्वा

हिन्दी— ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र गुणयुक्त होने से श्रेष्ठ है और शूद्र से

ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र गुणहीन होने से श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा (शास्त्र) का निर्णय है ॥६७॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।

वैगुण्याज्जन्मतः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥६८॥

भाष्य—उभावपि, चण्डालः पारशवश्चासंस्कार्यावनुपनेयौ ।

अत्र हेतुवन्निगदोऽर्थवादः । वैगुण्याज्जन्मतः पूर्वः । ब्राह्मणाद्यः शूद्रायां जातः, सत्यपि बीजप्राधान्ये विगुणमेतस्य जन्म, योनिदोषात् । उत्तरश्चण्डालः । स प्रतिलोमोऽत्यन्तप्रतिलोम्यात्, सत्यपि क्षेत्रप्राधान्ये, पितृदोषात् ॥६८॥

हिन्दी—(किन्तु उन दोनों में उक्त निर्णयानुसार एक के श्रेष्ठ होने पर भी) पूर्वोक्त दोनों में पहला ('पारशव'— १०।८) प्रतिलोम क्रम से ब्राह्मणी में उत्पन्न होने से दोनों ही यज्ञोपवीत संस्कार के अयोग्य हैं, ऐसा शास्त्रनिर्णीत धर्म है ॥६८॥

उक्त विधान में दृष्टान्त—

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा ।

तथाऽऽयज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥६९॥

भाष्य—पूर्वोक्तावसंस्कार्यौ, स्वजातिजास्तु संस्कार्याः, इत्युभयत्राप्यर्थवादः । अत एतदेव स्थितं “क्वचिद्बीजं क्वचिद्योनिः” इति यथोपदेशात् । एकान्तरपरिग्रहस्तु न युक्तः ॥६९॥

हिन्दी—जिस प्रकार सुन्दर (उपजाऊ) खेत में बोया गया श्रेष्ठ सुन्दर बीज श्रेष्ठ पौधा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आर्य (द्विज) से आर्या (द्विज स्त्री) में उत्पन्न पुत्र सब (श्रौत तथा स्मार्त) संस्कार के योग्य होता है (अतः उक्त पारशव तथा चण्डाल अनायोत्पन्न होने से संस्कार के योग्य नहीं होते) ॥६९॥

बीज तथा क्षेत्र के बलाबल में मतभेद तथा निर्णय—

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।

बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥७०॥

भाष्य—यथा त्रय एते पक्षाः । तेषां कश्चित्पक्षः केनचित्परिगृहीतः ।

केचिदाहुर्बीजमेव ज्यायः । तथा च ब्राह्मणाज्जातः क्षत्रियादिस्त्रीषु मातृजातित उत्कृष्टः ।

अन्ये पुनराहुः— क्षेत्रं श्रेष्ठं, यतः क्षेत्रियो यत्र क्षेत्रे जातः तज्जातीयो भवति, तस्यैव च तदपत्यम् ।

अपरे मन्यन्ते— उभये बीजक्षेत्रे ज्यायसी । तदुक्तं “सुबीजं चैव सुक्षेत्र” इति ।

तदेतत्सर्वमारोचयमान आह तत्रेयं तु व्यवस्थितिः इयमत्र निरूप्यावस्थितम् ॥७०॥

हिन्दी—कोई आचार्य बीज की, कोई आचार्य क्षेत्र की तथा कोई आचार्य बीज और क्षेत्र दोनों की प्रशंसा करते (प्रधानता मानते) हैं, उनमें ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ।

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।

अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥

भाष्य—अक्षेत्रे ऊषरे उत्सृष्टगुप्तमपि बीजमन्तरैवादत्वैव फलं नश्यति ।
अबीजकम योग्यबीजकं वा क्षेत्रं स्थण्डिलमेव भवेत्खिलमेव । ततो न फलं लभ्यत
इत्यर्थः ॥७१॥

हिन्दी—ऊसर खेत में बोया गया बीज फल देने से पहले ही नष्ट हो जाता है (कुछ फल नहीं देता) और बिना बीज बोया हुआ उत्तम (उपजाऊ) खेत भी भूमिमात्र ही रह जाता है (इसलिए बीज तथा खेत दोनों का श्रेष्ठ होना आवश्यक है) ॥७१॥

बीजप्राधान्य में दृष्टान्त—

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं विशिष्यते ॥७२॥

भाष्य—पूजिताः सर्वेण केनचित्प्रणाम्यन्ते । प्रशस्ताः स्तुतिवचनैः स्तूयन्ते ।
तस्माद्बीजं विशिष्यत इति बीजप्राधान्यवादिनः । तदेतदयुक्तमित्युक्तम् । “तत्रेयं तु व्यवस्थितिः” इति ।

अथवा बीजप्रभावेणेति न बीजप्राधान्यं दर्शितमपितु दूषणमेव । यदाशंक्यते बीजप्राधान्यान्मन्दपालादीनां तिर्यग्जा ऋषय इति बीजप्राधान्यं तद्दर्शनात्, न तत्र बीजप्राधान्येन तदपत्यानामृषित्वमपि तु तपःश्रुतादि जेन प्रभावेण धर्मविशेषेण ॥७२॥

हिन्दी—जिस कारण बीज के प्रभाव से तिर्यग् योनि (हरिणी आदि) में उत्पन्न (ऋष्य-शृङ्ग आदि) पवित्रता से ऋषि, नमस्कारादि के योग्य होने से पूजित तथा ज्ञान प्राप्ति करने से श्रेष्ठ हुए इस कारण बीज (वीर्य) ही श्रेष्ठ माना जाता है ॥

कर्मानुसार समानता और असमानता का अभाव—

अनार्यभार्यकर्माणमार्य चानार्यकर्मिणम् ।

सम्प्रधार्याब्रवीद्धात न समौ नासमाविति ॥७३॥

भाष्य—अनार्यः शूद्रः । स आर्यकर्मा द्विजातिशुश्रूषादिरतः पाकयज्ञयाजी च देवद्विजनमस्कारपरः । आर्यो ब्राह्मणादिः सोऽनार्यकर्मा प्रतिषिद्धाचरणो विहितकर्म-
त्यागी । तावुभौ सम्प्रधार्या तद्गुणत्वेनावगम्य तयोः किं कस्यचित्सातिशयो गुणः कस्या-

श्चित् वा अन्ते निरूपणबुद्धिः । सम्प्रधार्य धाता प्रजापतिर्मनुर्बुद्ध्या निरूप्याब्रवीत् ।

न समौ जातेर्गरीयस्या उत्कृष्टगुणोऽपि शूद्रः तुल्यो न स्यात् । पुनराह ना समौ किं जात्या तूत्कृष्ट्याऽपि बहुदोषावगृहीतस्य ।

एतदुक्तं भवति । न जातिबलमाश्रित्य नरो माननीयः, किंतु गुणा माननीयाः । न गुणहीनं जातिः परित्रातुमलम् । प्रायश्चित्तोपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

“अनार्यायां समुत्पन्नः” इत्यत आरभ्य यावदयं श्लोको वर्णसङ्करनिन्दा कर्मप्रशंसा-
ऽर्थो नात्र किंचिद्विधीयते प्रतिषिध्यते वा । नापूर्वार्थो ज्ञाप्यतेऽभिलक्षणवत् । तस्मात्-
प्रशंसार्था एवैते ॥७३॥

हिन्दी—द्विजों का कार्य करनेवाले शूद्र तथा शूद्रों का कर्म करनेवाले द्विज का विचारकर ‘ये दोनों न तो समान हैं और न असमान हैं’ ऐसा ब्रह्मा ने कहा है ॥७३॥

विमर्श—द्विजाति का कर्म करनेवाला शूद्र उस कर्म को करने का अधिकारी नहीं होने से ‘द्विजाति’ के समान नहीं हो सकता, तथा शूद्रों का कर्म करनेवाला द्विज भी निषिद्धाचरण करने से शूद्र के समान नहीं हो सकता, श्रेष्ठ कर्म करने पर भी शूद्र को द्विजाति की समानता नहीं मानी गयी है और निषिद्धाचरण करनेवाले द्विज की श्रेष्ठ जाति (द्विजत्व) का नाश नहीं माना गया है, अतएव वे दोनों (द्विजकर्मकर्ता शूद्र-कर्मकर्ता द्विज) निषिद्धाचरण करने से असमान भी नहीं हैं अर्थात् समान ही हैं, इस कारण जिसके लिए जिस कर्म का विधान किया गया है, उसे उसी कर्म को करना चाहिए ।

षट् कर्म करना ब्राह्मणों का कर्तव्य—

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥

भाष्य—आपद्धर्माणामुपोद्धातः । योनिः कारणम् । ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते षट्कर्माण्युपजीवेयुरनुतिष्ठेयुः । अनेकार्था धातवः ।

यथाक्रमं यथाधिकारम् । यस्मिन्कर्मणि योऽधिकारी ।

कानिचिद्विध्यर्थानि कानिचिद्दृष्टार्थानि ॥७४॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण (ब्रह्मप्राप्ति के कारणभूत) ब्रह्म-ध्यान में लीन तथा अपने कर्म में संलग्न हैं, उन्हें षट् कर्मों (१०।७५) का यथावत् पालन करना चाहिए ॥७४॥

ब्राह्मणों के षट् कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं यजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥

भाष्य—प्रथमेऽध्याये शास्त्रस्तुत्यर्थं एषां पाठः । इह तु विध्यर्थम् । यद्यपि तेषां केवलानां विधिरुक्तस्तथापीह समस्य निर्दिश्यते सौहार्देन । विध्यन्तरसापेक्ष्यमेवेदं रूपम् । वचनाच्चैतेषां कर्मणाम् । अतो यथाविहितमनूद्य वक्ष्यमाणोऽर्थो विधीयते ॥७५॥

हिन्दी—(साङ्ग वेदों का) अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना-- ये छः कर्म ब्राह्मणों के हैं ॥७५॥

ब्राह्मण-जीविकार्थ कर्मत्रय—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥७६॥

भाष्य—कर्मत्रिकविभागः स्पष्टप्रयोजनः । एकं त्रिकं दृष्टार्थमुपात्तं सामर्थ्यात् । अन्यस्यादृष्टार्थता ।

विशुद्धोऽपापकर्मा ।

एवं शूद्रोपि विशुद्धः प्राप्नोति ।

को भवतो मत्सरः ।

स्मृत्यन्तरविरोधः प्राप्नोति । ‘प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणी भुञ्जीत प्रतिगृहीयाच्चे’ति । एवं तर्हि यथाऽविरोधो भवति तथा व्याख्येयम् । न ह्यविरोधे सम्भवति विरोधो न्याय्यः ।

अपि वाऽनुवाद एवायं, ‘राजतो धनमन्विच्छेत्’ इति । एवमादावस्यार्थस्य विहितत्वात् ॥७६॥

हिन्दी—इन ६ (१०॥७५) कर्मों में से तीन कर्म— साङ्ग वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और विशुद्ध से (द्विजमात्र से, शूद्र से नहीं), दान लेना ब्राह्मण की जीविका के लिए है ॥७६॥

क्षत्रियों के कर्म—

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।

अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥७७॥

भाष्य—जीविकाकर्मण्येतानि क्षत्रियस्य न भवन्ति । यानि त्वदृष्टार्थानीष्ट्यध्ययन दानानि न विवर्तन्ते । वेदस्य च प्रकृतत्वादेतदध्यापनं निषिध्यते । न तु धनुर्वेदशिल्प-कलाविद्यानाम् ॥७७॥

हिन्दी—ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियों के तीन कर्म वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना निवृत्त (वर्जित) होते हैं (अतः क्षत्रियों को इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष

तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना) ही करने चाहिए ॥७७॥

वैश्यों के कर्म—

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।

न तौ प्रति हितान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

भाष्य—पूर्वेणैतद्व्याख्यातम् ।

तौ क्षत्रियवैश्यौ प्रत्येतेऽध्यापनादयो धर्मा मनुना प्रजापतिना नोक्ताः, न स्मृता इत्यर्थः ॥७८॥

हिन्दी—उसी (१०।७७) प्रकार वैश्यों के भी ये तीन कर्म (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना) निवृत्त (वर्जित) होते हैं, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है; क्योंकि उन दोनों (क्षत्रियों तथा वैश्यों) के प्रति उन धर्मों (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना) को प्रजापति मनु ने ही नहीं कहा है ॥७८॥

क्षत्रियों तथा वैश्यों के जीविकार्थ कर्म तथा धर्म—

शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।

आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥७९॥

भाष्य—इदं तयोर्जीविकार्थं ।

शस्त्रं खड्गादि । अस्त्रं तन्मन्त्राः धनुर्वेदप्रसिद्धाः ।

अयमप्युक्तानुवाद एव ।

वणिक्पशुशब्दौ कर्मान्तर्भावेन प्रयुक्तौ, वणिज्या पशुपालनं च ।

यद्यप्यध्ययनादिधर्माः सर्वेषां सन्ति तथापि प्राधान्यमेतेषाम् ॥७९॥

हिन्दी—जीविका के लिए शस्त्र (हाथ में पकड़े हुए चलाने योग्य तलवार, भाला आदि) तथा अस्त्र (हाथ से फेंककर चलाने योग्य बाण आदि) क्षत्रिय का और व्यापार, पशुपालन, खेती करना वैश्य का कर्म है । (और दोनों का) दान देना, साङ्ग वेद का अध्ययन करना और यज्ञ करना धर्म है ॥७९॥

ब्राह्मणादि वर्णत्रय के विशिष्ट कर्म—

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।

वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥८०॥

भाष्य—वेदाभ्यासो वृत्तिप्रकरणादध्यापनम् ।

एवं विशिष्टानि स्वकर्मसु । शास्त्रीयवृत्तिकर्मस्वन्येभ्यो जीवनकर्मभ्य इमानि श्रेयस्करतराणि ॥८०॥

हिन्दी—ब्राह्मण का साङ्ग वेदाध्यापन, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का पशुपालन करना— ये कर्म इनकी जीविकार्थ अपने कर्मों में कहे गये हैं ॥८०॥

आपद्धर्म के कर्म—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।

जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥८१॥

भाष्य—यदाऽस्य शरीरकुटुंबनित्यकर्मावसादो भवति, न तेभ्यः पर्याप्तं धनं भवति, तदाऽयं ‘मजीवन्नि’त्युच्यते ।

यथोक्तेनाध्यापनादिना ।

तदा क्षत्रियवत् ग्रामनगररक्षादिना शास्त्रास्त्रधारणेन सति सम्भवे सर्वाधिपत्येन जीवेत् । जीवतिर्व्याख्यातार्थः शरीरमात्रसंधारणे न वर्तते । किं तर्हि । कुटुम्बस्वकर्माणि नित्यकर्मावस्थितामपि लक्षयति ।

स ह्यस्य प्रत्यनन्तरोऽनन्तरं एव प्रत्यनन्तरः ।

हेतुवचनाद्व्यवहितवृत्तिः पापकरी ।

स्ववृत्तिपरित्यागेऽपि नैवं मन्तव्यं शास्त्रातिक्रमकृतस्तत्र न विशेषो वैश्यशूद्रेष्वपीति तथा चाह ॥८१॥

हिन्दी—ब्राह्मण यदि अपने कर्म (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तो क्षत्रिय का कर्म (१०।७७-७९) करता हुआ जीवन-निर्वाह करे; क्योंकि वह क्षत्रिय कर्म उस (ब्राह्मण कर्म) का समीपवर्ती है ॥८१॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु । क्रमोऽनेन प्रदर्श्यते । प्रथममनन्तरा वृत्तिस्तदभावे व्यवहितेति ।

कृषिगोरक्षाग्रहणं वैश्यवृत्तिमात्रप्रदर्शनार्थम् । तथा च वणिज्यायामविक्रेयप्रतिषेधं वक्ष्यति ।

जीवेद्वैश्यस्य जीविकामिति । सामान्यविशेषभावेन क्रियायाः साध्यसाधनभावः प्रागुपपादितः । तत्र कृषिवाणिज्यकुशीदान्यनापद्यैवोक्तान्यध्यापनादिवत् । “प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्” । “सत्यानृतं तु वाणिज्यम्” इति तु केचिदाहुः । “कृषिवाणिज्ये चास्वयंकृते । कुसीदं चेति” (गौ० १०।५-६) उक्तं स्वयंकरणमत्राभ्यनुज्ञायते ।

यत्त्वध्यापनादिवदिति साम्यमाशङ्कितमत्रैव परिहृतम् । यदि सर्वेषां कृष्यादयः सम-

त्वेन स्युः कथमिदमुच्यते “वणिक्पशुकृषीर्विशः आजीवनार्थम्” । ब्राह्मणक्षत्रिययोरपि नाऽऽजीवनार्थस्तदा । किंच ‘याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः’ इत्यत्र तान्यपि समाख्यास्यत् । तस्मादध्यापनादिनियमैर्जीवतः कृष्यादयः प्रतिषिद्धा एव । यस्तु प्रकरणादन्यत्रैषामुपदेशः स तत्रैव प्रदर्शितप्रयोजनः ॥८२॥

हिन्दी—दोनों ब्राह्मण कर्म—(१०।७५-७६) तथा क्षत्रियकर्म—(१०।७७-७९) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता हुआ ब्राह्मण किस प्रकार रहे? ऐसा सन्देह उपस्थित हो जाय तो वह वैश्य के कर्म खेती, गोपालन और व्यापार से जीविका करे ॥८२॥

कृषि आदि का बलाबल कथन—

वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥८३॥

भाष्य—कृषिनिन्देतरवैश्यवृत्तिस्तुत्यर्था, न पुनस्तस्याः प्रतिषेधार्था । तथा च सति उपदेशो व्यर्थोऽस्या आपद्यते ॥८३॥

हिन्दी—वैश्यवृत्ति (१०।७९) से जीविका करता हुआ भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हिंसा-प्रधान (बैल आदि के अधीन होने से) पराधीन कृषि-कर्म (खेती) प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे ॥८३॥

विमर्श—क्षत्रिय के लिए भी वैश्यवृत्ति में कृषि-कर्म का त्याग करने का विधान इस वचन द्वारा प्रतिपादित होने से अपने कर्म द्वारा जीविका नहीं कर सकनेवाले क्षत्रिय को वैश्यवृत्ति से जीविका-निर्वाह करना शास्त्र-विहित समझना चाहिए ।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता ।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८४॥

भाष्य—कृषिं लोकाः साध्वेव कर्मेति मन्यन्ते ।

यदुक्तम् । कर्षतः पुरुषस्य बहु धान्यं भवति ततोऽतिथ्यादिभ्योऽन्नदानेनोपकरोत्यतः साध्वी । तथा चोक्तं “नाकृष्यतोऽतिथिप्रियः” । “कृषिं यत्नेन कुर्वीत मौर्व्या सर्वत्र यत्नतः” । तथा “लाङ्गलं पवीरवं सुशेवं सुमतित्सरु । उदित्कृषतिगामविंप्रफर्व्य च पीवरीम्” (वाजसनेयिसंहिता १२।७१) इत्यादि ।

ते न सम्यक् मन्यन्ते । सा हि वृत्तिः सद्भिर्निन्द्यते । कस्य हेतोः । **भूमिं हन्ति काष्ठमयोमुखं लाङ्गलम् । भूमिशयांश्च । भूमौ शेरते ये प्राणिनस्तृणजलूकादयस्तांश्च हन्ति ।**

ननु च भूमेः कीदृशं हननं न हि सा प्राणिवत्काष्ठहत्यापीडामनुभवति । अनुभूतं

तु सर्वैर्विदारणं भूमेर्दोषवदिति ज्ञापयति ॥८४॥

हिन्दी—कुछ लोग कृषि (खेती) उत्तम कर्म मानते हैं किन्तु वह जीविका सज्जनों से निन्दित है; क्योंकि लोहे के मुख (फार)वाला काष्ठ अर्थात् हल भूमि तथा भूमि में स्थित जीवों को मार डालता है ॥८४॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्यजतो धर्मनैपुणम् ।

विट्पण्यमुद्धतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥८५॥

भाष्य—इदमिति वक्ष्यमाणस्य प्रतिनिर्देशः ।

विशः पण्यं **विट्पण्यं** वैश्यानां यद्विक्रेयं तदपि वृत्तिवैकल्याद्धनाभावाद्ब्राह्मणेन विक्रेयम् ।

उद्धार्याणि द्रव्याण्युद्धारशब्देनोच्यन्ते । उद्धृत उद्धारो यस्मिन् तदेवमुच्यते । वक्ष्यमाणानि द्रव्याण्यत उद्धृत्यान्यानि विक्रेयाणि ।

वित्तवर्धनमिति स्वभावानुवादः । वाणिज्यायां हि धनवृद्धिः प्रसिद्धा ।

त्यजतो धर्मनैपुणं धर्मे या निष्ठा । अतस्तेन पण्यविक्रयो न कर्तव्य इति ज्ञापयति । अतश्चेदमवगम्यते सर्वासां वैश्यवृत्तीनां गर्हिततरा कृषिः । ततो न्यूना वाणिज्या । ततो गोरक्षा ॥८५॥

हिन्दी—जीविका के अभाव से धर्म की निष्ठा को छोड़ते हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को (आगे कही जानेवाली) वस्तुओं को छोड़कर वैश्यों से बेची जानेवाली धनवर्द्धक शेष वस्तुओं को बेचना चाहिये ॥८५॥

ब्राह्मण-क्षत्रियों द्वारा अविक्रेय वस्तु—

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।

अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥८६॥

भाष्य—मधुरादयः षड्रसाः । तत्प्रधानानि द्रव्याणि गुडदाडिमकिराततिक्त-कादीनि प्रतिषिध्यन्ते । न हि केवलानां रसानां सम्भवः । यद्यपि रसशब्दो न स्वयं द्रव्ये शुक्लादिशब्दवद्वर्तते सामानाधिकरण्येन, तथापि लक्षयति द्रव्यम् । ‘गंगायां घोष’ इति यथा ।

अपोहेत त्यजेन्न विक्रीणीयादिति यावत् ।

कृतान्नं सिद्धमन्नमोदनादि तण्डुलादि च ।

तिलैः सह तिला अपि च विक्रेयाः । न तु पुनस्तिलकृतान्नयोः सहप्रयुक्तयोः प्रतिषेधः, केवलयोरभ्यनुज्ञानम् । **अश्मानः** सर्वपाषाणाः ।

लवणमपाषाणरूपमपि, सैन्धवस्य पाषाणशब्देन ग्रहणम् । रसपक्षे लवणस्य नित्यार्थ आरम्भः । तेन मधुरादीनां पाक्षिको विक्रयः ।

पशवो ग्राम्या आरण्याः ।

मानुषा मनुष्याः ॥८६॥

हिन्दी—सब रस, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु और मनुष्य (दास-दासी आदि) को (आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण क्षत्रिय) नहीं बेचे ॥८६॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।

अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥८७॥

भाष्य—तान्तवं तन्तुनिर्मितं वस्त्रपटबृहतिकादि । रक्तं लोहितम् । लोहिते वर्णे रक्तशब्दः प्रसिद्धतरः । तथाहि रक्तो गौर्लोहित उच्यते, यद्यपि शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमपि रज्जेरर्थः ।

शाणक्षौमाविकान्यरक्तान्यपि । यत आह । अपि चेत्स्युररक्तानि । शिष्टं प्रसिद्धम् ॥८७॥

हिन्दी—सब प्रकार के सूत्र-निर्मित और रंगे गये सन, अलसी तथा ऊनके वस्त्र और बिना रंगे हुए वस्त्र, फल मूल तथा ओषधि (गुडूची आदि दवाओं) को (आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय) नहीं बेचे ॥८७॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।

क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥८८॥

भाष्य—शस्त्रं खड्गपाशादि । गन्धास्तगरोशीरचन्दनादयो द्रव्यविशेषाः । रस-शब्दवदेतद्व्याख्येयम् ।

क्षीरं रसविकारं स्मृत्यन्तरप्रसिद्धमतो मस्तुकिलाटोदश्विदादीन्यपि न विक्रीयानि । दधिघृतग्रहणं प्राधान्यादुपात्तम् ।

मधु मधूच्छिष्टमेकदेशलोपादेवदत्तो दत्त इतिवत् । स्मृत्यन्तरे हि तत्प्रतिषिद्धम् । इह च क्षौद्रशब्देन सारघस्य निषिद्धत्वात् । माध्वीकस्य च मद्यग्रहणेनोत्तरत्र प्रतिषेधात् ।

अन्ये तु माध्वीकस्यैवाप्राप्तमद्यावस्थस्य प्रतिषेधार्थं मधुशब्दं वर्णयन्ति ।

तदयुक्तम् । नायं निष्पीडितमृद्वीकारसवचनः । किं तर्हि ? मद्यरूपतयैव वर्तते । उभौ मध्वासवक्षीवाविति प्रयोगदर्शनात्, क्षीवतामद्यकृतैव ।

गुडस्य रसत्वप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थग्रहणम् । अन्ये तु खण्डमत्स्यण्डिकादीनामनुज्ञानार्थं व्याचक्षते ॥८८॥

हिन्दी—जल, शस्त्र (सब प्रकार का हथियार या लोहा); विष, माँस, सोम नामक लतर, सर्वविध गन्ध (कस्तूरी आदि), दूध, मधु (शहद), दही, घी, तेल, मोम, गुड और कुशा (को आपत्ति काल में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥८८॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।

मद्यं नीलीं च लाक्षां च सर्वाश्चैकशफांस्तथा ॥८९॥

भाष्य—आरण्यपशुशब्दौ गुडलवणेनैव व्याख्यातौ । ग्राम्यपश्वनुज्ञानार्थम् । ग्राम्या अपि पशवो हिंसायां संयोग इति निषिद्धान्तः ।

दंष्ट्रिणः श्वशूकरादयः ।

वयांसि पक्षिणः । **एकशफा** अश्वाश्चतरगर्दभादयः ।

‘बहूनि’ति तथाशब्दस्थाने पठन्ति । एकस्य विक्रये तथा न दोषः ॥८९॥

हिन्दी—सब प्रकार के जङ्गली (हाथी आदि) पशु, दांतवाले (सिंह, बाघ, चित्ता, कुत्ता आदि) पशु, पक्षी, जलजन्तु (मछली, मगर, कच्छप आदि), मदिरा, नील, लाख (चपड़ा लाही), एक खुरवाले (घोड़ा आदि पशु) को (आपत्तिकाल में पड़ा हुआ भी ब्राह्मण क्षत्रिय) नहीं बेचे ॥८९॥

[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।

बालाश्चर्म तथास्थीनि सस्नायूनि विवर्जयेत् ॥९०॥]

[हिन्दी—(रांगा, सीसा, लोहा, सब प्रकार के तैजस पदार्थ, केश, चमड़ा हड्डी, चर्वीको (आपत्ति काल में पड़ा हुआ भी क्षत्रिय) छोड़ दे अर्थात् नहीं बेचे ॥९०॥]

स्वोत्पादित तिल का तत्काल विक्रय—

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।

विक्रीणीत तिलान् शुद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥९०॥

हिन्दी—“कृतात्रं च तिलैः सह इति प्रतिषिद्धानां तिलानां स्वरूपप्रयोजन-विशेषाश्रयः प्रतिप्रसवः ।

शुद्धानचिरस्थितानिति च स्वरूपविशेषः । धर्मार्थमिति प्रयोजनविशेषः ।

शुद्धा व्रीह्यादिभिरमिश्राः । कृशराद्यर्थं मिश्राणां विक्रयासम्भवः ।

अचिरस्थिताः । अर्थादिकं लाभमनपेक्ष्य स्वल्पं मूल्यमद्य कालान्तरे चागामिनि बहुमूल्यं लभेयेत्येवं न प्रतीक्षितव्यम् ।

अथवा **शुद्धा** अकृष्णाः । कृष्णतिलानां प्रतिषेधः । **अचिरस्थितानिति** वेयमर्थः । चिरस्थितं हि कृष्णं भवति । कृष्णा उत्पाद्य क्रीत्वा न विक्रेयाः ।

स्वयं कृष्या कृषीवल इति प्रायिकोऽनुवादो, न विवक्षितानि पदानि । प्रति-
ग्रहाद्यर्जितानामप्यप्रतिषेधः ।

धर्मप्रयोजने यत्र तिलान् विक्रीणते । इह च रूपकैर्गावो दक्षिणाद्यर्थं स्वाध्या-
याग्निहोत्राद्यर्थं क्रीयन्ते । ब्रीह्यादयो वा दर्शपूर्णमासाद्यर्थं स 'धर्मार्थो विक्रयः' । यस्य वा
तिला एव दानादिधर्मयोपयुज्यन्ते, भेषजतैलोपयोगे वा क्रेतुः, सोऽप्येवमेव ॥९०॥

हिन्दी—(आपत्ति में पड़ने के कारण) कृषि (द्वारा जीविकानिर्वाह) करनेवाला
(ब्राह्मण-क्षत्रिय) खेत में स्वयं तिलों को पैदा करके दूसरे पदार्थों के साथ मिलाकर
(लाभार्थ) बहुत समय तक नहीं रखकर धर्म (यज्ञ-हवन आदि) के लिए बेच दे ॥९०॥

तिल-विक्रयादिनिन्दा—

भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।

कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥९१॥

हिन्दी—प्रकृततिलविशेषव्यतिरेकेण तिलविक्रयप्रतिषेधे विशेषोऽयमर्थवादः ।

“ननु चोक्तं प्रतिषेधानां दोषसूचनं फलतयैव सम्बध्यते । तत्किं भोजनाभ्यञ्ज-
नादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिभूत इत्ययमर्थवादः” इति ।

उच्यते । असम्भविनः फलस्य शास्त्रान्तरेण विरुद्धस्य च श्रवणादेवमुच्यते ।
तथा पितृभिः सहेत्युच्यते, न च तैः किञ्चिदपराद्धम् । सुकृतदुष्कृतयोः फलं हि
कर्तृगामि । न च पितृणां कथञ्चिदपि कर्तृत्वमित्येतत्प्रागुक्तमेव । किञ्च “सद्यः पतति
माँसेन” इति पतितत्ववचनं परेषां न पातित्यमिति नियमात् । तस्मादस्ति किञ्चिद-
निष्टमित्येतावन्मात्रं प्रतिषेधेन सम्बध्यते । यथाश्रुतमेव न युक्तम् । भोजनादिक्रिया यत्र
तद्व्यतिरेकेण यदन्यद्विक्रयस्नानादि तत्र तिलैर्यः कुरुते स कृमित्वं प्राप्नोति यथोक्तेन
दोषेण संयुज्यते ॥९१॥

हिन्दी—खाने (उबटन आदि के रूप में), (शरीर में) मलने तथा दान देने के
अतिरिक्त तिलों से जो-जो दूसरा कार्य (विक्रय, तेल निकालना आदि) मनुष्य करता है,
वह (उस निषिद्ध कर्माचरण के कारण) पितरों के साथ कीड़ा होकर कुत्ते की विष्ठा में
गिरता है ॥९१॥

लाक्षादि विक्रय-निन्दा—

सद्यः पतति माँसेन लाक्षया लवणेन च ।

त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥९२॥

भाष्य—उक्तार्थः ॥९२॥

हिन्दी—(आपत्ति में पड़ा हुआ भी ब्राह्मण) मांस, लाख और नमक को बेचने से तत्काल पतित (के तुल्य) होता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र (के तुल्य) होता है ॥९२॥

विमर्श— इस वचन में मांस, लाख तथा नमक बेचनेवाले ब्राह्मण को तत्काल पतित होना तथा दूध बेचनेवाले ब्राह्मण की तीन दिन में शूद्र होने का कथन प्रायश्चित्त के गौरवप्रदानार्थ है, वस्तुतः पतित तथा शूद्र होने का विधानार्थ नहीं ।

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।

ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥

भाष्य—कामत इतिवचनादनापदित्यनुमीयते ।

गुरुलघुत्वदर्शनं मांसादीनां प्रायश्चित्तविशेषार्थम् । गुरुणिगुरुणि लघुनिलघूनीति वक्ष्यामः ॥९३॥

हिन्दी—शास्त्रवर्जित (१०।८६-८९) अन्य पदार्थों को इच्छापूर्वक बेचनेवाले ब्राह्मण सात रात्रि में वैश्यत्व को प्राप्त करता है ॥९३॥

विमर्श—प्रमाद से दूसरे पदार्थों के साथ मिश्रित हुए इन पदार्थों के बेचने पर उक्त दोष नहीं होता । यह वैश्यत्वप्राप्ति-परक वचन भी तुल्यन्याय से प्रायश्चित्त गौरवार्थ ही समझना चाहिये ।

परस्पर बदलने योग्य पदार्थ—

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।

कृतान्नं च कृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥९४॥

भाष्य—रसाः पूर्वोक्तास्ते रसैर्निमातव्याः । मधुररसं गुडादि दत्त्वाऽऽम्लादिरस-मामलक्यादि ग्रहीतव्यम् । न केवलं लवणं दत्त्वा रसान्तरमादेयम् ।

पाठान्तरं ‘लवणं तिलैरिति’ । अस्मिन्पाठे तिलैरेव लवणस्य प्रतिषेधो न रसान्तरैः ।

कृतान्नं सकत्वोदनाद्यन्नेन पायसापूपादिना निमातव्यम् ।

तिलास्तु धान्येन व्रीह्यादिना **तत्समाः** । प्रस्थं दत्त्वा प्रस्थ एव ग्रहीतव्यो नार्था-पेक्षयाऽधिकं वाऽऽदेयम् ।

‘विनिमयो’ नाम विक्रय एव । क्रीणातिस्तु द्रव्यविनिमये पठ्यते ।

न हि तद्युक्तम्, “विक्रये प्रकृतिविनिमयमस्त्विति” गौतमो भेदं दर्शयति । एवं तर्हि प्रसिद्धेन रूपकादिना द्रव्यार्पणं ‘विक्रयः’ । तदन्यद्रव्यपरिवृत्तौ ‘विनिमयः’ ॥९४॥

हिन्दी—(गुड आदि) रसों को (घृत आदि) रसों से बदलना चाहिये; किन्तु नमक

को किसी रस से नहीं बदलना चाहिये । पक्वान्न (पके हुए-सिद्ध-अन्न को) अपक्व कच्चे-अन्न से तथा तिल को (प्रस्थ परिमाण) धान्य से बदलना चाहिये ।

श्रेष्ठ जातीयवृत्ति निषेध—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥१५॥

भाष्य—एतेन सर्वेणापि । प्रतिषिद्धपण्यप्रतिप्रसवोऽयं राजन्यस्य । न किंचित-स्याविक्रेयं वैश्यवत् । किंतु सत्यपि स्ववृत्तित्यागे न ज्यायसीं ब्राह्मणवृत्तिं कदाचिदप्यभिमन्येत । इमां करोमीति चेतसि न कुर्यात् ।

प्रतिकूलं दैवमनयः । एतदापदुपलक्षणार्थम् । गतः प्राप्तः । आपद्रत इति यावत् ॥१५॥

हिन्दी—(जीविका-साधन नहीं मिलने से) आपत्ति में पड़ा हुआ क्षत्रिय इन सब (ब्राह्मण के लिए निषिद्ध रसादि विक्रय रूप) कार्यों से (वैश्य के समान) जीविका कर ले, किन्तु (ब्राह्मण की) श्रेष्ठवृत्ति (अध्यापन, यज्ञ करना और दान लेना) को कदापि स्वीकार न करे ॥१५॥

विमर्श— यद्यपि इस वचन में क्षत्रियमात्र के लिए निषेध किया गया है, तथापि वैश्यादि के लिए भी निषेध समझना चाहिए ।

श्रेष्ठ जाति की वृत्ति करनेवाले को दण्ड—

यो लोभादधमो जात्या जीबेदुत्कृष्टकर्मभिः ।

तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥१६॥

भाष्य—जात्याऽधमो निकृष्ट क्षत्रियादिः । सत्यपि प्रकृतत्वे राजन्यस्य, सर्वेषामयं ब्राह्मणवृत्तिप्रतिषेध एवमेवायं श्लोकः ।

उत्कृष्टो निरपेक्षो ब्राह्मण एव । कर्मभिरध्ययनादिभिर्जीवति । दण्ड्योऽयं सर्वस्वग्रहणप्रवासनैः ॥१६॥

हिन्दी—नीच जातिवाला जो मनुष्य अपने से ऊँची जातिवाले की वृत्ति को लोभ से ग्रहण कर जीविका करे तो राजा उसे निर्धनकर (उसकी सब सम्पत्ति छीनकर) राज्य से बाहर निकाल दे ॥१६॥

परधर्मसेवन-निन्दा—

वरं स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वधिष्ठितात् ।

परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥१७॥

भाष्य—पूर्वस्य विधेर्निन्दार्थवादोऽयम् । यो यस्य विहितो धर्मो जात्याश्रयेण विगुणोऽप्यपरिपूर्णाङ्गोऽपि युक्तोऽनुष्ठातुम् । न परधर्मः सर्वाङ्गसंपूर्णोऽपि ।

अत्र निन्दार्थवादः परधर्मेणेति ॥९७॥

हिन्दी—अपना हीन धर्म भी श्रेष्ठ है, किन्तु दूसरे का अच्छा धर्म भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि दूसरे के धर्म से जीविका करनेवाला तत्काल जाति भ्रष्ट हो जाता है ।

विमर्श—यह जातिभ्रष्टत्व-कथन भी दोषगौरव-प्रदर्शनार्थ समझना चाहिए ।

वैश्य आपद्धर्म—

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्याऽपि वर्तयेत् ।

अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

भाष्य—स्वधर्मेणाजीवतो वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते । पादधावनादिशुश्रूषया ।

अनाचरन्नकार्याणि । उच्छिष्टापमार्जना‘कार्यम्’, तत्परिहर्तव्यम् ।

शक्तिमान्निवर्तेतेति सर्वशेषः ।

अत्र केनचिदुक्तम् । सामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रिययोरप्येतदतिदिश्यते ।

तत्रापरेण संदिह्यते । कथं शूद्रवृत्तिं ब्राह्मणः कुर्यात् । एवं हि श्रूयते—

“उत्कृष्टं चापकृष्टं च विद्येते कर्मणो तयोः । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते” ॥ इति तदयुक्तम् । न त्वस्यायमर्थो ब्राह्मणस्य शूद्रवृत्तिचरनुज्ञायते सामर्थ्यादिति, किं तर्हि? निवर्तेत च शक्तिमानिति यदस्माभिरुक्तं सर्वशेष इति ॥९८॥

हिन्दी—अपने धर्म (१०।७८, ८९) से जीवन निर्वाह कर सकनेवाला वैश्य निषिद्ध कर्मों का त्याग करता हुआ अर्थात् द्विज-सेवादि करते समय जूठा आदि नहीं खवाता हुआ शूद्र की वृत्ति (द्विज-सेवा) से जीविका करे और समर्थ होकर अर्थात् आपत्काल के दूर हो जाने पर (उस शूद्र कर्म से) निवृत्त हो जाय ॥९८॥

शूद्र के आपद्धर्म—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।

पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥९९॥

भाष्य—कारुकाः शिल्पिनः । सूदतन्तुवायादयः । तेषां कर्माणि पाकवयनादीनि प्रसिद्धानि । तैर्जीवेत् । पुत्रदारात्ययस्तद्भरणासमर्थता ।

एतेन धनतन्त्रभङ्गेन तस्यापदि विवाहादिकर्मणामेषां विधानान्निकृष्टाऽनुमीयते ॥९९॥

हिन्दी—द्विजों (१०।४) की सेवा करने में असमर्थ शूद्र (भूख आदि से) स्त्री-मनु ॥ 36

पुत्रादि के पीडित होने पर सूप आदि बनाने के कार्यों से जीविका करे ॥१९॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥१००॥

भाष्य—प्रचरितैरनुष्ठितैः । शुश्रूष्यन्ते सेव्यन्ते । तदुपयोगीनि यानि कर्माणि शिल्पानि । यद्यपि शिल्पमपि कारुकर्मैक, तथापीह भेदेनोपादानात्तत्क्षकिवर्धकिप्रभृतयः कारवस्तेषां कर्माणि तक्षणावर्धनादीनि ।

शिल्पानि पत्रच्छेदरूपकर्माण्यालेख्यानि ॥१००॥

हिन्दी—जिन कर्मों के करने से द्विजों (१०।४) की सेवा हो जाय, उस (बढ़ई तथा चित्रकार आदि के) कार्यों को शूद्र करे ॥१००॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।

अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥१०१॥

भाष्य—अनातिष्ठन्निच्छया ।

एतदुक्तं भवति । क्षत्रवृत्त्यसम्भवे यदि वा वैश्यवृत्तिमाचरेदसत्प्रतिग्रहं वा । तुल्ये एते वृत्तो । असत्प्रतिग्रहात्क्षत्रवृत्तिः श्रेयसी ।

अथवाऽनातिष्ठन् वैश्यवृत्तिमसम्भवे । ततश्चासत्प्रतिग्रहो वैश्यवृत्तेर्हीनतरः ।

स्वे पथि स्थित इति ब्रुवन्नापद्वृत्तीनां समुच्चयोऽस्तीति ज्ञापयति ।

अवृत्त्या कर्षितः ।

सीदन्नवसादं प्राप्नुवन् ॥१०१॥

हिन्दी—जीविका के अभाव से पीड़ित होता हुआ भी अपने (धर्म) मार्ग पर स्थित ब्राह्मण इस (आगे (१०।१०२-१०३) कहे जानेवाले) कर्म को करे ॥१०१॥

आपत्ति में ब्राह्मण को हीन से दानादि-ग्रहण—

सर्वतः प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥१०२॥

भाष्य—सर्वत इति प्रतिग्राह्यजातिगुणानामपेक्षा न कर्तव्या ।

अत्रापि हीनहीनतरहीनतमेषु क्रमेण पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरप्राप्तिरस्त्येव । यथा क्षत्रवृत्त्यभावे वैश्यवृत्तिः ।

पवित्रं गङ्गास्रोतस्तदमेध्यसंसर्गे न दुष्यति । “नदी वेगेन शुध्यति” इत्युक्तम् । एवं ब्राह्मणोऽपीति ॥१०२॥

हिन्दी—(जिविका नहीं मिलने से) आपत्ति में पड़ा हुआ ब्राह्मण सब से (नीच से भी) दान ग्रहण करे; क्योंकि आपत्ति में पड़ा हुआ पवित्र (गङ्गाजल, ब्राह्मणादि नाली के पानी से या निषिद्धाचरण से) दूषित होता है यह (शास्त्र) संगत नहीं होता है ॥१०२॥

आपद्गत ब्राह्मण का निषिद्धाध्यापनादि से दोषहीनता—

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनांबुसमा हि ते ॥१०३॥

भाष्य—पूर्वेणासत्प्रतिग्रह उक्तः । अनेन याजनाध्यापने अनुज्ञायेते ।

गर्हितादिति सिंहावलोकितवत्पूर्वाभ्यामप्यभिसम्बध्यते ।

यथाग्निरापश्च सर्वत्र शुद्धा एवं ब्राह्मणा अपीति प्रशंसा ।

केचिदाहुः । असत्प्रतिग्रहवदसद्याजनाध्यापने अप्यनुज्ञायेते । यद्यभविष्यतां, तदा पूर्वश्लोक एव प्रतिग्रहवदपठिष्यताम् । इह तु विधिप्रत्ययाभावाद्दोषो भवति विप्राणा-
मिति । वर्तमानप्रत्ययेन सिद्धव्यपदेशादर्थवादताप्रतीतेः । किंच प्रतिवचनं तावदर्थवादः
पूर्वेण सिद्धत्वात्तदेकवाक्यत्वापत्तेर्याजनाध्यापने अप्येवं भवितुमर्हतः ॥

वयं तु ब्रूमोऽसम्भवेऽसत्प्रतिग्रहस्य तत्रापि वृत्तिर्युक्ता । यतः प्रवृत्तिः स्मर्यते ।
‘यथाकथंचित्स आत्मानमुद्धरेदन्यत्र प्रत्यवायेभ्यः’ । कर्मार्थस्त्वापद्धर्मपाठः ॥१०३॥

हिन्दी—निन्दितों (अनधिकारियों) को अध्यापन कराने से, यज्ञ कराने से और उनका दिया हुआ दान लेने से (आपत्ति में पड़े हुए) ब्राह्मणों को दोष नहीं होता; क्योंकि वे (ब्राह्मण) अग्नि तथा पानी के समान (पवित्र) हैं ॥१०३॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति ततस्ततः ।

आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥१०४॥

भाष्य—पूर्वेणासत्प्रतिग्रह उक्तः । अनेन परिग्रहदुष्टमन्नमभ्यनुज्ञायते ।

ततस्तत इति जातिकर्मानपेक्षमन्नस्वाग्निमाह ।

शेषोऽर्थवादः ॥१०४॥

हिन्दी—जीविका के नहीं मिलने से संशयित प्राणोंवाला जो (ब्राह्मणादि) जहाँ-तहाँ (अनुलोम एवं प्रतिलोम आदि हीन जातिवाले) से भी अन्न को खाता है, वह पङ्क से आकाश के समान पाप से लिप्त (दूषित) नहीं होता है ॥१०४॥

उक्त दोषाभाव में पुरातन दृष्टान्त—

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।

न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥१०५॥

भाष्य—अजीगर्तो नाम ऋषिः । स क्षुत्परिपीडितः पुत्र सुतं शुनःशेषनामानं हंतुमुपासर्पत् प्रचक्रमे । न चासौ क्रव्याद इति युज्यते । शौनःशेषमाख्यानं बह्वृचि सुप्रसिद्धम् । नात्र विस्तर आगमस्योपयुज्यते । परमार्थस्तु परकृतिरूपोर्थऽवादः ।

एवं सर्व एते द्रष्टव्याः ॥१०५॥

हिन्दी—(क्योंकि पूर्व समय में) भूख से पीड़ित 'अजीगर्त' नामक ऋषि ('शुनःशेष' नामक पुत्र को बेंचकर पुनः यज्ञ में सौ गौओं को पाने के लिए यज्ञस्तम्भ में बंधे हुए) उसी पुत्र को मारने के लिए तैयार हो गये और भूख की निवृत्ति के लिए वैसा (अति निषिद्ध कर्म) करते हुए भी वे पापयुक्त नहीं हुए ॥१०५॥

विमर्श—यह कथानक बह्वृच ब्राह्मण में 'शुनःशेष' के आख्यान में स्पष्ट रूप से वर्णित है ।

श्रमांसमिच्छन्नात्तोऽतुं धर्माधर्मविचक्षणः ।

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥१०६॥

भाष्य—एवं वामदेवो नाम ऋषिः । स आर्तः क्षुधा श्रमांसमनुं भक्षयितु-
मैच्छत् ॥१०६॥

हिन्दी—धर्म तथा अधर्म (के गुण तथा दोष) को जाननेवाले 'वामदेव' ऋषि भूख से पीड़ित होकर प्राणों की रक्षा के लिए कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा करते हुए भी (पाप से) लिप्त (दूषित) नहीं हुए ॥१०६॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।

बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥१०७॥

भाष्य—वृधो नाम तक्षा अप्रतिग्राह्यः । ततो बह्वीर्गा भरद्वाजो नाम ऋषिः
प्रतिजग्राह ॥१०७॥

हिन्दी—निर्जन; वन में पुत्र सहित निवास करते हुए महातपस्वी 'भरद्वाज' मुनि भूख से पीड़ित होकर 'वृधु' नामक बड़ई से सौ गौओं को प्रतिग्रह (दान) लिये (तथा हीन जाति से दान लेकर भी निन्दित कर्म के आचरण करने से पाप-दूषित नहीं हुए) ॥१०७॥

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।

चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥१०८॥

भाष्य—विश्वामित्रो नाम महामुनिः प्रसिद्धः । स कस्मिंश्चिदवसरे क्षुधादुःखेन श्वजाघनीं चण्डालहस्तादादायात्तुमभ्यागत आभिमुख्येनाध्यवसित ।

न केवलं परिदुष्टेऽन्ने दोषोऽस्ति यावत्स्वभावदुष्टेऽपीति श्वजाघनीग्रहणम् ।
सर्वदोषदुष्टमप्यापदि भक्षयितव्यमिति श्लोकात्तात्पर्यार्थः ॥१०८॥

हिन्दी—धर्माधर्म (के गुण-दोष) को जाननेवाले ‘विश्वामित्र’ मुनि भूख से पीड़ित होकर चण्डाल के हाथ से कुत्ते की जङ्घा के मांस को लेकर खाने की इच्छा किये (तथा उस निषिद्ध मांस भक्षण के खाने की इच्छा से पापदूषित नहीं हुए) ॥१०८॥

प्रतिग्रह-निन्दा—

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥१०९॥

भाष्य—आपदीषद्गर्हितयोर्याजनाध्यापनयोः सम्भवे न गर्हितप्रतिग्रहे वर्तितव्यमिति श्लोकार्थः ॥१०९॥

हिन्दी—ब्राह्मण के लिए नीचों को पढ़ाना, यज्ञ करना तथा उनसे दान लेना इन तीनों कर्मों में नीच से प्रतिग्रह (दान) लेना निकृष्ट है, और मरने पर यही परलोक में नरक का कारण होता है अतएव जीविका-निर्वाह नहीं होने से आपत्ति में पड़े हुए ब्राह्मण को यदि नीचों को अध्यापन तथा यज्ञ कराने से भी जीवन-निर्वाह नहीं हो सके तभी उसे उन नीचों से प्रतिग्रह लेना चाहिये ॥१०९॥

प्रतिग्रह निन्दा में कारण—

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥११०॥

भाष्य—अत्रैव हेतुरूपोऽर्थवादः । प्रवृत्तिरेवेदृशो लोकस्य यदनुपनीता नाधीयते न च यजन्ते । अतः सुध्वात्तोऽपि न शूद्रं याजयिष्यत्यध्यापयिष्यति वा । दानं तु सार्ववर्णिकं प्रसिद्धम् । **शूद्रादपि प्रतिग्रहः** कर्तुं प्राप्नोत्यतः स प्रत्यवरः ॥११०॥

हिन्दी—यज्ञ कराना तथा पढ़ाना— ये दोनों कर्म संस्कारयुक्त आत्मावाले (द्विजों) को ही कराये जाते हैं तथा प्रतिग्रह तो निकृष्ट जन्मवाले शूद्र से भी लिया जाता है (अतएव निकृष्टगत कर्म होने से प्रतिग्रह लेना निन्दित कर्म है, इस कारण यथाशक्य उसका त्याग करना चाहिए) ॥११०॥

प्रतिग्रहादि का पापनाश—

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥१११॥

भाष्य—जपेन होमेन चैनः पापमपैति विनश्यति । तेन न क्षतिः ।

प्रतिग्रहाद्यदेनस्तत्त्यागेन तस्य प्रतिग्रहस्य, तपसा, वक्ष्यमाणेन “मासं गोष्ठे पयः पीत्वा” इत्यादि ॥१११॥

हिन्दी—नीचों को पढ़ाने तथा यज्ञ करने से उत्पन्न पाप (गायत्री आदि मन्त्रों के) जप तथा हवन से नष्ट हो जाता है; किन्तु नीच के दान लेने से उत्पन्न पाप उस दान लिये गये पदार्थ के त्याग तथा आगे (१०/११२) कहे जाने वाले तप से नष्ट होता है ॥११२॥

शिल तथा उज्ज से जीविका—

शिलोज्जमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युज्जः प्रशस्यते ॥११२॥

भाष्य—अस्याप्यनुवादोऽर्थवादमेवाह ।

महदेतदन्याय्यं यत्परद्रव्यग्रहणम् । तत्र कदाचिदश्रूयमाणस्य ग्रहणेऽपीदं भव-
दुष्यतोऽप्येतावता प्रशस्यत्वम् । अत्र शिलः प्रतिग्रहसमानजातीयः । स एवायं प्रकर्ष-
प्रत्ययहेतुर्भवति । **प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयानिति** । यतो निकृष्टमपेक्ष्योत्कृष्टत्वनिमित्तं प्रकर्ष-
मनुभवति । न हि भवति चण्डालाद्ब्राह्मणः श्रेयान् । अतः शिलोज्जयोरपि ग्रहणेऽन-
स्वग्रहणम् । तथापि शिलोज्जं श्रेयः । यद्यपि शिलोज्जवृत्तिरत्यन्तोत्कृष्टोक्ता तथाप्यस्ति
किञ्चित्साध्यम् । यतस्तत्राधिदेवतानिष्ठितभृत्यागतं क्रियावैकल्यम् । असत्प्रतिग्रहेऽप्या-
त्मनि ग्रह उपपन्नो न कुप्यतीत्ययमिति । तत्रेतरसंनिहितद्रव्यस्याऽऽत्मनिग्रहः । अतः
शिलोज्जवृत्तिरपि न निरवद्या । ततो युक्तं **प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयानित्यादि ॥११२॥**

हिन्दी—अपनी जीविका (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं होने पर ब्राह्मण
जहाँ कहीं से ‘शिल’ तथा ‘उज्ज’ को स्वीकार करे (किन्तु निन्दित से दान न लेवे; क्योंकि
उस दान से ‘शिल’ तथा ‘शिल’ से ‘उज्ज’ श्रेष्ठ है) ॥११२॥

विमर्श—‘शिल’ तथा ‘उज्ज’ के लक्षण-ज्ञान के लिए ‘ऋतमुज्जशिलं ज्ञेयं’
(४।५) का ‘विमर्श’ देखें ।

राजा से धन-याचना—

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।

याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥११३॥

भाष्य—अत्र त्रीणि निमित्तानि राजप्रतिग्रहे उच्यन्ते ।

सीदद्भिः कुटुम्बावसादं प्राप्तैरापदीत्यर्थः ।

कुप्यमिच्छद्भिः । कुण्डलकटकाद्युष्णीषासनादि काञ्चनादि ।

अन्यद्वा धनं गोहिरण्यादि यज्ञोपयोग्यन्यद् वा । विप्रैः पृथिवीपतिर्याच्यो देशे-
श्वरोऽभ्यर्थयितव्यः ।

अत्र यदुक्तं ‘न राज्ञः प्रतिगृहीयात्’ इति स दुष्टराजविषयः प्रतिषेधो द्रष्टव्यः ।
तथा चोक्तं “लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिन” इति ।

अदित्सन् याचितः सन् दातुं यो नेच्छति । स त्यागमर्हति । तस्य विषये न
वस्तव्यम् । अथवा त्यागो हानिः । अन्यस्य चानिर्देशोद्धर्महानिं प्राप्नोति ॥११३॥

हिन्दी—धन-धान्य के अभाव से दुःखित परिवारवाले अतएव भोजन, वस्त्र तथा
यज्ञादि कार्य के लिए सोना-चाँदी आदि धन चाहनेवाले स्नातक को राजा (क्षत्रिय) से भी
याचना करनी चाहिये और यदि वह (कृपणता आदि से) नहीं देना चाहे तो उससे (याचना
करने) का त्याग कर देना चाहिये ॥११३॥

भूमि गौ आदि में पूर्व-पूर्व अल्पदोषता—

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च ।

हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥११४॥

भाष्य—अकृतमकृष्टं क्षेत्रं प्रशस्यम् । अजाविकं च भवति । परस्परविशेष
उक्तार्थः श्लोको गम्यते ॥११४॥

हिन्दी—जोती हुई भूमि की अपेक्षा बिना जोती हुई भूमि, गौ, बकरी, भेंड, सोना,
धान्य (कच्चा-विना सिद्ध हुआ-अन्न) और पकाया (सिद्ध) हुआ अन्न, इनमें से पूर्व-
पूर्व निर्दोष अर्थात् कम दोषवाला है ॥११४॥

विमर्श—अतएव पूर्व-पूर्व की वस्तु को दान में मिलना सम्भव न हो तभी आगे-
आगेवाली वस्तु को दान में ग्रहण करना चाहिये । उदाहरणार्थ-बिना जोती हुई भूमि के
नहीं मिल सकने पर जोती हुई भूमि को दान में ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार बिना
जोती हुई भूमि को नहीं मिल सकने पर गौ को दान में ग्रहण करना चाहिये । इसी प्रकार
सर्वत्र समझना चाहिये ।

सप्तविध धर्मयुक्त धनागम—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥११५॥

भाष्य—दायोऽन्वयागतं धनम् ।

लाभो निध्यादेः । पित्राद्यर्जिताद्वा बन्धात्संविभागः । यद्यपि तत्पित्रादिक्रमायातं
तथापि न तदायशब्देन शक्यमभिधातुं, बहुसाधारण्यात् । तथा च ‘निबन्धो द्रव्यमिति’

(याज्ञ० २।१२१) स्मृत्यन्तरे पठितम् । अथवा मित्राच्छ्वशुरगृहाद्वा यल्लब्धं प्रीत्या स 'लाभः' ।

क्रयः प्रसिद्धः ।

जयः संग्रामे ।

प्रयोगकर्मयोगौ कुसीदकृषिवाणिज्यानि ।

अतश्च वर्णभेदेनैतेषां धर्म्यत्वम् । तत्राद्यास्त्रयः सर्वसाधारणाः । 'जयः' क्षत्रियस्य । 'प्रयोगकर्मयोगौ' वैश्यस्य । 'सत्प्रतिग्रहो' ब्राह्मणस्य विशेषः । सर्ववर्णेषुपि प्राग्दर्शन-
न्यायो विभागः ।

केचित्क्रये विवदन्ते ।

तत्र युक्तम् । सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् ।

जयं यानबन्धेनापि केचिदिच्छन्ति सर्वविषयम् ।

तदयुक्तम् । द्यूतधनसय स्मृत्यन्तरेष्वशुद्धित्ववचनात् पाशुकद्यूतेत्यत्र ।

तथा परे **प्रयोगमव्यापारमाहुः** । तथा हि प्रयोगो दृश्यते 'ज्ञानपूर्वप्रयोग' इति । तत्र शब्दस्य प्रयोग इति गम्यते ।

तथा 'कर्मयोगः' कर्मप्रचारः ॥११५॥

हिन्दी—(१) दाय (धर्मयुक्त पितृ-सम्पत्ति का भाग) (२) लाभ (मूलधन या मित्रादि से प्राप्त) (३) खरीदा हुआ, (४) जय (धर्मपूर्वक किये गये युद्ध में विजय से प्राप्त,) (५) प्रयोग (व्याज अर्थात् सूद आदि के द्वारा प्राप्त), (६) कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करने से प्राप्त) (७) सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान से प्राप्त), ये सात धन के लाभ होने के स्थान धर्मयुक्त कहे गये हैं ॥११५॥

विमर्श—इनमें से प्रथम तीन चारों वर्णों के लिए, चतुर्थ केवल क्षत्रियों के लिए, पञ्चम षष्ठ वैश्यों के लिए और अन्तिम (सातवाँ) केवल ब्राह्मणों के लिए विहित है । इन सात धनागमों को धर्मयुक्त कहने से अपने लिए विहित धनागम के अभाव में दूसरे के लिए विहित धनागम करने में प्रवृत्त होना चाहिए ।

जीवन के दस हेतु—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्य विपणिः कृषिः ।

धृतिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥११६॥

भाष्य—सर्वपुरुषाणामापदि वृत्तिरियमनुज्ञायते ।

तत्र **विद्या** वेदविद्याव्यतिरेकेण वैद्यकतर्कभूतविषासनविद्या सर्वेषां जीवनार्था न दुष्यति ।

शिल्पं व्याख्यातम् । भृतिः प्रेष्यकत्वम् ।

सेवा परवृत्तानुवृत्तित्वम् ।

धृतिः संतोषः । दृष्टान्तार्थं चैतत् ।

अतो यथाविहितवृत्त्यभावेनैते जीवनोपायाः संकीर्यन्ते । पुरुषमात्रविषय-
त्वात् ॥११६॥

हिन्दी—(१) विद्या (वेद-वेदाङ्गादि का तथा वैद्यक, तर्क, विष-निराकरण आदि की विद्या) (२) शिल्प (वस्त्र-तैलादि को सुगन्धित करना), (३) भृति (दूतादि बनकर वेतन लेना) (४) सेवा (दूसरे की दासता नौकरी करना), (५) गोरक्षण (गौ तथा अन्य पशुओं का पालन-संवर्धन आदि), (६) व्यापार, (७) खेती, (८) धैर्य (थोड़े धन से भी सन्तोष से निर्वाह करना), (९) भिक्षा-समूह और (१०) सूद, ये दस जीवन-निर्वाह के हेतु हैं ॥११६॥

विमर्श—इन जीवन-निर्वाहक कारणों को इस आपद्धर्म के प्रकरण में रहने से जिसके लिए जिस जाति का विधान किया गया है, यदि उससे जीवन-निर्वाह नहीं होता हो तो दूसरे वर्ण के लिए विहित जीवन-निर्वाह साधक कार्य से भी द्विज को जीवन-निर्वाह करना चाहिये । उदाहरणार्थ— आपद्धत ब्राह्मण को भृतिसेवादि, इसी प्रकार भिन्न वर्ण को भी उक्त व्यावसायान्तर से जीवन-निर्वाह करना चाहिये ।

ब्राह्मण-क्षत्रिय को सूद लेने का निषेध—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।

कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥११७॥

भाष्य—धर्मार्थमिति पूर्वोक्तैवाऽऽपत्तिवृत्तिर्वेदितव्या ।

पापीयस इति वचनाद्धार्मिकादल्पाऽपि न ग्रहीतव्या । यदुक्तं ‘अध्यापनतुल्यानि कृषिवाणिज्यकुसीदानि’ तदापद्धतेन ॥११७॥

हिन्दी—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सूद के लिए धन को कभी भी नहीं देवे, किन्तु इस निकृष्ट कर्म से धर्म के लिए थोड़ी सूद पर ऋण रूप में धन को देवे ॥११७॥

राजाओं के आपद्धर्म—

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।

प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥११८॥

भाष्य—राज्ञः क्षीणकोशस्य षड्भागग्रहणापवादश्चतुर्थभागोऽभ्यनुज्ञायते ।

परिशिष्टोऽर्थवादः ।

परमिति क्रियाविशेषणं परया रक्षयेत्यर्थः ॥११८॥

हिन्दी—(राजा को प्रजा के धान्य का पष्ठांश या अष्टमांश या द्वादशांश लेने का शास्त्रसम्मत (७।१३०) विधान होने पर भी) आपत्ति काल में (उतना कर लेने से राज्य-कार्य चलना असम्भव होने पर) प्रजा के धान्य का चतुर्थांश लेता हुआ और यथाशक्ति प्रजाओं की रक्षा करता हुआ राजा अधिक कर लेने के पाप से छूट जाता (दूषित नहीं होता) है ॥११८॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।

शस्त्रेण वैश्याद् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥११९॥

भाष्य—विजयशब्देन विजयफलं युक्तं स्वधर्मतया विधीयते ।

तथा **चाहवे न स्यात्पराङ्मुखः** । भये उपस्थिते पराङ्मुखो युद्धे न स्यादित्यर्थः ।
अनेन प्रकारेण प्रजा **रक्षित्वा वैश्याद्वलिर्हारयितव्यः** । वैश्या महाधना भवन्ति ।
ततस्थाहरणे नियुक्ताः कृतापराधा न हन्यन्ते ॥११९॥

हिन्दी—विजय पाना राजाओं का अपना धर्म है (प्रजा की रक्षा करते हुए भी यदि राजा को कहीं से भय कारक उपस्थित हो जावे तो उसे) युद्ध से (डरकर) विमुख नहीं होना चाहिये और शस्त्रों से वैश्यों की रक्षाकर उनसे आगे (१०।१२०) कहे हुए धर्मयुक्त कर को (आप्त पुरुषों के द्वारा) ग्रहण करना चाहिये ॥११९॥

आपत्ति में वैश्यों से ग्राह्य राजकर—

धान्येऽष्टमं विंशं शिल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।

कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥१२०॥

भाष्य—धान्यव्यवहारिणां लाभादष्टमो भागो ग्रहीतव्यः । **विट**शब्दः प्रजावचनः ।
हिरण्यव्यवहारिणां विंशतितमः । शूद्राः **कर्मोपकरणाः** कर्म उपकरणमुपकारो येषाम्
न ते किञ्चिदापयितव्याः । एवं **शिल्पिनः कारवस्तदेवमुक्तं प्राक्** 'शिल्पिनो मासि-
मासि' इत्यादि ।

अधिकभागग्रहणार्थोऽयं श्लोकः ॥१२०॥

हिन्दी—राजा को आपत्तिकाल में वैश्य के धान्य में से आठवाँ भाग (विशेष आपत्तिकाल में पूर्व (१०।११८) वचन के अनुसार चौथा भाग) और सोने-चाँदी आदि में से बीसवाँ भाग (आपत्तिकाल नहीं होने पर पूर्व (७।१३०) वचन के अनुसार पचासवाँ भाग) कर लेना चाहिये और शूद्र, बढ़ई तथा अन्य कारीगरों से कोई कर नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वे तो काम (बेगार) के द्वारा ही राजा का उपकार करते हैं ॥१२०॥

शूद्र के आपद्धर्म—

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्क्षत्रमाराधयेदिति ।

धनिनं वाऽप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥१२१॥

भाष्य—शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षेतदा क्षत्रमाराधयेत् । वृत्तिग्रहणाज्जीविकार्थमेव क्षत्राराधनम्, न धर्मार्थम् । ब्राह्मणाराधनं तूभयार्थमपीत्युक्तं भवति ।

एवं धनिनं वैश्यमाराध्य जीवेत् ॥१२१॥

हिन्दी—ब्राह्मण की सेवा द्वारा जीवन निर्वाह नहीं होने से जीविका को चाहनेवाला शूद्र क्षत्रिय अथवा धनिक वैश्य की सेवा करता हुआ जीवन निर्वाह करे ॥१२१॥

शूद्र के लिए ब्राह्मणसेवा श्रेष्ठ—

स्वगार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।

जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥

भाष्य—आराधयेदित्युक्तं भवति । तदाह ।

जातब्राह्मणशब्दस्य ‘ब्राह्मणोऽयमिति’ यदाऽस्य एष शब्दो भवति, तदासौ कृतकृत्यः कृतार्थो वेदितव्यः ।

अथवा जातब्राह्मणव्यपदेशस्येति व्याख्येयम् । ब्राह्मणाश्रितोऽयमिति यदाऽस्य व्यपदेशो जायते ॥१२२॥

हिन्दी—वह (शूद्र) स्वर्ग अथवा स्वर्ग तथा जीविका दोनों के लिए ब्राह्मण की सेवा करे । ‘यह ब्राह्मणाश्रित है’ इतने से ही शूद्र कृतकृत्य हो जाता है ॥१२२॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।

यदतोऽन्यद्भि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥१२३॥

भाष्य—ब्राह्मणशुश्रूषैव मुख्यः शूद्रस्य धर्मः ।

ततो यदन्यद्ब्रतोपवासादि कुरुते तदस्य निष्फलम् ।

न तु दानपाकयज्ञादीनामस्य प्रतिषेधः, प्रत्यक्षविधानात् ।

इतरप्रतिषेधो ब्राह्मणशुश्रूषास्तुत्यर्थः ॥१२३॥

हिन्दी—ब्राह्मणों की सेवा करना ही शूद्रों का मुख्य कर्म कहा गया है; इसके अतिरिक्त वह शूद्र जो कुछ करता है उसका कर्म निष्फल होता है ॥१२३॥

शूद्र की वृत्ति नियत करना—

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।

शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

भाष्य—द्विजातीनामयं धर्मः । तस्यवृत्तिः कल्पनीया शुश्रूषमाणस्य । स्व-
कुटुम्बादिति पुत्रवदसौ पालनीयः ।

आत्मीयां शक्तिमवेक्ष्य । दाक्ष्यं च तस्य कार्येषु योगम् । भृत्यानां च पुत्रदाराणां
तदीयानां परिग्रहं कियंतोऽस्य भर्तव्या इत्येतदपेक्ष्य सर्वेषां भरणं कर्तव्यम् ॥१२४॥

हिन्दी—ब्राह्मणों को चाहिये कि— वे अपनी सेवा करनेवाले शूद्र के लिए उसके
काल करने की शक्ति, उत्साह और परिवार के निर्वाह के प्रमाण को (विचारकर तदनुसार)
उसकी जीविका निश्चित कर दे ॥१२४॥

सेवकः शूद्र के लिए उच्छिष्ट अन्नादि देना—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।

पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥१२५॥

भाष्य—उच्छिष्टशब्दो व्याख्यातार्थः । अतिथ्यादिभुक्तशिष्टमाश्रिताय शूद्राय
दातव्यम् । एवं वासांसि जीर्णानि धौतानि शुक्लानि । पुलाका असारधान्यानि । एवं
परिच्छदाः शय्यासनादयः ॥१२५॥

हिन्दी—सेवक शूद्र के लिए जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नों के पुआल तथा पुराने
खाट, बर्तन आदि ब्राह्मण देवें ॥१२५॥

विमर्श—पहले (४।८०) जो शूद्र के लिए इष्टार्थक उपदेश तथा जूठा अन्नादि देने
का निषेध किया गया है वह असेवक शूद्र के लिए है, ऐसा समझना चाहिये ।

शूद्र का मन्त्रहीन धर्मकार्य—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

भाष्य—सर्वोऽयमनुवादश्लोकः ।

यदस्याहत्यशृङ्गग्राहिकया न प्रतिषिद्धं, यथा हिंसास्तेयाद्यनादृतवर्णविशेषं सामान्य-
शास्त्रप्रतिषिद्धं, न तद्व्यतिक्रमादस्य पापमुत्पद्यते । श्रुतमेवास्य शब्देन यथा हिंसास्ते-
यादिस्तत्रास्य भवत्येव दोषः ।

न च संस्कारमुपनयनलक्षणमर्हति । तदुक्तं “त्रयो वर्णा द्विजातयः” इति ।

एवं नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति स्नानोपवासदेवतार्चनादौ नास्य नित्योऽधिकारो-
ऽस्ति । अकरणे न प्रत्यवैति ।

न धर्मात्प्रतिषेधनम् । येषु स्नानोपवासव्रतादिषु नित्याधिकारो नास्त्यकरणे
प्रत्यवायाभावोऽथ निषेधो नास्ति तादृशेभ्यो धर्मेभ्यो न प्रतिषेधः । न चेदृशादस्य प्रति-

षेधः । अतः शिष्टाप्रतिषिद्धत्वादभ्युदयकामस्य तदनुष्ठानं युज्यते । एवं लशुनादि-
भक्षणनिवृत्तिरप्यभ्युदयायास्य वेदितव्या । सामान्यशास्त्रविहितं ‘निवृत्तिस्तु महाफलेति’ ।
अतो न धर्मात्प्रतिषेधनमिति यत्रारम्भः ॥१२६॥

हिन्दी—(लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ खाने पर भी) शूद्र को कोई पातक
(दोष) नहीं होता; क्योंकि इसका (यज्ञोपवीत आदि) संस्कार नहीं होता, इसे (अग्निहोत्र
आदि) धर्मकार्य करने का अधिकार नहीं है और (पाकयज्ञ आदि) धर्मकार्य करने का निषेध
भी नहीं है ॥१२६॥

धर्मेऽप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां धर्ममनुष्ठिताः ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥१२७॥

भाष्य—एतदेवाह । धर्ममाप्तुमिच्छन्तोऽभ्युदयकामाः । सतां साधूनां धर्ममनु-
ष्ठिताः समाश्रिताः । मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति । अतस्ते अनेकाहोपवासदेवतार्चनगुरु-
ब्राह्मणनमस्कारादि सतां वृत्तमाचरन्तो न दुष्यन्ति । प्रशंसां फलं च प्राप्नुवन्ति ।

न पुनरेतन्मन्तव्यं “यानि समन्त्राणि ब्राह्मणादीनां कर्माणि दर्शपौर्णमासादीनि
तानि मन्त्रवर्जं शूद्रस्य न दुष्यन्तीति” । यतः समन्त्रेषूत्पन्नेषु मन्त्ररहितेनानुष्ठानमशाब्दं
स्यात् । मन्त्रवर्जमित्येतस्य दर्शितो विषयः । तथा च भगवान् व्यासः—

“न चेह शूद्रः पततीति निश्चयो न चापि संस्कारमिहार्हतीति ।

स्मृतिप्रयुक्तं तु न धर्ममश्नुते न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं स्मृतम्” ॥ इति

एतदपि यथाविहितानुवाद्येव । लशुनसुरापानादेर्न पतति । संस्कारानर्हतोक्तैव । उक्तं
चानुपनीतत्वाच्छ्रुतिविहितधर्माभावे स्मृतिविषये सामान्यविहिता धर्मा यथोक्तप्रकारास्ते
नास्य प्रतिषिध्यन्ते । तथा च स्मृत्यन्तरं— “पाकयज्ञैः स्वयं यजेत, अनुज्ञातोऽस्य नम-
स्कारो मन्त्र इति” (गौतम १०।६४-६५) ।

ये पुनराहुः— “आवसथ्याधानपार्वणवैश्वदेवान्नपाकयज्ञादिषु शूद्राणां पाक्षिको-
ऽधिकारः” तेषामभिप्रायं न विद्मः । आवसथ्याधानं तावद्गृह्यकारैराम्नातं त्रैवर्णिको-
द्देशेनैव । मन्वादिभिश्चनैवमाम्नातम् । तथा केवलं “वैवाहिकाग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्मेति”
(३।६७) तत्र नैवाम्नातम् । कुतः शूद्रस्याधानम् । अथ पाकयज्ञविधानादग्न्याधाना-
क्षेपस्तदपि न, लौकिकाग्नौ वैश्वदेवो भविष्यति । यावद्वचनं वाचनिकं नान्यदाक्षेप्तु-
मलम् । विवाहाग्रावित्यत्रैव प्रदर्शितम् । पार्वणशब्देन च यद्यामावास्यं श्राद्धमुच्यते तद-
भ्यनुजानीमः, अष्टकापार्वणश्राद्धवैश्वदेवानां विहितत्वात् । अथ दर्शपौर्णमासौ, तद-
पाकृतम् ॥१२७॥

हिन्दी—(अतएव) धर्म के इच्छुक और जाननेवाले तथा द्विजों के अविरुद्ध

आचरण करनेवाले शूद्र मन्त्रहीन (नमस्कारमात्र करके) पञ्चमहायज्ञों को करते हुए निन्दित^१ नहीं होते, अपितु प्रशंसा को प्राप्त करते हैं ॥१२७॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

भाष्य—उक्तार्थः श्लोकः ॥१२८॥

हिन्दी—परगुणों की निन्दा नहीं करनेवाला शूद्र जैसे-जैसे शास्त्रानुकूल द्विजाचरण को करता है, वैसे-वैसे लोक में प्रशंसित होकर परलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है ।

शूद्र को धनसंग्रह करने का निषेध—

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः ।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥१२९॥

भाष्य—शक्तेनापि कृष्यादिकर्मणा धनसञ्चयः शूद्रेण न कर्तव्यः ।

तत्र हेतुस्वरूपमर्थवादमाह । शूद्रो धनं ब्रह्मासाद्य स्वीकृत्य ब्राह्मणानेव बाधते ।

“का पुनर्ब्राह्मणानां बाधा” ।

महाधनत्वादत्यर्थं ब्राह्मणान्प्रतिग्राहयेत् । शूद्रप्रतिग्रहश्च तेषां प्रतिषिद्धः । तत्र नमितभावमापद्यमानो दुष्येत् ।

एतच्च न विहितं कुर्वतः कर्मदोषाशङ्का । तस्माद्ब्राह्मणात्र परिचरेदित्येषैव बाधा ॥१२९॥

हिन्दी—(धनोपार्जन में) समर्थ भी शूद्र को धनसंग्रह नहीं करना चाहिये; क्योंकि धन को प्राप्तकर (शास्त्र का वास्तविक ज्ञान नहीं होने के कारण धनमद से शास्त्र-विरुद्धाचरण तथा ब्राह्मण-सेवा के त्याग करने से) वह ब्राह्मणों को ही पीड़ित करने लगता है ॥१२९॥

अध्याय का उपसंहार—

एते चतुर्णां वर्णानामपद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।

यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमां गतिम् ॥१३०॥

भाष्य—सम्यगापद्धर्मानुष्ठानात्परमा गतिः प्राप्यते । शरीररक्षणाद्विहितातिक्रमो न भवतीति, युक्ता शुभफलप्राप्तिः । नापद्रतेनासत्प्रतिग्रहादौ विचिकित्सितव्यमिति शास्त्र-न्यायानुवादः ॥१३०॥

१. इदं ‘नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञात्र हापयेत्’ इति याज्ञ० स्मृ० (१।१२१) वचनानुसारेण बोद्धव्यम् ।

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि— मैंने) चारों वर्णों के लिए आपत्ति काल के इस (१०।८१-१२९) धर्म को कहा, इसका यथायोग्य पालन करते हुए वे (ब्राह्मणादि चारों वर्ण) श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं ॥१३०॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

भाष्य—पाठादेव सिद्धान्तोऽयमिति ॥१३१॥

इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनुमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से पुनः कहते हैं कि मैंने) चारों वर्णों के सम्पूर्ण धर्म को कहा, इसके बाद (एकादश अध्याय में) शुभ प्रायश्चित्त-विधान को कहूँगा ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् वर्णधर्मा हि सर्वशः ।

सिद्धेश्वर्याः प्रसादेन दशमे पूर्णतां गता ॥१०॥



॥ अथ एकादशोऽध्यायः ॥



नवविध स्नातक के लिए दान देना—

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम् ।

गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥१॥

न वै तान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।

निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥२॥

भाष्य—श्लोकद्वयेन च वाक्यार्थसमाप्तिः । अनेकविशेषणविशिष्टो दानार्थी विधीयते । सान्तानिकादिभ्यो धर्मार्थं भिक्ष्यमाणेभ्यो निःस्वेभ्यो विद्याविशेषेण दातव्यमिति । संप्रति संप्रदानविशेषणत्वे धर्मभिक्षुकशब्दस्याधिकारसंपादनमपि प्रतीयते । एवं नैवं विशिष्टायाश्चैव निमित्तमिति नैमित्तिको दानाधिकारश्चोच्यते ।

संतानं प्रजा प्रयोजनमस्येति सान्तानिको विवाहार्थी भण्यते । तत्र हि धनमुपयुज्यते । भवति च पारस्पर्येण संतानप्रयोजनः । धर्मग्रहणात् 'कामतस्तु प्रवृत्तानाम्' इति द्वितीयादिविवाहप्रवृत्तौ न नियमतो देयमिति ।

एवं यक्ष्यमाणो नित्ययज्ञाग्निष्टोमाद्यर्थं वृत्तिवचनं यः करोति स वेदितव्यः ।

अध्वगः क्षीणपथ्योदनः ।

सार्ववेदसो विश्वजिति सर्वस्वं दक्षिणात्वेन दत्तवान्न तु प्रायश्चित्ताद्यर्थम् ।

स्वाध्यायार्थी । यद्यपि ब्रह्मचारिणोऽध्ययनं विहितं भिक्षाभोजनं च तथापि वस्त्रार्थोपयोगि धनं दातव्यम् । अथवा गृहीतवेदस्य तदर्थजिज्ञासा भैक्षभुजोऽपि ।

उपतापी रोगी ।

स्नातकग्रहणं प्रशंसार्थम् ।

गुर्वर्थं स्वाध्यायार्थत्वं प्रायः स्नातकविषये विद्यते । ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थं कर्तव्यमिति विहितम् ।

निःस्वेभ्यो निर्धनेभ्यः ।

विद्याविशेषतो बहुविधाय बहु स्वल्पविद्यायाल्पमिति ।

“ननु च सर्वमेवेदमप्रकृतं प्रक्रियते । एवं हि प्रतिज्ञातम्, 'अतः परं प्रवक्ष्यामि

प्रायश्चित्तविधि शुभम्' इति' ।

नैष दोषः । आश्रमधर्मत्वादस्य प्रकरणस्य । प्रायश्चित्तानामतुल्यरूपतया सहोपदेश-
स्तत्र प्रायश्चित्तनिमित्तत्वादस्यार्थस्य प्रथममभिधानम् ।

दानं देयमित्युक्तम् । दानशब्दश्च कर्मसाधनः । किं तदेयमित्यपेक्षायामुत्तर-
श्लोकः ॥१-२॥

हिन्दी—सन्तानार्थं विवाहेच्छुक, यज्ञ करने का इच्छुक, पथिक, विश्वजित् आदि
यज्ञ में अपनी समस्त सम्पत्ति को दान किया हुआ, गुरु-पिता-माता के लिए भोजन देने
का इच्छुक, पढ़ने के लिए भोजन, वस्त्र का इच्छुक और रोगी । इन नव स्नातक ब्राह्मणों
को धर्मभिक्षुक जानना चाहिए तथा निर्धन इनके लिए विद्या-विशेष के अनुसार (गौ,
सोना, अन्न और वस्त्र आदि) दान देना चाहिए ॥१-२॥

नवविध स्नानकों को वेदी के भीतर सिद्धान्न देना—

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।

इतरेभ्यो बहिर्वेदिकृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥

भाष्य—'दक्षिणाशब्दो' यद्यपि कर्मकरसंयुक्ते संत्यागे वर्तते, तथापि गोभूमि-
हिरण्यादिभाजनादन्यदेयं द्रव्यमुच्यते । तथा हि लौकिकी प्रसिद्धिरिति ।

इतरेभ्य एतद्व्यतिरिक्ता ये भिक्षुकास्तेभ्यः ।

कृतान्नं सिद्धमन्नं भोजनार्थं दातव्यम् ।

बहिर्वेदि यज्ञादन्यत्रातिथिभ्यो दानं गृहस्थधर्मेषु यदेतत्तदेवानूद्यते ॥३॥

हिन्दी—इन नव (११।१) ब्राह्मणस्नातकों के लिए वेदी (चौके) के भीतर सिद्ध
(पक्व—पका हुआ) अन्न देना चाहिये तथा अन्य वर्ण वालों के लिए वेदी के बाहर
सिद्धान्न देना चाहिए ॥३॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।

ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥४॥

भाष्य—सर्ववर्णानां स्वार्गादिफलाय पुरुषार्थोपयोगि दानं विहितम् । अयं तु राज्ञो
नियमार्थमुपदेशः ।

बहुधनेन राजा **सर्वरत्नानि** मणिमुक्तादीनि । **यथार्हं** विद्याकर्मानुरूपेण ब्राह्मणेभ्यो
दातव्यानि । **यज्ञार्थं च दक्षिणा** । काम्यकर्मसिद्धयेऽपीति पुनरुपदेशः । **प्रतिपाद-**
येत्स्वीकारयेत् ग्राहयेदिति यावत् ॥४॥

हिन्दी—राजा को वेदज्ञाता ब्राह्मणों के लिए यज्ञविधानार्थ (मोती, माणिक्य आदि)
सब प्रकार के रत्न और दक्षिणा के लिए धन देना चाहिए ॥४॥

भिक्षा प्राप्त धन से द्वितीय विवाह का निषेध—

कृतदारोऽपरान्दरान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।

रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥५॥

भाष्य—कामतो द्वितीयादिविवाहप्रवृत्तौ भिक्षमाणस्य निषेधोऽयम् ।

रतिमात्रं फलमित्यादिरर्थवादो, न यथाश्रुतमेव प्रतिपत्तव्यम् ।

अन्ये तु व्याचक्षते । धर्मार्थं सान्तानिकाय दातव्यं न कामप्रवृत्तायेति । स एवायमर्थः पुनरन्यथोच्यते । सान्तानिकाय दातव्यं, अयं तु रतिकामो, न सान्तानिक इत्यर्थः ।

द्रव्यदातुर्हि सा संततिर्न तस्येति ॥५॥

हिन्दी—एक बार विवाहकर सखीक जो ब्राह्मण दूसरों से धन माँगकर द्वितीय विवाह करता है, उसे केवल रति (स्त्री सम्भोग) मात्र ही फल होता है; क्योंकि उस स्त्री में उत्पन्न सन्तान तो धन देनेवाले की होती है ॥५॥

विमर्श—अतएव विवाहित स्त्रीयुक्त ब्राह्मण को धन माँगकर द्वितीय विवाह नहीं करना चाहिये और न ऐसे विवाहेच्छुक के लिये दाता को धन ही देना चाहिये ।

परिवार वाले वेदज्ञ ब्राह्मण को दान देना—

[धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥१॥]

[हिन्दी—जो मनुष्य वेदज्ञाता तथा पुत्र-स्त्री आदि परिवार से युक्त ब्राह्मण के लिए धन (गो, भूमि, सुवर्ण, अन्न आदि) को देता है, वह मरकर स्वर्ग को भोगता है ॥१॥]

सोमयाग के अधिकारी—

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥६॥

भाष्य—त्रीणि वर्षाणि यस्य पर्याप्तं भृत्यभरणाय धनं तत् त्रैवार्षिकं ततोऽधिकं वा यस्यास्ति स सोमं पातुमर्हति ।

श्रुतौ नित्यस्य सोमस्यावश्यकर्तव्यतया उक्तत्वात् भृत्योपरोधेऽपि नैष निषेधः प्रवर्तते, बलीयस्त्वाच्छ्रुतेः । अत इच्छासोमविषयोऽयं निषेधः ।

ननु च सोमे धनं परिक्रियार्थमुपयुज्यते 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति' । तत्र वृत्तिवर्धते-ऽतश्च सोमे तत्र धनमुपयुज्यते । नोच्यते यस्य त्रैवार्षिकमिति ।

ननु च वृत्तिधनमसति धने नित्यवदस्तीति विद्यमानधनेनापि तत्कर्तव्यमेवेष्यते ।

प्राशस्त्यकरदानशब्दो भक्तमात्रे यदि हिरण्यदानं सोमक्रयार्थमेवमादिनिवृत्तिः ॥६॥

हिन्दी—जिसके पास अपने परिवार तथा भृत्यों के तीन वर्ष तक या इससे भी अधिक समय तक पालन-पोषण के लिए अन्न हो, वह मनुष्य काम्य सोमयज्ञ करने के योग्य (अधिकारी) होता है ॥६॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।

स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥७॥

भाष्य—प्रतिषेधातिक्रमेणानधिकारिणः कुर्वतो न्यायसिद्धफलाभावोऽनेनानूद्यते फलग्रहणाच्च काम्यविषयता स्फुटतरा प्रतीयते ।

स पीतसोमपूर्वोऽपि । अनेन प्रथमयज्ञस्यावश्यकर्तव्यतां दर्शयति । स पीतत्वा-
द्यर्थवादोऽयम्, न पुनरपीतसोमस्य प्रतिषेधः ॥७॥

हिन्दी—अतएव (अपने परिवार तथा भृत्यों के तीन वर्ष से कम पालन-पोषण के लिए अन्न रहने पर) जो सोमपान (सोमयज्ञ) करता है, वह नित्य सोमयाग के फल को भी नहीं पाता है ॥७॥

परिवार का पालन बिना किए दान देने से दोष—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।

मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥८॥

भाष्य—यः स्वजनो भृत्यामात्यमातृपितृपुत्रदारादिः तस्मिन् दुःखजीविनि ।
यः परजने यशोर्थं ददाति तस्यासौ विषास्वादः । आपाते सन्निपाते मधुरः । यथा
विषस्यास्वादः सन्निपातमधुरो विपाकविरसो मरणफलत्वात्, एवं तादृशं दानम् । यद्यपि
सम्प्रति यशः सुखं जनयत्यमुत्र प्रत्यवायोत्पत्त्या विषास्वादसमं सम्पद्यते ।

तदेवाह धर्मप्रतिरूपकोऽसौ धर्मसदृशो न धर्मः, शुक्तिरिव रजतज्ञानस्य ॥८॥

हिन्दी—दान देने में समर्थ जो मनुष्य अपने परिवार वालों के दुःखित रहने पर (अपने यश तथा प्रसिद्धि के लिए) दान देता है वह (समाज में यश एवं प्रसिद्धि होने में) पहले मधु (शहर) के समान मीठा और बाद में (परिवार वालों के दुःखित होने के कारण नरक पाने से) विष के समान कटु धर्म का पाखण्डी है (अतएव ऐसे दान को नहीं करना चाहिए ॥८॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।

तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥९॥

भाष्य—पूर्वस्य निन्दार्थवादोऽयम् ।

भृत्या व्याख्याताः ।

उपरोधो भक्तवस्त्रादिना यथोपयोगमाहरणम् ।

और्ध्वदेहिकं परलोकप्रयोजनम् । अमुखोदकं 'मुदकः' आगामीकालः, सोऽस्य दानस्यासुखोदकं भवतीति प्रयोजनं सिद्धमेव ॥९॥

हिन्दी—जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादि पालनीय परिवार को पीडितकर पारलौकिक सुख की इच्छा से श्राद्धादि दान करता है, उस मनुष्य का वह दान जीते हुए तथा मरने पर भी दुःखदायी होता है ॥९॥

विमर्श—पहले (११।८) लौकिक दृश्यमान यश तथा प्रसिद्धि के लिए इस श्लोक से पारलौकिक अदृष्ट सुख के लिए कुटुम्ब पालन नहीं कर सकने पर दान का निषेध किया गया है ।

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।

अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥१२॥]

[हिन्दी—वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री और बालक पुत्र, इनका सैकड़ों अकार्य करके भी पालन-पोषण करना चाहिये, ऐसा मनु ने कहा है ॥१२॥]

एकाङ्गहीन यज्ञपूर्यर्थ वैश्य आदि से धन लाना—

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥१०॥

यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।

कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥११॥

भाष्य—अत्राङ्गग्रहणान्न केवलं सर्वासां दक्षिणानामसम्पत्तौ हिरण्यानामिदमाहरणं विधीयते । अपि च तस्मिन्नपि पश्चादौ । आहरेदिति तत्स्वीकारोत्पत्तिमात्रमुच्यते, नोपाय-विशेषः । अतश्च याञ्चया विनिमयेन चौर्येणैवापहर्तव्यम् ।

“ननु च चौर्येण साम्यं नोत्पद्यत इत्युक्तम्” ।

नैष दोषः । इह स्वशब्देनैवोक्तं 'हर्तव्यमिति' । एवं ह्याह— 'कर्तव्यं हीनकर्मण' इति ।

अयं चापहारः प्रागारब्धयागस्य सर्वाङ्गोपेतस्यैकाङ्गासंपत्तौ प्रारिप्स्यमानस्य वेति न विशेषहेतुरस्ति ।

ब्राह्मणस्य विशेषेणेतिवचनात्क्षत्रियवैश्ययोरप्यस्ति तदेकाङ्गग्रहणमस्मिन्निमित्ते ।

ननु कः क्षत्रियो याचेदिति क्षत्रियस्य याञ्चा प्रतिषिद्धा ।

अत्यल्पमिदमुच्यते । ब्राह्मणस्यापि चौर्यं निषिद्धम् । तस्मात्स्मिन्निमित्ते नास्त्यर्जनो-
पायनियमः ।

धार्मिके सतीत्यनुवादोऽयम् । यो हि धर्मज्ञो राजा तस्मिन्निमित्ते चौर्यं विहतमिति ।
अन्यस्य तु निगृहीतत्वात्कृतः प्रवृत्तिः ।

बहुपशुग्रहणं धनमात्रोपलक्षणार्थम् ।

हीनक्रतुः कर्म यागादन्यदपि दानादि न करोति । सत्यप्यसोमपे ।

कुटुम्बाद्गृहादित्यर्थः । गृहाद्धि चौर्यं दोषवत्तरमतस्तदनुज्ञायते ।

न पुनरप्येवमेव नियमः । अन्यतोऽपि यत्खलादेः सम्पद्यते तत्कर्तव्यमेव । वक्ष्यति
च ‘खलात्क्षेत्रादगाराद्वेति’ ॥१०-११॥

हिन्दी—यज्ञ करते हुए क्षत्रिय का, विशेषकर ब्राह्मण का यज्ञ आदि एक अङ्ग से
(धनाभाव के कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो राजा के धर्मात्मा रहने पर यह ब्राह्मण या
क्षत्रिय यज्ञकर्ता बहुत पशुवाले, पाक-यज्ञादि नहीं करनेवाले तथा सोमयज्ञ से भी हीन
जो वैश्य हों; उसके परिवार से बाकी यज्ञ के पूर्ण होने के लिए (याचना से नहीं देने
पर बलात्कार या चोरी से भी) धन लावे । (ऐसे करनेवाले क्षत्रिय या विशेषकर ब्राह्मण
यज्ञकर्ता को धर्मात्मा राजा उक्तापराध में दण्डित नहीं करे ॥१०-११॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥१२॥

भाष्य—वैश्यासम्भवे शूद्रादप्याहर्तव्यम् ।

त्रीणि वा द्वे वेत्यङ्गप्रकरणादङ्गानि वेदितव्यानि ।

अत्रार्थवादो न हि शूद्रस्येति ।

यद्यपि पूर्वमनेकोपायकृतमाहरणं विहितं तथापि भिक्षणमत्र नास्ति, ‘न यज्ञार्थं धनं
शूद्राद्विप्रो भिक्षेतेति’ ।

“ननु च स्मृत्यन्तरेऽविशेषेण शूद्रधनेन यागः प्रतिषिद्धः” ।

अस्योपदेशस्य सामर्थ्याच्छूद्रात्प्रतिगृहीतेति द्रष्टव्यम् ।

अन्ये त्वाहुः । ब्राह्मणेन स्वीकृतत्वान्नैव तच्छूद्रधनमिति । यस्तु प्रतिषेधः, स
शूद्रस्य शान्तिकपौष्टिकादि येन धनेन करोति ऋत्विग्वत्तत्र द्रष्टव्यः । इह तु भूतपूर्व-
गत्या शूद्रधनव्यपदेशोऽस्य स्यात् सांप्रतिकत्वाभावे च शास्त्राद् या चैवति चेत्यय-
मेव ॥१२॥

हिन्दी—यज्ञ दो या तीन अङ्गों से (धनाभाव के कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो,

उसकी पूर्णता के लिए वैश्य के यहाँ से धन नहीं मिलने पर (बलात्कार या चोरी से धनवान्) शूद्र के यहाँ से धन लावे; क्योंकि शूद्र का यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है ॥१२॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्ञश्च सहस्रगुः ।

तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥१३॥

भाष्य—ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामप्येवंविधाभ्यामाहर्तव्यमिति श्लोकार्थः ।

गोग्रहणं तावत्परिमाणधनोपलक्षणार्थम् ।

अयज्ञोऽसोमयाजी ॥१३॥

हिन्दी—जो ब्राह्मण या क्षत्रिय सौ यज्ञ करने योग्य धन होने पर भी अग्निहोत्र नहीं करता हो तथा एक सहस्र गौ या उतना धन होने पर भी सोमयज्ञ नहीं करता हो, ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रिय के परिवार से (धनाभाव के कारण) यज्ञ दो या तीन अङ्गों से पूर्ण नहीं हो तो यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण (बलात्कार या चोरी से) धन लावे ॥१३॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।

तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥१४॥

भाष्य—अयं सर्ववर्णविषयः श्लोकः ।

आदाननित्यो यः सर्वकालं कृषिप्रतिग्रहकुसीदादिभिर्धनमर्जयति न च ददाति ।
तत उपायान्तराण्याश्रयणीयानि ।

अदातुरित्ययागशीलस्यापि द्रष्टव्यम् ॥१४॥

हिन्दी—सर्वदा दान आदि का धन लेनेवाला तथा इष्टपूर्त और दान आदि नहीं करनेवाला (ब्राह्मण) यज्ञ के दो या तीन अङ्गों की पूर्णता के लिए यदि याचना करने पर भी यजमान (यज्ञकर्त्ता) को धन नहीं दे तो यजमान उनको (बलात्कार या चोरी से) लावे, ऐसा कहने से धन लानेवाले यज्ञकर्त्ता की ख्याति और धर्म की वृद्धि भी होती है ॥१४॥

विमर्श—‘अग्निहोत्र तप, सत्य, वेदरक्षण, अतिथिसत्कार, वैश्वदेव, अथवा किसी एक अग्नि में या त्रेताग्नि में हवन करना तथा वेदी के भीतर ब्राह्मण को दान देना ‘इष्ट’ कहलाता है । पोखरा, तडाग, बावली, देवमन्दिर बनवाना, अन्नदान करना और बगीचा लगाना ‘पूर्त’ कहलाता है ।

१. हेमाद्रौ दानखण्डे शङ्खोक्तमिष्टलक्षणम्—

‘अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चैव पालनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च ‘इष्ट’मित्यभिधीयते ॥ इति ।.....

छः उपवास के बाद नीच से भी अन्न लाना—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्रता ।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥१५॥

भाष्य—आत्मकुटुम्बावसादेऽपि पूर्ववत्परादानं कर्तव्यम् ।

अश्वस्तनग्रहणादेकदिनवृत्त्यर्थमेवानुजानाति नाधिकम् ।

हीनकर्मण इति कर्मार्थम् ।

स्मृत्यन्तरे ‘हीनादादेयमादौ स्यात्तदलाभे समादपि । असम्भवे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥’

सप्तमे भक्ते । त्र्यहं येन न भुक्तं चतुर्थेऽहनि प्रातर्भोजनार्थं परादाने प्रवर्तेत । सायंप्रातर्भुञ्जीतेत्यहन्यहनि भक्तद्वयं विहितम् ॥१५॥

हिन्दी—छः जून (तीन दिन-तीन रात) जिसने भोजन नहीं किया हो; वह मनुष्य चौथे दिन भी (कहीं भोजन का ठिकाना नहीं लगने पर) हीन दानादि (शुभकर्म से वर्जित) कर्मवाले पुरुष के यहाँ से भी एक दिन भोजन करने योग्य अन्न (चोरी या बलात्कार से भी) लावे ॥१५॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।

आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१६॥

भाष्य—यतो वापीति आरामादेरपि ।

आख्यातव्यं पृच्छत इत्येव । यदि पृच्छतीति वचनं न हठात्पुनः प्रेषणादिना प्रश्नमसौ कारयितव्यः ।

अथवा पृच्छते धनस्वामिने यदि पृच्छति राजेति । ‘राजपुरं नीत्वैव’ विषयभेदो दर्शयितव्यः । यथा च गौतमः (अ० १८ सू० ३०) ‘आचक्षीत राजा पृष्ट’ इति ।

भक्तच्छेदे यज्ञप्रतिबन्धतः प्रकरणविशेषादुभयत्रायं विधिर्ज्ञेयः ॥१६॥

यद्वा— ‘एकाग्निकादौ यत्कर्म त्रेतायां यच्च हूयते ।

अन्तर्वेद्याञ्च यद्वात्र ‘मिष्ट’ तदभिधीयते’ ॥

तत्रैव व्यासोक्तं पूर्तलक्षणम्—

‘पुष्करिण्यस्तथा वाप्यो देवतायतनानि च ।

अन्नदानमथारामाः ‘पूर्त’मित्यभिधीयते’ ॥ इति ।

(हेमाद्रौ दानखण्डे पृष्ठे २१)

हिन्दी—खलिहान से, खेत से, घर से अथवा जहाँ कहीं से भी मिल सके वहाँ से यागादि सत्कर्म से वर्जित और हीन कर्म करनेवाले के भी धान्य (अन्न) को (छः शाम का उपवास किया हुआ मनुष्य चौथे दिन भी उपायान्तर से अन्न प्राप्त होने का ठिकाना नहीं लगने पर चोरी आदि से) लावे और यदि उस धान्य का स्वामी पूछे कि 'तूम्ने मेरा धान्य क्यों लिया?' तो उस पूछनेवाले धान्य स्वामी से कह दे कि 'मैंने खाने के लिए लिया' ॥१६॥

ब्राह्मण के धन लेने का निषेध—

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।

दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥१७॥

भाष्य—क्षत्रियेणेति । क्षत्रियग्रहणं वैश्यशूद्रयोरपि प्रदर्शनार्थम् ।

कदाचनेति महत्यामापदीत्यर्थः ।

दस्युनिष्क्रिययोर्ब्राह्मणयोरेव । 'दस्यु'स्तस्करो 'निष्क्रिय'स्त्वकर्माऽनाश्रमी ॥१७॥

हिन्दी—इन आपत्तियों (११।११-१६) के उपस्थित होने पर भी क्षत्रिय ब्राह्मण के धन को कदापि नहीं लावे; किन्तु निषिद्ध (चोरी आदि) कार्य करनेवाले तथा विहित (यज्ञ, वेदाध्ययन, दानादि) कार्य नहीं करनेवाले ब्राह्मण के भी धन को क्षत्रिय लावे ॥१७॥

विमर्श—तुल्यन्याय से उक्तापत्ति में पड़ा हुआ वैश्य-अपने से उच्चवर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय के तथा शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के धन को नहीं लावे, किन्तु वे निषिद्ध कर्म को करने तथा विहित कर्म को नहीं करनेवाले हों तो अपने से उच्चवर्ण वाले ऐसे लोगों को नीच वर्ण लावे । उक्त प्रकार (११।११-१६) से चोरी या बलात्कार से धन लानेवाला आपत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति धर्मात्मा राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता ।

दुष्टों से धन लेकर सज्जनों को देना—

योऽसाधुभ्योऽथमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।

स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥१८॥

भाष्य—प्लवः समुद्रतरणः । उभौ यस्यापहरति यस्मै च प्रयच्छति । शेषोऽर्थवादः ॥१८॥

हिन्दी—जो मनुष्य (उक्त निमित्त (११।११-१७ के आने पर) दुष्टों से धन लाकर सज्जनों (यज्ञाङ्गसाधक ऋत्विक् आदि) के लिए देता है, वह अपने को नाव बनाकर उन दोनों को (धनवाले के धन को पुण्य कर्म में लगाने से उसके पुण्य को बढ़ाकर धन-

स्वामी को तथा दानलेनेवाले के यज्ञादि को पूरा होने से उसकी आपत्ति को दूरकर दान लेनेवाले को, दुःख से) पार कर देता है ॥१८॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।

अयज्चनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥१९॥

भाष्य—अयमस्यार्थवाद एव । 'गुणवद्भ्यो नापहर्तव्यं निर्गुणेभ्यस्तु न दोषः' ॥१९॥

हिन्दी—नित्य यज्ञ करनेवालों का जो धन है, उसे विद्वान् लोग 'देवों का धन' कहते हैं और यज्ञ नहीं करनेवालों का जो धन है, 'असुरों का धन' कहते हैं (अतएव उन 'असुरों के धन' को लेकर यज्ञ में लगाने से 'देवों का धन' बनाना चाहिए) ॥१९॥

यज्ञादि के लिए चोरी करनेवाले ब्राह्मण को दण्ड निषेध—

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।

क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२०॥

भाष्य—अस्मिन्निमित्ते चौरत्वेनानीतेभ्यो राज्ञा दण्डो न कर्तव्यः । यतस्तस्यैव बालिश्यान्मौख्यात् क्षुधाऽवसीदति । क्षुधेत्यविवक्षितमुभयोः प्रकरणादर्थवादत्वाच्च ॥२०॥

हिन्दी—धार्मिक राजा पहले (११।११-१७) आपत्तिकाल में दूसरे के धन को (चोरी या बलात्कार से भी) लेनेवाले ब्राह्मण को दण्डित न करे, क्योंकि क्षत्रिय अर्थात् राजा की मूर्खता से ही ब्राह्मण क्षुधापीडित होता है । (अतः उसका उक्त प्रकार से धन लाना अपराध नहीं है) ॥२०॥

क्षुधापीडित ब्राह्मण के लिए वृत्ति कल्पना—

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।

श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्या प्रकल्पयेत् ॥२१॥

भाष्य—धर्म्या वृत्तिर्यया नित्यकर्माण्यपि संपद्यन्ते । क्षीणकोशेनापि महिषी-राजपुत्रादिकल्पिताद्यायाद्विहिताच्च धनाच्च किंचिदवकृष्य दातव्यमिति । स्वकुटुम्बादित्यादिना महाधनस्यैव राज्ञोऽयं विधिः । 'सर्वरत्नानीति' वचनात् ॥२१॥

हिन्दी—(इस कारण से) राजा उस ब्राह्मण के पालन-पोषण करने योग्य (स्त्री-पुत्र आदि) तथा उसके आचरण एवं शील को मालूमकर तदनुसार धर्मयुक्त जीविका को अपने कुटुम्ब से नियत करे ॥२१॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।

राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२२॥

भाष्य—स्पष्टार्थोऽयं श्लोकः ॥२२॥

हिन्दी—राजा इस (क्षुधा-पीड़ित ब्राह्मण) की जीविका नियतकर चोर आदि सब प्रकार से उसकी रक्षा करे; क्योंकि सुरक्षित ब्राह्मण के धर्म का षष्ठांश (छठा भाग) राजा प्राप्त करता है ॥२२॥

यज्ञार्थं शूद्र से भिक्षा का निषेध—

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।

यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२३॥

भाष्य—भिक्षणमत्र निषिध्यते । अयाचितोपपन्नं तु न दुष्यति । तथा चोक्तं 'अयाचितोपपन्नात्रां द्रव्याणां यः प्रतिग्रहः । विशिष्टलोकशास्त्राभ्यां तं विद्यादप्रतिग्रहम्' ॥ इति ।

यज्ञार्थोऽयं प्रतिषेधो न तु भृत्यभरणे ।

केचित्पूर्वशेषमेव मन्यन्ते । भिक्षणे दोषदर्शनादुपायान्तरेणोक्तमादानम् ॥२३॥

हिन्दी—ब्राह्मण को यज्ञ के लिए (भी) शूद्र से कभी भी धन नहीं माँगना चाहिये; क्योंकि (शूद्र से धन को माँगकर उससे) यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण मरकर चण्डाल होता है (अतः यहाँ पर माँगने का निषेध करने से बिना माँगे यज्ञ के लिए शूद्र से धन मिल जाने पर शास्त्रविरुद्ध नहीं होता ॥२३॥

यज्ञार्थं धन लेकर बचाने का निषेध—

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।

स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥२४॥

भाष्य—भिक्षितस्य यज्ञार्थपरिशेषितस्य कार्यान्तराय फलं काकताभासता-प्राप्तिः ॥२४॥

हिन्दी—जो मनुष्य यज्ञ के लिए धन माँगकर सब धन को दान नहीं कर देता है वह (मरकर) सौ वर्षों तक भास या कौए का जन्म पाता है ॥२४॥

देव तथा ब्राह्मण के धनहरण का निषेध—

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।

स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२५॥

भाष्य—यागशीलानां त्रयाणां वर्णानां यद्वित्तं तद्देवस्वम् । ब्राह्मणस्यायागशील-स्यापि यत्स्वं तद्ब्राह्मणस्वमिति ।

एवमपि श्लोको गच्छत्येव । किंतु अर्थवादश्लोकोऽसौ । 'यद् धनं यज्ञशीलाना-

मिति’, नचौर्यादिशब्दवच्छब्दार्थपरिभाषापरः । अतोऽन्यथा व्याख्यायते । देवानुद्दिश्य यागादिक्रियार्थं धनं यदुत्सृष्टं **तद्देवस्वम्** । मुख्यस्य स्वस्वामिसम्बन्धस्य देवानामसम्भवात् । न हि देवता इच्छया धनं नियुज्जते । न च परिपालनव्यापारस्तासां दृश्यते । स्वं च लोके तादृशमुच्यते । तस्माद्देवोद्देशेन यदुक्तं ‘नेदं मम देवताया इदमिति’ **तद्देवस्वम्** । तच्च दर्शपूर्णमासादियागेष्वग्न्यादिदेवताभ्यश्चोदितम् । शिष्टसमाचारप्रसिद्धयैव गौणोपाय-दुर्गायागादिषु ।

“ननु चतुर्भुजादिप्रतिमासम्बन्धि लोके **देवस्वमुच्यते** । लोकप्रसिद्धश्च शब्दार्थः शास्त्रे ग्रहीतुं न्याय्यः” ।

स्यादेवं यदि देवस्वशब्दो निर्भागः प्रसिद्धिमुपेयात् । देवानां वं देवस्वमित्यवयव-प्रसिद्ध्या समुदायार्थः प्रकृष्टः । न च वाक्यान्तरप्रकल्पना प्रमाणेनाप्यस्ति । मुख्यं चतुर्भुजादीनां देवत्वं प्रतिमाव्यवहारेणैवापहतम् । न च व्ययोक्ल (?) लक्षणमस्ति । अथ समाचारतौ देवस्वं भवतु, स्वस्वामिभावस्तावन्नास्ति । यथोक्तेन च प्रकारेण स्वव्यव-हारोपपत्तिरिति शिष्टं द्वितीये ॥२५॥

हिन्दी—जो मनुष्य लोभ से देवता (मठ, मन्दिर आदि) के तथा ब्राह्मण के धन को लेता है, वह पापी (मरकर) परलोक में गीध का जूठा खाकर जीता है ॥२५॥

सोमयाग नहीं कर सकने पर वैश्वानर याग करना—

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।

क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥२६॥

भाष्य—**वैश्वानर्या** इष्टेर्गृह्यस्मृतिभ्यः स्वरूपमवसातव्यम् ।

समाप्ते वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरब्दपर्ययः ।

क्लृप्तानां विहितानां **पशुसोमानां** नित्यानां षाण्मास्यः सांवत्सरः पशुर्नित्यं वसन्ते सोमः । तेषाम**सम्भवे** धनाभावादिदोषेण । **निष्कृत्यर्थं** नित्यस्याकरणे यो दोष-स्तन्निवृत्त्यर्थम् ।

श्रुतेऽस्मिन्निमित्तेऽन्यकर्म समामनन्ति । तत्र केचित्समुच्चयं मन्यन्ते, सत्यप्येक-कार्यत्वे प्रमाणभेदेन विधानात् । तदयुक्तम् ।

तथा च ब्रह्महत्याप्रायश्चित्ते श्रौते स्मार्ते च स्वशब्देन विकल्पं वक्ष्यति ‘अभि-जिद्विश्वजिद्ध्यां च’ इति ॥२६॥

हिन्दी—वर्ष (संवत्) के बदलने के समय अर्थात् चैत्र शुक्ल के आरम्भ में शास्त्रविहित सोमयज्ञ को नहीं कर सकने पर उसके दोष की शान्ति के लिए (शूद्रादि

से धन लेकर भी) वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए ॥२६॥

यज्ञ में समर्थ को अनुकूल करने का निषेध—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥२७॥

भाष्य—आपत्कल्पप्रतिनिधिं वैश्वानरीं वा विद्यमानधनो यो गौणपक्षमाश्रयति तस्य न सोऽर्थः सिध्यति ॥२७॥

हिन्दी—जो द्विज आपत्तिकाल के नहीं रहने पर भी आपत्तिकाल के विधान से धर्म (यज्ञादि कर्म) करता है, वह (मरकर) परलोक में उस यज्ञ के फल को नहीं पाता है अर्थात् उसका वह यज्ञ करना निष्फल होता है, ऐसा (मनु आदि महर्षियों ने) कहा है ॥२७॥

सोमयाग का प्रतिनिधि—

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।

आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥२८॥

भाष्य—एष एवार्थः ‘आपदि प्रतिनिधिराश्रयितव्यो न संपदि’ ॥२८॥

हिन्दी—विश्वेदेव, साध्यगण (देवयोनि विशेष) और महर्षि ब्राह्मणों ने मृत्यु से डरकर आपत्तिकाल में विधि (शास्त्रोक्त प्रधान विधि सोमयज्ञादि) के प्रतिनिधि (वैश्वानर यज्ञ आदि) को किया है (अतः समर्थ नहीं होने पर ही मुख्य विधि सोमयज्ञादि को छोड़कर उसके प्रतिनिधि वैश्वानर यज्ञादि को करना चाहिये) ॥२८॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।

न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥२९॥

भाष्य—अयमपि पूर्वशेषोऽर्थवादः ।

सांपरायिकं पारलौकिकम् ॥२९॥

हिन्दी—जो मनुष्य मुख्य यज्ञ को करने में समर्थ होकर भी अनुकल्प (मुख्य का प्रतिनिधि) आपत्तिकाल के लिए सम्मत अप्रधान पक्ष से यज्ञ को करता है, उस दुर्बुद्धि को पारलौकिक वृद्धि तथा पापनाशरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥२९॥

ब्राह्मणादि को स्वशक्ति से शत्रुविजय करना—

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।

स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥३०॥

भाष्य—निमित्तेऽभिचारो न दोषायेति श्लोकार्थः । न त्वभिचारो विधीयते । न च

राजनि वदनं प्रतिषिध्यते । केवले सति निमित्तेऽभिचरितुं प्रवृत्तो राज्ञा न किञ्चिद्वक्तव्यः । तथा वक्ष्यति ‘विधाता शासिता वक्ता’ इति । ‘तस्मै नाकुशलं ब्रूयात्’ इति राजेति प्रतीयते ।

शिष्यादिति । सत्यपि विधौ राजनि निवेदयेत् । न च प्रतिषेध उपसंहारश्लोक-पर्यालोचनया तत्परमवतिष्ठते ।

निमित्तानि चोक्तानि ‘भार्यातिक्रमकारी’ चेत्यादीनि ।

किञ्चित्पीडानिमित्त ‘मनेन मे कृतमिति’ राज्ञे निवेदयेत् ।

धर्मवित् अभिचारविधिज्ञः ।

स्ववीर्येण मन्त्राभिशापाभ्याम् । तत्रैवोत्तरश्लोकार्थः ॥३०॥

हिन्दी—धर्मज्ञाता ब्राह्मण किसी के किसी अपराध को राजा से न कहे (किसी पर राजा के यहाँ मुकदमा न करे), किन्तु उन अपराधी मनुष्यों को अपने पराक्रम (आगे कही जानेवाली शक्ति) से दण्डित करे ॥३०॥

विशेष—इस वचन के अनुसार अपने धर्म के विरोध के कारण नीच के अपराध करने पर अभिचार आदि कर्म से उसे (अपराधी को) दण्डित करने में ब्राह्मण को दोष नहीं होता, अतएव इस वचन से न तो ब्राह्मण के लिए अभिचार प्रयोग करने का विधान ही किया गया है और न राजा के पास अपराधी के अपराध निवेदन करने का निषेध ही किया गया है ऐसा समझना चाहिये ।

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।

तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्रिजः ॥३१॥

भाष्य—राजा कदाचिदनिपुणतया च निग्रहेण प्रवर्तेत स्वतस्तु न कदाचिदुपेक्षेति स्ववीर्यं बलीयः ॥३१॥

हिन्दी—(ब्राह्मण के लिए) अपने (ब्राह्मण के) पराक्रम तथा राजा के पराक्रम से अपना (ब्राह्मण का) पराक्रम ही अधिक बलवान् है, अतएव ब्राह्मण अपने पराक्रम से ही शत्रुओं का निग्रह करे ॥३१॥

ब्राह्मण के लिए शत्रु-निग्रह का उपाय—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।

वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥३२॥

भाष्य—किंतत्स्ववीर्यमिति शङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः ।

श्रूयन्त इति श्रुतयः । अथर्वणवेदे येऽभिचारप्रकाराः श्रुतास्ते कर्तव्या इत्यर्थः ।

बाहुल्येन तत्राभिचाराणां विधानात् अथर्वाङ्गिरसग्रहणम्, न पुनरन्येषु वेदेष्वननुज्ञातम् ।

अथवाऽभिचारश्रुतयोऽथर्वाङ्गिरसशब्देनोच्यन्ते ।

अथवाथर्वणशब्दा एवंविध एवार्थे प्रयुज्यन्ते 'यज्ञोऽथर्वणवित्काम्य' इति ॥३२॥

हिन्दी—ब्राह्मण अपने वेद के आङ्गिरस श्रुति (दुष्ट मन्त्रों) को बिना विचारे ही (शीघ्र ही, शत्रु पर) प्रयोग करे; क्योंकि ब्राह्मण का (अभिचारमन्त्रोच्चारणरूप) वचन ही शस्त्र है, अतएव उस (वचनरूपी शस्त्र) से ब्राह्मण शत्रुओं को नष्ट करे (राजा के यहाँ उसके अपराध को कहकर दण्डित न करावे, किन्तु अभिचार प्रयोग से उसे स्वयं दण्डित करे) ॥३२॥

[तदस्त्रं सर्वसर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।

तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ॥३॥]

[हिन्दी—तपोबल के प्रभाव से वह अस्त्र अवध्यों को भी पीड़ित करता है, शक्ति के द्वारा वह सब वर्णों से अनिवार्य (नहीं रोका जानेवाला) है ॥३॥]

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।

[तद्धि कुर्वन्त्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४॥]

[हिन्दी—क्षत्रिय अपने बाहुबल से (शत्रुकृत पराभव से उत्पन्न अपनी पवित्र आपत्ति को पार करे । शक्ति के अनुसार वह कार्य करता हुआ (वह क्षत्रिय) परम गति को पाता है ॥४॥]

धनेन वैश्यशूद्रो तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥३३॥

पूर्वशेष एव ॥३३॥

हिन्दी—वैश्य तथा शूद्र (प्रतिकार करनेवाले के लिए) धन देकर और ब्राह्मण (अभिचार-सम्बन्धी) जप तथा हवनों से (शत्रुकृत पराभव से उत्पन्न) अपनी विपत्ति को पार करे ॥३३॥

ब्राह्मण से दूषित वचन कहने का निषेध—

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।

तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥३४॥

भाष्य—प्राग्व्याख्यातोऽयम् ।

तस्मै ब्राह्मणायाभिचरते 'निगृह्यतामयमि'त्यकुशलं न ब्रूयात् ।

न शुष्कां गिरमीरयेत् । वाग्दण्डधिग्दण्डयोरपि प्रतिषेधः ।

अथवा सर्वेषां वर्णानां न ब्राह्मणः क्षोभयितव्यो यस्त्रयीविद्याप्रभावेण शक्तः स्वयं निग्रहीतुम् ।

विधाता स्रष्टा । अन्यस्य राज्ञः । शासिता निग्रहीता । वक्ता हितान् ।

अतो मैत्रस्तस्मात्सर्वप्रशक्तियुक्तत्वान्न दुर्बलोऽयमित्यवमन्तव्यः ॥३४॥

हिन्दी—शास्त्रोक्त कर्मों को करनेवाला, पुत्र, शिष्यादि का शासन करनेवाला, प्रायश्चित्त विधि आदि को कहनेवाला ब्राह्मण सबका मित्ररूप है, अतएव उससे (‘इसको पकड़ो, दण्डित करो’ इत्यादि) अशुभवचन तथा रूखी बात नहीं कहनी चाहिये ॥३४॥

कन्या तथा मूर्खादि को अग्निहोत्र करने का निषेध—

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।

होता स्यादग्निहोत्रस्य नात्तो नासंस्कृतस्तथा ॥३५॥

अग्निहोत्रे ऋत्विग्वरणस्य समाम्नानात् ‘जुहुयाद्धावयेद्वेति’ स्त्रीपुंसयोरविशेषेण क्षीरहोतृताप्राप्तौ कन्यावुत्योः प्रतिषेधः ।

एवमाहुतिद्वयमात्रविधिज्ञस्याल्पविद्यस्य बालिशस्य वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ।

आत्तो व्याधिना ।

असंस्कृतोऽनुपनीतः ।

एतच्चायुक्तम् । श्रौते ह्यग्निहोत्रे ‘स्वयं पर्वणि जुहुयात् ऋत्विजामेक इतरेषां कालमिति’ समाचरन्ति । न च स्त्रीणामात्विज्यसम्भवोऽतो गृह्याग्निविषये कन्यायुवत्योः प्रतिषेधो, जातपुत्रायाः प्राप्त्यर्थ इति वर्णयन्ति । तथा चान्येपि सूत्रकाराः ‘कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात्सायंप्रातर्होमाविति’ ।

अन्ये तु ‘वैतानकुशल’ इति वचनात्त्रेताग्निविषयमेवेदं मन्यन्ते ।

‘वितानो’ विहारः । सच श्रौतेष्वग्निषु सम्भवति । न च तत्र स्त्र्यादीनां प्राप्तिः, न त्वविदुषां, विशिष्टानामेव पुंसामात्विज्यविधानात् । ‘अतोऽग्निहोत्र’ग्रहणं सर्वकर्मणां, ‘होतृ’ग्रहणं च सर्वर्त्विजां प्रदर्शनार्थम् ।

अतः श्रुत्यर्थानुवादमात्रमेषा स्मृतिः ॥३५॥

हिन्दी—अविवाहित कन्या, विवाहित भी युवती, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत संस्कार से हीन मनुष्यों को अग्निहोत्र का हवन नहीं करना चाहिये ॥३५॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत् ।

तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥३६॥

भाष्य—एते कन्यादयो जुह्वतो नरकं गच्छन्ति । स च यजमानो हावयिता ॥३६॥

हिन्दी—हवन करते हुए ये लोग (११।३५) तथा जिसकी तरफ से हवन करते

हैं वे नरक में पड़ते हैं, अतएव वैदिक कर्म में प्रवीण तथा वेद के परागामी को ही हवनकर्ता बनाना चाहिये ॥३६॥

दक्षिणा में अश्व को देना—

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।

अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३७॥

भाष्य—अग्न्याधेयेऽश्वो दक्षिणा दातव्या ।

प्राजापत्यग्रहणं स्तुत्यर्थम् ।

अथवा नात्युत्कृष्टो नातिनिकृष्टः ‘प्राजापत्यः’ । अथ च लौकिका ईदृशे वस्तुनि ‘प्रजापति’ शब्दमुदाहरन्ति ।

विभवे सतीति वचनादसंपत्तावददद्भवत्येवाहिताग्निः ॥३७॥

हिन्दी—सम्पत्ति रहने पर भी जो द्विज अग्न्याधान के समय प्रजापति देवता को (प्रजापति हैं देवता जिसके ऐसा) घोड़ा दक्षिणा में न देकर अग्निहोत्र ग्रहण करता है, उसे अग्निहोत्र का फल नहीं मिलता (इन कारण सामर्थ्य रहने पर अग्न्याधान करते समय घोड़े को दक्षिणा में अवश्य देना चाहिये) ॥३७॥

कम दक्षिणा देने का निषेध—

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः ।

न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथंचन ॥३८॥

भाष्य—यावती दक्षिणा विहिता ततो न्यूना दीयते यत्र सोऽल्पदक्षिणो यज्ञः ।

“परिक्रयः किल दक्षिणा । स्वल्पेन चेत्परिक्रयेण कर्मकरो लभ्यते किमिति बहु दीयते लोक इव वाहादीनाम् । ‘पणलभ्यं हि कः प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैः’ “द्वादशशतदानं तत्फलभूयस्त्वायेति” मन्यमानस्य प्रतिषेधः ।

ये तु स्वल्पदक्षिणा उत्पत्यैव च सोमे दक्षिणेति क्रतुमन्तो न तन्निषिध्यते ॥३८॥

हिन्दी—श्रद्धालु तथा जितेन्द्रिय मनुष्य को दूसरे पुण्यकार्य (तीर्थयात्रा आदि करने चाहिये, परन्तु शास्त्रोक्त विधान से कम दक्षिणा देकर यज्ञ कभी नहीं करना चाहिये ॥३८॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।

हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥३९॥

भाष्य—पूर्वविध्यतिक्रमे फलकथनम् ॥३९॥

हिन्दी—आखोक्त विधान से कम दक्षिणा देकर किया गया यज्ञ इन्द्रिय, यज्ञ, स्वर्ग

आयु, कीर्ति, प्रजा और पशु, इन सबों को नष्ट कर देता है, इस कारण से थोड़े धन वाले को यज्ञ नहीं करना चाहिये ॥३९॥

[अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।

दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥५॥]

[हिन्दी—अन्नहीन यज्ञ राष्ट्र को, मन्त्रहीनयज्ञ ऋत्विज को दक्षिणाहीनयज्ञ दीक्षित (यज्ञ करनेवाले) को भस्म कर देता है । इसलिए यज्ञ के समान दूसरा शत्रु कोई नहा है ॥५॥]

अग्निहोत्र नहीं करने पर प्रायश्चित्त—

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।

चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४०॥

भाष्य—अपविध्य त्यक्त्वा । त्यागश्च नित्यानामग्निहोत्रादीनां अकरणमुद्घापनं च । प्रसङ्गादत्र प्रकरणात्प्रायश्चित्तोपदेशः । अग्नीनिति बहुवचननिर्देशात् गृह्याग्नित्यागे कल्पना कार्या ।

वीरहत्यासममिति श्रुतिः ‘वीरहा वा एष देवानामिति’ ।

कामकारवचनादकामत्यागे कल्पनैव ॥४०॥

हिन्दी—जो अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छापूर्वक प्रातःकाल तथा सायंकाल अग्निहोत्र नहीं करे, उसे एक मास चान्द्रायण व्रत (११।२१५) करना चाहिये; क्योंकि अग्निहोत्र का त्याग वीरहत्या (पुत्रहत्या) के समान है ॥४०॥

विमर्श—कुछ लोग एक मासतक अग्निहोत्र नहीं करने पर उक्तप्रायश्चित्त विधान मानते हैं ।

शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र का निषेध—

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।

ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥४१॥

भाष्य—शूद्रादधिगतेनार्थेन प्रीत्यादिनाऽग्न्याधेयं न कर्तव्यमिति व्याचक्षते । न तु प्रवृत्तकर्मणो नित्कर्मानुष्ठानं प्रतिषिध्यते । तथा चोक्तं न शूद्राद्विदित्वाऽनुष्ठानं करणीयम् । अयाचितलाभे तु नास्ति दोषः प्रवृत्तकर्मणस्तदर्थम् । तथा चासत्प्रतिग्रहादात्मवृत्तिरेका प्रतिषिद्धा । नित्यानि कर्माण्यभ्यनुज्ञातानि । अतः शूद्रधनेन प्रार्थितलब्धेन वाऽविशेषाभिधानसामर्थ्यादग्न्याधेयस्यैकस्य प्रतिषेधोऽयं विज्ञायते । यदि सर्वकर्मार्थोऽयं प्रतिषेधः स्यादनेनैव सिद्धत्वान्न भिक्षणं प्रतिषिध्येत ‘न यज्ञार्थं धनं शूद्रात्’ इति ॥४१॥

हिन्दी—जो शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करता है, वह शूद्र का ही याजक (शूद्र को यज्ञ करानेवाला है अर्थात् उस यज्ञ का फल अग्निहोत्र करनेवाले को नहीं मिलता) है और वह वेदपाठियों में निन्दित होता है ॥४१॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।

पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥४२॥

भाष्य—अग्नीनां वृषलाग्नित्ववचनं लिङ्गात् पूर्वविध्यतिक्रमे दोषाभिधाने निखिल-प्रकरणमेतत् ॥४२॥

हिन्दी—शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करनेवाले उन अग्निहोत्रियों के मस्तकपर पैर रखकर (धन को देनेवाला) शूद्र दुःखों को पार करता है (और उन अग्निहोत्रियों को अग्निहोत्र का फल कुछ नहीं मिलता) ॥४२॥

प्रायश्चित्त के योग्य मनुष्य—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसञ्जन्निन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥४३॥

भाष्य—इदानीं प्रकृतान्येव प्रायश्चित्तानि कथ्यन्ते ।

प्रथमं तावत्तेष्वधिकारं निरूपयति । कोऽत्राधिकारः ।

विहितं नित्यतया संध्योपासनाग्निहोत्रादि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिभिः पदैर्ज्ञापितनित्यभावात् । यदप्यनियतनिमित्तेऽशुचिस्पर्शनादौ स्नानादि तद्विहितम् ।

अकुर्वन् प्रमादालस्यादिना ।

तथा **निन्दितं** प्रतिषिद्धं सुरापानादि । तदपि शास्त्रमतिक्रम्य सेवमानः ।

प्रायश्चित्तीयते ।

तदेतदुक्तं भवति । नैमित्तिकोऽयमधिकारो विहिताकरणात्प्रतिषिद्धसेवनाच्च प्रायश्चित्तम् ।

“ननु च ग्रामकामस्य सांग्रहणी विहिता । ततो ग्रामार्थिनः कथंचिदकरणे विहितातिक्रमः स्यात् । यदि नाम ग्रामार्थी प्रत्यवेयात्ततस्तत्कामोऽस्य । यदा तु ग्रामं कामयते तदा तस्य तद्विहितं भवति । न चेत्प्रवर्तते विहितमतिक्रामेत् । अतश्च प्रायश्चित्ती प्राप्तः” ।

उच्यते । ग्रामस्य स्वामी स्यामिति फललिप्सया तस्य तत्र प्रवृत्तिर्न विधिलक्षणा । शास्त्रं तु यागग्रामयोः साध्यसाधनसम्बन्धावेदकमेव । वस्तुतो यद्यपि तत्रापि कर्तव्यता-प्रधानप्रसाधनो वाक्यार्थः, तथापि फलसिद्ध्यर्थमेव कर्तव्यतां विधिरवगमयति । अतश्च यागमकुर्वतः फलं न निष्पद्यते, न पुनः प्रत्यवायः । यत्र प्रत्यवास्तत्र च प्रायश्चित्तम् ।

“ननु च नित्यानामकरणे प्रत्यवायो भवतीति कुत इयमवगतिः । न ह्येवमग्निहोत्रादौ श्रूयते ‘यो न कुर्यात्स प्रत्यवेयात्’ ।

श्रूयते वाक्यशेषेषु ‘वेदिभ्यः परमा भवति’ इति । सर्वत्रार्थवादाः प्रत्यवायप्रदर्शनार्थाः सन्ति । अवश्यं च तेषामालम्बनं वाच्यं नान्यथा विधिनैकवाक्यतां भजन्ति । यत्रापि न श्रूयन्ते तत्रापि विध्यनुग्रहार्था अर्थवादाः प्रकल्प्यन्ते । किं चार्थवादैर्विधेरेव प्रवर्तकत्वम्, अन्यथा नोपपद्यते यावदप्रवृत्तौ प्रत्यवायपरिहारो न कल्पितः । एवंविध एवार्थे वृद्धव्यवहारे विधिः प्रवर्तते । बोध्यते तु पुरुषप्रवर्तनारूढोऽसौ । न च पुरुषा अपुरुषार्थे प्रवर्तयितुं शक्यन्ते । अतः प्रवर्तकत्वविहतविधिर्माभूदिति श्रुतिसिद्ध्यर्था कल्पनैषा । यद्यपि स्वर्गादिकल्पनायामपि तथार्थलाभस्तथापि यावज्जीवादिपदविरोधात्-प्रत्यवायपरिहारार्थताऽपि स्यात् । उक्तम्—

‘भयाद्धि यादृशी पुंसां प्रवृत्तिरुपजायते ।

न तादृशी भवेदत्र विधिकोटिशतैरपि’ ॥

तस्मादकुर्वन्विहितम् इति नित्यं कर्मेति द्रष्टव्यम् ।

“ननु चाशुचिस्पर्शनादौ न नित्यावेदि किञ्चित्पदमस्ति, यावज्जीवमित्यादिवत् ।”

किमत्रान्येन पदेन निमित्तविशेषे यत् श्रुतं तस्य च तन्निमित्तेन कर्तव्यता प्रतीयते । नाधिकारान्तरं प्रत्यपेक्षा जायते । यदा निमित्तसंविधानं तदा कर्तव्यमित्युपगमैर्नित्यता-सिद्धिः । अग्निहोत्रादावपि न नित्यशब्दोऽस्ति निमित्तनित्यत्वात् ।

प्रसङ्गविदितत्वेषु विषयेषु संस्कृतान्नभोजनचन्दनानुलेपनादिषु तात्पर्यत आसेवा प्रसङ्गो विषयाभिलाषपरतेति यावत् ।

“ननु चैतदपि प्रतिषिद्धम् ‘इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामत’ इति” ।

स्नातकव्रताधिकारान्नायं प्रतिषेध इति मन्यते । व्रतशब्दाधिकारे हि तत्र प्रतिषेधकः । संकल्पविशेषो हि मानसस्तत्रोपदिश्यते ‘इदं मया न कर्तव्यमिति’ ।

अथवा कश्चिदल्पप्रतिषेधे न तुल्यतां मन्येत, ‘पदार्थस्तावदयं न निषिध्यत’ इति मन्यमानः, अतः समानीक्रियते ।

अथवा सामान्ये तद्भूतस्यापि विशेषस्य पृथगुपदेशो दृष्टः, प्राधान्यख्यापनार्थम् । यथा ‘ब्राह्मणा आयाताः’, ‘वसिष्ठोऽप्यायात’ इति ।

प्रायश्चित्तीयते । प्रायश्चित्तशब्दो रूढिरूपेण विशिष्टे नैमित्तिके वर्तते । तदेती-च्छति वेति विनिमयः (?) कर्तव्यो “व्यत्ययो बहुलम्” इति (व्या०सू० ३।१।८५) ।

नर इति वचनं चातुर्वर्ण्याधिकारार्थम् ॥४३॥

हिन्दी—शास्त्रोक्त कर्म (नित्य सन्ध्योपासन, शवस्पर्श करने पर स्नान आदि) को नहीं करता हुआ तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म (हिंसा, चोरी, मद्यपान, द्यूत आदि) को करता हुआ और इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त करने के के योग्य होता है ॥४३॥

कर्त्तव्य प्रायश्चित्त में मतभेद—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥४४॥

भाष्य—कामकारकृतेऽप्यतिक्रमे प्रायश्चित्तगौरवार्थमिदमुच्यते ।

अकामतः कृत इति प्रमादकृते पापे शास्त्रव्यतिक्रमे **प्रायश्चित्तमाहुः** । कस्य पुनर्हेतोः । विधिः । ‘प्रतिशास्त्रमतिक्रम्याकार्ये प्रवर्तते स प्रायश्चित्तमाचरिष्यत’ इति । कोऽत्र विशिष्टहेतुः यस्मात्कामकृते दोषे प्रायश्चित्तशास्त्रानर्थक्यमिति मन्यन्ते । एवं पूर्व-पक्षभङ्गोपन्यस्यति । **कामकारकृतेऽपीति** शब्दात्कामतोऽकामतश्च कृते व्यतिक्रमे प्राय-श्चित्तं कर्त्तव्यमिति शास्त्रार्थः ।

श्रुतिनिदर्शनादिति वैदिकलिङ्गनिदर्शनमुपहव्यब्राह्मणमुदाहर्तव्यम् ‘इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्’ । न च श्वभ्यो दानं यतीनामकामतः सम्भवति । उपहव्यं प्रायश्चित्तार्थं प्रजापतिरिन्द्राय प्रायच्छदिति स्पष्टार्थः ॥४४॥

हिन्दी—कुछ पण्डित लोग अज्ञान से किये गये पाप में प्रायश्चित्त करने को कहते हैं और कुछ आचार्य ज्ञान से किये गये पाप में भी श्रुति को देखने से प्रायश्चित्त करने को कहते हैं ॥४४॥

विमर्श—उस श्रुति का आशय यह है कि ‘इन्द्र ने एक समय ज्ञानपूर्वक यतियों को कुत्तों के लिए दिया, फिर अश्लील वाणी से आकर उनको कहा तो वे इन्द्र ब्रह्मा के पास दौड़े गये, ब्रह्मा ने ‘उपहव्य’ नामक कर्म को इन्द्र के लिए प्रायश्चित्त बतलाया’ । इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानपूर्वक किये गये पाप की निवृत्ति के लिए भी प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ।

कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४५॥

भाष्य—किं पुनरेतानि प्रायश्चित्तानि निमित्तमात्रपर्यवसायीनि सन्ध्योपासनादिवत्, उत कार्यपर्यन्तानि शारीरशौचवदुत्पन्नदोषनिर्घातार्थानि ।

१. तथा च सा श्रुतिः— इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्, तमश्लीला वागेत्यवदत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपहव्यं प्रायच्छत्’ इति । (म०मु०)

तत्र केचिदाहुः । न हि कर्म क्षीयते । कार्यविरामित्वमेव धर्माधर्मयोः । न हि कर्माणि स्वफलमदत्त्वा प्रलीयन्ते । तदुक्तं ‘न हि कर्म क्षीयते’ इति । तस्माद्योऽतिक्रमकारी स ततो नरकफलं भुङ्क्त एव । प्रायश्चित्तानि यदि न करोति ततस्तदतिक्रमात्प्रत्यवायान्तरोत्पत्तिः ।

तदेतदयुक्तम् । न हि कर्म चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तम् । ‘विशुध्यते’ इति स्वशब्देनैव शुद्ध्यर्थता विहिता । तथा च तैः कृतैरपोहेत पापं स्वयं कृतत्वात् । यदप्युच्यते “प्रतिषेधविधिना प्रतिषिध्यमानक्रियाकर्तुः प्रत्यवायभागित्वमवगमितं, न तस्य प्रायश्चित्तैर्मिथ्यात्वं शक्यते कर्तुं” तदप्ययुक्तम् । यतस्तेन दुःखहेतुता तस्यावगमिता । प्रायश्चित्तेष्वपि तपोदानादि दुःखमस्त्येव । अल्पेन तादात्मिकेन दुःखेनागामिनः सम्भाव्यमानस्य महतो दुःखस्य निवृत्तिर्युक्तैव । यथा व्याधेस्तत्कटुकौषधदानलध्वाहारादिना । यथा व्यतिक्रमं कृत्वा कश्चित्स्वयमागत्य राजनिवेदनं करोति ‘इत्येवं कर्मास्मि’ इति सोऽर्द्धदण्डभाग्भवति । यस्तु राजपुरुषैर्हठादानीयेत स भूयो दण्ड्यते ।

एवमुपदेशानामर्थवत्त्वसिद्धिः । अतः स्वयं कार्यविरोधित्वमस्य विहितत्वात् । निष्कृतिः प्रायश्चित्तमिति समाख्यानमपि सत्तदेव कृतदोषस्य निर्यातनमपि । अकारणं निर्यातो निष्कृतिरिति उच्यते । एवं प्रायश्चित्तमपि नास्याधिकारप्रतिप्रसवार्थम् । पञ्चानामेव पातकानामधिकारोपगमविहितत्वाद्द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनमिति ।

न चात्र ‘वेदाभ्यासोऽकामतः, कामतस्तप इति, विषयविभागो बोद्धव्यः । उभयार्थोभयत्रोपदर्शनार्थत्वात् । निमित्तोपदेशकरणे पठितत्वात् । ‘ब्रह्महा द्वादशे’त्यादि प्रायश्चित्तानामुपक्रम्यमाणत्वात् । तस्मादकामतो लघुप्रायश्चित्तं कामतो गरीय इति श्लोकस्य तात्पर्यम् ।

“ननु चाकामतो नैव तस्य कर्तृत्वं, बुद्धिपूर्वं कुर्वन्कर्तृत्युच्यते । यथा च लौकिको ‘दैवेन कार्यते । किमयं करोतीति’ । किं च लिप्सया यत्र प्रवृत्तिस्तत्र प्रतिषेधः । यो हि मद्याय स्पृहयति स पिपासुं न कदर्थयति ‘मा पासीः सुराम्’ इति । यस्तु जलार्थी जलबुद्ध्या सुरां पीतवांस्तस्याजानतो नापराधो न हि तस्य सुरालिप्सया प्रवृत्तिः ।

अथोच्यते ‘विधिलक्षणाप्रवृत्तिर्न निषिध्यते’, सत्यम् । भवत्वनर्थलक्षणानां तु मध्ये तर्ह्युदकेन च सर्वस्य अर्थलक्षणायाः प्रतिषेधः” ।

केचिदाहुः । प्रत्यवायपर्यन्तो विधिर्विषभक्षणवन्निषेधशास्त्रार्थः । तेषामचोद्यमेतत् । विषमविशेषेणोपात्तं ज्ञानतोऽज्ञानतश्च मरणाय कल्पत एव । एवं ब्रह्महत्यादयोऽपीति । येषामपि ‘कर्तव्यमिति वचनात्’ क्रियते, ‘न कर्तव्यमिति’ न क्रियते, तेषामपि लौकिक-

क्रियया प्रवर्तमानस्य निषेधः प्रवर्तमानश्चोच्यते प्रवृत्तः कर्ता । कर्तृत्वमबुद्धिपूर्वकमप्यस्ति । कूले पततीति । न चायं गौणः कर्तृताभावः । 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति हि स्मर्यते । ने'च्छया प्रवर्तते यः स कर्तेति' । किं चास्मादेव वचनात्प्रमादकृतो दोषोऽस्ति, प्रायश्चित्तमिति, किमपरेण विकल्पितेन ॥४५॥

हिन्दी—अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेदाभ्यास से नष्ट हो जाता है तथा रागद्वेषादि मोहवश इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों से नष्ट होता है ॥४५॥

प्रायश्चित्ती से संसर्ग का निषेध—

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।

न संसर्गं ब्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥४६॥

भाष्य—दैवात्स्वीकृतात्प्रमादादित्यर्थः ।

अन्ये तु दैवशब्दस्थाने मोहादिति पठन्ति । मोहादेवाकार्यं क्रियते । को ह्यमूर्खः शास्त्रं व्यतिक्रमिष्यति ।

पूर्वकृतेन जन्मान्तरकृतेन चोपभुक्तफलेन कर्मणा विशेषेण कौनख्यादिलिङ्गाद्यनुमितेन । एतदुक्तं भवति । इह जन्मकृते व्यतिक्रमे बुद्धिपूर्वमबुद्धिपूर्वं वा तथा जन्मान्तरकृतेऽपि लिङ्गानुमेये कर्तव्यम् । किं पुनः कुनख्यादीनां प्रायश्चित्तम् ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तानि । वसिष्ठेन तु 'यस्य यल्लिङ्गं तेन तदेव प्रायश्चित्तं केनचिदंशेन कर्तव्यमिति' पठितम् ।

अतश्चैव ते सर्वेऽकृतप्रायश्चित्ताः संसर्गं सद्भिर्वर्जयेयुः । अध्ययनादिक्रिययैकस्थानादिरूपतया ।

संसर्गो यद्यप्युभयाश्रयत्वादन्यतरप्रतिषेधेनोभयोरपि सिद्धः प्रतिषेधस्तथापि, 'सद्भिस्तैः संसर्गो न कर्तव्य' इति पुनः प्रतिषिध्यते उत्तरत्र, कर्तृभेदात् । एकस्य हि प्रतिषेधे स एव प्रायश्चित्ती स्यान्न द्वितीयः, सत्यपि संसर्गे । अत उभयोः प्रायश्चित्तार्थमुभयत्र प्रतिषेधः । सतामसतां चातः श्यावदन्तिप्रभृतिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह संसर्गो न कर्तव्यः ॥४६॥

हिन्दी—भाग्यवश (या प्रमादवश) पूर्वजन्मकृत पापों से प्रायश्चित्त के योग्य द्विज बिना प्रायश्चित्त किये सज्जनों के साथ (याजन-यजनादि) सम्बन्ध न करे ॥४६॥

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ—

[प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।

तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥६॥]

[हिन्दी—‘प्रायः’ तप को कहते हैं और ‘चित्त’ निश्चय को कहते हैं, अतएव तप का निश्चय के साथ संयुक्त होना ‘प्रायश्चित्त’ कहा जाता है ॥६॥]

कुरूप होने में कारण—

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतस्तथा ।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥४७॥

भाष्य—एतदेवाह । इह दुश्चरितैः केचिदस्मिन् जन्मनि प्रतिषिद्धाचरणैः । तथा पूर्वकृतैः कर्मभिस्तथोक्तं प्राक् । स इदानीं रूपविपर्ययप्रपञ्चो दुष्कृतशेषचिह्न-रूपतोऽनुक्रम्यते ॥४७॥

हिन्दी—कुछ दुष्ट लोग इस जन्म के दुराचरणों से तथा कुछ दुष्ट लोग पूर्व जन्म में किये गये दुराचरणों से कुरूपता को पाते हैं ॥४७॥

सुवर्णचौर्यादि से कुनखित्वादि होना—

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।

ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥४८॥

हिन्दी—सुवर्ण को चुरानेवाला कुनखी (खराब नखों वाला), मद्य-पानकर्ता, काले दाँतोंवाला, ब्राह्मण का हत्यारा, क्षयरोगी, गुरुपत्नी से सम्भोग करनेवाला, दुश्चर्मरोगी ॥४८॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।

धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरैक्यं तु मिश्रकः ॥४९॥

हिन्दी—विद्या आदि के दोष को कहनेवाला, दुर्गन्धित नाकवाला, चुगलखोर, दुर्गन्धित मुखवाला, धान्य का चोर, अङ्गहीन, शुद्ध अन्नादि में दूषित अन्नादि मिलाकर विक्रय आदि करनेवाला अधिक अङ्गवाला (छाँगुर-आदि) ॥४९॥

अन्नहर्तामयावित्यं मौक्यं वागपहारकः ।

वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥५०॥

हिन्दी—अन्न का चोर, मन्दाग्नि रोगी, गुरु के बिना पढ़ाये पढ़नेवाला, मूक (गूंगा), कपड़े का चोर श्वेतकुष्ठ रोगी, घोड़े का चोर लंगड़ा होता है ॥५०॥

[दीपहर्ता^१ भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।

हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥७॥]

[हिन्दी—दीपक चुरानेवाला अन्धा, दीपक बुझानेवाला काना, हिंसा करनेवाला अधिक रोगी और अहिंसा से नीरोगी होता है ॥७॥]

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्भिर्गर्हिताः ।

जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥५१॥

भाष्य—क्षयो नाम रोगो राजयक्ष्मेति वैद्यानां प्रसिद्धस्तेन तद्वान्भवति ब्रह्महत्या-विशेषेणे । गुरुस्त्रीगामी दुश्कर्मा ।

क्वथितगन्धवाहिन्या नासिकया युक्तः पिशुनः ।

एवं सूचको दुर्गन्धवाहास्यः ।

“ननु च सूचकः पिशुन” एव ।

सत्यम् । एकः कल्पयित्वा परदोषान् प्रकाशयति । अन्यस्तु सत्यानेवाविदितानिति भेदः ।

आतिरैक्यमधिकांगता । मिश्रको यो द्रव्याण्यद्रव्यैस्तदाभासैः सम्मर्दयति । यथा कुंकुमं कुसुंभेनान्यैरन्यानि ।

आमयावी यस्य भुक्तमन्नं न सम्यक् जीर्यते ।

मौक्यं वाग्वैकल्यं यत्राप्रतिपत्तिमानपस्मारी ।

शिष्टं प्रसिद्धम् ।

विकृताकृतयः । ‘आकृतिः’ संस्थानं ‘विकृता’ऽमनोरमा निन्दितैषां कर्मविशेषेणेति । एषां कर्मणां कुम्भीपाकयमयातनास्थानेषु फलं तदनुभूतवत् ईषच्छेषे तस्मिन् कर्मण्युद्रिक्ते च कुकृतेऽदत्तफले फलदानोन्मुखे दुष्कृतस्यासद्भावोऽतः कर्मावशेषो-पपत्तिः ॥४८-५१॥

हिन्दी—इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों से निन्दित जड़; गूंगे, अन्धे, बहरे और कुरूप उत्पन्न होते हैं ॥५१॥

१. अत्र ‘दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा ।

हिंसारुचिः सदा रोगी वाताङ्गः पारदारिकः ॥’

इत्ययं श्लोको म०मु० उपलभ्यमानः सम्यक् प्रतिभाति, ‘अरोगित्वमहिंसया’ इत्येतस्य ‘सद्भिर्गर्हिताः’ (११।५१) इति पदेन विरोधात् प्रकृतानुपयुक्तस्य चतुर्थपादस्थाने ‘वाताङ्गः पारदारिकः’ इत्येतस्य चतुर्थपादस्य प्रकृतोपयुक्तत्वात् ।

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।

निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५२॥

भाष्य—निन्द्यैर्हि लक्षणैः कुनखश्यावदन्तादिभिरनिष्कृतैनसः ॥५२॥

हिन्दी—(प्रायश्चित्त के द्वारा) पापनाश नहीं किए हुए मनुष्य (११।४८-५०) निन्द्य लक्षणों से युक्त होते हैं, अतएव पाप-निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥५२॥

पाँच महापातक—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥५३॥

भाष्य—गुर्वङ्गनागमः स्तेयं पतितसंप्रयोगः सर्ववर्णानां महापातकानि । सुरापानं ब्राह्मणस्यैव ।

स्तेयं ब्राह्मणसुवर्णहरणं—स्मृत्यन्तरात् ‘ब्राह्मणसुवर्णपहरणे महापातकम्’ इति । पातकशब्दः पातयतीति व्युत्पत्त्या सर्वव्यतिक्रमेषु वर्तते, महापातकेषूपपातकेषु च । महच्छब्दो गुरुत्वप्रदर्शनार्थः ।

तैश्च संयोगमेकैकेनापि । स च वक्ष्यति ‘संवत्सरेण पतति’ इत्यादिना ॥५३॥

हिन्दी—(१) ब्रह्महत्या करना, (२) निषिद्ध मद्य का पीना, (३) (ब्राह्मण के) सुवर्ण को चुराना, (४) गुरु (२।१४२) की भार्या के साथ सम्भोग करना और (५) इन (चारों में से किसी एक) के साथ भी एक वर्ष तक संसर्ग—ये पाँच महापातक हैं ॥५३॥

ब्रह्महत्या के समान कर्म—

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५४॥

भाष्य—समुत्कर्ष इति निमित्तसप्तमी, ‘चर्मणि द्वीपिनं हन्ति’ इतिवत् । समुत्कर्षं प्राप्स्यामीति यदनृतमभिधीयते तद्ब्रह्महत्यया समम् । यत्र पूजातिशयो धनातिशयो ब्राह्मणत्वेन श्रोत्रियत्वेन महाकुलीनतया वा प्राप्यते तत्रातद्रूपमात्मानमावेदयति । यो वा पात्रातिशयेन पुण्यस्कन्धोत्कर्षं प्राप्तुमिच्छति तस्यापात्रं पात्रमित्युच्यते । एवंविधे समुत्कर्षेऽनृतम् । न पुनः स्वल्पवस्तुनि अपेक्षायां, सत्यपि समुत्कर्षव्यपदेशे ।

पिशुनमलीकवदिति परच्छिद्रप्रकाशनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्बन्धोऽसत्याभिधानेन चित्तसंक्षोभः, ‘कन्या ते गर्भिणी’ इत्येवमादिना निष्प्रयोजनो द्वेषः । राजकुलात्तेन सह विवादो निर्बन्धोऽनृताभिशंसनं वा । तथा च गौतमो ‘गुरावनृताभिशंसनम्’ (२१-१०) इति पातकसमानि ॥५४॥

हिन्दी—जातिश्रेष्ठता के लिए असत्य-भाषण, राजा से (दूसरे के मृत्युकारक) चुगलखोरी, गुरु से असत्य कहना—ये ब्रह्महत्या के समान हैं ॥५४॥

मद्यपान के समान कर्म—

ब्रह्मोज्झतां वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।

गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥५५॥

भाष्य—अधीतस्ववेदस्यानाभ्यासेन विस्मरणं ब्रह्मोज्झता । नित्यस्वाध्याय-विधेः त्यागो वा ।

कूटसाक्षं समुत्कर्षादन्यत्रापि ।

सुहृद्वधो मित्रमारणम् ।

गर्हितानाद्ययोः । गर्हितं शास्त्रप्रतिषिद्धं लशुनाद्यनाद्यममनस्तुष्टिकरं, न भोक्ष्य इति कल्प्य यद्भुज्यते ॥५५॥

हिन्दी—पढ़े हुए वेद का (अभ्यास नहीं करने से) विस्मरण, (असत् शास्त्र का आश्रयकर) वेद की निन्दा करना, गवाही में असत्य कहना, (अब्राह्मण भी) मित्र की हत्या, निन्दित (लहसुन, प्याज आदि) तथा अभक्ष्य (मल = मूत्रादि) पदार्थों का भोजन—ये ६ पद्यपान के समान हैं ॥५५॥

सुवर्ण चुराने के समान कर्म—

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।

भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥५६॥

भाष्य—निक्षेपस्यासारद्रव्यस्यापि ।

नराश्वशब्दो जातिशब्दो, नारीहरणेऽप्येतदेव । यो हि दुहितरं दत्त्वाऽसति नर-दोषेऽन्यस्मै पुनर्ददाति, तस्याप्येतदेव । तदुक्तं 'प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम्' इति ॥५६॥

हिन्दी—ब्राह्मण के सुवर्ण के अतिरिक्त धरोहर को हड़पनेवाला और मनुष्य (दास-दासी), घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि चुरानेवाला सुवर्ण चुराने समान है ॥

गुरुपत्नी सम्भोग के समान कर्म—

रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५७॥

भाष्य—स्वयोनयो भगिन्य एकोदरसम्भूताः ।

कुमार्योऽनूढाः ।

अन्त्यजा बर्बरचंडालस्त्रियः ।

सख्युः । सखा मित्रं तस्य स्त्रियः । स्त्रीग्रहणं न जायायामेव प्रतिषेधार्थम् । एवं पुत्रस्यान्यापि या अवरुद्धा मैथुनधर्मेण ।

वयं तु ब्रूमः । सत्यपि स्त्रीग्रहणेनोढानूढयोर्विषमसमीकरणस्यान्याय्यत्वात्सम-
त्ववचनम् । एतन्न प्रायश्चित्तनिर्देशार्थं, किं तर्हि, गुरुत्वख्यापनपरम् । अतश्च गुरुतरं
प्रायश्चित्तं भवति । तथा चोक्तं ‘एनसि गुरुणि गुरुणि लघुनि लघूनि’ । यदि ह्येतत्प्राय-
श्चित्तनिर्देशार्थमभविष्यत्प्रायश्चित्तनिर्देशप्रकरण एव वाऽवक्ष्यत् । कौटसाक्ष्यसुहृद्वधयो-
श्चेह सुरापानसमीकृतयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशमुपरिष्ठात् कुर्यात् । ‘गुरोश्चालीकनिर्बन्ध’
इत्येतस्य चेह ब्रह्महत्यासमीकृतस्य पुनरुपरिष्ठात् ब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताभिधानात् । तथा
कुमार्यामिति रेतःसेकस्य गुरुतल्पसमीकृतस्येह पुनस्तत्र गुरुतल्पप्रायश्चित्तविधानाद्गम्यते
नेदं प्रायश्चित्तार्थं समीकरणमिति ।

अन्ये तु मन्यन्ते । भेदेन समीकरणं गुरुत्वभावेऽपि विवक्षिते नान्याय्यम् । अतः
प्रायश्चित्तार्थमेव सुरापानस्य समीकृतयोश्च कौटसाक्ष्यसुहृद्वधयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशो
विकल्पार्थं सुरापानप्रायश्चित्तेन । अस्य चातिदेश एव श्रूयते । समीकरणे तु विकल्पो
नास्ति । यथा ‘हत्वा गर्भमविज्ञातम्’ इति ॥५७॥

इदानीमुपपातकान्याह—

हिन्दी—स्वयोनि (सहोदर बहन), कुमारी, चाण्डाली, मित्र तथा पुत्र की स्त्री में
वीर्यपात अर्थात् उसके साथ सम्भोग करना, ये गुरु (२।१४२) की पत्नीके साथ सम्भोग
करने के समान है ॥५७॥

विमर्श—इन (११।५५-५७) वचनों से जिस कर्म को जिसके समान बतलाया
है, वह उस कर्म के उस प्रधान पापकर्म के समान प्रायश्चित्त के लिए है । गवाही में
असत्य बोलने तथा मित्रवध करने को मद्यपान के समान कहकर आगे (११।८७) इनका
प्रायश्चित्त कहा है, उसे पाक्षिक समझना चाहिये । गुरु से असत्य कहने को ब्रह्महत्या के
समान बतलाना और फिर उससे निवृत्त्यर्थं ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त बतलाना मुख्य पाप
की अपेक्षा उसके समान कहे गये अप्रधान पाप को करने पर प्रायश्चित्त की लाघवता-
प्रदर्शनार्थ है; क्योंकि लोक में भी ‘राजा के समान मन्त्री है’ कहने पर राजा से मन्त्री को
हीन ही माना जाता है । यहाँ औपदेशिक प्रायश्चित्तों से आतिदेशिक तथा समीकृत
प्रायश्चित्त का हीन प्रायश्चित्त होता है ।

उपपातक कथन—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदार्यात्मविक्रयाः ।

गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥५८॥

भाष्य—अयाज्या अवरुद्धापातकिशूद्रादयस्तेषां **संयाज्यं** संयाजनम् । भावे ण्यच्छांदक्षः ।

आत्मविक्रयं गवादिद्रव्यवदात्मनः परविधेयकरणं दास्येन ।

अन्ये तु **पारदार्यमविक्रयमिति** पठन्ति ।

अनुत्साहो निराहारः स्वल्प एवोपघातेऽवसादाश्रयणम् ।

गुरोस्त्यागो यथावदननुवृत्तिः अध्यापनसमर्थेऽध्यापयितर्युपाध्यापकान्तराश्रयः ।

एवं **मातापित्रोः** ।

अपतितानां चैतेषां त्यागो दोषाय । पतितानां त्विष्ट एव ।

स्वाध्यायाग्न्योस्त्याग इति सम्बध्यते । स्वाध्यायस्य त्यागश्च 'अहरहः स्वाध्याय-मधीयीत' इत्यस्य विधेरननुष्ठानम् ।

“किमैकाहिके माससांवत्सरिके वा त्यागे व्यतिक्रमोऽयम्” ।

अविशेषादैकाहिके प्राप्नोति ।

तदयुक्तम् । एतस्य विधेर्नित्यत्वात् । नित्यानां च व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तांतरं वक्ष्यति । तस्माद्विस्मरणपर्यन्तस्त्यागोऽभिप्रेतः ।

स ब्रह्मोज्झतापदेन सुरापानेन समीकृतः । तत्र विकल्पनार्थमेतत् । अस्य च लघुत्वात्तस्य गुरुत्वाद्व्यवस्थायां विकल्पो योज्यः । तत्र यो वैदिक एवान्यस्मिन् कर्मणि युक्ततया स्वाध्यायं जहाति तस्योपपातकत्वम्, यस्तु भोगसेवयाऽर्थपरतया कलहशील-तया जहाति तस्य सुरापानसमत्वम् ।

अग्नेस्त्वेकत्वविशिष्टस्येहोपादानाद्गृह्यस्येति द्रष्टव्यम् । 'प्राग्ग्रीनिति' बहुवचना-च्छ्रौतानां ग्रहणम् ।

“ननु च तत्रापि चान्द्रायणमुक्तमिहाप्युपपातकत्वात्तदेवात्र वाच्यम्” ।

नैष दोषः । उपपातकेष्वप्यन्यान्यपि प्रायश्चित्तानि सन्ति । शक्त्यपेक्षया गुरुलघु-भावो न्यूनाधिकभावः । अतो नियमार्थं तत्र चान्द्रायणग्रहणम् ।

सुतस्य त्यागोऽभरणं गृहान्निष्काशनमशिशोः प्राप्तस्य च गुणवतः, पातकिनस्तु न दोषः ॥५८॥

हिन्दी—गोवध, अयाज्य-याजन, परस्त्री-गमन, आत्मविक्रय; गुरु, माता और पिता का त्याग अर्थात् उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करना; ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन); स्मार्त अग्नि और पुत्रक त्याग (पुत्र को संस्कृत तथा भूषणादि से अलङ्कृत नहीं करना) ॥५८॥

परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।

तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥५९॥

भाष्य—अनुजः कनीयान् भ्राता ।

तयोर्याजनं विवाहे दर्शपूर्णमासादौ वाऽऽर्त्विज्यम् ॥५९॥

हिन्दी—परिवित्ति तथा परिवेत्ता (३।१७१) को कन्यादान देना और यज्ञ कराना ।

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।

तडागारामदारानामपत्यस्य च विक्रयः ॥६०॥

भाष्य—कन्याया दूषणं नेयं कन्या पुरुषेणोपभुक्तेत्यध्यवसायेन प्रतिपादनम् । अङ्गुष्ठादिना वा प्रजननं धर्मभेदो मैथुनधर्मवर्जम् । तत्र हि गुरुतल्पसाम्यमुक्तम् ।

वार्धुषित्वं अनापदि धनप्रयोगेन वृत्तिग्रहणम् । वासिष्ठे तु ‘वृद्धेस्तु प्रयोक्ता धान्यानां वार्धुषित्वं तदुच्यते’ । सा च शास्त्रपरिभाषा । न लौकिके वा पदार्थे ।

व्रतच्युतिः शिष्टप्रतिषिद्धेऽमुष्यगृहे न भोक्तव्यमुपवस्तव्यमेवंरूपः संकल्पो ‘व्रतम्’ । ततो यः संकल्पाच्चलति सा तस्य व्रतच्युतिः ।

“ननु च व्रतमिति इच्छाकृतो नियम उच्यते । यदि चेच्छाकृतः संकल्पस्ततो निवृत्तौ कः शास्त्रातिक्रमो ‘विहितमकुर्वन् प्रायश्चित्तीयत’ इत्युक्तम् । न चैतद्विहितम्” ।

उच्यते । सत्यमिच्छालक्षण आरंभः । समाप्तिस्तु शास्त्रीया । यथा सौर्यादीनां काम्यानां कर्मणां लिप्सातः प्रवृत्तिः, समाप्तिस्तु शास्त्रीया । अतीतायां फलेच्छायामवाप्ते वा फले यथोक्तं तदर्थ एवावशिष्टं वर्जयेयुः (× ×) प्राक्रमिकोऽयं कापुरुष इति वदन्तः । स्नातकव्रतानां त्वत्यन्तलघीयः प्रायश्चित्तं प्रवक्ष्यते । तेनेदं विकल्पितुमर्हति ।

आराम उद्यानोपवनादि । स्मृत्यन्तरे सर्वभूमिरविक्रेया ॥६०॥

हिन्दी—कन्यादूषण (कन्या की योनि में अङ्गुल्यादि डालकर कन्या को क्षतयोनि करना) सूद लेना, व्रत (ब्रह्मचर्य आदि) को (मैथुनकर्मादि से) नष्ट करना, तडाग, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि) स्त्री और सन्तान को बेचना ॥६०॥

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।

भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥६१॥

भाष्य—बान्धवा ज्ञातयः सोदरादिभ्योऽन्येपि मातुलमातृष्वस्त्रेयादयः । सति विभवे तेऽप्यजीवन्तो भर्तव्याः । तदुक्तं ‘स्वजने दुःखजीविनि’ इति ।

“यद्येवं सुतस्येत्याद्यनर्थकम्” ।

न, अनन्यार्थं वचनम् । जालपादप्रतिषेधे हंसप्रतिषेधवत् । तेन मात्रादित्याग

उपपातकमेव । इह तु लघीय इति ।

भृत्याध्यापनम् ।

भृतकस्य सतोऽध्यापकत्वात् यश्च भृतकादधीते ।

अपण्यानि दशमे उक्तानि ॥६१॥

हिन्दी—ब्रात्यभाव (२।३९), (चाचा-ताऊ आदि) बान्धवों का त्याग (उनके अनुकूल नहीं रहना), वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना अविक्रेय (नहीं बेचने योग्य) सौदों को बेचना ॥६१॥

सर्वाकरेष्वधीकारोः महायन्त्रप्रवर्तनम् ।

हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥६२॥

भाष्य—आकराः सुवर्णादिभूमयस्तत्राधिकारो राजनियोगेनाधिपतित्वम् सर्व-ग्रहणादन्यदप्यर्थोत्पत्तिस्थानं गृह्यते । तेन ग्रामनागरनियोगो व्यवहारदर्शनदण्डग्रहणा-दियोगः ।

एवमेव यन्त्राणि सेतुबन्धादीनि जलप्रवाहनियमार्थानि तेषां महतां प्रवर्तनम् ।

औषधीनामशुष्काणां हिंसाच्छेदः' ।

स्त्रीणामाजीवः । स्त्रिय उपजीव्यते । स्त्रीधनेन शरीरकुटुंबधारणं क्रियते । भार्या-पण्यभावो वेशस्त्रीप्रयोजनं वा ।

अभिचारो वैदिकेन शापादिना मन्त्रप्रयोगेण श्येनादियागेन वा शत्रुमारणम् ।

मूलकर्म वशीकरणं मन्त्रादिक्रिययैव ॥६२॥

हिन्दी—सब आकरों (खान-सुवर्ण आदि की खानों) में राजाज्ञा से अधिकार होना (ठेका लेना), बड़े-बड़े यन्त्रों (नदी आदि के प्रवाह को रोकनेवाली मशीनों आदि) को चलाना, औषधियों की हिंसा, स्त्री की कमाई (नृत्य, गायन आदि निषिद्ध कर्मों से स्त्री का उपार्जित धन) खाना, (श्येनादि यज्ञ के द्वारा मारण आदि) अभिचार कर्म करना, (मन्त्र प्रयोग से) वशीकरण ॥६२॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।

आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६३॥

भाष्य—इन्धनाद्यर्थं तु न दोषः अग्निशुद्धत्वाच्छुष्कसर्वसम्भवे ।

क्रियारम्भः पाकारम्भः । 'आतुरत्वादेवात्मार्थं न भवेदिति' प्रतिषेधात् । क्रिया-रम्भ एवं व्याख्यायते । क्रियारम्भे हि प्रायश्चित्तोपदेशादेव प्रतिषेधः कल्प्येत । न ह्यप्रतिषिद्धप्रायश्चित्तं युक्तं 'निन्दितं च समाचरन्' इति वचनात् । अद्य पुनर्यत्प्रभाषितं

तथासिद्धे प्रतिषेधे प्रायश्चित्तं विधीयते । न कल्पनागौरवं भवति तेन ।

निन्दितान्नादनम् ।

“ननु गर्हितान्नाद्ययोरिति कुत एतत्” ।

विकल्पार्थम् । अभ्यासे तत्प्रायश्चित्तमिदं तु सकृदेव । प्रत्ययभेदो वा ॥६३॥

हिन्दी—इंधन के लिए हरे पेड़ों को (काट या कटवाकर) गिराना, (स्वस्थ रहते हुए) अपने लिए (देवता या पितरों के उद्देश्य से नहीं) क्रियारम्भ (पाक क्रियादि) करना और निन्दित (५।५-२०, त्यज्य लहसुन आदि) पदार्थ को इच्छापूर्वक खाना ।

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ।

असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥६४॥

भाष्य—कृतविवाहस्य विदुषो द्रव्यसंपत्तौ जातपुत्रस्य वाऽनाहिताग्निता । साऽधिकाराविशेषान्नित्यश्रुतयो नित्याधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकारो मन्यते ।

“कथं पुनः श्रुतिप्रयुक्तमाधानं विहितम् । कस्यचित्प्रकरणे कथ्यते येनागमोऽप्युच्छेद्येत । स्वतश्च प्रतीयमानाधिकारत्वादग्निनिष्पत्त्यर्थतया कुतोऽधिकारान्तरप्रयुक्तिः” ।

अग्नयस्तावद्विनियुक्ता ‘यदाहवनीये जुहोति’ इत्यादिना । न चाधानेन विना तेषां निष्पत्तिरित्यतोऽग्निषु प्रयुक्तेषु तदपि प्रयुक्तमित्युच्यते ।

“यद्येवमग्निनिष्पत्त्यर्थं तदाहिताग्निष्वधिकारोऽसत्स्वग्निषु नाधिक्रियते । न चाधानं नित्यं यावज्जीवादिविधिवदतः कथमनाहिताग्नितादोषः” । ‘अकुर्वन् विहितं कर्मेति’ विहिताकरणे प्रायश्चित्तं विहितम् ‘अग्नीनादधीतेति’ । “सत्यं विहितम् । न स्वर्गाय नाधिकारान्तरसंपत्तये । किं तर्हि, अग्निनिष्पत्तये । अग्नेश्च ज्ञातप्रयोजना यस्य तैः प्रयोजनं स तेनोपायेनार्जयति अन्यस्तु नेति । का तत्र विहिताकरणाशङ्का येन प्रायश्चित्ती स्यात् । यो हि सुवर्णं नार्जयति कथमसौ दुष्येत” ।

उच्यते । अस्मादेव वचनात्सत्यधिकारेऽग्नयोऽवश्यमर्जनीया इति गम्यते ।

स्तेयमुक्तेभ्यो द्रव्येभ्योऽन्यस्य ।

ऋणानां “चतुर्भिर्ऋणैः” इत्येतच्छ्रुतेरनुष्ठानम् ।

असच्छास्त्राणि चार्वाकनिर्ग्रन्थाः, यत्र न प्रमाणं न वेदकर्म फलसम्बद्धमापद्यते ।

कौशीलवत्वं चारणत्वं नर्तनत्वं गायनत्वम् ॥६४॥

हिन्दी—(शास्त्रानुसार) अधिकार होने पर भी यज्ञ नहीं करना, चोरी करना, ऋण

नहीं चुकाना, निन्दित शास्त्रों को पढ़ना और कुशीलव का (नाचना, गाना, बजाना आदि) कर्म करना ॥६४॥

धान्यकुप्यपशुस्तेयमद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।

स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६५॥

भाष्य—शणसप्तदशानि धान्यानि ।

कुप्यं लोहताम्रादिमयं कुण्डकटाहादि ।

“ननु चाविशेषेण पूर्वश्लोके स्तेयमुक्तम्” ।

परिहतमेतत् ‘हंसप्रतिषेधवदिति’ । अथवा **स्तेयं** यदन्यस्मादुद्धृते गृहीते सम्भवेनाशोध्यते न हि जातु स्तेयमिति लोकप्रसिद्धं यथा धैर्यादिना अपकरणम् ।

मद्यपेति ।

ब्राह्मणस्य क्षत्रियादि**स्त्रीनिषेवणं** सह शयनं संप्रयोगं वा ।

स्त्रिया वधो, ब्राह्मण्या अपि ।

नास्तिक्यं नास्ति परलोको नास्ति दत्तमित्याद्यभिनिवेशः ॥६५॥

हिन्दी—धान्य, सुवर्ण आदि धातु तथा पशुओं की चोरी करना, मद्यपान करनेवाली द्विज-स्त्री के साथ सम्भोग करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय का वध करना और नास्तिकता—ये (१-१ भी) उपपातक हैं ॥६५॥

जातिभ्रंशकारक कर्म—

ब्राह्मणस्य रुजःकृत्यं घ्रातिरग्रेयमद्ययोः ।

जैह्वं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥६६॥

भाष्य—दण्डहस्तादिना शरीरपीडाजननं **रुजःकृत्यम्** ।

“किं पुनरग्रेयम् । न हि भक्षणप्रतिषेधवत् घ्राणप्रतिषेधः कचिदस्ति । न तु शक्यं विज्ञातुं यदभक्ष्यं तदग्रेयमिति । घृतादेर्यागार्थमुपात्तस्याभक्ष्यत्वन्नचाग्रेयत्वम्” ।

उच्यते । पूतिदुर्गन्धतया घ्राणं विकरति लशुनपलाण्डुपुरुषपुरीषादि तद्गृह्यते । मद्यसाहचर्याच्च यदभक्ष्यं तदेव विज्ञायते । न पूतिदार्वादि ।

जैह्वं कुटिलताऽप्रसन्नहृदयत्वम्, अन्यदुच्यतेऽन्यत्क्रियते हृदये चान्यत् ॥६६॥

हिन्दी—ब्राह्मण को (दण्डा या थप्पड़ आदि से) पीड़ित करना (मारना), नहीं सूँघने योग्य (लहसुन, प्याज, विष्ठा आदि) वस्तु तथा मद्य को सूँघना, कुटिलता और (गुदा या मुख में) मैथुन करना—ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्य को जातिभ्रष्ट करनेवाले हैं ॥६६॥

वर्णसङ्कर करनेवाले कर्म—

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।

सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥६७॥

भाष्य—मृगा रुरुपृषतादय आरण्याः। इभो हस्ती । सत्यपि मृगत्वे बाहुल्येन ग्रामवासित्वाद्ग्रहणम् । मीनो मत्स्यः । अहिः सर्पः ॥६७॥

हिन्दी—गधा, कुत्ता, मृग (हिरण) हाथी, अज (खसी), भेंड़, मछली, साँप और भैंसा इनमें से प्रत्येक को मारना भी मनुष्य को वर्णसङ्कर करनेवाला है ॥६७॥

अपात्र करनेवाले कर्म—

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥६८॥

भाष्य—निन्दिता अप्रतिग्राह्याः शूद्रा ये पापकर्माणस्तेभ्यो धनादानं प्रतिग्रहेण पुनः पुनः, प्रत्यादिष्टप्रतिग्रहस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥६८॥

हिन्दी—जिससे दान नहीं लेना चाहिये, उससे दान लेना, व्यापार, शूद्र की सेवा और असत्य बोलना (प्रत्येक) मनुष्य को अपात्र करनेवाले हैं ॥६८॥

मलिन करनेवाले कर्म—

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।

फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥६९॥

भाष्य—कृमयो भूमिशरणाः क्षुद्रजन्तवः । कीटास्तथाविधा एव किञ्चिदुपचितमूर्तयोऽपक्षाः सपक्षाश्च मक्षिकाशलभादयः । वयांसि पक्षिणः शुकसारिकादयः । मद्यानुगतं मद्येन संस्पृष्टं तद्गन्धाचितं च । अधैर्यं चेतसोऽस्थिरत्वं स्वल्पेऽप्युपधातेऽपध्वंसः ॥६९॥

हिन्दी—कृमि (अत्यन्त छोटे कीड़े), कीट (कृमि से कुछ बड़े कीड़े) तथा पक्षियों का वध करना, मद्य के साथ (एक पात्र में) लाये गये पदार्थ का भोजन; फल, ककड़ी तथा फल को चुराना और (साधारण अनिष्ट-कारक कष्टादि में भी) अधीरता ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्य को मलिन करनेवाले हैं ॥६९॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।

यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥७०॥

भाष्य—प्रायश्चित्तनिमित्तान्युक्तानि । संज्ञाभेदश्च प्रायश्चित्तभेदार्थः । वक्ष्यमाणस्य संक्षेपवचनम् ॥७०॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) ये सब (११।५३-६९) पृथक्-पृथक् कहे गये पाप जिन-जिन व्रतों (प्रायश्चित्तों) से नष्ट होते हैं, उन्हें (आप लोग मुझसे) अच्छी तरह सुनें ॥७०॥

ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त—

ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।

भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥७१॥

भाष्य—तृणपर्यादिकृतो निकेतो वर्षातपशीतत्राणादिहेतुर्गृहं कुटीति कथ्यते ।

समा वर्षाणि ।

भैक्षाशीति स्मृत्यन्तरे सप्तागारमनभिसंहितं च भैक्ष्यमुक्तम् ।

शवशिरो हतस्यान्यस्य वा **ध्वजे** काष्ठादिमयीं शिरःप्रतिकृतिमुद्यतां धारयेदिति मन्यते ।

नैवं शब्दार्थविदः । न हि तच्छवशिर इत्युच्यते ।

अन्योऽप्यत्र विधिर्भविष्यति 'कृतवापनो निवसेत्' इत्यादि ॥७१॥

हिन्दी—ब्राह्मण का वध करनेवाला मनुष्य अपने पाप की शुद्धि (निवृत्ति) के लिये कुटिया बनाकर उस (मृत-ब्राह्मण के साथ नहीं मिलने पर दूसरे किसी) के शिर को चिह्न स्वरूप लेकर भिक्षात्र के भोजन को करता हुआ (अग्रिम (११।७७) वचन के अनुसार मुण्डित मस्तक होकर) बारह वर्षोंतक वन में निवास करे ॥७१॥

विमर्श—इस प्रायश्चित्त की विधि यह है कि ब्रह्महत्या करनेवाला जिन घरों में पहले कभी नहीं गया हो तथा जिन घरों में जाने का पहले से निश्चय भी नहीं कर लिया हो, ऐसे अपूर्व तथा जिन घरों से धूआँ नहीं निकल रहा हो और जिन घरों के सभी लोग खा-पी चुके हों, ऐसे सात घरों में धीरे से जाकर 'मुझ ब्रह्महत्यारे के लिए भिक्षा दीजिए' इस प्रकार अपने पापकर्म को कहकर भिक्षा माँगे तथा एक शाम भोजन करे और यदि भिक्षा नहीं मिले तो उस दिन केवल पानी पीकर ही रह जाय^१ ।

यह प्रायश्चित्तविधि बक्ष्यमाण (११।८८) वचनानुसार गुणवान् ब्राह्मण ने यदि अकामपूर्वक निर्गुण ब्राह्मण की हत्या की हो उसके लिए है और यदि गुणवान् क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ने अकामपूर्वक निर्गुण ब्राह्मण की हत्या की हो उसके लिए क्रमशः

१. तथा च यमः— सप्तगाराण्यपूर्वाणि यान्यसङ्कलितानि च ।

संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥

भ्रूणघ्ने देहि मे भिक्षामेनो विख्याप्य सञ्चरेत् ।

एककालं चरेद्भैक्ष्यं तदलब्धोदकं पिबेत् ॥ इति (म०मु०)

द्विगुणित, त्रिगुणित और चतुर्गुणित अर्थात् चौबीस, छत्तीस और अड़तालिस वर्ष इसी प्रकार रहकर प्रायश्चित्त करने के लिए भविष्यपुराण^१ में तथा विश्वामित्र में कहा गया है । कामपूर्वक ब्राह्मण की हत्या करने पर तो द्विगुणित (चौबीस वर्ष) प्रायश्चित्त करने के लिए अङ्गिरा^२ ने कहा है ।

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ।

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥७२॥

भाष्य—धानुष्का यत्र युद्धं कर्तुं लक्षं विध्यन्ति तत्र तद्भूतेन भवितव्यम् । अथवा संग्रामेऽन्यत्र युध्यमानानां शस्त्रप्रहाराः प्रतीप्सितव्याः । **आत्मन इच्छयेति** । प्रमादात्-दन्तरंगतस्य सत्यपि स्ववधे न शुद्धिः ।

विदुषामित्येव जानते प्रायश्चित्तोपदेशोऽयमिति । अथवा धनुर्वेदज्ञानाम् ।

अग्नौ वाऽऽत्मानं क्षिपेत्समिद्धे त्रिरुत्थाय पुनः पतेत् ॥७२॥

हिन्दी—‘यह ब्रह्मघाती है’ यह जाननेवाले शस्त्रधारियों के (बाण का) स्वेच्छा से (मरने या मरने के समान होने तक^३) निशाना बने या जलती हुई अग्नि में नीचे शिर करके तीन बार अपने को डाले (जिससे मर जावे^४) ॥७२॥

यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।

अभिजिद्विश्वजिद्ध्यां वा त्रिवृताग्निष्टुताऽपि वा ॥७३॥

भाष्य—जनपदेश्वरस्याश्वमेधेऽधिकारः । तत्र हिरण्यादिप्राच्यादिदिग्भ्यः आहतं द्रव्यं दक्षिणा विहिता ।

१. यथोक्तं भविष्यपुराणे—

‘द्विगुणाः क्षत्रियाणान्तु वैश्यानां त्रिगुणाः स्मृताः ।

चतुर्गुणास्तु शूद्राणां पर्षदुक्ता महात्मनाम् ॥

पर्षदुक्तव्रतं प्रोक्त शुद्ध्ये पापकर्मणाम् ।’ इति

एतद्व्याख्यानं म०मु० अस्य श्लोकस्य व्याख्याने द्रष्टव्यम् । विश्वामित्रवचनञ्च तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

२. तदाहाङ्गिराः—

‘अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः ।

स्यात्त्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके ॥’ इति (म०मु०)

३. तदाह याज्ञवल्क्यः—

‘सङ्ग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।

सृतकल्पः प्रहारात्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥’ इति (या०स्मृ० ३।२४८)

४. ‘यथा प्रास्येद् यथा म्रियते’ इत्यापस्तम्बवचनात्तथा प्रक्षिपेत् । (म०मु०)

येन चानाहिताग्रयस्ते न यागेष्वधिक्रियन्ते । न पुनस्तदर्थमेवाधानं कर्तव्यम् ।
कर्माणि हि प्रायश्चित्तार्थानि सांगानि । न चांगमाधानम् ॥७३॥

हिन्दी—अथवा अश्वमेध यज्ञ करे, तथा स्वर्जित, गोमेध, अभिजित्, विश्वजित्, त्रिवृत् और अग्निष्टुत्; इनमें से कोई एक यज्ञ (अज्ञान से^१) ब्रह्महत्या करनेवाला द्वजाति (१०।४) करे ॥७३॥

विमर्श—पूर्वोक्त दो श्लोकों (११।७२-७३) के द्वारा विहित प्रथम तीन प्रायश्चित्त (शास्त्रधारियों का निशाना बनना, अग्नि में नीचे शिर करके अपने को डालना तथा अश्वमेध यज्ञ करना) कामपूर्वक क्षत्रिय के ब्राह्मणवध करने पर हैं^२ ।

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं ब्रजेत् ।

ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥७४॥

भाष्य—मितभुग्यावता न तृप्यति ।

नियतेन्द्रितो ब्रह्मचारी विषयेष्वगृध्नुः ॥७४॥

हिन्दी—अथवा स्वल्पाहार करता हुआ जितेन्द्रिय होकर किसी एक वेद को जपता हुआ ब्रह्महत्या (के दोष) के विनाश के लिए सौ योजन (४०० कोश) तक गमन करे ॥७४॥

१. एतत्प्रायश्चित्तद्वयसमनन्तरं वक्ष्माणञ्च 'यजेत वाऽश्वमेधेन (११।७३) इत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य ब्राह्मणवधविषयम् । मनुश्लोकमेव लिखित्वा यथा व्याख्यातं भविष्यपुराणे—

‘लक्ष्यं शस्त्रभूतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः ।

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥

यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः ।

प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम् ॥

क्षत्रियो निर्गुणो धीर ब्राह्मणञ्चाग्निहोत्रिणम् ।

निहत्य कामतो वीरलक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत् ॥

चतुर्वेदविदं धीरं ब्राह्मणञ्चाग्निहोत्रिणम् ।

निहत्य कामादात्मानं क्षिपेग्नाववाक्शिराः ॥

निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान् गुहः ।

यष्ट्वा वा अश्वमेधेन क्षत्रियो यो महीपतिः ॥’ इति (म०मु०)

२. ‘एतानि चाज्ञानता ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैविर्णिकस्य विकल्पितानि । तदुक्तं भविष्यपुराणे—

‘स्वर्जितादेश्च यद्वीर कर्मणा पृथनापते ।

अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके ॥’ इति (म०मु०)

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।

धनं हि जीवनायालं गृहं वासःपरिच्छदम् ॥७५॥

भाष्य—यावत्किंचिद्गोहिरण्यादिकं तत्सर्वं दातव्यम् ।

अत्रार्थवादो धनं हि जीवनायालमिति । तावता धनेन दत्तेनान्यस्मै जीवितं दत्तं भवतीत्येव साम्यम् ।

गृहं वासःपरिच्छदम् । परिच्छदशब्देन यावत्किंचिद्गृहोपकरणं सर्पिस्तैलधान्यादि कुण्डकटाहादि कुप्यशयनासनादि तत्सर्वं गृह्यते ॥७५॥

हिन्दी—अथवा वेदज्ञाता ब्राह्मण के लिए सर्वस्व (समस्त सम्पत्ति) को दे देवे, या उसके जीवनपर्यन्त खाने-पहनने के लिए या सब सामग्रियों के सहित घर को देवे ॥७५॥

विमर्श—दो श्लोकों (११।७४-७७) में कथित यह प्रायश्चित्त-विधान अज्ञानपूर्वक ब्राह्मणादि वर्णत्रय द्वारा किये गये जातिमात्र से ब्राह्मण के वध की निवृत्ति के लिए है^१ ।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत् प्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम् ।

जपेद्वा नियताहारस्त्रिवै वेदस्य संहिताम् ॥७६॥

भाष्य—हविष्यं मुन्यत्रं नीवारादि ग्राम्यमपि पयोधृतादि ।

प्रतिस्त्रोतः स्त्रोतःस्त्रोतः प्रति यावन्ति सरस्वत्याः स्त्रोतांसि तावन्त्यनुसरेत् ।

नियताहार आहारनिवृत्तिं कृत्वा ।

वेदसंहितां समन्त्रब्राह्मणकाम् । त्रिरावर्तेत ।

एतेषां प्रायश्चित्तानामियमत्र व्यवस्था ।

बुद्धिपूर्वेण ब्राह्मणमात्रवधे द्वादशवार्षिकं ‘लक्ष्यं शस्त्रभृता’मनेन विकल्प्यते । यद्यपि द्वादशवार्षिके न मरणान्तं तथापि दैवोपपत्तिपतितेऽन्तरामरणे सामिकृते प्रायश्चित्ते शुद्ध्यभावात् प्रत्यवायो न निवर्तते । द्वितीये तु तदानीमेव निर्मुक्तपापः । शस्त्रहतो वा कदाचिन्नम्रियेत । अत एव आद्योपात्तप्रायश्चित्तमिच्छया विकल्पेन दातव्यम् ।

अग्नौ प्रवेशस्तु श्रोत्रियत्वादिगुणयुक्ते । तत्रापि सवनगुणेऽग्नौ । सन्ति ब्रह्मघ्नस्त्रिरवस्थास्तस्याववसानं शस्त्रेण गात्राणां खण्डशो विदारणं सवनगत इति पठन्ति । न च प्राणान्तिकेषु द्वैगुण्यसम्भवः । न ह्येकस्मिन् जन्मनि द्विर्मरणोपपत्तिः । तत्तुल्यपीडानुभवात्तस्य द्वैगुण्यम् । न च द्वादशवार्षिकं द्विगुणं युक्तम् । को हि देवसमश्चतुर्विंशतिवर्षाणि प्रायश्चित्तं चरेत् । संवत्सरशेषे हि मृतस्य सर्वं निष्फलं स्यात् ।

१. भविष्यपुराणोक्तमेतत्सर्वं तत्र मन्वर्थमुक्तावल्यां वा द्रष्टव्यम् ।

अश्वमेधयागस्तु त्रैवर्णिकानां सति सम्भवे पूर्वोक्तैर्विकल्प्यते ।

गोसवादयस्त्वबुद्धिपूर्व महागुणवति हन्तरि स्युः ।

योजनशतं बुद्ध्या च ब्राह्मणजातीयमात्रवधे । एवमुत्तराण्यपि । त्रिवृताग्निष्टुतेति समानाधिकरणे । एवं स्वर्जिता गोसवेनेति अभिजिद्विश्वजितौ द्वे प्रायश्चित्ते ॥७६॥

हिन्दी—अथवा (नीवार तीनी आदि) हविष्यान्न को खाता हुआ प्रसिद्ध सोते से लेकर (पश्चिम) समुद्र तक (जहाँ तक सरस्वती नदी बहती है वहाँ तक) जावे, अथवा नियमित (अत्यन्त थोड़ा) भोजन करता हुआ वेद की संहिता को तीन बार जपे ॥७६॥

विमर्श—ज्ञानपूर्वक जातिमात्र से ब्राह्मण (विद्वान् एवं गुणवान् ब्राह्मण नहीं) के वध करनेवाले द्विजातियों के लिए यह प्रायश्चित्त-विधान है^१ ।

कृतवापनो निवसेद्ग्रामान्ते गोब्रजेऽपि वा ।

आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥७७॥

भाष्य—द्वादशवार्षिकस्यायं विशेषः कश्चिद्वैकल्पिकधर्म उपदिश्यते । वपनं अपूर्वम् ।

आश्रमवृक्षमूले वैकल्पिकमेव वा कुटी स्यात् ।

“किमर्थं पुनस्तत्रैव नोक्तम् ।”

प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य वक्ष्यमाणं यथा स्यात् पृथक् प्रायश्चित्तं मा भूदिति पूर्वैर्व्याख्यातम् । स्वतन्त्रंह्यन्यस्मिन् प्रक्रान्तेऽन्यत्र प्राप्नोति, प्रक्रान्तासमाप्तौ दोष-श्रवणात् । पृथगधिकारात्पृथक्प्रयोगता । अन्यस्यान्यतरप्रयोगः ॥७७॥

हिन्दी—अथवा मुण्डन कराकर गौओं तथा ब्राह्मणों का हित करता हुआ गाँव के पास गोशाला में पवित्र (साधु आदि के) आश्रम में या पेड़ के नीचे निवास करे ॥७७॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सम्यक् प्राणान्परित्यजेत् ।

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥७८॥

भाष्य—अपरित्रायापि सम्यक् प्राणपरित्यागेन मुच्यते । परित्रायाप्राणत्यागे-नापि ॥७८॥

हिन्दी—(पूर्व ११।७१ या ७७) वचनानुसार किसी स्थान में रहकर बारह वर्ष तक प्रायश्चित्त करने का नियम लिया हुआ ब्रह्मघातीमनुष्य (अग्नि, व्याघ्र आदि हिंसक या जल आदि से आक्रान्त) ब्राह्मण या गौ (की रक्षा) के लिए तत्काल प्राणों को छोड़ दे, अथवा उनके रक्षार्थ प्राणपण से चेष्टा करता हुआ वह मनुष्य जीकर भी बारह (या

१. भविष्यपुराणोक्तमेतत्सर्वं तत्र मन्वर्थमुक्तावल्यां वा द्रष्टव्यम् ।

अपने वर्ण के अनुसार नियत) वर्ष के समाप्त नहीं होने पर (वह ब्राह्मण-रक्षक) ब्रह्महत्या के दोष से छूट जाता है ॥७८॥

त्र्यवरं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।

विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभेऽपि मुच्यते ॥७९॥

भाष्य—प्रतिरोद्धा प्रवृत्तः शस्त्रेण क्षतो वा युद्धकरणे ।

त्र्यवरम् । यदि न्यूनं तदा तिस्र आवृत्तयः । कृते युद्धेऽसौ मुच्यते, अपरित्राय मृतोऽपि ।

सर्वस्वमवजित्येति ब्राह्मणादीनां चौरापहतं यदि प्रत्यानयति, तदा मुच्यते । ब्राह्मणस्य वा तन्निमित्ते प्राणदाने ।

“ननु चोक्तं ‘गोप्ता गोब्राह्मणस्ये’ति” ।

सत्यम् । युद्धेनान्येन वा शरीरव्यापारेण गां पङ्कलग्नां दस्युभिर्वोह्यमानां ब्राह्मणं शत्रुभिश्चौरैर्नद्या वाऽपह्नियमाणं यदि मोक्षयति ततः शुध्यतीत्युक्तम् । इह तु तन्निमित्त-ग्रहणाद्यदि धनेऽपह्नियमाणे ब्राह्मणो व्यामूढतयाऽत्मानं हन्ति निरपेक्षं वा चौरैर्युध्यते तत्र तत्समधनदानेन ‘मा मृथा अहं त इयद्धनं ददामी’ति तमाश्वास्य दत्त्वा मुच्यते ॥७९॥

हिन्दी—ब्राह्मण-धन के चुरानेवालों से निष्कपट तथा यथाशक्ति तीन बार उस धन को छुड़ाने का प्रयत्न करने पर या एक दो बार में ही उन चोरों को जीतकर उस चोरित धन को उसके स्वामी ब्राह्मण के लिए देने पर, अथवा चुराये हुए धन के बराबर अपना धन देकर उस ब्राह्मण की प्राणरक्षा करने से वह ब्रह्महत्या के दोष से छूट जाता है ॥७९॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।

समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥८०॥

भाष्य—अस्माद्वचनादाद्यशेषमुत्क्रान्तं विज्ञायते ।

दृढव्रत इति समाहित इति च पादपूरणे पदे ।

उपसंहारोऽयं पूर्वस्य ॥८०॥

हिन्दी—इस प्रकार (११७१-७९) सर्वदा नियमयुक्त ब्रह्मचर्य धारण किया हुआ, सावधान चित्तवाला (ब्रह्मघाती मनुष्य) बारह (और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः २४, ३६, ४८) वर्ष पर ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥८०॥

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।

स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥८१॥

चरमपक्ष उच्यते ।

शिष्ट्वा स्वमेन आत्मीयं दोषम् । भूमिदेवतानां ब्राह्मणानां नरदेवैः क्षत्रियैः समागमे । ऋत्विजो ब्राह्मणाः क्षत्रियो यजमान एवं कृताऽश्वमेधेऽवभृथस्नानो विमुच्यते । द्वादशवार्षिकस्योपसंहतत्वात्स्वतन्त्रमिदं वैकल्पिकमिच्छन्ति ।

अन्ये तु वैकल्पिकानां मध्य उपदेशात्प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्यैव गोब्राह्मणपरित्राण-वत्समाप्त्यवधिमाहुः । यथा सारस्वतेन पक्षं वा प्रस्रवणं प्राप्योत्थानमिति ।

वयं तु ब्रूमः । उपसंहतत्वादाद्यस्य वैकल्पिकमध्ये वा पाठादुभयरूपताऽस्य प्रक्रान्तेऽपक्रान्ते च सति सम्भवे ॥८१॥

हिन्दी—अथवा अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मणों तथा राजाओं के समागम (एकत्रित) होने पर अपने पाप को ('मैंने ब्रह्महत्या की है' इस प्रकार) बतलाकर अवभृथ (यज्ञ समाप्ति के बाद किया जानेवाला) स्नान करके (ब्रह्महत्या करनेवाला उस) पाप से छूट जाता है ॥८१॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्तविधान भविष्यपुराण के अनुसार गुणवान् ब्राह्मण की अज्ञानपूर्वक हत्या करने पर है । 'अश्वमेधविवर्जित सम्पूर्ण प्रायश्चित्तों के शेष होने से प्रकरण प्राप्त बारह वर्ष वाले इस प्रायश्चित्त के बीच में अवभृथ स्नान करने पर उसी से शुद्धि (पापनिवृत्ति) हो जाती है' यह गोविन्दराज का कथन उक्त भविष्यपुराण के वचन से विरुद्ध होने से ठीक नहीं है ।

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।

तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति ॥८२॥

यजमानर्त्विजां ब्राह्मणक्षत्रियाणामश्वमेधसमागम एनो विख्यापनीयमित्यत्रार्थ-वादः ॥८२॥

हिन्दी—क्योंकि ब्राह्मण को धर्म का मूल तथा क्षत्रिय को धर्म का अग्रभाग (मनु आदि महर्षियों ने) कहा है, इस कारण (वह ब्रह्मघाती पुरुष) उनके एकत्रित होने पर अपने पाप को निवेदन कर (अवभृथ स्नान करने से) शुद्ध हो जाता है ॥८२॥

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् ।

प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥८३॥

प्रायश्चित्तिना परिषद्मनं कर्तव्यम् । परिषत्पूज्यस्तु विधिरनुष्ठेयः । सा चैवंरूपापरि-षदेवमर्थश्लोकोऽयमुत्तरश्च ।

उत्पत्त्यैव ब्राह्मणो देवानामपि देवो लोकस्य प्रमाणं प्रत्ययितः, प्रत्यक्षदर्शन-वत् । न तदीयं वचनमपि शङ्कते कश्चित् ।

अत्र कारणं ब्रह्म वेदस्तदर्थज्ञो ह्यदृष्टमुपदर्शयन् प्रमाणीक्रियते ॥८३॥

ब्राह्मण जन्म से ही देवताओं का भी देवता (पूज्य) है, मनुष्यों का (प्रत्यक्षयुक्त) प्रमाण है; क्योंकि इसमें वेद ही कारण है ॥८३॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् ।

सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥८४॥

भाष्य—परिषद्भवनं प्रायश्चित्तिनोऽनेन कथ्यते । तस्याश्च लक्षणं ‘ब्राह्मणा वेदविद-
स्त्रयः परिषदि’ति ।

“ननु च ‘दशावरा वा परिषत्’ इति वक्ष्यति । तथा ‘एकोऽपि वेदविद्धर्मम्’ इति ।”

न दशसंख्या पुरुषाणामुपदिश्यते किं तर्हि गुणानाम् । तथा ‘च त्रैविद्यो हैतुक-
स्तर्की’ इति गुणानामेव निर्देशः । ‘एकोऽपि वेदवित्’ इत्यनेन चैतत्प्रकटीकरोति हैतु-
कत्वादिगुणांतराभावेऽपि केवलेनैव वेदेन वेदवित्परिषत्त्वं लभते ।

अयं तु श्लोकः संख्यानिर्देशार्थः । अत्र यद्यपि वेदविद इत्युपात्तं, हैतुकत्वाद-
योऽपि गुणा गृह्यन्ते । न ह्यन्यथा वेदवित्त्वं शिष्टपरिषत्लक्षणम् । तत्रैव व्याख्यास्यामः ।

“यदि वेदवित्त्वं न हैतुकत्वादिना विना भवति, कथं तर्हीदमुक्तम् ‘एकोऽपि
वेदवित्’ इति” ।

गुणान्तराभावेऽपि वेदवित्परिग्रहार्थमित्येतदपि तत्रैव वक्ष्यामः ।

अतः प्रायश्चित्तिना त्रयः समुदिताः प्रष्टव्याः । एकस्य कदाचित्प्रमादोऽनवधानं
स्यात् । तथैत्परिषद्भवनं विदुषाऽप्यदृष्टार्थं कर्तव्यमिति । यथा च पवित्रं विदुषां हि
वाक् ।

न च रहस्यप्रायश्चित्ताभावप्रसङ्गः । यत्र कस्याप्यविदितं तद्रहस्यम् । विदिते तु
परिषद्भवनम् । तथा चोक्तं ‘ख्यापनेनानुतापेन’ इति ।

तदेतदयुक्तम् । कल्पनाविषयत्वादस्य । ‘शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं विकल्प-
येदिति’ अनुक्तनिष्कृतीनां प्रायश्चित्तं कल्पयेत् । तत्र त्रिभिर्या कल्पना कृता सा प्रमाण-
यितव्या ॥८४॥

हिन्दी—(इस कारण अर्थात् ब्राह्मण की पूज्यता होने से) उन ब्राह्मणों में से
वेदज्ञाता तीन ब्राह्मण पापशुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त कहें वह उन पापियों को शुद्ध
(पापरहित) करनेवाला है; क्योंकि विद्वानों का वचन पवित्र होता है ॥८४॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।

ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥८५॥

भाष्य—सर्वेषां ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तानामुपसंहारार्थः श्लोकोऽयम् ।

विप्रग्रहणं चात्र सर्ववर्णप्रदर्शनार्थम् ।

व्यपोहत्यपहरति ।

आत्मवत्तयाऽऽत्मज्ञानतया । शास्त्रार्थकृताभिनिवेश आत्मवानित्युच्यते । तस्याय-
मध्यवसायो 'न शास्त्रार्थमन्यथा वर्तते' ॥८५॥

हिन्दी—अतएव ब्राह्मण (आदि पापकर्ता) सावधान होकर आत्मवान् होने से पूर्वोक्त (११।७१-८२) प्रायश्चित्तों में से किसी एक प्रायश्चित्त को करके शुद्ध (पापहीन) हो जाता है ॥८५॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त-विधान एक ब्राह्मण की हत्या करने पर है, अधिक ब्राह्मणों की एक साथ या अनेक बार में हत्या करने पर, घर में आग आदि लगाने से अनेक ब्राह्मणों की हत्या करने पर भविष्यपुराण में 'ब्राह्मणों.....' इत्यादि प्रायश्चित्त-विधान कहा गया है । यह सब वहीं पर तथा मन्वर्थमुक्तावली में देखना चाहिए ।

गर्भ तथा यजमान क्षत्रिय-वैश्यादि की हत्या का प्रायश्चित्त—

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव^१ च स्त्रियम् ॥८६॥

भाष्य—गर्भो ब्राह्मणजातीय एव । केन गर्भस्य पातनं कारयेत् ।

अविज्ञातमज्ञातस्त्रीपुरुषविशेषव्यञ्जनम् । उपज्ञाते यथायथं स्त्रीपुंसनिमित्तमेव ।

“कथं पुनः स्त्रियामहतायां गर्भस्य वधो भवति ।”

औषधादियोगेन गर्भस्य पातनम् ।

एतदेवेत्येकवचनात्प्रत्यसन्नद्वादशवार्षिकमेवातिदिश्यत इत्याहुः ।

अन्ये एतदिति शुद्धिकारणं सामान्यपेक्षायाम्, अतः सर्वप्रायश्चित्तातिदेशः ।

क्षत्रियवैश्यौ चेजानौ यजमानौ । भूतकालता न विवक्षिता ।

स्मृत्यन्तरे 'सवनगतौ राजन्यवैश्याविति' । अतश्च प्रारब्धसोमपानयोरेष विधिर्न दर्शपूर्णमासादियजमानयोः । लिङ्गदर्शनं तु यजमानमात्रयोर्भावयतीति । ब्राह्मणीभूयैव यजत इति ।

१. 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीम्' इति वसिष्ठस्मरमणात् ।

आत्रेयीं स्त्रियमत्रिगोत्रजाताम् जातेरविशेषात् स्त्रीपुंसयोर्ब्राह्मणीनामपि प्राप्ताव-
त्रेय्या वचनमन्यगात्रनिवृत्त्यर्थम् । अतो ब्राह्मण्या अप्यन्यस्या वध उपपातकमेव । ‘स्त्री-
शूद्रविट्क्षत्रियवध’ इति ।

यत्तु ‘स्त्रीसुहृद्वधम्’ इति तच्चातुर्वर्ण्यस्त्रीमात्रे । अधमस्त्रीणामुपपातकमहापातक-
प्रायश्चित्ते विकल्प्येते । भर्तृस्वगुणापेक्षो विकल्पो बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वकृतश्च सः । स्तन-
पबालापत्ययोस्तदभावे बालानां दुःशके जीविते विजातियाया अपि, ब्राह्मणभार्यायां
भर्तृद्वेषादनपराधिन्या निमित्तान्तरतो वोपजाप्यमानायाः शीलं रक्षन्त्या असंप्रयुज्यमानाया
वधः । एवमप्युत्प्रेक्षया ‘स्त्रीसुहृद्वधम्’ इत्यादेशात् । अन्यत्र तु ‘स्त्रीशूद्रेति’ ।

आत्रेय्यां त्वविकल्पः ।

अन्ये **त्वात्रेयीं** गर्भसाहचर्यादृतुमतीमाहुः । पत्यते भ्रूणहात्रेयाश्च हन्तेति । भ्रूणहा
ब्राह्मणवधकारी सा । सा च ब्राह्मण्येव । अत्र कुक्षाववश्यं गर्भ उह्यत इत्यात्रेयी ।
यद्यपीदृश्यां वृत्तौ तद्धितो न स्मर्यते, प्रयोगानुसारेण तु भवतीति ॥८६॥

हिन्दी—अज्ञात (स्त्री-पुरुष या नपुंसक का ज्ञान रहित) गर्भ, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय
तथा वैश्य और^१ आत्रेयी की हत्या करके (इसी बाह्यहत्या के) प्रायश्चित्त को करे ।

विमर्श—‘आत्रेयी’ शब्द से ऋतुमती ब्राह्मणी का ग्रहण है, इसकी हत्या करने
पर तीन वर्ष का उपपातक पहले (११।६५) कह चुके हैं । आगे का ‘.....कृत्वा
च स्त्री-सुहृद्वधम्’ । इस अङ्गिरा के वचन के अनुसार अग्निहोत्री ब्राह्मण की स्त्री की हत्या
करने पर प्रायश्चित्तविधायक है ।

आत्रेयी का लक्षण—

[जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया ।

गर्भिणी त्वथवा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः ॥८७॥]

[हिन्दी—जन्म से लेकर मन्त्रपूर्वक संस्कारों से संस्कृत स्त्री या गर्भिणी को
विद्वान् लोग ‘आत्रेयी’ कहते हैं ॥८७॥]

साक्षी में असत्यभाषणादि करने पर प्रायश्चित्त—

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरभ्य गुरुं तथा ।

अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥८७॥

भाष्य—हिरण्यभूम्यादिसाक्ष्ये नु वधादिसंशये वाऽनृताभिधाने प्रायश्चित्तमेतत् ।
अत्र हि दोषातिशयः श्रूयते ‘भञ्जता’ मित्यादि । अन्यत्र गुरुलघुभावेन कल्पना कार्या ।

१. ‘तथाऽऽत्रेयीं च ब्राह्मणीम्’ इति यमस्मरणात् ।

प्रतिरभ्येति यदुक्तं 'मलीकनिर्बन्ध' इति तदेवेदं 'प्रतिरम्भः', संरम्भपूर्वको गुरा-
रूपद्रवारम्भः ।

निक्षेपः । अत्रापि दरिद्रस्य महतो धनवतोऽधमस्योतान्यस्य ब्राह्मणजातीयस्ये-
त्यादिकल्पना । यत्र त्वेकमेव श्रूयते तत्र यथाश्रुत्येव भवितुमर्हति । कः कल्पनाया
अवसरो, न चेह कौटसाक्षिनिक्षेपयोर्लघुप्रायश्चित्तमस्ति । यदपि सुरापाने तदपि तुल्य-
मनेन गरीयः, श्रुताश्रुतविषयत्वं 'शक्तिं चावेक्ष्येति' यत् ।

सत्यप्य'नुक्तनिष्कृतीनामिति' श्रवणे ॥८७॥

हिन्दी—सुवर्ण या भूमि आदि की गवाही में असत्य बोलने पर, गुरुतर मिथ्या दोष
लगाने पर, धरोहर का अपहरण करने पर तथा (अग्निहोत्री ब्राह्मण की) स्त्री और मित्र
की हत्या करने पर (ब्रह्महत्या के समान प्रायश्चित्त करे) ॥८७॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥८८॥

भाष्य—प्रमाप्य हत्वा । निष्कृतिरिति ।

प्रागयं व्याख्यातार्थः प्रायश्चित्तगौरवोपदेशपरः ॥८८॥

हिन्दी—यह प्रायश्चित्त अनिच्छा (अज्ञान) से ब्राह्मण की हत्या करने पर कहा गया
है, इच्छा से (जानबूझकर) हत्या करने पर निस्तार नहीं है ॥८८॥

विमर्श—पूर्व (११।४७) वचन से विरोध होने के कारण यह वचन प्रायश्चित्त का
अभावसूचक नहीं है, किन्तु प्रायश्चित्त का आधिक्यसूचक है ।

सुरापान का प्रायश्चित्त—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।

तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥८९॥

भाष्य—द्विजश्रुतिर्ब्राह्मणार्थैव । आह च स्मृत्यन्तरे 'ब्राह्मणस्य उष्णां मा सिंचेयुः
सुराम्' (गौ० २३।१) इति ।

मोहादित्यनुवादः ।

अग्निवर्णां वर्णश्रुतिग्रहणं सामान्यलक्षणार्थम् । अत एवाह **काये निर्दग्धे मुच्यत**
इति ॥८९॥

हिन्दी—द्विज मोहवश मदिरा को पीकर अग्नि के समान गर्म मदिरा को पीवे, उस
(अग्नि के समान जलती हुई मदिरा) से शरीर अर्थात् मुख के जलने (के कारण मर जाने)
पर मनुष्य उस (मदिरा पीने से उत्पन्न पाप) से छूट जाता है ॥८९॥

विमर्श—आटे के बने मदिरा को पीनेवाले द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) और आटे, महुए तथा गुड़ से बने मदिरा को पीनेवाले ब्राह्मण के लिए यह प्रायश्चित्त है, ऐसा ‘मन्वर्थमुक्तावली’कार पहले (९।२३५) कह चुके हैं। तथा इस श्लोक की व्याख्या में भी भविष्यपुराण^१ के वचन का प्रमाण देते हुए आटे से बनी हुई मदिरा के पीने पर ही प्रायश्चित्त करने के लिए कहा गया है। बृहस्पति^२ के मत के अनुसार यह वचन ज्ञानपूर्वक मदिरापान करने पर प्रायश्चित्त-विधायक है।

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।

पयो घृतं वाऽऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥९०॥

भाष्य—अन्यतरप्रायश्चित्तमग्निवर्णं भवत्येव ।

गोमूत्रादयो द्रव्यविशेषा अन्यप्रकारमरणनिवृत्त्यर्थाः ।

सुरा च पैष्टीति विज्ञेया । तां मुख्येत्युपचरन्ति अन्यत्र तु प्रयोगो गौणः ।

कामतः पाने चैतत् । तथा च वक्ष्यति । ‘अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति’ ।

अग्निवर्णमित्यग्निस्पर्शमिति ज्ञातव्यम् । तथा चाह ‘आमरणादिति’ ।

सुरा च स्त्रीणामपि प्रतिषिद्धा । उक्तं हि वासिष्ठे ।

‘तया ब्राह्मणी सुरापी भवति । न तां देवाः पतिलोकं नयन्ति ।

इहैव सा भ्रमति क्षीणपुण्या लोके प्रेत्यावाप्सु च जलभुग्भवति’ ॥९०॥

हिन्दी—अथवा (सन्तप्त होने से) अग्नि के समान वर्णवाले गोमूत्र, पानी, दूध, घी या गोबर के रस को मरने तक पीवे ॥९०॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।

सुरापानापनुत्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥९१॥

भाष्य—इदं प्राणात्यये औषधार्थम् । अन्येन विहितस्यापि तस्य ।

अज्ञानात्तु तप्तकृच्छ्रसहितः पुनः संस्कारो दर्शयिष्यते ।

अन्ये तु गौडीमाध्व्योरुपचरितसुराभावयोरिच्छन्ति । तथा च स्मृत्यन्तरे ‘असुरा-

१. तद्वचनं यथा—‘सुरा च पैष्टी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे ।

पैष्ट्याः पापेन चैतासां प्रायश्चित्तं निबोधत ।

यमेनोक्तं महाबाहो समासव्यासयोगतः’ । इति ।

२. तथा च बृहस्पतिः—

‘सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत् ।

मुखे तथा सा निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात्’ ॥ इति ।

मद्यपाने चांद्रायणमभ्यसनीयम् ।

सकृदिति कणपिण्याकयोरुभयोः शेषः । निशायाम् ।

अवालमयम् । गोलोमाजालोमादिकृतं वासः । जटी शिखयाऽन्यैर्वा केशैः ।
ध्वजी मद्यघटिकादिनेति ॥९१॥

हिन्दी—अथवा बाल से बने वस्त्र को पहनता हुआ; जटाधारण करता हुआ और सूरपात्र के चिह्न को धारण करता हुआ मदिरा पीनेवाला मनुष्य पीने के दोष से छूटने के लिए एक वर्ष तक कण (अन्न की चुन्नी खुद्दी) या खली को रात में एक बार खावे ॥९१॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त वचन अप्रधान (गुड़ या महुआ का बनी हुई) मदिरा अज्ञानपूर्वक पीने पर समझना चाहिये ।

मदिरा पीने में दोष का कारण—

सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥९२॥

भाष्य—‘अन्न’शब्दो यद्यप्यदनक्रियाकर्मणि व्युत्पाद्यते, तथापि ब्रीह्यादिप्रभृता-
वेव भक्तसक्त्वपूपादौ प्रसिद्धतरप्रयोगः । तथा चा‘न्नेन व्यञ्जनमि’ति भेदोपपत्तिः । अतः
पिष्टविकारत्वात् सुराया अन्नव्यपदेशे लब्धेऽन्नानां मलमिति निवारणोपपत्तौ पैष्ट्याः
सुरायाः प्रतिषेधे लिङ्गमिदम् ।

लिङ्गं त्रयाणां वर्णानां सम्पद्यते । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैरपि वर्णैः पैष्टी न पातव्या ।
किंच सैव सुरा मुख्या गौडीमाध्व्योः । एवं यथा सीधुमाध्वीकयोर्गुरु प्रायश्चित्तं न तथा-
न्येषामरिष्टादीनां मद्यानाम् ।

मलशब्दः पाप्मेति व्याख्यातो निन्दातिशयदर्शनार्थः ।

सत्यपि प्रायश्चित्तप्रकरणे वाक्यात् सुरापाननिषेधोऽयम् । भिन्नवाक्यत्वाच्च
नार्थवादः ॥९२॥

हिन्दी—सुरा (मदिरा) अन्नो (खाद्य पदार्थों) का मल है और पापी भी मल कहा जाता है, इस कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को सुरा नहीं पीना चाहिये ॥९२॥

सुरा-भेद तथा उसे पीने का निषेध—

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥९३॥

भाष्य—गुडविकारो गौडी । येषामपीक्षुरसमेव मद्यतामापद्यते तेषामपि कारणे

कार्योपचारेच्च ‘गौडी’व्यपदेशो न विरुद्धः ।

मधुनो विकारो माध्वी । मधु माध्वीकं विकारवृत्त्या । न सद्यो जातस्य मृद्वीकारसस्य प्रतिषेधो यावन्मद्यावस्थामप्राप्तस्येति दर्शयति । अविकृतं हि मधुमाध्वीकमिच्छन्तीति स्मरति । यत्रापि मद्यशब्देन प्रतिषेधस्तत्राप्यनासादितमद्यपानशक्तियोगस्य नैव प्रतिषेधः । तस्य मद्यशब्देनानभिधानात् । यथा ‘शुक्त’शब्दोऽवस्थाविशेषवति प्रवर्तते नाविशेषेण । न हि तदेवाम्लतामनापन्नं ‘शुक्त’मित्युच्यते । यथा स एव गौः वत्सावस्थायां न ‘बलीवर्दः’ । एवं च पिष्टोदकादिसंघातसंमष्ट्या न ‘सुरा’ यावत्कालपरिवासेन न मदशक्तिमापन्ना । एवमिक्षुरसमृद्वीकारसयोर्द्रष्टव्यम् ।

“अल्पायास्तर्हि पानं प्राप्नोति, यावत्या मात्रया पीता न मदयति । प्रतिबन्धकद्रव्ययोगेन च” ।

नैष दोषः । नायं मदोत्पत्तिप्रतिषेधः । ‘तथा कर्तव्यं यथा मत्तः क्षीबो न भवतीति’ । किं तर्हि ‘यन्मदजननसमर्थशक्तियुक्तं तन्न पातव्यमिति’ । अल्पाया अपि सा शक्तिर्विद्यन्ते । यावता रूक्षमल्पप्राणं स्वल्पमपि मद्यं मदयति स्निग्धं महाप्राणं बह्वपि नेति । नैतावता मदशक्त्यभावः शक्यो वक्तुम् । कार्याभावेन कारणभावान्मद्यानामपि नैव निश्चीयते । न हि महत्काष्ठं दग्धुमसमर्थस्याग्नेरदाहकत्वमनुमीयते, शुष्कतृणे तादृशस्यैव दाहकत्वोपलंभात् ।

“यदप्युक्तं द्रव्यान्तरेण शक्तिप्रतिबन्धकत्वे पानप्राप्तिरिति”, तदप्यचोद्यम् । न हि तृणेन तादृशस्यैव दाहे तदानीं सा तस्य शक्तिर्नास्ति किंतु विद्यमानाऽपि कार्यारम्भं प्रत्यसमर्था । शक्तिसम्भवश्च प्रतिहेतुर्न ते नित्यकार्यम् । न च द्रव्यान्तराणि शक्तिं विनाशयन्ति, अपि तु कार्यारम्भं प्रतिबन्धन्ति । तथा च तत्परिमाणारम्भकद्रव्ययोगेऽपि पैत्तिको माद्यति न श्लैष्मिकोऽतोऽनुमीयते न तस्य विनाशः ।

तस्मात्र भाविमद्यावस्थस्य प्रतिषेधो नापि प्राप्तावस्थाविशेषस्य प्रतिबन्धकाभावादि-वत्तत्प्रतिषेधः । यथा चौरः स वर्जनीय इति । नोदश्चितोऽप्राप्ताम्लभावस्य प्रतिषेधः ।

“माध्वीति कथं, यावता गुणेन माध्वीति भवितव्यम्” ।

“संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति” (परिभाषा ९५) परिहारः । ज्ञापकं चास्याः परिभाषाया ओरोदिति वक्तव्ये ‘ओर्गुण’ (पा०सू० ३।४।१४६) इति गुणग्रहणम् ।

अत्र द्विजोत्तमग्रहणं च क्षत्रियवैश्ययोर्मद्यानुज्ञानार्थम् । तथा च महाभारते भारतानां वादवानां मद्यपानं तु वर्ण्यते ‘उभौ मध्वासवक्षीबौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ’ इत्युत्तरश्लोका-हर्षवाद एव ।

“ननुच तथा सर्वा इति बहुवचनं कथम्” ।

यावता एकमुपमानं द्वे उपमेये ।

अन्नमलत्वं चात्र हेतुमन्निगदोऽर्थवादो मलं हेतुर्यथा शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियत इति ॥९३॥

हिन्दी—(१) गौड़ी, (२) पैष्टी और (३) माध्वी अर्थात् क्रमशः गुड़, आटे और महुए के फूल से बनी हुई तीन प्रकार की सुरा (मदिरा) होती है; जिस प्रकार की एक है, उसी प्रकार की सभी हैं, इस कारण द्विजोत्तमों (श्रेष्ठ द्विजों—ब्राह्मणादि वर्णत्रय) को उसका पान नहीं करना चाहिये ॥९३॥

यक्षरक्षःपिशाचात्रं मद्यं मांसं सुरासवम् ।

तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रुता हविः ॥९४॥

भाष्य—यक्षादयो निन्द्याः प्राणिनो भक्ष्याभक्ष्यविवेकशून्या मांसमभक्षयन् ।

सुरा चासवश्च **सुरासवम्** । 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः ।

आसवोऽत्र मद्यविशेष एव, ईषन्मद्याद्भिन्नं गोबलीवर्दवदिहोपादानम् ।

देवानामश्नता देवदेयानि हवींषि चरुपुरोडाशादीनि दर्शपूर्णमासोदितानि ब्राह्मण-स्याशितुं युक्तानि, न पिशाचाद्यन्नं मद्यमांसादीनि ॥९४॥

हिन्दी—मद्य, मांस, सुरा और आसव ये चारों यक्ष—राक्षसों तथा पिशाचों के अन्न (भक्ष्य पदार्थ) हैं, अतएव देवताओं के हविष्य खानेवाले ब्राह्मणों को उनका भोजन (पान) नहीं करना चाहिये ॥९४॥

विमर्श—'मद्य' से पुलस्त्य-संमत नव प्रकार के मद्य का, 'सुरा' से पूर्वोक्त (११।९३) तीन प्रकार की सुरा का इस प्रकार कुल १२ प्रकार की मदिरा^१ का तथा 'आसव' से दाख, गन्ना आदि के रस से तत्काल सन्धान^२ कर बनाये हुए भक्ष्य-विशेष का ग्रहण है । कुछ व्याख्याकारों का मत है कि 'देवानामश्नता हविः' इस चतुर्थ पाद में पुंल्लिङ्ग के 'अश्नता' पद से ब्राह्मण पुरुष के लिए ही सुरादि पीने का निषेध है, ब्राह्मणी के लिए नहीं; किन्तु मद्य पीनेवाली ब्राह्मणी के लिए पतिलोक (देवलोक) की प्राप्ति का निषेध तथा इसी धरती पर कुतिया, गीधिन और सूकरी होकर जन्म लेने का,

१. तदुक्तम्—'पानसद्राक्षामाध्वीकं खार्जूरं तालमैक्षवम् ।

माध्वीकं टाङ्कमाद्वीकमैरैयं नारिकेलजम् ॥

सामान्यानि द्विजामीनां मद्यान्येकादशैव च ।

द्वादशन्तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥' इति ।

२. तथाहि— द्राक्षेक्षुटङ्गखर्जूरपनसादेश्च यो रसः ।

सद्यो जातं च पीत्वा च त्र्यहाच्छुद्ध्येत् द्विजोत्तमः ॥ इति ।

महर्षि याज्ञवल्क्य^१ प्रोक्त वचन मिलने से उक्त व्याख्याकारों का मत ठीक नहीं है ।

अमेध्ये वा पतेन्मतो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।

अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥९५॥

हिन्दी—अमेध्ये पतनं देवान्नाशनवदर्थवादः ।

“ननु च वैदिकोदाहरणं कथमकार्यम्” ।

अत्रोच्यते । तदपेक्षयाऽन्यदकार्यं कुर्यादिति । कथमकार्यम् । अशुचेर्वेदाक्षरो-
च्चारणप्रतिषेधात् ॥९५॥

हिन्दी—(क्योंकि मद्यपान से मतवाला) ब्राह्मण अपवित्र (मल-मूत्रादि से अशुद्ध नाली आदि) में गिरेगा, वेदवाक्य का उच्चारण करेगा और निषिद्ध कर्म (अहिंस्य-हिंसा आदि) करेगा (अतएव उसे मद्यपान नहीं करना चाहिये) ॥९५॥

मद्य-पान से ब्राह्मणत्वनाशादि—

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥९६॥

भाष्य—अधीते वेदे संस्काररूपेणावस्थितं हृदयं ब्रह्मशब्देनोच्यते । अतो हृदये
मद्येनाप्लाविते । स शूद्रतां गच्छति ।

ब्राह्मण्यवचनं सर्वप्रकारमद्यनिषेधार्थं ब्राह्मणस्य । क्षत्रियवैश्ययोः पैष्ठ्या एव निषेध
इति दर्शयति ॥९६॥

हिन्दी—जिस ब्राह्मण का शरीरस्थ ब्रह्म (वेद-संस्कार रूप से अवस्थित एक शरीर होने से जीवात्मा) एक बार भी मद्य से आप्लावित होता है अर्थात् जो ब्राह्मण एक
बार भी मद्य पीता है, तो उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है तथा वह शूद्रत्व को प्राप्त
करता है ॥९६॥

एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।

अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९७॥

भाष्य—उक्तप्रयोजनौ पूर्वोत्तरश्लोकौ ॥९७॥

हिन्दी—(महर्षियों से भृगुजी कहते हैं कि) यह (११।८९-९६) सुरा पीने की
शुद्धि (मैंने) कही, अब इसके आगे (११।९८-१००) सोना चुराने की शुद्धि (प्रायश्चित्त)
वक्त्रों मैं कहूँगा ॥९७॥

११. तदुक्तम्—‘पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।

इहैव सा शूनी गृध्री शूकरी चोपजायते ॥’ (याज्ञ०स्मृ० ३।२५६)

सुवर्ण चुराने का प्रायश्चित्त—

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।

स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥९८॥

भाष्य—ब्राह्मणसुवर्णस्तेये एतत्प्रायश्चित्तम् ।

विप्रग्रहणं सर्ववर्णप्रदर्शनार्थम् । क्षत्रियादीनामन्यस्य प्रायश्चित्तस्यासमाम्नात् ।

मामनुशास्तु निग्रहं करोतु । राजा गत्वा च वक्तव्यः । अत्र च राजशब्दो देशेश्वरवचन एव न क्षत्रियजात्यपेक्षः ॥९८॥

हिन्दी—(ब्राह्मण का) सुवर्ण चुरानेवाला ब्राह्मण अपने अपराध को कहता हुआ राजा के पास जाकर कहे कि 'आप मुझे दण्डित करें' ॥९८॥

विमर्श—यद्यपि इस वचन में केवल 'विप्र' के लिए ही यह प्रायश्चित्त कहा गया है; किन्तु दूसरे किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं करने से तथा '.....प्रायश्चित्तीयते नरः' (११।४३) वचन में सबका सामान्यतः निर्देश होने से और अग्रिम श्लोक के विवेचन से यह प्रायश्चित्त क्षत्रियादि वर्णों के लिए भी है । उस ब्राह्मण के सुवर्ण के चोर को पूर्व (८।३१५) वचन के अनुसार स्वयं कन्धे पर मूसल लिए हुए जाना चाहिए ।

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।

वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥९९॥

भाष्य—मुशलं दण्डविशेष आयसो दारुमयो वा ।

सकृत्स्वमिति च विवक्षितम् ।

वधेन शुध्यति । सकृत्प्रहारेण वधो मरणफलो वा भवतु मा वाऽस्तु । तादृशेन मुशलप्रहारेण शुद्धो भवति ।

ब्राह्मणस्तु तपसा वक्ष्यमाणेन ।

अत्रापि ब्राह्मणग्रहणमविवक्षितम् । तथा चोत्तरत्र द्विजग्रहणम् ।

यद्यपि च कृष्णलग्नग्रहणे महापातकं तथापि मरणान्तं प्रायश्चित्तं सुवर्णशतहरणे द्रष्टव्यम् । उक्तं दण्डप्रायश्चित्तं तुल्यरूपेण । तत्र चोक्तं 'शतादभ्यधिके वध' इत्यतोऽर्वाक् कल्पना कार्या ।

यस्तु 'मरणात्पूतो भवति' इति प्रायश्चित्तान्तरं, तस्मिन् राजा शस्त्रं उदुंबरं आदद्यात्तस्मात्तं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते । यदा क्षत्रियादिर्हर्ता स्वामी च गुणवांस्तत्रैतद्विज्ञायते । दातुमुद्युक्तं यदा स्यादिति प्रयोजने प्रयोजनोपहारस्तदा वा शिष्टं निष्कान् को घृताक्तो गोमयादिना या प्रकृतिः (?) ॥९९॥

हिन्दी—तब राजा को चाहिए कि [पूर्व (८।१३५) वचन के अनुसार उक्त चोर जिस मुसल को कन्धे पर रखकर लाया है, उस] मुसल को लेकर उससे चोर को स्वयं मारे, उसे मारने (या मारने के कारण मृततुल्य होने) से (वह चोर) शुद्ध (पापहीन) हो जाता है और ब्राह्मण आगे (११।९९) कही हुई तपस्या से ही शुद्ध हो जाता है ॥९९॥

विमर्श—‘ब्राह्मणस्तपसैव तु’ इस चतुर्थ पाद में ‘एव’ पद देने से तथा सब पापों में ब्राह्मण को मारने का पहले (८।३८०) निषेध करने से उक्त चोर ब्राह्मण हो तो उसको मुसल से मारने का विधान नहीं है। भविष्य पुराण में इसी प्रायश्चित्त को कहते समय ‘वा’ शब्द से क्षत्रियादि के लिए भी तप का निषेध नहीं है; किन्तु वैकल्पित पक्ष है यह सब मन्वर्थमुक्तावलीकार ने स्पष्ट लिखा है, अतः जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये।

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।

चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥१००॥

भाष्य—इति च द्वादशवार्षिकधर्मानुवादात्तस्यैववातिदेशो न ब्रह्महत्यायाः, प्रायश्चित्तान्तरम् । **ब्रह्महणि यद्व्रतमुक्तं तच्चरेदिति योजना ।**

अपनुनुत्सुरपनेतुमिच्छुः । शुद्धिं चिकीर्षतीति यावत् ॥१००॥

हिन्दी—(ब्राह्मण के) सुवर्ण को चुराने से उत्पन्न दोष को दूर करने का इच्छुक द्विज (ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण) पुराने वस्त्र को धारण करता हुआ वन में जाकर ब्रह्म-हत्या के लिए कहे गये (११।७१) प्रायश्चित्त को करे ॥१००॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त ब्राह्मण के पाँच रत्ती या अधिक सुवर्ण को चुराने पर है। भविष्यपुराण में तो गुणहीन तथा पापकर्म में तत्पर क्षत्रिय आदि तीनों वर्णों द्वारा गुणवान् ब्राह्मण के पाँच या ग्यारह निष्क (असर्फी या तोला) सुवर्ण को चुराने पर आत्मशुद्धि के लिए अग्नि में प्रवेश करके जलकर मरने से उस चोर की शुद्धि कही गयी है।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।

गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेगिरपानुदेत् ॥१०१॥

भाष्य—“ननु च वधेन शुध्यति स्तेनस्तपसा चेति द्वयस्य प्राक्तनत्वादेतैरिति बहुवचनं न सम्यक्” ।

एतदेव ज्ञापकं— एष निःशेषोक्तानप्यनुक्तान् कल्पेतानुबन्धाद्यपेक्षया ।

गुरुस्त्रीगमनप्रयोजनं गुरुस्त्रीगमनीयम् । निमित्तमपि प्रयोजनमुच्यते, प्रयोजयति प्रवर्तयतीति ॥१०१॥

हिन्दी—भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) द्विज इन (११।९८-१००) व्रतों से (ब्राह्मण के) सुवर्ण को चुराने से उत्पन्न पाप को दूर करे और गुरु-स्त्रीसम्भोग से उत्पन्न

पाप को इन (११।१०२-१०५) व्रतों से दूर करे ॥१०१॥

गुरुस्त्री-गमन का प्रायश्चित्त—

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तल्पे स्वप्यादयोमये ।

सूर्मीं ज्वलंतीं वाशिलष्येन्मृत्युना स विशुध्यति ॥१०२॥

भाष्य—गुरुतल्पगः । गुरुतल्पीति वा पाठः । तल्पीतिमत्वर्थीयेन विशिष्ट एव स्त्रीपुंसयोः संसर्ग उच्यते ।

गुरुराचार्यः पिता चेति । तल्पशब्दो दारवचनः ।

आचार्याणीं गत्वेदं प्रायश्चित्तम् । अपरा मातेव मातोसमानजातीयायां गमने । इमानि त्रीणि प्रायश्चित्तानि कल्प्यते बुद्धिपूर्व च ।

अभिभाष्यैनः पापं विख्याप्य । तल्पे शयनेऽग्निस्पर्शेऽयोमये शयीत ।

मृत्युना शुध्यतीति वचनात् ।

सूर्मिः तप्ता स्त्रीप्रकृतिरयोमयी तामाशिलष्येदालिङ्गयेत् ॥१०२॥

हिन्दी—गुरु (२।१४२) की स्त्री के साथ सम्भोग करनेवाला मनुष्य अपना पाप कहकर तपाये गये लोहे की शय्या पर सोवे तथा जलती हुई लोहमयी स्त्री-प्रतिमा को आलिङ्गन कर मरने से वह पापी शुद्ध (पापहीन) होता है ॥१०२॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।

नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्वागः ॥१०३॥

भाष्य—उत्कर्तनं न कल्पेन शोधनम् । शस्त्राद्याक्षिप्तम् । शक्तिः सर्वत्र सह-कारिणी । येन शक्येत छेतुं तत्सामर्थ्याल्लभ्यते ।

प्रत्यग्दक्षिणा नैर्ऋती दिक् ।

अजिह्वागोऽकुटिलगः । श्वभ्रुकूपादि न परिहरेदित्यर्थः । कुड्यादिषु प्रतिपातनं हि तदापाताद्गच्छेदेव ॥१०३॥

हिन्दी—अथवा अपने लिङ्ग तथा अण्डकोष को स्वयं काटकर अञ्जलि में लेकर सीधा होकर (कुटिल भावना का त्यागकर) जबतक गिरे अर्थात् मरे नहीं तबतक नैर्ऋत्य दिशा की ओर चले ॥१०३॥

विमर्श—ये दोनों (११।१०२-१०३) प्रायश्चित्त-वचन सवर्ण (समान जातीय) गुरुपत्नी में ज्ञानपूर्वक वीर्यक्षरण तक सम्भोग करने पर है ।

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥१०४॥

भाष्य—अबुद्धिपूर्वकं स्वभार्याभ्रान्त्या गमन इदं प्रायश्चित्तम् । विजातीयगमने बुद्धिपूर्वकमपि । **चीरं** वस्त्रखण्डम् । **श्मश्रुलो** रूढश्मश्रुः । समानजातीयाया अपि व्यभिचारिण्या गमने लघ्वेव प्रायश्चित्तम् ॥१०४॥

हिन्दी—अथवा खट्वाङ्ग धारण करता हुआ पुराना वस्त्र पहने एवं केश तथा नख बढ़ाये हुए उस (गुरुपत्नी-सम्भोगकर्ता) को निर्जल वन में सावधान होकर एक वर्ष तक प्राजापत्य नामक (११।२१०) कृच्छ्र व्रत करना चाहिए ॥१०४॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त लघु होने से अपनी स्त्री-आदि के भ्रम से अज्ञानपूर्वक गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने पर है ।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येत्रियतेन्द्रियः ।

हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥१०५॥

भाष्य—अतिदिष्टगुरुभावानां मातुलपितृव्यादीनां या भार्यास्तद्रमन इदं प्रायश्चित्तम् **हविष्यं** पयोमूलघृतादि । **यवागू** द्रवपेयादि ॥१०५॥

हिन्दी—अथवा—गुरुपत्नी-सम्भोगजन्य पाप की निवृत्ति के लिए जितेन्द्रिय होकर हविष्यान्न से या नीवार आदि की यवागू (लपसी) से तीन मास तक चान्द्रायण व्रत (१०।२१६-२२०) करे ॥१०५॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त की अपेक्षा लघुतम होने से असाध्वी या असवर्णा गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने पर है ।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।

उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥१०६॥

भाष्य—उक्तवक्ष्यमाणसंक्षेपवचनोऽयम् ॥१०६॥

हिन्दी—भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि इन (११।१०७-११८) व्रतों से महापातकी (११।५३) लोग अपने पापों को नष्ट करें तथा उपपातकी लोग इन (११।५८-६५) अनेक प्रकार के व्रतों से अपने पाप को दूर करे ॥१०६॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।

कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥१०७॥

भाष्य—गोघ्नो गोघाती । मूलविभुजादिदर्शनात्कः ।

यवान् पिबेदिति यवसक्तुपानं केचिदाहुः । अन्ये तु प्रकृतिशब्दः कार्ये यवाग्वां प्रयुक्तोऽतो यवान् पिष्ट्वा पाययेदित्युक्तं भवति ।

पूर्वस्मिन्पक्षेऽश्रुतोदकादिद्रवकल्पना भवति । न हि यवा उदकादिना विना पातुं शक्यन्ते । इह तु लक्षणामात्रम्, अश्रुतकल्पनायाश्च लघ्वी लक्षणा ।

कृतवपनः कृतमौण्ड्यः । केशच्छेदवचनो वा ।

गोष्ठे यत्र गाव आसते ।

चर्मणा तेन । या न गौर्हता, अपि त्वन्यस्या अपि ॥१०७॥

हिन्दी—उपपातक से युक्त गोघातक शिखासहित मुण्डन कराकर उस (मारी हुई) गाय के चमड़े से शरीर को ढककर एक मास (पतले) यव को पीता हुआ गोशाला में निवास करे ॥१०७॥

चतुर्थकालमश्रीयादक्षारलवणं मितम् ।

गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥१०८॥

भाष्य—द्वौ मासावेकैकमाहारं भुक्त्वा द्वितीयेऽहनि सायमश्रीयात् ।

लवणविशेषेण क्षारग्रहणात्सैन्धवस्याप्रतिषेधः । स्वतन्त्रः क्षारप्रतिषेधो हि द्वन्द्वे सति स्यात् । तत्र वचनप्रवृत्तिः पदद्वयस्य च लक्षणार्था । युगपदधिकरणतायां द्वन्द्वः । स्थिते विशेषणसमासे विशिष्टस्यार्थस्य नानुज्ञासम्बन्धः । न समासादिलाघवम् ।

मितं स्वल्पमित्यर्थः । न यावता तृप्तिर्भवति शरीरस्थितिश्च जायते ।

गोमूत्रस्नानं त्रिष्वपि कालेषु ।

चतुर्थकालं द्वौ मासाविति सम्बन्धः । एवं स्मृत्यन्तरे 'कृतवपनो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः । द्वौ मासौ स्नानमप्यस्य गोमूत्रेण विधीयते' ॥

'पादशौचक्रियाकार्यमद्भिः कुर्वीत केवलम् ।'

न चास्य द्वौ मासावित्यस्यानेन सम्बन्धः सम्भवति । स्नानग्रहणं पादपूरणार्थम् । स्नानकाले यदि पादाद्यशुद्धिर्भवत्यर्थात्तदुदकेनैव द्रव्यशुद्धिविधिना शोधनीयम् । अत आचमनमपि शुद्ध्यर्थमुदकेनैव स्नानकाले । अन्यदा मृदा शुद्धिः सा मृद्वारिक्रमेणैव कर्तव्या । स्नानविधौ गोमूत्रश्रवणादाचमनादौ कः प्रसङ्गः । स्नानेऽपि प्रायश्चित्ताङ्गेन शुद्ध्यर्थम् ॥१०८॥

हिन्दी—इसके बाद दो मासतक (द्वितीय तथा तृतीय मास में) गोमूत्र से स्नान करता हुआ जितेन्द्रिय होकर चौथे काल (आज प्रातःकाल भोजन कर फिर दूसरे दिन सायंकाल इसी क्रम से सर्वदा) कृत्रिम नमक से रहित (सेंधा नमक खाया जा सकता है) थोड़ा हविष्यान्न भोजन करे ॥१०८॥

दिवानुगच्छेद्वास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।

शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनो वसेत् ॥१०९॥

भाष्य—यासां गवां स्थाने वसति ताश्चरितुं गच्छन्तीः पश्चाद्गच्छेत् । तच्छब्देन प्रत्यवमर्शाद्यासां गृहे स्थितस्तासाम् । अन्यासां गच्छन्तीनां न भवत्यनुगमनम् ।

ताभिः समुत्थापितं रजो रणेरूर्ध्वं । गच्छन् पिबेत् ।

एवं तत्रैव ताभिः सह दिवसं विहृत्य ताभिरेव सह पुनर्गोष्ठमागच्छेत् ।

शुश्रूषयित्वा कण्डूकर्षणरजोपनोदनेनोपगच्छन् ।

नमस्कृत्य जानुशिरसा प्रणामं कृत्वा ।

वीरासनो वसेत् । भित्तिशय्यादावनिषद्य यदुपविष्टस्यावस्थानं तं द्वीरासनम् ॥१०९॥

हिन्दी—दिन में प्रातःकाल (चरने के लिए वन आदि को जाती हुई) गायों के पीछे-पीछे जाय और रुककर उनके खुरों के आघात से उड़ती हुई धूलिका पान करे तथा (मच्छर हांकने आदि से) उनकी सेवा तथा नमस्कार करके रात्रि में (उनके रक्षार्थ) वीरासन से बैठे ॥१०९॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु ब्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।

आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरोः ॥११०॥

भाष्य—तिष्ठन्तीत्येवमादिको विधिः ।

यत्र काश्चित्तिष्ठन्ति काश्चिद्ब्रजन्ति काश्चिद्वाऽऽसते तत्र भूयसीनां धर्म समाश्रयेत् ।

वीतो मत्सरो लोभो यस्येति । प्रदर्शनार्थं चैतत् । त्यक्तरागादिमनोदोष इति यावत् । नियतेन्द्रियवचनात् ॥११०॥

हिन्दी—पवित्र तथा क्रोधरहित होकर उन गायों के खड़ा होने पर खड़ा होवे, चलने पर चले तथा बैठने पर बैठे ॥११०॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्ययैः ।

पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वप्राणैर्विमोचयेत् ॥१११॥

भाष्य—आतुरां व्याधिताम् । अभिशस्तां गृहिताम् । भयैर्व्याघ्रादिनिमित्तैः ।

सर्वेण सामर्थ्येन प्राणशब्दोच्छ्वासपवन एव । ‘अल्पप्राणो महाप्राण’ इति स्थूले बलवति च प्रयोगदर्शनात् । तेन स्वयमशक्तेन सहायकोपादानेनाप्युद्धारः कर्तव्यः ॥१११॥

१. तथा च दिलीपकर्तृकनन्दिनीसेवाप्रसङ्गे महाकविकालिदासः—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।

जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ इति (रघु० २।६)

हिन्दी—रोग या चोर अथवा व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से भयभीत या गिरी हुई या कीचड़ आदि में फँसी हुई गौ की सब उपायों से रक्षा करे ॥१११॥

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।

न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥११२॥

भाष्य—उष्णेन भृशं तपत्यादित्ये वर्षति पर्जन्ये शीते वा मारुते वाति वायौ भृशमिति ॥११२॥

हिन्दी—गर्मी, वर्षा या शीत रहने पर या आँधी चलने पर यथाशक्ति गौ की विना रक्षा किये अपनी रक्षा न करे ॥११२॥

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।

भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥११३॥

भाष्य—ब्रीह्यादिभक्षयन्तीं गां वा वारयेत् । न चान्यानाचक्षीत निवारणार्थम् । यदि तु बध्नीयात् आशंक्यते बाधेति तृप्त्या तदा पूर्वोक्तकरणे न दोषः । तदनुग्रहो विधीयते ।

एवं पिबन्तं वत्सकमपि ॥११३॥

हिन्दी—अपने या दूसरे घर, खेत या खलिहान में खाती हुई गाय को तथा पीते हुए बछड़े को (किसी से रोकने के लिए) न कहे ॥११३॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।

स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥११४॥

हिन्दी—इस विधि (११।१०७-११३) से जो गोघातक तीन मास तक गौ का अनुसरण (सेवन) करता है, वह गोहत्या से उत्पन्न पाप को नष्ट कर देता है ॥११४॥

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥११५॥

भाष्य—दश गावो देया एको वृषभः । शक्तौ चत्वारि व्रतानि ।

अविद्यमाने गदितधने ततो न्यूनं सर्वस्वं देयम् ।

वेदविद्भ्य इति बहुशः, न द्वयोरेकस्मिन् वा । 'वेदविद्'ग्रहणं न बहुवचनार्थमनुवादो वेदविदामेव पात्रतयोक्तत्वात् ।

१. नदिन्याः सेवापरायणो दिलीपो मायाकृतसिंहात्तां रक्षितुं स्वशरीरमेवापर्ययामासेति रघुवंश-द्वितीयसर्गकथा (२।२६-५९) द्रष्टव्या ।

यत्तु स्मृत्यन्तरे ‘दहनवाहनबन्धनदामपाशयोजनतैलौषधादियोगे मृते स्तशिखं वपनं कृत्वा प्राजापत्यं चरेत्ततश्चैलखण्डं दद्यादिति’ यो नातिप्रयत्नेनैतासु क्रियासु प्रवर्तते तस्य प्रमादजेऽपराधे प्रायश्चित्तमेतत् । यतः—

‘यंत्रणे गोश्चिकित्सायां गूढगर्भविमोचने ।

यत्ने कृते विपत्तिः स्यात्प्रायश्चित्तं न विद्यते’ ।

‘औषधं स्नेहमाहारं दद्याद्ब्राह्मणेषु यः ।

दीयमाने विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥’

इति सांवर्तम् ।

तथाऽस्य मासेन शुद्धिरुक्ता ‘पंचगव्यं पिबेत् षष्ठे काले पयः समाप्ते ब्राह्मणां-स्तर्पयेत् । तिलधेनुं च दद्यात्’ ।

तथान्याऽर्द्धमासेन ‘सक्तुयावकशाकपयोदधि घृतं सकृदिति’ । विकल्पानेतान्व-क्ष्यामि । येन द्रव्येण यः प्रयोग आरब्धः स तेनैव समापनीयो न तु कस्मिंश्चिदहि सक्तवः कस्मिंश्चिद्यावकादीनीति । ब्रीहिभिर्यजेत येवैर्वेति विकल्पितेऽपि द्रव्यद्वये न ब्रीहिषूपपन्नेष्विच्छया चैतेषां वा विनाशे यवा उपादीयन्ते । प्रतिनिधिनैवं प्रयोगसमाप्तिः । तत्रापि गोदानं विहितम् । तथैतावन्त्येव तपांस्यतो वत्ससहितां गां दद्यादिति ।

अत्रोक्तं गोतमीये (२२।१८) च ‘गां वैश्यवदिति’ । यत्र श्रोत्रियस्य यज्ञविदुषोऽ-ग्न्याहितस्य दोग्ध्रीं बहुक्षीरां बालवत्सां निर्धनस्य गां हत्वा गौतमीयं, क्षेत्रारामादौ ब्रीह्यादिषु च प्रविश्य तन्निवारणार्थं प्रदुते ‘मा मारयाम्येनामिति’ अनया बुद्ध्या कथंचिन्मृतायामिदं मासिकम् । तथाऽश्रोत्रियस्य जरत्या अक्षीरायाश्च बुद्धिपूर्ववधे त्रैमा-सिकम् । सर्वतो निर्गुणाया निर्गुणस्वामिकाया अबुद्धिपूर्ववधे प्राजापत्यम् । तस्या एव बुद्धिपूर्वमृतायां त्रैमासिकमिति ॥११४-११५॥

हिन्दी—इस प्रकार (११।१०७-११३) व्रत को समाप्तकर दश गाय तथा एक बैल ब्राह्मण के लिए दान कर देवे तथा इतनी सम्पत्ति नहीं होने पर अपना सर्वस्व (सब धन) वेदज्ञाता ब्राह्मण के लिए दान कर दे ॥११५॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णिवर्जं शुक्लार्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११६॥

भाष्य—एतदेवेति गोघातकप्रायश्चित्तं सर्वेषूपपातकेष्वतिदिशति ।

वैकल्पिकं चान्द्रायणमपि ।

उपपातकित्वे विशेषोपदेशान्न गोघ्नस्य चान्द्रायणमिच्छन्ति । तेषामुपपातकित्व-वचने गोघ्नस्य प्रयोजनं मृग्यम् ॥११६॥

हिन्दी—अवकीर्णी (११।११९) छोड़कर शेष उपपातक (११।५८-६५) करनेवाला मनुष्य गोहत्या निवारक इसी (११।१०७-११४) व्रत को करे अथवा चान्द्रायण व्रत (११।२१५-२१८) को करे ॥११६॥

अवकीर्णि का प्रायश्चित्त—

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।

पाकयज्ञविधानेन यजेत निऋतिं निशि ॥११७॥

भाष्य—‘अवकारो’ऽ‘वकीर्णी’ ब्रह्मचारिणो व्रतानि तस्यातिक्रमः स्त्रीसंप्रयोग-लक्षणः सोऽस्यास्तीत्यवकीर्णी । वक्ष्यति ‘कामतो रेतसः सेकमिति’ ।

काणेन गर्दभेनेति सगुणद्रव्यनिर्देशः । **चतुष्पथेनेति** देशस्य । **निशीति** कालस्य । **नैऋतमिति** देवतायाः । **पाकयज्ञविधानेनेति** तिकर्तव्यताविधानम् ।

“ननु पशुयागा अग्निष्टोमीयपशुसाध्या अग्निषोमीयपशुप्रकृतयः” ।

सत्यम् । स एव पाकयज्ञप्रकृतिः । सत्यधिकारे हि सः । उक्तं च ‘पशुरपि द्रवति पयोऽपि द्रवतीति’ । ‘पाकयज्ञाः’ पूर्णमासादयः ॥११७॥

हिन्दी—‘अवकीर्णी’ (११।११९) पुरुष रात में काने गधे (की चर्बी) से चौरास्ते पर पाकयज्ञ की विधि से ‘निऋति’ नामक देवता के उद्देश्य से यज्ञ करे ॥११७॥

हुत्वाऽग्नौ विधिवद्धोमानंततश्च समेत्यूचा ।

वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥११८॥

भाष्य—अग्नौ यदा होमम् । अग्निहोमाश्च ‘हृदयस्याग्र’ इति ।

अन्ततः समाप्तेषु होमेषु मरुद्भ्य इन्द्राय बृहस्पतयेऽग्नयेऽप्याहुतीर्जुहुयात् । ‘सम्’ इत्य-नया । ‘सं-मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः । संचायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च ।’ (अथर्ववेद ७।३३।१) इत्येतया जुहुयात् ।

मान्त्रवर्णिकत्वात् देवतानां श्लोके ‘वातगुरुशब्दौ मरुद्बृहस्पतिशब्दलक्षणौ । अतो वातादिषु स्वाहाकारादौ मरुद्बृहस्पतिशब्दौ प्रयोक्तव्यौ, न वातगुरुशब्दौ ॥११८॥

हिन्दी—(पूर्व (११।११७) वचन के अनुसार काने गधे की चर्बी से) विधिपूर्वक ‘निऋति’ नामक देवता के उद्देश्य से हवनकर ‘समासिञ्चन् मरुतः.....’ इस मन्त्र से वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्नि के उद्देश्य से घी की आहुति देकर हवन करे ॥११९॥

अवकीर्णी का लक्षण—

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।

अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥११९॥

भाष्य—अवकीर्णपदार्थनिरूपणम् । अतश्चोपात्तव्रतातिरिक्तविषय एवं विज्ञायते ।
व्रतस्थस्येति ब्रह्मचर्याश्रमस्थस्येति, स्मृत्यन्तरदर्शनाद्विज्ञेयम् ।

रेतःसेकस्त्वस्यैव विशेषतः प्रतिषिद्धोऽन्तरेणापि स्त्रीसंप्रयोगम् ।

कामतः सेके विधिरयम् ॥११९॥

हिन्दी—ब्रह्मचर्यावस्था में रहनेवाला जो द्विज इच्छापूर्वक (स्त्री के साथ सम्भोग करता हुआ) वीर्यपात कर (ब्रह्मचर्य) व्रत को भंग करता है, उसे ‘अवकीर्णी’ कहते हैं ॥११९॥

वायु आदि के उद्देश्य से हवन करने में कारण—

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।

चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥१२०॥

भाष्य—‘जुहुयादाहुतीरिति’ विधेरर्थवादः । व्रतिनः सत अवकीर्णिनः यत् ब्राह्मं तेजो विविधविज्ञानोपार्जितं पुण्यं तद्देवतां देवतामुपैत्युपसंक्रामति । तत्र लयं गच्छतीति यावत् । व्रतिनोपैतीति विवक्षितम् ॥१२०॥

हिन्दी—व्रती (ब्रह्मचर्य व्रतवाले) का नियमानुष्ठान तथा वेदाध्ययन आदि से उत्पन्न तेज वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्नि, इन चारों के पास जाता है (अतएव इन चारों के उद्देश्य से ‘अवकीर्णी’ को आहुति देने का पूर्व (११।११८) वचन से विधान किया गया है) ॥१२०॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।

सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥१२१॥

भाष्य—वसित्वा आच्छाद्य ।

स्वकर्मावकीर्णोऽस्मीत्येवम् ॥१२१॥

हिन्दी—(इस (११।११९) पाप के करने पर पूर्वोक्त (११।११७-११८) विधि से याग तथा हवन करके वह क्षतव्रत ब्रह्मचारी) गधे का चमड़ा ओढ़कर अपने पाप को कहता हुआ सात घरों में भिक्षा माँगे ॥१२१॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यति ॥१२२॥

भाष्य—प्रातर्मध्याह्नापराह्णेषूपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् । संवत्सरेण पूतो भवति ॥१२२॥

१. तदुक्तम्—‘अवकीर्णी’ भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् । इति ।

हिन्दी—उन सात घरों से मिले हुए भिक्षात्र को एक शाम खाता हुआ तथा त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ वह 'अवकीर्णी' एक वर्ष में शुद्ध (पापरहित) हो जाता है ॥१२२॥

जातिभ्रंशकर कर्म का प्रायश्चित्त—

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।

चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥१२३॥

भाष्य—समाप्तान्युपपातकानि ।

अन्यतममित्यनुवादः । न हि निमित्तानां समाहारसम्भवः । समुदायविवक्षायां न च कस्यचित्प्रायश्चित्तमुपदिशति । को हि मनुष्यः सर्वाणि जातिभ्रंशकराण्यकार्याणि कुर्यात् । एक एव शब्दः प्रायश्चित्तानुदेशेऽशास्त्रताप्रसंगः । न च साहित्यविवक्षाऽप्युक्ता, लक्षणत्वेन श्रवणात्पुरुषं प्रति निमित्तानाम् । अतः प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः 'यस्य पितामहः सोमं न पिबेदि'त्यन्यतरस्य पितुः पितामहस्य वा सोममपीतवतो भवत्येव पशुः । यथा सत्यप्युभयश्रवणे वद्युभयं हविरार्तिमियादित्यन्यतरहविर्विनाशेऽपि भवत्येव पंचशरावः, एवं सर्वप्रायश्चित्तेषु द्रष्टव्यम् ।

इच्छयेति विवक्षितम् । **अनिच्छयेति** च । प्राजापत्यसान्तपनयोः स्वरूपं वक्ष्यति ॥१२३॥

हिन्दी—जातिभ्रंशकर कर्मों (११।६६) में से किसी एक को ज्ञानपूर्वक करनेवाला मनुष्य सान्तपन कृच्छ्र (११।२११) तथा अज्ञानपूर्वक करनेवाला प्राजापत्य (११।२१०) व्रत को करे ॥१२३॥

सङ्करीकरणादि का प्रायश्चित्त—

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमेन्दवः ।

मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥१२४॥

भाष्य—सङ्करीकरणमपात्रीकरणं पूर्वमुक्तेनेति । एवं **सङ्करापात्रकृत्यास्विति** संज्ञिभेदाद्बहुवचनम् । **कृत्या**शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । 'कृत्यं' कारणम् ।

ऐन्दवो मासः चान्द्रायणः ।

यावको यवविकारः पेयलेह्यादिः ।

अत्राविशेषश्रवणेऽपीच्छानिच्छयोर्गुरुलघुभावो विज्ञेयः ॥१२४॥

हिन्दी—(ज्ञानपूर्वक) सङ्करीकरण (११।६७) तथा अपात्रीकरण (११।६८) कर्मों में से किसी एक कर्म को करनेवाला एक मास तक चान्द्रायण (११।२१५-२१९) व्रत

अध्यायः]

‘मेधातिथि’ भाष्य ‘मणिप्रभा’ हिन्दीटीकासहिता

६११

करे और अपात्रीकरण (११।६८) कर्मों में से किसी एक कर्म को करनेवाला तीन दिन तक गर्म यवागू (लपसी) खावे ॥१२४॥

क्षत्रियादि के वध का प्रायश्चित्त—

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।

वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥१२५॥

भाष्य—सवनगतयो राजवैश्ययोर्ब्राह्मणसममुक्तम् । इह तु ततोऽन्यत्र । स्वधर्म-
नुष्ठानयोश्चतुर्थाष्टमविभागविधिः । तथा च वृत्तस्य ग्रहणं सर्वक्रियार्थम् ।

त्रीणि वर्षाणि क्षत्रियस्य, सार्धवर्ष वैश्यस्य, नव मासान् शूद्रस्य ।

यत्तु ‘स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रियवध’ इति तत्परित्यक्तस्वकर्मणोः अधर्मस्थितयोः । शूद्रस्य
‘वृत्तं’ द्विजशुश्रूषादि, न महायज्ञानुष्ठानं च ।

वृत्तं शीलं वैश्यवृत्तौ वैश्यस्य वृत्तावेव वा तिष्ठति । गहने यथा समये ‘तियच्छ-
ग्निवेति’ ।

स्वधर्मपराणां विधिवत्प्रायश्चित्तम् ॥१२५॥

हिन्दी—ब्रह्महत्या का चौथाई भाग क्षत्रिय के वध करने पर, आठवाँ भाग
सदाचारी वैश्य का वध करने पर और सोलहवाँ भाग शूद्र के वध करने पर पाप होता
है ॥१२४॥

विमर्श—उक्त पाप सदाचारी क्षत्रियादि का इच्छापूर्वक वध करने पर होता है,
अतएव उसकी शुद्धि भी क्रमशः तीन वर्ष, डेढ़ वर्ष तथा नव मास तक ब्रह्महत्या के
प्रायश्चित्त से होती है ।

अनिच्छा से क्षत्रियघाती ब्राह्मण को प्रायश्चित्त—

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।

वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥१२६॥

भाष्य—इदमपरं दानप्रायश्चित्तम् । सम्भवद्विजस्य तपो नास्तीति वक्ष्यति, ‘दानेन
वधनिर्णयकम्’ इत्यादि ।

अकामत इति न विवक्षितं, महत्त्वात्प्रायश्चित्तस्य । यदि वा ‘सवनगतयोरेवा-
कामत’ इति कल्पनीयम् ।

वृषभ एको यासां सहस्रे सा वृषभैकसहस्राः ॥१२६॥

हिन्दी—अनिच्छापूर्वक क्षत्रिय का वध करनेवाला ब्राह्मण अच्छी तरह व्रतकर एक
बैल के साथ सहस्र गायों को ब्राह्मण के लिये देवे ॥१२६॥

क्षत्रियवध का अन्य प्रायश्चित्त—

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।

वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥१२७॥

भाष्य—आद्योऽर्धः श्लोकस्तुरीय इत्यस्यानुवादः ।

जटीति चीरखट्वाङ्गधारणादिनिवृत्यर्थमिति केचित् ।

तदयुक्तं तत्रैव ते धर्मास्तदीयतुरीयभागातिदेशो नान्येषां सत्यपि सम्भवे, सरस्वती-परिसर्पणादीनामिव प्रयोजनसत्त्वोपपत्तौ ।

दूरत इति ग्रामान्निवृत्तिः ।

वृक्षमूले कुटीं कृत्वेति ॥१२७॥

हिन्दी—अथवा संयमी तथा जटाधारी होकर ग्राम से अधिक दूर पेड़ के नीचे निवास करता हुआ तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करे ॥१२७॥

वैश्यवध का अन्य प्रायश्चित्त—

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद्वैकशतं गवाम् ॥१२८॥

भाष्य—पूर्वत्राष्टमोऽंशः, अनेन द्वादशो विधीयते । अल्पत्वादब्दं न्यूनगुणस्य विधिरयमिति विज्ञायते ।

“ननु वृत्तस्थं इति श्रुतम्” ।

सत्यम् । सम्प्रति वृत्तस्थो वधकाले, प्राङ्निर्गुण इति । यस्तु सर्वदैव वृत्तस्थस्तस्य पूर्ववदिति ज्ञेयम् ॥१२८॥

हिन्दी—(अनिच्छापूर्वक) सदाचारी वैश्य का वध करनेवाला ब्राह्मण इसी (११।१२७) प्रायश्चित्त को करे तथा एक बैल के साथ सौ गायों को (ब्राह्मण के लिए) दे ॥१२८॥

शूद्रवध का प्रायश्चित्त—

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।

वृषभैकादशा वाऽपि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥१२९॥

भाष्य—अत्रापि मासषट्कं नवकं च वृत्तस्थेतरभेदेन योज्यम् ।

यथाश्रुतसंख्यं च गोदानं सर्वत्र वैकल्पिकम् । द्विजोत्तमग्रहणं च प्रदर्शनार्थम् ।

सिता न वर्णतः । किं तर्हि? शुद्धिसामान्याद्या बहुक्षीरास्त्र्यपत्या अनष्टप्रजाश्च ॥१२९॥

हिन्दी—(अनिच्छापूर्वक सदाचारी) शूद्र का वध करनेवाला ब्राह्मण छः मास तक इसी (११।१२७) व्रत को करे तथा एक बैल के साथ ग्यारह गायों को ब्राह्मण के लिए दे ॥१२९॥

विमर्श—अनिच्छापूर्वक क्षत्रिय आदि का वध करने पर इस व्रत के लघु होने से पूर्व (११।१२५) वचन के साथ इन तीनों (११।१२७-१२९) की पुनरुक्ति नहीं होती ।

बिल्ली आदि के वध का प्रायश्चित्त—

माजरिनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।

श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१३०॥

भाष्य—अतिमहत्त्वात्प्रायश्चित्तस्य समुदायवधे प्रायश्चित्तमेतत् ।

“ननु चात्र साहित्यं न विवक्षितमित्युक्तं यतो जातिभ्रंशकरादिषु । कथं चैते सर्वे चैकस्य हन्तव्यतया उपनयेयुः । अतिरिक्तसद्भावे न तन्निमित्तं स्यात् । अर्थान्तरमेवैतद्वशेनैव तच्छूयते वक्तुम् । तेनावृत्तेन हन्ता । अधिकवधे त्वन्यद्भविष्यति । नैतच्छूयते न्यूने वधे च न स्यात् । पयः पिबेदित्यादि प्रत्येकविधेन सम्बध्यते । न समुदाये प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वा । अर्थान्तरे तु स्थातुं लभ्यते” ।

यत्तावदुच्यते साहित्यं न विवक्षितमिति । तत्र न विवक्ष्यते यत्र प्रत्येकं सम्बन्धिवाच्यमर्थवत् । यथा ‘यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्’ इति । यत्र पुनरविवक्ष्यमाणे वाच्यमेवानर्थकं तत्र तत्परिहारार्थं युक्ता विवक्षा । यथा वक्ष्यति ‘सहस्रस्य प्रमापणे पूर्णं वानसीति’ । अत्राविवक्षायां सहस्रस्येति व्यर्थं स्यात् । एवं हि शास्त्रान्तरविरोधादतिमहत्त्वे युक्तैव विवक्षा ।

“ननु च पदोपादानतायामपि लक्षणागतस्य विशेषणस्याविवक्षैव । यथा यस्योभयं हविरित्युभयशब्दार्थं तत्र तुल्यम् । अत्र हविरुभयमिति च पदद्वये वक्ष्यमाणे वाक्यभेदः । हविरत्रोभयं चेति । यत्रावस्थाभेदस्तत्र वाक्यभेदपरिहारार्थमवश्यं भेदः । अन्यतरस्मिन् व्यवहितो गुणो वा हातव्यो भवति । तथोभयशब्दे सर्वमस्ति । आच्छेदिति हविःशब्देन व्यवहितो भवति संख्यानुरूपत्वात् । गुणानुवादकत्वं वाऽस्यसम्भवति । अविवक्षिते च तस्मिन् परिशिष्टं वाक्यमर्थवाद एव । इह पुनः समुदायविवक्षायां सहस्रशब्दविवक्षायां वा कृत्स्नमेव वाक्यमनर्थकम् । तथा ह्येतावद्वाच्यं स्यात् । स्थानतां प्रमाणतां तथाऽस्यां शूद्रहत्याव्रतमित्येतावद्वक्तव्यं स्यात् । प्रमाणे शूद्रहत्येति । एतावतामेव हिंसा सम्भवति” ।

तथाऽन्यदप्येवं जातीयकं विशेषणं न विवक्ष्येत, समानन्यायत्वात्, ‘फलदानं तु वृक्षाणाम्’ इति । ततश्च सर्वमसमंजसं स्यात् ।

पौरुषेयं चेदं वाक्यं नैव वैदिकम् । वेदे च कस्य पुरुषस्य प्रयोगः किमर्थमनर्थकं प्रयुक्तमिति । इह तु बुद्धिपूर्वे प्रयोगे मात्रायामप्ययुक्तमानर्थक्यम् । तत्साहित्यविवक्षा-विशेषणविवक्षा वायुक्तैव । यच्चोक्तं “कथं च तदिति सर्व एत इति च”, तत्राप्या-खेटकार्यमृगयायां दावदाहिनो वा उपपद्यतयैव ।

यदप्युक्तमतिरिक्तसद्भावे न तन्निमित्तमिति, तदप्ययुक्तम् । न त्वाधिक्ये पूर्वेषां नाशो न्यूनेषु च तथैव कल्पना कार्या ॥१३०॥

हिन्दी—बिल्ली, नेवला, चाष (नीलकण्ठ) पक्षी, मेढ़क, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौवा; इनमें से किसी को मारकर शूद्रहत्या के व्रत (प्रायश्चित्त) को करे ॥१३०॥

पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।

उपस्पृशेत्स्नवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥१३१॥

भाष्य—प्रत्येकं वधे प्रायश्चित्तान्तरमुच्यते ।

पयः क्षीरं, प्रसिद्धतरत्वात्प्रयोगस्य, नापः, सत्यामप्युभयार्थतायां; यथा ‘पयसा जुहोति’ इति यथैव वराहशब्दो मेघे पर्वते सूकरे वर्तते । प्रसिद्धतरः सूकरे । पर्वतादि-प्रवृत्तौ सामानाधिकरण्यमपेक्षते ‘वराहो हिमवान्’, ‘वराहः पारियात्र’ इति ।

प्रकृते च भोजने भक्तादौ शरीरस्थित्यर्थं प्राप्ते तत्स्थाने पयो विधीयमानमन्यदन्नं निवर्तयति । तपोरूपत्वाच्चैतदेव प्रतिपत्तुं युक्तम् । तापयति दुःखयतीति **तपः** । अतो यथा ‘प्राणायामे घृतप्राशनमिति’ नात्र पौरस्य भोजनं निवर्तयते, एवमिह नाचमनं निवर्तयति । यो घृतप्राशनं भोजनान्तरनिमित्तं बाधत इति ।

नापः पयःपानेन विकल्पिताः, किं तर्हि? **उपस्पृशेत् स्नवन्त्यामिति** । पयःपाना-त्तद्रूपेण अध्वगमनशब्द उक्तस्य नद्यां स्नानम् । स्नवन्तिवचनात्तडागसरसोर्निवृत्तिः ।

शब्दैवतं ‘आपो हि ष्ठा’ इत्यादि ऋक्समुदायोक्तं पवमानसूक्तम् ।

स्मृत्यन्तरेषु ‘कृशरभोजनमेकार्थं लोहदण्डं च दक्षिणेति’ ।

व्रजेत् न देशान्तरप्राप्तिरित्येव, किं तर्हि? पादाभ्यां गमनम् ॥१३१॥

हिन्दी—अथवा (उक्त ११।१३०) मार्जार आदि को मारनेवाला तीन रात दूध पीवे, या एक योजन (चार कोश) गमन करे, या नदी में स्नान करे अथवा ‘अब्दैवत’ सूक्त (वरुण हैं देवता जिसका ऐसा ‘आपो हिष्ठा मयो भुवः.....’ इस मन्त्र) को जपे ॥१३१॥

विमर्श—पूर्व (११।१३०) श्लोकोक्त प्रायश्चित्त इच्छापूर्वक वध करने पर करना चाहिए और अनिच्छापूर्वक (भूल से) वध करने पर इस (११।१३१) श्लोक में वर्णित

प्रायश्चित्त को करना चाहिये । इसमें वर्णित चारों प्रायश्चित्तों में से पहले करने के लिए सामर्थ्य नहीं रहने पर दूसरा तथा दूसरे को करने के लिए सामर्थ्य नहीं रहने पर तीसरा इसी क्रम से आगे वाले चौथे प्रायश्चित्त को करना चाहिए । इन चारों प्रायश्चित्तों को तीन-तीन रात अर्थात् तीन-तीन दिन करना चाहिए ।

साँप तथा नपुंसक को मारने का प्रायश्चित्त—

अभिं काष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।

पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥१३२॥

भाष्य—द्विजोत्तमग्रहणमतंत्रम् ।

तीक्ष्णामायसीमभीम् । काष्णायसीग्रहणं काष्ठादिनिवृत्त्यर्थम् ।

षण्ढे नपुंसके । तच्चतुर्विधम् । अरेतो वातरेतो वा अप्रवृत्तेन्द्रियमुभयव्यञ्जनं वा ।

सर्वप्राणिमात्रसम्बन्धेनैतत्प्रायश्चित्तम् । ब्राह्मणस्य शूद्रस्य मेषस्य छागस्य च ॥१३२॥

हिन्दी—द्विजश्रेष्ठ साँप को मारकर काले लोहे का बना तीक्ष्णाग्र डण्डा तथा नपुंसक को मारकर एक भार (१ गाड़ी-२० मन) पुआल और एक मासा सीसा ब्राह्मण के लिए दान करे ॥१३२॥

सूअर आदि के वध का प्रायश्चित्त—

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।

शुके द्विहायनं वत्सं क्रौंचं हत्वा त्रिहायनम् ॥१३३॥

भाष्य—वराहः सूकरस्तस्मिन्हते घृतघटं दद्यात् ।

चतुराढको द्रोणः ।

हायनो वर्षम् वत्सो गोजातीयो बालः ॥१३३॥

हिन्दी—सूअर का वध करने पर घी से भरा घड़ा, तीतर के वध करने पर एक द्रोण (१६ सेर) तिल, तोते का वध करने पर दो वर्ष का बछड़ा और क्रौञ्च पक्षी का वध करने पर तीन वर्ष का बछड़ा दान करे ॥१३३॥

हंसादि के वध का प्रायश्चित्त—

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।

वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥१३४॥

१. एतदर्थममरकोषस्य ‘अस्त्रियामाढकद्रोणौ (२।९।८८) श्लोकस्य मत्कृतामरकौमुदी-टिप्पणी द्रष्टव्या ।

भाष्य—हंसादयः पक्षिणः । वानरो मर्कटः ।

स्पर्शयेद्दद्यात् ।

प्रत्येकवधे चैतत्प्रायश्चित्तं, द्वन्द्वानिर्देशादित्युक्तम् ॥१३४॥

हिन्दी—हंस, बलाका, बगुला, मोर, वानर, बाज और भास को मारकर ब्राह्मण एक गाय दान करे ॥१३४॥

घोड़ा आदि के वध का प्रायश्चित्त—

वासो दद्याद्धयं हत्वा पंच नीलान्वृषानाजम् ।

अजमेषावनड्वहं खरं हत्वैकहायनम् ॥१३५॥

भाष्य—हयोऽश्वः । गजो हस्ती ।

अनड्वान् पुंगवः । अजमेषवधे ।

खरवधे अनडुत्साहचर्यादेकहायनो गोवत्सः ॥१३५॥

हिन्दी—घोड़े का वध कर कपड़ा, हाथी का वधकर पाँच नीले बैल, अज (खसी) तथा भेंड़ का वधकर बैल और गधे का वधकर एक वर्ष का बछड़ा दान करे ॥१३५॥

बाघ आदि के वध का प्रायश्चित्त—

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।

अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णालम् ॥१३६॥

भाष्य—क्रव्यादास्तरक्षुसिंहमृगादयः । अक्रव्यादाः रुरुपृषतादयः । धेनुर्गौरिव । कृष्णालं विशिष्टपरिमाणं सुवर्णम् । दण्डाधिकारशास्त्रपरिभाषा । अन्यत्र लौकिकमेव । 'शतकृष्णालं घृतमायुष्काम' इति ॥१३६॥

हिन्दी—क्रव्याद (कच्चे माँस खानेवाले बाघ आदि) पशु का वधकर दुधारू गाय, अक्रव्याद (माँस नहीं खोनेवाले मृग आदि) पशु का वधकर प्रौढ़तर बछिया तथा ऊँट का वधकर एक कृष्णाल (रत्ती—८।१३४) सोना दान करे ॥१३६॥

व्यभिचारिणी ब्राह्मणी स्त्री आदि के वध का प्रायश्चित्त—

जीनकार्मुकबस्तावीन्यृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥१३७॥

भाष्य—अनवस्थिताः । बहुभिः संगच्छमाना वेश्यावृत्तमाचरन्त्योऽ'नवस्थिता' भवन्ति । न पुनः शास्त्रातिक्रममात्रम्, तथा सति न परपुरुषसंप्रयोग एव लभ्यते ।

वर्णक्रमेण जीनादिदानात् जीनं चर्मपुटं मुटकाधारादिप्रयोजनम् । कार्मुकं धनुः । बस्तः छागः । अविर्मेघः ।

पृथग्रहणं लिङ्गादुक्तं न समुदाये प्रायश्चित्तमिति ।

केचिद्वत्वेति पठन्ति तदयुक्तम् । हिंसाप्रकरणात् ॥१३७॥

हिन्दी—लोभ से ऊँच-नीच पुरुष के साथ व्यभिचार करनेवाली ब्राह्मणादि चारों वर्णों की स्त्रियों का वध करने पर क्रमशः चर्मपुट (चमड़े का कुप्पा), धनुष, बकरा और भेंड़ दान करे ॥१३७॥

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।

अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१॥]

[हिन्दी—क्रमशः तीनों वर्णों में से किसी स्त्री का भूल से वधकर शूद्रहत्या का व्रत (प्रायश्चित्त ११।१२९) करे ॥१॥]

सर्पादिवध का अन्य प्रायश्चित्त—

दानेन वधनिर्णोकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।

एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापनुत्तये ॥१३८॥

भाष्य—निर्णोकः शुद्धिः ।

हिंसायां दानं मुख्यमिति दर्शयति । न च तस्यैकैकश इति लिङ्गात् कचित्समुदायेऽपीति ।

द्विज इत्यादिपादपूरणम् ।

अविशेषग्रहणे कृच्छ्रशब्दं प्राजापत्ये इति स्मरन्ति ॥१३८॥

हिन्दी—साँप आदि के वध का निवारण पूर्वोक्त (११।१३२-१३७) दोनों को करने में असमर्थ द्विज एक-एक पाप की निवृत्ति के लिए एक-एक कृच्छ्र (प्राजापत्य-११।२११) व्रत करे ॥१३८॥

हड्डीवाले आदि जीवों के वध का प्रायश्चित्त—

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।

पूर्णे चानस्यनस्थानां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१३९॥

भाष्य—स्वल्पशरीरत्वमिहास्थिमत्त्वम्, अनस्थिसाहचर्यात् ।

अनः शकटस्तत्संख्यानमेतत् ।

उक्तार्थे सत्येव ॥१३९॥

हिन्दी—हड्डीवाले (गिरिगट आदि) एक सहस्र क्षुद्र जीवों को तथा बिना हड्डीवाले (खटमल, लीख, जूँ, मच्छर, ढील, चीलर आदि) एक गाड़ी क्षुद्र जीवों को मारकर

शूद्रहत्या व्रत (११।१२९) करे ॥१३९॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।

अनस्थनां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४०॥

भाष्य—किञ्चिदिति स्वल्पधनमुच्यते । परिमाणतः प्रयोजनतो मूल्यतश्च ।

पूर्वेषामेव प्रत्येकवध एतत् । अनुक्तनिष्कृतयश्चा'नास्थिमन्तो' ज्ञेयाः ।

आत्मनिरोधः प्राणायामः ।

मलिनीयेषु यत्कृमिकीटवयोग्रहणं तदुपचितग्रहपरिमाणार्थम् । इदं तु ये क्षुद्रा मशकादयः ॥१४०॥

हिन्दी—हड्डीवाले (गिर्गिट आदि) क्षुद्र जन्तुओं में से किसी एक का वध करने पर ब्राह्मण के लिए कुछ दान करे और बिना हड्डीवाले (खटमल आदि) में से किसी एक का वध करने पर मनुष्य प्राणायाम से^१ शुद्ध (दोष रहित) हो जाता है ॥

पेड़, लता आदि काटने पर प्रायश्चित्त—

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक् शतम् ।

गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥१४१॥

भाष्य—फलदा आम्रकण्टक्यादयः ।

ऋक्शतजपो द्विजानाम् ।

शूद्रस्य तर्हि किं?

केचिदाहुः 'इन्धनार्थमशुष्काणाम्' इति उपपातकंप्रायश्चित्तम् ।

तच्च न, अतिमहत्त्वात् ।

यदि न तद्भवति किमर्थं तर्ह्युपपातकेषूपदेशः ।

भूयोभूयः प्रवृत्तौ स्यादिति ।

तस्माच्छूद्रस्य द्विरात्रत्रिरात्रदीत्येव कल्पयेत् ।

गुल्मादयो व्याख्याताः ।

लता वृक्षशाखाः ॥१४१॥

हिन्दी—फल देनेवाले (आम, जामुन आदि के) पेड़ गुल्म, (गुडूची आदि), (पेड़

१. अत्र प्राणायामश्च— 'सव्याहृतिकां सप्रणवां सावित्रीं शिरसा सह ।

त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥'

इति वसिष्ठोक्तो ग्राह्यः ।

की डालियों पर चढ़ी हुई) लता और फूली हुई (कदू-काशीफल आदि), बेल के काटने पर सावित्र्यादि ऋक्शतका जप करे ॥१४१॥

विमर्श—पहले (११।६३) इन्धन के लिए पेड़ काटने को उपपातक में कहकर यहाँ पुनः अज्ञान से एक बार फल देनेवाले वृक्ष आदि के काटने पर यह लघु प्रायश्चित्त कहना पूर्वापर विरुद्ध नहीं है ।

अन्न आदि में होनेवाले जीवों के वध का प्रायश्चित्त—

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः ।

फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४२॥

भाष्य—अन्नाद्याद्भक्तसक्त्वादेश्विरस्थिताद्यानि जायन्ते सत्त्वानि प्राणिनः ।

रसजानामिति गुडोदश्विदादिभ्यः ।

उदुम्बरमशकादीनि फलपुष्पोद्भवानि ।

घृतप्राशः अशनप्रारम्भे घृतं पातव्यम् । ‘प्र’शब्द आदिकर्मणि । तेन न प्राकृतं भोजनं निवर्तते, यथा पयोव्रतादौ । तथा चैते प्राणिनः क्षुद्रजन्तवो, येषां वधे प्राणायाम उक्तः । तदपेक्षयोपवासोऽतिमहान् । तस्मादाचमनवत् घृतप्राशनम् ॥१४२॥

हिन्दी—सब अन्न, (गुड आदि) रस, फल तथा फूलों में उत्पन्न होनेवाले जीवों को मारकर पापनिवृत्ति के लिए घी खाना चाहिए ॥१४२॥

खेती आदि से ओषधिनाशादि का प्रायश्चित्त—

कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।

वृथालम्भेऽनुगच्छेद्वा निनमेकं पयोव्रतः ॥१४३॥

भाष्य—फालकुहालादिना याः कृष्टे जायन्ते । याश्च स्वयं वने । तासां वृथालम्भे गवादि प्रयोजनेन विना छेदनम् ।

गवानुगमनम् । दिनमेकं परमहर्षाय परिचर्यते ।

पयोव्रतं भोजनान्तरनिवृत्तिः ॥१४३॥

हिन्दी—खेती से उत्पन्न (साठी आदि) तथा वन आदि में स्वयं उत्पन्न (नीवार आदि) ओषधियों (१।४६) को निष्प्रयोजन नष्ट करने पर केवल दूध का आहार लेकर (पूर्वोक्त (११।९९-११३) विधि से) एक दिन गौ का अनुगमन (सेवन) करे ॥१४३॥

एतैर्व्रतैरपोहं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।

ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥१४४॥

भाष्य—हिंसासमुद्भवं हिंसात उत्पन्नमेनः पापमेतैरनन्तरोक्तैः प्रायश्चित्तैरपो-

ह्यमपनोद्यम् । बुद्धिपूर्वकृतमबुद्धिपूर्वकृतं वा ।

अनाद्यभक्षणेऽभक्ष्यभक्षणे यथा पापमपोह्यते तथा **शृणुत** ॥१४४॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) ज्ञान या अज्ञान से की गयी हिंसा से उत्पन्न सब पाप इन (१२।७२-११२) व्रतों से नष्ट होते हैं । अब अभक्ष्य भक्षण के प्रायश्चित्त को (आप लोग) सुनें ॥१४४॥

अमुख्य सुरापान का प्रायश्चित्त—

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ।

प्रतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४५॥

भाष्य—मेखलादीनां निषेधादुपनयनं विज्ञायते । तच्च स्मृत्यन्तरात्तप्तकृच्छ्र-सहितम् । एवं हि गौतमः ‘अमत्या मद्यपाने पयोधृतमुदकं वायुं प्रति त्र्यहं तप्तानि सकृच्छ्रास्ततोऽस्य संस्कारः’ (२३/२)।

सुरा चात्र न पैष्टी, किं तर्हि? गौडी माध्वी वा ।

“कुत एतत्” ।

स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ‘प्रमादान्मद्यमसुरां सकृत्पीत्वा द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावका-हारो दशरात्रेण शुध्यति’ ॥ पैष्ट्याश्च प्रमादपाने प्रत्यवायप्रायश्चितात् । व्रतं विधितो विज्ञाय संवत्सरं कणभक्षश्चान्द्रायणाभ्यासो वा ।

मतिपूर्वं तयोरपि पाने एतदनिर्देश्यम् । किं तर्हि? येन **प्राणानामन्तो** भवति । किं तत् ? यत् मुख्यायाः सुराया उक्तम् ।

अभ्यासे चैतद्रष्टव्यम् । ‘सकृत्पाने असुरा मद्यपाने चान्द्रायणमभ्यसेदिति’ । तथाहि इयमत्र व्यवस्था । बुद्धिपूर्वं पैष्ट्याः पाने प्राणान्तमेव तस्या एवाबुद्धिपूर्वं सकृत्पाने कणभक्षणचांद्रायणाभ्यासोऽबुद्धिपूर्वेऽप्यसकृत्पाने बुद्धिपूर्ववत् । अन्येषां तु मद्यानां बुद्धिपूर्वत्वे चांद्रायणमभ्यसेदिति । अबुद्धिपूर्वं सकृत्पाने तप्तकृच्छ्रसंस्कारगोमूत्रयवक-द्रव्याणि । अबुद्धिपूर्वमसकृत्पाने पैष्टीवत् ॥१४५॥

हिन्दी—द्विज अज्ञान से वारुणी को पीकर पुनः संस्कार (११।१४९) से ही शुद्ध (पाप रहित) होता है तथा ज्ञान से पीकर मरकर ही शुद्ध होता है, ऐसी (शास्त्र की) मर्यादा है ॥१४५॥

विमर्श—इस वचन का विशदार्थ यह है—अज्ञान से गौडी तथा माध्वी (क्रमशः गुड़ तथा महुए के बनी हुई मदिरा को) पीकर तप्तकृच्छ्र (११।२१३) करके पुनः संस्कार^१ १. तदुक्तं गौतमेन—‘अमत्या मद्यपाने पयोधृतमुदकं वायुं प्रत्यहं तप्तकृच्छ्रस्तोऽस्य संस्कारः’ इति ।

करने से द्विज शुद्ध होता है, तथा ज्ञान से पीकर पूर्व (११।९१) कथित^१ कण-भक्षणादि रूप प्रायश्चित्त करने से शुद्ध होता है। पैष्ठी, गौड़ी तथा माध्वी (क्रमशः आटे, गुड़ तथा महुए से बनी) मदिरा से भिन्न पुलस्त्यकथित नौ प्रकार की मदिराओं में से एक को अज्ञान से पीकर केवल संस्कार (११।१५०) करने से तथा ज्ञान से पीकर कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र^२ व्रत करके पुनः संस्कार से द्विज शुद्ध होता है।

सुरा के वर्तन का जल पीने पर प्रायश्चित्त—

अपः सुराभाजनस्थ मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।

पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥१४६॥

भाष्य—यत्र सुरारसोऽनुभूयते तत्र तद्भाजनस्थानामपां पाने प्रायश्चित्तमेतत् ।

“ननु च मद्यशब्दस्य सामान्यशब्दत्वान्मद्यभाण्डस्थिता इत्येव सिद्धे अपः सुरेत्यादि न वक्तव्यम्” ।

सत्यम् । यदि सुरामद्ययोर्मद्यपानेऽत्यन्तप्रायश्चित्तभेदो न स्यात् । सति तस्मिन् कल्पनायाश्चानुज्ञातत्वात् सुराभाजनस्थानामधिकतरं स्यादतः कल्पनानिवृत्त्यर्थं समप्रायश्चित्तवचनम् ।

पंचरात्रं शंखपुष्पीशृतं पयः । शृतग्रहणात्पयः^३ क्षीरमेव । क्षीरहविषोरेव शृत-शब्दः साधुः । शंखपुष्पीनामौषधिः । तथा पिष्टं क्वथितं पंचाहानि पयः पात-व्यम् ॥१४६॥

हिन्दी—पैष्ठी (आटे की बनी हुई) सुरा तथा दूसरे प्रकार से बनी हुई मदिरा के वर्तन का जल पीकर शङ्खपुष्पी (शङ्खाहुली-कवडेना) नामक ओषधि को डालकर पकाये हुए दूध को पीना चाहिये ॥१४६॥

सुरा-स्पर्शादि करने पर प्रायश्चित्त—

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।

१. अत एव गौड़ीमाध्व्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे—

‘यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत् ।

कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ॥

सुरापापापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥’ (म०मु०)

२. तदुक्तं भविष्ये—

‘मतिपूर्वं सुरापाने कृते वै ज्ञानतो गुहः ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ भवतः पुनः संस्कार एव हि ॥’ इति ॥

शूद्रोच्छिष्टाश्च च पीत्वाऽऽपः कुशवारि पिबेत्त्यहम् ॥१४७॥

भाष्य—विधिवत्प्रतिगृह्य स्वस्तिवाचनिकेन ।

एवं दत्वेत्यपि ।

ब्रीह्यादौ न दोषः ।

कुशो दर्भः ॥१४७॥

हिन्दी—मदिरा को छूकर, देखकर, ('स्वस्ति' कथनपूर्वक) विधिवत् दान लेकर और शूद्र का जूठा पानी पीकर तीन दिन तक कुश (को उबालकर उस) का पानी पीवे ॥१४७॥

मद्य के मुख का गन्ध सूँघने पर प्रायश्चित्त—

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।

प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१४८॥

भाष्य—सुरापस्य गन्धमिति सुराया एव जाठरेणाग्निना धातुभिश्च संयोगेन गन्धघ्राणे लघीयः । भाण्डान्तरस्थितायाः प्राप्तिर्घ्रायैव ।

अन्ये तु व्याचक्षते । सुरापस्य ब्राह्मणस्य आघ्राणेऽप्येतदेव ।

सोमप इति वचनाद्दर्शपूर्णमासयाजिनः कल्पे न ।

घृतं प्राश्येति । अत्रापि न भोजनान्तरनिवृत्तिः ।

सुराग्रहणात् 'मद्य'स्य ॥१४८॥

हिन्दी—सोमयाजी (सोमयज्ञ करनेवाला) मद्यपायी ब्राह्मण के मुख की गन्ध सूँघकर जल में तीन बार प्राणायामकर घी का भक्षण करने से शुद्ध होता है ॥१४८॥

मल-मूत्र-भक्षणादि का प्रायश्चित्त—

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेवच ।

पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१४९॥

भाष्य—विण्मूत्रग्रहणं रेतस उपलक्षणार्थम् । स्मृत्यन्तरे 'पुरीषकुणपरेतसां प्राशने चैवमिति' ।

“किंजातीयविण्मूत्रप्राशन एतत्” ।

मनुष्याणामेव । अन्येषां तु वक्ष्यामः ।

अत्रापि तप्तकृच्छ्रं समुच्चीयते । दर्शितश्च हेतुः ।

द्विजातय इति विवक्षितम् । शूद्रस्यान्यद्वक्ष्यामः ।

अज्ञानादित्यनुवादः । को हि ज्ञात्वा विष्णूमूत्रमश्नीयात् ।

तथा, मद्यपाने एतदेवोक्तं ‘मद्यं भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रमिति’, यदि तु संस्कारो भवति तदा वचनात्तुल्यमेव ॥१४९॥

हिन्दी—(मनुष्य के) मल, मूत्र या मद्य से, स्पृष्ट अन्नादि रस को अज्ञानपूर्वक खाकर तीनों वर्ण के द्विज फिर से (यज्ञोपवीत) संस्कार करने (११।१५०) के योग्य होते हैं ॥१४९॥

पुनः संस्कार में त्याज्य—

वपनं मेखलादण्डो भैक्ष्यचर्या व्रतानि च ।

निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥१५०॥

भाष्य—व्रतानि वेदव्रतानि ।

तदयुक्तम् । ग्रहणार्थत्वात्तेषां कुतः प्राप्तिः ।

तस्माद्यान्युपनयनकाले ‘मा दिवा स्वाप्सीः सायंप्रातः समिधमादध्या आचार्या-धीनो भव’ इत्येवमादीनि च व्रतानि । तानि निवर्तन्ते ॥१५०॥

हिन्दी—द्विजों के पुनःसंस्कार करने में मुण्डन, मेखला, (पलाश आदि का) दण्ड, भिक्षा माँगना, (मधु मांस स्त्रीत्यागादि) व्रत नहीं होते हैं ॥१५०॥

अभक्ष्य-भक्षणादि का प्रायश्चित्त—

अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।

जग्ध्वां मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥१५१॥

भाष्य—येषामन्नं न भुज्यते तेऽभोज्याः पुरुषाः अंश्रोत्रियस्त्रीसंग्रामजीव्ययाज्य-याजकादयः ।

शूद्रजातिग्रहणादेव जातिनिर्देशात्स्त्रीग्रहणे लब्धे सवर्णार्थं स्त्रीग्रहणं विज्ञेयम् ।

उच्छिष्टं तदास्य पृष्टम् । यच्च ‘नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणामिति’ तस्य विषयो दर्शितः ।

शूद्रोच्छिष्टानामपां पाने पूर्वत्र कुशवार्युक्तम्, इह तु सप्तरात्रं यवानिति । आग-मिकत्वादस्यार्थस्योभयत्र भक्ताद्युच्छिष्टभोजने इदं द्रष्टव्यम् ।

अभक्ष्यं मांसं प्लवहंसचक्रवाकादीनाम् ।

इदं तु बुद्धिपूर्वकमभ्यासभक्षणे द्रष्टव्यम् । अन्यत्र ‘शेषेषूपवसेदहरिति’ ।

एतदेव पयः पीत्वा, सूकरोष्ट्रादिभ्यो अन्यत्र, तत्र प्रतिपदं प्रायश्चित्तान्तराभ्यानात् ।

सक्तुपानं यवपानं भवत्येव ॥१५१॥

हिन्दी—जिनका अन्न नहीं खाना चाहिये उन (४।२०५=२२०) का अन्न, (द्विजातियों की) स्त्रियों का तथा शूद्र का जूठा, अभक्ष्य (११।१५५) मांस को खाकर सात रात तक (पतलाकर) यव को पीवे ॥१५१॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त पूर्वोक्त (४।२२२) प्रायश्चित्त के करने में असामर्थ्य होने पर करना चाहिए ।

शुक्तपानादि का प्रायश्चित्त—

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः ।

तावद्धवत्यप्रयतो यावत्तत्र व्रजत्यधः ॥१५२॥

भाष्य—मेध्यानि शुक्तानि 'दधि भक्ष्यं च शुक्तेष्वि'त्याद्यनुज्ञातानि । दध्नस्तु सत्यपि शुक्तत्वे भक्ष्यताया विहितत्वात्रैष विधिः । पवित्रं हि तदिति स्मरन्ति ।

कषाया वैद्यकप्रसिद्धा अनेकौषधिसंयोगेन ये क्वाथ्यन्ते ।

अप्रयतोऽशुचिः ।

यावद्व्रजत्यधः । अधोगमनं जीर्णानां मूत्रपुरीषभागेन निष्क्रमणम् । यदि वा पाकाशयप्राप्तिः ॥१५२॥

हिन्दी—पवित्र भी शुक्त तथा (उबाले हुए बहेडेद्व हरे आदि) कसैले पदार्थ को पीकर द्विज तबतक अपवित्र रहता है, जबतक ये पदार्थ पच नहीं जाते ॥१५२॥

विमर्श—जो पदार्थ स्वभावतः मधुर हों, किन्तु अधिक समय तक रखने आदि के कारण उनका रस-परिवर्तन हो गया हो उन्हें 'शुक्त' कहते हैं, जैसे-गन्ने, जामुन आदि का सिरका आदि ।

सूकरादि के मल-मूत्रादिक भक्षण का प्रायश्चित्त—

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१५३॥

भाष्य—विशेषानुपदेशादमत्या वा तुल्यमेव च युक्तं अमत्या लाघवकल्पनात् ॥१५३॥

हिन्दी—ग्राम्य सूकर, गधा, ऊँट, सियार, वानर, कौवा; इनके मल-मूत्र को खाकर द्विज चान्द्रायण (११।२१५-२१९) व्रत करे ॥१५३॥

विमर्श—ग्राम्यसूकर, मूर्गा आदि के भक्षण करने पर पहले (५।१९-२०) कहा गया प्रायश्चित्त बुद्धिपूर्वक अनेक बार भक्षण करने पर है और यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक एक बार भक्षण करने पर है, अतः दोनों में विरोध नहीं होता ।

शुष्क मांसादि-भक्षण का प्रायश्चित्त—

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥१५४॥

भाष्य—शुष्काणि वल्लूरादीनि ।

भौमानीति कोटरजातानामनिषेधार्थम् ।

अज्ञातं मेषस्य महिषस्येति प्रकृतेरज्ञानात् ।

सूना धातस्थानम् । यत्र विक्रयार्थं पशवो हन्यन्ते । अतोऽन्यत्र स्थितस्य लघु-
प्रायश्चित्तम् ।

“ननु ‘सूनास्थ’ इति वचनादन्यत्र स्थितस्य प्रायश्चित्ताभाव एव युक्तः” ।

नैतदेवम् । सौनमित्यविशेषेण प्रतिषेधात् । प्रायश्चित्ते तुच्छग्रहणात्द्रहितस्य गुरु-
लघुभावो युक्ततरः ।

तदेव चान्द्रायणम् ।

ज्ञाते तु जातिविशेषेऽभ्यासे सप्तरात्रं यावकपानम् । ‘शेषेषूपवसेदहः’ इति ॥१५४॥

हिन्दी—सूखा मांस, भूमि पर उत्पन्न कवक (छत्राक यह वर्षा में भूमि या पेड़
आदि पर श्वेत-कृष्ण वर्ण का छत्राकार उत्पन्न होता है), अज्ञात मांस (यह हरिण आदि
भक्ष्य जीव का मांस है या अभक्ष्य गधे आदि का, ऐसा नहीं मालूम हुआ मांस) और
कसाई खाने का वधिक के यहाँ का मांस खाकर द्विज इसी चान्द्रायण व्रत (११।२१५-
२१९) को करे ॥१५४॥

विमर्श—यद्यपि भूमिमात्र में उत्पन्न ‘कवक’ का निषेध इस वचन में किया गया
है, तथापि यमोक्त^१ वचन के अनुसार वृक्ष आदि पर उत्पन्न कवक का भी भक्षण नहीं
करना चाहिए ।

व्याघ्रादि भक्षण का प्रायश्चित्त—

क्रव्यादसूकरोष्णाणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।

नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥१५५॥

भाष्य—चेति पूर्वश्लोकोऽत्राकृष्यते । तेन विड्वराहादीनां भक्षण एतदेव । द्वितीयेन
चशब्देन क्रव्यादादीनां विण्मूत्रप्राशने यदेव विड्वराहादीनाम् । स्मृत्यन्तरे च नरमात्रा-

१. तदुक्तं यमेन— ‘भूमिजं वृक्षजं वापि क्षात्राकं भक्षयन्ति ये ।

ब्रह्मघ्नांस्तान् विजानीयात्—’ इति ॥

धिकारेणेह द्विजग्रहणमविवक्षितं 'द्विजश्चान्द्रायणमिति' । एवमियं द्विश्लोकी बिडाल-
काकेत्यत्रापेक्ष्यते । अतश्चैतेषामप्युच्छिष्टप्राशने बिडालादिवत् । ततोऽस्यां त्रिश्लोक्यां
समुद्दिष्टं मूत्रपुरीषं च सर्वेषां प्रतिषिद्धम् । अतश्च यत्क्रव्यादीनां मूत्रपुरीषप्राशने तद्विडाला-
दीनामपि ॥१५५॥

हिन्दी—क्रव्याद (कच्चा मांस खानेवाले बाघ, सिंह, भेड़िया आदि), ग्राम्य सूकर,
ऊँट, मुर्गा, मनुष्य, कौवा और गधा इनको खाकर द्विज पापनिवृत्ति के लिए तत्पकृच्छ्र
व्रत (११।२१३) करे ॥१५५॥

विमर्श—ग्राम्य सूकर आदि भक्षण करने पर द्विज को पतित होने तथा सान्तपन
कृच्छ्र करने को पहले (५।१९-२०) जो प्रायश्चित्त कहा है, वह बुद्धिपूर्वक अनेक बार
करने पर तथा यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक एक बार भक्षण करने पर है, अतः दोनों वचनों
में विरोध नहीं है ।

ब्रह्मचारी को मासिक श्राद्धान्त खाने पर प्रायश्चित्त—

मासिकान्नं तु योऽश्रीयादसमावर्तको द्विजः ।

स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥१५६॥

भाष्य—**मासिकमेकोद्दिष्टश्राद्धम्** । 'अकृते सपिण्डीकरणे प्रतिमासं तु वत्सरम्'
इति । आमावास्यस्य तु मासिकव्यपदेशोऽप्यनुज्ञातत्वात् 'काममभ्यर्थितोऽश्रीयात्' इति ।
कुतः प्रायश्चित्तम् ।

अन्ये त्वभ्यर्थितस्यानुज्ञानादनभ्यर्थ्यमानस्योक्तमेवेत्याहुः ।

असमावर्तको गुरुकुले तिष्ठन्नर्थाद्ब्रह्मचार्युच्यते ।

अहान्यतरस्मिन्नहान्युदके वसेत्, अहस्यैव बुद्धौ स्थितत्वात्तर्हि चतुर्थमहस्त-
द्विवसः ॥१५६॥

हिन्दी—मासिक श्राद्धान्न को खानेवाला ब्रह्मचर्याश्रमस्थ द्विज तीन दिन उपवास
करे तथा एक दिन पानी में रहे ॥१५६॥

ब्रह्मचारी को मधुमांसादि खाने पर प्रायश्चित्त—

व्रतचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथञ्चन ।

स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥१५७॥

भाष्य—**व्रतचारी** प्रयुक्तो ब्रह्मचर्याश्रमस्थ एव ।

कथञ्चन आपद्यपीत्यर्थः । 'प्राणानामेव चात्यय' इत्यापदिविधानात् असति दोषे
न तन्निर्घातार्थमेतत्प्रायश्चित्तम् । किं तर्हि? निमित्तमात्रपर्यवसायि वचनात्क्रियते ।

प्राकृतं प्राजापत्यं प्रकृतौ भवं प्राकृतम् । सर्वकृच्छ्राणां प्रकृतित्वादेवमुच्यते ।

व्रतशेषं समापयेत् अकृतप्रायश्चित्तस्यावशिष्टव्रतसमाप्तावनधिकारमाह ॥१५७॥

हिन्दी—जो ब्रह्मचर्यावस्था में रहनेवाले द्विज किसी प्रकार (अज्ञान से या आपत्ति काल से) मधु (शहद) या मांस का भक्षणकर ले तो वह प्राजापत्य व्रत (११।२१०) करके अपने शेष ब्रह्मचर्य व्रत को पूरा करे ॥१५७॥

मार्जार आदि का जूठा आदि खाने पर प्रायश्चित्त—

बिडालकाकारबूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।

केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥१५८॥

भाष्य—आखुर्मूषकः ।

अवपन्नमेतत्सम्पर्कदूषितम् ।

ब्रह्मसुवर्चलां पिष्ट्वोदकेन सह पिबेदेकाहमविशेषात्तेनैव शास्त्रार्थस्य कृत-
त्वात् ॥१५८॥

हिन्दी—मार्जार, कौआ, चूहा, कुत्ता, नेवला इनका जूठा तथा बाल और कीड़े आदि से दूषित अन्न आदि को खाकर उष्ण पानी पीवे ॥१५८॥

अभक्ष्यभक्षित पदार्थ का वमन करना—

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।

अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥१५९॥

भाष्य—आद्योऽर्थः श्लोकोऽनुवादः ।

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थमित्येतद्विधीयते ।

समनन्तरं तूत्तार्यं वमितव्यमित्यर्थः ।

क्षिप्रं वा शोधनैः प्रायश्चित्तैः शोध्यम् ।

अन्ये तु शोधनानि हरीतक्यादीनि रेचनान्याहुः, गौतमीयं चेदमुदाहरन्ति 'अभोज्य-
भोजने पुरीषाभाव' (२३।२३) इति ।

तदेतदसाधकम् । उपवासेनापि निष्पुत्रीषत्वोपपत्तेः । तस्मादवान्तौ यथाश्रुतप्राय-
श्चित्तमेव वेदितव्यम् ॥१५९॥

हिन्दी—अपनी शुद्धि चाहनेवाले को अभक्ष्य अन्नादि नहीं खाना-पीना चाहिए, अज्ञानपूर्वक खाये हुए उन पदार्थों का वमन कर देना चाहिये (और उसके असम्भव होने पर) शुद्धिकारक प्रायश्चित्तों से शुद्धिकर लेनी चाहिए ॥१५९॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।

स्तेयदोषापहर्तृणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥१६०॥

भाष्य—व्रतानामनाद्यादनस्याभक्ष्यभक्षणस्य ।

स्तेयं तद्दोषशमस्तमपहरन्ति यानि व्रतानि तेषामिदानीं विधिरुच्यते ॥१६०॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) अभक्ष्य भक्षण करने पर प्रायश्चित्तों के इस (११।१४५-१५९) विविध विधान को (मैंने) कहा; अब चोरी के दोष को नष्ट करनेवाले प्रायश्चित्तों के विधान को (११।१६१=१६५) आपलोग सुनें ॥१६०॥

धान्यादि चुराने पर प्रायश्चित्त—

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः ।

स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥१६१॥

भाष्य—द्विजोत्तमग्रहणं प्रदर्शनार्थं क्षत्रियादीनामपि ।

द्विजोत्तमशब्दसन्निपाताच्च स्वजातीयगृहादिति ब्राह्मणगृहाद्विज्ञायते । तेनैतदुक्तं भवति । सर्व एव वर्णा ब्राह्मणगृहात् धनं हत्वा कृच्छ्राब्देन शुध्येयुः ।

धनग्रहणात्सर्वस्मिन् धने सिद्धे 'धान्यान्न'ग्रहणं सद्धान्यार्थम् । अल्पसाराणामन्यं विधिं वक्ष्यति । अतः सारभूतप्रधानद्रव्यापहरणे इदं विज्ञायते ।

“तेषां हि परस्परद्रव्यापहरणे ब्राह्मणस्य तदीयधनापहारे कतरत्प्रायश्चित्तम् ।”

उच्यते । हिंसाप्रायश्चित्तवत्तुर्याष्टमादिभागकल्पना कर्तव्या । क्षत्रियस्य धने त्रीन, वैश्यस्य सार्धं, शूद्रस्य द्वाविंशतिरात्रं वा ।

“कियत्परिमाणे धान्येऽपहृते” ।

दशभ्यः कुंभेभ्यः किञ्चिदूने, महत्त्वात्प्रायश्चित्तस्य । धनमप्येवं कालं न कल्पनेति विज्ञेयम् ।

कामादिति श्लोकपूरणम् । न ह्यकामस्य परधनहरणसम्भवः ।

धान्यं व्रीह्यादि तदेवापहतम् ।

अन्नं सिद्धम् ।

धान्यादीनां प्रत्येकं हरणे त्र्यब्दं कृच्छ्रम् ।

केचिच्च समुदायहरणे प्रायश्चित्तमिच्छन्ति, गरीयो ह्येतत् ॥१६१॥

हिन्दी—ब्राह्मण ब्राह्मण के घर से धान्य, अन्न आदि धन को ज्ञानपूर्वक चुराकर एक वर्ष तक प्राजापत्य व्रत (११।२१०) करने से शुद्ध (दोषरहित) होता है ॥१६१॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त देश, काल, चोरित द्रव्य का परिमाण मूल्य तथा स्वामी एवं चोर के गुणागुण का विचारकर न्यूनाधिक करना चाहिए। तथा सजातीय द्विज (ब्राह्मणादि तीनों वर्ण) का धान्यादि चुराने पर भी यही प्रायश्चित्त समझना चाहिए। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

मनुष्य आदि के चुराने पर प्रायश्चित्त—

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।

कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चांद्रायणं स्मृतम् ॥१६२॥

भाष्य—मनुष्याणां दासानाम् । स्त्रीणां दासीनाम् । क्षेत्रं भूभागो व्रीह्यादिधान्यो-
त्पत्तिस्थानम् । कूपवाप्योर्जलशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । उद्धृतोदकस्येरणादि-
स्थस्यापहरणे एतद्भवति । जलग्रहणाच्छुष्कयोः कूपवाप्योर्विध्यन्तरम् । वापी खात
तडागे च ॥१६२॥

हिन्दी—मनुष्य, स्त्री, खेत, घर, कुएँ तथा बावड़ी (अहरा, पोखरा आदि सिंचाई
के साधनभूत जलाशय) के सम्पूर्ण पानी को चोरी करने पर (मनु आदि महर्षियों ने)
चान्द्रायण (११।२१५-२१९) व्रत से शुद्धि बतलायी है ॥१६२॥

अल्पमूल्य की वस्तु चुराने पर प्रायश्चित्त—

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मनि ।

चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्ध्ये ॥१६३॥

भाष्य—अल्पसाराणि न चिरमवतिष्ठन्ते, स्वल्पमूल्यानि च मृन्मयानि स्थाली-
पिठरा दीनि दारुमयानि द्रोणाढकादीनि अयोमयानि लेपनीकुद्दालकादीनि ।

वेश्मनीति गृहस्थितापहारे भूयान् दोषः । न तथा खलक्षेत्रादिगते ।

निर्यात्य दत्त्वा ।

सर्वशेषश्चायं, विशेषाभावात् । यत्र त्वपहतं दातुमशक्यं तत्र द्विगुणं प्राय-
श्चित्तम् ॥१६३॥

हिन्दी—दूसरे के घर से थोड़े मूल्य (तथा प्रयोजन) की वस्तु को चुराकर अपनी
शुद्धि के लिए चुरायी हुई वस्तु उसके स्वामी को देकर सान्तपन कृच्छ्र (११।२१९)
व्रत करे ॥१६३॥

मिठाई, सवारी आदि चुराने पर प्रायश्चित्त—

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।

पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६४॥

भाष्य—यानं गन्ध्यादि । शय्या खट्वादि । आसनं बृहत्यासं दीपट्टादि ।

भक्ष्यभोज्ययोः खरविशदतद्वैपरीत्येन भेदो विज्ञेयः । भक्ष्यं मोदकशष्कुल्यादि भोज्यं यावकादि ।

पंचगव्यं प्रसिद्धम् ।

अत्राप्येकाहमेव ॥१६४॥

हिन्दी—भक्ष्य (मिठाई-लड्डू आदि), भोज्य (खीर आदि), सवारी (गाड़ी, रथ, पालकी, रेक्सा, सायकिल, मोटर आदि), शय्या, आसन, फूल, मूल और फल; इन्हें चुराने पर पञ्चगव्य पीने से शुद्धि (पापनिवृत्ति) होती है ॥१६३॥

विमर्श—चोरित पदार्थ-मूल्य तथा उपयोग आदि के अनुसार पूर्वोक्त (११।१६१) विमर्श के अनुसार यहाँ भी प्रायश्चित्त में (न्यूनाधिक रूप) परिवर्तन होगा ।

तृण-काष्ठ आदि चुराने पर प्रायश्चित्त—

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।

चेलचर्ममिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६५॥

भाष्य—तृणादीनां पूर्वस्मात् यानादेरधिकहरणे प्रायश्चित्तमेतत् ।

काष्ठमघटितं वंशस्तंभादि, द्रुमसाहचर्यात् ।

द्रुमो वृक्षः ।

शुष्कान्नं तण्डुलादि भ्रष्टयवा वा ।

गुडग्रहणं स्वविकारार्थम् । तेन खण्डमत्स्यण्डिकादेर्ग्रहणम् ।

चैलं वस्त्रं बहूनां 'उत्तमानां च वाससाम्' । प्रागुक्तेन धनग्रहणेन कृच्छ्रादेः ।

चर्म कवचम् ।

मांसमामिषम् ॥१६५॥

हिन्दी—तृण, लकड़ी, पेड़, सूखा अन्न (गेहूँ, चना, चावल आदि), गुड़, कपड़ा, चमड़ा और मांस; इसके चुराने पर तीन रात उपवास करे ॥१६५॥

मणि, मोती आदि चुराने पर प्रायश्चित्त—

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।

अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६६॥

भाष्य—स्वल्पबहुत्वापेक्षया च कालह्रासः सकृदावृत्तौ च ॥१६६॥

हिन्दी—मणि (पन्ना, माणिक्य आदि) मोती, मूँगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, कांसा और पत्थर, इनको चुराकर बारह दिन तक अन्न का कण (खुद्दी), ही खावे ॥१६६॥

रूई, रेशम आदि चुराने पर प्रायश्चित्त—

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकखुरस्य च ।

पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६७॥

भाष्य—कीटजाः पट्टाः ।

द्विशफा गवादयः । एकखुरा अश्वदयः ।

पक्षिणः शुकश्येनादयः ।

रज्जुः कूपादेरुदकोदंचनी ॥१६७॥

हिन्दी—रूई, रेशम, ऊन (या सूती, रेशमी, ऊनी कपड़ा) दो खुरों वाले (गाय, बैल, भौंस आदि), एक खुरवाले (घोड़ा, गधा आदि) पशु, पक्षी, गन्ध (कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन आदि), औषधि, रस्सी; इन्हें चुराकर तीन दिन तक केवल दुग्धपान करे ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।

अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१६८॥

भाष्य—उक्तार्थः श्लोकः ॥१६८॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) द्विज इन (११।१६१-१६७) व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और अगम्यागमन (सम्भोग के अयोग्य स्त्री के साथ सम्भोग करने) के पाप को इन (११।१६९-१७६) व्रतों (प्रायश्चित्तों) से दूर करे ॥१६८॥

सोदर भगिनी आदि के साथ सम्भोग करने का प्रायश्चित्त—

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रितः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१६९॥

भाष्य—गुरुतल्पव्रतमित्यविशेषवचनेऽपि, न तेन 'सुप्यादि'त्येवमाद्यतिदिश्यते, अपि तु 'प्राजापत्यं चरेदब्दम्' इति महापातकत्वात् । न हि महापातकेभ्योऽन्यत्र मरणान्तं प्रायश्चित्तमस्ति । अभ्यासे तु स्यादिति ।

स्वयोनयो भगिन्यः सोदराः ।

सख्युः स्त्रीषु सुहृद्भार्यासु । सुहृत्वमेवात्र कारणं, न यौनादिविशेषः, नापि श्रोत्रियत्वादिगुणः ।

एवं पुत्रस्य स्त्रीषु स्नुषासु ।

असमानजातीयास्वपि कुमारीषु पित्रादिभिरदत्तासु । स्वयं संप्रीत्यानुपनतास्वेत-
देव बलाद्गमने ।

अत्रापि न सत्यपेक्षा । यद्यप्यतिदेशे विशेषो नास्ति तथापि प्रायश्चित्तद्वयं स्यादिति, दृष्टत्वात् । तथा च गुरुलघुभावाद्धीनजातीयासु कृच्छ्राब्दाच्चांद्रायणं मासत्रयं लघीय आदेश्यम् ।

अन्त्यजाश्चाण्डालम्लेच्छादिस्त्रियः । चण्डालादिस्त्रीषु च स्मृत्यन्तरे ज्ञानाज्ञान-कृतो विशेष उक्तः । ‘अन्त्यावसायागमने कृच्छ्रार्धमन्यासु द्वादशरात्रम्’ ॥१६९॥

हिन्दी—सोदर भगिनी (सगी बहन), मित्र-स्त्री, पुत्र-स्त्री कुमारी तथा चण्डाली के साथ (सम्भोग में) वीर्यपातकर गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने का (११।१०२-१०५) प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥१६९॥

विमर्श—इस प्रायश्चित्त की भी एकबार तथा अनेक बार और ज्ञानपूर्वक तथा अज्ञानपूर्वक करने पर प्राणत्याग पर्यन्त करना चाहिये ।

फूआ की पुत्री आदि के साथ सम्भोग करने का प्रायश्चित्त—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।

मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७०॥

भाष्य—पितृष्वसुर्दुहिता पैतृष्वसेयी भगिनी ।

मातृष्वस्त्रीया मातृष्वसुर्दुहिता ।

मातुश्च भ्रातुर्मातुलस्य दुहिता । आप्तस्य सोदर्यस्येत्यर्थः ॥१७०॥

हिन्दी—फूआ की, मौसी की और मामा की पुत्री से सम्भोगकर (मनुष्य दोष निवृत्ति के लिए) चान्द्रायण (११।२९५-२९९) व्रत करे ॥१७०॥

उक्त तीनों बहनों से विवाह का निषेध—

एतास्तिस्त्रस्तु भार्याथे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।

ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयत्रधः ॥१७१॥

भाष्य—“ननु च सपिण्डा चेत्यनेनैवैतासामविवाह्यत्वे सिद्धे किमर्थमिदं नोपयच्छेतेति” । केचिदाहुः । अन्यासां पक्षेऽभ्यनुज्ञानार्थं सपिण्डश्लोके प्रतिषिद्धानाम् ।

तदयुक्तम् । **पतति ह्युपयत्रध** इति प्रायश्चित्ताविधानात् । एतस्मिंश्च प्रयोजने सम्भवति सपिण्डश्लोकस्य पाक्षिको बाधोऽयुक्तोऽगत्या हि विकल्प आश्रीयते ।

ज्ञातित्वेन बन्धुत्वेनेत्यर्थः ।

अनुपेया अविवाह्या अगम्याश्च ।

उपयन्विवाहयन् । अथः पतति नरकं प्राप्नोतीति यावत् । अथवा जातितो

भ्रश्यति हीनजातीयः संपद्यते । यद्यपि जातेर्जीवत्पिण्डानपायः, तथापि तत्कर्मानधि-
कारादेवमुच्यते ॥१७१॥

हिन्दी—उक्त तीनों (११।१७०) प्रकार की बहनों को विद्वान् पुरुष भार्या के रूप में स्वीकार (उनके साथ विवाह) न करे; क्योंकि बान्धव होने से विवाह के अयोग्य उनके साथ विवाह करता हुआ मनुष्य नरक को जाता है ॥१७१॥

विमर्श—यद्यपि पहले (३।५) ऐसी कन्याओं से विवाह करने का निषेध कर चुके हैं, तथापि दाक्षिणात्यों में प्रसिद्ध इस विवाहाचार के निषेध की दृढ़ता के लिए पुनः यह वचन है ।

अमानुषी के साथ सम्भोग करने पर प्रायश्चित्त—

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।

रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥१७२॥

भाष्य—अमानुष्यो वडवाद्याः । गोरमानुषीत्वेऽपि ‘सखिसयोनिसगोत्राशिष्या-
भार्यासु स्नुषायां गवि च तल्पसमः । अवकर’ (गौ० २३।१२-१३) इति विशेष-
विहितमेव । अनयोर्गुरुतल्पावकीर्णप्रायश्चित्तयोरबुद्धिपूर्वबुद्धिपूर्वभेदेन व्यवस्था । तल्प-
शब्देन प्रसिद्धसम्बन्धादत्र शास्त्रे गुरुतल्पमेवोच्यते । ‘अवकरो’ऽवकीर्णीनिमित्तम् ।
निमित्ते चातिदिष्टे तत्कार्यातिदेशः । ‘सखी’ चात्र या पुरुषवन्मैत्रीमागता, न तु या
सख्युः स्त्री । न ह्यत्र पुंयोगात्प्रवृत्तिः । न च भार्यासम्बन्धेन सम्बन्धोऽस्ति, सयोनिपदेन
व्यवधानात् । तथा च वसिष्ठो ‘गुर्वी सखी न च पात्रांगत्वात्कृच्छ्रशब्दपात्रं न च पात्र-
कुमारी अनयोस्तूपस्थादन्यत्र’ ।

उदक्यायां च मासिकेन रजसाभिप्लुतो‘दक्या’ ।

पाठान्तरं ‘पीत्वाधरं पुरुष इति उदक्यायामयोनिषु’ । एक एवार्थः ।

अयोनिः स्त्रीलिङ्गादन्यत्र स्थाने । तथान्ये ‘जले खे च’ इति पठन्ति ।

“ननु चायोनिग्रहणादेव सिद्धं ‘ख’ इति न पठितव्यम् । आकाशः खशब्देनोच्यते ।
योनेरन्यश्च सः” ।

नैष दोषः । योनिशब्देन साहचर्यात् अन्यदङ्गमेवोच्यत इति मन्यन्ते ।

जले साक्षात् ॥१७२॥

हिन्दी—अमानुषी (गाय को१ छोड़कर घोड़ी, बकरी, भेंड़ आदि), रजस्वला स्त्री,

१. ‘गोष्ववकीर्णी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेत्’ इति शङ्खलिखितादिवचनादत्र ‘अमानुषी’ शब्देन
गोस्त्यागः कर्तव्यः ।

अयोनि (मुख-गुदा आदि) तथा पानी में वीर्यपात करके पुरुष को कृच्छ्रसान्तपन (११।२११) व्रत करना चाहिए ॥१७२॥

पुरुषादि के साथ मैथुन करने पर प्रायश्चित्त—

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।

गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७३॥

भाष्य—मैथुनेषु । समनन्तरं सवाससः स्नानम् ।

गोयाने गन्ध्यादावप्सु चापि ॥१७३॥

हिन्दी—पुरुष के साथ मैथुन कर तथा बैलगाड़ी पर, पानी में और दिन में स्त्री के साथ मैथुन कर द्विज को सवस्त्र स्नान करना चाहिये ॥१७३॥

चाण्डाली आदि के साथ सम्भोग करने पर प्रायश्चित्त—

चंडालांत्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७४॥

भाष्य—चण्डाला म्लेच्छा दिगन्तवासिनः । तत्स्त्रीगमने प्रायश्चित्तं तदन्न-भोजने प्रतिग्रहे च ।

पततीति वचनात्कृच्छ्राब्दादधिकं प्रायश्चित्तं, न पुनः पातित्यमेव भोजने । ‘अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नम्’ इतिप्राप्ते वचनमिदं कृच्छ्राब्दप्रायश्चित्तार्थम् । एवं प्रतिग्रहेऽपि ‘मासं गोष्ठे पय’ इति प्राप्ते तदर्थमेव ।

ज्ञानात् साम्यमिति । कामकारकृतेऽपि प्रायश्चित्तविधानार्थेऽर्थवादोऽयम् । यत्-स्मृत्यन्तरेऽब्दशब्देन ज्ञाताज्ञातयोः प्रायश्चित्तमुक्तं तच्च दर्शितम् । अतः कुतोऽधिक-प्रायश्चित्तार्थता ।

“भुक्त्वा चेति केन सम्बध्यते” ।

चाण्डालान्त्येत्यनेन ।

“ननु च गुणीभूतमेतत्” ।

गुणीभूतस्याप्यपेक्षायां सम्बन्धो दर्शितः । ‘भुक्त्वा’ ‘कस्ये’त्याकांक्षायां अन्यस्या-श्रुतत्वात्साम्यवचनाच्च चाण्डालान्त्यानामेव सम्बन्धः । अतोऽयमर्थो भवति चाण्डाल-स्त्रीम्लेच्छानामन्नमशित्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य च स्त्रियं गत्वा सकृद्रमनात्प्रायश्चित्तम् । अभ्यासे तु साम्यमेव युक्तमनधिकारप्रायश्चित्तेन । यतः प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकेन भवितव्यं न च तान्येकेन जन्मना शक्यन्तेऽनुष्ठातुम् ॥१७४॥

हिन्दी—चण्डाली तथा अन्त्यज (म्लेच्छ आदि) की स्त्री के साथ अज्ञानपूर्वक

सम्भोग कर, भोजनकर और उनसे दान लेकर मनुष्य पतित होता है और अज्ञानपूर्वक उक्त कार्यों को करने पर उनके समान (भ्रष्ट) हो जाता है ॥१७४॥

व्यभिचारिणी स्त्री का विरोध और प्रायश्चित्त—

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥१७५॥

भाष्य—विशेषेण प्रदुष्टां निरुन्ध्यात्पत्नीकार्येभ्यो निर्वर्तयेत् ‘अर्थस्य संग्रहे चैनाम्’ इत्यादिभ्यः ।

एकवेश्मनीति निगडबन्धे कर्तव्या । न स्वैरं भर्तृगृहे विहर्तुं लभेत ।

तत्र निरुद्धां प्रायश्चित्तं कारयेत् ।

किं पुनः ।

यत्पुंसः परदारेषु प्रायश्चित्तमुपपातकं ब्राह्मणस्य तत्समानहीनजातीयासु पारदार्य-मिति । वर्णान्तराणां तदेव । उत्तमागमने तु द्विगुणं वैश्यस्य त्रिगुणं ब्राह्मण्यां क्षत्रियस्य । तथाऽयं विशेषो द्वे परदारे त्रीणि श्रोत्रियस्येति । शूद्रस्य ब्राह्मणीगमने महापातकप्राय-श्चित्तम् । वैश्यस्य क्षत्रियागमनं उपपातकं द्विगुणं त्रिगुणम् । केचित्तूत्तमागमने शूद्रस्य ब्राह्मणीवदिच्छन्ति । ‘प्रातिलोम्ये वधः पुंसाम्’ (याज्ञ० २।१८६) इति लिङ्गदर्शनादे-तदुक्तम् । दण्डेष्वपि विशेषो दर्शितः । यथैवोत्तमागमने पुंसां व्यवस्था तथैव स्त्रीणां हीनजातीयपुरुषसम्पर्के चेति । दोषेऽपि स्त्रीणामर्धं प्रायश्चित्तम् ।

‘प्रायश्चित्ताद्धर्महन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ।

बालश्चाषोडशाद्वर्षादशीतिपरतः पुमान् ॥’

तथा दृष्टव्यभिचारायां गमने लघीयः । स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलस्नाना-दुदकुम्भं दद्याद्ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणं भोजयेत् । क्षत्रियायां त्रि-रात्रोपोषणं यवाढकं दद्यात् । वैश्यवदित्यपि स्मर्यते । तद्वच्छूद्रभार्यायां द्रष्टव्यम् । ऋतौ वा गच्छतो गर्भमादधतो वा ।

‘ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण संगताः ।

अप्रजाता विशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतरा ॥’

अथवा या एतां न केन चिदूह्यन्ते, वैश्येन चरन्ति, तद्गमनेऽस्ति प्रायश्चित्तं नेति संदेहः ।

“कुतः संशयः” ।

दारशब्दस्य संस्कारशब्दत्वात् । असति विवाहे न ता अस्य द्वारा इति व्यपदेश-

मर्हन्ति । पारदार्ये च प्रायश्चित्तम् । अतो नास्तीत्यवगच्छामः । यतस्तु 'स्वदारनिरत' इति नियमो विहितोऽतो भवतीति मन्यामहे ।

“किं पुनरत्र युक्तम्” ।

अस्तीति ।

कुतः ?

नियमस्य विहितत्वात् । 'अकुर्वन्विहितमि'त्यादि, तदतिक्रमे प्रायश्चित्तस्मरणात् । माभून्नामोपपातकम् । न तावता प्रायश्चित्ताभावः प्रायश्चित्तार्थमुपपातकजातिभ्रंशकरादि परिगणितम् । सामान्यं तु निमित्तं सर्वत्राकुर्वन्विहितमित्यादि ।

उक्तं च प्राक् 'स्वैरिणीत्यादि' ।

“ननु च मृतभर्तृपक्षेण पितृपक्षेण वासम्बद्धैव परदारव्यपदेश्या । अधिकाम-विहारित्वात् स्वैरिण्यः” ।

सत्यम् । वेश्यास्वपि स्वातन्त्र्यावलम्बनः स्वैरिशब्दो न विरुध्यते ।

अतश्च तासां सचैलस्नानोदकुम्भादिदानम् ।

तत्र केचिदाहुः । व्रतमेतत् । 'तस्य 'व्रतं' इत्युपक्रम्य 'व्रतानीमानि धारयेदिति' च यानि विहितानि तानि स्नातकव्रतानि, न सर्वपुरुषधर्मः ॥१७५॥

हिन्दी—अत्यन्त दूषित (स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र व्यभिचार करनेवाली) स्त्री को पति एक घर में रोके और पुरुष के लिए पर-स्त्रीसम्भोग में प्रायश्चित्त है; वह प्रायश्चित्त इस (व्यभिचारिणी एवं रोकी गयी) स्त्री से कराये ॥१७५॥

विमर्श—इस वचन के कहने से 'स्त्रीणामर्द्धप्रदातव्यम्' यह वसिष्ठोक्त स्त्रियों के लिए आधा प्रायश्चित्त करने का विधान अनिच्छापूर्वक व्यभिचार करने पर है ।

सा चेत्युनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपमंत्रिता ।

कृच्छ्रं चांद्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७६॥

भाष्य—प्रार्थिता समानजातीयेन पुनः संसर्गे चांद्रायणमुपपातकत्वात्सिद्धम् । गोघ्ननिवृत्त्यर्थं पुनश्चांद्रायणविधानं साकल्यविधानार्थम् ।

यावच्चैवमुक्तम्—

‘माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।

पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ।

दुहिता चार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।

राज्ञी प्रव्रजिता साध्वी धात्री वर्णोत्तमा च या ॥’

अत्र सत्यप्यतिदेशे न तुल्यप्रायश्चित्ता, दण्डविशेषदर्शनात् । तत्र मातर्युक्तमेव ।
मातृष्वसृप्रभृतीनां दुहितृन्तानां कृच्छ्राब्दः । अवशिष्टानां चान्द्रायणाभ्यासः ।

तत्र या उक्तास्ताः सगोत्रा उच्यन्ते यज्जातीयास्तेन व्यपदिश्यन्ते, उत यस्मै
दत्तास्तद्गोत्रा इति ।

उभयेनेत्याह, उभयथालिङ्गदर्शनात् ।

‘गोत्रं’ वंशः पित्रादिरभिजनः, तत्सम्बन्धाच्च पितृष्वसृग्रहणमनर्थकं, सगोत्रा हि
सा । अथ येनैकतां गतास्तद्भावमनुभवन्ति, तदा भर्तृगोत्रव्यपदेशार्हाः, तस्मिन् पक्षे
पितृव्यस्त्रीग्रहणमनर्थकं भवति हि सा सगोत्रा ।

नन्वियं कस्येति लिङ्गाभावादुभयोरपि युक्ता । सर्वेषां तु दर्शनं भर्तृगोत्राः ‘संगोत्राः’ ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते ‘श्राद्धविधौ कुर्वन्तु पैत्रिकं गोत्रमिति’ तत्तत्रैवास्ति । अथवाऽ-
प्यस्तिवचनात्तथा क्रियेत ॥१७६॥

हिन्दी—सजातीय पुरुष (के साथ सम्भोग करने) से दूषित वह स्त्री (प्रायश्चित्त
करने के बाद) पुनः सजातीय के कहने (पर उसके साथ सम्भोग करने) से दूषित हो
जाय तो उसे पवित्र करनेवाले कृच्छ्र तथा चान्द्रायण (क्रमशः ११।२११, २१५-२१९)
व्रत कहे गये हैं ॥१७६॥

[ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेऽपसङ्गताः ।

अप्रजाना विशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥१०॥]

[हिन्दी—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की स्त्रियाँ शूद्र के साथ सम्भोग करने से
दूषित होकर यदि सन्तान उत्पन्न नहीं करें तो प्रायश्चित्त से शुद्ध (पापहीन) होती हैं, दूसरी
(सन्तान उत्पन्न करनेवाली) नहीं ॥१०॥]

चण्डाली सम्भोग का प्रायश्चित्त—

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनादद्विजः ।

तद्भैक्षभुजपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७७॥

भाष्य—वृषल्यत्र चण्डाल्यभिप्रेता, महत्वात् । द्विरभ्यासे चेदबुद्धिपूर्वं द्रष्टव्यम् ।
अन्यथा कृच्छ्राब्द एव वा ।

एकरात्रग्रहणात् । सर्वा रात्रिं शयानस्य तथा सह गच्छतश्चैतद्विज्ञेयम् ।

सेवनं सम्भोगः ।

वृषलीशब्दो निन्दया प्रयुक्तो न जातिशब्दे ।

यत्करोति यत्पापं जनयति तत्त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति विनाशयति । भैक्षाहारो जप-

त्रिति अविशेषचोदनायां भावी आसु परं च नास्तीत्याहुः । अन्ये तु यथाश्रद्धमन्यानि मन्त्रब्राह्मणवाक्यानि, न तु लौकिकं वाक्यम् ।

अविशेषेण मन्त्रजपस्य शुद्ध्यर्थं विहितत्वादृ'कसंहितामित्यादि' ।

यत्तु 'त्रिभिर्मासैः सेवित्वा वृषलीं' शूद्रामेवाचक्षते, तदप्ययुक्तम् । शूद्राविवाह-स्याविहितत्वात्, स्वैरिण्याश्च लघुप्रायश्चित्तस्योपदेशादन्यस्याश्चोपपातकत्वादुरुतरमिदमयुक्तम् ॥१७७॥

हिन्दी—द्विज एक रात चाण्डाली-सम्भोग करके जो पाप उपार्जित करता है, उसे वह तीन वर्ष तक भिक्षा माँगकर भोजन तथा गायत्री जप से नष्ट करता है ॥१७७॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।

पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७८॥

भाष्य—ऋज्वर्थः श्लोकः ॥१७८॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) यह (११।१६९-१७७) मैंने अगम्या-गमन पर) पाप करनेवाले चारों वर्णों का निस्तार (प्रायश्चित्त) कहा, (अब आप लोग) पतितों के साथ से हुए पापों के निस्तार को सुनिये ॥१७८॥

पतित-संसर्गादि से पतित होना—

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।

याजनाध्यापनाद्यौनात्र तु यानासनाशनात् ॥१७९॥

भाष्य—द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतत्यर्थः । पतति भ्रश्यति, हीयतेऽधिकारात् ।

पतिताश्चात्वारो ब्राह्मणादयः । तैः सहाचरन् संवत्सरेण पतितो भवति तत्तुल्या भवतीत्यर्थः ।

किमाचरन् ।

यानासनाशनात् । संलापगात्रस्पर्शादिना सह गमनम् । 'यान' मासनं तादृशमेव । एकस्यां शय्यायामेकस्मिन्नासने, एकस्मिन् आसने एकपात्रे भोजनम् ।

याजनाध्यापनाद्यौनात्र त्वितिविच्छेदः । किं याजनादिभिर्नैव पातित्यमथार्वा-क्संवत्सरादूर्ध्वं वेत्येतद्वक्तव्यम् । स्मृत्यन्तरदर्शनादिभिः सद्यः ।

याजनाध्यापनमिति द्वितीयान्तः पाठो युक्तः । आचरन्निति शत्रा हेत्वर्थस्य गमित-त्वात् ॥१७९॥

हिन्दी—पतित के साथ संसर्ग (सवारी करने, एक आसन पर बैठने और एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने) से एक वर्ष में तथा यज्ञ कराने से समन्त्र यज्ञोपवीत

संस्कार कर गायत्री का उपदेश देने और योनि-सम्बन्ध (विवाह आदि) करने से तत्काल पतित हो जाता है ॥१७९॥

विमर्श—गोविन्दराज का मत है कि ‘यज्ञ कराने आदि तीनों कार्यों से एक वर्ष में पतित होता है और संसर्ग करने से एक वर्ष के बाद पतित होता है; किन्तु उक्त मत देवल^१, विष्णु^२, बौधायन^३ के मत से विरुद्ध होने से मान्य नहीं है।

उक्त कर्म का प्रायश्चित्त—

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्ध्ये ॥१८०॥

भाष्य—यस्य पतितस्य यद्विहितं तत्प्रायश्चित्तं कुर्यात्तत्संसर्गस्य शुद्ध्ये ।

एषामिति निधरिणे षष्ठी । **एषां** पतितानां **येन पतितेन यः संसर्गं याति** पूर्वोक्तसंसर्गं गच्छति **स तस्यैव** पतितस्य यद्विहितं प्रायश्चित्तं **तत्कुर्यात्** । तत्संसर्गाद्यो दोष उत्पन्नस्तद्विशुद्ध्ये तद्विनाशाय । अनुवादोऽयं श्लोकपूरणः ।

अथ यदिदमुच्यते पतितात्याग्यपतितात्यागीत्यादिनिन्दितकर्माभ्यासेन पतनं तत्र यदेतत्पतितत्वचनं तत्किमुपदिश्यत आहोस्विदतिदिश्यते । यदि तावदुपदिश्यते पंच पातकानीति प्रसिद्धेर्मूलं वाच्यम् । अथ पंचानामौपदेशिकमन्येषामातिदेशिकैर्व्यवहारे भेदे न कश्चिदर्थः । तान्येव प्रायश्चित्तानि त एव धर्मा यस्मा उपदिश्यन्ते, अतिदेशेन व्यवहारेण कोऽर्थः ।

अथोच्यते । “न व्यवहाराः प्रयोजन एव भिद्यन्ते अपि त्वन्यतोऽपि निमित्तात्, इह चास्ति प्रमाणतो भेदः । यत्र पतितत्वमभिधाय द्विजातिकर्मभ्यो हानिः ‘पतितस्योदकं कार्यमि’त्याद्यभिधीयते सकृत्स्वधर्माभिधाना‘दुपदेशः’, यत्र तु तत्सम्बन्धवचनान्नाम्ना लिङ्गसंयोगाद्वा तद्धर्मप्राप्तिः सोऽतिदेशः’ । सूर्याग्निपदयोर्न हि सौर्ये कश्चिद्धर्मः श्रुतो

१. यथाह देवलः—

‘याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।

कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न शंसयः ॥’ इति ।

२. तथा च विष्णु—

‘आसंवत्सरात्पतति पतितेन सहाचरन् ।

सहायानासनाभ्यासाद्यौनात्तु सद्य एव हि ॥’ इति ।

३. तदुक्तं बौधायनेन—

‘संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।

याजनाध्ययनाद्यौनात्सद्यो न शयनासनात् ॥’ इति ।

येनातिदेशे सत्ययं विशेषो लभ्य इति निश्चीयते”

तदसत् । यतः सूर्यादिशब्दस्यैव प्रभुता, अकृतत्वाद्वेदस्य । अयं पौरुषेयो ग्रन्थः । पुरुषश्चासति भेदे किमिति व्यवहारं नवं प्रवर्तयति । या तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बाधका-
भावात्सिद्धिः सोऽत्र कदाचिदुपलभ्यते । योऽप्यभ्यासः सोऽपि द्विरावृत्तिस्तत्र ततः
प्रवृत्तिः आवृत्तिशतेष्वभ्यासरूपतयैक एवेति । लोके तावदावृत्तिमात्रमभ्यासः । तत्र योऽपि
द्विरपवादः योऽपि शतकृत्वः तौ द्वावपि प्रायश्चित्ते समौ स्याताम् । निन्दितं च कर्म
प्रतिषिद्धम् । तत्र योऽपि द्विर्दिवा सुप्याद्योऽपि गा असकृद्धन्यात्तत्र निन्दितकर्माभ्यासेऽ-
विशेषेण पतनप्राप्तिः । तस्माद्विचिन्त्यमेतत् ।

किमत्र चिन्त्यते । पंचानां तावत्पातकित्वं सर्वस्मृतिकारैरुच्यते, अन्येषां केषां-
चित्तत्समत्वम् । तदुभयमपि बाधितुं तत्र विशेषो नास्तीति संकल्पयिष्यते ‘शक्तिं चावेक्ष्य
पापं च’ इति । न हि तस्य तत्सदृशस्येति वा एकत्वं युक्तं, गार्गवयस्येव । अथ
केषाञ्चिद्धर्माणां भेदः केषांचिदेकत्वे सादृश्यं भवति ।

तस्मात्तत्समानां पतितत्वं भवति । अतः किंचिदूनं तत्समानां पतितप्रायश्चित्तम् ।

अधिकारापगमे केचिद्विशेषमाहुः । श्रौतेष्वधिकारो निवर्तते साक्षात्, न स्मार्तेषु ।

यदप्युक्तं “द्विरावृत्तौ शतकृत्वश्च भेदो न स्यादिति’ तत्राप्यभ्यासानां भेदः । कथं
तुल्यप्रत्यवायता । यदपि दिवा स्वप्नगोवधयोर्निन्दितत्वाविशेषात्तदभ्यासे तुल्य पति-
तत्वमिति, कथमविशेषो निंदायाः, यत्रार्थवादेशु प्रत्यवायविशेषः श्रूयते, प्रायश्चित्तबहुत्वं
बाहुल्येऽपि प्रतिषेधे ।

तत्रायं विधिः । ‘निन्दितकर्माभ्यासे पतनमिति’ न प्रतिषिद्धमात्रे, तथा च ‘पूर्णवान-
सीति’ । सत्यपि निन्दितकर्माभ्यासे नैव पातित्यमस्ति ॥१८०॥

हिन्दी—इन पतितों में से जिस पतित के साथ जो मनुष्य संसर्ग करे, वह उन्हीं
पतितों के पाप के (चतुर्थांश^१ कर्म) प्रायश्चित्त उस संसर्गजन्य पाप की शुद्धि के लिए
करे ॥१८०॥

महापातकी के जीते ही उदकक्रिया—

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।

निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥१८१॥

१. तथा च व्यासः—

यो येन संसृजेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् ।

पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥’ इति ।

जीवत एव पतितस्य प्रायश्चित्तमनिच्छतो घटोदकदानं मृतस्येव कर्तव्यमुच्यते ।
सपिण्डाः सप्तमपुरुषावधयः एकवंश्याः । ततोऽन्ये **बान्धवाः** सगोत्राश्च ।

निन्दितेऽहनि चतुर्दश्यादौ ।

सायाह्नेऽस्तमिते रवौ ।

ज्ञात्यृत्विक् । ज्ञात्यादयः कर्तृणां, तथा पतितस्य ॥१८१॥

हिन्दी—महापात की (११।५४) के जीवित रहने पर ही उसके निमित्त जलदान (तर्पण) को (अग्रिम श्लोकोक्त विधि से) गाँव के बाहर जाति, ऋत्विक् तथा गुरुओं के समक्ष में निन्दित दिन (नवमी तिथि) में सायङ्काल करे ॥१८१॥

दासी घटमपां पूर्ण पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।

अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥१८२॥

भाष्य—प्रेतवदिति । कर्तव्यतोपदेशोऽयम् ।

दासी प्रेष्योदकुंभम् । **पदा** पादेन । **पर्यस्येत्** क्षिपेदिदममुष्मा इति ।

क्षिप्ते तस्मिन्नहोरात्रमाशौचं युक्तम् ।

बान्धवैः सह तथासीरन्नेकत्र स्थाने निवसेयुस्तदहः ।

दासीग्रहणात् स्वयंकरणं निषेधति ।

“यद्येवं ज्ञात्यृत्विगुरुसन्निधावित्यस्वयंकरणपक्षे ज्ञातीनां सपिण्डानां च को विशेषो येनोच्यत एतेषां सन्निधान एतेन कर्तव्यमिति । यावता सर्व एव सन्निधानमात्रेणोप-कुर्वन्ति । तस्यासन्निपात्योपकारत्वात्” ।

नैतदेवम् । सपिण्डादयः प्रयोजकत्वेन कर्तारः ज्ञात्वादयस्तु सन्निधाप्यन्ते केवल-मदृष्टायेति ॥१८२॥

हिन्दी—उन सपिण्डों तथा समानोदक बान्धवों से प्रेरित दासी जल से भरे तथा काम में लाये गये अर्थात् पुराने घड़े को दक्षिण दिशा की ओर मुखकर पैर से ठोकर मार दे (जिससे घड़े का पानी गिर जाय), फिर वे सपिण्ड समानोदकों के साथ दिन-रात अशौच मनावें ॥१८२॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु सम्भाषणसहासने ।

दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥१८३॥

भाष्य—कृतोदके यथा वर्तितव्यं तथेदानीमुच्यते ।

सम्भाषणमितरेतरमुक्तिप्रत्युक्तिरूपो व्यवहारः ।

दायाद्यं धनं तदपि तस्मै न दातव्यम् ।

लौकिकी यात्रा सङ्गतयोः कुशलप्रश्नादिका । विवाहादौ नैमित्ते गृहानयनं भोजनं चेत्येवमादि ।

“ननु च सम्भाषणप्रतिषेधादेवैषु निवृत्तिः सिद्धैव” ।

अभ्युत्थानासनत्यागस्यापि निवृत्तिरूपस्य सम्भवात् । सम्भाषणं तु शब्दात्मकमेव ॥१८३॥

हिन्दी—उस महापातकी के साथ बातचीत करना, बैठना, हिस्सा लेना, देना तथा लोकव्यवहार (वार्षिक आदि कार्यो में निमन्त्रित करना आदि) को छोड़ दे ॥१८३॥

ज्येष्ठ महापातकी का 'उद्धार'छोटे भाई को मिलना—

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्वसु ।

ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥१८४॥

भाष्य—ज्येष्ठावाप्यं च यद्वसु । अत्रापि चोद्यते ।

“दायाद्यदाननिषेधाज्ज्येष्ठप्राप्यवसुनो धनस्य सिद्ध एव निषेधः” ।

केचिदाहुर्गुणतोऽधिकस्य यवीयसस्तदंशप्राप्त्यर्थमनूद्यते ।

अन्ये तु मन्यन्ते । दायाद्यशब्देन धनमात्रमुच्यते नान्वयागतमेव । तथा चाभिधानकोशे 'दायाद्यं धनमिष्यत' इति स्मर्यते । अतो यत्तस्मात्केनचिदृणत्वेन गृहीतं तेनापि तत्र दातव्यम् । किं तर्हि कर्तव्यम्? पुत्रभ्रात्रादिरिक्थहारिणामर्पणीयम् ।

अन्ये तु मन्यन्ते । अविभक्तधनानां दायाद्यधननिषेधः, कृते तु विभाग उद्धारस्यैव ज्येष्ठांशस्यैवोच्छेदः । सत्स्वपि पुत्रेषूद्धारं वर्जयित्वाऽन्यस्य पुत्रा एवेशते ॥१८४॥

हिन्दी—यदि वह महापातकी ज्येष्ठ (बड़ा भाई) हो तो उसकी ज्येष्ठता नहीं रहती (अतः उसके लिए अभ्युत्थानादि न करे) और ज्येष्ठ के लिए प्राप्य पैतृक धन में से भाग तथा 'उद्धार' (९।११२-११४ अतिरिक्त हिस्सा) उसे नहीं मिलता, किन्तु ज्येष्ठ होने के कारण मिलनेवाला 'उद्धार' भाग उस (महापातकी) का गुणवान् छोटा भाई प्राप्त करता है ॥१८५॥

प्रायश्चित्त किये हुए संसर्ग—

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।

तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥१८५॥

भाष्य—कृतप्रायश्चित्तस्येदानीमुदकक्रियोच्यते ।

तेनैव सार्धं स्नात्वा जलाशये पुण्यस्त्रवन्त्यां महाहृदे वा प्रभासमानसादौ वा तीर्थविशेषे कृतस्नानोऽपां कुंभं नवं स्वयं प्रास्येयुः ।

नवकुम्भग्रहणादासीग्रहणाच्चात्र पूर्वत्रोपयुक्तस्य क्रियासु कुम्भस्य ग्रहणम् । उदकेन पूरयित्वा हरणमुक्तम् ॥१८५॥

पुनरसौ घटः प्रक्षेप्तव्य इत्याह—

हिन्दी—पतित के प्रायश्चित्त कर लेने पर उसके सपिण्ड तथा समानोदक बन्धु उसके साथ शुद्ध जलाशय (तडाग, नदी आदि) में स्नानकर जल से पूर्ण नये घड़े को (उस जलाशय में) छोड़ दें ॥१८५॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।

सर्वाणि ज्ञातिकायाणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८६॥

भाष्य—यास्वप्सु स्नातास्तास्वेव घटः प्रक्षेप्तव्यः ।

ततस्तं पुरस्कृत्य तदीयं भवनं प्रविशेयुः । ततो यथापूर्वं सम्भोजनादीनि ज्ञातिकायाणि प्रवर्तयेयुः । अन्ये तु सकृत् प्रायश्चित्त इति सम्बन्धन्ति । घटप्रासनं तेनैव कर्तव्यम् ।

एषा चास्य पतितोदकक्रिया नान्यस्य त्याज्यस्य, ‘त्यजेच्चेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकम्’ इत्यादेः ॥१८६॥

हिन्दी—(प्रायश्चित्त किया हुआ) वह उस घड़े को फेंककर अपने घर जाकर जाति सम्बन्धी सब कार्यों को पहले के समान करे ॥१८६॥

पतित-स्त्रियों के लिए अन्नादि देना—

एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥१८७॥

भाष्य—योषित्सु स्त्रीष्वपि पतितास्वेष एव विधिः । ‘पतितास्व’ कृतप्रायश्चित्तासु च । ताभ्यस्तु कृतोदकाभ्योऽपि वस्त्रान्नं दातव्यम् । दानग्रहणात् वस्त्रान्ने शरीरस्थितिमात्रसम्पादिनी दातव्ये, न भोगादयः ।

पानमौचित्यादुदकम् । तच्च प्राचुर्याददत्तमपि लभ्यते । वचनं तु परानुरोधात् प्रीत्या तदपि स्वातन्त्र्येण तासां न देयम् ।

यादृशं च पानं तादृशे एव वस्त्रान्नेऽपि निकृष्टं वस्त्रं चान्नं दातव्यम् । तथोक्तं (याज्ञ०स्मृ० १।७०)—

‘हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥’

पातित्यहेतवश्च स्त्रीणां ये एव मनुष्यस्य । यत्तु भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां ‘न च स्त्रीणामधिकं भ्रूणहनीति’ तत्तुल्यतार्थं न तु परिसंख्यार्थम् । तथा च याज्ञवल्क्यः (प्रायश्चित्ते ३।२९८) ।

‘निचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् । विशेषपतनीयानि स्त्रीयामेतान्यपि ध्रुवम् ॥

वसेयुः स्वगृहान्तिके प्रधानगृहान्निष्कास्य कुटीगृहे वासयितव्ये ‘त्यन्तिक’ ग्रहणम् ।

केचिदाहुः—प्रायश्चित्तं तु कुर्वतीनामेतद्देयं न त्वन्यथा ।

तदयुक्तम् । वस्त्रान्नदानव्यवहारस्य तत्र योगत्वात् । प्रायश्चित्ते भिक्षाहारता पयोव्रतं चांद्रायणविधिश्चेत्यादि । न च भैक्षाहारता चानेन विवर्तयितुं शक्या । वृत्तिविधानेन चरितार्थत्वात् । तस्माद्यस्याः प्रायश्चित्तेष्वनधिकारः अशक्ततयाऽतिपुष्टतया वा तस्या अपि वस्त्रादिदानं कर्तव्यमिति श्लोकार्थः ॥१८७॥

हिन्दी—पतित हुई स्त्रियों के साथ भी यही (१२।१८२-१८७) विधि करें, तथा उसके बान्धव लोग उस (पतित स्त्री) के लिए भोजन वस्त्र और रहने के लिए घर के पास स्थान देवें ॥१८७॥

प्रायश्चित्त नहीं करनेवालों से संसर्गत्यागादि—

एनस्विभिरनिर्णिकैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् ।

कृतनिर्णेजनांश्चैत्तान्न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८८॥

भाष्य—**एनस्विनः** प्रकृतत्वात्पातकिनः । **तैरनिर्णिकैरशुद्धैरकृतप्रायश्चित्तैर्नार्थं** किञ्चिदृणदानक्रयविक्रययाजनाद्युक्तम् ।

निर्णेजनं शोधनं पापापनोदनम् । तस्मिन् कृते । नैनां **जुगुप्सेत** कृतप्रायश्चित्तान्न कुत्सयेत् ॥१८८॥

हिन्दी—प्रायश्चित्त नहीं किये हुए पापियों (पतितों) के साथ कुछ भी व्यवहार (लेन-देन, भोजन, सहवास आदि) नहीं करे, तथा जिस पापी ने प्रायश्चित्त कर लिया है, उसकी कभी भी (पूर्व दुष्कर्मों के सम्बन्ध में) निन्दा न करे ॥१८८॥

बालघाती आदि का त्याग—

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।

शरणागतहंतृश्च स्त्रीहंतृश्च न संवसेत् ॥१८९॥

भाष्य—**शरणागगतः** । यः शत्रुभिरभिहन्यमानो बलवताऽन्येन वोपदूयमानः

परित्राणार्थं कञ्चिदन्यमभिधावेत् ‘त्रायस्व मामिति’ । एवं कृतदोषो समुपधावेत् ‘उद्धर मां देहि प्रायश्चित्तमिति’ शरणागतः ।

कृतघ्नः कृतमुपकारं विस्मृत्य योऽपकाराय यतते यो वा कृतोपकारं पुनर्विनाशयति तस्यैवोपकृतस्यापकार्यं उद्यच्छति । यद्यप्येषा शब्दव्युत्पत्तिस्तथापि लोकप्रसिद्धेर्यत्रोपकर्तुरपकारे वर्तते स ‘कृतघ्नः’ ।

अत्र जातिर्नापेक्ष्यते बालादिस्वरूपमेव कारणम् ।

स्त्रियो व्यभिचारिण्योऽपि । यद्यपि तासां स्वल्पं प्रायश्चित्तं तथापि वाचनिकः संवासप्रतिषेधः ।

संवासः सङ्गतिस्तद्गृहनिवासश्च ॥१८९॥

हिन्दी—बाल की हत्या करनेवाला, कृतघ्न, शरणागत की हत्या करनेवाला और स्त्री की हत्या करनेवाला; इसके साथ प्रायश्चित्त द्वारा इसके शुद्ध हो जाने पर भी संसर्ग न करे ॥१८९॥

विमर्श—पूर्व (११।१८८) वचन से कृतप्रायश्चित्त पापियों के साथ संसर्गादि का विधान कर इस वचन द्वारा इनके साथ संसर्ग का त्याग कहने से उक्त (११।१८८) वचन का अपवाद इस वचन को समझना चाहिए ।

ब्रात्यादि प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।

तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९०॥

भाष्य—‘आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य’ इत्यादिनोपनयनकालनियमः कृतः । तदतिक्रमे प्रायश्चित्तमिदम् ।

गर्भाष्टमात्रभृति यावत्षोडशवर्षं ब्राह्मणस्य सावित्री नानूच्येत । सावित्र्यनुवचनेनोपनयनाख्यसंस्कारो लक्ष्यते । अस्मिन् काले यद्युपनयनं न क्रियेत । एवं ‘आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आ चतुर्विंशतेर्विशः’ ।

अत ऊर्ध्वं त्रीन् कृच्छ्रांश्चारयितव्यः । निरुपपद‘कृच्छ्र’श्रवणे प्राजापत्यप्रत्यय इति स्मृतितन्त्रसिद्धिः ।

अन्ये तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रानाहुः ।

कृच्छ्रेषु कृतेषूपनेतव्याः ।

यथाविधीत्यनुवादः ॥१९०॥

हिन्दी—जिन द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार अनुकल्पित समय (ब्राह्मण का १६वें

क्षत्रिय का २२वें तथा वैश्य का २४वें वर्ष) में भी नहीं हुआ हो, उनसे तीन कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।११०) व्रत कराकर विधिपूर्वक उसका यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिये ॥१९०॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।

ब्राह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९१॥

भाष्य—विकर्मस्था यथा ब्राह्मणाः शूद्रसेवाद्यभिरताः । यस्य यत्कर्म जीविका-हेतुस्तया तत्तस्य विहितं कर्म । यस्य यन्न विहितं तस्य तद्विकर्म । द्विजातीयस्य विहितं विजातीयस्य विकर्म ।

ब्राह्मणा परित्यक्ता उपनीता अप्यस्वीकृतवेदा अधीत्य वा वेदमुपविस्मरेयु-स्तेषामप्येतत्कृच्छ्रत्रयम् ।

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्तीत्यनुवाद एवायम् । इच्छन्नेव यतः प्रवर्तते ॥१९१॥

हिन्दी—निषिद्ध (शूद्रसेवा आदि) कार्य करनेवाले यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त भी वेद को नहीं पढ़े हुए जो द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें, उसके लिए भी इसी (तीन प्राजा-पत्य व्रत ११।२१०) प्रायश्चित्त को करने का उपदेश देना चाहिए ॥१९१॥

निन्दित के उपार्जित धन का त्याग—

यदगर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।

तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१९२॥

भाष्य—गर्हितेनेत्यविशेषेऽप्यसत्प्रतिग्रहणेति द्रष्टव्यम् । उत्तरत्र विशेषविधेस्तं प्रत्येवोपदिश्यमानत्वात् 'मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहादिति' ।

उत्सर्गः त्यागो ममतानिवृत्तिर्दानेन वा । अनपेक्ष्य दृष्टमदृष्टं राजरथ्यादिषु त्यागेन देयं 'मम यो गृह्णाति स गृह्णात्वि'त्याद्यभिधाय क्षिपेत्, श्वभ्रे गते नद्यादिषु वा ।

जपतपसी वक्ष्यत्युपदिष्टश्लोके ।

अन्ये तु ब्राह्मणशब्दस्थाने मानवशब्दं पठित्वैवं व्याचक्षते । यस्य वर्णस्य द्विजातेः शूद्रस्य वा धनार्जनोपायतया यत्प्रतिषिद्धं तत्तस्य 'गर्हितम्' । यथा 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्' इत्यादि । तेन येऽर्जयन्ति धनं कर्मणा तस्योत्सर्गजपतपांसि त्रीणि समुच्चितानि प्रायश्चित्तानि । ब्राह्मणस्यासत्प्रतिग्रहे उत्तरो विशेषविधिः ॥१९२॥

हिन्दी—ब्राह्मण लोग जिस निषिद्ध (अग्राह्य दानादि लेना, ब्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराना, दूसरों का श्राद्ध कराना, मारण मोहन-उच्चाटनादि अभिचार कर्म करना आदि) कर्मों के आचरण से धन का उपार्जन करते हैं, उस धन का त्याग तथा आगे (११।१९४-१९७) कहे जानेवाले जप और तप से वे ब्राह्मण शुद्ध (दोषरहित) होते हैं ॥१९२॥

असत्प्रतिग्रह का प्रायश्चित्त—

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।

मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९३॥

भाष्य—त्रीणि सावित्रीसहस्राणि प्रत्यहमिति केचिदाहुः ।

अन्ये तु मासं त्रीण्यभिसम्बन्धन्ति । अतश्च प्रत्यहमेकैकं शतम् ।

गोष्ठ इति वासस्थानम् ॥१९३॥

हिन्दी—ब्राह्मण तीन सहस्र गायत्री जपकर तथा एक मास तक गोशाला से केवल दुग्धाहार कर असत्यप्रतिग्रह (नीच या शूद्र से दान लेने) के दोष से छूट जाता है ॥१९३॥

उपवासकृशं तं तु गोब्रजात्पुनरागतम् ।

प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९४॥

भाष्य—काश्यवचनात्स्वल्पं पयःपानमाह ।

प्रणतं जानुभ्यां स्थितं भुवि ।

ते विद्वांसो ब्राह्मणाः पृच्छेयुस्तं ‘हे सौम्येच्छसि साम्यमिति’ । ‘अथ पुनरपि शास्त्रमवगणय्य न प्रवर्तितव्यमसत्प्रतिग्रहलोभेनेति’ ॥१९४॥

हिन्दी—(गोशाला में केवल दुग्धाहार लेने से) दुर्बल तथा गोशाला से वापस लौटे हुए उस (प्रायश्चित्तकर्ता) ब्राह्मण से ‘हे सौम्य! क्या हम लोगों की समानता चाहते हो?’ ऐसा ब्राह्मण लोग पूछें ॥१९४॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।

गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९५॥

भाष्य—पृष्टेन वा तेन वक्तव्यं ‘सत्यमि’ति ।

येन मार्गेण गावो विचरन्ति नदीप्रस्रवणादिजलं पातुं तस्मिंस्तीर्थे तरणप्रदेशे । ते ब्राह्मणाः परिग्रहमस्य कुर्युस्ते हि हस्तारोपणेना‘त्मैकदेश’मानयेयुः ॥१९५॥

हिन्दी—फिर ‘हाँ (पुनः निन्दित दान नहीं लूँगा)’ ऐसा प्रश्नकर्ता ब्राह्मणों से कहकर यह प्रायश्चित्तकर्ता ब्राह्मण गौओं के लिए घास डाल दे तथा गौओं के घास खाने से पवित्र तीर्थरूप उस भूमि में ब्राह्मण लोग उस ब्राह्मण को अपने व्यवहार में ग्रहण करना स्वीकार कर लें ॥१९५॥

ब्रात्ययाजनादि का प्रायश्चित्त—

ब्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।

अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥१९६॥

भाष्य—ब्रात्याः सावित्रीपतितास्तेषां ब्रात्यानां ब्रात्यस्तोमः क्रतुर्विहितस्तेन ये याजयन्ति आर्तिज्येनोपदेष्टृत्वेन च । परेषां मातापितृगुरुवर्जमन्त्यकर्म श्मशानादि । अभिचारं श्येनचिदादि । अहीनं च द्वित्रादिकम् । कृच्छ्रैर्विशुध्यति ।

अन्ये त्वाहुः । नायमभिचाराहीनयोर्यजमानस्य विधिः । कस्य तर्हि ? ऋत्विजाम् । तथा च ब्रात्यानां याजनमितीदृश एवाधिकारः । यजमानस्य तु विधिलक्षणाप्रवृत्तिस्तस्याः प्रतिषेधाभावे कुतः प्रायश्चित्तम् ।

“भवत्यहीने शास्त्रतः प्रवृत्तिः श्येनादौ तु कथम् । न हि शत्रून् मारयेदिति नोदनाऽस्ति । किंतर्हि ? ‘यः शत्रोर्मारणं कामयते तेन तत्सिद्ध्यर्थं श्येनादि कर्तव्यम्’ । शत्रुमारणे च हिंसालक्षणाप्रवृत्तिः । सा च निषिद्धा ‘न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति’ । अहीनेष्वपि लिप्सात एव प्रवृत्तिः । फलकामस्य हि तत्राधिकारो भवति । न तु फलकामना तत्र निषिद्धा, नापि काम्यमानार्थनिष्पादको व्यापारः । इह तूभयं निषिद्धं ‘न हिंस्यादिति’ मरणफलव्यापारेण न प्रवर्तितव्यम् । तत्फलं च श्येनादेरेव । इह तु नास्ति निषेधः ‘स्वर्गादिफलकर्म न कर्तव्यमिति’ ।

केचिदाहुः । ‘वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य’ इत्यभिचरणीयाभिचारोऽप्यनुज्ञयाऽऽम्नात एव । तुल्यावहीनाभिचारौ । तत्र ऋत्विजामेव प्रायश्चित्तं युक्तम् ।

“ननु च काम्यान्यपि निषिद्धानि ‘कामात्मता न प्रशस्ता’ इति” ।

यस्तस्य विषयः स तत्रैव व्याख्यातः । श्रुतिश्चाहीनतया याजनं कार्यमिति । अभिचरणायाभिचारे च यजमानस्यायुक्तम् ।

“कथम्” । आम्नातं यज्ज्योतिषाभिचार्यन्ते । तद्वत्प्रायश्चित्तान्युक्तान्येव । अस्य अभिचरत्विग्विषयेऽभिचरणीयाभिचारे सविषयत्वात् । वैदिकेन जपहोमादिना शत्रोर्मारणमभिचारः ॥१९६॥

हिन्दी—ब्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराकर, (पिता, माता, गुरु आदि से) अन्य लोगों का और्ध्वदेहिक दाह-श्राद्धादि कर्म करके अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटनादि कर्म) और अहीन अर्थात् यागविशेष करके (द्विज) तीन कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२१०) व्रत करके शुद्ध होता है ॥१९६॥

शरणागत त्याग आदि का प्रायश्चित्त—

शरणागतं परित्यज्य वेदं विल्पाव्य च द्विजः ।

संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥१९७॥

भाष्य—द्विविधः शरणागतः प्रागुक्तस्तस्य ‘परित्यागः’ प्रत्याख्यानम् । सत्यां शक्तौ । प्राक् चैतद्विचारितम् ।

वेदं विल्पाव्यानध्यायाध्ययनं कृत्वा । अधिकारेणाधीयानस्यानुयोगदानं ‘किं पठसि नाशितं त्वयेति’ । अथवा धनहेतोः परीक्षास्थानेष्वनियुक्तेन पठ्यते । स्मृतिश्च ‘दत्त्वा नियोगं धनहेतोः पतितान्मुनिस्त्रयीत्’ ॥१९७॥

हिन्दी—शरणागत का त्यागकर तथा वेद पढ़ने के अनधिकारी को वेद पढ़ाकर द्विज एक वर्ष तक यव का आहार कर उस पाप को दूर करता है ॥१९७॥

कुत्ता आदि के काटने पर प्रायश्चित्त—

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।

नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेव शुध्यति ॥१९८॥

भाष्य—दष्टा दंष्ट्राभिः । ग्राम्यैः क्रव्याद्भिर्मर्जारिनकुलादिभिः ॥१९८॥

हिन्दी—कुत्ता, सियार, गधा, कच्चा मांस खानेवाले ग्राम्य पशु (बिल्ली आदि), मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सूअर—इनके काटने पर (द्विज) प्राणायाम करने से शुद्ध होता है ॥१९८॥

कुत्ते के सूँघे आदि पदार्थों की शुद्धि—

[शुनाऽऽघ्रातावलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च ।

अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तामग्निना चोपचूलनम् ॥१९९॥]

[हिन्दी—कुत्ते के सूँघे, चाटे और दाँतों से काटे गये पदार्थ की शुद्धि पानी से धोने और आग में जलाने (तपाने) से कही गयी है ॥]

अपाङ्ग्य की शुद्धि—

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।

होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्ग्यानां विशोधनम् ॥१९९॥

भाष्य—अपाङ्ग्यास्तृतीयाध्याय उक्ताः । येषां प्रतिपदं प्रायश्चित्तमन्यत्राम्नातम् ।

तेषां मासं संहिताजपः । शाकलहोमः षष्ठान्नकालता चेति समुच्चयः । काष्ठशलाकादि‘देवकृतस्य’ (वाजसनेयिसंहिता ८।१३) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्हूयते स ‘शाकलहोमः’ ।

नित्यग्रहणं समाप्तेऽपि संहिताजपे पुनः पुनरावृत्त्यर्थं, यावन्मासः पूर्णः ॥१९९॥

हिन्दी—पङ्क्तिबाह्य (३।१५०-१६६) मनुष्यों (तथा जिनके लिए कोई पृथक् प्रायश्चित्त नहीं किया गया है, उन) की शुद्धि एक मासतक छठे साम (दो दिन दो रात तथा तीसरे दिन पूर्वाह्न में कुछ न खाकर साम) भोजन, वेद-संहिता का जप और 'दैवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' इत्यादि आठ मन्त्रों से हवन करने से होती है ॥२००॥

ऊँटगाड़ी आदि पर चढ़ने का प्रायश्चित्त—

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।

स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥२००॥

भाष्य—उष्ट्रैर्युक्तं यानं गन्त्र्यादि । साक्षादुष्ट्रादावारोहणमव्यवधानेन चाधिकतरम् । प्राणायामानामावृत्तिः ।

दिग्वासा नग्नः । नग्नदोषनिर्हरणार्थं पुनः सवासाः स्नानं कृत्वा प्राणायामः कर्तव्यः ॥२००॥

हिन्दी—ब्राह्मण ऊँटगाड़ी पर इच्छापूर्वक (ज्ञानपूर्वक) चढ़कर, जल में नग्न स्नानकर प्राणायाम करके शुद्ध होता है ॥२००॥

जलरहित होकर तथा जल में मूत्रादि त्याग करने का प्रायश्चित्त—

विनाऽद्भिरप्सु वाऽप्यार्तः शारीरं सन्निषेव्य च ।

सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति ॥२०१॥

भाष्य—विनाऽद्भिरसन्निहितास्वप्सु अदृष्टगोचरस्थासु ।

अप्सु आर्तो विष्टया स्तब्धः । **शारीरं** मूत्रपुरीषोत्सर्गम् । **सन्निषेव्य** ।

सचैलो यत्प्रावृतं वस्त्रं तेन सहितः । **बहिराप्लुत्य** निमज्ज्य ततो गामालभ्य स्पृष्ट्वा विशुध्यति ॥२०१॥

हिन्दी—मल-मूत्र त्याग करने के वेग से युक्त मनुष्य जलरहित हो (पास में जल नहीं ले) कर या जल में मल मूत्र का त्याग (पेशाब या टट्टी) करके वस्त्ररहित स्नान कर गाँव के बाहर में गौ का स्पर्शकर मनुष्य शुद्ध होता है ॥२०१॥

वेदोक्त कर्मादि के त्याग का प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।

स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०२॥

भाष्य—वेदोदितानां दर्शपौर्णमासादीनां श्रौतानां, स्मार्तानां च संध्योपासनादी-

नाम् । तान्यपि वेदोदितानि तन्मूलत्वात्स्मृतीनाम् । स्नातकव्रतानि ‘न जीर्णमलव-
द्वासा’ इत्यादीनि । तेषां लोप एकाहमुपवासः ।

श्रौतकर्मातिक्रमे या इष्टय उक्तास्ता अनेन समुच्चीयन्ते ॥२०२॥

हिन्दी—वेदोक्त कर्म (अग्निहोत्र आदि) का उल्लङ्घन होने (बीच में छूट जाने) पर
तथा ब्रह्मचर्य व्रत का लोप होने पर एक दिन उपवास करना चाहिये ॥२०२॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।

स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०३॥

भाष्य—सक्रोधाक्षेपे हुङ्कारेण हुङ्कुरुते ‘तूष्णीमास्व हुं का एवं वादीः’ इत्येव-
मादिष्वर्थक्रियासु तन्निषेधार्थं हुङ्कारकरणम् ।

ब्राह्मणस्य ज्येष्ठस्य समस्य कनीयसो वा शिष्यस्य पुत्रस्य वा ।

तथा गरीयसस्त्वंकारमुक्त्वा—‘त्वमेवमात्थ’, ‘त्वयेदं कृतम्’ । एकवचनान्त-
युष्मच्छब्दोच्चारणे प्रायश्चित्तमेतत् । प्रथमादिविभक्तिर्न विवक्षिता । तथा च समाचारो
गुरौ युष्मास्वित्यादिबहुवचनं प्रयोक्तव्यमिति ।

स्नात्वाऽनश्नन् प्रातर्भक्त्यागः । अभिवाद्य उपसंग्रहणं कृत्वा । प्रसादयेत्
क्रोधं त्याजयित्वा सायमश्नीयात् ॥२०३॥

हिन्दी—ब्राह्मण से ‘हूँ’ (थोड़ा क्रुद्ध होकर ‘चुप रहो’) ऐसा करने पर और विद्या
एवं आयु में बड़े लोगों को ‘तू’ कहने पर स्नान करके शेष दिन उपवास कर उन्हें प्रणाम
कर प्रसन्न करना चाहिए ॥२०३॥

ब्राह्मण को अपमानित करने का प्रायश्चित्त—

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा ।

विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

भाष्य—तृणेन पीडाकरेणापि ताडयित्वा प्रहत्य । वाससाऽपि कण्ठे मृदु-
स्पर्शेन बद्ध्वा । विवादे लौकिके कलहे विनिर्जित्य । प्रणिपत्य नम्रेण भूत्वा
प्रसादयितव्यः ।

वादजल्पयोस्तु नायं विधिः ॥२०४॥

हिन्दी—ब्राह्मण को तिनके से भी मारकर, उसके गले में कपड़ा (गमछा आदि,
घसीटने-आगे खैचने के लिए) डालकर और विवाद में जीतकर प्रणाम करके उस
(ब्राह्मण) को प्रसन्न करना चाहिए ॥२०४॥

ब्राह्मण को मारने के लिए उद्यत होने पर दोष—

अवगूर्य त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥२०५॥

भाष्य—अवगूरणप्रतिषेधोऽयम् । परिशिष्टोऽर्थवादः ।

जिघांसया हन्तुमिच्छया दण्डादिकमुद्यम्य ।

संवत्सरशतं नरकेष्वास्ते ।

अभिहत्य प्रहारं दत्त्वा । सहस्रं संवत्सराणाम् ।

जिघांसया, न परिहासतः ॥२०५॥

हिन्दी—ब्राह्मण को मारने के लिए डण्डा उठाकर सौ वर्ष तक डण्डे से मारकर सहस्र वर्षतक मनुष्य नरक में वास करता है ॥२०५॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।

तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके व्रजेत् ॥२०६॥

भाष्य—ब्राह्मणस्य रुधिरं दण्डादिप्रहारेण भूमौ पतितं यावत्पांसून् रजोवयवान् संगृह्णाति तावन्ति संवत्सरसहस्राणि तस्य जनयिता नरके व्रजेद्व्रजेत् ।

अयमप्यर्थवादः ॥२०६॥

हिन्दी—आहत (पीटे गये) ब्राह्मण के शरीर से गिरे हुए रक्त के द्वारा धूलि के जितने कण पिण्ड होते (साने जाते-गीले होते अर्थात् भींगते) हैं, वह रक्त बहानेवाला मनुष्य उतने सहस्र वर्षों तक नरक में निवास करता है ॥२०६॥

ब्राह्मण को गुरेरने का प्रायश्चित्त—

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥२०७॥

भाष्य—पूर्वस्य प्रायश्चित्तमेतत् ।

‘ब्राह्मणरुजः कृत्वेति’ शोणितोत्पादनादन्यत्रैतत् । यदि वा तेनेदं विकल्प्यते ॥२०७॥

हिन्दी—ब्राह्मण को मारने (पीटने) की इच्छा से डण्डा उठाकर कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२१०) व्रत, डण्डे से मारकर अतिकृच्छ्र (११।२१२) व्रत और मारने से उसका रक्त बहाकर कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र—दोनों = व्रत पापनिवृत्ति के लिए करना चाहिए ॥२०७॥

प्रायश्चित्त का विधान नहीं कहे गये दोषों पर—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥२०८॥

भाष्य—अनुक्ता निष्कृतयः प्रायश्चित्तानि येषां विकर्मणाम् । यथा चाण्डालादि-
प्रतिलोमवधे । तत्र कल्पयेत् ।

“ननु चात्राप्युक्तं ‘किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे’ इति” ।

अनस्थिसाहचर्यात्क्षुद्रजन्तुप्रायास्तत्रास्थिमन्तो गृह्यन्ते । महाकायानां तु नैष विधिः ।

“ननु चत्वारो वर्णा ‘नास्ति पञ्चम’ इति शूद्रप्रभेदा एव प्रतिलोमाः” । यदि नाम
पञ्चमो वर्णो न जातो नैतावता शूद्रैस्तैर्भविताव्यम् । तेषामपि लक्षणस्य नियतत्वात्
‘समानजात्यामूढायां जातः शूद्र’ इति वर्णसङ्करजाश्चैते । तस्मात् शूद्रहत्याप्रायश्चित्तम् ।
नापि ‘किञ्चिदेव तु विप्राय’ इत्यन्यस्तत्र कल्पनाया अनवसरः ।

शक्तिः प्रायश्चित्तिनस्तपसि । तथा किमयं तपसि समर्थ उत दाने ।

पापं च । हिंसाया विहितप्रायश्चित्तमेव । अभक्ष्यभक्षणे तदेव । अथ पापस्य गुरु-
लघुभावोऽपेक्षणीयः ।

“ननु च गुरुलघुभावः पापस्य कथं ज्ञायते? प्रायश्चित्तमहत्त्वादिति चेत् अनुक्त-
प्रायश्चित्तविषयेयं कल्पना” ।

सत्यम् । अर्थवादे दोषातिशयश्रवणाद्गुरुत्वात् । तथा बुद्धिपूर्वानुकृते च ।

किञ्च नेदमनुक्तनिष्कृतिविषयमेव प्रकल्पयेत्, उक्तेऽपि कल्पना कार्या ।

कुत एतत्?

दण्डप्रायश्चित्तयोस्तुल्यत्वात् । दण्डेन चोक्तानुक्तविषयमनुज्ञायते । किञ्चैतस्मिन्
व्यतिक्रमे गुरुलघूनामुपदेशात्तत्रावश्यंभावनीया कल्पना । अत उद्दिष्टानुद्दिष्टसर्वशेषो-
ऽयम् ॥२०८॥

हिन्दी—जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है (जैसे प्रतिलोमज का वध करने आदि
पर) उनसे उत्पन्न दोष को निवृत्ति के लिए शक्ति (शरीर, धन, सामर्थ्य आदि) और पाप
(ज्ञानपूर्वक, अज्ञानपूर्वक इत्यादि कारणों से पापों का गौरव-लाघव आदि) का विचार
कर प्रायश्चित्त की कल्पना (धर्मशास्त्रियों को) करनी चाहिए ॥१०८॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।

तान्योऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२०९॥

भाष्य—“ननु चोक्ता एवाभ्युपायाः इह चान्द्रायणं इह प्राजापत्यं इह द्वादश-
वार्षिकमिति” ।

सत्यम् । संज्ञामात्रेण निर्दिष्टाः । इह तु स्वरूपं सेतिकर्तव्यताकमुच्यते ।

उपाय एवाभ्युपायः ।

व्ययकर्षति अपमार्ष्टि ।

देवर्षीत्यादिः स्तुतिः ।

मानवग्रहणं सर्ववर्णार्थम् ॥२०९॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) मनुष्य जिन उपायों से पापों को नष्ट करता है; देव, ऋषि तथा पितरों से सेवित उन उपायों को (मैं) आप लोगों से कहूँगा ॥२०९॥

प्राजापत्य (कृच्छ्र) व्रत की विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।

त्र्यहं परं च नाशनीयात्प्राजापत्यं चरन्दिजः ॥२१०॥

भाष्य—यद्यप्यहर्मुखं 'प्रातः'स्तथापि पूर्वाह्नकालो लक्ष्यते । द्वितीयाह्नकालप्रतिषेधादस्य । प्रातःकालविधौ हि यदृच्छया भोजनं प्राप्तं निवर्तते । केवलमत्यर्थं हि 'यत्पूर्वाह्नेवा मध्यंदिने वा मनुष्याणामिति' अयाचितत्वात्प्राप्तमर्थित्वाद्भोजनम् । तदेव चेत्प्रातःकाले विधीयते तदा माध्यंदिनं निवर्तेत, न सायंतनम् । यद्य पुनर्यदेव पौरस्त्यं पूर्वाह्नमध्यंदिनकालयोर्विकल्पितयोः प्राप्तं भोजनं तदेव पुनरुच्यमानं कालान्तरनिवृत्त्यर्थं सम्पद्यते । व्रतत्वाच्चैतदेव युक्तम् । एकाहारता हि व्रतपरिगणनायां संख्यायते । तपश्चेदं तापयति दुःखयतीति । यदि च द्वितीयं भोजनं निवर्तते तत्र सायंतनं निवर्तेत ।

अन्ये तु 'हविष्यान् प्रातराशानिति' स्वल्पपरिमाणता भोजनस्य लक्ष्यत इत्याहुः । प्रातराशे हि स्वल्पं भुञ्जते । तच्छीलाः प्राकृतपुरुषाः । तथा सिद्धे पाके भोजनात् प्राकृतभोक्तेति व्यपदिशन्ति ।

सायमिति वाऽपरस्मिन् त्र्यहे ।

ततोऽनन्तरं त्र्यहो हविष्यं वैदिकं यावद्भुज्यते तावदनुज्ञायते । उक्तं च स्मृतिकारैः 'ईषत् भुक्त्वाऽर्थं संविशेत्' ।

अयाचितेऽपि हविष्यभोजनमेककालिकं च ।

स्वगृहेऽपि 'दीयतां मे भोजनमिति' यत् भृत्यादय आज्ञायन्ते तदपि 'याचितमेव' । प्रार्थनामात्रं याञ्चा, प्रेषणाध्येषणयोः साधारणम् । अतः स्वगृहेऽपि यद्भार्यादयोऽननुज्ञाता उपहरन्ति तथा भोक्तव्यं, न त्वन्यथेति ॥२१०॥

हिन्दी—प्राजापत्य व्रत करनेवाला द्विज पहले तीन दिन प्रातःकाल (मध्याह्न के पूर्व दिन^१ के भोजनकाल में), तीन दिन सायंकाल (सन्ध्या के बीतने पर रात्रि^२ के

१-२. तदुक्तं वसिष्ठेन—'त्र्यहं दिवा भुङ्क्ते नक्तमिति च त्र्यहं । त्र्यहमयाचितव्रतं त्र्यहं न भुङ्क्ते' इति आपस्तम्बोऽपि—

'.....त्र्यहं नक्ताशी दिवासी च ततस्त्र्यहम् ।

त्र्यहमयाचितव्रतस्यहं नाशनाति किञ्चन ॥' इति ।

भोजन काल में), तीन दिन माँगे (जो कुछ मिल जाय उसे ही) भोजन करे और तीन दिन उपवास करे ॥२१०॥

विमर्श—इस प्रकार बारह दिन में यह ‘प्राजापत्य कृच्छ्र’ व्रत पूर्ण होता है। इसमें विशेषता यह है, कि प्रातःकाल २६-२६ ग्रास, सांयकाल ३२-३२ ग्रास और अयाचित हविष्यान्न का २४-२४ ग्रास भोजन करना चाहिए। यहाँ मुर्गी के अण्डे के बराबर एक ग्रास का प्रमाण समझना चाहिए^१।

कृच्छ्रसान्तपन व्रत की विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सन्तपनं स्मृतम् ॥२११॥

भाष्य—गोमूत्रादीनां कुशोदकानां समाहारमाहुरेकस्मिन्नहनि । एकरात्रोपवासश्च । ततो द्व्यहं सांतपनम् ।

अन्ये तु प्रत्यहमेकैकं भक्षयितव्यं, संहतस्याश्रुतत्वात् । अतः सप्ताहानि ‘सांतपनम्’ ।

द्वावप्येतौ पक्षौ स्मृत्यन्तरे परिगृहीतौ ॥२११॥

हिन्दी—गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का जल, इनमें से प्रत्येक को १-१ दिन भोजन करे, इस प्रकार ६ दिन उन्हें भोजन कर सातवें दिन उपवास करे यह ‘कृच्छ्र सान्तपन’ व्रत कहा गया है ॥२११॥

अतिकृच्छ्र व्रत की विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।

त्र्यहं चोपवसेदंत्यमतिकृच्छ्रं चरन्दिजः ॥२१२॥

भाष्य—पूर्ववदिति प्राजापत्यविधिमतिदिशति ।

एष्वेव कालेष्वेकैकं ग्रासमश्नीयात् ॥२१२॥

१. ग्रासपरिमाणापेक्षायां पाराशरः—

‘सायं द्वात्रिंशतिग्रासाः प्रातः षड्विंशतिस्तथा ।

अयाचिते चतुर्विंशत्परं चानशनं स्मृतम् ॥

कुक्कुटाण्डप्रमाणञ्च यावांश्च प्रविशेन्मुखम् ।

एतं ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं ग्रासशोधनम् ॥

हविष्याञ्चात्रमश्नीयाद्यथा रात्रौ तथा दिवा ।

त्रींस्त्रीण्यहानि शास्त्रीयान् ग्रासान् सङ्ख्याकृतान् यथा ॥

अयाचितं तथैवाद्यादुपवासस्यहं भवेत् ।’ इति ।

हिन्दी—‘अतिकृच्छ्र’ व्रत को करनेवाला द्विज पूर्ववत् (११।२१०) तीन दिन प्रातःकाल तीन दिन सायंकाल तथा तीन दिन अयाचित (विना माँगे मिला हुआ) १-१ ग्रास भोजन कर और अन्त में तीन दिन उपवास करे ॥२१२॥

विमर्श—यह ‘अतिकृच्छ्र’ व्रत ‘प्राजापत्य (कृच्छ्र)’ व्रत के समान ही है, केवल ग्राससङ्ख्या उसकी अपेक्षा इसमें बहुत कम है ।

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि—

तप्तकृच्छ्र चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।

प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥२१३॥

[अपां पिबेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः ।

पयः विबेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः ॥२१४॥]

भाष्य—तेष्वेव कालेषु जलादीनि यावता नातितृप्तिर्भवति । क्वचित्परिमाणं पठ्यते ।

‘अपां पिबेत्तु त्रिपलं पलमेकं तु सर्पिषः । पयः पिबेत्तु द्विपलं त्रिपलं चोष्ण-मारुतम्’ ।

सकृत्स्नायीति त्रिरहः त्रिर्निशायामित्यस्यापवादः ॥२१३॥

हिन्दी—‘तप्तकृच्छ्र’ को करता हुआ ब्राह्मण (द्विज) तीन दिन गर्म जल, तीन दिन गर्म दूध, तीन दिन गर्म घी और अन्त में तीन दिन केवल गर्म वायु को पीकर रहे तथा एक बार प्रतिदिन स्नान करता रहे ॥२१३॥

विमर्श—इस ‘तप्तकृच्छ्र’ व्रत में ६ पल (२४ तोला) गर्म जल, ३ पल (१२ तोला) गर्म दूध और एक पल (४ तोला) गर्म घी पीना चाहिये ऐसा पाराशर^१ का मत है । किन्तु यह पाराशर मत अग्रिम क्षेपक (११।१०) वचन से कुछ विरुद्ध है ।

पराकृच्छ्र व्रत की विधि—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥२१४॥

भाष्य—यतात्मा संयतेन्द्रियो गीतादिशब्दश्रवणेष्वनभिलाषी ।

अप्रमत्तस्तत्परः । अर्थवादोऽयम् । सर्वकृच्छ्रेष्वस्य धर्मस्य विहितत्वात् ॥२१४॥

१. अत्र पाराशरोक्तो विशेषः—

‘षट्पलं पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् ।

पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥’ इति ।

हिन्दी—सावधान तथा जितेन्द्रिय होकर बारह दिन तक भोजन नहीं करना चाहिए ‘पराक’ नामक कृच्छ्रव्रत है, यह व्रत सब प्रकार के (क्षुद्र, मध्यम तथा महान्) पापों को नष्ट करनेवाला है ॥२१४॥

(पिपीलिकामध्य) चान्द्रायण व्रत की विधि—

एकैकं हासयेत्पिण्डं कृष्णो शुक्ले च वर्धयेत् ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१५॥

भाष्य—चतुर्दश्यामुपोष्य श्वोभूतायां पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासानशनीयात् । ग्रास-प्रमाणं चास्याधिकारेण ग्रासानुमन्त्रणे च ‘आप्यायस्व सन्ते पयांसीति’ (गौ० ५) स्मृत्यन्तरोक्तो विधिरपेक्षितव्यः एकशास्त्रत्वात्सर्वस्मृतीनामसति विरोधे समग्रं योज्यम् । विरोधे तु विकल्पः ।

प्रतिपदमारभ्यैकैकं ग्रासं दिवसे दिवसे हासयेत् । प्रतिपदि चतुर्दश द्वितीयायां त्रयोदशेत्यादि यावच्चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति । ततोऽमावस्यायामुपोष्य प्रतिपद्येकं ग्रासमशनीयात् । द्वितीयायां द्वावेवमेकैकं वर्धयेद्यावत्पौर्णमास्यां पञ्चदश भवन्ति ।

उपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् ।

त्रिषवणं प्रातर्मध्यंदिनापराह्णेषु । ‘त्रिर्निशायामिति’ निवर्तते विशेषविहितत्वात् ॥२१५॥

हिन्दी—त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ (पूर्णिमा को १५ ग्रास भोजनकर) कृष्णपक्ष में प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन घटाता जाय तथा शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन बढ़ाता जाय, यह चान्द्रायण (पिपीलिकामध्य चान्द्रायण) व्रत है ॥२१५॥

यवमध्य चान्द्रायण की विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।

शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥२१६॥

भाष्य—यवमध्यमेऽमावास्यायामुपोष्य प्रतिपद्येको ग्रासः । द्वितीयस्यां द्वौ यावत् पौर्णमास्यां पञ्चदश । पुनः प्रतिपदमारभ्य कृष्णपक्ष एकैकग्रासापचयो यावदमावास्या-मुपवासः ॥२१६॥

हिन्दी—यवमध्य चान्द्रायण व्रत को करता हुआ व्रती (त्रिकाल स्नान करता हुआ) शुक्लपक्ष को पहले तथा कृष्णपक्ष को बाद में करके इसी समस्त विधि (११।२१५) को करे ॥२१६॥

विमर्श—इसका आशय यह है कि अमावस्या के बाद शुक्लपक्ष में प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन बढ़ाता जाय और पूर्णिमा को १५ ग्रास भोजन करे तथा कृष्णपक्ष में १-१ ग्रास भोजन घटाता जाय, इस प्रकार अमावस्या को कुछ भी भोजन नहीं करे तथा अन्त में क्रमशः भोजन कम तथा मध्य में (पूर्णिमा को) अधिक होने से यव के समान दोनों छोर में सूक्ष्म तथा स्थूल—इस प्रकार अन्वर्थ 'यवमध्य' नामक चान्द्रायण व्रत है ।

यतिचान्द्रायण व्रत की विधि—

अष्टावष्टौ समश्रीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।

नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥२१७॥

भाष्य—प्रत्यहं मासमष्टौ ग्रासान् कृष्णपक्षाद्वाऽऽरभ्य शुक्लपक्षाद्वा यतिचान्द्रायणं भवति ।

मध्यंदिने स्थिते प्रवृत्ते । पूर्वाह्णापराह्णौ वर्जयित्वेत्यर्थः ।

शिष्टं प्रसिद्धम् ॥२१७॥

हिन्दी—'यतिचान्द्रायण' व्रत को करता हुआ संयतेन्द्रिय द्विज (शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष से आरम्भकर) एक मास तक प्रतिदिन मध्याह्नकाल में ८-८ ग्रास हविष्यान्न भोजन करे ॥२१७॥

शिशुचान्द्रायण व्रत की विधि—

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।

चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१८॥

भाष्य—अत्र प्रातःशब्दोऽस्तमयसाहचर्यात्सूर्योदयप्रत्यासन्नं कालं लक्षयति ।

अस्तमिते सूर्ये प्रदोष इत्यर्थः ॥२१८॥

हिन्दी—सावधानचित्त ब्राह्मण (द्विज) चार ग्रास प्रातःकाल तथा चार ग्रास सूर्यास्त होने पर एक मास तक प्रतिदिन भोजन करे तो यह 'शिशुचान्द्रायण' व्रत कहा गया है ॥२१८॥

यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।

मासेनाशनहविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥२१९॥

भाष्य—कस्मिंश्चिद्विषये चतुरो ग्रासान् कस्मिंश्चिद्द्वादश कस्मिंश्चित्त्राशनाति यथाकथञ्चित् त्रिंशद्रात्रौ प्रवृत्तिः । यदि कस्मिंश्चित् षोडश । अयं तु नियमः तिस्रोऽशीती-मासेनेति द्वे शते चत्वारिंशदधिके ।

चन्द्रलोकं प्राप्नोति ॥२१९॥

हिन्दी—सावधानचित्त द्विज (नीवारादि) हविष्यान्न के तीन अस्सी अर्थात् दो सौ चालिस ग्रासों की एक मास में जिस किसी प्रकार (कभी १०, कभी ५ तो कभी १४ ग्रास खाकर और कभी उपवास कर एक मास में कुल २४० ग्रास) भोजन कर चन्द्रलोक को प्राप्त करता है ॥२१९॥

चान्द्रायण व्रत का महत्त्व—

एतद्बुद्धास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।

सर्वाकुशस्त्रमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥२२०॥

भाष्य—एतच्चांद्रायणं व्रतं सर्वे देवाः समाचरेः, सर्वेषामकुशलानां विमोक्षाय । सर्वप्रायश्चित्तं सर्वप्रायश्चित्तम् (गौ० १९।२०) ।

अत्रेदं संदिह्यते । यदेतत्सर्वप्रायश्चित्तवचनं किं तन्नेण सर्वेषां शोधनमुत योग-सिद्धिन्यायेन प्रतिनिमित्तमावर्तत इति ।

उच्यते । यद्यप्येतन्न्याय्यं निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकावृत्तिरिति तथापीदमनाम्नातप्रति-पदप्रायश्चित्तनिमित्तेष्वसंविदितेषु कृतसम्भावनायामान्नायते । तत्र येषां तावत्सम्भावना-मात्रेण शुद्धिः क्रियते, यथा ‘संवत्सरस्यैकमपीति’, तत्र निमित्तस्यानिश्चितत्वादुपपत्तेः कुत आवृत्तिसम्भवः । तथा सुप्तस्य परिवर्तनैः शय्यागतसूक्ष्मप्राणिवधस्तथा नगरस्य रथ्यासु भ्राम्यतः परस्त्रीमुखसंदर्शनमा गृहप्राप्तेरसकृत सम्भवति । तादृशग्विषये तन्त्रभाव एव युक्तः । दर्शितं चैतत् ‘अस्थन्वताम्’ इत्यादौ समुदायवध एकं प्रायश्चित्तमिति । यानि च गरीयांसि पापानि तत्र सर्वत्र प्रायश्चित्तान्याम्नातानि । इदं च यथाप्रदर्शित एव विषये भवितुमर्हति । महत्त्वाच्च नानावृत्तौ न्याय्यम् । तस्मात् संशितेष्वपि कथञ्चित्प्राय-श्चित्तेषु न निमित्तान्तरोत्पत्तौ युक्त एव तन्त्रभावः । तथा च तन्त्रधर्म एव न्याय्य इति दर्शयति ‘यद्विवा च नक्तं चैनश्च कृम तस्याऽवयजनमसि स्वाहा । यत्स्वपंतश्च जाग्रत-श्चैनश्च कृम तस्याऽवयजनमसि स्वाहा । यद्विद्वांस इत्यादि’ । यदिति च वीप्सायां युगपदशेषपापवर्जनमत्र वदन्ति ॥२२०॥

हिन्दी—इस चान्द्रायण व्रत को रुद्र, सूर्य, वसु, वायु तथा महर्षियों ने सब पापों के नाश के लिए किया था ॥२२०॥

उपर्युक्त व्रतों में सामान्यतः कर्तव्य कर्म—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।

अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२१॥

भाष्य—सर्वेष्वेतेष्वितिकर्तव्यतेयमुच्यते ।

सर्वहोमेष्वज्यद्रव्यमनुपात्ते द्रव्यविशेषे दर्शितम् ।

स्वयंग्रहणात्परकर्तृकता निवर्तेत ।

किंपुनरयं होमो लौकिकेऽग्नावनावसथ्यस्य भवति नेति विचार्यते ।

इदमेव तावद्विचार्यं कुताऽग्नौ होमः । प्रक्षेपावधिकस्त्यागो जुहोतेरर्थः । तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चिदाधारे प्रक्षेपणे सिध्यत्येव 'होमः' । ततश्च स्थले जले वाऽग्नौ वा क्रियतां होमो गृह्याग्निमतस्तु न लौकिकेऽग्नौ होमः । ग्राम्याग्नौ तस्य तद्धोमप्रतिषेधात् । समाचारादग्निसिद्धिरिति चेत्समाचार एव तर्ह्यन्विष्यताम् ।

गृह्यकारैस्तत्प्रणीताग्न्यधिकारैः कृच्छ्रविधिषु होम आम्नातः । तद्दर्शनेनानावसथ्यस्य प्रायश्चित्ते नाहोमकाः कृच्छ्राः । अभ्युदयार्थिनस्तु नैवानग्निकस्य सन्ति, सर्वाङ्गोपसंहारेण फलसिद्धेः ।

अहिंसा । शिष्यभृत्याद्यपि ताड्यं न ताडनीयम् ।

सत्यं नर्मणाऽपि नानृतम् ।

यदि वा पुरुषार्थतया प्राप्तयोरङ्गत्वाय विधानम् ।

आर्जवमक्रूरता ॥२२१॥

हिन्दी—द्विज महाव्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) से प्रतिदिन घृत से स्वयं हवन करे तथा अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधत्याग और सरलता का आचरण करे ॥२२१॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।

स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥२२२॥

भाष्य—त्रिरह इति 'सवनेष्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनमिति' (२६।१०) गौतमः । निशायामपि त्रिषु यामेषु महानिशां वर्जयित्वा तदवधि न हि अस्ति स्नानकालः ।

यदेव वासोयुगमाच्छादनार्थमौचित्यप्राप्तं तेनैव सह **जलं** प्रविशेत् । **आविशे-**दिति नोद्धतोदकेनेत्यर्थः ।

स्त्रियो ब्राह्मणीरपि **नाभिभाषेत**, अन्यत्र मातृज्येष्ठभगिन्यादिभ्यः । भार्यया सह कर्मोपयोगी संलापो न निषिध्यते । अन्यस्तु न कर्तव्य एव ॥२२२॥

हिन्दी—पिपीलिकामध्य (११।२१५) तथा यवमध्य (११।२१६) नामक चान्द्रायण व्रत को करता हुआ दिन तथा रात्रि में तीन-तीन बार सवस्त्र स्नान करे तथा व्रत पूर्ण होने तक स्त्री, शूद्र तथा पतितों के साथ कभी बातचीत न करे ॥२२२॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽथः शयीत वा ।

ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२३॥

भाष्य—उत्थित आसीन उपविष्टोऽथवा । न क्वचिन्निषीदेत् । अशक्तावधः शयीत, न पर्यङ्के ।

ब्रह्मचारी मैथुननिवृत्तः ।

व्रती शिष्टप्रतिषिद्धेषु नियमं गृह्णीयादिदं मया न कर्तव्यमिति ।

गुर्वादीनामर्चा प्रणतेन स्नगनुलेपनाद्युपहर्तव्यम् ॥२२३॥

हिन्दी—और रात तथा दिन में खड़ा रहे, टहलता रहे या बैठे (किन्तु सोवे (लेटे) नहीं) अथवा इतनी शक्ति नहीं रहने पर भूमि पर सोवे, ब्रह्मचारी तथा व्रती रहे और गुरु, देव तथा ब्राह्मणों की पूजा (आदर-सत्कार) करे ॥२२३॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तिः ।

सर्वेष्वेव व्रतेष्वेव प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥२२४॥

भाष्य—सावित्री “तत्सवितुरिति” गायत्री । सवितृदेवत्वाज्जपचोदनासु सावित्री-शब्देन तस्याः सर्वत्राधिकारः ।

पवित्राण्यधमर्षणपावमानीपुरुषसूक्तादीनि शुक्रियाध्यायाजनरौहिणेयादीनि सामानि ।

सर्वेषु रार्वकृच्छ्रेषु ।

आदृतो यत्नवान् ।

सर्वेष्वित्यादिश्लोकपूरणस्तथाविधस्यैवाधिकारात् ॥२२४॥

हिन्दी—सावित्री तथा पवित्र (अधमर्षण आदि) मन्त्रों का सर्वदा जप करे । इस (११।२२१-२२३) विधि को चान्द्रायण व्रत के समान अन्य (प्राजापत्य आदि) व्रतों में भी यत्नपूर्वक करे ॥२२४॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैः ।

अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२५॥

भाष्य—आविष्कृतं प्रकाशं लोकविदितमेनः पापं येषाम् । एतैः कृच्छ्रैः शोध्याः ।

ये तु रहस्यपापास्तेषां न कृच्छ्रतपांसि । किंतिर्हि? मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ।

रहस्येषु नास्ति परिषद्गमनमाविष्कृतं न स्यात् । विदुषां हि तत्राधिकारः । उच्यते । न प्रायश्चित्तमनागतं शोधयेदित्युच्यते, अपि तु शास्त्रव्याख्यानकाले शिष्याणामुपदेशादिदं रहस्येषु शोधनं बोद्धव्यमिति ॥२२५॥

हिन्दी—सर्वविदित पापवाले द्विजातियों को इन पूर्वोक्त (११।२१०-२२४) प्रायश्चित्तों के द्वारा आगे वक्ष्यमाण परिषद् अर्थात् विद्वत्समिति शुद्धि करे तथा जनता में अविदित पापवाले द्विजातियों को मन्त्रों के जप तथा हवनों के द्वारा शुद्ध करे ॥२२५॥

पाप कहने आदि से पापनिवृत्ति—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥२२६॥

भाष्य—विप्राणां विदितेऽन्येषामप्ये‘वंकर्माऽस्मीति’ प्रकाशयेत् एतत्ख्यापनम् ।

अनुतापः । तस्मात्तापौ वैमनस्यम्—‘धिङ्मां महदकार्यमकरवमनर्थो मे दुष्कृत-
कारिणो जन्मे’त्येवमादिः चित्तपरिखेदः ।

अध्ययनं सावित्र्या जपो वेदपाठो वाहिंसायाम् । अन्यत्र ।

असमर्थस्य तपसि दानम् । एतदाह दानेन चापदीति । प्रक्रांततपसः आपदि
पीडायामनिग्रहणे दानम् ॥२२६॥

हिन्दी—अपने पाप को सर्वसाधारण में कहने से, पश्चात्ताप (‘ऐसे कुकर्म में
प्रवृत्त होनेवाले मुझ पापी को बार-बार धिक्कार है’ इत्यादि प्रकार से निरन्तर पछतावा)
करने से, कठिन तपश्चरण से, (वेद आदि के) अध्ययन (पाठ, जप आदि) से और
(इन सब कार्यों की शक्ति नहीं रहने पर) दान करने से पापी मनुष्य पाप से छूट
जाता है ॥२२६॥

विमर्श—प्राजापत्य व्रत (११।२१०) का आचरण कर पापयुक्त होने की शक्ति
नहीं रहने पर ‘त्रिपुराणीय या ‘पञ्चपुराणीय’ एक गौ को दान करने का शास्त्रीय विधान
है । इस प्रकार ब्रह्महत्या करनेवाले मनुष्य को पूर्व प्रायश्चित्त विधान (११।६९) के
अनुसार १२ वर्ष तक व्रत नियम पालन करने की शक्ति नहीं रहे तो वह ३६०
गौओं का दान करे; क्योंकि (१ वर्ष = ३६० दिन, इसलिए १२ वर्ष ३६० × १२ =
४३२० दिन, और १२ दिन में एक प्राजापत्यव्रत की पूर्ति, इसलिए ४३२० दिन में
(४३२० ÷ १२ = ३६०) ३६० प्राजापत्यव्रत हुए । अतः प्रति प्राजापत्य व्रत के लिए
१ गौ के दान करने का विधान होने से ब्रह्महत्या करनेवाले को ३६० गौओं का दान
करने का विधान कहा गया है । पापाधिक्य के कारण प्रायश्चित्त के बढ़ने पर गोदान संख्या
में भी वृद्धि होगी ।

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२७॥

भाष्य—ख्यापनविधेरर्थवादः ।

नरोऽधर्ममिति नजः प्रश्लेषः । धर्मस्य स्वयं ख्यापनं निषिद्धम्, ‘न गुणाः स्वयं
वाच्या’ इति । प्रकृतश्चाधर्म एव तेनाधर्मेणेति श्रूयत एव ॥२२७॥

हिन्दी—पापी मनुष्य पाप करके जैसे-जैसे अपने पाप को लोगों से कहता है,

वैसे-वैसे काँचली साँप के समान वह मनुष्य उस पाप से छूटता (अलग होता) जाता है ॥२२७॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।

तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥

भाष्य—शरीरमन्तरात्मैव, न भूतात्मा पुण्यपापयोस्तदाश्रयात् । उपचारिद्धि
आत्मनः शरीरशब्दोऽयं द्रष्टव्यः । अनुतापार्थवादोऽयम् ।

गर्हा ख्याता ॥२२८॥

हिन्दी—और उस पापी का मन जैसे-जैसे दूषित कर्म की निन्दा करता है, वैसे-
वैसे उस पापी का शरीर उस पाप से छूटता जाता है ॥२२८॥

पापानुताप से पापनिवृत्ति—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।

नैवं कुर्या पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२२९॥

भाष्य—निवृत्तिपर्यन्तमित्याहुस्तदयुक्तम् । संतापो मनःपरिखेदः, ‘प्रमाद्यैतन्मया
कृतमि’त्येवंरूपः । निवृत्तिस्तु सङ्कल्पो ‘न कर्तव्यः पुनरिति’ । क्रियाभेदं च दर्शयति ।
कृत्वाप्रत्ययेन ‘सन्तप्य निवृत्ये’ति ।

अतः प्रायश्चित्तवत्ख्यापनानुतापनिवृत्तयः प्रायश्चित्तिना कर्तव्याः ।

पूयते सिद्धिमाप्नोति ॥२२९॥

हिन्दी—पापी मनुष्य पाप कर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पाप
से छूट जाता है तथा ‘फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूँगा’ इस प्रकार सङ्कल्परूप
से उसका त्यागकर वह पवित्र हो जाता है ॥२२९॥

शुभ कर्म करने का उपदेश—

एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।

मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥२३०॥

भाष्य—एवमिति कृत्स्नस्य विधिनिषेधसमूहस्य प्रत्यवमर्शः ।

प्रेत्य कर्मफलोदयं ‘शुभस्य कर्मणः स्वर्गादिफलावाप्तिरशुभस्य नरकोपप-
त्तिरकृते प्रायश्चित्ते प्रायश्चित्तं चातिदुःखरूपम्’ । एतन्मनसि सञ्चिन्त्य शुभं कर्म समा-
चरेत् ।

विहितं ‘शुभम्’ । तथा ‘सङ्कल्पमूलः कामो वै’क्यार्था नियता इति च । तस्माद्य-
द्यपि ‘न हिंस्यादि’त्युद्यमननिपातने न दण्डादेः परदुःखोत्पादने उच्येते, तथाऽप्येव-
मनु ॥ ४४

मादिशास्त्रपर्यालोचनयाऽध्यवसायादिनिषेधः ।

एवमभक्ष्यभक्षणादावपि द्रष्टव्यम् । यद्यपि 'भक्षण'मन्नादिनिगरणपर्यन्तं तथापि मानसोऽध्यवसायो निषिद्ध एव ।

एवमगम्यागमनेऽपि । यद्यपि हीन्द्रियसमापत्तिर्गमनं तथापि तदर्थऽध्यवसायो व्यापार एवमादिशास्त्रान्तरैर्निषिध्यते ।

“यद्येवं हननभक्षणागम्यागमनेषु यत्प्रायश्चित्तं तदध्यवसायेऽपि प्राप्नोति” ।

नैष दोषः । ब्राह्मणवधे तावदिष्टमेव 'अहत्वाऽपी'ति वचनात् । अन्यत्र तु मुख्य-स्यैव शब्दार्थस्य परिग्रहो न्याय्यः । प्रतिषेधे तूक्ताशास्त्रपर्यालोचनया स मनोव्यापारात्प्रभृतिकायव्यापारपर्यन्तविषयोऽवतिष्ठते ।

“यद्येवं 'निन्दितं समाचरन्निति' प्रायश्चित्तनिमित्तोपदेशात्प्रतिषेधानुसारिप्रायश्चित्तं प्राप्नोति” ।

क एवमाह नास्ति प्रायश्चित्तमिति । किञ्च तच्छब्दचोदितान्न भवत्यन्यस्य लघु कल्प्यम् । तथा च सर्वप्रायश्चित्तानामेवमादिरपि विषयो न्याय्यः ।

कुतः पुनरयं विशेषो लभ्यते ।

प्रतिषेधाध्यवसायादिति । प्रायश्चित्तानि तु शब्दार्थेष्वेव । व्रतनियमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजा इति । अनेन विधिप्रतिषेधावेवोच्येते । 'व्रतानि' विधिरूपाणि, 'नियमाः' प्रतिषेधलक्षणास्तत्रैव च कृतार्थत्वात्रैमित्तिकेषु यावत्प्रवर्तितुमर्हन्ति । अस्ति च प्रतिषेधसामान्यनिमित्तमतो भवति प्रायश्चित्तम् । न च तदेव । 'परद्रव्येष्वभिध्यानमिति' चात्रैवान्ते दर्शयिष्यामः ॥२३०॥

हिन्दी—मनुष्य इस प्रकार मन से शुभ तथा अशुभ कर्मों को परलोक में (क्रमशः) इष्ट तथा अनिष्ट (भला बुरा) फल देनेवाला विचारकर मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा अच्छे कर्मों को करे ॥२३०॥

पापकर्म की निन्दा—

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।

तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्द्वितीयं न समाचरेत् ॥२३१॥

भाष्य—कृतप्रायश्चित्तस्यापि पुनरकार्यप्रवृत्तावधिकतरं प्रायश्चित्तमिति एवमर्थं द्वितीयं न समाचरेदिति ।

अथवा निवृत्तेरनन्तरोपदिष्टाया अर्थवादो द्वितीयं न समाचरितव्यमिति । व्रतं न हातव्यम् ।

तस्मादाद्यकृतादव्यतिक्रमाद्विमुक्तिमिच्छन् मोक्षमिच्छन् पुनर्न कुर्यात् । अतश्चै-
तदुक्तं भवति । कृतेऽपि प्रायश्चित्ते न विमुच्यते, यदि पुनः समाचरति । न च निष्कृतौ
कृतायामकृतायामपि मोक्षो युक्तोऽतो मुक्तस्य मुक्तिान्विच्छन्निति नोपपद्यते । तस्मादा-
धिक्याय पुनर्वचनम् ॥२३१॥

हिन्दी—ज्ञान या अज्ञान से पाप कर्म करने पर उससे मुक्ति (छुटकारा) चाहता
हुआ मनुष्य फिर दुबारा उस निन्दित कर्म को मत करो, अन्यथा दुबारा पाप करने पर
उसका प्रायश्चित्त भी दुगुना करना पड़ता है ॥२३१॥

मन को प्रसन्न होने तक प्रायश्चित्त करना—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।

तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥२३२॥

भाष्य—असत्यां चित्तशुद्धौ विहितातिरेककरणार्थमिदम् ।

दुष्कृते कर्मण्यलाघवं कापि विचिकित्सा यदि भवति । ततः कृतेऽपि प्रायश्चित्ते
आ मनः प्रसादोत्पत्तेरावर्तयितव्यम् ।

तपोग्रहणं दानादीनामपि यथाविहितदर्शनार्थम् ॥२३२॥

हिन्दी—पापी मनुष्य का मन जिस प्रायश्चित्त को करने पर हल्का (सुप्रसन्न
‘इतना व्रत नियमादि प्रायश्चित्त करने से मेरा पाप अवश्य दूर हो गया होगा’ इस प्रकार
दृढ़ आत्म-विश्वास) न हो, तब तक वह व्रत नियम आदि तप का आचरण करता
रहे ॥२३२॥

तप की प्रशंसा—

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।

तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोन्तं वेददर्शिभिः ॥२३३॥

भाष्य—मनुष्यलोके यत्सुखमाभिमानीकं जनपदैश्वर्यादि यच्चैहिकमरोगित्वादि
यच्च सांसर्गिकं धनपुत्रादि सम्पत् यथाभिमतकांतादिविषयोपभोगलक्षमैन्द्रियकं यच्च
वेदेषु (ब्रह्मवल्त्यां ८।२) ‘मनुष्याणां शतमानन्दाः स एक आजानदेवेषु’ इत्यादि तस्य
सर्वस्य तपोमूलं उत्पत्तिकारणम् । तपोमध्यमुत्पन्नस्य स्थितिर्मध्यावस्था । अन्तोऽ-
वसानम् । तदपेक्षयेति वेदविदां दर्शनम् । यथैव कर्माणि स्वर्गग्रामाद्यभिप्रेतफलसाध-
नान्येवं तपो विज्ञेयम् ॥२३३॥

१. अतएव देवलः—

‘विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् ।’ इति ।

हिन्दी—देवों तथा मनुष्यों के सुख की जड़ तप ही है, वह सुख तप से ही स्थिर रहता है और उस सुख का अन्तिम लक्ष्य तप ही है; ऐसा वेद (मन्त्रों) के द्रष्टा महर्षियों का कथन है ॥२३३॥

वर्णक्रम से तप—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥२३४॥

भाष्य—नैवं मन्तव्यं “तपसि सामर्थ्यात्तपसा सर्वफलसिद्धीरवाप्स्यामि, विध्यति-शययोगाच्च विहिताकरणेऽपि, न द्रव्येण कथं मेऽनुष्ठेयो धर्म इति” यतो **ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्** । ज्ञानं वेदार्थावबोधः । तस्मिन्नसति न तत्फलसाधनम् । अतो ज्ञानमेव ‘तप’ उच्यते ।

महतीष्वापत्तिषु । तेन स्वधर्मो न हातव्य इत्येवमर्थोऽयं श्लोकः ।

ज्ञानग्रहणं स्वाध्यायग्रहणाध्ययनात्प्रभृति सर्वस्वधर्माणां प्रदर्शनार्थम् ।

एवं तपः क्षत्रियस्येति ।

शूद्रस्य सेवनं द्विजातीनामिति शेषः । तत्सेवाया विहितत्वात्, अस्य चानुवाद-त्वात् ॥२३४॥

हिन्दी—ब्राह्मण का तप ज्ञान (ब्रह्मचर्य रूप वेदान्तज्ञान), क्षत्रिय का तप प्रजा तथा आर्त का रक्षण, वैश्य का तप वार्ता (खेती, व्यापार और पशुपालनादि) और शूद्र का तप ब्राह्मण की सेवा करना है ॥२३४॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।

तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥२३५॥

भाष्य—अतीन्द्रियज्ञानातिशयासादनमपि मुनीनां तपोबलेनैवेत्यर्थः ।

वाङ्मनःकायनियमात् **संयतात्मानः** ।

फलमूलेत्याहारनियमः ।

ईदृशेन तपसा त्रैलोक्यं प्रत्यक्षवत्पश्यन्ति ॥२३५॥

हिन्दी—(काय, वचन और मन से) संयम रखनेवाले तथा फल-मूल एवं वायु का भक्षण करनेवाले महर्षि लोग तप से ही चराचरसहित त्रैलोक्य देखते हैं ॥२३५॥

औषधान्यगदा विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।

तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३६॥

भाष्य—औषधानि रसायनानि । अगदा व्याध्युपशमभेषजानि । विद्या भूत-

विशेषादिविषया । **दैवी स्थितिरणिमादिशक्तियोगोऽनेकप्रकारः ॥२३६॥**

हिन्दी—औषध, नीरोगता, (वेदादि ज्ञानरूप) विद्या, देवों की (स्वर्ग आदि) अनेक लोकों में स्थिति, ये सब तप से ही प्राप्त होते हैं, अतएव तप ही इनकी प्राप्ति का कारण है ॥२३६॥

यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम् ।

सर्वन्तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३७॥

भाष्य—दुःखेन यतीर्यते तदुस्तरम् । व्याधिनिमित्ता महत्यापत् । अतिबलेन शत्रुणा यदुपरोधः । एतदपि तपस्विनां सुसाध्यम् ।

कृच्छ्रेण यत्प्राप्यते तदुरापमाकाशगमनादि ।

दुर्गं मेघपृष्ठारोहणादि ।

दुष्करमभिशापवरदानादि, अन्यथा त्वकरणम् । यथा संवर्तस्यान्यदेवतासृष्टिः ।

सर्वमेव तपसा सिध्यति ।

श्लोकत्रयेण संयोगपृथक्त्वादभ्युदयार्थता कृच्छ्राणामुच्यते ।

“ननु च प्रायश्चित्तानां प्रकृतत्वात्कृच्छ्रस्तुतिस्तच्छेषतयैव न्याय्या, नाभ्युदयार्थिनो विधेयतया । न च दुस्तरादयोऽर्थवादतया न सम्भवन्ति । एवंविधाः महान्तः कृच्छ्रा यदुस्तरमपि समुद्रादि तीर्यते । किं पुनः पापं नापनोत्स्यते” ।

उच्यते । गृह्यस्मृतिषु सामविधौ चाननुक्रम्यैव प्रायश्चित्तानि कृच्छ्रविधिः समाप्तातः । तत्र चानारभ्याधीतत्वाद्युक्तैव अभ्युदयार्थता । आह च (गौतमसू० अ० २६।२४) ‘अथैतान् कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवतीति’ । वेदेषु स्नात इत्यनेन नियमपूर्वकं वेदाध्ययनानुष्ठानाद्यत्फलं तत्सिद्धमाह । यस्तु निष्फलो ग्रहणार्थोऽध्ययनविधिः स एकवेदाध्ययनेनात्रापि सम्पद्यते । एवमनेकवेदाध्ययनं तु धर्मार्थैवेत्युक्तम् । देवैर्ज्ञात इत्यनेनाशेषयागफलावाप्तिमाह । यजमानो हि वेदोर्ज्ञायते’ । यो ह्यर्थवादतया सम्भवति, न प्रायश्चित्तैर्दानभावं गच्छद्भिः । इहापि स्वधर्मनिवृत्तिमाशङ्कमानेन ‘ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्’ इति यदुक्तं तदभ्युदयार्थत्वे सम्भवति । न प्रायश्चित्तानि पापप्रमोचनार्थानि काम्यानि फलसाधनानि, तत्र भिन्नविषयत्वात्कुतः प्रायश्चित्तैर्निवृत्तिराशङ्क्यते । अभ्युदयार्थत्वे तु कृच्छ्राणामन्येषां च कर्मणां तुल्यत्वाद्युक्ता निवृत्त्याशङ्का । तथा ‘महापातकिनश्चेति’ पापप्रमोचनार्थतापि चोद्यते ‘यदुस्तरमि’त्यादिना अभ्युदयार्थतेति भिन्ने एव ते वाक्ये । तेन च प्रकरणस्य बाधो युक्त एव । तथा च द्वैपायनमुनिप्रभृतयस्तपःप्रभावादबुद्धीर्विचित्रास्ता वक्ष्यन्ते’ । तस्मात्सर्वफलानि तपांसि । न च यथा सर्वार्थान्यपि वैदिकानि कर्माणि नियतफलानि ‘सर्वेभ्योदर्शपूर्णमासौ सर्वेभ्यो

ज्योतिष्टोम' इत्यधिकारात्तत्र सर्वत्र यान्येव वेदे स्वर्गादीनि फलानि श्रुतानि तदपेक्ष-
यैव सर्वार्थता न तु ऋद्धयतिशयातिभोगेनैवमिति, किं तर्हि, 'यदुस्तरमि'त्यादि यथा
निदर्शितम् ॥२३७॥

हिन्दी—जो दुस्तर (कठिनता से पार होने योग्य ग्रहबाधा आदि हैं), जो दुर्लभ
(कठिनता से प्राप्त होने योग्य-यथा क्षत्रिय होकर भी विश्वामित्र का ब्राह्मण होना आदि)
है, जो दुर्गम (कठिनता से चलने योग्य सुमेरु-शिखर आदि) है, जो दुष्कर (कठिनता
से करने योग्य गौ, भूमि, धन आदि का अपरमित मात्रा में दान करना आदि) है, वह
तप से सिद्ध हो सकता है; क्योंकि तप उलङ्घन के योग्य नहीं होता है ॥२३७॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।

तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥२३८॥

भाष्य—उक्तार्थमेतत् ॥२३८॥

हिन्दी—इस कारण (११।२३३-२३७) महापातकी (ब्रह्महत्या आदि करनेवाले—
११।५३) तथा शेष अकार्यकारी (गोहत्या आदि उपपातक करनेवाले—११।५८-६५)
अच्छी तरह किये गये तप के द्वारा ही पाप से छूट जाते हैं ॥२३८॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।

स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥२३९॥

भाष्य—तपःस्तुतिरियम् । येन तपसा सर्वत्र गमनात्सर्वे स्वर्गमासत इति ।
यथाऽनधिकृता अपि कीटादयस्तपोबलादिवं गच्छन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः ।
आलम्बनं कीटादीनां जातिसहजं दुःखं तदेव तपः । तेन च क्षीणकल्मषाधि-
कारिजन्मान्तरकृतेन सुकृतेन दिवं यान्ति ॥२३९॥

हिन्दी—कीट (क्षुद्र जीव), सर्प, पतङ्ग (फुनङ्गे—उड़नेवाले फतिङ्गे), पशु, पक्षी
तथा सम्पूर्ण चराचर (वृक्ष, लता, गुल्म आदि) जीव तप के बल से ही स्वर्ग को
जाते हैं ॥२३९॥

विमर्श—इतिहास-पुराणादि में कबूतरी तथ कबूतर की कथा है कि अतिथि-
सत्कारार्थ अग्निप्रवेश से वे स्वर्ग को प्राप्त किये तथा नहुष, नृग आदि कीट योनि पाकर
पूर्वजन्मकृत तप से अन्त में स्वर्ग को गये ।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मभिर्जनाः ।

तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥२४०॥

भाष्य—वाङ्मनःकायकृतस्य जपहोमाभ्यां शुद्धिः स्मर्यते । तत्र तपसा निवृत्तिः
स्यात् । अत इदमारभ्यते तदपि तपसानूद्यते ॥२४०॥

हिन्दी—मनुष्य मन, वचन तथा काय से जो कुछ पाप करता है, उन सब पापों को वे तपस्वी लोग तप से ही भस्म कर देते हैं ॥२४०॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।

इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४१॥

भाष्य—काम्यकर्मारम्भे पूर्वं तपः कर्तव्यम् । तदपि तावदनूद्यते । तथा चोक्तं ‘प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति’ । यत्र तावद्दोक्षोपनयनाद्यङ्गं तत्र तदेव ‘तपः’ । एकस्तपो व्रतमुपैत्यसङ्गतानां विहितं चेति ‘तप’ एव । यत्रापि शान्तिकपौष्टिकादौ गृह्यादिविषये तत्रापि पूर्वं तपः कर्तव्यमिति श्लोकार्थः ।

ब्राह्मणग्रहणं यागाधिकृतकामिमात्रप्रदर्शनार्थम् । उक्तं च—

‘नातप्ततपसः पुंसो हविर्गृह्णन्ति देवताः ।

नागृहीतहविष्यस्य कामः सम्पद्यते क्वचित्’ ॥

यद्यपि न देवता तत्फलं ददाति तथापि यागस्य देवतया विनाऽनिष्पत्तेर्देवताः संवर्धयन्तीत्युच्यते । हविर्गृहीतृत्वं च न पुनर्देवतानां स्वीकारः, किं तर्हि? सम्प्रदान-तयोद्देशेऽनिराकरणम् ॥२४१॥

हिन्दी—तप से ही अन्यत्न शुद्ध ब्राह्मण के यज्ञ में देवता लोग हविष्य को लेते और उनके मरोरथ को पूर्ण करते हैं ॥२४१॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।

तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥२४२॥

भाष्य—मनोर्येयं प्रतिष्ठा ग्रन्थस्य सा तपस्सामर्थ्यजैव । अन्योऽपि यो ग्रन्थ-प्रतिष्ठाकामस्तेनापि तपःपूर्वं कृत्वा ग्रन्थः प्रणेतव्यः । ऋषीणामपि यत्तादृक्त्वं वेदाः प्रादुर्भवन्ति तत्तपसैव ॥२४२॥

हिन्दी—तप से ही (सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि, पालन तथा नाश करने में) समर्थ ब्रह्मा ने इस शास्त्र को बनाया तथा तप से (वसिष्ठ आदि) ऋषियों ने (मन्त्र तथा ब्राह्मण रूप) वेद को प्राप्त किया ॥२४२॥

यदेतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।

सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुद्भवम् ॥२४३॥

भाष्य—तपस्तुत्युपसंहारः ।

यदेतत्तपसो महाभाग्यं महाफलत्वमुक्तं तद्देवाः प्रचक्षते, न केवलं मनुष्या एव ।

सर्वस्यास्येति जगन्निदर्शयति । कृत्स्नस्य जगतः पुण्यमुद्भवं शुभजन्म तपसः सकाशात्पश्यन्तः ॥२४३॥

हिन्दी—इन समस्त प्राणियों के दुर्लभ एवं पुण्यमय जन्म को प्राप्त होता हुआ देखकर देवता लोग तप के बड़े भारी माहात्म्य को कहते हैं ॥२४३॥

तप का लक्षण—

[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् ।

अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥१३॥]

[हिन्दी—ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध तथा स्वल्प भोजन; राग, द्वेष तथा लोभ का त्याग; इनको ब्रह्मा ने तप कहा है ॥१३॥]

वेदाभ्यासादि से महापातकादि का नाश—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रियाक्षमा ।

नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥२४४॥

भाष्य—वेदाभ्यासादीनां नित्यानां कर्मणां पापप्रणोदनार्थताऽधिकारान्तरत्वेनोच्यते । अनिर्दिष्टप्रायश्चित्तानामप्रत्ययकृतानां प्रतिभूतानां चैतद्विज्ञायते ।

अन्ये त्वाहुर्देवोक्तं 'ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्' इति तपोविधानेन कर्मान्तरनिवृत्तिमाशङ्कमानस्य वचनं, इदमपि तथैव विज्ञेयम् ।

अनुसंधानार्थं क्षमाग्रहणं सर्वात्मगुणप्रदर्शनार्थम् ।

महापातकजान्यपीति । अपिशब्दात्स्तुतिः प्रतीयते न महापातकनिवृत्त्यर्थता न चाकस्मात्स प्रवर्तित इति तथा प्रदर्शितैर्विषयैर्विज्ञायते ॥२४४॥

हिन्दी—प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का अभ्यास, पञ्चमहायज्ञ (३।७०) तथा क्षमा; ये सब महापातक से भी उत्पन्न पापों को नष्ट कर देते हैं (फिर साधारण पापों के विषय में क्या कहना है,) अतः इनका आचरण यथाशक्ति करते रहना चाहिये ॥२४४॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।

तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२४५॥

भाष्य—ज्ञानप्रशंसेयम् । विदुषः स्वल्पेन प्रायश्चित्तेन शुद्धिरित्यस्मिन् प्रकरणे आज्ञायते ।

ज्ञानं च सरहस्यं वेदार्थविषयं ज्ञेयम् । न प्रायश्चित्तविधिज्ञानं केवलं शुद्ध्ये । प्रयोगार्थं तत् । न ह्यन्यथाप्रयोगोपपत्तिः । यस्तु देवादिसत्ताविज्ञानं रहस्याधिकारज्ञानं च तस्याकामार्थत्वाद्युक्तं 'तद्धि ताः पापनिष्क्रियाः' । आह च 'यथा पुष्करपलाश आपो न

श्लिष्यन्ति एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यतीति’ (छान्दोग्य० ४।१।३) ।

एथो दार्विन्धनम् । यथा शुष्कदारु चाग्नौ क्षिप्तं क्षिप्तं दह्यते एवं ज्ञानमग्नि-
रिव पापस्य दाहकविनाशायामान्यादेवमुच्यते ।

वेदविदिति ज्ञानं विशिष्यते । तेन तर्ककलाकाव्यादिज्ञानमपास्तं भवति ॥२४५॥

हिन्दी—जिस प्रकार अग्नि अपने तेज (दाहकर शक्ति) से काष्ठादि समीपवर्ती पदार्थों को तत्काल जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता ब्राह्मण अपने ज्ञानरूप अग्नि से सभी पापों को नष्ट कर देता है ॥२४५॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।

अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥२४६॥

भाष्य—पूर्वोत्तरप्रकरणाभिसम्बन्धार्थः ॥२४६॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि—ब्रह्महत्या आदि) पापों का यह (११।७१-२४५) प्रायश्चित्त विधिपूर्वक (मैंने) कहा, यहाँ से आगे (११।२४७-२६४) रहस्यों (गुप्त पापों) के प्रायश्चित्त को (आप लोग) सुनें ॥२४६॥

विमर्श—‘इस श्लोक को गोविन्दराज ने नहीं लिखा है, किन्तु मेधातिथि ने तो लिखा है’ ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकार का कथन है ।

गुप्त पापों का प्रायश्चित्त—

सव्याहतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि भ्रूणहणं मासात्पुनंत्यहरहः कृताः ॥२४७॥

भाष्य—मुखनासिकासञ्चारी वायुः प्राणस्तस्यायामो निरोधः । स चोभयथा प्राणप्रवृत्तेर्बहिः क्रमतोऽपानप्रवृत्तेर्वा यद्रेचकाख्यं प्रसिद्धम् ।

व्याहतयः सप्त । **प्रणव** ओंकारः । व्याहतिभिः प्रणवेन च सह प्राणायामाः कर्तव्या इति ।

षोडशेत्यावृत्तिसंख्यानम् ।

कीदृशः सहभावः ।

केचिदाहुः । प्राणायामं कृत्वा व्याहतिः प्रणवजपः प्रत्यावृत्तिं कर्तव्यः ।

अन्ये त्वाहुः । श्वासनिरोधकालेध्यातव्याः ।

किंपरिमाणः प्राणायामानां कालः ।

यावता नातिमहती श्वासनिरोधनपीडा जायते ।

कुम्भकरेचकपूरकाश्च प्राणायामाः स्मर्यन्ते, न श्वासनिरोधमात्रम् । यथाऽप्रमाणं नासिद्धेरिति, असाध्यतयैव परिमाणानाम् ।

अपि भ्रूणहनमपि शब्दात्तत्समेषु ॥२४७॥

हिन्दी—व्याहति तथा प्रणव (ओंकार) से युक्त सोलह प्राणायाम प्रतिदिन एक मास तक करने से ब्रह्मघाती को भी ('अपि' शब्द से आदिदेशिक ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के अधिकारी को भी) शुद्ध कर देते हैं ॥२४७॥

मद्यपान का प्रायश्चित्त—

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।

माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥२४८॥

भाष्य—कुत्सेन ऋषिणा दृष्टं प्रोक्तं कौत्सम् । 'अपनः शोशुचदधम्' (ऋग्वेद १।९।७।१) इत्यष्टर्चं बहवृचे पठ्यते ।

वासिष्ठं च प्रतीत्यृचं तिस्र ऋचः समाहृतास्त्यृचम् । प्रतीतिसूक्तादिप्रतीकार्थं चेति । 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा' (ऋग्वेद ७।८०।१) इत्येतत् ।

'माहित्रं महित्रीणाम्' इति (ऋग्वेद १०।१८५।१) महितृशब्दोऽस्मिन् सूक्तेऽस्तीति विमुक्तादिप्रक्षेपात् । ये तु 'माहेन्द्रमि'ति पठन्ति तेषां 'महां इन्द्रो य ओजसे' (ऋग्वेद ८।६।१) इत्यष्टचत्वारिंशत् पयःसूक्तमाहुः ।

शुद्धवत्यश्च 'एतोन्विन्द्रं स्तवां शुद्धं शुद्धेन' (ऋग्वेद ८।९५।९) इति । अत्रापि शब्दस्तत्समानार्थः ॥२४८॥

हिन्दी—कौत्स ऋषि से देखा गया 'अप न शोशुचदधम्' यह सूक्त, वसिष्ठ ऋषि से देखा गया 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा' यह ऋचा, माहित्र 'माहित्रीणामवोऽस्तु' सूक्त तथा शुद्धवती 'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्' इन तीन ऋचाओं को प्रतिदिन १६-१६ बार (एक मास तक) जपकर मदिरा पीनेवाला भी ('अपि' शब्द से आदिदेशिक मदिरापान के प्रायश्चित्त का अधिकारी भी) शुद्ध हो जाता है ॥२४८॥

सुवर्ण स्तेय का प्रायश्चित्त—

सकृज्जप्त्वाऽस्य वामीयं शिवसङ्कल्पमेव च ।

अपहत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥२४९॥

भाष्य—अत्र सकृत्ग्रहणात् पूर्वत्र पाठावृत्तिः प्रतीयते । सा च समाचारादन्यत्र दर्शनाच्च । 'त्रिर्जपित्वाऽधमर्षणमि'त्यत्रापेक्षायामधिकृतेन सम्बन्धः ।

'अस्य वाम'शब्दोऽस्मिन् सूक्तेऽस्तीति 'मतौच्छः सूक्तनाम्नोरिति' (पाणि० सू०

५।२।५९) शब्दव्युत्पत्तिः । ‘अस्य वामस्य पलितस्य होतुरिति’ (ऋग्वेद १।१६।४।१) द्वापञ्चाशदृचं सूक्तम् ।

शिवसङ्कल्पमपि ‘यज्जाग्रतो दूरमुदैति’ इति वाजसनेयषडृचम् ॥२४९॥

हिन्दी—सुवर्ण को चुरानेवाला ब्राह्मण ‘अस्त वामीय’ ‘अस्य वामस्य पलितस्य’ इस सूक्त को ‘और वाजसनेयक में पठित ‘यज्जाग्रतो दूरमुदैति.....’ इस शिवसङ्कल्प को एक बार भी (एक मास तक) जपकर तत्काल दोषरहित हो जाता है ॥२४९॥

गुरुपत्नी सम्भोग का प्रायश्चित्त—

हविष्यान्तीयमभ्यस्य न तमं ह इतीति च ।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥२५०॥

भाष्य—प्रतीकार्थो द्वितीय इतिकरणः पदार्थविपर्यासकृत् । ततो मन्त्रस्वरूप-ग्रहणमिति वेत्यत्र लभ्यते । **पौरुषं** ‘सहस्रशीर्षा पुरुष’ (ऋग्वेदे १०।९०।१) इति षोडशर्चं सूक्तम् ॥२५०॥

हिन्दी—‘हविष्यान्तीय’ (हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि) इत्यादि उन्नीस ऋचाओं को ‘नममंह’ (नतमंहो न दुरितम्) इत्यादि आठ ऋचाओं को, ‘इति’ (‘इति वा इति मे मनः’ तथा ‘शिवसङ्कल्पमस्तु’ यह सूक्त द्वय) और पुरुषसूक्त (सहस्र शीर्षापुरुषः’ आदि १६ मन्त्र) शीर्षापुरुषः’ आदि १६ मन्त्र) को एक मासतक प्रतिदिन (१६-१६ बार) जपकर गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करनेवाला पाप से छूट जाता है ॥२५०॥

स्थूल तथा सूक्ष्म पापों का प्रायश्चित्त—

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥२५१॥

भाष्य—अर्वाङ्महापातकेभ्य एनांसि स्थूलसूक्ष्माण्युच्यन्ते उपपातकादीनि । तेषामपनोदनं चिकीर्षन् अवेत्यृचं जपेदब्दम् । अवेत्यवशब्देन प्रतीकेन ‘अवते हेळोवरुण नमोभिः’ (ऋग्वेद १।२४।१४) इति लक्ष्यते, पापप्रमोचनलिङ्गत्वात् । न त्वत्संदुहेणायत इति ‘यत्किञ्चेदं वरुण देव्यै जन’ (ऋग्वेद ७।८९।५) इति एषाम् ॥२५१॥

हिन्दी—स्थूल (ब्रह्महत्यादि महापातक—११।५३) तथा सूक्ष्म गौहत्यादि उप-पातक—११।५८-६५) पापों की शुद्धि चाहनेवाला मनुष्य ‘अव’ ते हेलो वरुण नमोभिः’ इस ऋचा को या ‘यत्किञ्चेदं’ ‘यत्किञ्चेदं वरुण देव्यै जने’ इस ऋचा को या ‘इति’ ‘इति वा इति मे मनः’ इस सूक्त को एक वर्ष तक प्रतिदिन १-१ बार जपे ॥२५१॥

अग्राह्य दान लेने आदि का प्रायश्चित्त—

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।

जपंस्तरत्समंदीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥२५२॥

भाष्य—अप्रतिग्राह्यं मद्यादि यदप्यप्रतिग्राह्यं पापकर्मणः सुवर्णादि तदग्राह्य-
मेव । विगर्हितमन्नं चतुर्विधं स्वभावकालपरिग्रहसंसर्गदुष्टम् । ‘तरत्समं दीधावति’
(ऋग्वेद ९।५८।१) पावमानीषु चतुष्टयम् ॥२५२॥

हिन्दी—अग्राह्य दान लेकर तथा अभक्ष्य का भक्षणकर मनुष्य ‘तरत्समन्दीयं’
‘तरत्समन्दी धावति’ इन चार ऋचाओं को तीन दिन तक जपकर उस पाप से छूट
जाता है ॥२५२॥

विविध पापों का प्रायश्चित्त—

सोमादौद्रं तु बह्वेनाः समामभ्यस्य शुध्यति ।

स्नवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥२५३॥

भाष्य—‘सोमा रुद्रा धारयेथामस्त्रम्’ इति (ऋग्वेद ६।७४।१) चतस्रो यज्ञं
च भरणानिन्द्रियं चेति ऋक् ।

समां संवत्सरम् । चाह्वानः ।

इदं लिङ्गं यदुक्तं क्वचित्तन्त्रेणापि प्रायश्चित्तमस्तीति ।

स्नवन्त्यामिति तडागसरसी निवर्तेते ॥२५३॥

हिन्दी—बहुत पापों को करनेवाला मनुष्य ‘सोमारौद्र’ (सोमारुद्रा धारयेथामसूर्यम्)
इन चार ऋचाओं को, ‘अर्यमणम्’ (अर्यमणं वरुणं मित्रं च) इन तीन ऋचाओं को नदी
में स्नानकर (एक मास तक प्रत्येक का जपकर) शुद्ध हो जाता है ॥२५३॥

विमर्श—बहुत से पापों को करके इस प्रायश्चित्त को एक बार नहीं करना चाहिये;
किन्तु जिने पाप हों, उतनी बार इस प्रायश्चित्त को करना चाहिये ।

जल में मल-मूत्र त्याग करने आदि का प्रायश्चित्त—

अब्दार्थमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।

अग्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५४॥

भाष्य—‘इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्’ (ऋग्वेद १।१०६।१-७) इत्येतत्सप्तकम् ।
अब्दार्थं षण्मासान् । जपेदेनस्वीत्यविशेषात्सर्वेनसाम् ।

अग्रशस्तं मैथुनं तत्र पुरीषोत्सर्गो वा । तदप्सु कृत्वा मासं भैक्षाहारो भवेत् ॥२५४॥

हिन्दी—पापी (किसी पाप-विशेष का उल्लेख नहीं होने से सर्वविध पाप को करनेवाला) मनुष्य ‘इन्द्र’ (इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्) इत्यादि सात ऋचाओं को ६ मास तक प्रति-दिन जप करे तथा जल में मल-मूत्र का त्यागकर एक मासतक भिक्षा माँगकर भोजन करे ॥२५४॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।

सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥२५५॥

भाष्य—‘देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि’ (वाजस० ८।१३) इत्येवमादयोऽष्टौ मन्त्राः शाकलहोमीयाः । तैर्घृतमब्दं हुत्वा गुर्वप्यपहन्त्यैनः । सर्वमहापातकान्यपीत्यर्थः ।

जपित्वा ‘नमो रुद्राय तवसे कपर्दिन’ (वाजस० ७ अ०) इत्येवं मन्त्रं संवत्सर-मेवमेतां सिद्धिमाप्नुयात्, अन्तरेणापि शाकलहोमम् । तदिदं वैकल्पिकं जपकर्म-पूर्वेण शाकलमन्त्रहोमेन प्रायश्चित्तम् ।

अन्येन वा जपित्वा वामन इत्यृचम् । सा तु शिष्टेभ्यः सुगमयितव्या ॥२५५॥

हिन्दी—द्विज (‘देवकृतस्य’ इत्यादि) शाकल होममन्त्रों से एक वर्षतक प्रतिदिन घी का हवनकर अथवा ‘नमः’ (नम इन्द्रश्च) इस ऋचा को एक वर्ष तक जपकर बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है ॥२५५॥

महापातकादि का प्रायश्चित्त—

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः ।

अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५६॥

भाष्य—महापातकसंयुक्त इति पूर्वपदार्थसंख्याविशेषप्रतिपत्तिरनेनापीति गम्यते। एकैकस्य लघुनः प्रायश्चित्तविधानमनेकेनापि युक्तम् ।

पावमान्यः कृत्स्नमेव मण्डलं दाशतयं ‘स्वादिष्ठया मदिष्ठया’ (ऋग्वेद ९।१।१) इत्यारभ्य ‘यत्ते राजञ्छृतं हविः’ (ऋग्वेद ९।१।४।४) इत्यन्तम् ।

गवामनुगमनं नानुब्रज्यामात्रम् । किं तर्हि? परिचर्या । सा च गोघ्नप्रायश्चित्ताद-नुसंधेया ॥२५६॥

हिन्दी—महापातक (ब्रह्महत्या—११।५३) से युक्त मनुष्य जितेन्द्रिय होकर एक वर्ष तक गौओं के पीछे-पीछे चलते (११।१०७-११३ के अनुसार उनकी सेवा करते) हुए भिक्षात्र का भोजन करने से तथा ‘पावमानी’ (यः पावमानीरध्येति इत्यादि) ऋचाओं का प्रतिदिन अभ्यास (जप) करने से शुद्ध (पापरहित-निर्दोष) हो जाता है ॥२५६॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।

मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५७॥

भाष्य—महापातकसंयुक्तस्यैव प्रायश्चित्तान्तरमेतत् ।

वेदसंहितां मन्त्रब्राह्मणम् । ‘षट्त्रिंशद्रात्रमुपोष्य’ इति संहितामरण्ये जपन् प्रमुच्यते ॥२५७॥

हिन्दी—अथवा तीन ‘पराक’ कृच्छ्रव्रत (११।२१४) से शुद्ध होकर वन में (मन्त्र-ब्राह्मणरूप) वेदसंहिता का तीन बार अभ्यास (पाठ) कर बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) शुद्धियुक्त मनुष्य सब महापातकों से मुक्त हो जाता है ॥२५७॥

अथ तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः ।

मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५८॥

भाष्य—“अपोऽभ्युपयन्”, ‘जपित्वाऽघमर्षणमि’ति सम्बन्धः ।

अतश्चान्तर्जलं जपसिद्धिः । एवं स्मृत्यन्तरानुग्रहः ।

अघमर्षणमंत्रविशेषस्तृच उक्तः ॥२५८॥

हिन्दी—तीन दिन तक उपवास तथा त्रिकाल (प्रायः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ और जल में डूब (गोता लगा) कर ही ‘अघमर्षण’ (ऋतञ्च सत्यं च) इस सूक्त का तीन बार जपकर मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥२५८॥

अघमर्षण मन्त्र की प्रशंसा—

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।

तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥२५९॥

भाष्य—स्तुत्यर्थः श्लोकः ॥२५९॥

हिन्दी—जिस प्रकार सब यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ सब पापों को नष्ट करने-वाला है, उसी प्रकार ‘अघमर्षण’ सूक्त (‘ऋतं च सत्यं च’ यह मन्त्र) सब पापों को नष्ट करनेवाला है ॥२५९॥

ऋग्वेद प्रशंसा—

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।

ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६०॥

भाष्य—इदमपि स्तुतिः । ऋग्वेदधारिणो रहस्यप्रायश्चित्तार्था ।

अन्ये तु ‘महापातकसंयुक्त’ इत्यारभ्य रहस्यार्थमपीच्छन्ति ॥२६०॥

हिन्दी—इन तीनों (स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल) लोकों की हत्याकर तथा जहाँ कहीं (महापातकी आदि वर्जित लोगों के यहाँ) भी भोजन करनेवाला ऋग्वेद को धारण (अभ्यास) करता हुआ ब्राह्मण किसी भी दोष से लिप्त नहीं होता ॥२६०॥

ऋग्वेदादि के अभ्यास से सर्वपाप मुक्ति—

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।

साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६१॥

भाष्य—ऋगादिविशेषणात् ब्राह्मणनिवृत्तिः ।

रहस्यानि सामान्यारण्यकाधीतानि ॥२६१॥

हिन्दी—मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (ब्राह्मण-सहित मन्त्रभाग को, केवल मन्त्रभाग को ही नहीं) ऋग्वेद को, अथवा (मन्त्र-ब्राह्मणसहित) यजुर्वेद को, अथवा ब्राह्मणोपनिषद् के सहित समाहितचित्त होकर तीन बार अभ्यास (पाठ) करके सब पापों से छूट जाता है ॥२६१॥

यथा ममाहदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।

तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६२॥

भाष्य—त्र्यवयवस्त्रिवृत् । एककार्यत्वादवयवव्यवहारात् वेदो वेदान्तरस्यावयवः ॥२६२॥

हिन्दी—जिस प्रकार महाहृद (बड़े जलाशय) में गिरा हुआ (मिट्टी का) ढेला (पिघलकर) नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ‘त्रिवृत्’ (११।२६३) वेद में सब नष्ट होते हैं ॥२६३॥

‘त्रिवृत्’ का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चाद्यानि सामानि विविधानि च ।

एष ज्ञेयस्त्रिवृद्देवो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥२६३॥

भाष्य—तत्त्र्यवयवं दर्शयति ।

आद्यानि मुख्यानीत्यर्थः ।

‘अन्यानि’ ब्राह्मणाध्येयानि च पठितानि । अथवा पदक्रमितानि ।

विविधानि सामानि ग्राम्यारण्यविभागेन ॥२६३॥

हिन्दी—ऋग्वेद के मन्त्र; यजुर्वेद के मन्त्र और (बृहद्रथन्तर आदि) अनेकविध सामवेद; इन तीनों के पृथक्-पृथक् मन्त्र तथा ब्राह्मण भागरूप ‘त्रिवृत्’ वेद को जानना चाहिए, जो इसे जानता है, वही वेदज्ञाता है ॥२६३॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।

स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥२६४॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां एकादशोऽध्यायः ॥११॥

भाष्य—त्र्यक्षरमक्षरत्रयसमाहार ओंकारः । आद्यं ब्रह्म गुह्यम् । रहस्याधिकारे यथावदुपदिष्टत्वाच्छब्दब्रह्मरूपतयोपासनकर्मत्वेन विहितः । परमात्मवाचकतया वा 'गुह्यो', न त्वज्ञाताक्षरत्वेन । स हि लोकप्रसिद्ध ओमित्यभ्युपगमः ।

त्रयी यस्मिन्नेषा सङ्कुचिता । सर्वाणि वर्णानीत्येवमादि ।

तस्योपासना पुरस्तादुक्तेति एव 'मोमित्येतदक्षरमुपासीते'ति (छान्दोग्य १।१।१)। पूर्वश्लोके मन्त्रार्थवेदनेन वेदत्वमुक्तमनेन वेदान्तज्ञानम् । कर्मवेदनं त्वध्ययनविध्या-क्षिप्तमेवेति प्रसिद्धम् ॥२६४॥

इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनुमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥

हिन्दी—सब वेदों का आदि सारभूत जो तीन अक्षरों (अकार उकार तथा मकार) वाला ब्रह्म (प्रणव अर्थात् 'ॐ') है और जिसमें त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा साम-वेद) प्रतिष्ठित है, वही दूसरा 'त्रिवृत्' वेद अर्थात् प्रणव 'ॐ' गोपनीय है; जो उसको (स्वरूप तथा अर्थ से) जानता है, वही वेदज्ञाता है ॥२६४॥

[एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।

निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ॥१४॥]

[हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) यह (मैंने) प्रायश्चित्त के समस्त निर्णय को आप लोगों से कहा, अब ब्राह्मण के इस मोक्षविधान को (आप लोग) सुनें ।]

[पृथक् ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ॥१५॥]

[हिन्दी—ब्राह्मण तथा कल्प से पृथक् यह 'त्रिवृत्' वेद कहा गया है ॥१५॥]

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् प्रायश्चित्तादिनिर्णयः ।

त्रिपाठिनः कृपादृष्ट्यैकादशे पूर्णतां गतः ॥११॥



॥ अथ द्वादशोऽध्यायः ॥

ॐ नमः शिवाय

महर्षियों का भृगुजी से प्रश्न—

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयाऽनघ ।

कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥१॥

भाष्य—आद्योऽर्धः श्लोकः शास्त्रार्थपरिसमाप्तिदर्शनेनाधिकांक्षानिवृत्त्यर्थः ।

कृत्स्नग्रहणं सम्मानार्थम् । एतावन्तः स्मार्ता धर्मा यस्मिन् शास्त्रे, रहस्यपर्यन्त उपदिष्टाश्च ।

शिष्यमुखेनाचार्यस्यैव कृत्स्नकारिता शास्त्रस्य प्रतिपाद्यते न विवक्षिता । नात्र शिष्या-
चार्य वस्तुतः प्रतिप्रत्तव्यम् । ग्रन्थकार एवेमं ग्रन्थमेवं विभजति । धर्मशब्दश्च कर्तव्यता-
वचनो विधिप्रतिषेधसमूहमनुवदति । तेन कर्मफलसम्बन्धोऽनुक्त इति इत ऊर्ध्व
प्रतिपाद्यते ।

कृत्स्नो धर्म उक्तस्त्वया । विधिप्रतिषेधापेक्षया वचनमुपपन्नं भवति ।

“कस्य पुनः कर्मणः फलसम्बन्धो जिज्ञास्यते येनोच्यते कर्मणां फलनिर्वृत्तिं
शंसेति । यावता यावन्ति तावन्नित्यानि शास्त्रनोदितत्वादेव क्रियन्ते न तेषां फलमभि-
संधेयम् । न हि तानि फलार्थानि । यान्यनित्यानि तत्रापि प्रतिकर्म प्रायशः फलान्युक्ता-
न्येव ‘वारिदस्तृप्तिमाप्नोति’ ‘स्वर्गायुश्च इत्यादीनि च । यत्रापि नोक्तमिव मन्येत तत्रापि
स्वर्गादि साधितमेव । यानि जातकर्मादीनि संस्कारकर्माणि तानि संस्कार्यविशेषोक्तस्य
क्रियाफलेनैव फलवन्ति नादृष्टमाकांक्षन्ति । यान्यपि नैमित्तिकानि द्रव्यशुद्ध्यादीनि
चाण्डालस्पर्शनस्नानादीनि तान्यपि दृष्टप्रयोजनान्येव । शुद्ध्ये हि तानि क्रियन्ते, अशुद्धे-
र्व्यवहारप्रतिषेधात् । प्रायश्चित्तानि चानन्तरमुक्तप्रयोजनान्येव । अतो न विद्मः कस्य वास्य
कर्मणः फलमभिजिज्ञास्यते’ ।

प्रतिषेधानाम् । ‘शरीरजैः कर्मदोषैः’ इत्यादिना तेषामेव वक्ष्यमाणत्वात् । तथा-
प्रतिषेधानुष्ठानमपि शास्त्रचोदितमेव ।

“ननु तत्र फलार्थित्वे हि न सर्वविषयोधिकारः स्यात् । अर्थिता वाऽधिक्रियेत ॥”

उच्यते । नैवात्र तादृशं फलमभिधीयते यत्काम्यते । अनिष्टफलदर्शनमत्र क्रियते ।
नैव तत् काम्यते । नैव च कश्चिदनिष्टप्राप्तिमिच्छति । अतः सर्वविषयतासिद्धिः ।

यदप्युच्यते 'शास्त्रं चोदितं प्रतिषेधानुष्ठानं क्रियते' अत्यल्पमिदमुच्यते । एवं तत्रानुष्ठानमिति । सर्वमेव शास्त्रनोदितं क्रियते ।

“किन्तु तच्छास्त्रं फलार्थिनः कस्यचित्कर्तव्यतां स्थापयति । कस्यचिदन्तरेण फलं नैमित्तिकत्वेन । इह तु यावज्जीवमिव निमित्तश्रुतेरभावात्किमर्थं प्रतिषिद्धं न क्रियत” इति ।

उपेक्षायां प्रत्यवायश्च दृश्यते । 'जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते इति' ।

“ननु च यत्प्रतिषिद्धं ब्राह्मणवधादि न तच्छास्त्रचोदितम् । शास्त्रनोदितस्य हि शास्त्रीयेण फलेन सम्बन्धो युक्तः । यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इति । शास्त्रतो हि यागस्य कर्तव्यताप्रतिपत्तिर्नान्यतः । इह तु द्वेषादिना लौकिकी प्रवृत्तिरशास्त्रीया । न चाशास्त्रीयस्य शास्त्रीयेण फलेन सम्बन्धो न्याय्यः । यदप्युक्तमुपेक्षायां प्रत्यवायः प्रदर्शितं इति किमित्यत्राकांक्षा । यावता 'द्विषन्तं प्रति वर्तमानस्य न कर्तव्यमिति' शास्त्रतोऽवगतिर्जायते, तावता वाक्यार्थसमाप्तिः । किमत्र पदमस्ति यदाकांक्षीत” ।

एतद्विविच्यमानं महान्तं ग्रन्थविस्तारमाक्षिपति । संक्षेपस्त्वयम् । 'न हिंस्याद्भूतानि' इति प्रतिषेधविधेः प्रतिषेधो भावार्थः । तत्र विधेस्तावन्नियोज्यविषयाकांक्षा । तत्र नियोज्यस्येयमवगतिर्भवति 'न मयैतत्कर्तव्यम्' । नार्थस्तत्र नियुक्तः, पुरुषनियोगरूपत्वाद्विधेः । स चात्र नियोज्यो लौकिक्या द्वेषलक्षणया प्रवृत्त्यर्थेन प्रवर्तमानहिंसास्वभावोपदेशेन समर्पितः । यः स्वेच्छया हनने प्रवर्तते स हन्यादिति । न चैतेन नियुज्यते स ह्यत्र विधेर्विषयः । न चेति शून्येषु भावार्थस्यान्यतः प्राप्तत्वात्पुरुषोपलक्षणत्वात्स्वेन विषयत्वेन विधेः सम्बन्धः । यश्चासौ नियोज्यः स न तीर्थत्वेन नियोज्यभावमात्मनः प्रतिपद्यते । यावत्तद्विषयस्य प्रतिषिध्यमानस्य नानिष्टफलतामध्यवस्यति । तथा हि लोके व्युत्पत्तिः । 'सभ्यायांगुलिर्देयेति' वेदेन प्रतिषिद्धे तदतिक्रमेण तदनुष्ठीयमानमनर्थहेतुतया प्रतिपन्नम् । न च लौकिकीं व्युत्पत्तिमवमृज्य हेत्वन्तरमुपन्यासमर्हति । तत्राश्रुताप्यनिष्टफलता प्रतिषेधसामर्थ्यात्कल्पयितुं युक्ता, किं पुनर्यत्र श्रूयत एव । न हि श्रुतस्योत्सर्गो न्याय्यः । न चात्र वादमात्रोपलक्षणकत्वं नरकादिफलं श्रुतियुक्तमुक्तेन न्यायेन फलापेक्षान्वयः । सकाशात् ।

किं चार्थवादा विधिविशेषा भवन्ति । न चेह कश्चिद्विधिः श्रुतः प्रकृतो वा, कर्मफलसम्बन्धस्यैव प्राधान्येन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न ह्यत्र कर्माणि विधायन्ते । अतश्च तेषां फलसम्बन्ध उच्यते । न चैतावता भवन्ति वाक्यशतान्यनर्थकानि । भवन्त्वर्हन्तु स्मृतिकारणं तावदेतद्दर्शनम् । न ह्यन्यथैतानि वाक्यानि व्याख्यातुं शक्यन्ते । अविधिशेष इह नास्ति ।

गुणवादेनैतद्व्याख्यानं शास्त्रकाराणामपि भ्रान्तिरिति चेत् ।

न । एवंवादिन आत्मनः प्रकर्षतो महर्षीनवजानते ।

अयं पापमनयेति सम्बोधनम् । निष्कल्मषतया स्तुत्यर्थम् । शंसेति वाग्यतो वर्तते ॥१॥

हिन्दी—(महर्षियों ने भृगुजी से पूछा कि) हे निष्कल्मष भृगुजी! (आपने अवान्तर भेदों के सहित) चारों वर्णों के समस्त धर्म को कहा, (अब जन्मान्तर के शुभाशुभ) कर्मों के परमार्थ रूप से फल की प्राप्ति को हम लोगों से आप कहिये ॥१॥

भृगुजी का महर्षियों को उत्तर—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।

अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥२॥

भाष्य—पृष्टप्रतिवचनमेतत् । यदहं पृष्टः शृणु तत् ।

कर्मणो योगमिति सम्बन्धः । स च प्रकृतत्वात्फलेनैव विज्ञेयः ॥२॥

हिन्दी—धर्मात्मा मनुष्य भृगुजी ने उन (महर्षियों) से कहा कि ‘इन सब कर्म सम्बन्धों के निर्णय को (आपलोग) सुनिये’— ॥२॥

शुभाशुभ कर्मों के फल—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम् ।

कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥३॥

भाष्य—शुभस्य निर्देशो दृष्टान्ततया, मनोवाग्वापारविध्यर्थो वा मनसो वाचो ब्देहाच्च सम्भवति कर्म । कर्मशब्दो न चेज्यायामेव कायपरिस्पन्दे वर्तते । किं तर्हि? क्रियाम्मात्रे योगध्यानवचनात्मकेऽपि । फलशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । शुभफलमशुभफलं च । नैवं विज्ञेयं ‘कायव्यापारासाधनादेव’ कर्मानुष्ठानाच्छुभाशुभफलप्राप्तिः, अपि तु मनोवाक्कायसम्भवादप्येवमेव । तस्मादपि त्रिविधात्कर्मणस्तु विधीयते फलप्राप्तिः ॥३॥

हिन्दी—मनुष्यों के कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म शुभाशुभ फल देनेवाले होते हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाली मनुष्यों की उत्तम (देव), मध्यम (मनुष्य आदि) तथा अधम (तिर्यक् आदि) गतियाँ (जन्म) भी होती हैं ॥३॥

मन को कर्मप्रवर्तकत्व—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।

दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥४॥

भाष्य—“ननु च ‘दण्ड्यान् यजेत’ ‘न हिंस्यादिति’ शुभमशुभं च । ते सर्वे कायव्यापारसाध्ये । दानेनात्मनः स्वत्वनिवृत्तिः परस्य च स्वत्वसम्पादनं तच्च पूर्वं ‘दक्षिणेन

हस्तेने'त्यादि विहितम् । यागोऽपि प्रयोगरूपोऽवभृथान्तः कायव्यापारनिर्वर्त्यो भवति । एवं संघातदण्ड्याद्यविद्या तु कायिकतया प्रसिद्धैव । तत्र किं तत्कर्म यन्मनसः सम्भवति' ।

अत आह अर्थस्यास्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् । मनसो हि व्यापाराः सर्वे दर्शनादयः । न च त्रिष्वसत्सु भौतिको व्यापारः । तथा हि प्रथमं तावन्मनसाऽयमर्थं संपश्य'त्ययमीदृश एव' तस्य वस्तुनः सुखं दुःखं वाऽस्य कारणं तत आयत्ते 'कथमेतन्मनः सम्पद्यते' । ततोऽध्यवस्यति 'संपादयाम्यतो नेदमिति' । तत्र उदरे क्रियाप्रधाने कायपरिस्पन्द-रूपवागव्यवहारश्च । अतः सर्वस्य मनः प्रवर्तकं प्रेक्षापूर्वकारिणः ।

अबुद्धिपूर्वं तु नावश्यं सदृशनादयः पूर्वभाविरूपस्य ताद्रूप्येण ग्रहणं, यथा मद्ये वर्णसादृश्यात्पानकबुद्ध्या प्रवृत्तिः, सन्तमासम्भवात् तया परस्त्रीषु । अन्यत्तु दैवोपनि-पतितम् । यथा सुप्तस्य हस्तसंचारपार्श्वपरिवर्तनादिना मशकादिप्राणिवधस्तत्रापि कर्तृत्व-मुपपादितं प्रायश्चित्तेषु प्रवृत्तिहेतुः ।

त्रिविधस्य वाङ्मनःकायसाधनभेदेन ।

त्र्यधिष्ठानस्योत्तमाधममध्यमगतिभेदेन ।

दशलक्षणयुक्तस्य मनःकायकर्मणोः प्रत्येकं त्रैविध्यं वाङ्मयं चतुर्विधम् । एतानि दशलक्षणानि । तान्युपरिष्ठाद्वक्ष्यति ॥४॥

हिन्दी—(उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से) तीन प्रकार के तथा (मन, वचन तथा शरीर आश्रित होने से) तीन अधिष्ठान वाले दश लक्षणों (१२।५-७) से युक्त देही (जीव) के मन को (कर्म में) प्रवृत्त करने वाला जाना ॥४॥

दश लक्षणवाले कर्मों में त्रिविध मानसिक कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।

वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥५॥

भाष्य—अभिध्यानं नाम परद्रव्यविषयेर्ष्याबुद्ध्या परद्रव्याभिभवानुचिन्तनम् 'कियद-श्वगोधनं कियद्वाऽजाविकमिति च विभवोऽश्वाः धिग्दैवं कस्मादस्येयती समृद्धिः, अथ च कथं नामैतस्यापरेयं, अथ साधुर्भवति यद्येतस्यैतन्न भवति' ।

अन्ये त्वाहुरेतद्धनं समभिभवति ।

अनिष्टचिन्तनं परस्येत्यभिसम्बन्धनन्ति । परवधोपायचिन्तनम् । 'यदि म्रियते' 'तन्म-मास्त्विति' वा ।

“ननु च परद्रव्याभिध्यानमीदृशमेवोक्तम् । अनेनैव सिद्धे तदनर्थकम्” ।

सामान्यशब्दो ह्यम् । यदनिष्टमनभिप्रेतं परस्य तत्र चिन्तनीयम् । धननाशोऽपि

परस्य नैवेष्टः । एतद्भयाच्च किञ्चन परस्येत्येतन्न व्याहरन्ति । अनिष्टं च यत्प्रतिषिद्धं तद्व्याचक्षते ।

अस्मिन्नपि पक्षे परद्रव्याभिध्यानं प्राधान्यार्थमेव ।

एवं वितथाभिनिवेशोऽपि । पूर्वपक्षार्थस्य सिद्धान्तत्वेन ग्रहणं विज्ञानवादो वेदाः प्रामाण्यं, अनात्मताग्रह इत्येवमादि ।

अन्ये तु नित्यनिरामिषद्वेषमाहुः ।

इयं च त्रिविधाऽकुशला मानसी प्रवृत्तिः । अतोऽन्या कुशला । अस्पृहा परद्रव्येषु, दया सर्वसत्त्वेषु, श्रद्धा धर्माद्यस्तित्वादिषु । तथा च भगवान् व्यासः ‘अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् । धर्मिणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा स्मरेत्’ ॥५॥

हिन्दी—(१) दूसरे के द्रव्य को अन्याय से भी लेने का विचार करना, (२) मन से निषिद्ध कार्य (ब्रह्महत्यादि पाप कर्म) करने की इच्छा करना, (३) असत्य हठ (परलोक आदि कुछ भी नहीं है, यह देह ही आत्मा है, इत्यादि रूप से दुराग्रह) करना, ये तीन प्रकार के मानसिक (अशुभ) कर्म हैं ॥५॥

विमर्श—इनके विपरीत (१) न्यायपूर्वक दूसरे के द्रव्य को लेने का विचार करना, (२) शास्त्रविहित (यज्ञादि) कर्म करने की इच्छा करना, (३) आस्तिक बुद्धि रखना— ये तीन मानसिक शुभ कर्म हैं ।

चतुर्विधवाचिक कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।

असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥६॥

हिन्दी—(४) कटु बोलना, (५) झूठ बोलना, (६) परोक्ष में किसी का दोष कहना और (७) निष्प्रयोजन (बेमतलब की) बातें करना; ये चार प्रकार के वाचिक (अशुभ) कर्म हैं ॥६॥

विमर्श—इनके विपरीत (४) मधुर बोलना, (५) सत्य बोलना, (६) परोक्ष में दूसरे का दोष छिपाना या गुण को ही बतलाना और (७) मतलब की बातें करना, ये चार प्रकार के वाचिक शुभ कर्म हैं ।

त्रिविध शारीरिक कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।

परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥७॥

भाष्य—शास्त्रीयाप्राधान्यतयाऽस्यादत्तानामसद्भ्य उपादानं दुष्टं चैव । तथा कुमार्या-
दिपरदारादावपि ।

विपरीतधर्मादादानं परित्राणमिन्द्रियसंयमश्च ।

इदं मनोवाग्देहभेदेन दशविधम् । प्रवृत्तिकुशलाकुशलविभागेन विंशतिप्रकाराः ॥७॥

हिन्दी—(८) बिना दी हुई (दूसरे की) वस्तु को लेना, (९) शास्त्र-वर्जित हिंसा करना और (१०) परस्त्री के साथ सम्भोग करना; ये तीन प्रकार के शारीरिक (अशुभ) कर्म हैं (इस प्रकार ये १० प्रकार के (अशुभ) कर्म हैं) ॥७॥

विमर्श—इसके विपरीत (८) न्यायपूर्वक दी हुई वस्तु को लेना, (९) शास्त्रविहित अश्वमेधादि यज्ञ में हिंसा करना और (१०) शास्त्रप्रतिपादित समयों (रजस्वलावस्था तथा पर्व दिन, दिन, संध्याकाल आदि को छोड़कर शेष समयों) में स्वस्त्री के साथ सम्भोग करना, ये तीन प्रकार के शारीरिक शुभकर्म हैं ।

मानसिक आदि कर्मों का फलभोक्ता मन आदि—

मानसं मनसैवायमुपभुंक्ते शुभाशुभम् ।

वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥८॥

भाष्य—परस्य मनस्तापो येन जन्यते कर्मणा ततो मानसं दुःखमाप्नोतीति केचित् ।

वयं तु ब्रूमी यत्त्रिविधं मानसमुक्तं ततो मनोदुःखाप्तिः । एवमुत्तरयोरपि ॥८॥

हिन्दी—यह (देही-जीव) मानसिक कर्मों के फल को मन से वाचिक कर्मों के फल को वचन से और शारीरिक कर्मों के फल को शरीर से ही भोगता है ॥८॥

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।

मनमा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथास्त्यजेत् ॥९॥]

[**हिन्दी**—शरीर से त्रिविध (१२।७), वचन से चतुर्विध (१२।६) और मन से त्रिविध (१२।५) अधर्म-मार्गों (अशुभ कर्मों) को छोड़ देना चाहिये ॥९॥]

शारीरिक आदि कर्मों के फल—

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।

वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥९॥

भाष्य—भूयस्त्वाभिप्रायमेतत् । प्रायेणैतासां जातीनामेतानि यथाविभागं निमित्तानि न त्वयं नियमः । तथा महापातकिनां तिर्यक्पर्यटन्तीति वक्ष्यतीति ।

पक्षिमृगग्रहणं तिर्यग्जातिमात्रप्रदर्शनार्थम् ।

मनोवाक्कायकर्मणामुत्तरोत्तरस्य गुरुत्वप्रदर्शनार्थपरम् ॥९॥

हिन्दी—मनुष्य शारीरिक (१२।७) कर्म के दोषों से स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म, पर्वत आदि) योनि को, वाचिक, (१२।६) कर्म के दोषों से पक्षी, मृग (पशु, कीट, पतङ्ग

आदि) योनि को और मानसिक (१२।५) कर्म के दोषों से अन्त्य जाति (चण्डाल आदि हीन जाति) को प्राप्त करता है ॥९॥

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मनुषो भवेत् ।

अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥२॥]

[हिन्दी—मनुष्य शुभ कर्मों से देवयोनि को, मिश्रित, (शुभ तथा अशुभ दोनों) कर्मों से मनुष्योनि को और केवल अशुभ कर्मों से तिर्यग्योनि (पशु, पक्षी, वृक्ष, लतादि) योनि को प्राप्त करता है ॥२॥]

[वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम् ।

कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीह्न्यादपरिरक्षितः ॥३॥]

[हिन्दी—अरक्षित वाग्दण्ड विज्ञान को, मनोदण्ड, उत्तम (स्वर्ग, मोक्ष आदि) गति को और कर्मदण्ड तीनों लोकों को नष्ट कर देता है ॥३॥]

[वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौन मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।

शरीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥४॥]

[हिन्दी—मौन को वाग्दण्ड, अनशन को मनोदण्ड और प्राणायाम को शरीरदण्ड कहा जाता है ॥४॥]

[त्रिदण्डं धारयेद्योगो शरीरं न तु वैणवम् ।

वाचिकं कायिकं चैव मानसं च यथाविधि ॥५॥]

[हिन्दी—योगी मनुष्य वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड—अर्थात् मौन, अनशन और प्राणायामरूप शरीर सम्बन्धी त्रिदण्ड को धारण करे, बाँस के ‘त्रिदण्ड’ (तीन दण्डों) को नहीं ॥५॥]

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।

यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१०॥]

भाष्य—दमनं दण्डः । वाचो दण्डः पारुष्याप्रवृत्तिः । एवमुत्तरयोरपि ।

यस्यैते दण्डा बुद्धौ निहिता ‘नैतन्मया कर्तव्यमिति’ यो न स्वलति स त्रिदण्डी-
त्युच्यते । न त्वनार्यो गुरुकाष्ठदण्डं धारयति ॥१०॥

हिन्दी—जिसकी बुद्धि (विचार-मन) में वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड; ये तीनों स्थित हैं, वही (सच्चा) ‘त्रिदण्डी’ (तीन दण्डों वाला—संन्यासी) कहा जाता है, (केवल बाँस का तीन दण्ड धारण करनेवाला ही संन्यासी नहीं है) ॥१०॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।

कामक्रोधौ सुसंयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति ॥११॥]

भाष्य—त्रयाणां दण्डानां समाहारस्त्रिदण्डम् । पात्रादिदर्शनादस्त्रियां भाषणात् ।
बुद्धौ निक्षिप्य बुद्धौ कृत्वा ।

सर्वभूतेष्वघातकत्वं चावस्थितं त्रिदण्डं वा निहितम् ।

कामक्रोधयोः संयमः सु साधुः ।

ततः सिद्धिं मोक्षाख्यां गच्छति प्राप्नोति ।

आध्यात्मिकत्वोपन्यास उपक्रमोऽयम् । कस्य पुनरेषा सिद्धिः कस्य वामुत्र विकार-
कर्मफलानां भोक्तृत्वम् । भस्मान्तं शरीरम् । न च ततोऽन्यमुपलभामहे । तेन सर्वेषु धर्मा-
धर्मेष्वधिकारिपुरुषं प्रदर्शयितुकामः प्रारभते ॥११॥

हिन्दी—जब मनुष्य काम तथा क्रोध को रोककर सब जीवों में इस त्रिदण्ड
(कायिक, वाचिक तथा मानसिक दण्ड) को व्यवहृत करता है, तब सिद्धि (मुक्ति) को
प्राप्त करता है ॥११॥

क्षेत्रज्ञ आदि का परिचय—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥

भाष्य—अस्य शरीरस्य क्रियापरिस्पन्दात्मिकां क्रियां स्वयं प्रवर्तयिता । प्रयत्न-
वशेनास्य कर्तृत्वम् । स क्षेत्रज्ञः । अस्यात्मन इति समानाधिकरणे षष्ठी । आत्म-
शब्दस्य शरीरे वृत्तिः, तस्यापि आत्मार्थत्वात् ।

यः करोति पानादिलक्षणं तज्जन्यो यः शरीराख्यः कर्ता स भूतात्मोच्यते पृथि-
व्यादिभूतसंघातो, जघन्यत्वात् । भूतविकार आत्मा 'भूतात्मा' । तथा चोक्तं 'द्वावात्माना-
वन्तरात्मना शरीरात्मना' ॥१२॥

हिन्दी—जो इसे (शरीर को) कार्यो में प्रवृत्त करता है उसे पण्डित लोग 'क्षेत्रज्ञ' और
जो कार्यो को करता है उसे 'भूतात्मा' कहते हैं ॥१२॥

जीवात्मा का परिचय—

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥१३॥

भाष्य—किं पुनरयं जीवो नाम यावता क्षेत्रज्ञमेव जीवं मन्यन्ते । द्वौ चात्रोपल-
भ्येते— शरीरमहंप्रत्ययविज्ञेयश्चान्तरात्मा । ततोऽन्यः कश्चिज्जीवो नाम ।

केचित्तावदाहुः महदादिभूतसूक्ष्मपरिवेष्टितं लिङ्गं यत्पठ्यते 'संसरति निरुपभोगं
भावैरधिवासितं लिङ्गमि'ति । येनेतिकरणत्वं च वेदनं प्रति तस्योपपद्यते । तद्धि स्थूल-

भूतानामाश्रयः । तस्यैव शरीराख्यबाह्यभूताश्रयत्वात् । शरीरे च सत्यात्मनः सुखदुःख-
भोक्तृत्वम् । अतो येनेति करणविभक्त्योच्यते ।

अन्ये तु मन्यन्ते— अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यहंकाररूपं ‘जीवः’ । तस्य चान्तःकरण-
संज्ञत्वाद्युक्तं एव करणविभक्त्या निर्देशः ।

अन्तरात्मशब्दश्च तादर्थ्याद्युक्त एव ।

सहजशब्दश्चामोक्षप्राप्तेराप्रलयाच्च तदवियोगेन ॥१३॥

हिन्दी—सब प्राणियों का सहज (एक साथ में उत्पन्न) ‘जीव’ नाम का दूसरा ही
आत्मा अर्थात् ‘जीवात्मा’ है, जो प्रतिजन्म में सब सुख-दुःख का अनुभव करता है ॥१३॥

तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।

उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥१४॥

भाष्य—उच्चावचेषु बहुविधेषु नानारूपेषु भूतेषु सर्वेषु यः स्थितो व्याप्य तानि
भूतानि ।

तिष्ठतः संश्रयतः । अतश्च सर्वकर्मकर्तृत्वं तिष्ठतेरनेकार्यत्वात् ।

कोऽसावुच्चावचेषु भूतेषु व्याप्य स्थितः ।

परमात्मा चेतना चेतनजगत्परित्यक्तः परमानन्दरूपः परस्ताच्च प्रतिपादयिष्यते ।

भूतसंपृक्तौ भूतानि पञ्च ।

महानिति । येन वेदयत इत्युक्तः ।

क्षेत्रज्ञः ‘अस्यात्मन’ इति ।

यथाव्याप्त्यापक्षेऽपि द्वितीय ‘स्थितं तमिति’ । संश्रयणं च तत्कारणत्वात्सर्वस्या-
स्य जगतः । कार्यं च कारणमाश्रयत्यतोऽपेक्षैव संश्रयणम् ।

तथा च भनवान्व्यासः (भ०गी० १५।१६)

‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते’ ॥

क्षरशब्देन सर्वं चैतदुच्यते । चराचरप्रपञ्चम् । अक्षरं प्रकृतिकारणं कूटस्थशब्देन,
कारणरूपतया प्रलयेऽप्यविनाशात् । अथवा क्षरं शरीरमक्षरः क्षेत्रज्ञः । कूटस्थत्वं तु
तस्यामोक्षप्राप्तेः कर्तृत्वभोक्तृत्वानिवृत्त्या ।

‘उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः’ ॥ (भ०गी० १५।१७) ॥१४॥

हिन्दी—पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, जेज और आकाश) से मिले हुए वे दोनों

महान् तथा क्षेत्रज्ञ—छोटे-बड़े सब भूतात्माओं में स्थित उस परमात्मा में व्याप्त होकर रहते हैं ॥१४॥

[उत्तमः पुरुषस्त्वन्वयः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययमीश्वरः ॥६॥]

[हिन्दी—उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है, जो 'परमात्मा' कहलाता है तथा अविनाश-शील एवं सर्वसमर्थ जो तीनों लोकों को आविष्ट होकर पालन करता है ॥६॥]

जीवों की असङ्ख्यता—

असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।

उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥१५॥

भाष्य—मूर्तिशब्देन यावत्किञ्चिद्भौतिकं कार्यकारणमिति शक्तिश्च तदुच्यते । तदे-तत्सर्वं तस्य परमात्मनः शरीरात्प्रादुर्भवति ।

स्वभाव एव तस्य शरीरम् । शिलापुत्रकस्य शरीरमितिवद्भेदेन व्यपदेशः ।

असंख्या अनन्ताः । समुद्रादिवोर्मयः । निष्पतन्ति प्रादुर्भवन्तीत्युक्तम् । ताभिः प्रादुर्भूताभिरिदं जगच्चेष्टते सक्रियं भवतीत्यर्थः । शरीरेन्द्रियविज्ञानैर्विना चेष्टाया अभावा-च्चेष्टयन्तीत्युच्यते ।

अन्ये तु शरीरतः प्रधानं च परमात्मनः 'शरीरं' तदधीनप्रवृत्तित्वात् 'नात्र भूतानि' ॥१५॥

हिन्दी—उस (परमात्मा) के शरीर से असङ्ख्य जीव उत्पन्न (अग्नि से चिनगारी के समान प्रकट) होते हैं, जो छोटे-बड़े प्राणियों को कर्मों में प्रवृत्त करते रहते हैं ॥१५॥

परलोक में पाञ्चभौतिक शरीर का होना

पञ्चभ्य एव भूतेभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।

शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥१६॥

भाष्य—पञ्चभ्यो भूतेभ्योऽन्यच्छरीरं प्रेत्योत्पद्यते । एतदुक्तं भवति । शुक्रशोणित-मन्तरेणैव पाञ्चभौतिकं शरीरमुत्पद्यते । दुष्कृतिनां च पाञ्चभौतिकं शरीरं पुण्यकृतां तु तैजसाऽऽकाशमात्राणि भवन्ति । यथोक्तं 'वायुभूतः स्वमूर्तिमान्' इति ।

यातना पीडातिशयः । तदर्थीयं, यदतिदृढमलौकिकदुःखसहिष्णु ॥१६॥

हिन्दी—पञ्च महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से ही पापी मनुष्यों की यातनाओं (पापजन्य नरकादि पीड़ाओं) को भोगने के लिए दूसरा (जरायुज से भिन्न) शरीर निश्चित रूप से उत्पन्न होता है ॥१६॥

उनका भोग के बाद अन्तरात्मा में लीन होना—

तेनानुभूय या यामीः शरीरेणेह यातनाः ।

तांस्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥१७॥

भाष्य—यमो नाम देवताविशेषः, दुष्कृतिनां निग्रहादिकृत् । तदृष्टा यातना अस्य । ता अनुभूय । तेन पांचभौतिकेन शरीरेण । तानि शरीराणि पुनः प्रलीयन्ते तासु सूक्ष्मासु भूतमात्रासु ॥१७॥

हिन्दी—उस शरीर से यमसम्बन्धिनी यातनाओं को भोगकर वे यथायोग्य उन्हीं पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में लीन हो जाते हैं ॥१७॥

सोऽनुभूयासुखोदकर्तान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।

व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥१८॥

भाष्य—विषयसङ्गात्प्रतिषिद्धविषयोपसेवनात्प्रतिषिद्धान् ततः सङ्गाच्च यो जाता दोषाः पापनिर्मिताः । नरकाददुःखान्यनुभूय तेन च दुःखोपभोगेन व्यपेतकल्मषोऽपहतपाप्मा चेति ।

तावेवोभौ महौजसौ ।

“कावुभौ । महान् क्षेत्रज्ञश्च तौ प्रकृतौ । अनन्तरश्लोकेन च क्षेत्रज्ञ एवानुभविता सुखदुःखयोः । स इति च तस्यैव परामर्शोऽतः क्षेत्रज्ञमभ्येतीति प्राप्तम् । तच्च विरुद्धम् । स एव प्राप्यः प्रापकश्च” ।

सत्यम्, औपचारिको भेदोऽभिप्रेतः । ‘अभ्येती’त्ययमर्थः एतावन्मात्रशेषो भवति । यदुत क्षेत्रज्ञतया प्राणादिसंघातात्मकेन महानिति व्यपदिष्टेन फलेषु तावन्मात्रः परिशिष्यते । लिङ्गजीवश्च क्षेत्रज्ञः ।

अन्ये तु सहत्परमात्मानाविति व्याचक्षते ।

असुखोदकर्तान् क्षीणे पाप उत्तरकालं सुखमनुभूयते । प्रतिपन्थिनि पापे स्वल्पेऽपि न सुखोत्पत्तिः । यथा स्वल्पेऽप्यजीर्णे न भोजनं सुखाय ॥१८॥

हिन्दी—वे शरीर विषय-संसर्ग से उत्पन्न प्रमुख फलों को भोगकर निष्पाप हो महा-बलवान् उन्हीं दोनों (महान् तथा परमात्मा) का आश्रय करते हैं । (उसमें लीन होते हैं) ॥१८॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।

याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥१९॥

भाष्य—“ननु च यदि ‘तौ’ महान् क्षेत्रज्ञश्च संबध्यते ततस्तस्य पश्यत इति

‘तस्ये’ति कः सम्बध्यते ।”

जीव इति केचित् । उक्तं च ‘स एव क्षेत्रज्ञः स एव जीव’ इति । अथ लिङ्गं, ननु च महच्छब्देन तदेवोक्तम् । अथान्तःकरणं महद्बुद्ध्यादि, तत्रापि कः सम्बन्धो लिङ्गस्य धर्माधर्माभ्याम् । तद्धि सूक्ष्मं भूतरूपमेव । यथोक्तं तेषामिदं तु सप्तानाम्’ इत्यत्रान्तरे ।

अतो मन्यामहे यदेवान्यैर्व्याख्यातमस्ति पूर्वश्लोक ‘तावेवोभौ इति महत्परमात्मानौ बुध्येते’ इति तदेव युक्तं पश्यामः । तयोर्हि दृष्टान्त उपपद्यते । महतः करणस्य सतः कर्तृत्वोपचारात् । काष्ठानि पचन्तीति यथा । तस्येति च क्षेत्रज्ञस्य परामर्शभेदोपपत्तिः ।

परमात्मनश्च क्षेत्रज्ञाश्रययोर्धर्माधर्मयोर्दृष्टान्तवचनं सर्वस्य सुखदुःखोपभोगस्य तदधीनताख्यापनार्थम् । यथोक्तं ‘ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वाश्वप्त्रमेव वा’ । प्रेरणा च धर्माधर्मनियमितेच्छैव ।

“ननु च धर्माधर्मयोरिच्छां प्रति नियन्तृत्व ऐश्वर्यं हीयते” ।

तथा शारीरके दर्शितं, यथेह राजा सेवानुरूपं ददाति न च तस्येश्वरत्वमपैति । अतो महत्परमात्मानौ पश्यत इति व्यपदिश्यते ।

तस्येति क्षेत्रज्ञज्ञानम् ।

“तदप्ययुक्तमुत्तरग्रन्थविरोधात् । ताभ्यां प्राप्नोति संपृक्त इति । न हि परमात्मना कस्यचित्सम्पर्कः सम्बन्ध उच्यते । न च परमात्मना कश्चित्सम्बन्धोऽपि” ।

एवं तर्ह्यत्र याभ्यामिति नैवं महत्परमात्मानौ सम्बध्येते । किं तर्हि? धर्मः पापं च ! तयोरपि प्रकृतत्वात् । तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चेति ।

यदि महच्छब्देनान्तःकरणमुच्यते, सुतरामनुपपत्तिः । न हि परमात्मनो द्रष्टृत्वे करणापेक्षा । अधिकरणमेव हि बोधिपरमात्मस्वरूपमभ्येति ‘तावेव चोभाविति’ । कीदृशमेतदभिगमनम् । यदि तद्भावापत्तिः सा नैव कल्मषव्यपायमात्रसाध्या । अथ तत्प्राप्तिप्रवणता, साऽपि नैव प्रलीनेषु भूतेष्वशरीरस्य भवति ।

तस्मात्तौ धर्मं पश्यतस्तस्य ‘तस्यै’वात्मन इति पूर्ववन्नेयम् ॥१९॥

हिन्दी—वे दोनों (महान् तथा परमात्मा) निरालस होकर उस जीव के (भोगने से बचे हुए) धर्म तथा पाप को एक साथ देखते (विचार करते) हैं, जिनसे संयुक्त जीव मर कर परलोक में) तथा इस लोक में (धर्म से) सुख तथा (पाप से) दुःख को पाता है ॥१९॥

धर्म के अधिक होने से स्वर्गमुख होना—

यथाचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।

तैरेव चावृत्तो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥२०॥

भाष्य—प्रायशो बाहुल्येन ।

तैरेव भूतैर्महदादिभिर्महाभूतपर्यन्तैः स्वर्गे सुखमाप्नोति ॥२०॥

हिन्दी—यदि प्राणी मनुष्य-शरीर में अधिक धर्म तथा थोड़ा पाप करता है तो स्थूल शरीर से परिणत उन्हीं पञ्चमहाभूत (पृथ्वी आदि) से स्वर्ग में सुख को भोगता है ॥२०॥

पाप के अधिक होने से यमयातना होना—

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।

तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥२१॥

भाष्य—“ननु च ‘पंचभ्य एव मात्राभ्यः शरीरदुष्कृतिना’मित्युक्तं किमिदानी-
मुच्यते तैर्भूतैः परित्यक्त इति” ।

उच्यते । न भौतिकं शरीरं नाप्यशरीरस्य यातनाः । किं तर्हि? अत्यन्तविलक्षणे
ते मानुषशरीरेऽतोऽन्यान्येतानि मृदुस्निग्धसुकुमारशरीरारंभकाण्यत्यन्तविलक्षणानि ।

दुःखाभिघातनिष्कृत्या परित्यक्त उच्यते । यानि शरीराणि स्वर्गभोग्यानि तैः
परित्यक्तः ॥२१॥

हिन्दी—यदि प्राणी मनुष्य-शरीर में अधिक पाप तथा थोड़ा पुण्य करता है तो
(मनुष्य-शरीर से परिणत) उन्हीं पञ्चभूतों (पृथ्वी आदि) से त्यक्त होकर अर्थात् मरकर यम-
यातनाओं को भोगता है ॥२१॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।

तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥२२॥

भाष्य—प्राग्व्याख्यातोऽयम् ।

एतच्चास्य श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यम् । यदि भूयानधर्मस्तदा याम्यो यातनाः । न
तु स्वल्पेऽधर्मेऽस्मिन्नेव लोके सुखानुभवेन स्वर्गावाप्तिः ॥२२॥

हिन्दी—यम-यातनाओं को भोगकर निष्पाप वह जीव उन्हीं पञ्च महाभूतों (पृथ्वी
आदि) के भागों को प्राप्त करता है अर्थात् मानवजन्म लेता है ॥२२॥

धर्म में मन को लगाना—

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥२३॥

भाष्य—स्वल्पार्थोऽयम् ।

धर्मतोऽधर्मत इति नञः प्रश्लेषः । धर्माधर्मनिमित्तात् । जीवस्य क्षेत्रज्ञस्या-
त्मनः । स्वेनैव चेतसा शास्त्रप्रामाण्यात्तदनुभवेत् ।

कृत्स्नशास्त्रार्थफलोपसंहारः ॥२३॥

हिन्दी—(मनुष्य) इस जीव की धर्म तथा अधर्म के कारण हुई इन गतियों को अपने ही मन से देख (विचार) कर सर्वदा धर्म के तरफ मन को लगावे ॥२३॥

त्रिविध गुणकथन—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।

यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥२४॥

भाष्य—धर्माधर्मयोः कर्मकाण्डोपयोगि यत्तदुक्तम् । इदानीं विद्याकाण्डमारिप्सते । तत्र द्वैताश्रयमिव तावदंगार्थं प्रक्रियते ।

सत्त्वादयस्त्रयो गुणा आत्मनः ।

नात्रात्मा जीवः । किं तर्हि? **महानेव । आत्मशब्दः** स्वभाववचनो न प्रत्यक्त्ववचनः । निर्गुणो हि पुरुषः ।

अथवा भोग्यतया भोक्तुरेवात्मनः सम्बन्धित्वेन व्यपदिश्यते ।

महानिति च प्रधानमेवोच्यते, प्रत्यासत्तेः । आद्या हि विक्रियोद्भूतिः प्रधानस्य महदाख्या । यथा जीवन्त्यो जीवतौ प्रमावस्थावाप्यभवान् विकारानवस्थितः, प्रकृतित्वात्सर्वविकाराणामिदमुच्यते ॥२४॥

हिन्दी—आत्मा (महान्) के सत्त्व, रज तथा तम—ये तीन गुण हैं, जिनसे युक्त यह महान् (आत्मा) सम्पूर्ण (चमचर पदार्थों) में व्याप्त होकर स्थित है ॥२४॥

अधिक गुण के अनुसार देह का होना—

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।

स तदा तद्गुणप्राय तं करोति शरीरिणम् ॥२५॥

भाष्य—यद्यपि सर्वं त्रिगुणं तथापि यो यदा गुणः साकल्येन कात्स्न्येनातिरिच्यते 'आधिक्यं प्राप्नोति' पूर्वकर्मतिशयवशात्स तदा पुरुषस्य गुणान्तरमभिभवति । अतः शरीरी तद्गुणप्रायो भवति । तदीयमेव धर्ममादर्शयति, गुणान्तरं जहातीव ॥२५॥

हिन्दी—यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् इन तीनों ही गुणों (सत्त्व, रज और तम) से व्याप्त है, (तथापि) इन गुणों में से जो गुण सबसे अधिक होता है, वह गुण उस देहधारी को उस गुण की (अपनी) अधिकता से युक्त कर देता है ॥२५॥

सत्त्वादि गुणत्रय के लक्षण—

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥२६॥

भाष्य—सामान्यमेतदेषां लक्षणं व्यापि सर्वप्राणिषु ।

ज्ञानं वेदकम् । अज्ञानं मोहः । न यथा मदमूर्च्छाद्यवस्थास्वचैतन्यमेव ।

उभयरूपता **रजः** । रागद्वेषशब्देनोभयधर्मयोग उच्यते । नापि सम्यक्ज्ञान वशानामतिशयेन क्रोधो न चातिप्रसादः । तत्तद्**रजः** ।

वपुः स्वभावः । अनुच्छेदाद्वीजवासनाया आब्रह्मप्राप्तिस्थितत्वात् ॥२६॥

हिन्दी—(वस्तु का यथार्थ) ज्ञान सत्त्वगुण, प्रतिकूल ज्ञान तमोगुण और राग-द्वेष (रूप मानसिक कार्य) रजोगुण कहलाता है । सब प्राणियों का आश्रित शरीर इन गुणों का आश्रित है ॥२६॥

विशर्म—सत्त्वादि गुणत्रय का स्वरूप क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषाद है, सामर्थ्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति (क्रिया) तथा नियम (स्थिति) है और वे परस्पराभिभव, परस्पराश्रय, परस्परजनन, परस्परमिथुन और परस्परवृत्ति वाले हैं^१ । विशेष जिज्ञासुओं को साङ्ख्यकारिका आदि ग्रन्थ देखना चाहिए ॥

सत्त्वगुण का लक्षण—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।

प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥२७॥

भाष्य—प्रीतिसंयुक्तं संवेदनं शुद्धाभं शुद्धमिवाभाति रजस्तमोभ्यामकलुषितं मदमानरागद्वेषलोभमोहभयशोकमात्सर्यदोषरहितम् । एवं सर्वम् । एषा चावस्था स्वसंवेद्यैकस्यां वेलायां भवेत् ॥२७॥

हिन्दी—उस आत्मा में जो कुछ प्रीति (सुख) से युक्त क्लेशरहित एवं प्रकाशमान लक्षित हो; उसे ‘सत्त्वगुण’ जानना चाहिए ॥२७॥

रजोगुण का लक्षण—

यत्तुः दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

तद्रजोप्रतिपं विद्यात्सततं हर्तृदेहिनाम् ॥२८॥

भाष्य—दुःखेन समायुक्तं संभिन्नं शुद्धं प्रीतिरूपं न भवत्यत उच्यतेऽप्रीतिकरं दुःखानुविद्धतया प्रीत्या न युक्तम् ।

अप्रतिपमप्रत्यक्षं पारमार्थिकम् ।

एतद्रजसो रूपं हर्तृविषयेषु प्रवर्तकं स्पृहाजनकमित्यर्थः ॥२८॥

१. ‘प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥’ इति । (साङ्ख्यकारिका-१२)

हिन्दी—जो दुःखयुक्त, अप्रीतिकारक तथा शरीरियों को विषयों की ओर आकृष्ट करने वाला प्रतीत हो; उसे सत्त्वज्ञान का प्रतिपक्षी (विरोधी) 'रजोगुण' जानना चाहिये ॥२८॥

तमोगुण का लक्षण—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥२९॥

भाष्य—मोहो वैचित्यं युक्तायुक्तविवेकाभावः ।

विषय आत्मा स्वभावो यस्य ।

“ननु चायमविषयोऽन्तरात्मत्वादेव । तत्कथं विषयस्वभावः” ।

मोहविषयानुरागात् बुद्धिरिव एवमुच्यते । विषयाद्वाऽतीव बुद्धिस्तदात्मिका संपद्यत इति संख्यात्रैगुण्यं न त्वन्तर्बहिः सत्त्वानामविशब्दम् ।

अप्रतर्क्यं तदनुमानगोचरम् । अविज्ञेयं अन्तर्बहिःकरणानामगोचर इत्यर्थः ॥२९॥

हिन्दी—जो मोहयुक्त (सत्-असत् अर्थात् भले-बुरे विचार से शून्य) हों, जिसके विषय का आकार स्पष्ट हो तथा जो तर्क से शून्य एवं (अन्तःकरण और बहिष्करण द्वारा) दुर्ज्ञेय हों; उसे 'तमोगुण' समझना चाहिये ॥२९॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।

अग्न्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥३०॥

भाष्य—त्रयाणामेषामासेव्यमानानां यत्फलमुत्पद्यते उत्तमाधममध्यमं तद्वक्तव्यतया प्रतिज्ञायते । यस्मिन् गुणे उद्विक्ते यः पुरुषस्य स्वभावो भवति स उच्यत इति प्रतिज्ञा ॥३०॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) इन (१२।२४) तीनों गुणों का (क्रमशः) उत्तम, मध्यम और जघन्य (तुच्छ) जो फलोदय है, उसे अशेषतः (सम्पूर्ण रूप से, मैं) कहूँगा ॥३०॥

सात्त्विक गुण का लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥३१॥

भाष्य—तत्सम्बन्धगुणलक्षणमित्येवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञायते ।

सात्त्विकमिति कथंचिद्योजयितव्यम् । गुणो लक्ष्यते तेन तद्गुणलक्षणम् । तत्कस्येति । सात्त्विकमिति सम्बन्धः । प्रयोजनं समुदायसम्बन्धवयवा अपि दृश्यन्ते । तेनैतदुक्तं भवति—‘सत्त्वस्य’ गुणस्यैतल्लक्षणम् । यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम् । गुरुरूप-सर्जनीभूतोऽपि देवदत्तपदेन सम्बध्यते, तद्वदेतत् द्रष्टव्यम् ।

पदार्था व्याख्याताः ॥३१॥

हिन्दी—वेदों का अभ्यास, (प्रजापत्यादि) तप, (शास्त्रों के अर्थ का) ज्ञान, (मिट्टी जल आदि के द्वारा) शुद्धि, इन्द्रियसंयम, (दान आदि) धर्मकार्य और आत्मा (परमात्मा) का चिन्तन; ये सब ‘सत्त्वगुण’ के लक्षण (कार्य) हैं ॥३१॥

राजसिक गुण का लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।

विषयोपसेवा चाजस्र राजसं गुणलक्षणम् ॥३२॥

भाष्य—कर्मणां काम्यानां दृष्टार्थानामदृष्टार्थानां चारम्भे रतिवृथारम्भश्च ।

एतत् राजसं लक्षणम् ।

अधैर्यमल्पेऽप्युपघातहेतौ चेतसोऽसमाश्वासः । दैन्यग्रहणमुत्साहत्यागः ।

असत्कार्यं लोकशास्त्रविरुद्धं तस्य परिग्रह आचरणम् ।

विषये संगोऽजस्रं पुनः पुनः प्रवृत्तिः ॥३२॥

हिन्दी—(फलप्राप्त्यर्थ आरम्भ किये गये काम में रुचि होना, धैर्य का अभाव, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण तथा सर्वदा (रूप, रस, शब्द आदि) विषयों में आसक्ति ये ‘राजसिक गुण’ के लक्षण हैं ॥३२॥

तामसिक गुण का लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥३३॥

भाष्य—धनादिषु रागो लोभः । क्रौर्यं स्वल्पेऽपराधे वैरानुबन्धः । नास्तिक्यं प्रमादता । भिन्नवृत्तिता शीलभ्रंशः । ‘चग्रहणेन’ शिष्टविगर्हणा । याचिष्णुता याचकत्वं, तच्छीलता । प्रमादोऽनवधानं धर्मादिष्वपायणरिहारेष्वनादरः ।

स्वप्नोऽधृतिरिति नञ्प्रश्लेषः ॥३३॥

हिन्दी—लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्म का त्याग, माँगने का स्वभाव होना और प्रमाद—ये ‘तामसिक’ गुण के लक्षण हैं ॥३३॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।

इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥३४॥

भाष्य—त्रिषु कालेषु साम्योपचयापचयेषु वोत्तमाधममध्यमेषु च फलोदयेषु ।

इदमिति वक्ष्यमाणस्य निर्देशः ॥३४॥

हिन्दी—तीनों (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान) काल में रहनेवाले इन तीनों गुणों

(१२।२४) के गुणलक्षण को क्रमशः संक्षेप में यह (१२।३५-३८) जानना चाहिए॥३४॥

संक्षेप में तामस गुण का लक्षण—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।

तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥३५॥

भाष्य—यदुक्तं 'त्रिष्विति' कालनिर्देशस्तद्दर्शयति । कृत्वा कुर्वन् करिष्यन्निति च । कदाचित्त्रिष्वपि कालेषु कदाचिदन्यतरस्मिन् । 'किमर्थमेहमवमकरवं कथं शिष्टानामग्रतो भवामीति' लज्जा चेतसि परिखेदः ॥३५॥

हिन्दी—मनुष्य जिस काम को करके, करता हुआ तथा भविष्य में करनेवाला होकर लज्जित होता है; उन सबको विद्वान् 'तामस गुण' का लक्षण समझें ॥३५॥

संक्षेप में राजस गुण का लक्षण—

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।

न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥

भाष्य—'लोके साधुवादो ममैवं स्यादिति' बुद्ध्या यद्यागतपोधर्माणामाचरणम् तच्च ख्यापनार्थम् । यथा तीर्थकाकेभ्यो दानं राजनि स्पर्धया जल्पः शूद्रेभ्यः शास्त्रव्याख्यानम् ।

पुष्कलामित्यनेनानुषंगित्वात्ख्यातेः सहायतामाह । धर्मार्थं प्रवर्तमानस्य यदि जनाः प्रकाशयन्ति तादृशी धर्मो न दोषाय । तदुक्तं 'यथेक्षुहेतोरिति' । यथा महाभारताख्याने कृष्णद्वैपायनेनोक्तम्—

'यथेक्षुसक्तो युधि कर्षकोऽस्ति तृणानि वल्लीरपि संचिनोति ।

तथा नरो धर्मपथेन संचरन् यशश्च कामांश्च वसूनि चाश्नुते ॥'

असम्पत्तौ च कर्मफलानाम् । न शोचति न दुःखमस्ति ।

अथवा कर्मणामसम्पत्तौ ॥३६॥

हिन्दी—इस लोक में मनुष्य जिस काम में अत्यधिक प्रसिद्धि (नामवरी) को चाहता है और उस काम के असफल होने पर शोक नहीं करता, उसे 'राजस गुण' का लक्षण समझें ॥३६॥

संक्षेप में सात्त्विक गुण का लक्षण—

यत्सर्वेणोच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।

येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥३७॥

भाष्य—विस्पष्टोऽयम् ॥३७॥

हिन्दी—मनुष्य जिस काम (वेदार्थ) को सम्पूर्ण आत्मा से अर्थात् सब प्रकार मन लगाकर जानना चाहता है तथा जिस काम को करता हुआ लज्जित नहीं होता और जिस काम से आत्मा प्रसन्न होती है; उसे ‘सात्त्विक गुण’ का लक्षण समझना चाहिए ॥३७॥

पुनः सत्त्वादि गुणत्रय का अतिसंक्षिप्त लक्षण—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्थं उच्यते ।

सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥३८॥

भाष्य—“ननु च कामेऽपि सुखमस्ति । ‘तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं’ तत्सत्त्वलक्षणमिति प्राप्तम् ।

कथं तमसो लक्षणम् । उच्यते । मोहरूपं तमोऽत्र संवेदनमस्ति । तदपि सत्त्वस्यैव लक्षणं ‘सत्त्वं ज्ञानम्’ इत्युक्तत्वात्” ।

उच्यते । नात्र भोक्तृभोग्यभावावस्थाभिप्रेता । किं तर्हि? विषयगतस्पृहातिशयः । न च तस्यामवस्थायां सुखोत्पत्तिः । अव्यक्तविषयत्वं च विद्यते । कामप्रधानस्य युक्ता-युक्तविवेकशून्यत्वादस्त्येव मोहरूपता । ईदृशश्चात्र कामोऽभिप्रेतः । न यदृतौ शास्त्रार्थ-तया स्वदारेषु गमनौत्सुक्यम् ॥३८॥

हिन्दी—तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का लक्षण अर्थ और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म होता है; इनमें—से पहले वाले की अपेक्षा आगेवाला श्रेष्ठ होता है ॥३८॥

येन यांस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।

तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥३९॥

भाष्य—एषां गुणानां मध्ये येन गुणेन संसारान् पुरुषः प्रतिपद्यते । ‘संसार’-शब्दो गतिवचनः । यानि जन्मानि प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुत्तरत्र वक्ष्यत इति प्रतिज्ञा-श्लोकः ॥३९॥

हिन्दी—(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) इन तीनों गुणों में से जो मनुष्य जिस गुण के द्वारा जिन संसारों अर्थात् गतियों को प्राप्त करता है, उन सबको संक्षेप से इस संसार के क्रम से कहूँगा ॥३९॥

गुणत्रय से त्रिविध गतियों की प्राप्ति—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

भाष्य—सामान्येन गतिनिर्देशो गुणनिमित्तोऽयम् ॥४०॥

हिन्दी—सात्त्विक (सत्त्वगुण का व्यवहार करनेवाले) देवत्व को, राजस (रजोगुण

का व्यवहार करने वाले) मनुष्यत्व को और तामस (तमोगुण का व्यवहार करनेवाले) तिर्यक्त्व (पशु-पक्षी, वृक्ष-लता-गुल्म आदि की योनि) को प्राप्त करते हैं; ये तीन प्रकार की गतियाँ हैं ॥४०॥

कर्मादिवश अप्रधान नवधा गतियाँ—

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।

अधमा मध्यमाग्रा च कर्मविद्याविशेषतः ॥४१॥

भाष्य—एषा त्रिविधा गौणिकी सत्त्वादिगुणप्रयुक्ता प्रत्येकं पुनः त्रिविधो-
त्तमाधममध्यमभेदेन । अतो नवधा सम्पद्यते ।

कर्मविद्याविशेषाच्चानन्ताः । कुशलाकुशलकर्मवशात् । बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वप्रयोगाच्च
कर्मणां बहुभेदत्वात् । तदिदमाह कर्मविद्याविशेषत इति ॥४१॥

हिन्दी—(सत्त्वादि तीनों गुणों के कारण) तीन प्रकार की ये गतियाँ (देवगति,
मनुष्यगति तथा तिर्यग्गति) कर्म तथा विद्या आदि की विशेषता से जघन्य, मध्यम तथा
उत्तम—पुनः तीन प्रकार की अप्रधान गतियाँ होती हैं । इस प्रकार $3 \times 3 = 9$ अप्रधान
गतियाँ होती हैं) ॥४१॥

जघन्य तामसी गति—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।

पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥

हिन्दी—स्थावर (वृक्ष, लता, पर्वत आदि अचर), कृमि (सूक्ष्म कीड़े), कीट
(कुछ बड़े कीड़े), मछली, सर्प, कछुआ, पशु, मृग— ये सब जघन्य (हीन) तामसी
गतियाँ हैं ॥४२॥

मध्यम तामसी गति—

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥

हिन्दी—हाथी, घोड़ा, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, बाघ और सूअर—ये मध्यम
तामसी गतियाँ हैं ॥४३॥

उत्तम तामसी गति—

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४४॥

भाष्य—चारणाः कथकगायकस्त्रीसंयोजकादयः ।

सुपर्णाः पक्षिविशेषाः ।

शूद्रा गर्हिता इति सम्बन्धः । ये ब्राह्मणानवजानते ये च तद्भृत्युपजीविनो ये च मदमानादियुक्तः । हिंसाश्रौरा इत्येवमादयोऽपि गर्हिताः ॥४४॥

हिन्दी—चारण (बन्दी-भाट आदि), सुपर्ण (पक्षी-विशेष), कपटाचारी मनुष्य, राक्षस और पिशाच—ये उत्तम तामसी गतियाँ हैं ॥४४॥

जघन्य तामसी गति—

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।

घृतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥

भाष्य—झल्ला मल्ला इति रङ्गवतारकाः । तत्र मल्ला बाहुयोधिनः झल्ला यष्टिप्रहारिणः परिहासजीविनो वा ॥४५॥

हिन्दी—झल्ल मल्ल (१०।२२), नट (रङ्गमञ्च पर अभिनय कर जीविका करने वाले), शस्त्रजीवी (सिपाही, सैनिक आदि), जुआरी तथा मद्यपी पुरुष—ये जघन्य (हीन) राजसी गतियाँ हैं ॥४५॥

विमर्श—व्रात्य (२।३९) क्षत्रिय सवर्ण स्त्री में ‘झल्ल’ तथा ‘मल्ल’ संज्ञक सन्तान होती है, इनमें से ‘झल्ल’ लाठी चलानेवाले तथा ‘मल्ल’ कुशती लड़नेवाले होते हैं ।

मध्यम राजसी गति—

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।

वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥४६॥

भाष्य—राजानो जनपदेश्वराः । क्षत्रियास्तदनुजीविनः सामन्ताः ।

वादप्रधानाः शास्त्रार्थगहनेष्वितरेतरं जल्पन्ति । **युद्धप्रधाना** योधकाः ॥४६॥

हिन्दी—राजा, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित, शास्त्रार्थ आदि के विवाद को पसन्द करने वाले—ये सब मध्यम राजसी गतियाँ हैं ॥४६॥

उत्तम राजसी गति—

गन्धर्वा गुह्यका यक्षां विबुधानुचराश्च ये ।

तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीभूत्तमा गतिः ॥४७॥

भाष्य—गन्धर्वादयो देवास्तेषामर्थवादेतिहासेभ्यो भेदो विज्ञेयः ।

विबुधा देवास्तेषामनुचराः सिद्धविद्याधरादयः ॥४७॥

हिन्दी—गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर (विद्याधर आदि) और अप्सराएँ—ये सब उत्तम राजसी गतियाँ हैं ॥४७॥

जघन्य सात्त्विकी गति—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

भाष्य—तापसास्तपःप्रधाना वानप्रस्थादयः ।

यतयः परिव्राजकादयः ।

अनेन च ज्ञापयति न केवलं जन्मोपपत्तिर्गतिजातस्य कर्माचरणादपि । यतो न तापसादयः कतिचिज्जातिविशेषाः, किं तर्हि? कर्मनिमित्ता एते व्यपदेशाः ।

अन्ये तु मन्यन्ते । सन्ति मेरुनिवासिनः केचिज्जनपदा 'यतयो' नाम । श्रूयन्ते 'इन्द्रो यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छदिति' ।

विमानानि यानविशेषाः पुष्पकादयस्तैश्चरन्ति वैमानिकाः अन्तरिक्षचराः केचिद्देव-योनयः ।

प्रथमा निकृष्टाः ॥४८॥

हिन्दी—तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गण (पुष्पक आदि देव-विमानों से गमन करनेवाले देवगण), नक्षत्र और दैत्य (प्रह्लाद, बलि आदि); ये जघन्य सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥४८॥

मध्यम सात्त्विकी गतियाँ—

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतीषि वत्सराः ।

पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥४९॥

भाष्य—आनुपूर्वीविशिष्टः शब्दो वेदः ।

“ननु च गत्यधिकारे कः प्रसंगोऽचेतनानाम् । अचेतनाश्च शब्दादयः” ।

अत्यल्पमिदमुच्यते शब्दादयोऽचेतना इति । सर्व एवैते देवादयः स्थावरान्ताः शरीरात्मानः । तत्र सर्वशरीराणामचेतनत्वम्, तच्छक्तिः केवलं पुरुषादिचैतन्यरूपिणी प्राप्यते । निर्गुणश्च पुरुषस्तदधिष्ठितानि शरीराण्यचेतनान्यपि चेतनान्युच्यन्ते ।

अत एतदुक्तं भवति । सत्त्वप्रधानो वेदस्तदभ्यासात्सात्त्विकी गतिः प्राप्यते । न पुनः सत्त्वप्रधानस्य वेदत्वप्राप्तिः सात्त्विकी गतिरुच्यते ।

अन्येषां तु प्रदर्शनं सर्वक्षेत्रज्ञाः सन्त्यधिष्ठातारोवेदपुरुषा वारुणे लोके श्रूयन्ते ॥४९॥

हिन्दी—यज्वा (विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, (इतिहास प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानि देव-विशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध शरीर-

धारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि) और साध्य (देवयोनि-विशेष)—ये मध्यम सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥४९॥

उत्तम सात्त्विकी गति—

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।

उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥५०॥

भाष्य—विश्वसृजो मरीच्यादयः प्रजापतयः ।

धर्मो वेदार्थः । पूर्वं वेदस्वरूपमुक्तमिदानीं तदर्थः । स्वरूपादर्थः प्रधानतर इत्युक्तं भवति । अथवा धर्माः सत्यादयश्च । विग्रहवत्त्वं पूर्ववद्द्रष्टव्यम् । महानिति संज्ञान्तरम् । अव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिरित्येकोऽर्थः ।

“ननु च सत्त्वाधिक्ये प्रधानस्य तद्विकारत्वाज्जगतः सर्वेषां विकाराणां सत्त्वाधिक्यं प्राप्तम् । ततश्च रजस्तमसोः कुतोऽतिरेकः । अतो यदुक्तं ‘यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यत’ इति तदनुपपन्नम्” ।

उच्यते । नैतदेवं परं प्रधानरूपता प्राप्या । किं तर्हि? त्रयः प्रकाराः सम्भवन्ति । यदि वा प्राप्योऽव्यक्तभावो, यदि वा दृष्टविधिः, यदि वा नैवायं सांख्ये यः प्रधानेऽव्यक्तशब्दो वर्तते । क्रियानिमित्तो ह्ययम् । नास्य व्यक्तिर्विद्यत इति अस्फुटप्रकाशत्वादव्यक्तम् । तथा च परमात्मनि वृत्तिर्भवति । महत्त्वं च तस्य विभुत्वादुपपद्यत एव ।

“ननु च नैवास्य सात्त्विकी गतिः” ।

अगुणत्यागाच्चाप्येवम् । यदा हि ‘नाहं न मम किञ्चिदिति’ मुक्ताहंकारममकारो भवति तदा ब्रह्मता भवतीति विज्ञायते । निदिध्यासनयैव ब्रह्मप्राप्तिः । किन्तु सत्त्वप्रधाना एव ज्ञानादितत्परा भवन्ति । न तामसा राजसा वेति । एवं कृत्वोच्यत ‘उत्तमा सात्त्विकी गतिः’ ।

अन्यौ पक्षावनुपपन्नौ । न हि प्रधानभावं प्राप्य काचित्पुरुषार्थसिद्धिः । अचेतनं हि तदव्यपदिशन्ति । अचेतन्यं स्थावरेभ्योऽपि निकृष्टतरं यदधीना हि मदमूर्च्छावस्थाः केचिदर्थयन्ते । दृष्टविधिस्तु नैव सम्भवत्यश्रुतत्वात् ‘आत्मा वारे द्रष्टव्य’ इति (बृहदारण्यक अ०२ ब्रा०५) श्रुतिः न प्रधानं द्रष्टव्यमिति । तस्मात्परमात्मविषयावेव महानव्यक्त इत्येतौ शब्दौ ॥५०॥

हिन्दी—ब्रह्मा (चतुर्मुख) विश्वस्रष्टा (मरीच आदि), (शरीरधारी) धर्म, महान्, अव्यक्त (साङ्ख्यप्रसिद्ध दो तत्त्व-विशेष)—इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियाँ कहते हैं ॥५०॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिः प्रकारस्य कर्मणः ।

त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥

भाष्य—त्रिःप्रकारस्य वाङ्मनःकायसाधनस्य । त्रिविधः सत्त्वादिगुणभेदेन । पुन-
स्त्रिविधः उत्तमादिविशेषतः ।

या अप्यत्र गतयो विशेषतोऽनुक्तास्ता अप्युक्तसादृश्यादन्तर्भावनीयाः । गुणप्रकर-
णोपसंहारः । उत्तरोऽपि श्लोको वक्ष्यमाणसूचकः ॥५१॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) मन, वचन तथा शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों को, (सत्त्व, रज और तम रूप) तीन प्रकार के गुणों को और उनके भी सब प्राणी-सम्बन्धी (जघन्य, मध्यम तथा उत्तम भेद से) तीन-तीन प्रकार की सब गतियों को (मैंने) कहा ॥५१॥

पाप से निन्दित गति पाना—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।

पापान्सयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥

भाष्य—इन्द्रियप्रसंगः प्रतिषिद्धसेवनप्रदर्शनार्थः ।

असेवनं धर्मस्य शिष्टाकरणम् ।

एतच्चाविदुषां भवत्यत आहाविद्वांसः । अत एव नराधमाः ।

अतश्च पापान् संसारान् कुत्सितानि जन्मस्थानानि । संयान्ति प्राप्नुवन्ति ।

अतः प्रसिद्ध एव तावत्कर्मविपाकः प्रचक्ष्यते ॥५२॥

हिन्दी—इन्द्रियों की (अपने-अपने विषयों में) अत्यधिक आसक्ति होने से, (निषिद्ध कर्म करने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए विवाहित प्रायश्चित्त आदि) धर्मकार्य नहीं करने से मूर्ख तथा अधम मनुष्य निन्दित गतियों को पाते हैं ॥५२॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।

क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥५३॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से पुनः कहते हैं कि यह जीव इस लोक में जिस-जिस कर्म (के करने) से जिस-जिस योनि को प्राप्त करता है, उन सबको (आप लोग) सुनें ॥५३॥

पापविशेष से गतिविशेष की प्राप्ति—

बहून्वर्षगणान्योरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।

संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥५४॥

भाष्य—घोरान्नरकान् । दुःखप्रसहनव्यथया 'घोरान्' । यातनास्थानानि 'नरकान्' । तत्क्षयादुद्भूतरूपस्य कर्मणः फलोपभोगेन क्षयः । तत ईषदवशिष्टे कर्मणि संसार-

प्रतिपत्तिः । “कथं पुनः सर्वकर्म तत्रैव न भुज्यते” ।

उक्तम् । इन्द्रियस्य कर्मणो नरकं फलं, नापशान्तस्य । कार्यविरोधित्वाच्च कर्मणां फलेनोपशमः । तत्र यथैव च ज्वलितस्याग्नेरुदर्चिषो दाहो विनियोगस्तपश्चादम्भ एव स्थितस्यैवं नरकेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

“अग्नेस्तु द्वे अवस्थे भवतः प्रशान्तता ज्वाला च । नरकस्तु एकरूप एव सर्वदा” ।

उदर्चिष इवाग्रयः कर्माणि चोपचयापचयवन्ति । अत उपचितस्य कर्मणो नरको-
ऽपचीयमानस्य ततोऽन्यत्रोपभुक्तिः । तत्र युक्तं ततः शेषेणेति ॥५४॥

हिन्दी—महापातकी (ब्रह्महत्या आदि (११।५४) करनेवाले) बहुत वर्ष समूहों तक भयङ्कर नरकों को पाकर उनके उपभोग क्षय से इन (आगे (१२।५५-८०) कही जाने वाली गतियों को प्राप्त करते हैं ॥५४॥

ब्रह्मघाती को कुत्ते आदि की योनि-मिलना—

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।

चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥५५॥

हिन्दी—ब्रह्मघाती मनुष्य कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, गौ, बगरी, भेंड़, मृग, पक्षी, चण्डाल (१०।१६) तथा पुक्कस (१०।१८) की योनि को प्राप्त करता है ॥५५॥

मद्यप ब्राह्मण को कृमि आदि की योनि मिलना—

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।

हिंस्त्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥५६॥

भाष्य—विड्भुजा वायसादयः ।

हिंस्त्राणां व्याघ्रादीनाम् ॥५६॥

हिन्दी—सुरा पीनेवाला ब्राह्मण कृमि (बहुत सूक्ष्म कीड़े), कीट (कृमियों से कुछ बड़े कीड़े), पतङ्ग (उड़नेवाले फतिङ्गे यथा—शलभ, टिड्डी आदि), विष्ठा खाने वाले (कौआ आदि) तथा हिंसक (बाघ, सिंह, भेंड़िया आदि) जीवों की योनि को प्राप्त करता है ॥५६॥

चोर ब्राह्मण को मकड़ी आदि की योनि मिलना—

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।

हिंस्त्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥५७॥

हिन्दी—सोने को चुरानेवाला ब्राह्मण मकड़ी, साँप, गिरगिट, जलचर जीव (मगर आदि), हिंसाशील तथा प्रेतों की योनि को हजारों बार प्राप्त करता है ॥५७॥

गुरुतल्पग को तृणादि योनि मिलना—

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।

क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥५८॥

भाष्य—क्रूरकर्मकृतः परवधशीलाः ॥५८॥

हिन्दी—गुरुतल्पग (गुरु (२।१४२) की स्त्री के साथ सम्भोग करनेवाला) मनुष्य तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांस को खानेवाले (गीध आदि) तथा दंष्ट्री (बाघ, सिंह कुत्ता आदि) जीव और क्रूर कर्म करनेवाले (बाघ, सिंह या जल्लाद आदि) की योनि को सैकड़ों बार प्राप्त करते हैं ॥५८॥

हिंसावृत्तिका आदि को मार्जारादि योनि मिलना—

हिंसा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽमेध्यभक्षिणः ।

परस्परादिनः स्तेनाः प्रेताऽन्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥५९॥

भाष्य—क्रव्यादा गृध्रादयः । श्रमेध्यभक्षिणः कृमयः । परस्परमदन्ति, यथा महामार्जारो मार्जारं, महामत्स्यः सूक्ष्मं मत्स्यं, अनेकभेदमिव ।

अन्त्यस्त्रीनिषेविणोऽन्त्याः बर्बरादयः ॥५९॥

हिन्दी—हिंसक (सदा हिंसा करनेवाले बहेलिया, शिकारी आदि) मनुष्य क्रव्याद (कच्चे मांस खानेवाले बिलाव आदि) होते हैं, अभक्ष्य पदार्थों को खानेवाले मनुष्य कृमि (विष्ठादि के बहुत छोटे-छोटे कीड़े) होते हैं, (महापातक से भिन्न) चोर परस्पर में एक दूसरे को खानेवाले होते हैं और चण्डाल आदि हीनतम जातियों की स्त्रियों के साथ सम्भोग करनेवाले प्रेत होते हैं ॥५९॥

विमर्श—इस श्लोक के चतुर्थ पाद में 'प्रेताः + अन्त्यस्त्री.....' ऐसी सन्धि-विच्छेद कर स्मृतियों के वेदतुल्य होने से 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' अर्थात् वेद में सूत्रविहित सब कार्य वैकल्पिक होते हैं इस नियमानुसार विसर्ग का वैकल्पिक लोप करके, अथवा 'प्रेतास् + अन्त्यस्त्री.....' ऐसी स्थिति में 'ससजुषो रुः' (पा०सू० ८।२।६६) से सकार का रु आदेशकर उसका 'भोभगो अधोअपूर्वस्य योऽशि' (पा०सू० ८।३।१७) से य् आदेश करके 'लोपः शाकल्यस्य' (पा०सू० ८।३।१९) इस सूत्र से उस 'य्' का लोपकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा०सू० ६।१।१०१) इस सूत्र से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर उक्त प्रयोग की सिद्धि मन्वर्थमुक्तावलीकार ने की है, परन्तु यह सवर्ण दीर्घ कार्य भी छान्दस् प्रयोग मानकर ही होगा अन्यथा 'य' लोप विधायकसूत्र में त्रिपादी तथा सवर्ण-दीर्घविषयक सूत्र के सपादसप्ताध्यायीस्थ होने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' (पा०सू० ८।२।१) की प्रवृत्ति होकर यलोप के प्रसिद्ध होने से सवर्ण-दीर्घ नहीं हो सकेगा ।

पतितसंसर्गी आदि के ब्रह्मराक्षस-योनि मिलना—

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।

अपहत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥६०॥

हिन्दी—पतितों के साथ संसर्ग (११।१८०) कर, परस्त्री के साथ सम्भोग कर और ब्राह्मण के (सुवर्ण-भिन्न) धन का अपहरण कर मनुष्य ब्रह्मराक्षस होता है ॥६०॥

मणि आदि के चोर को हेमकार की योनि मिलना—

मणिमुक्ताप्रवालानि हत्वा लोभेन मानवः ।

विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥६१॥

भाष्य—हेमकर्तारः पक्षिणः ॥६१॥

हिन्दी—मनुष्य मणि, मूँगा और अनेक प्रकार के रत्नों के लोभ से (आत्मीय होने के भ्रम से नहीं) हरणकर सुनार (या ‘हेमकार’ पक्षी) की योनि में उत्पन्न होता है ॥६१॥

धान्यादि चोर को चूहे आदि की योनि मिलना—

धान्यं हत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।

मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥६२॥

भाष्य—आखुः मूषकः ॥६२॥

हिन्दी—मनुष्य धान्य चुराकर चूहा, कांसा चुराकर हंस, जल चुराकर प्लव नामक पक्षी, शहद चुराकर दंश (डांस), दूध चुराकर कौवा, (विशिष्ट रूप से कथित गुड नमक आदि के अतिरिक्त) गन्ने आदि का रस चुराकर कुत्ता और घी चुराकर नेवला होता है ॥६२॥

मांसादि चोर को गीध आदि की योनि मिलना—

मांसं गृध्रो वपां महुस्तैलं तैलपकः खगः ।

चीरीवाकस्तु लवणं बलाकाशकुनिर्दधि ॥६३॥

हिन्दी—मांस चुराकर गीध, चर्बी चुराकर मद्गु नामक जलचर, तैल चुराकर तैलपक नामक पक्षी (या ‘तेलचवटा’ नामक उड़नेवाला कीड़ा), नमक चुराकर झीङ्गुर और दही चुराकर बलाका पक्षी होता है ॥६३॥

रेशमी वस्त्रादि के चोर को तित्तिर आदि की योनि मिलना—

कौशेयं तित्तिरिहत्वा क्षौमं हत्वा तु दर्दुरः ।

कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥६४॥

भाष्य—दर्दुरः मंडूकस्तोकः ॥६४॥

हिन्दी—रेशमी वस्त्र (या सूत) चुराकर तीतर पक्षी, क्षौम (तोसी आदि के छाल से

बना) वस्त्र चुराकर मण्डूक (मेढक), रुई से बना अर्थात् सूती वस्त्र चुराकर क्रौञ्च पक्षी, गौ को चुराकर गोह औ गुड़ चुराकर वाग्गुद पक्षी होता है ॥६४॥

कस्तूरी आदि के चोर को छुछुन्दरी आदि की योनि मिलना—

छुछुन्दरीः शुभान्धान्यत्रशाकं तु बर्हिणः ।

श्चावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥

भाष्य—बर्हिणो मयूराः ॥६५॥

हिन्दी—उत्तम गन्ध (कस्तूरी, कर्पूर आदि) चुराकर छुछुन्दरी, पत्तों वाला (बथुआ, पालक आदि) शाक चुराकर मोर, सिद्धात्र (मोदक, लड्डू, सत्तू, भात आदि) चुराकर शाही (काँटेदार सम्पूर्ण शरीर वाला छोटे कुत्तों के बराबर ऊँचा पशु-विशेष), कच्चा अन्न (चावल, धान गेहूँ, जौ, चना, दाल आदि) चुराकर, शल्यक होता है ॥६५॥

अग्नि आदि के चोर को बगुला आदि की योनि मिलना—

बको भवति हत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।

रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

हिन्दी—अग्नि चुराकर बगुला, गृहोपयोगी (सूप, चलनी, ओखली, मूसल आदि) साधन चुराकर लोहनी नामक कीड़ा (जो मिट्टी से लम्बा या गोल आकारवाले अपने घर को दिवालों या धरन आदि काष्ठों पर बनाता है) और कुसुम्भ आदि से) रङ्गा गया वस्त्र चुराकर चकोर पक्षी होता है ॥६६॥

मृग आदि के चोर को भेड़िया आदि की योनि मिलना—

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।

स्त्रीमृक्षः स्तोकको चारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥

भाष्य—जलं पल्व इत्यत्र पानार्थमुदकं ज्ञेयम् । स्तोकको वारीत्यत्र धान्यसेका-
द्यर्थम् । रसश्चाद्यं रसमाहुर्यदि वाऽतिरिक्तौषधादि द्रष्टव्यम् ॥६७॥

हिन्दी—मृग (हरिण) या हाथी चुराकर भेड़िया, घोड़ा चुराकर बाघ, फल तथा मूल चुराकर बानर, स्त्री चुराकर भालू, (पीने के लिए) पानी चुराकर चातक पक्षी, (एक्का, तांगा, रेक्सा गाड़ी आदि) सवारी चुराकर ऊँट और (इस प्रकरण में अकथित) पशुओं को चुराकर छाग होता है ॥६७॥

बलपूर्वक साधारण वस्तु लेने पर भी तिर्यक् योनि मिलना—

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य बलान्नरः ।

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥६८॥

भाष्य—नात्र तिरोहितमिव किञ्चिदस्ति ॥६८॥

हिन्दी—मनुष्य दूसरे की निःसार (साधारणतम) भी वस्तु को बलात्कार से लेकर तथा बिन हवन किये (पुरोडाश आदि) हविष्य को खाकर अवश्य ही तिर्यग्योनि को पाता है ॥६८॥

उक्त वस्तु चुरानेवाली स्त्रियों को स्त्रीरूप में उक्त योनि मिलना—

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हत्वा दोषमवाप्नुयुः ।

एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥६९॥

हिन्दी—इस प्रकार स्त्रियाँ भी इच्छापूर्वक (इन वस्तुओं को) चुराकर दोषभागिनी होती हैं और वे इन्हीं (१२।६२-६८) जीवों की स्त्रियाँ होती हैं ॥६९॥

नित्यकर्म के त्याग से शत्रुओं का दास होना—

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।

पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति दस्युषु ॥७०॥

भाष्य—ब्राह्मणोऽध्यापनादिजीविकाकर्मत्यागेन यदि क्षत्रियादिवृत्तिमुपजीवेत् एवं क्षत्रियादयः स्वकर्मच्युताः पापान् संसारान् तिर्यग्योनीरनुभूय मनुष्यत्वे जाता दस्युषु चौरादिहिंसादिषु भृत्यभावं प्राप्नुवन्ति ।

अनापदीत्यनुवादः । आपदि विहितत्वाद्दोषाभावः ॥७०॥

हिन्दी—(इस प्रकार शास्त्रनिषिद्ध कर्मों के आचरण करने पर फलों को कहकर अब शास्त्रविहित कर्मों के नहीं करने पर होनेवाले फलों को कहते हैं) वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) आपत्तिकाल नहीं होने पर भी अपने-अपने कर्मों से भ्रष्ट होकर (शास्त्र-विहित पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मों को छोड़कर) निन्दित योनियों को पाकर जन्मान्तर में शत्रुओं के यहाँ दास होते हैं ॥७०॥

स्वकर्मभ्रष्ट ब्राह्मणादि का प्रेत होना—

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।

अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कूटपूतनः ॥७१॥

भाष्य—स्वकर्मच्युतानां पापगतयः प्रदर्श्यन्ते ।

वान्तमश्नाति ।

उल्कया चास्यमुखं दह्यते ।

कुणपः शवशरीरम् ।

कूटपूतनः कुत्सितगंधा नासिकाऽस्य भवति ।

कटपूतन इति वा पाठः । कटपूतनो नाम पिशाचादिः स तु कश्चिददृश्यो भूत-
विशेषः श्मशानिकभूमिसेवी ॥७१॥

हिन्दी—अपने धर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण वान्तभोजी (वसन् किये हुए अन्नादि को खानेवाला) तथा ज्वालायुक्त (ज्वलनशील-जलते हुए) मूखवाला प्रेत होता है और (अपने धर्म से भ्रष्ट) क्षत्रिय अपवित्र (विष्ठा) तथा शव को खानेवाला 'कटपूतन' नामक प्रेत होता है ॥७१॥

मैत्राक्षिज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।

चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥७२॥

भाष्य—मैत्राक्षिज्योतिक इति शब्दान्तरं पिशाचवचनं पूर्ववत् । अथवा मैत्राक्षे ज्योतिर्दृष्टावपीति । 'मैत्र'मंगं पायुः तदक्षिविवरं छिद्रम् ।

अन्ये तूलूकमाहुः । 'मैत्र'मादित्यालोकः । 'अक्षज्योतिः' ऐन्द्रियकं दर्शनम् । स ह्यादित्यालोके न पश्यति ॥७२॥

हिन्दी—अपने कर्म से भ्रष्ट हुआ वैश्य पीब खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिष्क' नामक प्रेत होता है (इसका गुद ही कर्मेन्द्रिय होता है) और अपने धर्म में भ्रष्ट शूद्र 'चैलाशक' (वस्त्रों की 'जूँ' को खानेवाला) नामक प्रेत होता है ॥७२॥

विमर्श—गोविन्दराज ने वस्त्र खानेवाला कीड़ा होना स्वधर्मभ्रष्ट शूद्र को कहा है, किन्तु प्रेतयोनि में जन्म लेने का प्रकरण होने से वह कथन ठीक नहीं है ।

विषयसेवन से नरक प्राप्ति—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः ।

तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥

भाष्य—भेदग्रहगृहीतानां पुत्रदाराभिष्वगन्धनादिलोभे विषयसुखगन्धमात्मैकत्व-परिपन्थिविद्याप्रतिपक्षभूतं निवर्तयितुं संसारस्वरूपं मानुष्यकं जन्म यथास्थितमनूद्यते सर्वस्य प्रसिद्धम् ।

यथा यथा विषयेष्वभ्यासेन प्रवर्तन्ते । **विषयात्मका** विषयलालसाः । 'आत्म-शब्देन' 'प्रवृत्तस्य तत्स्वभावतैव भवती'त्याहुः । यस्तु कथंचित्सहितं भुंक्ते तस्य भोगा-दिना न तत्स्मृत्युपपत्तावभिलाषो जायते । यस्त्वत्यन्तमेवाधरः स तद्भावनया तदात्मत्वेन सम्पद्यते । तदिदमाह **तथा तथा कुशलतेति** । 'कुशलता'पदं चैकरसीभावः । अतश्च स न शक्नोति विषयान्परिहर्तुम् ।

ईदृश्येव प्रवृत्तिः । शिष्टाप्रतिषिद्धेष्वपि स्वदारगमनादिष्वागमार्जितद्रव्योपपादकेन भोज्याविशेषेष्वपि प्रतिषिद्धा ॥७३॥

हिन्दी—विषयी मनुष्य विषयों को जैसे-जैसे (जितनी अधिक मात्रा में) सेवन करते हैं, उन (विषयों) में वैसे-वैसे (उतनी अधिक मात्रा में) कुशलता प्रवीणता (अर्थात् वृद्धि आसक्ति) होती जाती है ॥७३॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।

संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥७४॥

भाष्य—ततश्च तेषां पापानां प्रतिषिद्धानां कर्मणामभ्यासात् । ‘निन्दितकर्माभ्यासे पतनमिति’ तद्वद्वत् । दुःखानि पश्यन्ति, तासु तासु कृमिकीटादियोनिषु ॥७४॥

हिन्दी—(अतः) वे मन्दबुद्धि उन पाप कर्मों के अभ्यास (निरन्तर सेवन) से उन-उन योनियों में दुःखों को प्राप्त करते हैं ॥७४॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।

असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥

भाष्य—‘तामिस्रमन्थतामिस्रम्’ इत्याद्याः प्रागुक्ता नरकाः । तत्र विवर्तनमेकेन पार्श्वेनासित्वा पार्श्वान्तरेणावर्तनं अबद्धस्योत्तानस्य वा खड्गधारानिशितपत्रैर्वृक्षैर्बन्धनम् । भूमिष्ठैर्वा पत्रैरेव कदलीदलखंडवत् तथाविधैर्मैत्री दुष्कृतिनामंगच्छेदप्राप्तिः ॥७५॥

हिन्दी—(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) (४।८८-९०) तामिस्र आदि घोर नरकों में दुःख पाते हैं तथा असिपत्रवन आदि नरकों का और बन्धन, छेदन आदि दुःखों को पाते हैं ॥७५॥

विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकश्च भक्षणम् ।

करम्भवालुकातापाकुंभीपाकाश्च दारुणान् ॥७६॥

भाष्य—करंभः कर्दमः । कुंभीषु प्रक्षिप्तास्ते हि तापेनाऽऽग्नेयेनात्रादिवत्-पच्यन्ते ॥७६॥

हिन्दी—(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक प्रकार की पीड़ाओं को भोगते हैं, उन्हें कौवे और उल्लू खाते हैं, वे सन्तप्त बालू (रेत) में सन्ताप को पाते हैं और कुम्भीपाक आदि दारुण नरकों को भोगते हैं ॥७६॥

सम्भवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।

शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥७७॥

भाष्य—वियोनयः तिर्यक्प्रेतपिशाचादयः । तत्र सम्भवो जन्म दुःखबहु-लासु ॥७७॥

हिन्दी—(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अधिक दुःखदायी (तिर्यक् आदि) निषिद्ध

योनियों में उत्पत्ति (जन्म) को और शीत तथा आतप (ठंडक तथा धूप) की भयङ्कर विविध पीड़ाओं को प्राप्त करते हैं ॥७७॥

असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।

बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥७८॥

भाष्य—स्पष्टार्थः ॥७८॥

हिन्दी—(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक बार गर्भ में निवास, जन्मग्रहण, अनेक प्रकार के कष्टकारक बन्धन (जन्म पीड़ाओं) को पाते हैं तथा दूसरों के दास बनते हैं ॥७८॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।

द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥७९॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।

क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥८०॥

भाष्य—एतावप्युक्तार्थी ॥७९-८०॥

हिन्दी—(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रियबन्धुओं के वियोग, दुष्टों के सहवास, धनोपार्जन का प्रयास, नाश, कष्ट से मित्रों का लाभ और शत्रुओं का प्रादुर्भाव (नये-नये शत्रुओं का होना) को प्राप्त करते हैं । (वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रतिकार रहित बुढ़ापा, व्याधियों से उपपीडन (भूख-प्यास आदि से) अनेक प्रकार के क्लेश और दुर्जय मृत्यु को पाते हैं ॥८०॥

भावानुसार फलयोग—

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥८१॥

भाष्य—सात्त्विकेन राजसेन तामसेन वा भावेन यद्यत्कर्म निषेवते सात्त्विकं राजसं तामसं वा । शरीरेण तादृशेन सत्त्वबहुलेन रजोबहुलेन तमोबहुलेन वा । तत्तत्फलमुपाश्नुते, सात्त्विकं राजसं तामसं वा ।

यतश्चैतदेवं रजस्तमोबहुलात् कर्मणोऽकुशलसंकल्पहेतोरनिष्टफलप्राप्तिः, अतस्तत्परिवर्जनेन कुशलसंकल्पकर्मणा भवितव्यम् ॥८१॥

हिन्दी—मनुष्य जिस प्रकार के (भले या बुरे) भावों से जिन-जिन (भले या बुरे) कर्मों का सेवन करता है, वह वैसे (भले या बुरे) शरीर से उन-उन (भले या बुरे) कर्मफलों को प्राप्त करता है ॥८१॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।

नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥८२॥

भाष्य—प्रतिषिद्धानां च कर्मणां यावत्फलोत्पत्तिस्तानि समुपदिष्टानि । ततो निवर्तितव्यम् । यतो दुःखानुबन्धी विषयसुखोपभोगोऽतस्ततो निवर्तन्ते ।

श्रेयसे कर्मविधौ मोक्षोपाये वक्ष्यमाणविद्याकाण्डे उपदिष्टे स्थातव्यम् । तदिदानीं वक्ष्यामः ॥८२॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि मैंने) आपलोगों से इन (१२।५५-८१) कर्मों के फलों को सम्पूर्ण उत्पत्ति को कहा, अब मोक्ष के लिए ब्राह्मण के कर्म को आपलोग सुनें ॥८२॥

मोक्षसाधक षट्कर्म—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥८३॥

भाष्य—निःश्रेयसशब्देन न पुनः पुरुषार्थसिद्धिरुच्यते, अपि तु निश्चितसुखदुःखानुबन्धः प्रीतिविशेषोऽपि ।

वेदाभ्यासादीनां तत्र तत्रोक्तानां पुनर्वचनमात्मज्ञानस्तुत्यर्थम् । ज्ञानं वेदार्थविषयम् । उक्तार्थान्यन्यानि पदानि ॥८३॥

हिन्दी—(उपनिषद् के सहित) वेद का अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्म-विषयक) ज्ञान, इन्द्रियों को संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा—ये ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं ॥८३॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।

किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥८४॥

हिन्दी—इन सब (१२।८३) शुभ कर्मों में भी मनुष्य के लिए अधिक शुभकारक कोई कर्म है ॥८४॥

ब्रह्मज्ञान की मुख्यता—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।

तद्ध्यय्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥८५॥

भाष्य—द्विविधमात्मज्ञानम् । देहेंद्रियबुद्ध्यादिव्यतिरिक्तस्य कर्तृभोक्तृत्वोपपत्तिरूपस्य अहंप्रत्ययप्रमेयतयाऽऽत्मनि विषयप्रतीत्यन्तर्गतस्य जीवक्षेत्रज्ञविज्ञानात्मादिपर्यायस्य शरीरनाशोऽप्यनष्टानां कर्मफलानामौर्ध्वदेहिकानां भोक्तृत्वज्ञानम् । अपरं सर्वस्य मनु ॥ ४७

जगतो जन्मादीनां परमात्मैककारणत्वे नित्यस्य सत एकस्याविद्यावासनोपहितनानारूप-
स्य तिर्यक्मनुष्यादिष्वेकत्वदर्शनम् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य'
(बृहदारण्यक अ० २ ब्रा० ५) इत्येवमादिश्रुतिभिरुपदर्शितस्वरूपस्य ज्ञानम् ।

तत्र क्षेत्रज्ञपरिज्ञानं कर्मविधिषूपयुज्यते । असति हि देहादिव्यतिरिक्तेऽस्मिन्नौर्ध्व-
देहिकानां भोक्तारि फलानां स्वर्गकामादिचोदना अनर्थिकाः स्युः, अतस्तत्र न कश्चित्प्रवर्तेत ।
अतस्तत्कर्मानुष्ठानोपयोगि । यत्तु परमात्मैकत्वज्ञानं तिरोधानोपसेवनाभ्याससामर्थ्येनोप-
पद्यमानं शुद्धबुद्धमुक्तानन्दनित्याविनश्वरभावस्यात्मनः प्रकाशनं तत्रेदमुपपद्यते ।

तदग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं तत इति । 'अमृतं' ततः गतेर्व्यापत्तिम् । तत
इति विद्यानिर्देश आत्मविद्यायाः । क्षेत्रज्ञज्ञानं तु कर्मोपकारकत्वादमृतत्वाय न कल्पते ।
अतो वेदान्तोपदिष्टस्य समस्तस्य द्वैताद्वैतविषयस्य सदात्मनो दर्शनं तदात्मज्ञानमभि-
प्रेतम् ॥८५॥

हिन्दी—इन सब (१२।८३) कर्मों में भी उपनिषद्वर्णित ब्रह्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ कहा
गया है, वही सब विद्याओं में प्रधान है, इस कारण उससे अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति
होती है ॥८५॥

वेदोक्त कर्म की श्रेष्ठता—

षण्णामेषां तु पूर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।

श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥८६॥

भाष्य—वेदाभ्यासादीनि षट्कर्माणि श्रेयस्कराणि । तेभ्यो निःश्रेयसकरतरत्वं
वैदिकस्य ज्योतिष्टोमादे कर्मणः ।

“ननु च यदि तावत्पूर्वेषामिति निर्धारणे षष्ठी तदनुपपन्नम् । निर्धारणं हि समु-
दायभूतविशेषस्य केनचिद्धर्मेण तदैकविषयेण चोपपद्यमानस्यावान्तरेणासम्भविना । 'क्षत्रियो
मनुष्याणां शूरतम' इति मनुष्यजातौ क्षत्रियोऽप्यन्तर्भूतः स शूरतमत्वेन निर्धार्यते ।
अनुपदिष्टस्यानन्तरितस्य कुतो निर्धारणम् । न चेह प्राग्वैदिकं कर्मादिष्टम् ।

अथोच्यते । 'अन्तर्वदाभ्यासादीनि वैदिकान्येव, कथमनुद्दिष्टं वैदिकं कर्म' । यद्येवं
सामान्यस्य सामान्यात्सुतरामनिर्धारणम् । न हि भवति 'गवां गौरुत्पन्नक्षीरतमेति' यदि
ह्यवैदिकानि चोद्दिष्टार्थान्यभविष्यंस्तत एवैतदपेक्षेत वैदिकं श्रेयस्करतरमिति ।

किंच कानि तावदत्र वैदिकानि कर्माण्यभिप्रेतानि । यदि तावत् ज्योतिष्टोमादीनि ।
विशेषग्रहणे प्रमाणं वक्तव्यम् । वेदाभ्यासादानामपि वैदिकत्वात् । अथ 'स्मार्तत्वान्न तानि
वैदिकानि । यान्येव प्रत्यक्षश्रुतिविहितानि तान्येव वैदिकानीति' । न हि सर्वे वैदिकेषु
कर्मसु वेदाभ्यास दीनामङ्गत्वेनान्तर्भावः । एतच्च यद्वक्ष्यति (अग्रे ८७) 'अन्तर्भवति

क्रमशः तस्मिन् तस्मिन् क्रियाविधाविति । तद्धि तस्य नेति तर्ह्यग्निहोत्रादौ तपो गुरु सम्पाद्यं स्यात् । अनेन तेनोक्तेन न कश्चिदर्थः । वेदाभ्यासादीन्यप्यनुष्ठेयान्यग्निहोत्रादीन्यपि । तत्र न विद्मः कीदृशममीषां श्रेयस्करतरत्वम् । नापि समानि फलानि येन फलस्योत्कर्षवत्त-
यैवमुच्यते । यथा । गोदानात्स्वर्गस्य ज्योतिष्टोमाच्च दीर्घकालाद्यनुवृत्तता । यथोक्तं ‘लोक-
वत्परिमाणतः फलविशेषः स्यादिति’ ” ।

अत्रोच्यते । यदुक्तं चैतेनोक्तेन कश्चिदर्थ इति तत्र केचिदाहुः । विरोधे स्मार्ते श्रौते बाधकत्वज्ञापनार्थं वैदिकानां श्रेयस्करतरत्ववचनम् । यथोक्तं तुल्यबलविरोधे विकल्पः ।
अतुल्यबलायाः स्मृतेः श्रुत्याबाध इति । ‘श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ’ ।
श्रुतिस्मृतिद्वैधे अनुवादः स्मृतिरित्यर्थादुक्तं भवति ।

“अमुनैवावगतत्वादवाच्यमेतत्” ।

विस्पष्टीकरणार्थमेव पुनरुच्यत इत्यदोषः ।

अथवाऽन्योऽपि तथार्थः सम्भाव्यते । शुद्धे च विकल्पवचनम् । स्मृतिद्वैधे न तद्वि-
कल्पार्थम् । तेनायमर्थः । स्मार्तेभ्यो वैदिकानि बलीयांसि । वेदाभ्यासादिग्रहणं सर्वस्मार्त-
प्रदर्शनार्थम् । वृत्तानुरोधादेवं पठितम् ।

वयं तु ब्रूमो न्यायसिद्धोऽयमर्थो न्यायसिद्धस्यापि सौहार्देनाभिधानमनारभ्य युक्तम् ।

इहात्मनो ज्ञानं प्रतिपदं पठ्यते । तत्र कः प्रसंगो बाधातस्य । स्मृतिकारा न च
स्ववाक्यानि स्ववाक्यैरेव प्रमाणयितुमर्हन्ति । अथोच्यते—“याज्ञवल्कीयायाः स्मृतेर्विधि-
रुच्यते । नात्मीयायाः समानता । यत्तावदात्मीयायामप्युक्तं भवति । अतः प्रकरणा-
नुरोधाद्वेदाभ्यासादि पदं पृथक् । नेहात्मज्ञानं प्रतिज्ञायेदं पठ्यते । कथं च आत्मज्ञानं
श्रुतिपरत्वेन तैर्व्याख्यातमिति” । × × × वेदाभ्यासादिभ्यो वैदिकं यागादि कर्म श्रेष्ठमिति
ततोऽध्यात्मज्ञानम् । इतरथाऽन्यत्र प्रजाया अन्यदुच्यमानमन्यत्रास्तमन्यत्र पतितं स्यात् ।

अथवा ‘वैदिकं’ अत्र आत्मज्ञानमेव । वेदस्य तत्प्रतिपादनपरत्वात् । अग्निहोत्राद्यु-
पदेश औषधपाने वृद्ध्युपदेशवद्वालादि प्रवृत्त्यर्थः । यदि वा कर्मकाण्डेन शिष्टाः स्वा-
भाविकीमेनामनाद्यविद्यां वासनाविषयासंगहेतुभूतामवधूय शास्त्राभ्यासवासनासामर्थ्य-
वशात् क्रमेणोपजातवैराग्यशिथिलीभूतदृढतृष्णारागग्रहणे उत्तमाधिकारानुशासने नियो-
ज्यतां प्रतिपत्तुं समस्तमपि श्रुत्यादिष्टत्वमधिकारोपकारकत्वं कर्मकाण्डस्य विज्ञायत इति
ब्रह्मवादिनः । अतो वक्ष्यमाणनिवृत्त्याख्यकर्माभिप्रायमेतत् **श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वथा कर्म
वैदिकमिति** ।

अथवा भेदो यदि सर्वेषामपि स्वप्नवदसत्यदर्शनद्वयेऽप्यात्मैकत्वज्ञाने श्रेय इत्यर्थः ।
वेदाभ्यासादीनां भेदोपदेशादिनोद्यं तत्कर्तव्यम् । षष्ठीनोद्यं तु तैरेव समाहितं बुद्धयारोपिता-

न्तरेण पृथक्त्वोपपत्तेः । यथा माथुराः पाटलीपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति । तथा सतीयं पंचमी स्यादिति चेत् अत्रापि प्रतिविहितं धर्माविशेषात् ॥८६॥

हिन्दी—(१२।८३) सब छः कर्मों में से मरने के बाद (परलोक में) तथा (जीवित रहने पर) इस संसार में वैदिक कर्म को सर्वदा कल्याणकारक समझना चाहिये ॥

विमर्श—पूर्व वचन (१२।८५) से आत्मज्ञान को मोक्षसाधक कहा है तथा इस वचन (१२।८६) से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकारक कहा है, अतएव पुनरुक्ति नहीं होती । ‘इन पूर्व (१२।८३) श्लोकोक्त वेदाभ्यासादि छः कर्मों में से स्मार्त कर्मों की अपेक्षा वैदिक कर्मों का सर्वदा (इस लोक तथा परलोक में) अतिशययुक्त होने से कीर्ति, स्वर्ग एवं मोक्ष का साधन जानना चाहिये, ऐसी व्याख्या गोविन्दराज ने की है; किन्तु वेदाभ्यासादि छः कर्मों में से प्रत्येक कर्म के वेदविहित होने से स्मार्त कर्म की अपेक्षा से ‘कुछ ऐसा है और कुछ नहीं है’ ऐसी सम्भावना हो सकती है, तब निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति किस प्रकार होगी? अतः गोविन्दराज की व्याख्या ठीक नहीं है ।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।

अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥८७॥

भाष्य—एतावद्वैदिकं कर्म ज्योतिष्टोमाद्याचक्षते । तेषामेव श्लोकयोजना ।

क्रियाविधिः कर्मविधिर्वैदिकः ।

कर्मयोगे कर्मप्रयोगे बहिः संपाद्यावस्थाः ।

एतान्युपनिषद्वेदाभ्यासादीन्यन्तर्भवन्ति तस्मिन्निति व्याप्यतया क्वचित् कस्यचित्सम-
मेषामन्तर्भावमाह ।

कर्मयोग इत्युक्ते क्रियाविधिग्रहणं श्लोकपूरणार्थम् । ऋतुं यज्ञेभ्य इति तद्वासोमयाग-
भेदेन भेदो व्याख्येयः ।

तत्र वेदाभ्यासस्तावत् सत्रेऽन्तर्भवति । यजमानमन्त्रेषु सर्वत्रोपयोगतः । तपोदीक्षो-
पसदसोमयागेषु ‘पयोऽमृतं ब्राह्मणस्य’ इत्यादि । ज्ञानं सर्वत्र विदुषामनधिकारात् । एव-
मिन्द्रियसंयमः प्रतियागगामि ‘न स्त्रियमुपेयात्र मांसमश्रीयादिति’ । अहिंसानिरतां रात्रिं
प्राणभृतः प्राणेनाच्छिन्द्यादपि कृकलासस्येति । गुरुसेवादेरित्यमप्रवृत्तिः ।

ये तु निवृत्तमेव कर्माहुस्तेषां वेदाभ्यासादीनामनुवृत्त्यर्थः श्लोकः ।

अन्तर्भवन्त्युपासनापरस्यापि तेषामनुष्ठानादन्तर्भावः । तथा चोपनिषद्भ्य उपास-
कस्य प्रायश्चित्तनिर्देशः पापक्षपणार्थो, न पुनः प्रतिविधानविकार एवोक्तो भवति । अतो
विहिताकरणे प्रतिषिद्धसेवने सति प्रत्यवायः ।

“एवं तर्हि कुतो मोक्षः” ।

फलोपभोगेन जन्मान्तरोपात्तदुरितक्षयादकरणात्स्वबुद्धिपूर्वमन्यस्य प्रमादकृतस्य प्राणायामविद्याविशेषाभ्यासातिशयेन कृतनिष्कृतित्वात् निरुपाध्यात्मस्वरूपसाक्षात्करणाच्च प्रथमतः वेदयेत्तद्वावापत्तिर्मोक्षः । अतश्च ब्रह्मनिष्ठापरेणापि वेदाभ्यासादीन्यनुष्ठेयानि । यस्य यस्य कर्मन्यासः श्रूयते स षष्ठे व्याख्यातः ।

क्रियाविधिरुपासनविधिरेव ‘द्रष्टव्यः श्रोतव्यः’ इत्यादिनोदितः । बहुत्वाच्चोपासनाप्रकाराणां तस्मिंस्तस्मिन्निति वीप्सा युज्यत एव । अतो ‘ब्राह्मणान्युपासीत्’, ‘य एष आदित्ये हिरण्मयः पुरुषः’ इति, ‘स च एष आत्मापहतपाप्मा’ इत्यादि । क्वचिदुपात्तबुद्ध्याऽध्यारोपितश्चोद्यते । क्वचिद्धिरण्मय इत्यादौ लक्षणया तस्यैवोपासना क्वचित्सर्वोपासनाधिपत्येन निष्कलङ्कमिवात्मनस्तस्यैवाधस्तात्स उपरिष्ठादिति चोदनाबहुत्वाद्गीप्सोपपत्तिः ॥८७॥

हिन्दी—(परमात्मोपासनरूप) वैदिक कर्मयोग में ये सभी (ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण) उस उपासना विधि में सम्पूर्ण भाव से क्रमशः अन्तर्भूत हो जाते हैं अथवा वैदिक कर्मयोग में ये (१२।८३) सभी वेदाभ्यासादि षट्कर्म परमात्मज्ञान में अन्तर्भूत हो जाते हैं ॥८७॥

द्विविध वैदिक कर्म—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्मवैदिकम् ॥८८॥

भाष्य—“ननु च प्रवृत्तमेव वैदिकं कर्म व्याख्यातं किमिदमुच्यते द्विविधमिति” । नैष दोषः प्राधान्येन तत्र प्रवृत्तं वैदिकं व्याख्यातम् । वैदिकं तु सर्वत्राविशिष्टम् । सुखमुपैत्युपपद्यते । यदपि सुखाभ्युदयिकं ‘सुखाभ्युदयः’ प्रयोजनमस्येति वाऽन्वर्थो वा कर्तव्यः । **निःश्रेयसं** प्रयोजनमस्येति च केचन ।

प्रवृत्तनिवृत्तपदे यथासंख्यं पूर्ववत्सम्बन्धनीये ॥८८॥

हिन्दी—वैदिक कर्म दो प्रकार के होते हैं—पहला स्वगादि सुखसाधक संसार में प्रवृत्ति करानेवाला (ज्योतिष्टोमादिरूप) प्रवृत्त कर्म तथा दूसरा निःश्रेयस (मुक्ति) साधक संसार से निवृत्ति करानेवाला (प्रतीकोपासनादिरूप) निवृत्त कर्म ॥८८॥

प्रवृत्त तथा निवृत्त कर्म का लक्षण—

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।

निष्कामं ज्ञातपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥८९॥

भाष्य—इह कारीरावैश्वानर्याद्यमुत्र ज्योतिष्टोमादि काम्यसम्पादकं कर्म । काम्यत

इति काम्यम् । फलस्य काम्यत्वात्तत्साधनमपि कर्म 'काम्यं' एव ।

निष्कामं नित्यम् ।

ज्ञातकर्ममुभयत्र शेषम् । अविदुषोऽनधिकारात् । अथापि रहस्याधिकारिज्ञानमुप-
दिश्यते । तदा नोभयशेषः । पूर्वशब्दश्चाद्यर्थं लक्षयति, ज्ञानमाद्यं मुख्यं यंस्येति विग्रहः ।
योऽभिमुख्यः स लोकः पूर्वं क्रियां प्रतिलभते । अतश्चैतदुक्तं भवति । ज्ञानं प्रधानं प्रधा-
नतोऽनुष्ठेयम् । वेदाभ्यासादि तु शास्त्रमात्रया ॥८९॥

हिन्दी—इस लोक में या परलोक में इच्छापूर्वक (सकाम भाव से) किया गया
ज्योतिष्टोमादि (यज्ञरूप) कर्म (संसार प्रवृत्तिसाधक होने से) 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है और
इच्छारहित (निष्काम भाव से) ब्रह्मज्ञान के अभ्यासपूर्वक किया गया कर्म (संसार-निवृत्ति-
साधक होने से) 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है ॥८९॥

[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते ।

कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥७॥]

[हिन्दी—सदा निष्काम किया गया कर्म 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है और सकाम
किया गया कर्म प्रवृत्त कर्म कहा जाता है ॥७॥]

प्रवृत्त-निवृत्त कर्मों के फल—

प्रवृत्तं कर्म संसेव्यं देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥९०॥

भाष्य—“ननु च काम्यं कर्म प्रवृत्तमित्युक्तम् । काम्यानि च कानिचित्स्वर्गफलानि
कानिचिद्दृष्टफलानि । न च देवसाम्यता फलं किञ्चिदिष्टं कर्म । अतः किमिदमुच्यते
देवानामेति साम्यतामिति । यान्यश्रुतफलानि विश्वजिदादीनि तान्यपि निष्कामस्वर्गफ-
लानि । अतो न विद्मः कर्मणा देवसाम्यताप्राप्तिः फलम् । न च शक्यं वक्तुं 'यानि
फलवन्ति श्रुतानि तानि निष्कामेणानुष्ठेयानि, तथा चानुष्ठितानि वै देवत्वफलानि सम्पद्यन्ते' ।
श्रुतहानिरश्रुतपरिकल्पना च तथा स्यात् । काम्यमानं च वेदे फलं 'ग्रामकामः', 'स्वर्गकाम'
इति । न वस्तुस्वाभाव्येन विषभक्षणात् । अथो देवत्वादिप्राप्तिर्भवति न च काम्य इति
विरुद्धमिति । प्रतिषेधाधिकारेष्वकामिनं कथमिति चेत् तथाभूतस्यैव तत्र फलत्वेनान्वयः ।
न ह्यनिष्टं काम्यं भवति । अथ नित्यानां फलमितः कथ्यते, नित्यताहानिः । यावज्जी-
वादिलैश्च तत्र नित्यफलमवगमितम् । अथावश्यं कल्प्यते प्रत्यवायपरिहारः कल्प्यताम्
तद्धि कल्प्यमानं नित्यत्वे न विरुध्यते । योऽप्युत्तरः श्लोकः **भूतान्यत्येति पञ्च वै इति**
तत्राप्येत्येति विमुच्यत इति न विद्मः । अन्यत्राप्ययो लय उच्यते । न चेह भूतेषु जीवस्य
लय इष्यते, अपि तु ब्रह्मरूपापत्तिः ।

अन्येऽपि व्याचक्षते । ‘स चातिक्रामति पञ्चभूतानि । न पाञ्चभौतिकं तस्य शरीरं भवति अपि तु तेजोमूर्तिरेवान्वेति’ । तदपि न किञ्चित् । शरीराग्रहणं हि ‘मोक्षः’ । तच्च शरीरमेकं वा भवतु पाञ्चभौतिकं वा, को विशेषः संसारित्वे । अतो व्याख्येयोऽयं श्लोकः” ।

उच्यते । यत्तावदुक्तं “कस्य कर्मणो देवसाम्यता फलमिति, नित्यानामफलत्वात्, काम्यानां च फलान्तरयोगादिति” तत्र ब्रूमः । नानेन सर्वेषां वैदिकानां कर्मणामेतत्फलमुच्यते । किं तर्हि? निवृत्तस्य कर्मणो यत्फलं यत्र प्रवृत्तिः । किञ्च कर्म विद्यते येन तत्फलमाप्यत इति प्रशंसा । सन्ति च कानिचित् देवत्वप्राप्तिफलानि कर्माणि तेनैतदुक्तं भवति । कर्मकाण्डे यत्कर्तव्यं तथा वेदितं साऽस्य परा गतिर्देवत्वप्राप्तिर्न तु मोक्षः । यत्तु रहस्याधिकारोक्तकर्म तदनावृत्तिहेतुस्तत्र कामयमानस्य फलसंकल्पोपहतत्वात्कर्म बन्धहेतुः । कर्मणां ह्येष स्वभावो यत्स्वफलदानार्थमधिकारिणः कार्यकरणमारभन्ते । तथैव नित्यान्यप्यक्रियमाणानि प्रत्यवायहेतवो भवन्ति । तान्यपि शरीरमारभन्त एव ।

यद्येवं नित्यानि करिष्यति काम्यानि प्रतिषिद्धानि न करिष्यति, तस्य शरीरारम्भककर्माभावाद्धेत्वभावेन मोक्षमवाप्स्यति । आत्मज्ञानस्य क्रोपयोगः । यथोक्तं ‘नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया । मोक्षहीनः प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयो ‘नित्युक्तं’ भगवद्भिन्नं विद्यामनभ्यस्यमानस्याविद्यया क्षयोऽस्ति । न ज्ञानानुच्छिन्नायामविद्यायां ब्रह्मरूपापत्तिः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं निष्कामं ज्ञानपूर्वमिति’ । तथा ‘कामात्मता प्रशस्ता’ (२।२) ।

समानक्रियस्य सामार्ष्टिस्तस्य भावः साम्यता । देवैः समानगतिर्भवतीत्यर्थः ।

यच्च ‘भूतान्यत्येती’त्यप्यमुं प्रति व्यामोहः सोऽपि न युक्तः । विप्रलापनमपि ‘अय’ उच्यते । तुषारनिखिलप्रपञ्चो भवतीत्यर्थः ।

‘अभ्येती’त्यपि पाठेऽशरीरत्वमुक्तं भवति ॥९०॥

कथं पुनः प्रपञ्चः कर्तव्य इत्यत आह ।

हिन्दी—(मनुष्य) प्रवृत्तकर्म का सेवनकर देवों की समानता (स्वर्ग) पाता है और निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) का अतिक्रमण करता अर्थात् पुनर्जन्मरहित होकर मोक्ष पाता है ॥९०॥

समदर्शी होने पर ब्रह्मत्वप्राप्ति—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥९१॥

भाष्य—भूतशब्देन यत्किञ्चित्स्थावरजंगमं प्राण्यप्राणि तत्सर्वमुच्यते । तत्र चात्मानं पश्येत् ‘अहमिवैतज्जगदिति’ । तथा च श्रुतिः । ‘अहं वृक्षस्य रेखिवेति’ (शिक्षोपनिषदि ११।१; तै० आ० ७।१०।१; तै० उ० १।१०।१) । स्वपरव्यवहारं जह्यात् ।

‘अयमहमेतन्मम ममेति’ संपद्यते बंधः । त्यक्तात्मात्मीयाभिनिवेशस्योज्झितस्वपरभेदस्य केवलात्मैकत्वं भाति । एष एव स्वाराज्यपदार्थः ।

सर्वभूतानि चात्मनीति । यदेव विकारप्रपञ्चरूपं जगत्तदेव तन्मयि स्थितं अहमेकः स्मृष्टा कर्ता ध्याता ध्येयश्चेति संपद्यते ।

आत्मयाजी । आत्मानमेव सर्वदेवतामयत्वेन यो यजते मन्यते । ‘नाग्निरादित्यो वा देवता अहमेव देवते’त्येवं पश्यन्ना‘त्मयाजी’ सम्पद्यते, न पुनरात्मोद्देशेन यागः कर्तव्यतया चोद्यते ।

केचिदाहुः । नाग्नेयादिष्वग्न्यादयो देवता आत्मत्वेनापि न वक्तव्याः ।

स्वाराज्यम् । स्वे राज्ये भवः स्वाराज्यः । परमात्मवत्स्वतन्त्रः सम्पद्यते स्वप्रकाशश्च भवति । न चन्द्रादित्याद्यालोकमपेक्षते नेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि नान्तःकरणं मन आदि । अतः पश्यन्निति च । भावयेदित्युच्यते । न दर्शनमात्रं सकलबाह्याभ्यन्तरव्यापारतिरस्करणे तद्भावनापराः स्मृताः ॥९१॥

हिन्दी—सम्पूर्ण (चराचर) जीवों में आत्मा को तथा आत्मा में सम्पूर्ण (चराचर) जीवों को देखता हुआ आत्मयाजी (ब्राह्मार्पण न्याय से ज्योतिष्टोमादि करने वाला) ब्रह्मत्व अर्थात् मुक्ति को पाता है ॥९१॥

वेदाभ्यासादि में प्रयत्नवान् होना—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।

आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥

भाष्य—यथोक्तान्यपि कर्माणीति । नानेनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां परिहानिर्विधीयते, अपि त्वात्मज्ञानं यत्नवान् स्यादित्यात्मज्ञानाभ्यासो विधीयते । **कर्माणि परिहायेत्यस्या-**लम्बनं प्रशस्तदेवतायतनप्रदक्षिणमंत्रगुरुगमनादीनि मुक्त्वाऽप्यात्मज्ञानमभ्यस्येत् । न हि नित्यानां कर्मणां स्वेच्छया परित्यागोऽस्ति पुरुषधर्मादिषु विहिते नास्ति त्यागेन विना ॥९२॥

हिन्दी—द्विजोत्तम (ब्राह्मण) शास्त्रोक्त (अग्निहोत्रादि) कर्मों का त्यागकर भी ब्रह्मध्यान, इन्द्रियनिग्रह और (प्रणव, उपनिषद् आदि) वेद के अभ्यास में प्रयत्नशील रहे ॥९२॥

वेदाभ्यास-प्रशंसा—

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥९३॥

भाष्य—द्विजो भवतीति क्षत्रियवैश्ययोरप्यात्मज्ञानेऽधिकारं दर्शयति । यथा चारण्यकश्रुतिः ।

ब्राह्मणस्य विशेषतः इति । वेदाभ्यास इति सम्बन्धनीयम् । आत्मज्ञेन समत्वेनाभ्यासितेनैव सम्भवतः । यदात्मज्ञानं प्राप्य कृत्यकृत्यो द्विजो भवति पुरुषार्थ एतावता समाप्यते । न हि मोक्षादपरः पुरुषार्थोऽस्तीति ॥९३॥

“ननु च यदुक्तं सर्वात्मैकत्वेनायं पश्येत्तत्प्रत्यक्षविरुद्धमिव प्रत्यक्षेण हि भिन्नो-
भावः प्रतिभाति । तेन कथमेकत्वेन ग्राह्यः । अनारभ्य स्वार्थ उपदिष्टः स्यात् । कथं
भिन्नमभिन्नं द्रष्टुं शक्यम् । न हि खरो गौरिव बुद्ध्या ग्रहीतुं शक्यः । इन्द्रियदोषेणा-
न्यत्रावभासरूपया प्रतीयते शुक्तिकादौ रजताकारतया, न तूपदेशतः । यो ह्युपदिशेत्
हस्तिनं प्रतिपद्यते । नासौ वचनफलमंजसारनुवीत” अत आह—

हिन्दी—यही (आत्मज्ञान, वेदाभ्यासादि ही) द्विज को, विशेषकर ब्राह्मण के जन्म
की सफलता है; क्योंकि इसे पाकर द्विज कृतकृत्य हो जाता है, अन्यथा (दूसरे किसी प्रकार
से) कृतकृत्य नहीं होता ॥९३॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

भाष्य—अयमर्थः । वेदोऽत्र वक्तुः प्रमाणम् । चक्षुरिव चक्षुर्दर्शनहेतुत्वसामान्यात् ।
यथा चक्षुः परिच्छिन्नेष्वनेष्टितः रूपप्रत्ययो भवत्येवं वेदादिति चक्षुरित्युक्तम् ।

सनातनं शाश्वतं नित्यम् । अनेनापुरुषकृतत्वमाह । पुरुषकृतत्वे हि तत्प्रामाण्यात्
प्रमादोऽपीत्यत्र न प्रामाण्यमस्ति । अतः पुरुषगतगुणदोषसद्भावनिश्रयात्तदभावादपौरुषेय-
त्वेन वेदः प्रमाणम् । अतो वेदप्रामाण्यात् दृश्यकृत्यस्य न कश्चन विरोधः ।

“ननु च यद्येवमुपदिशेदग्निना सिंचेदुदकेन च दीपयेत् किं न भवेद्विरोधः” ।

विषम उपन्यासः । तत्र हि दृष्टया पदार्थशक्त्या दृष्ट एवार्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते ।
तत्र प्रमाणान्तरगोचरत्वं तस्यार्थस्य तद्विपर्ययाद्युक्तं तदेतदुक्तम् । इह तु विधिपरत्वात्
वाच्यानां प्रमाणान्तराणां च विधिविषयत्वाभावात् सिद्धस्वरूपवस्तुगोचरत्वेनासत्येक-
विषयत्वे कुतो विरोधः ।

इह ह्यनात्मभूतानामाभासतो भावानामात्मत्वेन दर्शनं विधीयते स्वराज्यफलाय ।
तत्र यत्राधिकं भेददर्शनं तस्याभ्यासतः शक्यमन्यथाकर्तुम् । तथा हि रागादयश्चित्तधर्माभाव-
नातिशययोगाङ्गाभ्यासेन शक्यन्ते नियन्तुम् । द्वेष्यमपि मैत्रादिना द्वेष्यताबुद्धिर्निवर्तत इति
सर्वस्यैतत्स्वसंवेद्यं दृष्टं च । भावनाया अविद्यमानवस्तुस्वाभाव्यमवभासते सामर्थ्यात् ।
यथा विप्रलम्भे कामिनः सर्वत्र कामिनीवत्पश्यन्ति किमंग यत्र तात्त्विकमेकत्वमस्ति ।
तत्कथं भेदेन विरुद्धत्वादवभासते । तद्रूपा हि सर्वभावना सा भिन्नाविद्यते । ईदृशं चात्र
दर्शनं समत्वेन विधीयते, यत्र ममेतन्नेदं ममेति बुद्धेरनुपपत्तिः । यथोक्तं ‘ममेति द्रव्यक्षरो

मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्' इति ।

तस्मात्त्रास्ति विरोधः ।

पितृदेवमनुष्याणामित्यादीनि श्रुतिपदानि । देवादयोऽपि रिध्यन्ति संयुक्ता न चेदृक् तेऽतीन्द्रियमर्थं पश्यन्ति श्रुतिमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

अप्रमेयं चापरिमाणम् । अनन्तत्वाद्वेदशाखानाम् । अथ च प्रमातुं **अशक्य-**मर्थतो वेदांगं वेदाः ॥९४॥

हिन्दी—पितर, देव तथा मनुष्यों का सनातन नेत्र वेद ही है, यह वेद अपौरुषेय (किसी पुरुष का नहीं बनाया हुआ) और अप्रमेय (मीमांसा, न्याय आदि से निरक्षेप है; ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ॥९४॥

वेदबाह्य स्मृत्यादि की निन्दा—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥

भाष्य—पूर्व त्वपौरुषेयत्वेन वेदस्य प्रामाण्यमुक्त्वेदानीं पौरुषेयाणां वेदानाम-प्रामाण्यम् ।

अथ **वेदबाह्या** वेदविरुद्धा अवेदमूलाः **श्रुतयो** ग्रन्थसंदृब्धेषु 'नोदनाश्चैत्यवन्दनेन स्वर्गो भवेति' इत्याद्याः निर्ग्रन्थशोभादिसिद्धान्ताः प्रसिद्धाः ।

कुदृष्टयः असत्तर्कदर्शनानि । वेदकर्तुः साधनमपूर्वदेवतादिनिराकरणमेवमाद्याः **कुदृष्टयः** ।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य । प्रकर्षं प्राप्य । संनिरूपितहेतुदृष्टान्ताः । अन्ततो निष्फला उक्ताः । तत्र युक्तीनामाभासरूपत्वात् ।

ताश्च युक्तयोन्यवति वर्त्तन्ति रात्रीयंति महाग्रन्थविस्तारा भवन्ति संक्षेपरूपाः ।

तथा पौरुषेयाणामुपदेशेन प्रामाण्यं, पुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्त्यभावात् । सत्या-मपि शक्तौ उपदेशिकस्य प्रमाणाभावात् । 'अयं सर्वज्ञस्तेनायमागमः प्रणीत इति' न किञ्चिदत्र प्रमाणं क्रमते । विद्यमानेऽपि कर्तृपूर्वत्वे दृष्टार्थादृष्टकल्पनाप्रसंगस्तत्प्रमाणत्वे देवतात्वसिद्धिः । अतस्ता युक्तयो व्यामोहमूला इत्यर्थः ।

अन्ये तु व्याचक्षते । **प्रेत्य** मृतस्य ता निष्फलाः । **तमोनिष्ठा**स्तामसयोनिहेतुत्वात् ।

अस्मिन् पक्षेऽसमानकर्तृकत्वत्रेत्येति दुर्लभत्वम् । निष्ठान्ताद्वा सप्तमी पठितव्या **प्रेते** इति ॥९५॥

हिन्दी—जो स्मृतियाँ वेदबाह्य (अवेदमूलक) हैं तथा जो कोई कुदृष्टि (चार्वाकादि-

कृत शास्त्र) हैं, वे सब परलोक में निष्फल हैं; क्योंकि उन्हें (मनु आदि महर्षियों ने) तमःप्रधान कहा है ॥९५॥

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।

तान्यर्वाकालितया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥

भाष्य—अतो वेदाद्यान्यन्यानि शासनानि तान्युत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च । उत्पाद-
विनाशित्वादनित्यानि । वेदस्तु तद्विपर्ययान्नित्यः ।

अर्वाक्कालिकतयेदानींतनेन पुरुषेण केनचित्कृतत्वादतो निष्फलान्यदृष्टस्य
फलस्याभावात् ।

यानि कानिचित् विप्रलम्भमूलकादिलक्षणानि (?) ॥९६॥

हिन्दी—इस (वेद) से भिन्न जो शास्त्र रचे जाते तथा नष्ट होते हैं, वे सब अर्वाचीन
आधुनिक अर्थात् इस समय के (रचे हुए) होने से निष्फल तथा असत्य हैं ॥९६॥

वेद प्रशंसा—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भवत् भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥९७॥

भाष्य—इयमपि स्तुतिरेव ।

चातुर्वर्ण्यं वेदात्प्रसिध्यति अधिकारित्वेनावतिष्ठते । ‘वसन्ते ब्राह्मणो ग्रीष्मे राजन्य’
इत्यादि । स्वरूपं तु व्यवहारावगम्यं सर्ववर्णेषु तुल्यत्वादन्यत्र दर्शितम् ।

त्रयो लोका ‘इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति’ अनेन त्रैलोक्यस्थितिहेतुत्वं वेदस्य
सिद्धमेव वेदमूलत्वात्स्मृतीनां च ।

आश्रमोऽपि वेदादेव ।

भूतमतीतं जन्म सुखदुःखादि । यच्च भवद्वर्तमानं यच्च भविष्यं तत्सर्वस्य वेद
एव शरणीयम् ॥९७॥

हिन्दी—पृथक्-पृथक् चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), तीनों लोक
(स्वर्ग, मृत्यु और पाताल), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) और
भूत, भविष्य तथा वर्तमान (क्रमशः जो कुछ हुआ होगा तथा हो रहा है) वह सब वेद से
ही प्रसिद्ध होते हैं ॥९७॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥९८॥

भाष्य—शब्दादीनां भोग्यत्वेन सुखसाधनानां वेदादेव प्रसिद्धिः । वैदिककर्मानु-

ष्ठानाद्रीतादिशब्दोपपत्तिः तत्परित्यागाच्छ्रुतिकटुशब्दश्रवणम् । अतः शरीरारम्भकाः शब्दादयस्ताभ्यां स्वविषयत्वेनोपतिष्ठमाना वेदात् प्रसिध्यन्तीत्येतदभिप्रायम् । एतन्न पुनर्वेद उपादानकरणम् । अतः शरीरारम्भकाः शब्दादयस्ताभ्याम् । एतदेवाह प्रसूतिर्गुणकर्मतः । 'प्रसूतिः' शब्दादीनामुत्पत्तिः । तदर्थं 'गुणकर्म' फलार्थत्वात्प्रधानकर्म च चित्रादि गुणकर्म इत्युक्तम् ।

पाठान्तरं 'प्रसूतिर्गुणधर्मतः' इति । 'गुणाः' सत्त्वादयस्तेषां 'धर्मो' विपरिणामस्तस्य या 'प्रसूतिः' साम्यावस्थायाः प्रच्युतिस्तदुद्रेको विष्वग्भावश्च । तत्र वेद एव हेतुरदृष्टनिमित्तत्वात् ।

वैचित्र्यपाठान्तराणि निष्प्रयोजनत्वात् लिख्यन्ते ॥९८॥

हिन्दी—(इस लोक तथा परलोक में) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध, ये सब गुण (सत्त्व, रज और तम) निमित्तक वैदिक कर्महेतुक होने से वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं ॥९८॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।

तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

भाष्य—सर्वभूतभरणं च वेदशास्त्रस्य दर्शितं ब्राह्मणे तथा च 'हविरग्नौ हूयते सोऽग्निरादित्यमुद्वयति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वक्ष्यति तेनार्तिर्भवति ततो ह वैनामुत्पत्तिस्थितिर्वेति हविर्जायत' इति । इहाप्युक्तम् 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सभ्यगादित्यमुपतिष्ठत' इत्येवमादि ।

तस्मादेतत्परं मन्ये पुरुषार्थकारणम् । यद्येवं कारणेन जन्तोरस्य धर्मानुशासनमेतस्मात्कारणात्तेषु यथा दर्शितोपपत्तिः ।

“ननु च यद्यौपादानिकमर्थं किं तद्वेदमुक्तं लौकिकमर्थमिति” ।

उच्यते । अनुष्ठानमस्य वैदिकं, कार्यं तु दृष्टत्वाल्लौकिकमेव ॥९९॥

हिन्दी—सनातन (नित्य) यह वेदशास्त्र सम्पूर्ण भूतों को धारण करता है, इस कारण से (मैं) इस जीव का उत्तम पुरुषार्थ-साधन वेद को मानता हूँ ॥९९॥

वेदज्ञाता को सेनापति आदि होना—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

भाष्य—अतिस्तुतिरियम् । दण्डनेतारः दण्डनायका ग्रामनगरयोः कृताकृत-प्रेक्षणनियुक्ताः ।

सेना हस्त्यश्वरथपादातं तस्याः पतिः ।

राज्यं मण्डलेश्वरत्वम् ।

सर्वलोकाधिपत्यं सार्वभौमत्वम् ॥१००॥

हिन्दी—वेद ज्ञाता मनुष्य सेनापतित्व, राज्य, दण्डप्रणेतृत्व (न्यायाधीश—जज आदि होने) और सम्पूर्ण लोकों के स्वामित्व के योग्य है ॥१००॥

वेदज्ञाता की प्रशंसा—

यथा जातबलो वह्निर्दहत्याद्रानपि द्रुमान् ।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥

भाष्य—इयमपि पूर्ववत्स्पष्टा पदयोजना प्रसिद्धाश्च पदार्थाः ॥१०१॥

हिन्दी—जिस प्रकार प्रबल (धधकती हुई) अग्नि गीले (नहीं सूखे हुए) वृक्षों को भी जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता मनुष्य अपने निषिद्ध कर्मों (से उत्पन्न पापों) को भी नष्ट कर देता है ॥१०१॥

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।

अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥८॥]

[हिन्दी—मनुष्य को वेदबल का आश्रयकर पापकर्म करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये; (क्योंकि वह वेद) अज्ञान और प्रमाद से किये कर्म (पाप) को जलाता (नष्ट करता) है, दूसरे (ज्ञानपूर्वक किये गये) कर्म को नहीं जलाता ॥८॥]

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥

भाष्य—ब्रह्मभूमाय ब्रह्मभावाय ब्रह्मत्वप्राप्तये इति यावत् ।

यत्र तत्रेति व्युत्थाय व्युत्क्रमेणापि । यथोक्तं ‘विद्वेषणाच्चाप्युत्थाय ब्राह्मणा भिक्षाचर्यमनुवेद्य व्रजन्तीति’ ॥१०२॥

हिन्दी—वेदशास्त्र के वास्तविक अर्थ को जाननेवाला जिस किसी आश्रम में रहता हुआ इसी लोक में ब्राह्मभाव के लिए समर्थ होता है ॥१०२॥

वेदव्यवसायी की श्रेष्ठता—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।

धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥

भाष्य—अज्ञा मूर्खा अनधीयानाः ।

ग्रन्थिनः विद्वांसो ग्रन्थमात्राभिधायिनः ।

तेभ्यो धारिण इत्येतद्यत्नेन पठन्तः । पूर्वे तु नातिप्रयत्नतः । ग्रन्थस्येति तत्रापि

सम्बध्यते 'ग्रन्थस्य धारिण' इति ।

श्रेष्ठत्वमेतेषां जपप्रतिग्रहादिष्वधिकारात् ।

ज्ञानिनस्तु सर्वत्राधिकृता इति श्रेष्ठतराः । ज्ञानपूर्वं जपादयोऽनुष्ठीयमानाः फलाति-
शयदायिनो भवन्ति । तदुक्तं 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं
भवतीति' ।

व्यवसायिनः अनुष्ठातारो निर्विचिकित्साः येषामेतदन्यथेति न शङ्क्यते ।

एतदपि स्तुत्यर्थम् । अध्ययनमात्रेण वेदाः पुरुषार्थाय प्रभवन्ति किंपुनस्तदर्थ-
ज्ञानम् ॥१०३॥

हिन्दी—अज्ञों (कुछ अंश पढ़े हुए) से सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़े हुए लोग श्रेष्ठ हैं, उन
(सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़े हुए लोगों) से उस सम्पूर्ण ग्रन्थ को धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उन
(सम्पूर्ण ग्रन्थ धारण करनेवालों) से ज्ञानी (पढ़े हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ के अर्थ को जानने
वाले) श्रेष्ठ हैं और उन (ज्ञानियों) से व्यवसायी (वेद-विहित कर्मों का आचरण करने
वाला) श्रेष्ठ हैं ॥१०३॥

तप तथा विद्या से मुक्ति—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।

तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४॥

भाष्य—अनेनैतद्दर्शयति—सत्यामपि विद्यायां नाक्षीणपापस्य मोक्षः, सत्यपि कर्म-
क्षये नासत्यामात्मविद्यायाम् ।

अतो यदुक्तं 'ते स्वभावेन मुच्यन्त' इति तदसत् ।

अमृतमपुनरावृत्तिर्येयं केवलानन्दरूपता ॥१०४॥

हिन्दी—तप (ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमोक्त धर्म) और विद्या (आत्मज्ञान) ये दोनों
ब्राह्मण के लिए उत्तम मोक्षसाधन हैं; उनमें वह तप से पाप को नष्ट करता है तथा विद्या
से मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१०४॥

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्ररूप प्रमाण का ज्ञान—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥

भाष्य—सुहृद्भूत्वोपदिशति लौकिकमर्थम् ।

धर्मो वेदार्थस्तस्य शुद्धिर्विवरणं पूर्वपक्षनिराकरणेन निश्चितसिद्धान्तव्यवस्थापनम् ।
एतत्प्रत्यक्षादिप्रमाणनिश्चये सति भवति । सुविदिते हि प्रत्यक्षे ज्वालादिवैषम्येण प्रत्यभि-

ज्ञायते । शब्दनित्यत्वादिसिद्धिः । यस्य तु सम्यक् नास्ति विवेकः तस्योभयोरविशेषेण प्रत्यक्षमध्यवसायः स्यात् । ज्वालादिषु च प्रत्यक्षेण क्षयं दृष्ट्वा शब्देऽपि तथा संभावयेत् तथाऽनित्यशब्दसमुदायात्मको वेदः स्यात् । यस्य तु विहितानि कुशलप्रमाणेषु प्रशब्दोऽतदग्रहणनिबन्धनो नास्त्यभिज्ञानो मन्यमानो ज्वालाविदुषो भेदग्रहणनिबन्धनमिव सित-विशितं विशेषो न ज्वालाबाधेन शब्दे बाधं सम्भावयति ।

एवमनुमानमपि सुविवेचितं न भारतादिग्रन्थप्रमाणोपलक्षणत्वाच्च । तेन शौर्यादिशास्त्रान्ते कर्मण्यतासिद्धिः । येन न विवेचितं ह्यनुमानं च पक्षविपक्षयोर्दर्शनादर्शनमात्रेणानुमानप्रवृत्तिं मन्वानो वेदेऽपि कर्तारं कल्पयेत् । यदा तु निपुणमतिर्भवति तत्तत्प्रयोजकस्य स्नातव्यलक्षणया तस्य कर्तृत्वस्वरूपस्याभावादपौरुषेयत्वमध्यवस्यति ।

शास्त्रं च विविधागमम् । शास्त्रे विविधविधिप्रतिषेधात्तस्य विविधोऽनेकप्रकार आगमो यत्रागम्यते स **आगमः** । बहुशाखत्वाद्देवस्य श्रुतिस्मृतिभेदेन च विविधत्वमुक्तम् । स चायमर्थः स्वाध्यायविध्याक्षिप्तः सुहृद्भावेनोपदिष्टः । न च द्वयमपि प्रशंसेव ॥१०५॥

हिन्दी—धर्म के तत्त्व को जानने के इच्छुक को (धर्म-साधनभूत द्रव्य-गुण-जातित्व के ज्ञान के लिए) प्रत्यक्ष तथा अनुमान का और अनेकविधि धर्मस्वरूप के ज्ञान के लिए वेदमूलक विविध स्मृत्यादिरूप शास्त्र का ज्ञान अच्छी तरह करना चाहिए; ये ही तीनों (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र) मनु-सम्मत प्रमाण हैं । (उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव समझना चाहिए) ॥१०५॥

धर्मज्ञ का लक्षण—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥१०६॥

भाष्य—‘ऋषि’वेदस्तत्र भवः **आर्षः** । **धर्मोपदेशो** यो वैदिकः ।

यस्तर्केणानुमानान्तरेण युक्त्या निरूपयति स धर्मं वेदेति पदयोजना ।

तर्क ऊहापोहान्तर्यसिद्धिः । इदमत्र युक्तमूहितुमिदमपोहितुम् । यदा सौर्ये कर्मणि निर्वापमन्त्रे ‘देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि’ (वाजस० सं० २।११) इति प्रकृतितः प्राप्ते मन्त्रेऽग्निपदस्यार्थासमवायादपोहः सूर्यपदस्य च क्षेपः । अयं तर्को न विरुध्यते वेदेन ।

योऽप्येवं मन्यते “सौर्ये कर्मण्यग्नेर्देवतायाः अभावादर्थेन च मन्त्राणां प्रयोज्यत्वादेकदेशोपशमे च मन्त्रत्वाभावात् कृत्स्नस्य वै मन्त्रस्य लोपः”, एष वेदार्थविरोधी तर्कः ।

यदुच्चारणं मन्त्राणां प्रयोज्यत्वमन्यते अतश्चाविकृत एव मन्त्रः प्रयोक्तव्य” इति

सोऽपि शास्त्रविरोधी तर्कः ।

न चायं विधिः । अयमर्थवादः । अस्यात्र तात्पर्यं ईदृश्युपेक्षा यदत्रैतच्च मीमांसातो ज्ञायतेऽतो धर्मशुद्ध्यर्थं मीमांसावेदनमेतेन चोदितम् ।

अन्ये तु व्याचक्षते । तर्केणेति तर्कप्रधाना ग्रंथा लौकिकप्रमाणानिरूपणपरा न्याय-वैशेषिकलोकायतिका उच्यन्ते । तत्र वेदविरुद्धानि बौद्धलोकायतिकनैर्ग्रन्थादीनि पर्युद-स्यन्ते । तानि वेदविरुद्धानि । न तत्र प्रमाणं वेदः । कपिलकणादक्रियामविरथतानिग्रहा-न्तादिषु हि शब्दः प्रमाणम् । तथा चाक्षपादसूत्रं 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (१।१।३) । वैशेषिक अपि 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्य' (१।१।३) मित्याहुः । अत-स्तानि शास्त्राणि श्रोतव्यानीति च ।

तथा च महाभारते भगवता कृष्णद्वैपायनेन दर्शितम् 'श्रोत्रियस्यैव ते राजन् मंदक-स्याल्पबुद्ध्यः । अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा सूक्ष्मार्थदर्शिनी' । 'अनुवाकहते'ति तर्ककृताम-प्युपपत्तिमाह केवलत्वादसत्तया । तथेदमपरमुत 'कश्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणान्स्मार्तं सेवते । अनर्थकुशला ह्येते मूर्खाः पण्डितमानिन' इति ।

अनेनासत्तर्कश्रवणं प्रतिषिद्धं पूर्वेण सत्तर्कानुज्ञानं तदेव तदिति ।

केचित् प्रामाण्यं वेदस्याहुरीश्वरप्रणेतृकतया । न च तस्यास्ति सम्भवः । न च तस्मिन् पक्षे वेदः प्रमाणं तस्य ह्यसावीश्वरः समयोपस्थापकः ।

एतेषु श्रूयमाणेषु अप्रामाणिको विपरीतोऽभिनिवेशो जायते । अतोऽसत्तर्का एव ते । न च वैदिकस्य वाक्यावबोधे कस्यचिदप्युपयुज्यन्ते । तथा च सांख्यः 'स ह्यविशुद्धिः क्षयातिशययुक्त' (सां०का० २) इत्याहुः । अक्षपादैरपि तदप्रामाण्यं मन्यते । तथा च याज्ञिकपूर्वपक्षे (न्या०सूत्र० २।१।५७) निर्धारितं यदपि केनचित्पठितम् ।

कर्ममीमांसावेदान्तभाष्यमेवमविधानं यथाश्रुति विज्ञायते—'देवा अस्माल्लोकादमुं लोकमायंस्तानृषयोऽन्वीयुस्तान्मनुष्या अब्रुवन् कथमथो भविष्यामः एभ्यः सर्वकर्मऋषयः प्रायच्छत् । तस्माद्यत् ब्राह्मणोत्तमास्तर्कयंत्यार्षमेव तद्भवति' इति श्रुतेः । एषा यथोक्ततर्कपदार्थानुवादिनी ॥१०६॥

हिन्दी—जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृति शास्त्रों को वेदानुकूल तर्क से विचारता है, वही धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं ॥१०६॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदेक्ष्यते ॥१०७॥

भाष्य—वक्ष्यमाणार्थादरातिशयोत्पत्त्यर्थः श्लोकोऽयं श्रोत्रियसम्बोधनार्थः ।

रहस्यं गुह्यम् । अतश्च न सर्वस्य प्रकाशयितव्यम् । यो न शुश्रूषापरो न च परमां

‘भक्तिमुपेतो यश्च न स्थिरप्रकृतिर्न तस्मै प्रकाश्यम् ॥१०७॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि) मुक्तिसाधक इस (१२।८३-१०६) सम्पूर्ण कर्म को (मैंने) यथावत् कहा, अब (मैं) इस मानव (मनु भगवान् के रचे हुए) शास्त्र के रहस्य (गोपनीय विषय) को (१२।१०८-११५) कहता हूँ, (उसे आपलोग सुनें) ॥१०७॥

अकथित धर्मस्थल में शिष्टवचनानुसार कर्तव्य—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥

भाष्य—“ननु चानाम्नातेषु कः संदेहः । नो जाने नेह कथं स्यादिति चेत् यतो नैव तेषां तत्” ।

उच्यते । नेहेदृशमनाम्नातमभिप्रेतम् । किं तर्हि? यत्सामान्यत आम्नातं विशेषतस्तु न ज्ञायते ।

“ननु च तत्रापि कः संदेहः । सामान्यस्य विशेषमात्रापेक्षाद्येन केनचित्सिद्धं शास्त्रार्थं, यथा ‘अद्विराचमेदिति’ कूप्यस्यावरनादेयादिभेदेन भिन्नास्वप्सु ताः काश्चिदुपादीयमानाः सम्पादयन्ति शास्त्रार्थम् ।”

सत्यम् । यत्र प्रतिषेधश्रुतिर्न च वैशेषिकं प्रायश्चित्तमुपदिष्टं यत्रेदमुपदिश्यते । यदा शूद्रोच्छिष्टं किञ्चित्प्रात्रं तदशुद्धं तत्सम्पर्कादशुचि तस्मिन्नकृते शुद्धे यदि केनचिद्भुक्तं स्यात्तदा किं प्रायश्चित्तमिति संदेहः । स हि जिज्ञासा च निश्चयावसानेन च प्रत्यक्षादिषु सम्यङ् निधिः स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेवेत्यदत्तं भवितुमर्हति । न च तच्छूद्रस्योच्छिष्टमिति शक्यं वक्तुम् । किं तेन तदुच्छिष्टमिति । एवमादौ संदेहे तु शिष्टवचनं प्रमाणीकर्तव्यम् । यथा ग्ये शूद्रादयो विप्रांशास्तेषामयं धर्मसंदेहः । शिष्टोपदिष्टमेव युक्तं कर्तुम् । ततश्च न्यूनाधिकभावेन या कृता कल्पना स एव तत्र धर्मः । तेषामपि तथोपदिशतां न दोषः । यत आह—
स धर्मः स्यादशङ्कित इति । अधर्मं ब्रुवतो दोषः, धर्मं तु का विचिकित्सा । तथा गोत्रप्रवरसंदेहे कथं च स्मृतिविच्छेदे ब्राह्मणवचनात् गोत्रप्रवरसिद्धिः । तत्र च प्रवरसंदेहे सर्वेषां मानवे संशय इत्युक्तम् । गोत्रसंशये तर्हि भविष्यति । तत्र च गोत्रसंशयाभावे कुतः प्रवरसंशयः । प्रतिगोत्रं प्रवराणां भेदेन पठितत्वात् । उपपद्यत एवमेतद्गोत्रनामधेयम् । प्रवराश्च भिन्ना नाना गोत्राणि । तत्र सत्यपि प्रवरनिश्चये गोत्रसन्देह उपपद्यते ॥१०८॥

हिन्दी—(सामान्य रूप से कथित, किन्तु विशेष रूप से) अकथित धर्मस्थल में किस प्रकार का आचरण करना चाहिये ऐसा सन्देह होने पर जिस धर्म को शिष्ट (१२।१०९) ब्राह्मण बतलावें, वही धर्म सन्देहरहित है (अतएव उसी शिष्टोक्त धर्म का आचरण करना चाहिये) ॥१०८॥

शिष्ट के लक्षण—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥

भाष्य—शिष्टलक्षणमनेन कथ्यते ।

“ननु चार्थकामेष्वसत्कानामित्यत्रोक्तमेव शिष्टलक्षणम् ।

अन्योऽपि तस्य तत्रार्थ आशंकितोऽतो न तस्य लक्षणपरतैव । यच्च वशिष्ठेनोक्तं ‘शिष्टः पुनरकामात्मा’ इति तत्र विद्वत्ताया श्रुतत्वात् ।

यत्र परिपूर्णत्वादधिगतोऽर्थतश्च विदितः स स परिवृंहणः । तथा च भगवान्व्यासः ‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्’ इति । स्मृतयोऽप्येवं गृहीतार्था भवन्ति ।

ब्राह्मणग्रहणमनुवादस्तेषामेव धर्मप्रवचनाधिकारात् ।

श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः । ‘प्रत्यक्षं हेतवश्च’ प्रत्यक्षहेतवः । हेतुशब्देन प्रत्यक्षादन्य-
प्रमाणान्युच्यन्ते । श्रुतिः प्रत्यक्षो हेतुश्च येषां ते श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः । एतदुक्तं भवति । यथा
प्रत्यक्षं निर्विवादं प्रमाणमेव तादृशीं श्रुतिं मन्यन्ते, यान्यपि हेतूत्थानि प्रमाणानि तेषु
विश्वसन्ति; श्रुतिमेव तर्कं मन्यन्ते; हेतुशास्त्रश्रयणेन चेदं न प्रमाणीकुर्वन्ति ।

अथवा ‘श्रुतिः’ प्रत्यक्षश्रुतिः, ‘प्रत्यक्ष’शब्दः श्रौते प्रत्यये प्रत्यक्षतुल्यत्वात्प्रयुक्तः,
सा च हेतुर्धर्माधर्मपरिज्ञाने कारणं येषां त एवमुच्यन्ते ॥१०९॥

हिन्दी—धर्म से (ब्रह्मचर्यादि आश्रम में निवासकर, व्याकरण-मीमांसादि शास्त्रों से)
परिस्फुट वेद को जिन्होंने पढ़ा है, वेद (के तत्त्व) को प्रत्यक्ष करनेवाले उन ब्राह्मणों को
‘शिष्ट’ जानना चाहिए ॥१०९॥

परिषद्वर्णन—

दशावरा वा परिषदं धर्मं परिकल्पयेत् ।

त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥११०॥

भाष्य—दशावरे यस्याः दशावराः । यदि बहवो न संनिधीयन्ते दशावश्यं
संनिधातव्याः । तदभावे त्र्यवराः ।

वृत्तस्था इति । यदुक्तं ‘अर्थकामेष्वसत्कानाम्’ इति तस्यैवायमनुवादः । न चैषा
पुरुषसंख्याऽपि तु गुणसंख्या । तथा च वक्ष्यति ‘एकोऽपि वेदवित्’ इति । एकस्य यतो
गुणसमूहस्य बाहुल्येनासम्भवात् पुरुषप्रधानतया संख्याया निर्देशः कृतः । तानिदानीं
परिषत्त्वहेतुगुणान् दर्शयति ॥११०॥

हिन्दी—कम से कम दश (१२।१११) सदाचारी ब्राह्मणों की सभा (कमेटी) या

(उतना नहीं मिलने पर) तीन (१२।११२) ब्राह्मणों की सभा जिस धर्म का निर्णय करे, उस धर्म का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए ॥११०॥

[पुराणं मानवो धर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥११॥]

[हिन्दी—पुराण, मानव (मनु भगवान् द्वारा प्रतिपादित) धर्म, साङ्गोपाङ्ग चिकित्सक और (सज्जनों की) आज्ञा से सिद्ध कार्य, इन चारों का हेतु अर्थात् तर्क से नाश (उल्लङ्घन) नहीं करना चाहिये ॥१॥]

दश ब्राह्मणों की सभा—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्को नैरुक्तो धर्मपाठकः ।

त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥१११॥

भाष्य—पुरुषप्रधानेऽपि निर्देशे गुणपरतैव विज्ञेया ।

यस्त्रैविद्यो वेदत्रयस्याध्येता तदर्थस्य च वेदिता । अनुमानादिकुशलः **तर्को** अयमू-
हापोहबुद्धियुक्तः ।

“ननु च नैवंविदो वेदार्थवित्त्वमेव संभवतीत्युक्तम्” ।

सत्यम् । परोपदेशादपि कस्यचिद्वाचनावती वेदार्थमात्रा सम्भवत्यपि । अतश्च प्रत्ययेन विना वेदार्थग्रहणार्थहेतुकेन भातीत्युक्तम् ।

एतेन **नैरुक्तो** व्याख्यातः ।

धर्मपाठको मन्वादिसंस्मृतिशास्त्राणामध्येता ।

त्रयश्चाश्रमिणो ह्येते ह्यनुष्ठानपराः कुशलतरा धर्मेषु भवन्ति । **पूर्वे** । ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुरित्येके । तस्य हि ग्रामप्रवेशो नानिषिद्धो गौतमेन चेयमानुपूर्वी पठिता ‘ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानस’ इति । अन्ये त्वाहुः—हिंसानुज्ञा नास्तीति । कथमसौ धर्माश्रयेत्, तस्मात्तापससकाशमन्यैः सह गंतव्यम् ॥१११॥

हिन्दी—तीनों वेद की तीनों शाखाओं, श्रुति-स्मृति के अविरुद्ध न्यायशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, निरुक्त और मनु आदि महर्षियों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों को पढ़े हुए, प्रथम तीन (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ) आश्रम में रहनेवाले दश ब्राह्मणों की परिषद् (सभा-कमेटी, धर्म निर्णय करने में समर्थ) होती है ॥१११॥

तीन ब्राह्मणों की सभा—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।

त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

भाष्य—निरुक्तव्याकरणमीमांसाभिर्वेदार्थो ज्ञायते । ते च सर्वे साधारणाः । न हि तत्रैकस्य वेदस्यार्थो ज्ञायते नान्यस्य नित्यमयं प्रकारोऽस्ति ।

अथ ऋग्वेदादीत्यादि कथं भेदोपपत्तिः । तथा तत्र गृह्यसूत्रभेदेन चेदमुक्तम् ॥११२॥

हिन्दी—ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को पढ़ने और उसके तत्त्व को जानने वाले कम से कम तीन ब्राह्मणों की सभा धर्म-सम्बन्धी सन्देह के निश्चय करने में समर्थ होती है ॥११२॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्विजोत्तमः ।

स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥

भाष्य—व्यवस्येन्निश्चित्य कथयेदित्यर्थः ।

नाज्ञानां मूर्खाणां अयुतैरप्युदितः । उदितः प्रागेव व्याख्यातः ॥११३॥

हिन्दी—(अथवा तीन विद्वान् ब्राह्मणों (१२।११२) के नहीं मिलने पर) वेदतत्त्व-ज्ञाता एक भी ब्राह्मण जिसको धर्म निश्चित करे, उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये, दश सहस्र मूर्खों से कहा हुआ धर्म नहीं है ॥११३॥

मूर्खपरिषद् को धर्मनिर्णय का निषेध—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।

सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥११४॥

भाष्य—अव्रतानामिति प्रागुक्त एवार्थो व्यतिरेकद्वारेण कथ्यते । व्रतिनो वेदाध्यायिनः यं निश्चयं ब्रुवते तत्र न विचिकित्सितव्यं विद्वद्भिरविद्वद्भिर्वा । अत एव न लघुपरिकल्पो गुणतुल्यवद्विकल्प्यते ॥११४॥

हिन्दी—(सावित्री ब्रह्मचर्यादि) व्रतों से हीन मन्त्र (वेदाध्ययन से) रहित और जातिमात्र से ब्राह्मण कहलाकर जीनेवाले एकत्रित सहस्रों ब्राह्मणों की भी परिषद् (सभा, धर्मनिर्णायक) नहीं होती है ॥११४॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।

तत्पापं शतधा भूत्वा-तद्वक्तृननुगच्छति ॥११५॥

भाष्य—वक्तृणामविदुषां दोषकथनम् ॥११५॥

हिन्दी—अधिक तमोगुणवाले मूर्ख वेदोक्त धर्मज्ञान से शून्य (ब्राह्मण नामधारी व्यक्ति) जिस पुरुष को प्रायश्चित्त आदि धर्म का उपदेश देते हैं, उस पुरुष का वह पाप सौगुना होकर उन धर्मोपदेशकों को लगता है ॥११५॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।

अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

भाष्य—प्रतिज्ञातधर्मोपसंहारः श्लोकोऽयम् । ‘धर्मान्नो वक्तुमर्हसि’ इति यत्पृष्ठं ‘महर्षीन् श्रूयतामिति’ तद्वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं तत्सर्वं कथितमिति शास्त्रपरिसमाप्तिमाह ।

“ननु च परस्तादप्यस्ति शास्त्रं हंतव्यादिशास्त्रं सा च विधितः श्रूयते । तत्र विधि-विषये कश्चिदिति कथमुच्यते शास्त्रमुपसंहियत इति । वक्तुर्न करोति प्राय उपसंहारः ।”

परस्ताच्च कर्मशेषात्स्वप्रधानाशुद्धैव विद्योपदिश्यत इति न विरोधः । सर्वत्र श्रेयसी शास्त्रार्थधर्मलक्षणा विद्येत्युपसंहृत्याभिधाने प्रयोजनम् ॥११६॥

हिन्दी—(भृगुजी महर्षियों से कहते हैं कि मैंने) आप लोगों से परमकल्याणकारक यह (१२।१०८-११५) धर्म कहा, इस धर्म से भ्रष्ट नहीं होनेवाला अर्थात् सर्वदा इसका पालन करनेवाला विप्र श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है ॥११६॥

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।

धर्मस्य परं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥

भाष्य—स भगवान् मनुरिदं शास्त्रं सर्वं लोकहिताय प्रोक्तवानिति भृगुः शिष्यानाह । अनेनाधिकाराकांक्षा निवर्तते ।

गुह्यं यदध्यात्मं तदपि मनुर्मांमुपदिश्य प्रकाशयांचक्रे । मयापि यथागमं भवतां प्रकटीकृतमिति न कार्याऽधिकाऽकांक्षा ॥११७॥

हिन्दी—(भृगुजी पुनः महर्षियों से कहते हैं कि) इस प्रकार भगवान् मनु देव ने संसार के हित की कामना से धर्म का सब परम रहस्य मुझ (भृगु) से कहा ॥११७॥

आत्मज्ञान को पृथक् करके उपदेश—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।

सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मतिम् ॥११८॥

भाष्य—सर्वं जगत्सदसद्रूपमुत्पत्तिविनाशधर्मकम् । अथवा असत् शशविषाणादि-वत् सच्च नित्यमाकाशादिवत् सर्वमात्मनि संपश्येदात्मनि व्यवस्थितमुपासीत ।

संदर्शनार्थस्य स्पष्टार्थस्य साक्षात्करणपर्यन्तयोपासनया विज्ञायते । न हि सकृद्दर्श-नेन साक्षात्कारः सम्भवति । तथोपदिश्यते रहस्यशास्त्रम् । तत्रात्मध्यानार्थैतदुक्तं भवति ‘श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य’ (बृहदारण्यक, अ० २ ब्रा० ५) इति ध्यानपर्यन्तता सदृशनस्य । आत्मध्यानं यथोपदिष्टज्ञानाभ्यासो विजातीयप्रत्ययानन्तरितमुच्यते । अथवा सामर्थ्यादभ्यासाक्षेपः । यतः संस्कारकर्माणि च संस्कार्यै विशेषाधानेन संपन्नस्वार्थानि

भवन्ति । यथा 'ब्रीहीनवहन्तीति' अश्रुतोपन्यासः तुषकणविप्रमोकफलेभ्यस्तत्संदर्शनेन ह्यदृष्टार्थता स्यात् । तथा च कर्मविधित्वात् षष्ठिसंस्कारकर्मताहानिश्च । अतः **संपश्येदिति** ज्ञेयान्तरविषय-ज्ञाननिराकरणेन तदेकज्ञेयनिष्ठामनुब्रूयात् ।

अत्रात्मनीति विवदन्ते । कोऽयमात्मा नाम । यदि तावदयं देहाधिकरणः क्षेत्रज्ञः तत उत्तरं विरुध्येत 'प्रशासितारं रुक्माभम्' इति । न हि कर्मत्वशरीरस्य मृत्वोत्पत्तिः श्रूयते—'एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत' इति (बृहदारण्यक ३।८।९) तस्मान्नाहंप्रत्ययप्रमेये आत्मन्यपि संसारविधिः । अतोऽन्या काचित्तस्य स्वरूपसिद्धिर्वक्तव्या । किंचैवं सति 'पश्येदिति' आदिना बाह्यात्मनामप्याधिभूतादि-दैवभावेन व्यवस्थितानामाध्यात्ममुपसंहारः । शिष्यते च श्रौतमतोस्तरागः साधनतया कारणात्मनार्जितस्य सम्बन्धितां प्रतिपद्यते । ननु यः सर्वं जगत्कारणपुरुषावच्छेदमुक्तं सदा प्रत्यात्मनि **संपश्येदिति**, तत्र कीदृशमात्मनो दर्शनमात्मनीति वक्तव्यम् ।

अन्ये तु मन्यन्ते शरीरात्मन एवैतत्संनिवेशनं युक्तम् । तस्य हि श्रोतृसंनिवेशेन तद्वत्ता युक्ता ।

तत्रोच्यते । आत्मशब्दस्तावत्परमात्मविषयतया दर्शितवाक्यान्तरसमन्वयप्रमाणः ।

यत्तु स्वरूपसिद्धिर्वक्तव्येति तत्र किमन्यच्छक्यं वक्तुमन्यदतः श्रौतत्वज्ञानविधेः । तानि च वाक्यानि प्रतिशाखं सर्वोपनिषद्भ्योऽवगन्तव्यानि । प्रमाणान्तराणामप्येकत्वप्रतिपादनपरत्वादेव ग्राहिणः प्रत्यक्षस्य मिश्रैः कृत एव क्लेशः । उक्तं च वाक्यपदीये 'न तदस्ति च तन्नाम्नि' इत्यादि । विध्यवगम्यता च शरीरावरकादवसातव्या ।

यदप्युक्तमसत्कथं दृश्यत इति **सच्चासच्चेत्ययमर्थः** स्यात् । 'सदिति' विकारग्रामस्य निर्देशः । 'असदिति' अप्रत्यक्षतैव सूक्ष्मतयाऽशक्यावधारणत्वात् ।

यदप्युक्तं नास्ति परमात्मनः श्रोत्रसम्बन्ध इति । किमत्र सम्बन्धि सर्वस्य जगत्स्थित्युत्पत्तिविनाशानां तत्कारणतयोपपादित्वात् ।

यश्चायं संनिवेशविधिस्तस्यायमर्थः—यावद्यत्किंचिद्भेदवदवभासते तत्सर्वमद्वैतिकत्वे प्रविलापयेत् । सर्वमात्मस्थमित्येतत्परमात्मनो विरतिसामान्ये हेतुर्विद्यत इति ।

समाहितः । समाधिर्नाम चित्तवृत्तिनिरोधोपायो योगशास्त्रादागमयितव्य इत्यर्थः । **नाद्यर्मे कुरुते मतिं** बुद्धिचेतसोर्निश्चलताभावः । तावदभ्यसेद्यावद्वादिभिश्चेतो नापहियेत । अतश्च यावत्कश्चिद्भेदकत्वे प्रतिविलापयेत् ॥११८॥

हिन्दी—ब्राह्मणसावधान चित्त होकर समस्त सत् तथा असत् को आत्मा में वर्तमान देखे, सब (सत् तथा असत्) को आत्मा में वर्तमान देखता (जानता) हुआ वह ब्राह्मण अधर्म में मन को नहीं लगाता है ॥११८॥

आत्मा की प्रशंसा—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥

भाष्य—सर्वत्र यागादिक्रियाः स्वर्गादयो देवता आत्मत्वेन द्रष्टव्याः । योऽयमग्नि-
देवता अग्नेरियमन्यात्मैवासौ नान्योऽग्निर्देवताऽस्तीति । तदप्युक्तम् ‘एक आत्मा बहुधा
श्रूयत’ इति । यत्र युक्त ‘एक एवाहमात्मा देववेति’ । तथा (ऋ० वे० १।१६४।४६)
‘इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति बहुरूपपरमात्मनोऽन्यां देवतां
पश्यन्ति । सतां परादा’दित्यनेन कर्माङ्गदेवतानामात्मदृष्टिर्विधीयते ।

“किं तर्हि, न तस्य देवतादिकृत्यमस्ति” ।

आत्मतयैव सर्वसिद्धिः । कथम्? नार्थात्मनि जनयत्येषामिति । **कर्मयोगे** कर्मफल-
सम्बन्धः । स **आत्मा** तेषां निष्पादयति । नान्या देवता न तद्गुणकमिति ॥११९॥

हिन्दी—(इन्द्र आदि) सब देवता आत्मा अर्थात् परमात्मा ही है, सब संसार
आत्मा में ही अवस्थित है और आत्मा ही इन देहियों (जीवों) के कर्मसम्बन्ध को उत्पन्न
करता है ॥११९॥

वायु, आकाश आदि का लयकथन—

खं सन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनिऽनिलम् ।

पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥१२०॥

भाष्य—यान्येतानि नवच्छिद्राणि तेषु बाह्यमाकाशं नियच्छेत् । ‘बाह्यमाकाशं तदेव
तत्र बाह्यं किञ्चिदस्तीति’ ।

अनिलो वायुः । तं सन्निवेशयेत् ।

चेष्टते स्पन्दते तत्र काचिच्छरीरावस्था हस्तपादाद्युक्तविहरणलक्षणायाश्चायम् । **स्पर्शो**
बाह्यादिलक्षणः । तत्र वायुं **संनिवेशयेत्** । **पक्तिर्जाठराग्निकृता** । **दृष्टिश्च** । तयोः निवे-
शयेत् । **तेजः परं** कृत्स्नमादित्यात्मनावस्थितम् ।

स्नेहे भेदो मज्जादिरूपे संनिवेशयेदिति वर्तते ।

गां पृथिवीं **मूर्तिषु** शरीरभागेषु ॥१२०॥

एवं महाभूतानामुपसंहारः । इदानीं देवतानामाधानमुपसंहरिष्यते ।

हिन्दी—(इस समय आगे (१२।१२१) कहे जानेवाले ब्रह्मध्यान के लिए विशेष
उपयोगी होने से दैहिक आकाशादि का बाह्य आकाशादि में लय होना कहते हैं—)
नासिका उदर आदि सम्बन्धी शारीरिक **आकाश** में बाह्य आकाश को, चेष्टा तथा

स्पर्शरूप शारीरिक वायु में बाह्य वायु को, उदर सम्बन्धि और नेत्र सम्बन्धी शारीरिक तेज में उत्कृष्ट (सूर्य-चन्द्र-सम्बन्धी) बाह्य तेज को, शारीरिक स्नेह (जल) में बाह्य जल को, शारीरिक पार्थिव (पृथ्वी-सम्बन्धी) भागों में बाह्य पृथ्वी को ॥१२०॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् ।

वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥

भाष्य—योऽयमिन्दुश्चन्द्रमास्तं मनसि संनिवेशयेत् । नैष चन्द्रो गगनसंचारी । किं तर्हि ? मम 'मनसि' व्यवस्थितः ।

याश्च दिशः श्रोत्रेन्द्रियशक्तौ ।

क्रान्ते विष्णुं यो यत्रात्पमपि क्रामति विष्णुरेव क्रान्तिकर्मणा सन्निविष्टः ।

एवं बले हरम् । हनुरेतो द्रागप्युत्थानं स चेन्द्रियावकाशः कालाकृतिरिन्द्रिय-कर्मैव तत् ।

यं एवं वागग्नेरेवायमुत्सर्गो वाय्वाद्यैर्मन्त्रैः पश्येत् ।

एवमध्यात्ममुपसंहृत्य सर्वं परमात्मनि पश्येत् । एवमात्मको हेतुः परमात्मनि व्यवस्थितो 'नाहं कश्चित्ततो भिन्न इति' । एवमेषा सर्वोपासना । कर्तव्या ॥१२१॥

हिन्दी—मन में चन्द्रमा को, कानों में दिशाओं को, चरणों में विष्णु को, बल (सामर्थ्य) में शिव को, वचन में अग्नि को, गुदा में मित्र को, शिश्न में प्रजापति को लीन (हुआ समझकर) एकत्व की भावना करे ॥१२१॥

आत्मा का स्वरूप—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।

रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यातं पुरुषं परम् ॥१२२॥

भाष्य—एवमेवाह ।

प्रशासितारं नियन्तारम् । **सर्वेषां** ब्राह्मणादिशूद्रपर्यंतानाम् । योऽयमग्न्यादीनामौष्ण्यादिस्वभावनियमो यच्चादित्यादीनामनिशमन्तःपरमोजः जगत्प्रमणप्रकाशनादिषु व्यापारो यश्च कर्मणां फलं प्रतिनियमः स सर्वस्तस्मिन्निनयन्तरि सति । यदुक्तमेतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गीत्यादिना । तथा 'तत्सूर्यस्तपति च यावद्वर्षति चन्द्रमाः । भयादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः' (कठोपनिषद्) इति ।

अणीयांसमणोरपि इति । यः कश्चिद्वारानिरतिशयवालाग्रशतभागादिस्तत्ते तृतीयांश-परिमाणकत्वमसत्प्रतिपाद्यते । 'अस्थूलमनण्वित्यादि' (बृहदा० ३।८।८) सर्वधर्म-प्रतिषेधात्, हिं तर्हि ? कुशाग्रीयाया बुद्धेर्गम्यत्वात् । एतदुक्तं भवति । यो नात्यन्तं

कुशलो न च तदभ्यासे परिष्वक्तः ॥१२२॥

हिन्दी—(इस प्रकार (१२।१२०-१२१) आत्मा में लीन बाह्य भूतों (आकाशादिकों) की भावना करके) सम्पूर्ण चराचर जगत् का शासक, सूक्ष्म से भी अधिक ‘सूक्ष्मतम’, (उपासना (ध्यान) के लिए) सुवर्ण के समान (देदीप्यमान), स्वप्नबुद्धि के (प्रसन्न मन से) ग्रहण करने योग्य उस श्रेष्ठ पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन (ध्यान) करे ॥१२२॥

विमर्श—ब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त चेतनाचेतन जाति का, अग्नि आदि के उष्ण होने एवं सूर्य-चन्द्र आदि के नित्य भ्रमण करने का जो नियम है तथा कर्मों का जो फल नियम है, वह सब कुछ परमात्मा के अधीन है। अतएव वह परमात्मा ही चराचर समस्त जगत् का शासक है। यद्यपि वह परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप आदि से रहित है तथापि उपासना के लिए वह तपाये गये शुद्ध सुवर्ण के सदृश देदीप्यमान माना गया है। जिस प्रकार स्वप्न-बुद्धि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियों के क्रियाशून्य होने पर केवल मन से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार परमात्मबुद्धि भी^१। अतएव व्यास^२ ने परमात्मा को नेत्रादि इन्द्रियों से अग्राह्य तथा सूक्ष्म-दर्शियों द्वारा केवल प्रसन्न मन से ग्राह्य बतलाया है।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥१२३॥

हिन्दी—इस (परम पुरुष परमात्मा) को कुछ लोग (याज्ञिक-अध्वर्यु) अग्नि, कुछ लोक (सृष्टिकर्ता) प्रजापति मनु, कुछ लोग (ऐश्वर्यसम्पन्न होने से) इन्द्र, कुछ लोग प्राण तथा कुछ लोग शाश्वत (सनातन अर्थात् नित्य) ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥

विमर्श—इस प्रकार परमात्मा की मूर्त तथा अमूर्त (क्रमशः सगुण तथा निर्गुण) सर्वविध उपासना वेदों में प्रसिद्ध है।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिव्याप्य मूर्तिभिः ।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥१२४॥

हिन्दी—यह (परमात्मा) सम्पूर्ण प्राणियों में शरीरों को आरम्भ करने वाली पञ्च

१. तथा च श्रुतिः—

‘बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवेति विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥’ इति ।

२. तदुक्तं व्यासेन—

‘नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः ।

मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥’ इति ।

मूर्तियों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशरूप पञ्चमहाभूतों) से व्याप्त होकर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश (क्रमशः—जन्म, स्थिति तथा मरण के द्वारा (निरन्तर परिवर्तनशील रथ के) पहिए के समान संसारियों को सर्वदा बनाता रहता है ॥१२४॥

परमात्मदर्शन की अवश्यकर्तव्यता—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माध्येति परं पदम् ॥१२५॥

भाष्य—ब्रह्माध्येति ब्रह्मभावमापद्यते । मैत्राद्यवभासेन रागद्वेषक्षयमनुवदति । अनेन चाविजातीयप्रत्ययान्तरितात्मैकत्वज्ञानमनुष्ठेयमाह । न हि विजातीयप्रत्ययोत्यक्तौ सर्वसमता भवति । अतश्चैतदुक्तं भवति । अहं ममेति त्यक्ताहंकारममकारस्य तदेकज्ञाननियततया निरतिशयपरमानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति । अनिष्टनिवृत्तिः शास्त्रप्रदर्शिताभिप्रेतनियमस्य प्राप्तिश्च फलसिद्धिर्भवति इत्यर्थः ॥१२५॥

हिन्दी—इस प्रकार (१२।११८-१२४) सम्पूर्ण जीवों में स्थित आत्मा (परमात्मा) को आत्मा के द्वारा जो देखता है, वह सब में समानता प्राप्त कर ब्रह्मरूप परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥१२५॥

[चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात् ।

भूयो वाऽप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत् ॥१०॥]

[हिन्दी—इस (मानव-मनुप्रतिपादित) शास्त्र के धारण (अध्ययन) करने अर्थात् जानने से चारों वेद (के अध्ययन) के समान पुण्य होता है अथवा महान् तथा पापनिवारक यह उससे भी अतिरिक्त (श्रेष्ठ) होता है । (वास्तविक में वेद से अधिक श्रेष्ठ किसी वचन के नहीं होने से प्रशंसार्थ यह वचन कहा गया है) ॥१०॥]

इस शास्त्र के पढ़ने का फल—

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्विजः ।

भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥१२६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

इतिः शास्त्रसमाप्तिमाह । पठन् भवत्याचारवान् । अन्यो अध्याहार्य आचारः । यथा पठितशास्त्रात् शास्त्रानुष्ठानम् । एवंविधश्चेद्भवति यथेष्टां देवतादिलक्षणां गतिम् ॥१२६॥

मान्या कापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः
सा लुप्तैव विधेर्वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न यत् पुस्तकम् ।

क्षीणीन्द्रो मदनः सहारणसुतो देशान्तरादाहृतै-
र्जीणोद्धारमचीकरत्तत इतस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥

इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनुमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥

हिन्दी—भृगुजी के द्वारा कहे गये इस मानव (मनु द्वारा प्रतिपादित) शास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज (इसमें विहित कर्मों का आचरण तथा वर्जित कर्मों का त्याग करने से) सदाचारी होता है और यथेष्ट (अपनी इच्छा के अनुसार, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि) गति को प्राप्त करता है ॥१२६॥

[मनुः स्वायंभुवो देवः सर्वशास्त्रार्थपारगः ।

तस्यास्यनिर्गतं धर्मं विचार्य बहुविस्तरम् ॥११॥]

[हिन्दी—स्वयम्भू (ब्रह्मा) के पुत्र, देव (प्रकाशशील) मनु सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्वों के पारदर्शी हैं, उनके मुख से निकले हुए अर्थात् उनके द्वारा कहे हुए बहुत विस्तृत (विशद रूप से वर्णित) धर्म को विचार करके ॥११॥]

[ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम् ।

ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्यः शाश्वतम् ॥१२॥]

[हिन्दी—सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाले इस (धर्मशास्त्र) को जो कोई द्विज पढ़ते हैं, वे शाश्वत (नित्य) ब्रह्मलोक रूप परमपद अर्थात् मोक्ष को जाते हैं ॥१२॥]

मानवे धर्मधास्त्रेऽस्मिल्लोकगत्यादिवर्णनम् ।

पितृपादप्रसादेन द्वादशे पूर्णतामगात् ॥१२॥

॥ समाप्तैषा मनुसंहिता ॥



चतुर्भुजोऽपि द्विभुजत्वमाप्य श्रीरामनाम्ना नरतां गतो यः ।

विजित्य विंशद्भुजमत्र धर्मं संस्थापयामास स शं करोतु ॥

॥ सम्पूर्णम् ॥

॥ शुभं भवतु ॥





परिशिष्ट

प्राप्ति

परिशिष्ट

मनुस्मृति का स्वरूप

वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति भगवान् मनु द्वारा प्रणीत सम्पूर्ण रूप में है अथवा नहीं—यह चिन्त्य विषय है; क्योंकि अन्यान्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र मनुवचन को उद्धृत करते हुये कतिपय ऐसे-ऐसे श्लोक दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके उपलब्ध मनुस्मृति में दर्शन नहीं होते। स्पष्ट है कि भगवान् मनु ने वृहदाकार मनुस्मृति की रचना की थी, जिसके कतिपय अंश कालक्षेपवशात् आज उपलब्ध नहीं हैं। प्रमाणस्वरूप विभिन्न ग्रन्थों में मनुवचन के रूप में प्राप्त होने वाले श्लोकों का ग्रन्थानुसार यथासम्भव विवरण यहाँ द्रष्टव्य है—

मिताक्षराकार द्वारा उद्धृत—

अकामतस्त्वहोरात्रं . . . शेषेषूपवसेदहः ।
मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूर्तार्तवं तथा ॥
एतान्येव तथा पेयान्येकैकं तु द्व्यहं द्व्यहम् ।
अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥
ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यातु तं स्वयम् ।
निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्बनम् ।
त्रिकादर्वाक् तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥
बंहूनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम् ।
यद्येको घातयेत्तत्र संवेते घातकाः स्मृताः ॥
वाक्पारुष्ये य एवोक्ता प्रतिलोमानुलोमतः ॥
विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम् ।
ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥
विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः ।
एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाध्वमनविक्रयः ॥
विष्णो हव्यं च कव्यं च ब्रूयाद्रक्षेति च क्रमात् ।
स्वेदाश्रुदूषिका श्लेष्मलं चामेध्यमुच्यते ॥
दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः ।
शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥

ब्राह्मणस्य वधे मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने ।
 ललाटे वाभिश्स्ताङ्क्यः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥
 सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः ।
 यथा लेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युदेव ते ॥

आचार्य मयूख में उद्धृत—

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
 दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत्सदा बुधः ॥
 असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ।
 मन्त्रस्नानादिकं प्रोक्तं मुनिभिः शौनकादिभिः ॥
 अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् ।
 कृत्वा सचैलं स्नात्वा तु वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥
 ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।
 अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥
 एतादात्मीयमूत्रादिसंस्पर्शन उदाहृतम् ।
 निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु पश्चात्सन्ध्यां समाचरेत् ।
 अन्याथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफलं भवेत् ॥
 पक्षादौ च रवौ षष्ठ्यां रिक्तायां च तथा तिथौ ।
 तैलेनाभ्यज्यमानस्तु धनायुभ्यां विहीयते ॥
 परस्य शोणितस्पर्शे रेतो विण्मूत्रजे तथा ।
 चतुर्णामपि वर्णानां द्वात्रिंशन्मृत्तिकाः स्मृताः ॥
 भोजनं तु न निःशेषं कुर्यात्प्राज्ञः कथञ्चन ।
 अन्यत्र दधिसक्त्वाज्यपललक्षीरमध्वपः ॥
 यस्मिन् देशे तु यत्तोयं वा च यत्रैव मृत्तिका ।
 सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥
 वस्त्रेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत् ।
 तस्य तत्सफलं जप्यं तद्धीनमफलं स्मृतम् ॥
 स्त्रीणां च प्रेक्षणात्स्पर्शाद्वास्यशृङ्गारभाषणात् ।
 स्पन्दते ब्रह्मचर्यं च न दारेष्वृतुसङ्गमात् ॥
 अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।

स्मृति-चन्द्रिका में उद्धृत—

दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत नित्यशः ।
 असुराणां कुले जाता जातिपूर्वपरिग्रहे ।
 तस्मादर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः ॥
 अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ।
 आरम्भकृत्सहायश्च दोषभाजौ तदर्धतः ।
 अलाभे देवखातानां सरसां सरितां तथा ।
 उद्धृत्य चतुरः पिण्डान् पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥
 ऋषिदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनः ।
 ऋत्विजः समवेतास्तु यथा सत्रे निमन्त्रिताः ।
 कन्या द्वादशवर्षे या न प्रदत्ता गृहे वसेत् ।
 भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्स्वयम् ॥
 कुर्युर्यथार्हतः कर्म गृह्णीयुर्दक्षिणं तथा ॥
 ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
 अग्रं चतुर्गुणीकृत्य हन्तकारो विधीयते ॥
 त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ।
 दशानां तु सहस्राणां युक्तानां धुर्यवाहिनाम् ।
 सुपात्रे विनियुक्तानां कन्या विद्या च तत्समम् ॥
 धर्मव्यतिक्रमो वै हि महतां साहसं तथा ।
 तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्येव रजोबलः ॥
 नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
 पञ्चत्स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
 नाग्निहोत्रादिभिस्तत्स्याद्रक्षतो ब्राह्मणस्य वा ।
 यत्कन्यां विधिवद्गत्वा फलमाप्नोति मानवः ॥
 पिता पितृव्यो भ्राता वा चैनामध्यापयेत्पुरः ।
 स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते ॥
 पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा सङ्क्रमणे रवेः ।
 राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥
 पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
 अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥

यत्क्षिप्तो मर्षयत्यार्तेस्तेन स्वर्गे महीयते ।
 यत्त्वैश्वर्यात्र क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥
 यथैव वेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।
 अध्यतेव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥
 विभागे तु कृते किञ्चित् सामान्यं यत्र दृश्यते ।
 नासौ विभागो विज्ञेयः कर्तव्यः पुनरेव हि ॥
 विभागे यत्र सन्देहो दायादानां परस्परम् ।
 पुनर्विभागः कर्तव्यः पृथक् स्थानस्थितैरपि ॥
 शिष्टाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
 समतिक्रान्तकालाच्च पतिताः सर्व एव ते ।
 नैवावधिपूर्तावदापद्यपि च कर्हिचित् ॥
 स्वभानैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
 ततो यदन्यद्ब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥
 हस्तादत्ता तु या भिक्षा लवणं व्यञ्जनानि च ।
 भुक्त्वा ह्यशुचितां याति दाता स्वर्गं न गच्छति ॥
 अनुष्ठितं तथा देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम् ।
 नानुष्ठितं मनुष्यैस्तदुक्तं कर्म समाचरेत् ॥
 अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।
 पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥
 इह जन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत् ।
 अङ्गारकचतुर्दश्यां तर्पयंस्तद्व्यपोहति ॥
 ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत्स्त्रियं क्वचित् ।
 तत्र गच्छन् समाप्नोति ह्यनिष्टं फलमेव च ॥
 एकैकस्य तिलैर्मिश्रास्त्रीन्स्त्रीन्कृत्वा जलाञ्जलीन् ।
 यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
 एतया ज्ञातया नित्यं वाङ्मयं विदितं भवेत् ।
 उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम् ॥
 कुर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि य सुतः ।
 पितृयज्ञाहुतं पाणौ जुहुयाद् ब्राह्मणस्य सः ॥

खादिरस्य करञ्जस्य कदम्बस्य तथैव च ।
 अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः ॥
 तिस्रो व्याहतयः पूर्वं षडोङ्कारसमन्वितः ।
 पुनः संस्कृत्य चोङ्कारमन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ॥
 न नियुक्तः शिरो वर्ज्यं माल्यं शिरसि वेष्टयेत् ।
 न पिबेन्न च भुञ्जीत द्विजः सव्येन पाणिना ।
 नैकहस्तेन च जलं शूद्रेणावर्जितं पिबेत् ॥
 पथि विक्रीय तद्भाण्डं वणिक् भृत्यं त्यजेद्यदि ।
 अथ तस्यापि देयं स्याद् भृतेरर्थं लभेत सः ॥
 पिबतो यत्पतेत्तोयं भोजने मुखनिःसृतम् ।
 अभोज्यं तद्भवेदन्नं भोक्ता भुञ्जीत किल्बिषी ॥
 पीतावशेषितं कृत्वा ब्राह्मणः पुनरापिबेत् ।
 त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्ब्राम्हणेन वा पुनः ॥
 प्रतिश्रुत्य न कुर्याद्यः स कार्यः स्याद्बलादपि ।
 स चेन्न कुर्यात्तत्कर्म प्राप्नुयाद्विशतं दमम् ॥
 मध्ये वा यदि वाप्यन्ते यत्र कन्यां रविर्ब्रजेत् ।
 पक्षः स कालः सम्पूर्णः श्राद्धं तत्र विधीयते ॥
 मृते जन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।
 अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥
 यथा योऽधन(?) हस्ते (I)भ्यो (i)राज्यं गच्छति धार्मिकः ।
 एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥
 यस्यामस्तं रविर्याति पितरस्तामुपासते ।
 तिथिं तेभ्यो यतो दत्तो ह्यपराहः स्वयम्भुवा ॥
 यो भाटयित्वा शकटं नीत्वा चान्यत्र गच्छति ।
 भाटं न दद्यादाप्यः स्यादरूढस्यापि भाटकम् ॥
 षडोङ्कारं जपन्विप्रो गायत्रीं मनसो शुचिः ।
 अनेकजन्मजैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥
 संक्रान्त्यां भानुवारे च सप्तम्यां राहुदर्शने ।
 आरोग्यपुत्रमित्रार्थं न स्नायादुष्णवारिणा ॥
 स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोत्येव न संशयः ।

समाहितोपलिप्ते तु द्वारि कुर्वीत मण्डले ।
 स्वयं धौतेन कर्तव्याः क्रिया धर्म्या विपश्चिता ॥
 सौङ्कराचतुरावृत्य विज्ञेया सा शताक्षरा ।
 शताक्षरां समावृत्य सर्ववेदफलं लभेत् ॥
 वर्जयेदिजिनं दण्डं जटाधारणमेव च ।
 अग्निविद्युद्विपन्नानां प्रमृते नास्ति पातकम् ॥
 यन्त्रितं गोचिकित्सार्थं मूढगर्भातिपातने ।
 अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च ॥

स्मृति-रत्नम् में उद्धृत—

कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं बलिकर्म च नैत्यकम् ॥
 अतिबालामतिकृशामतिवृद्धामरोगिणीम् ।
 हत्वा पूर्वविधानेन चरेच्चान्द्रायणं द्विजः ॥
 आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्तते ।
 न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ॥
 आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् ।
 लोभाद्यः पितरौ मोहात्स कदर्य इति स्मृतः ॥
 आपोहिष्ठादिमन्त्रेण मार्जयित्वा यथाविधि ।
 आपः पुनन्तु मन्त्रेण जलं पीत्वा समाहितः ॥
 आराध्यं देवमाराध्य बन्धूनप्यनुसृत्य च ।
 भुक्त्वा व्याधौ च न स्नायात्तैलेनापि निशास्वपि ॥
 आर्द्रवासस्तु यः कुर्याज्जपहोमौ प्रतिग्रहम् ।
 तत्सर्वं निष्फलं विद्यादित्येवं मनुर्ब्रवीत् ॥
 उत्कृष्टं वापकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते ।
 मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥
 एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते ।
 अबुद्धिपूर्ववेशः स्यात्प्रभृते नास्ति पातकम् ॥
 एवं सन्ध्यामुपास्थाय पितरावग्रजान् गुरून् ।
 त्रिवर्णपूर्वशिष्टांश्च पार्श्वस्थानभिवादयेत् ॥
 गते देशान्तर पत्यौ गन्धमाल्याञ्जनानि च ।
 दन्तकाष्ठं च ताम्बूलं वर्जयेद्वनिता सती ॥

गुरुणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दासुहृद्वधः ।
 ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य वा नाशनम् ॥
 चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः ।
 अनिषिद्धो ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकोऽध्वनिर्जितैः ॥
 ज्ञानमत्तस्य यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम् ।
 अपि देवास्तमर्चन्ति भर्गब्रह्मदिवाकराः ॥
 तिलार्द्रदधिमिश्राणां तिलशाकानि निस्वदन् ।
 तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
 अनापृष्टं तु गृण्हानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥
 तैलभेषजपाने तु औषधार्थं प्रकल्पयेत् ।
 विषतैलेन गर्भाणां पुत्र ते नास्ति पातकम् ॥
 त्रीण्याहुरतिदानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।
 अतिदानं हि दानानां नास्ति दानं ततोऽधिकम् ॥
 त्रीन्पिण्डानथवोद्धृत्य स्नायादापत्सु ना सदा ।
 अन्यैरपि कृते कूपे सरोवाप्यादिके तथा ॥
 दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु ।
 परिच्युतेष्ववस्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥
 द्विजातिभ्यो यथा लिप्सेत्प्रकृष्टेभ्यो विशेषतः ।
 अपि वा जातिमात्रेभ्यो न तु शुद्रात्कथञ्चन ॥
 द्विजातीनामयं देहो न भोगाय प्रकल्पते ।
 इह क्लेशाय महते प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥
 धात्र्याः खादेन्नतु दिवा दधिसक्तूंस्तथा निशि ।
 सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमयं प्रति (ये सति?) ॥
 न देहिनां यतः शक्यं कर्तुं कर्माण्यशेषतः ।
 तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिना सदा ॥
 नातुरो नारुणकरन्नाक्तान्ते च नभस्तले ।
 न पराम्भसि नाल्पे च न शिरस्कः कथञ्चन ॥
 नान्यचिन्तश्चिरं तिष्ठेन्न स्पृशेत्पाणिना शिरः ।
 न ब्रूयात्र दिशः पश्येद्विण्मूत्रोत्सर्जने बुधः ॥

निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मतः ।
 प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ॥
 पुच्छे बिडालकं स्पृष्ट्वा स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
 भोजने कर्मकाले च विधिरेष उदाहृतः ॥
 पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
 तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥
 प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च ह्याचान्तो वाग्यतः शुचिः ।
 तिथिवारादिकं श्रुत्वा सुसङ्कल्प्य यथाविधि ॥
 प्रख्यापनं नाध्ययनं प्रश्नपूर्वप्रतिग्रहः ।
 याजनाध्यापने वादः षड्विधो भेदविक्रयः ॥
 प्रायश्चित्तं प्रकुर्वन्ति द्विजा वेदपरायणाः ।
 बालैरनुपसंक्रान्तं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ।
 माता पिता गुरुभ्राता प्रजा दीनः समाश्रितः ।
 अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गा उदाहृताः ॥
 यत्तज्ज्ञात्वा द्विजो धर्मे पापं नैव समाचरेत् ।
 यत्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
 गवां च पर्वतारोहे नदीतीरे तथैव च ॥
 यदा तूपधातो.....च्छिष्टानि यानि च ।
 शुध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥
 यस्य देशं न जानाति स्थानं त्रिपुरुषं कुलम् ।
 कन्यादानं नमस्कारं श्राद्धं तस्य विवर्जयेत् ॥
 तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
 यस्य धर्मध्वजो नित्यं स्वराड्ध्वज इवोच्छ्रितः ।
 चरितानि च पापानि बैडालं नाम तं विदुः ॥
 योऽर्थार्थी मां द्विजे दद्यात्पठेच्चैवाविधानतः ।
 अनध्याये च तं प्राहुर्वेदविप्लावकं बुधाः ।
 रजकश्चर्मकारश्च नटो वुरुड एव च ।
 कैवर्तभेदभिल्लाश्च सप्तैतेऽन्त्यजातयः ॥
 रेवरभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरूर्ध्वं सन्ध्ययोः क्षिपेत् ।
 राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।
 स्नानदानादिकं कार्यं निशि काम्यव्रतेषु च ॥

संसारभीरुभिस्तस्माद्वियुक्तं कामवर्जनम् ।
 विधिवत्कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ॥
 समूलश्च भवेद्दर्भः पितृणां यज्ञकर्मणि ।
 मूलेन लोकाञ्जयति शक्रस्य च महात्मनः ॥
 सुरभिमत्या सहाब्लिङ्गैर्मार्जयित्वाऽर्ध्यमुत्क्षिपेत् ।
 द्वौ पादौ सम्पुटौ कृत्वा पाणिभ्यां पूरयेज्जलम् ॥
 स्वभावाद्यत्र विचरेत्कृष्णसारमृगो द्विजाः ।
 विज्ञेयो धार्मिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥
 हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतास्त्वज्ञानिनः सदा ।
 अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्कुकः ॥
 त्रयोदश्यां तु सप्तम्यां चतुर्थ्यामर्धरात्रतः ।
 अर्वाङ्नाध्ययनं कुर्यादिच्छेत्तस्य परायणम् ॥
 रात्रौ यामद्वयादवर्ग्यदि पश्येत्त्रयोदशीम् ।
 सा रात्रिः सर्वकर्मघ्नी शङ्कराराधनं विना ॥
 और्ध्वपुण्ड्रो मृदा धार्यो यतिना च विशेषतः ।
 भस्मचन्दनगन्धादीन्वर्जयेद्वावदायुषा ॥
 चण्डालादेस्तु संस्पर्शं वारुणं स्नानमेव हि ।
 इतराणि तु चत्वारि यथायोग्यं स्मृतानि हि ॥
 पक्षादौ च रवौ षष्ठ्यां रिक्तायां च तथा तिथौ ।
 तैलेनाभ्यज्जमानस्तु धनायुर्भ्यां प्रहीयते ॥
 मनुष्यतर्पणे चैव स्नाने वस्त्रादिपीडने ।
 निवीतिस्तूभये विप्रस्तथा मूत्रपुरीषयोः ॥
 वस्त्रं त्रिणुणितं यस्तु निष्पीडयति मृदधीः ।
 वृथा स्नानं भवेत्तस्य यच्चैवादशमाम्बुभिः ॥

वीरमित्रोदय (प्रथम खण्ड) में उद्धृत—

अग्निहोत्रादिभिर्यत्स्याद्दीक्षितब्राह्मणस्य च ।
 तत्कन्यां विधिवद् दत्त्वा फलमाप्नोति मानवः ॥
 अतिगृह्णा द्विजो विद्वानेकोदिष्टस्य केतनम् ।
 त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥

अप्रयात्ये समुत्पन्ने मलवद्वाससो यदि ।
 अभिषेके तु मुक्तिः स्याद्दिनत्रयमभोजनम् ॥
 अप्स्वग्नौ चैव हृदये स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
 विप्रेषु च हरेः सम्यगर्चनं मनुना स्मृतम् ॥
 अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्षं वानप्रस्थस्य षोडश ।
 द्वात्रिंशतं गृहस्थस्य अमितं ब्रह्मचारिणः ॥
 अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ।
 आहारादधिकं वर्णी न क्वचिद् भैक्षमाहरेत् ।
 युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिकमाहरन् ॥
 ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत् स्त्रियं क्वचित् ।
 तत्र गच्छन् समाप्नोति ह्यनिष्टं महदेव तु ॥
 औदुम्बरोऽथ वैश्यस्य प्लाक्षो वा दण्ड उच्यते ।
 काममामरणापत्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
 नत्वेवैनां प्रयच्छेत् गुणहीनाय हि क्वचित् ॥
 तस्मान्नोपहरेद्भक्ष्यमतिरिक्तं कदाचन ।
 दत्तक्रीतादिपुत्राणां बीजवपुः सपिण्डता ।
 पञ्चमी सप्तमी तद्वद् गोत्रं तत्पालकस्य च ॥
 नैनं सूर्योऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदयात्क्वचित् ।
 सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ॥
 नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
 होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥
 पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
 न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥
 पितृवत्पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
 पुत्रवच्चापि वर्तेरन् यथैव पितरं तथा ॥
 पितृव्यपुत्रे सापत्ने परदारसुतादिषु ।
 विवाहाधानयज्ञादौ परिवेदो न दूषणम् ॥
 प्रतिषिद्धं न भोक्तव्यं मधु मांसं च नित्यशः ।
 प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ।
 मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखान्वितः ॥

फलीकरणसंमिश्रैः करञ्जैरवलोकने ।
 वचोधरात्रदेशेषु बालग्रहविमुक्तये ॥
 ब्रह्मचर्यं तपो भैक्ष्यं सन्ध्ययोरग्निकर्म च ।
 स्वाध्यायो गुरुवृत्तिश्च चर्येयं ब्रह्मचारिणाम् ॥
 माधुकरीयमानीय ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
 स याति नरकं घोरं भोक्ता भुङ्क्ते तु किल्बिषम् ॥
 मृते जन्मनि सङ्क्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।
 अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥
 रन्ध्रादिनाभिपर्यन्तं ब्रह्मसूत्रं पविचकम् ।
 न्यूने रोगप्रवृद्धि स्यादधिके धर्मनाशनम् ॥
 वासस्यापि ह्यानिर्णिके मैथुनापतिते सति ।
 विद्या वित्तं तपश्चेति त्रीणि तेजांसि देहिनः ।
 इह चामुत्र च श्रेयस्तदेव प्रतिपादयेत् ॥
 विद्यया विमलं ज्योतिर्वित्तत्यागात्सुखोदयम् ।
 तपसा विमलां भूतिं प्राप्नुयान्मानवस्त्रिभिः ॥
 विवाहेऽनधिकारी स्याज्ज्येष्ठकन्या स्थिता यदा ।
 तदनुज्ञां विना वापि कनिष्ठामुद्वहेत्तदा ॥
 शक्रध्वजनिपाते च उल्कापाते तथैव च ।
 अनध्यायस्त्रिरात्रं तु भूमिकम्पे तथैव च ॥
 शिशुसंरक्षणार्थायाशुभग्रहनिवारिणीम् ।
 रक्षां सन्ध्यासु कुर्वीत निम्बसर्षपगृञ्जनैः ॥
 स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे ॥
 स्वजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ॥
 स्वप्नेऽपि विसृजेद् ब्रह्मचारी शुक्रमकामतः ।
 स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥
 विप्रस्य दण्डः पालाशो बैल्वो वा धर्मतः स्मृतः ।
 आश्वत्थः क्षत्रियस्याथ खादिरो वापि धर्मतः ॥

वी०पू०अ० में उद्धृत—

अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम् ।
 प्रतिभास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ॥
 अग्रजे ब्रह्मचर्यस्थे योऽनुजो दारसङ्ग्रहम् ।

कुरुते परिवेत्ता स परिवित्तोऽग्रजो भवेत् ॥
 अतस्तत्रैव ताः पूज्या अलाभे प्रतिमादिषु ।
 तस्य सर्वगतस्यार्चा स्थण्डिले भावितात्मनाम् ।
 विप्राणां वपुराश्रित्य सर्वास्तिष्ठन्ति देवताः ॥

संस्काररत्नमाला में उद्धृत—

अग्निहोत्रपविध्याग्निं ब्राह्मणः कामकारतः ।
 चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥
 अध्यापयिष्यमाणस्तु यथाकालमतन्द्रितः ।
 अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥
 अथाग्न्योर्गृह्यायोर्योगं सपत्नीभेदजातयोः ।
 सहाधिकारसिद्ध्यर्थमहं वक्ष्यामि शौनक ॥
 अवराहः पितृणां तु याऽपराह्णानुयायिनी ।
 तिथिस्तेभ्यो यतो दत्ता ह्यपराह्णे स्वयम्युवा ॥
 अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
 पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्वर्तितं दिशि ॥
 अविधाय विधानं यः परिगृह्णाति पुत्रकम् ।
 विवाहविधिभाजं तं कुर्यान्न धनभाजनम् ॥
 ऊर्ध्वं संवत्सरादग्निं यस्त्यजेत्स पयोव्रतम् ।
 द्वैमासिकं ततः कुर्यात्त्रैमासिकमथापि वा ॥
 एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्तितम् ।
 खट्वासने च शयनं ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ।
 तत्र यद् ब्रह्मचर्यं तु मौञ्जीबन्धेन चिह्नितम् ।
 सा तस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥
 देशं कालं समासाद्य अवस्थामात्मानस्यथा ।
 धर्मशौचेऽनुतिष्ठेत न कुर्याद्विगधारणम् ॥
 न निशायां परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ।
 पिण्डयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् ।
 पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥
 प्रणवं व्याहृतीः सप्त गायत्रीं शिरसा सह ।
 त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥

प्रतिपद्यप्रविष्टायां यदि त्विष्टिः समाप्यते ।
 पुनः प्रणीत कृत्स्नेष्टिः कर्तव्या यागवित्तमैः ॥
 विशुद्धाः कर्मभिश्चैव श्रुतिस्मृतिनिदर्शिनः ।
 अविप्लुतब्रह्मचर्या महाकुलसमन्विता ॥
 तिस्रो वर्णानुपूर्वेण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
 ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥
 शुक्रे मूढेऽप्युपाकृत्य विद्यावित्तविनाशनम् ।
 आयुःक्षयमवाप्नोति तस्मात्तत्कर्म वर्जयेत् ॥
 रागद्वेषामर्षलोभयानमोहविवर्जिताः ।
 अक्रोधनाः सुप्रसादाः कार्याः सम्बन्धिनः सदा ॥
 सूतके बन्धने विप्रो हव्यकव्यादिवर्जितः ।
 नैनसा लिप्यते तद्वदृतावगमनादपि ॥
 क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत् ।
 ततोऽन्नप्राशनं मासि षष्ठे कार्यं यथाविधि ।
 अष्टमे वाऽय कर्तव्यं यद्वेष्टं मङ्गलं गृहे ॥

नृसिंहश्राद्ध (साधनखण्ड) में उद्धृत—

अग्नेश्चापां च संयोगात् हेमरूप्यं च निर्बभौ ।
 तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥
 अदुष्टाश्च तथा धारा वातोद्धूताश्च रेणवः ।
 स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन ॥
 आपः शुद्धा भूमिगताः शुचिर्नारी पतिव्रता ।
 शुचिर्धर्मपरो राजा सन्तुष्टो ब्राह्मणः शुचिः ॥
 एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
 अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥
 एषामन्यतमो यस्तु भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
 पितृणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥
 कुर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि यः सुतः ।
 पितृयज्ञाहुतिं पाणौ जुहुयाद् ब्राह्मणस्य सः ॥
 कृमिकीटाद्युपहतं देशं श्राद्धे विवर्जयेत् ॥
 गायत्रीमात्रसारोऽपि विरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
 नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥

तन्मात्रमन्नमुद्धृत्य शेषं संस्कारमर्हति ।
 सत्यं दानं दमो द्रोहमानृशंस्यं क्षमा घृणा ।
 तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
 तथा राजतकांस्यानां त्रपूणां सीसकस्य च ।
 शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥
 देवद्रोण्यां विवाहेषु यज्ञेषु प्रसवेषु च ।
 काकैः श्वभिश्च यत् स्पृष्टं तदन्नं न विषर्जयेत् ॥
 मातामहं मातुलं च स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
 दौहित्रं विट्पतिं बन्धून् ऋत्विजं चापि भोजयेत् ॥

वी०आ०प्र० में उद्धृत—

अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
 पञ्च ग्रासान् महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥
 अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।
 न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥
 अग्रैस्तु तर्पयेद्देवान्मनुष्यान् कुशमध्यतः ।
 पितृस्तु कुशमूलाग्रैर्विधिः कौशायमुच्यते ॥
 अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
 पञ्च ग्रासान् महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥
 अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।
 न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥
 अपूर्वः सुव्रती विप्रो ह्यपूर्वश्चातिथिस्तथा ।

वी०अ०प्र० में उद्धृत—

करे गृहीतपात्रस्तु कृत्वा मूत्रपुरीषके ।
 तज्जलं मूत्रसदृशं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
 वेदाभ्यासरतौ नित्यं त्रयोऽपूर्वा दिने दिने ॥
 उपस्पृशेच्चतुर्थस्तु तदूर्ध्वं प्रोक्षणं स्मृतम् ।
 न प्रातर्न प्रदोषश्च सन्ध्याकालेऽतिपद्यते ।
 मुख्यकालोऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्थितः ॥
 ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवप्नुवन् ।
 काममभ्यर्चयेन्नित्यं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
 द्विषतां हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥

ताम्रपात्रे न भुञ्जीत भिन्नकास्ये मलाविले ।
 पलाशपद्मपात्रेषु गृही भुक्तैन्दवं चरेत् ॥
 दर्व्या देयं धृतान्नं तु समस्तं व्यञ्जनानि च ।
 उदकं यच्च पक्कान्नं न दातव्यं कदाचन ॥
 दर्व्या देयं कृतान्नं तु समस्तं व्यञ्जनानि च ।
 अपक्वं स्नेहपक्वं च न तु दर्व्या कदाचन ॥
 पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ।
 स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ॥
 प्रवासं गच्छतो यस्य गृहे कर्ता न विद्यते ।
 पञ्चानां महतामेष स यज्ञैः सह गच्छति ॥
 प्रादेशमात्रमुद्धृत्य सलिलं प्राङ्मुखः सुरान् ।
 उदङ् मनुष्यास्तर्पेत पितॄन् दक्षिणतस्तथा ॥
 मासिकं वपनं कार्यं शूद्राणां न्यायवर्तिनाम् ।
 वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं तु भोजनम् ॥
 य एवं तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
 तेनैव सर्वमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥
 यत् ध्यायति यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र वै ।
 तदवाप्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥
 यथा योधसहस्रेभ्यो राजा गच्छति धार्मिकः ।
 एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥
 वल्लीपलाशपात्रे च स्थलजे पौष्करे तथा ।
 गृहस्थश्चेत्तु नाशनीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
 समर्घं पण्यमाहृत्य महार्घं यः प्रयच्छति ।
 स वै वार्धुषिको नाम यश्च वृद्ध्या प्रयोजयेत् ॥
 समासमाभ्यां विप्राभ्यां विषमं सममेव च ।
 पूजातो दीयमानं च न ग्राह्यं देयमेव च ॥
 सायम्प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
 नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥
 स्वग्रामे ग्रामतो वापि सन्निकृष्टे मृते सति ।
 न भुञ्जीताशनं धीमान् अधर्म्यं शोककारणात् ॥

बाराही आचार संहिता में उद्धृत—

अतिथिभ्योऽन्नदानं तु नृत्यज्ञः स तु पञ्चमः ।
शयने आषाढशुक्लद्वादश्यां बोधने कार्तिकशुक्लद्वादश्याम् ॥

कृष्णाजिने तु सम्भारान् संस्थाप्य च कुशादिकान् ।
श्राद्धारम्भं प्रकुर्वीत विधिवद् द्विजसन्निधौ ॥
चाण्डालात्रं द्विजो भुक्त्वा सम्यक् चान्द्रायणं चरेत् ।
बुद्धि पूर्व तु कृच्छ्राब्दं पुनः संस्कारमेव च ॥
जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् ।
देवताराधनं चेति स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ।
न च छन्दांस्यधीयीत द्विजः श्राद्धे निमन्त्रितः ॥
न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः ।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते ॥
नानिष्ट्वा तु पितृन् श्राद्धे वैदिकं किञ्चिदाचरेत् ।
तेभ्योऽपि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥
निन्द्यासु चान्यास्वष्टासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयेत् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
मन्त्रकर्मविपर्यासाद् दुरिताद्गुर्गतादपि ।
तत्फलं नश्यते कर्तुरिदं श्रद्धया हुतम् ॥
मृन्मयं दारुजं पात्रमयः पात्रं तथैव च ।
राजतं दैविके कार्ये शिलापात्रं च वर्जयेत् ॥
राज्ञे दत्त्वाऽथ षड्भागं देवतानां च विंशकम् ।
श्राद्धाङ्गत्तर्पणं कुर्यात्सतिलं त्वपरेऽहनि ।
पित्रोर्विषय एव स्यान्नान्यस्य विषयो भवेत् ॥

हेमाद्रि (श्राद्ध खण्ड) में उद्धृत—

अतिथिर्यस्य वै ग्रामे भिक्षमाणः प्रयत्नतः ।
स चेन्निरसितस्तत्र ब्रह्महत्या विधीयते ॥
अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हानभिज्ञानात्सोऽपि धर्मादहीयते ॥
अतिथिं पूजयेद्यस्तु श्रान्तं वा हृष्टमानसम् ।
स वृषं गोशतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥

अपि शाकंपचानस्य शिलोज्छेनापि जीवतः ।
 स्वदेशे परदेशे वा नातिथिर्विमना भवेत् ॥
 पूर्वेष्वुर्वा प्रकुर्वीत पूर्वाह्णे मातृपूर्वकम् ॥
 एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मचर्यस्विनः सुतान् ।
 द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ॥
 किं ब्राह्मणस्य पितरं किं वा पृच्छति मातरम् ।
 श्रुतं चेदस्मित वेद्यं वा तन्मातापितरौ स्मृतौ ॥
 ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां तु सुप्रजाः ।
 प्रीयन्ते पितरश्चास्य ये शस्त्रेण हता रणे ॥
 निमन्त्र्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् ।
 प्रमत्ततां च स्वाध्यायं क्रोधं शोकं तथाऽनृतम् ॥
 पक्षत्यादिविनिर्दिष्टान्विपुलान्मनसः प्रियान् ।
 श्राद्धदः पञ्चदश्यां तु सर्वान्कामान्समश्नुते ॥
 पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् ।
 षष्ठ्यां दुतं कृषिं चापि सप्तम्यां लभते नरः ॥
 बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये वैकाग्नय एव च ।
 तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥
 यत्किञ्चिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरघृतपायसम् ।
 दत्तमक्षयमित्याहुः पितरस्त्वेव देवताः ॥
 यस्तयोरत्रमश्नाति स कुलाच्यवते द्विजः ।
 यस्य चैव गृहे विप्रो वसेत्कश्चिदभोजितः ।
 न तस्य पितरो देवा हव्यं कव्यं च भुञ्जते ॥
 मातापित्रोरुपाध्यायाचार्ययोरौर्ध्वदेहिकम् ।
 कुर्वन्मातामहस्यापि व्रती न भ्रश्यते व्रतात् ॥
 यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवीषि च ।
 पितृषु दैवयज्ञेषु दाता स्वर्गं न गच्छति ॥
 येषामन्नं विनातिथिर्विप्राणां व्रजते गृहात् ।
 ते वै खरत्वमुष्ट्रत्वमश्वत्वं प्रतिपेतिरे ॥
 विनिर्मुक्तं पिप्पलं बन्धतो वा स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति श्राद्धमित्रः ॥

हेमाद्रि (दान-खण्ड) में उद्धृत—

अत्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।
 तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥

इष्टे यज्ञे यद्दीयते दक्षिणादि तदैष्टिकम् ।
 बहिर्वेदि च यद्दानं दीयते तत्तु पौर्तिकम् ॥
 गुरूणां सन्निधौ दाने यागे चैव विशेषतः ।
 एषु मौनं समातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥
 देवलः शङ्खलिखितौ भरद्वाजोशनोऽत्रयः ।
 शौनको याज्ञवल्क्यश्च दशाष्टौ स्मृतिकारिणः ॥
 न कुर्यात्कस्यचित्पीडां कर्मणा मनसा गिरा ।
 आचरन्निभिषेकं तु कर्मण्यप्यन्यथाचरन् ॥
 नानृग्ब्राह्मणो भवति न वणिग् न कुशीलवः ।
 न शूद्रप्रेषणं कुर्वन्न स्तेनो न चिकित्सकः ॥
 ये व्यपेता स्वकर्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
 द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥
 विष्णुः पराशरो दक्षः संवर्तव्यासहारिताः ।
 शातातपो वसिष्ठश्च यमापस्पम्बगौतमाः ॥
 सन्ध्ययोरुभयोर्जप्ये भोजने दन्तधावने ।
 पितृकार्ये च दैवे तथा मूत्रपुरीषयोः ॥
 प्रोषितस्य यदा कालो गतश्चेद् द्वादशाब्दिकः ।
 प्राप्ते त्रयोदशे वर्षे प्रेतकार्याणि कारयेत् ॥
 सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्यवगं सार्ववेदसम् ।
 गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ।
 नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् ॥
 स्वर्गायुर्भूतिकामेन तथा पापोपशान्तये ।
 मुमुक्षुणा च दातव्यं ब्राह्मणेभ्यस्तथाऽन्वहम् ॥

प्रायश्चित्त-माधव में उद्धृत—

अन्त्याभिगमने त्वङ्क्या कबन्धेन प्रवासयेत् ।
 शूद्रस्तथाङ्क्य एव स्यादण्डः स्याद् गमने वधः ॥
 अपापीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति ।
 शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महः सांतपनेन वा ॥
 अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वापि मोहतः ।
 चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितो हि सः ॥
 आर्तस्य कुर्यात्सच्छंसन् यथाभाषितमादितः ।

सुदीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥
 उग्रात्तु जातः क्षत्तायां श्वपाक इति कीर्त्यते ।
 उपस्थाने च यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन हि ।
 तात्कालिकमिति ख्यातं तदत्तव्यं मुमुक्षुणा ॥
 उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
 दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥
 उभयाभ्यर्थितेनैव मया ह्यमुकसूनुना ।
 लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकः स्वं तु तल्लिखेत् ॥
 ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति ।
 राज्ञा दापयितव्यः स्याद् गृहीत्वा द्विगुणं ततः ॥
 *ऋत्विक् पुरोहितामात्याः पुत्राः सम्बन्धिवान्धवाः ।
 धर्माद्विचलिता दण्ड्या निर्वास्या राजभिः पुरात् ॥
 औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।
 वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः ॥
 गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसन्ध्यं स्नानमाचरेत् ।
 त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी अधो नाभ्या विशुध्यति ॥
 ग्राममध्ये मृतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् ।
 ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् ॥
 ग्रामेश्वरे कुलपतौ श्रोत्रिये च तपस्विनि ।
 शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुद्धिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥
 चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा विमुक्तयोः ।
 अमुक्तयोरस्तगतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा परेऽहनि ।
 जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहणहम् ।
 हिरण्यधान्यगोवासास्तिलानां गुडसर्पिषाम् ॥
 त एव दण्डपारुष्ये व्याप्या दण्डा यथाक्रमम् ।
 तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः ।
 नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते ॥
 देशपत्तनगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वादिनाम् ।
 तेषां स्वसमयैर्धर्मः शास्त्रतोऽन्येषु तैः सह ॥
 द्रव्यमस्वामिविक्रीतं मूल्यं राज्ञे निवेदितम् ।
 न तत्र विद्यते दोषो न स्यात्तदुपविक्रयात् ॥

द्विजान्विहाय सम्पश्येत्कार्याणि वृषलैः सह ।
 तस्य प्रक्षुभितं राष्ट्रं बलं कोशं च नश्यति ॥
 तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
 तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यातु गच्छति ॥
 दीपोत्सवचतुर्दश्यां कार्यं तु यमतर्पणम् ।
 कृष्णाङ्गारचतुर्दश्यामपि कार्यं तथैव वा ॥
 नाभिकण्ठान्तरोद्भूते प्राणे चोपत्पद्यते कृमिः ।
 षडरात्रं तु तदा प्रोक्तं प्राजापत्यं शिरोव्रणे ॥
 नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
 साक्षिधर्मे विशेषेण सत्यमेव वदेत सः ॥
 प्रजापतिर्हि यस्मिन्वै काले राज्यमभूभुजत् ।
 धर्मेकतानाः पुरुषास्तदाऽऽसन्सत्यवादिनः ॥
 ब्राह्मणस्य रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे ।
 कृमिरुत्पद्यते यस्तु प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥
 ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यस्तेसामिव ।
 शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥
 मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ।
 महापापोपवक्तारो महापातकशंसकाः ॥
 आमध्यमोत्तमा दण्ड्याः दद्युस्ते च यथाक्रमम् ॥
 मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च ।
 आशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥
 यः कारणं पुरस्कृत्य व्रतचर्या निषेवते ।
 पापं व्रतेन संच्छद्य बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥
 यः कुमारीं मेषपशून् ऋक्षांश्च वृषभांस्तथा ।
 वाहयेत्साहसं पूर्णं प्राप्नुयादुत्तमं वधे ॥
 यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।
 वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥
 यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकालिकः ।
 श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टः स उच्यते ॥
 लेख्यं यत्र न विद्येत न मुक्तिर्न च साक्षिणः ।
 न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥
 वाक्याभावे तु सर्वेषां देशदृष्टमनन्तयेत् ॥

विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् ।
 तृतीये त्रिगुणं चैव चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥
 शोधयेत्तं च छन्देन विदयद्धनिकं नृपे ।
 स राज्ञर्णचतुर्भागं दाप्यं तस्य च तद्धनम् ॥
 श्राद्धेन यः कुरुते सङ्गतानि न देवयानेन पथा स याति ।
 तस्मात्प्रमाणमुभयं प्रमाणैः प्रापितं भुवि ॥
 श्वशुरयोश्च भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले ॥
 संदिग्धेषु तु कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः ।
 दृष्टश्रुतानुभूतत्वात्साक्षिभ्यो व्यक्तदर्शनम् ॥
 सत्यमेव परं दानं सत्यमेव परं तपः ।
 सत्यमेव परो धर्मो लोकोत्तरमिति स्थितिः ॥
 सत्ये देवाः समुद्दिष्टा मनुष्यास्त्वनृतं स्मृतम् ।
 इहैव तस्य देवत्व यस्य सत्ये स्थिता मतिः ॥
 कर्म श्राद्धादिकं चैव तथा मन्वन्तरादिषु ॥
 सिद्धमन्नं भक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति ।
 उपपात्रं तदित्याहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥
 आषाढीमवधिं कृत्वा पञ्चमं पक्षमाश्रिताः ।
 काङ्क्षन्ति पितरः क्लिष्टा अन्नमप्यन्वहं जलम् ॥
 तस्मात्तत्रैव दातव्यं दत्तमन्यत्र निष्फलम् ।
 आषाढीमवधिं कृत्वा यः पक्षः पञ्चमो भवेत् ॥
 तत्र श्राद्धं प्रकुर्वीत कन्यास्थोऽर्को भवेन्न वा ।
 न प्रातर्न प्रदोषश्च सन्ध्याकालोतिकालो हि ।
 मुख्याभावेऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्मृतिः ॥
 नभस्यस्यापरः पक्षो यत्र कन्यां व्रजेद्रविः ।
 स महालयसंज्ञः स्याद्रजच्छायाह्वयस्तथा ॥
 पित्रोरुपशमे स्त्रीणां मूढानां तु कथं भवेत् ।
 त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥
 पीत्वा योऽशनमश्नीयात्पात्रे दत्तमगर्हितम् ।
 भार्याभृतकदासेभ्य उच्छिष्टे शेषयेत्ततः ॥
 महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः ।
 वाची यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ॥

यदि तस्मिन् दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः ।
 मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि साधयेत् ॥
 सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डनिवर्तनम् ।
 तान्येव दश गोचर्म दाता पापैः प्रमुच्यते ॥

श्राद्ध-कौमुदी में उद्धृत—

अङ्गादङ्गात्सम्भवति पुत्रवत् दुहिता नृणाम् ।
 तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्या हरेद्धनम् ॥
 दैवे कर्मणि पैत्रे च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ॥

प्रायश्चित्त-मयूख में उद्धृत—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
 स्नात्वा पीत्वा च हुत्वा च कृमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥
 अटव्यामटमानस्य ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
 प्रनष्टसलिले देशे कथं शुद्धिविधीयते ॥
 अपो दृष्ट्वैव विप्रस्तु कुर्याच्चैव सचैलकम् ।
 गायत्र्याष्टशतं जाप्यं स्नानमेतत्समाचरेत् ॥
 असत्प्रतिग्रहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः ।
 नक्षत्रैर्जीवते यश्च सोऽन्धकारं प्रपद्यते ॥
 त्रिरात्रं वाप्युपवसेत्यहं त्रिः पर्वणी भवेत् ।
 तथैवाम्भसि मग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥
 पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत् ।
 पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥
 यदह्ना कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा ।
 आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तैः ॥
 यो यस्य हिंस्याद् द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
 एतस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञा दद्याच्च तत्समम् ॥
 पतितान्त्यश्चपाकेन संसृष्टा चेद्रजस्वला ।
 तान्याहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
 प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रं स्याद् द्वितीये द्व्यहमेव तु ।
 अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे नक्तमेव च ॥
 लेखामात्रस्तु दृश्येत रश्मिभिस्तु समन्वितः ।
 उदितं तु विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेत् ॥

नितान्तसिद्धि में उद्धृत—

अलाभे भिन्नकालानां नान्दीश्राद्धत्रयं बुधः ।
 अविद्वान् प्रतिगृह्णानो भस्मीभवति दारुवद् ॥
 अत्यन्तं वर्जयेद् गेहमित्येवं मनुरब्रवीत् ।
 असम्बन्धा भवेन्मातु पिण्डेनैवोदकेन वा ।
 सा विवाह्या द्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या ॥
 अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा याच्छूद्रसम्पर्कदूषिता ।
 ब्रह्मचर्यं चरेद्वापि प्रविशेद्वा हुताशनम् ॥
 दशरात्राच्छुनिमृते मासाच्छूद्रे भवेच्छुचिः ।
 द्वाभ्यां तु पतिते गेहमन्त्यो मासचतुष्टयम् ॥
 श्वशूद्रपतिताश्चान्त्या मृताश्चेद् द्विजमन्दिरे ।
 शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा ॥
 समानोदकभावस्तु निवर्तेताचतुर्दश ।
 जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ।
 अग्नीनाधाय विधिवद् ब्रात्यस्तोमेन वा यजेत् ।
 अथैन्द्राग्नेन पशुना गिरिं गत्वा च तत्र तु ॥
 अमृतं मृतमाकर्ण्य कृतं यस्यौर्ध्वदैहिकम् ।
 प्रायश्चित्तमसौ स्मार्तं कृत्वाग्नीनादधीत च ॥
 इष्टिमायुष्मतीं कुर्यादीप्सितांश्च क्रतूस्ततः ॥
 अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्सङ्क्रान्तिग्रहणं तदा ।
 उपाकर्म न कुर्वीत परतश्चेन्न दोषभाक् ॥
 एकभ्रातृजयोरेकवत्सरे पुरुषस्त्रियोः ।
 न समानक्रियां कुर्यान्मातृभेदे विधीयते ॥
 क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना ब्रात्या विधर्मिणः ।
 गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥
 जीवन्यदि समागच्छेद् घृतकुम्भे निमज्ज्य च ।
 उद्धृत्य स्नापयित्वास्य जातकर्मादि कारयेत् ॥
 तैलाभ्यङ्गो नार्कवारे न भौमे
 नो संक्रान्तौ वैधृतौ विष्टिषष्ठयोः ।
 पर्वस्वष्टभ्यां च नेष्टः स इष्टः
 प्रोक्तान्मुक्त्वा वासरे सूर्यसूनोः ॥

दशाहस्यान्तरे यस्य गङ्गातोयेऽस्थि मज्जति ।
 गया(ङ्गा)यां मरणं यादृक् तादृक् फलमवाप्नुयात् ॥
 द्वादशाहव्रतं चर्यात्रिरात्रमथवास्य तु ।
 स्नात्वोद्वहेत तां भार्यामन्यां वा तदभावतः ॥
 द्वादशेऽहनि विप्राणामाशौचान्ते च भूभुजाम् ।
 वैश्यानां तु त्रिपक्षादावथवा स्यात्सपिण्डनम् ॥
 निमन्त्र्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् ।
 प्रमत्तानां च स्वाध्यायं क्रोधं शोकं तथानृतम् ॥
 पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
 उपानयेऽधिकारी स्यात्पूर्वाभावे परः परः ॥
 मृन्मयं दारुजं पात्रमयःपात्रं च यद्भवेत् ।
 राजनं दैविके कार्ये शिल्पपात्रं च वर्जयेत् ॥
 सप्तम्यां भानुवारे च मातापित्रोर्मृतेऽहनि ।
 तिलैर्यस्तर्पणं कुर्यात्स भवेत्पितृघातकः ।
 स्थापितां चैव मर्यादामुभयोर्ग्रामयोस्तथा ।
 अतिक्रामन्ति ते पापास्ते दण्ड्या द्विशतं दमम् ॥
 स्नुषास्वस्त्रीयतत्पुत्रा ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवाः ।
 पुत्रभावे तु कुर्वीरन् सपिण्डान्तं यथाविधि ॥
 श्राद्धं करिष्यन् कृत्वा वा भुक्त्वा वापि निमन्त्रितः ।
 उपोष्य च तथा भुक्त्वा नोपेयाच्च ऋतावपि ॥
 चत्वारो ब्राह्मणस्याद्याः शस्ता गान्धर्वराक्षसौ ।
 राजस्तथासुरो वैश्ये शूद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः ॥
 तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसञ्चयः ।
 तृतीये तूदकं कृत्वा चचुर्ये श्राद्धमाचरेत् ॥
 दद्यात्त्रिभ्यः परेभ्यस्तु जीवेच्चेत्त्रितयं यदि ।
 आशौचे च व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते ॥
 यदा तु नैव कश्चित्स्यात्कन्या राजानमाव्रजेत् ॥
 वसवः पितरो ज्ञेया रुद्रा ज्ञेयाः पितामहाः ।
 प्रपितामहास्तथादित्या श्रुतिरेषा सनातनी ॥
 मातापित्रोरुपाध्यायाचार्ययोरौर्ध्वदेहिकम् ।
 कुर्वन्मातामहस्यापि व्रती न भ्रश्यते व्रतात् ॥

वृद्धः शौचमृते लुप्तप्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
 आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनान्बुभिः ॥
 सर्वायासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधविवर्जितैः ।
 भवितव्यं भवद्भिर्नः श्वेभूते श्राद्धकर्मणि ॥

प्रायश्चित्त-विवेक में उद्धृत—

दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥
 अधस्तात् प्रहर्तव्यं नोत्तमाङ्गे कदाचन ।
 अतोऽन्यथा हि प्रहरंश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥
 क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीम् ।
 अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा च कृष्णलम् ॥
 गवार्थं ब्राह्मणार्थं वा प्राणत्यागोऽनुपस्कृतः ।
 स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां शुद्धिकारणम् ॥
 चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानिमान् ।
 कृतनिर्णेजकांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥
 तयोरपि पिता श्रेयान् बीजप्राधान्यदर्शनात् ।
 पुत्रः शिष्यस्तथा भार्या दासी दासस्तु पञ्चमः ।
 प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्वा वेणुदलेन वा ॥
 यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशयुच्यते बुधेः ।
 ते सदा हव्यकव्यानि नाशयन्ति प्रदायिनाम् ॥
 स्त्रियार्जितानि वित्तानि उपजीवन्ति ये नराः ।
 तेऽपि कूर्मपुटे घोरे पच्यन्ते दीर्घजीविनः ॥
 हीनादादेयमादौ स्यात्तदलाभे समादपि ।
 असम्भवे त्वाददीत विशिष्टवादपि धर्मिकात् ॥

वी० रा० प्र० में उद्धृत—

दैवमानुषसद्भावे नार्या गर्भः प्रसिध्यति ।
 पुंसा सत्यपि संयोगे दैवाभावे न सिध्यति ॥
 अध्यक्षां विविधान् कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
 तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥
 उदकं यच्च पक्वान्नं यो दर्व्या दातुमिच्छति ।
 स भ्रूणहा सुरापश्च स स्तेयो गुरुतल्पगः ॥

काकतालीयवद् दैवाद् दृष्ट्वापि विधिमग्रतः ।
 न पौरुषादृते तेन निधिना युज्यते पुमान् ॥
 केचित्पुरुषकारेण केचिद्दैवेन कर्मणा ।
 उभाभ्यां केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्ध्यः ॥
 ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।
 वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥
 दैवमानुषसम्पन्ना यात्रा सर्वार्थसाधिका ।
 तस्यामतिशयेदैवं वर्तते पौरुषं समम् ॥
 धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
 योज्या व्यस्ताः समस्ता वाऽप्यपराधवशादिमे ॥
 न हि दैवमुदासीनं कदाचिदपि मानवम् ।
 अर्थानर्थफलं नेह संयुनक्त्यवशं हि तत् ॥
 पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।
 अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥
 यो हत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता ।
 स शब्दमात्रफलभागाद्वा भवति तस्करः ॥
 विश्वासयेच्चापि परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
 समाहर्तृन् प्रकुर्वीत धर्मशास्त्रार्थनिश्चितान् ।
 कुलीनान् वित्तसम्पन्नान् समर्थान् कोशवृद्धये ॥
 सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रदाहरयेद्वलिम् ।
 स्यादाश्रयपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥

वि० भ० में उद्धृत—

आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते ।
 तस्मिन् कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥
 ऋणमस्मिन् सन्नयत्यमृतत्वं च विदन्ति(?) ।
 तेन चानृणतां याति पितृणां जीवतां सुखम् ॥
 ऋतुस्नाता तु या भार्या भर्तारं नोपगच्छति ।
 तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं विनिवासयेत् ॥
 तत्र लब्धं तु यत् किञ्चिद्धनं शौर्येण तद्भवेत् ।
 ध्वजाहतं भवेद्यच्च विभाज्यं नैव तत्स्मृतम् ॥
 दानात्प्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ।
 सा भर्तृलोकमाप्नोति यथैवारुधन्ती तथा ॥

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थे तदनर्थकम् ।
 ब्रह्मदायागतां भूमिं हरेयुर्ब्राह्मणीसुताः ॥
 भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।
 नरकः पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् ॥
 यल्लब्धं लाभकाले तु स्वजात्या कन्यया सह ।
 कन्यागतं तु तद्विद्याच्छुद्धं वृद्धिकरं स्मृतम् ॥
 ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भं व्यवस्थिताः ।
 वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥
 विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिध्यति ।
 एकोदरे जीवति तु सापत्नो न लभेद्धनम् ।
 स्थावरेऽप्येवमेव स्यात्तदभावे लभते वै ॥
 स्वच्छन्दगा च या नारी तस्यास्त्यागो विधीयते ।
 न च स्त्रीवधं कुर्यान्नचैवाङ्गविकर्तनम् ॥
 संग्रामादाहतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम् ।
 स्वाम्यर्थे जीवितं त्वक्त्वा तद् ध्वजाहतमुच्यते ॥
 सर्वत्रादायकं राजा हरेद् ब्रह्मस्ववर्जितम् ।
 अदायकं तु ब्रह्मस्वं श्रोत्रियेभ्यः प्रदापयेत् ॥
 न चैव स्त्रीवधं कुर्यान्नचैवाङ्गविकर्तनम् ॥
 स्वच्छन्दव्यभिचारिण्या विवस्वांस्त्यागमब्रवीत् ।
 न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत् ॥
 दशदात्रेण या वार्ता यत्र न श्रूयतेऽथवा ।
 गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः ॥
 देशनामनदीभेदान्निकटेऽपि भवेद्यदि ।
 तत्तु देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥
 षाण्मासिकेऽपि काले तु भ्रान्तिः सञ्जायते नृणाम् ।
 धात्राक्षराणि(?)स्पष्टानि यत्रारूढान्यतः पुरा ॥

हे०प०ख० में उद्धृत—

अधिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
 एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥
 असपिण्डक्रियाकर्म द्विजातैः संस्थितस्य तु ।
 अदैवं भोजयेच्छुद्धं पिण्डमेकं तु कारयेत् ॥

इह जन्मकृतं पापमन्मजन्यकृतं च यत् ।
 अङ्गारकचतुर्दश्यां तर्पयंस्तद्व्यपोहति ॥
 औपासनाग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
 पञ्चयज्ञात्रपक्तिश्च यच्चान्यद् गृहकृत्यकम् ॥
 कुर्वन् प्रतिपदि श्राद्धं सरूपान् लभते सुतान् ।
 कन्यकां तु द्वितीयायां तृतीयायां तु बन्दिनः ॥
 दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
 पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमाहरन् ॥
 परपूर्वापतिं धीरा वदन्ति दिधिषूपतिम् ।
 द्विजोऽग्रे दिधिषूश्चैव यस्य सैव कुटुम्बिनी ॥
 पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते ।
 वासरस्तु तृतीयेऽशे नातिसन्ध्यासमीपतः ॥
 प्रकृत्यप्ते कामकार्ये च नानध्याया स्मृतास्तथा ।
 देवतार्चनमन्त्राणां नानध्यायः स्मृतस्तथा ॥
 प्रणवव्याहतीनाञ्च सावित्र्याः शिरसस्तदा ।
 नित्ये नैमित्तिके कार्ये व्रते यज्ञे क्रतौ तथा ॥
 यस्तु भक्षयते मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
 स लोकेऽप्रियतां याति व्याधिभिश्चैव पीड्यते ॥

कृत्यसारसमुच्चय में उद्धृत—

अश्वयुक् कृष्णपक्षे तु श्राद्धं देयं दिने दिने ।
 ऋक्थगात्रे जनयितुर्न हरेत्कृत्रिमः सुतः ।
 ऋक्थगोत्रानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधाम् ॥
 गायत्रीं यो न जानाति ज्ञात्वा नैव उपासते ।
 नामधारकविप्रोऽसौ न विप्रो वृषलो हि सः ॥
 दिवा सूर्याशुभिः शुद्धं रात्रौ नक्षत्रमारुतैः ।
 सन्ध्ययोरप्युभाम्यां च पवित्रं सर्वदा जलम् ॥
 नानुतिष्ठति यो पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
 स शूद्रवद्बहिः कार्यः सर्वस्माद्विप्रकर्मणः ॥
 परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ।
 यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचते नानुसूयया ॥

शिवलिङ्गसमीपस्थं यत्तोयं पुरतः स्थितम् ।
 शिवगङ्गेति तत्प्रोक्तं तत्र स्नात्वा दिवं व्रजेत् ॥
 संस्कृतायां तु भार्यायां स्वयमुत्पादयेत्तु यम् ।
 तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥
 स्मृत्योद्धारं च सावित्रीं निबध्नीयाच्छिखां ततः ।

श्रा० हे० में उद्धृत—

यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसतेऽध्वरम् ।
 यश्च वेत्तयात्मकैवल्यं पङ्क्तिपावनपावनाः ॥
 यां काञ्चित्सरितं प्राप्य कृष्णपक्षे चतुर्दशी ।
 यमुनाया विशेषेण ब्राह्मणो नियतेन्द्रियः ॥
 श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रा तागदैवतमस्तके ।
 यद्यमा रविवारेण व्यातीपातः स उच्यते ॥
 हिरण्यं वैश्वदेवे तु दद्याद्वै दक्षिणां बुधः ।
 पित्रे तु रजतं देयं शक्त्या भूमिगवादिकम् ॥

दत्तक-मीमांसा में उद्धृत—

अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक प्रयत्नतः ।
 पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसङ्कीर्तनाय च ॥
 अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

पुरुषार्थ चिन्तामणि में उद्धृत—

एकपिण्डीकृतानां तु पृथक्त्वं नोपपद्यते ।
 सपिण्डीकरणादूर्ध्वमृते कृष्णचतुर्दशीम् ॥
 कृते यदब्दाद्धर्मः स्यात्स त्रेतायामृतुत्रये ।
 द्वापरे तु त्रिपक्षेण कलावह्ना तु तद्भवेत् ॥
 चतुर्दश्यष्टमी दर्शः पौर्णमास्यर्कसङ्क्रमः ।
 एषु स्त्रीतैलमांसानि दन्तकाष्ठे च वर्जयेत् ॥
 चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपत्स्वेव सर्वदा ।
 दुर्मेधसामनध्यायास्त्वन्तरागमनेषु च ॥
 तत्र विस्मृतिशीलानां बहुवेदप्रपाठिनाम् ।
 चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपद्वर्जितेषु च ॥
 वेदाङ्गन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत् ॥

न द्व्यहव्यापिनी चेत्स्यान्मृताहे तु यदा तिथिः ।
 पूर्वविद्धैव कर्तव्या त्रिमुहूर्ता भवेद्यदा ॥
 पापांशकगते चन्द्रे अरिनीचस्थितेऽपि वा ।
 अनध्याये चोपनीतः पुन संस्कारमर्हति ॥
 पुष्पालङ्कारवस्त्राणि गन्धधूपानुलेपनम् ।
 उपवासे न दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ॥
 पूर्वाह्णे दैविकं श्राद्धमपराह्णे तु पार्वणम् ।
 एकोद्दिष्टं तु मध्याह्णे प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥
 मांसाशने पञ्चदशी तैलाभ्यङ्गे चतुर्दशी ।
 अष्टमी ग्राम्यधर्मेषु ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥
 षण्ढान्धबधिरादीनां विवाहोऽस्ति यथोचितम् ।
 विवाहासम्भवे तेषां कनिष्ठो विवहेत्तदा ॥
 सर्वदेशेषु पूर्वाह्णे मुख्यं स्याच्चोपनायनम् ।
 मध्याह्णे महध्यमं प्रोक्तमपराह्णे च गर्हितम् ॥

यम-संहिता में उद्धृत—

आहृतामन्यशौचार्यं वालुकां पांशुरूपिणम् ।
 न मार्गात्र श्मशानाच्च नाऽऽदद्यात्कुड्यतः क्वचित् ॥
 काषायं पाचयित्वा तु श्रोणिस्थानेषु च त्रिषु ।
 प्रव्रजेतु परं स्थानं पारिव्रज्यमनुत्तमम् ॥
 हस्तौ तु संयतौ कार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ ।
 संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥

दानतत्त्व-विवेक में उद्धृत—

इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।
 अनिवेदितविज्ञाता दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥
 राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।
 विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥

श्रा०-म० में उद्धृत—

कृच्छ्रद्वादशरात्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ।
 तावद्विद्वात्रैव दद्यान्न याचेन्न च दापयेत् ॥
 मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः ।
 मधुप्रधानं वैश्यस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥

जपादिकुसुमं झिण्टी रूपिका सुकुरुण्टिका ।
 पुष्पाणि वर्जनीयानि श्राद्धे कर्मणि नित्यशः ॥
 शुक्लाः समुन्नताः श्रेष्ठान्तथा पद्मोत्पलानि तु ।
 गन्धरूपोपयुक्तानि ऋतुकालोद्भवानि च ॥
 अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।

शूद्रकमलाकर में उद्धृत—

गृह्याग्नौ तु पचेदन्नं लौकिके वापि नित्यशः ।
 अस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तस्मिन्होमो विधीयते ॥
 ग्रामधर्मे च पक्त्वां च परिग्राहस्य रक्षणे ।
 तस्माद्यत्नेन रक्ष्यास्ता भर्तव्या मनुरब्रवीत् ।
 द्विजस्य मरणे वेश्म विशुध्यति दिनत्रयात् ।
 प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ।
 विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्वावधेरूर्ध्वमब्दतः ।
 अकृतोपनयनाः सर्वे वृषला एव ते स्मृताः ॥
 भर्ता दैवं गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च ।
 तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समाचरेत् ॥
 भुङ्क्ते भुक्ते पतौ या तु स्वासीना चापि वाऽऽसिते ।
 विनिद्रतो विनिद्राति सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥
 सूतके तु कुलस्यान्नमदोषं मनुरब्रवीत् ।
 स्त्रियाः श्रुतौ वा शास्त्रे वा प्रव्रज्या नाभिधीयते ।
 प्रजा हि तस्याः स्वो धर्मः सवर्णादिति धारणा ॥
 जीवज्जातो यदि ततो मृतः सूतकमेव तु ।
 सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥
 पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयन्निशाम् ।
 विधवा कारयेच्छ्राद्धं यथाकालमतन्द्रिता ।
 स्वभर्तृप्रभृतित्रिभ्यः स्वपितृभ्यस्तथैव च ॥
 शालके तत्सुते चैव सद्यः स्नानेन शुध्यति ।
 शूद्रकन्यासमुत्पन्नौ ब्राह्मणेन तु संस्कृतः ।
 अपरो नापितः प्रोक्तः शूद्रधर्माधिकोऽपि सः ॥
 भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते ।
 मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥

षण्ढं तु ब्राह्मणं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।
संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते ।
संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥

काल-माधव में उद्धृत—

द्वयहेऽप्यव्यापिनी चेत्स्यान्मृताहे तु यदा तिथिः ।
पूर्वविद्धैव कर्तव्या त्रिमुहूर्ता तु भवेद्यदि ॥
यस्यामस्तं रविर्याति पितरस्तामुपासते ।
स पितृभ्यो यतो दत्तो ह्यपराहः स्वयम्भुवा ॥

वी०ल०प्र० में उद्धृत—

आयव्ययज्ञान् कुर्वीत धर्मशास्त्रार्थकोविदान् ।
कुलीनान् वित्तसम्पन्नान् समर्थान् कोशगुप्तये ॥

यतिधर्म-संग्रह में उद्धृत—

द्रव्ययज्ञाज्जपो यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसस्तथा ॥
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निर्दहनकर्मणा ।
न वायुः स्पर्शदोषेण नात्रदोषेण मस्करी ॥

वि०अ० में उद्धृत—

गृहं द्विजातयः सर्वे तथा क्षेत्रं क्रमागतम् ॥

वा० आ० में उद्धृत—

अयने मकरे कर्कटे च विषुवे तुलामेषयोः ।

व्य०तत्त्व में उद्धृत—

नाध्यापयति नाधीते स ब्राह्मणब्रुवः स्मृतः ।

मृ०र० में उद्धृत—

मुख्यकाले व्यतिक्रान्ते गौणकाले तथाऽऽचरेत् ॥

क्षा०म० में उद्धृत—

मूत्रे तिस्रः पादयोस्तु हस्तयोस्तिस्र एव तु ।
मृदः पञ्चदशा मेध्ये हस्तादीनां विशेषतः ॥

शं०वि० में उद्धृत—

पूज्येषु सेवका नीचाः पुण्यमार्गक्रियानुगाः ।
तत्तदेव पदं चापुर्यथा जातिकुलस्थितिः ॥
विप्राणां दैवतं शंभुः क्षत्रियाणां तु माधवः ।
वैश्यानां तु भेवद् ब्रह्मा शूद्राणां गणनायकः ॥

ध०सि० में उद्धृत—

विवाहप्रेतचूडासु माता यदि रजस्वला ।
तस्याः शूद्धेः परं कार्यं मङ्गलं मनुखवीत् ॥

ह०प्र०ख० में उद्धृत—

यत्प्रोक्षितं भवेन्मांसं ब्राह्मणानाञ्च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तश्च प्राणानामेव चात्यये ॥

हे०ब्र०ख० में उद्धृत—

विहितस्याननुष्ठानमिन्द्रियाणामनिग्रहः ।
निषिद्धसेवनं नित्वं वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।
श्रद्धयेष्टञ्च पूर्वं च नित्यं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥

संस्कारकौस्तुभ में उद्धृत—

प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन योजयेत् ।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म राजा च भूभुजः ।
गुप्तो दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥
शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।

दा०क्र०सं० में उद्धृत—

पतितस्तु सुतः क्लीबः पङ्गुश्चोन्मत्तको जडः ।
अन्धो चिकित्सरोगात्तो भर्तव्यास्ते निरंशकाः ॥
सन्तुष्टाः सज्जनहिताः साधवस्तत्त्वदर्शिनः ।
रागद्वेषामर्षलोभमानमोहविवर्जिताः ।
अक्रोधनाः सुप्रसादाः कार्याः सम्बन्धिनः सदा ॥
सर्वं वा यदि वाप्यर्थं पादं वा यदि वाक्षरम् ।
सकाशाद्यस्य गृहीयान्नियतं तस्य गौरवम् ॥

पा०म० में उद्धृत—

सहस्रगुणितं दानं भवेद्दत्तं युगादिषु ।
कर्मश्राद्धादिकं चैव तथा मन्वन्तरादिषु ॥

दा०सं० में उद्धृत—

सामान्यं पुत्रकन्याऽऽधिः सर्वस्वं न्याययाचितम् ।
अदेयान्यारष्ट्रैव यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥

व्यवहार-मयूख में उद्धृत—

स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदर्थिनी ।
अप्रप्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥
प्रमादान्नाशितं दाप्यः समं हि द्रोहनाशितम् ।
न तु दाप्यो हतं चोरैर्दग्धमूढं जलेन वा ॥

प्र०१० में उद्धृत—

जातकर्मादिसंस्काराः स्वकाले न भवन्ति चेत् ।
चौलादर्वाक् प्रकुर्वीत प्रायश्चित्तादनन्तरम् ॥

सम्भव है कि उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों में भी ऐसे श्लोक मनुवचन के रूप में उद्धृत हों, जिनका समावेश वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृति में नहीं है । स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मूल मनुस्मृति का स्वरूप निश्चितरूपेण वर्तमान मनुस्मृति से विस्तृत रहा होगा ।



श्लोकानुक्रमणी

सप्तमादिद्वादशाध्यायपर्यन्ता

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
अ					
अकन्येति तु	८	२२५	अज्ञानाद्वारुणीं	११	१४६
अकामतः कृतं	११	४६	अतः स्वल्पीयसि	११	८
अकामतः कृते	११	४५	अतिक्रामेत्	९	७८
अकामतस्तु	११	१२७	अतोऽन्यतममा	११	८६
अकुर्वन्विहित	११	४४	अत्र गाथा	९	४२
अकृतं च	१०	११४	अथमूलमता	८	२०२
अकृता वा	९	१३६	अदण्ड्यान्	८	१२८
अक्षमाला	९	२३	अदत्ताना	१२	७
अक्षेत्रे बीज	१०	७१	अदर्शयित्वा	८	१५५
अगुप्ते क्षत्रिया	८	३८५	अदातरि	८	१६१
अग्निदान्	९	२७८	अदीयमाना	९	९१
अग्निं वा हारये	८	११४	अदूषितानां	९	२८६
अग्निहोत्र्यपवि	११	४१	अदेश्यं यश्च	८	५३
अङ्गावपीडनायां	८	२८७	अदेश्यं यश्च	८	५३
अङ्गुलीर्ग्रन्थि	९	२७७	अद्भ्योऽग्नि	९	३२१
अच्छलेनैव	८	१८७	अद्यात्काकः	७	२१
अजडश्चेद	८	१४८	अधमर्णार्थ	८	४७
अजाविकं	९	११९	अधर्मदण्डनं	८	१२७
अजाविके	८	२३५	अधार्मिकं	८	३१०
अजीगर्तः	१०	१०५	अधिविन्ना	९	८३
अजीवस्तु	१०	८१	अधीयीरंस्त्रयो	१०	१
अज्ञानात्प्राश्य	११	१५०	अध्यक्षान्	७	८१
अज्ञानाद्यदि	११	२३२	अध्यग्न्यध्या	९	१९४
मनु .II 51			अध्या....ग्रहश्चैव	१०	७५

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
अनंशो क्लीब	९	२७१	अन्यां चेद्दर्श	८	२०४
अनपत्यस्य	९	२१७	अन्यानपि	७	६०
अनपेक्षित	८	३०९	अन्येष्वपि	७	१८३
अनादयं	८	१७०	अन्योन्यस्याव्य	९	१०१
अनादेयस्य	८	१७१	अन्वाधेयं	९	१९५
अन्नान्नातेषु	१२	१०८	अपः शस्त्रं विषं	१०	८८
अनार्यता	१०	५८	अपः सुरा	११	१४७
अनार्यमार्य	१०	७३	अपत्यं धर्म	९	२८
अनार्यायां	१०	६६	अपदिश्याप	८	५४
अनाहिताग्निता	११	६५	अपह्वे	८	५२
अनित्यो विजयो	७	१९९	अपि यत्सुकरं	७	५५
अनियुक्ता	९	१४३	अपुत्रायां	९	१३५
अनिर्देशाहां गां	८	२४२	अपुत्रोऽनेन	९	१२७
अनुक्तनिष्कृतीनां	११	२०९	अप्राणिभिर्यत्	९	२२३
अनुपध्नन्	९	२०८	अप्सु प्रवेश्य	९	२४४
अनुबन्धं	८	१२६	अप्सु भूभिव	८	१००
अनुभावी	८	६९	अबीजविक्रयी	९	२५१
अनुरक्तः	७	६४	अब्दाधमिन्द्र	११	२५५
अनृतं च	११	५५	अब्राह्मणः	८	३५९
अनृतं तु	८	३६	अभयस्य हि	८	३०३
अनेन तु	९	१२८	अभिचारेषु	९	२९०
अनेन....यस्तु	११	११५	अभियोक्ता	८	८५
अनेन....कुर्वा	८	३४३	अभिषह्य तु	८	३६७
अनेन....मिथो	८	१७८	अभोज्यमन्नं	११	१६०
अन्धो जडः	८	३९४	अभोज्यानां	११	१५२
अन्धो मत्स्याह	८	९५	अग्निं काष्ठां	११	१३३
अन्नमेषां	१०	५४	अमात्यमुख्यं	७	१४१
अनर्हता	११	५१	अमात्यराष्ट्र	७	१५७
अन्नादे भ्रूणहा	८	३१७	अमात्याः प्राड्	९	२३४
अन्नाद्यजानां	११	१४३	अमात्ये दण्ड	७	६५
अन्यदुप्तं	९	४०	अमानुषीषु	११	१७३

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
अमाययैव	७	१०४	अष्टौ मासान्	९	३०५
अमेध्ये वा	११	९६	असकृद्गर्भ	१२	७८
अयं द्विजैर्हि	९	६६	असङ्ख्या मूर्तयः	१२	१५
अयमुक्तो	९	२२०	असन्दितानां	८	३४२
अरक्षिता गृहे	९	१२	असम्भाष्ये	८	५५
अरक्षितारं	८	३०८	असम्भोज्या	९	२३८
अरण्ये वा	११	२५८	असम्यकरिणः	९	२५९
अराजके हि	७	३	असाक्षिकेषु	८	१०९
अर्थसम्पादनार्थ	७	१६८	अस्थिमतां तु	११	१४०
अर्थस्य संग्रहे	९	११	अस्वतन्त्राः	९	२
अर्थानर्थानुभौ	८	२४	अस्वामिना	८	१९९
अर्थेऽपव्ययमानं	८	५१	अहहन्य	८	४१९
अलङ्कारं	९	९२	अहार्यं ब्राह्मण	९	१८९
अलङ्कृतश्च	७	२२२	अहिंसा सत्य	१०	६३
अलब्धं चैव	७	९९	आ		
अलब्धमिच्छेद्	७	१०१			
अवकीर्णी तु	११	११८	आकारैरिङ्गितैः	८	२६
अवगूर्यं चरेत्	११	२०८	आगःसु ब्राह्मण	९	२४१
अवगूर्यं त्वद्	११	२०६	आगमनिर्गमं	८	४०१
अवनिष्ठीवतो	८	२८२	आतुरामभि	११	११२
अवहार्यो	८	१९८	आत्मनश्च	८	३४९
अवाक्शिरा	८	९४	आत्मानो यदि	११	११४
अविद्यानां तु	९	२०५	आत्मैव देवता	११	११९
अविद्वांश्चैव	९	३१७	आत्मैव ह्यात्मनः	८	८४
अवेदयानो	८	३२	आददीत न	९	९८
अव्रतानाम्	१२	११४	आददीताथ....द्र	७	१३१
अशकुवस्तु	१०	९९	आददीताथ....प्र	८	२३
अशासंस्तस्करान्	९	२५४	आदाननित्या	११	१५
अश्मनोऽस्थीनि	८	२५०	आदानमप्रिय	७	२०४
अष्टपाद्यं तु	८	३३७	आद्यं यत्र्यक्षरं	११	२६५
अष्टावष्टौ	११	२१८	आधिः सीमा	८	१४९
			आधिश्चोपनिधि	८	१४५

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
आपत्कल्पेन	११	१८	इमं हि सर्व	९	६
आपदर्थं घनं	७	२१३	इयं विशुद्धि	११	८९
आपद्गतोऽथवा	९	२८३	इयं भूमिर्हि	९	३७
आप्ताः सर्वेषु	८	६३	इष्टिं वैश्वानरीं	११	२७
आयर्ति सर्व	७	१७८	इह चामुत्र	१२	८९
आयात्यां गुण	७	१७९	इह दुश्चरितैः	११	४८
आयोगवश्च	१०	१६	ई उ		
आरण्यांश्च	१०	८९	ईशो दण्डस्य	९	२४५
आरभेतैव	९	३००			
आरम्भरुचिता	१२	३२	उक्त्वा चैवानृतं	११	८८
आर्तस्तु कुर्यात्	८	२१६	उच्छिष्टमन्नं	१०	१२५
आर्थता पुरुष	७	२११	उत्कृष्टायाभि	९	८८
आर्षं धर्मो	१२	१०६	उत्कोचकाश्चौप	९	२५८
आवृत्तानां गुरु	७	८२	उत्तमां सेवमान	८	३६६
आश्रमेषु	८	३९०	उत्थाय पश्चिमे	७	१४५
आसनं चैव	७	१६१	उत्पद्यते गृहे	९	१७०
आहरेत्त्रीणि	११	१३	उत्पद्यन्ते	१२	९६
आहवेषु	७	८९	उत्पादनमपत्य	९	२७
इ			उदितोऽयं	९	२५०
			उद्धारो न	९	११५
इतरे कृतवन्तस्तु	९	२४२	उन्मत्तं पतितं	९	७९
इतरेषां तु	१०	९६	उपचारक्रिया	८	३५७
इत्येतत्तपसो	११	२४४	उपच्छन्नानि	८	२४९
इत्येतदेनसा	११	२४७	उपजप्यानुप	७	१९७
इत्येतन्मानवे	१२	१२६	उपधामिश्च	८	१९३
इदं तु वृत्ति	१०	८५	उपपन्नो गुणैः	९	१४१
इन्द्रस्यार्कस्य	९	३०३	उपपातकसंयुक्तः	११	१०८
इन्द्रानिलयमा	७	४	उपरुव्यारि	७	१९५
इन्द्रियाणां जये	७	४४	उपवासकृशं	११	१९५
इन्द्रियाणां	१२	५२	उपसर्जनं	९	१२१
इन्द्रियाणि यशः	११	४०	उपस्थमुदरं	८	१२५
इन्धनार्थ	११	६४			

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
उपेतारमूषेयं	७	२१५	एकोऽपि वेद	१२	११३
उभाभ्यामप्य	१०	८२	एकोऽलुब्धस्तु	८	७७
उभावपि तु	८	३७७	एकोऽहमस्मी	८	९१
उष्ट्रयानं	११	२०१	एतच्चतुर्विधं	७	१००
उष्णे वर्षति	११	११३	एतत्तु न परे	९	९९
ऊ			एतद्दण्डविधिं	८	२२१
ऊर्ध्व विभागा	९	२१६	एतदेव चरेदब्दं	११	१२९
ऊर्ध्व पितुश्च	९	१०४	एतदेव विधिं	११	१८८
ऋ			एतदेव व्रतं	११	११७
ऋक्षेष्ट्याग्रायणं	६	१०	एतदेव व्रतं	११	१३०
ऋक्संहितां	११	२६२	एतद्धि जन्म	१२	९३
ऋग्वेदविद्यजु	१२	११२	एतद्रद्रास्तथा	११	२२१
ऋचो यजूषि	११	२६४	एतद्वः सार	९	५६
ऋणं दातुमश	८	१५४	एतद्वि....दरोगः	७	२२६
ऋणे देये	८	१३९	एतद्वि....धार्मिकः	८	२४४
ऋणे धने	९	२१८	एतद्वि....विज्ञेयं	९	१४८
ऋत्विग्यदि वृत्तो	८	२०६	एतद्वोऽ....निःश्र	१२	११६
ऋत्विजं यस्त्य	८	३८८	एतमेके वद	१२	१२३
ऋषयः संयता	११	२३६	एतमेव विधिं	११	२१७
ए			एतस्मिन्नेनसि	११	१२२
एकं वृषभ	९	१२३	एताः प्रकृतयो	७	१५६
एकः शतं योध	७	७४	एता दृष्ट्वाऽस्य	१२	२३
एक एव सुहृद्	८	१७	एतानाहुः	८	१२२
एक एवौरसः	९	१६३	एतान्दोषानवेक्ष्य	८	१०१
एकजातिर्द्वि	८	२७०	एतान्येनांसि	११	७१
एकमेव दह	७	९	एतावानेव	९	४५
एकाकिनश्चा	७	१६५	एताश्चान्याश्च	९	२४
एकाधिकं	९	११७	एतास्तिस्त्रस्तु	११	१७२
एकान्तरे	१०	१३	एते चतुर्णा	१०	१३०
एकैकं ग्रास	११	२१३	एतेभ्यो हि	१०	३
एकैकं हास	११	२१६	एते राष्ट्रेवर्त	९	३३६

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
एते षट्	१०	२७	एष धर्मविधिः	१०	१३१
एतेषां निग्रहो	८	३८७	एष धर्मोऽखिले	८	२१८
एतैरुपायैरन्यैश्च	९	३१२	एष धर्मो गवाश्वस्य	९	५५
एतैर्द्विज्ञातयः	११	२२६	एष नौयायिनाम्	८	४०९
एतैर्लिङ्गैर्नयेत्	८	२५२	एष सर्व....	१२	८२
एतैर्व्रतै....अगम्या	११	१६९	एष सर्व....स्त्रिप्र	१२	५१
एतैर्व्रतै....गुल्म	११	१०२	एष सर्वाणि	१२	१२४
एतैर्व्रतैरपोहेयुः	११	१०७	एष स्त्रीपुंसयो	९	१०३
एतैर्व्रतैरपोह्यं	११	१४५	एषा पापकृता	११	१७९
एनसां स्थूल	११	२५२	एषामन्यतमे	८	११९
एनस्विभिरनि	११	१८९	एषा विचित्रा	११	९८
एवं कर्मविशेषेण	११	५२	एषु स्थानेषु	८	८
एवं चरन् सदा	९	३२४	एषोऽखिलः कर्म	९	३२५
एवं दृढव्रतो	११	८१	एषोऽ....दण्ड	८	३०१
एवं धर्म्याणि	९	२५१	एषोऽ....धर्म	८	२६६
एव प्रयत्नं	७	२२०	एषोदिता लोक	९	२५
एवमादीन्	९	२६०	एषोऽनाद्यादन	११	१६१
एवं यः सर्व	१२	१२५	एषोऽनापदि	९	३३६
एवं यद्यप्य	९	३१९	एषोऽनुपस्कृतः	७	९८
एवं विजय	७	१०७		ऐ	
एवं विधान्	९	२६६	ऐन्द्रं स्थानमभि	८	३४४
एवं वृत्तस्य	७	३३		ओ	
एवं सञ्चिन्त्य	११	२३१	ओघवामाहत	९	५४
एवं स भगवान्	१२	११७	औरसः क्षेत्रज	९	१५९
एवं समुदघृतो	९	११६	औरसक्षेत्रजौ	९	१६५
एवं सर्व विधायेदं	७	१४२	औषधान्यगदो	११	२३७
एवं सर्वमिदं	७	२२६		क	
एवं सर्वानिमान्	८	४२०	कणान्वा भक्षयेद	११	९२
एवं सह वसेयुर्वा	९	१११	कन्या भजन्ती	८	३६५
एवं स्वभावं	९	१६	कन्याया दूषणं	११	६१
एष दण्डविधिः	८	२७८	कन्यायां दत्त	१९	९७

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
कन्यैव कन्यां या	८	३६९	कृतदारोऽपरान्	१०	५
कर्णौ चर्म च	८	२३४	कृतं त्रेतायुग	९	३०१
कर्मणाऽपि	८	१७७	कृतवापनो	११	७८
कलिः प्रसुप्तो	९	३०२	कृत्वा पापं हि	११	२३०
कल्पयित्वाऽस्य	११	२३	कृत्वा विधानं	९	१८४
काणं वाप्यथवा	८	२७४	कृत्स्नं चाष्टविधं	७	१५४
कानीनश्च	९	१६०	कृमिकीटपतङ्गानां	११	७०
कामक्रोधौ तु	८	१७५	कृमिकीटवयोह	१२	५६
कामजेषु	७	४६	कृषिं साध्विति	१०	८
कामतो रेतसः	११	१२०	कृष्टजानामोष	११	१४४
काममामरणात्	९	८९	केशेषु गृहीतो	८	२८३
काममुत्पाद्य	१०	९०	कोष्ठागारायुधा	९	२८०
कामाद्दशगुणं	८	१२१	कौटसाक्ष्यं तु	८	१२३
कामिनीषु	८	११३	कौत्सं जप्त्वाप	११	२४९
कारावरो	१०	३६	कौशेय तित्तिरिः	१२	६४
कारुकाच्छिल्पि	७	१३८	क्रयविक्रय	७	१२७
कार्पासकीट	११	१६८	क्रव्यादसूकरो	११	१५६
कार्षापणं भवेद्	८	३३६	क्रव्यादांस्तु	११	१३७
कालेऽदाता पिता	९	४	क्रियाऽभ्युपगमात्	९	५३
किञ्चिदेव तु	८	३६३	क्रीणीयाद्यस्त्व	९	१७४
किञ्चिदेव तु	११	१४१	क्रीत्वा विक्रीय	८	२२२
कितवान् कुशी	९	२२५	क्षतुर्जातस्तथो	१०	१९
कीटाश्चाहिपत	११	२४०	क्षत्रुप्रपुक्कसानां	१०	४९
कीनाशो गोवृषो	९	१५०	क्षतविट्शूद्र	९	२२९
कुटुम्बार्थेऽध्य	८	१६७	क्षत्रस्यातिप्रवृ	९	३२०
कुरुक्षेत्रांश्च	७	१९६	क्षत्रियं चैव वैश्यं	८	४११
कुलजे वृत्त	८	१७९	क्षत्रियस्य परा	७	१०९
कुले मुख्येऽपि	१०	६०	क्षत्रियाद्विप्र	१०	११
कुसीदवृद्धिद्वै	८	१५१	क्षत्रियायामगुप्ता	८	३८४
कूटशासन	९	२३२	क्षत्रियो बाहु	११	३४
कूष्माण्डैर्वापि	८	१०६	क्षन्तव्यं प्रभुणा	८	३१२

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
क्षीणस्य चैव	७	१६६	गोपः क्षीरभृतो	८	२३१
क्षुद्रकाणां पशूनां	८	२९७	गोमूत्रं गोमयं	११	२१२
क्षुधार्तश्चात्तु	१०	१०८	गोमूत्रमग्निवर्णं	११	९१
क्षेत्रकूपतडागानां	८	२६२	गोरक्षकान्	८	१०२
क्षेत्रजादीन्	९	१८०	गोवधोऽयाज्य	११	५९
क्षेत्रभूता स्मृता	९	३३	गौडो पैष्टी च	११	९८
क्षेत्रियस्यास्यये	८	२४३	ग्रहीता यदि	८	१६६
क्षेत्रेष्वन्येषु	८	२४१	ग्रामघाते	९	२७४
क्षेभ्यां सस्यप्रदां	७	२१२	ग्रामदोषान्	७	११६
ख			ग्रामस्थाधिपतिं	७	११५
खं सन्निवेशयेत्	१२	१२०	ग्रामीयककुलानां	८	२५४
खट्वाङ्गी चीर	११	१०५	ग्रामेष्वपि च	९	२७१
खराश्चाष्टमृगे	११	६८	घ		
खलात्क्षेत्राद	११	१७	घृतकुम्भं	११	१३४
ख्यापनेनानु	११	२२७	च		
ग			चक्रवृद्धिं समा	८	१५६
गत्वा कक्षान्तरं	७	२२४	चण्डालश्चपचानां	१०	५१
गन्धर्वा गुह्यका	१२	४७	चण्डालात्पाण्डु	१०	३७
गर्दभाजाविकानां	८	२९८	चण्डालान्त्यस्त्रि	११	१७५
गर्णिभी तु	८	४०७	चाण्डालेन तु	१०	३८
गिरिपृष्ठं	७	१४७	चतुरः प्रातः	११	२१९
गुरुं वा बालवृद्धौ	८	३५०	चतुरोऽशान्	९	१५३
गुरुत्वल्ब्रतं	११	१७०	चतुर्णां....प्राय	९	२३६
गुरुतल्पे भगः	९	२३७	चतुर्थकालम	११	१०९
गुरुतल्प्यभि	११	१०३	चतुर्थमाददानो	१०	११८
गुल्मान् वेणूश्च	८	२४७	चरितव्यमतो	११	५३
गुल्मांश्च स्थाप	७	१९०	चर्मचामिक	८	२८९
गृहं तडाग	८	२३४	चातुर्वर्ण्यं त्रयो	१२	९७
गृहिणः पुत्रिणो	८	६२	चातुर्वर्ण्यस्य	१२	१
गृहीत्वा मुसलं	११	१००	चान्द्रायणं वा	११	१०६
गोत्ररिक्थे जन	९	१४२	चारणाश्च सुप	१२	४४

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
चारणोत्साह	९	२९८	ज्ञातिसम्बन्धिभिः	९	२३९
चिकित्सकानां	९	२८४	ज्येष्ठः कुलं वर्ध	९	१०९
चैत्यद्रुमश्मशा	१०	५०	ज्येष्ठ एव तु	९	१०५
चोरैर्हतं जले	८	१८९	ज्येष्ठता च	११	१८५
छ			ज्येष्ठस्तु जातो	९	१२४
छिन्ननास्ये भग्न	८	२९१	ज्येष्ठश्चैव कनि	९	११३
छुछुन्दरिः शुभान्	१२	६५	ज्येष्ठस्य विंश	९	११२
छेदने चैव	८	२९२	ज्येष्ठेन जात	९	१०६
ज			ज्येष्ठो यवीयसो	९	५८
उडमूकान्ध	७	११९	झ		
जनन्यासंस्थितायां	९	१९२	झल्ला मल्ला	१२	४५
जन्मज्येष्ठेन	९	१२६	झल्लो मल्लश्च	१०	२२
जन्मप्रभृतिं	८	९०	त		
जपन् वान्यतमं	११	७५	तं यस्तु द्वेष्टि	७	१२
जपहोमैरपैत्येनः	१०	१११	तं राजा प्रणयन्	७	२७
जपित्वा त्रीणि	११	१९४	तडागभेदकं	९	२७९
जरां चैवाप्रती	१२	८०	तडागान्युदया	८	२४८
जाङ्गलं सस्य	७	६९	ततः प्रभृति यो	९	६८
जातिजानपदान्	८	४१	ततो दुर्गे च	७	२६
जातिभ्रंशकरं	११	१२४	तत्प्राज्ञेन विनीतेन	९	४१
जातिमात्रोपजीवी	८	२०	तत्र भुक्त्वा पुनः	७	२२५
जातो नार्यामना	१०	६७	तत्र यत्प्रीति	१२	२७
जातो निषादा	१०	१८	तत्र स्थिताः प्रजाः	७	१४६
जालान्तरगते	८	१३२	तत्रात्मभूतैः	७	२१७
जित्वा सम्पूजयेद्	७	२०१	तत्रापरिवृतं	८	२३८
जीनकार्मुक	११	१३८	तत्रासीनः स्थितो	८	२
जीर्णोद्यानान्य	९	२६५	तत्समुत्थो हि	८	३५३
जीवन्तीनान्तु	८	२९	तत्सहायैरनुगतैः	९	२६७
जीवसंज्ञोऽन्तरा	१२	१३	तत्स्यादायुध	७	७५
जीवितात्यय	१०	१०४	तथा च श्रुतयो	९	१९
जीवेदेतेन	१०	९५	तथा धरिममे	८	३२१

श्लोदः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
तथा नित्यं यते	९	१०२	तिष्ठन्तीष्वनु	११	१११
तथैव सप्तमे	११	१६	तीक्ष्णश्चैव मृदु	७	१४०
तथैवाक्षेत्रिणौ	९	५१	तीरितं....यत्र	९	२३३
तदध्यास्योद्वहेद्	७	७७	तुरीयो ब्रह्म	११	१२६
तद्वदन् धर्मतो	८	१०३	तुलामानं प्रतीमानं	८	४०३
तन्तुवायो दश	८	३९७	तृणकाष्ठद्रुमाणां	११	१६६
तं देशकालौ	७	१६	तृणगुल्मलतानां	१२	५८
तपस्यादि	७	६	ते चापि बाह्यान्	१०	२९
तपसापननत्सुस्तु	११	१०१	तेन यद्यत्सभृत्येन	७	३६
तपसैव विशुद्धस्य	११	२४२	तेनानुभूयता	१२	१७
तपोबीजप्रभावैस्तु	१०	४२	ते पृष्ठा....सम	८	२५५
तपोमूलमिदं	११	२३४	ते पृष्ठा....सीमा	८	२६१
तपो विद्या च	१२	१०४	तेऽभ्यासात्कर्मणां	१२	७४
तप्तकृच्छ्रं चरन्	११	२१४	तेभ्योऽधिगच्छेद्	७	३९
तमसो लक्षणं	१२	३८	तेभ्यो लब्धेन	११	१२३
तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु	७	१३	तेषां वेदविदो	११	८५
तस्माद्यम इव	८	१७३	तेषां स्वस्वम्	७	५७
तस्य भृत्यजनं	११	२२	तेषां ग्राम्याणि	७	१२०
तस्य मध्ये सुप	७	७६	तेषां दोषानभि	९	२६२
तस्य सर्वाणि	७	१५	तेषां न दद्याद्	८	१८४
तस्यार्थे सर्व	७	१४	तेषामर्थे नियु	७	६२
तस्याहुः सम्प्रणे	७	२६	तेषामाद्यमृणादानं	८	४
तस्येह त्रिविध	१२	४	तेषु तेषु तु	९	२९७
ताडयित्वा....कण्ठे	११	२०५	ते षोडश स्याद्	८	१३६
तान् विदित्वा	९	२६१	तैः सार्धं चिन्त	७	५६
तान् सर्वानभि	७	१५९	तौ धर्मं पश्यतः	१२	१९
तापसा यतयो	१२	४८	त्रयः परार्थे	८	१६९
तामिस्रादिषु	१२	७५	त्रयाणां....गुणानां	१२	३४
तावुभावप्यसं	१०	६८	त्रयाणां.....यः	१२	३०
तावुभौ भूत	१२	१४	त्रयाणामप्युपाया	७	२००
तासां चेदव	८	२३६	त्रयाणामुदकं	९	१८६

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
त्रयो धर्मा निव	१०	७७	दानेन वधनि	११	१३९
त्रसरेणवोऽष्टौ	८	१३३	दासी घटमपां	११	१८३
त्रिशद्वर्षोद्वहेत्	९	९४	दास्यं तु कारय	८	४१२
त्रिदण्डमेतन्नि	१२	११	दास्यां वा दास	९	१७९
त्रिपक्षाद्ब्रुवन्	८	१०७	दिवा चरेयुः	१०	५५
त्रिरहस्त्रिर्निशायां	११	२२३	दिवानुगच्छेद्गा	११	११०
त्रिवारं प्रतिरोद्धा	११	८०	दिवा वक्तव्यता	८	२३०
त्रिविधा त्रिविधैषा	१२	४१	दीर्घाध्वनि यथा	८	४०६
त्रीणि वर्षाण्यु	९	९०	दस्येयुः सर्व	७	२४
त्रीण्याद्यान्याश्रिता	७	७२	दूत एव हि	७	६६
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं	७	४३	दूतं चैव प्रकु	७	६३
त्रैविद्यो हेतुक	१२	१११	दूतसम्प्रेषण	७	१५३
त्र्यंशं दायाद्धरेद्	९	१५१	देवत्वं सात्त्विका	१२	४०
त्र्यहं तूपवसेद्	११	२५९	देवदत्तां पति	९	९५
त्रयं प्रातस्त्र्यहं	११	२११	देवदानव	७	२३
त्वग्भेदकः शतं	८	२८४	देवब्राह्मण	८	८७
द			देवराट्वा सपि	९	५९
दक्षिणासु च	८	२०७	देवस्वं ब्राह्मणत्वं	११	२६
दण्डः शास्ति प्रजाः	७	१८	दौहित्रो ह्यखिलं	९	१३२
दण्डव्यहेन तन्मा	७	१८७	द्युतं समाह्वयः	९	२२४
दण्डस्य पातनं	७	५१	द्युतं समाह्वयं....	९	२२१
दण्डो हि सुमहत्	७	२८	द्युतमेतत्पुरा	९	२२७
दत्तस्यैषोदिता	८	२१४	द्यौर्भूमिरापो	८	८६
दत्त्वा धनं तु	९	३२३	द्रव्याणामल्प	११	१६४
ददौ स दश	९	१२९	द्रव्याणि हिंस्याद्य	८	२२८
दर्शनप्रातिभाव्ये	८	१६०	द्वयोरप्येतयोर्मूलं	७	४९
दश कामसमु	७	४५	द्वयोस्त्रयाणां	७	११४
दश स्थानानि	८	१२४	द्विक शतं वा	८	१४१
दशावरा वा	१२	११०	द्विकं त्रिकं चतुष्कं	८	१४२
दशी कुलं तु	७	११९	द्विजातयः सवर्णा	१०	२०
दातव्यं सर्व	८	४०	द्विजोऽध्वगः क्षीण	८	३४१

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
द्वितीयमेके	९	६१	न च वैश्यस्य	९	३२८
द्विविधांस्तस्कारान्	९	२५६	न च हन्यात्	७	९१
द्वौ तु यौ विवदे	९	१९१	न जातु ब्राह्मणं	८	३८०
घ			न तं स्तेना न	७	८३
धनं यो बिभृयाद्	९	१४६	न तस्मिन्धारयेद्	११	२१
धनानि तु यथा	११	६	न तैः समय	१०	५३
धनुः शतं	८	२३७	न त्वेवाधौ सोप	८	१४१
धन्वदुर्ग्र मही	७	७०	न दत्त्वा कस्यचित्	९	७१
धरणानि दश	८	१३७	न निर्हारं स्त्रियः	९	१९९
धर्म एव हतो	८	१५	न निष्क्रयविसर्गा	९	४६
धर्मज्ञं च कृतज्ञ	७	२०९	न ब्राह्मणोऽवेद	११	३१
धर्मस्य ब्राह्मणो	११	८३	न ब्राह्मणवधाद्	८	३८१
धर्मार्थं येन	८	२१२	न भक्तिव्यो बला	८	१४४
धर्मासनमधिष्ठाय	८	२३	न भ्रातरा न	९	१८५
धर्मेण च द्रव्य	९	३३३	न माता न पिता	८	३८९
धर्मेण व्यवहारेण	८	४९	न मित्रकारणाद्	८	३४७
धर्मेणाधिगतौ	१२	१०९	न यज्ञार्थं धनं	११	२४
धर्मेप्सवस्तु	१०	१२७	नरक हि पते	११	३७
धर्मोपदेशं	८	२७२	न वृथा शपथं	८	१११
धर्मो विद्धस्त्वध	८	१२	न वै कन्या न	११	३६
धान्यं हत्वा भव	१२	६२	न वैतान् स्नान	१०	२
धान्यकुप्यपशु	११	६६	न शूद्रे पातकं	१०	१२६
धान्यं दशभ्यः	८	३२०	नश्यतीपूर्यथा	९	४३
धान्यान्नवन	११	१६२	नष्टं विनष्टं	८	२३२
धाम्येऽष्टमं विशां	१०	१२०	न सम्भाषां पर	८	३६१
ध्वजाहतो भक्त	८	४१५	न साक्षी नृपतिः	८	६५
न			न सुप्तं न विस	७	९२
न कश्चिद्योषितः	९	१०	न स्कन्दते न	७	८४
न कूटैरायुधै	७	९०	न स्वामिना निसृ	८	४१४
नगरे नगरे	७	१२१	न हि दण्डादृते	९	२६३
नग्नो मुण्डः कपा	९	९३	न होढेन विना	९	२७०

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
नाततायिवधे	८	३५१	नियुक्तौ यौ विधं	९	६३
नातिसांवत्सरीं	८	१५३	निरादिष्टधन	८	१६२
नाददीत नृपः	९	२४३	निर्भयं तु भवे	९	२५५
नाध्यधीनो न	८	६६	निवर्तेतास्य	७	६१
नाध्यापनाद्याज	१०	१०३	निवर्तेरंश्च	११	१८५
नानुशुश्रुम	९	१००	निषादस्त्री तु	१०	३९
नान्यदन्येन	८	२०३	निषादो मार्गवं	१०	३४
नान्यस्मिन् विध	९	६४	निष्पद्यन्ते च	९	२४७
नाब्रह्म क्षत्रमृध्नो	९	३१२	नैश्रेयसमिदं	१२	१०७
नामजातिग्रहं	८	२७१	नैता रूपं परी	९	१४
नायुधव्यसन	७	९३	नैष चारणदारेषु	८	३६२
नार्तो न मत्तो	८	६७	नोच्छिन्द्यादात्मं	७	१३९
नार्थसम्बन्धिनो	८	६४	नोत्पादयेत्स्वयं	८	४३
नास्ति स्त्रीणां	८	१८	नोन्मत्ताया न	८	२०५
नास्य च्छिद्रं परो	७	१०५	नोद्वाहिकेषु	९	६५
निक्षिप्तस्य धनस्यै	८	१९६		प	
निक्षेपस्यापहरणं	११	५७	पञ्च पञ्चनृते	८	९८
निक्षेप....मनि	८	१९०	पञ्चभ्य एव	१२	१६
निक्षेप....सत्	८	१९२	पञ्चरात्रे पञ्च	८	४०२
निक्षेपेष्वेषु	८	१८८	पञ्चानां तु त्रयो	१०	२५
निक्षेपोपनिधी	८	१८५	पञ्चाशद्ब्राह्मणो	८	२६८
निक्षेपो यः कृतो	८	१७४	पञ्चाशतस्त्वभ्य	८	३२२
निगृह्य दापये	८	२२०	पञ्चाशद्भाग	७	१३०
निग्रह प्रकृतीनां	७	१७५	पणं यानं तरे	८	४०४
निग्रहेण हि	८	३११	पणानां द्वेशते	८	१३८
नित्यं तस्मिन्समा	७	५९	पणो देयोऽवकृष्ट	७	१२६
नित्यमुद्यतदण्डः	७	१०२	पतिं या....लोका	९	२९
नित्यानध्याय	७	१०७	पतितस्योदक	११	१८२
निधीनां तु पुरा	८	३९	पतिर्भार्या सम्प्र	९	८
निन्दितेभ्यो	११	६९	पत्यौ जीवति यः	९	२००
नियुक्तायामपि	९	१४४	पत्रशाकतृणानां	७	१३२

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
पथि क्षेत्रे परि	८	२४०	पित्र्यं वा भजते	१०	४९
पयः पिबेत्त्रि	११	१३२	पीडनानि च सर्वा	९	२९९
परदाराभिमर्शेषु	८	३५२	पुण्यान्यन्यानि	११	३९
परद्रव्येष्वभिध्या	१२	५	पुत्राः कनिष्ठो	९	१२२
परमं यत्नमाति	८	३०२	पुत्रं प्रत्युदितं	९	३१
परस्त्रियं योऽभि	८	३५६	पुत्रान् द्वादश	९	१५८
परस्परविरुद्धानां	७	१५२	पुत्रा येऽनन्तर	१२	१४
परस्य पत्न्यापुरुष	८	३५४	पुत्रिकायां कृतायां	९	१३४
परामप्यापद	९	३१३	पुत्रेण लोकाञ्जय	९	१३७
परिपूतेषु धान्येषु	८	३३१	पुमांसं दाहयेत्	८	३७२
परिपूर्णं यथा	९	३०९	पुरुषस्य स्त्रिया	९	१
परिवृत्तिताऽनुजे	११	६०	पुरुषाणां कुलीना	८	३२३
परीक्षिताः स्त्रिय	७	२१९	पुरोहितं च	७	७८
परेण तु दशाहस्य	८	२२३	पुष्पेषु हरिते	८	३३०
पल सुवर्णाश्चत्वा	८	१३५	पृथुस्तु विनया	७	४२
पशुषु स्वामिनां	८	२२९	पृथोरपीमां पृथी	९	४४
पाणिग्रह...कन्या	८	२२६	पृष्ठोऽपव्यर्थमान	८	६०
पाणिग्रह...निय	८	२२७	पृष्ठतस्तु शरीरस्थ	८	३००
पाणिमुद्यम्य दुण	८	२२	पैतृकं तु पिता	९	२०९
पात्रस्य हि विशे	७	८६	पैत्रीष्वसेयीं	११	१७१
पादोऽधर्मस्य	८	१८	पैशुन्यं साहसं	७	४८
पानं दुर्जनसंसर्ग	९	१३	पौण्ड्रकाश्चौड्	१०	४३
पानमक्षाः स्त्रिय	७	५०	पौत्रदौहि....वि	९	१३९
पारुष्यमनृतं	१२	६	पौश्रल्याच्चलचि	९	१५
पार्ष्णिग्राहं च	७	२०७	प्रकल्प्या तस्य	१०	१२४
पिताचार्यः सुह	८	३३५	प्रकाशमेतत्ता	९	२२२
पिता रक्षति	९	३	प्रकाशवञ्चका	९	२५७
पितृदेवमनुष्या	१२	९४	प्रच्छन्नं वा प्रकाशं	९	२२८
पितृवेश्मनि कन्या	९	१७२	प्रजनार्थं महाभ	९	२६
पितेव पालयेत	९	१०८	प्रजनार्थं स्त्रियः	९	९६
पित्रे न दद्याच्छ्र	९	९३	प्रजापतिरिदं	११	२४३

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
प्रजापतिहि	९	३२७	बन्धनानि च	९	२८८
प्रणष्टस्वामिकं	८	३०	बन्धुप्रियवियोगां	१२	७९
प्रणष्टाधिगतं	८	३४	बलस्य स्वामिन	७	१६७
प्रतापयुक्तस्ते	९	३१०	बलादृतं बलाद्भु	८	१८६
प्रतिकूलं वर्तमा	१०	३१	बहवोऽविनयान्न	७	४०
प्रतिगृह्याप्रतिप्रा	११	२५३	बहुत्वं परिगृही	८	७३
प्रतिग्रहाद्याजना	१०	१०९	बहून् वर्षगणान्	१२	५४
प्रतिषिद्धापि चेद्या	९	८४	बालध्नांश्च कृत	११	१९०
प्रत्यक्षं चानुमानं	१२	१०५	बालदायादिकं	७	२७
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च	८	३	बालवृद्धातुराणां	८	७१
प्रभुः प्रथमकल्प	११	३०	बालोऽपि नावम	७	८
प्रमाणानि च	७	२०३	बाह्यैर्विभावयेल्लि	८	२५
प्रविश्य सर्वभूता	९	३०६	बिडालकाकाखू	११	१५९
प्रवृत्तं कर्म संसे	१२	९०	बिभर्ति सर्व-	११	९९
प्रशासितारं सर्वे	१२	१२२	बीजमेके प्रशं	१०	७०
प्रसाधनोपचारज्ञ	१०	३२	बीजस्यचैव	९	३५
प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य	७	१९४	बीजानामुप्तिवि	९	३३०
प्राकारास्य च	९	२८९	बुद्ध्वा च सर्व	७	६८
प्राचकश्चेद्भवेदाप्तः	८	२९४	ब्रह्मन्तो ये स्मृता	८	८९
प्राजापत्यमदत्त्वा	११	३८	ब्रह्मचारी तु यो	११	१५८
प्राज्ञे कुलीनं	७	२१०	ब्रह्महत्या सुरापा	११	५४
प्रातिभाव्यं	८	१५९	ब्रह्महा च सुरापश्च	९	२३५
प्रतिवेश्यानुवेश्यौ	८	३९२	ब्रह्महा द्वादश स	११	७२
प्रायश्चित्तं तु कु	९	२४०	ब्रह्मा विश्वसृजो	१२	५०
प्रायश्चित्तं चिकी	११	१९२	ब्राह्मणः सम्भवे	११	८४
प्रायश्चित्तीयतां	११	४७१	ब्राह्मणः क्षत्रियो	११	११७
फ			ब्राह्मणः क्षत्रियो	१०	४
फलदानां तु वृक्षा	११	४२	ब्राह्मणक्षत्रियवि	९	१५५
ब			ब्राह्मणक्षत्रिया	८	२७६
बक्वच्चिन्तये	७	१०६	ब्राह्मणस्तु सुराप	११	१४९
बको भवति	१२	६६	ब्राह्मणार्थेसद्यः	११	७९

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
ब्राह्मणस्य चतुः	८	३३८	भृत्यानामुपरोधे	११	१०
ब्राह्मणस्य तपो	११	२३५	भृत्यानां च भृतिं	९	३३२
ब्राह्मणस्य रुजः	११	६७	भोजनाभ्यञ्जनाद्	१०	९१
ब्राह्मणस्यानुपूर्व्ये	९	१४५	भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या	९	५७
ब्राह्मणस्त्वं न हर्त	११	८	भ्रातृणां यस्तु	९	२०७
ब्राह्मणादुग्रकन्या	१०	१५	भ्रातणामविभक्ता	९	२१५
ब्राह्मणाद्वैश्यक	१०	८	भ्रातृणामेकजाता	९	१८२
ब्राह्मणान् पर्युषा	७	३७	मणिमुक्ताहत्वा	१२	६१
ब्राह्मणान् बाधमा	९	२४८	मणिमुक्ता....ता	११	१६७
ब्राह्मणा ब्रह्मयो	१०	७४	मणिमुक्ता लोहा	९	३२७
ब्राह्मणार्थे देह	१०	६२	मत्तोन्मत्तार्ताध्य	८	१६३
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां	८	३७६	मत्स्यघातो निषा	१०	४८
ब्राह्मणदैवार्षगा	९	१९६	मत्स्यानां पक्षिणां	८	३२८
ब्राह्म प्राप्तेन स	७	२	मद्यपाऽसाधुवृत्ता	९	८०
ब्रूहीति ब्राह्मण	८	८८	मध्यन्दिने....वा	७	१५१
ब्रूहीत्युक्तश्च न	८	५६	मध्यमस्य प्रचारं	७	१५५
भ			मनसीन्दुंदिशः	१२	१२१
			मनुष्यमारणे क्षिप्रं	८	२९६
भक्ष्यभोज्योयदे	९	२६८	मनुष्याणां तु	११	१६३
भक्ष्यभोज्यापहर	११	१६५	मनुष्याणां पशूनां	८	२८६
भरद्वाजः क्षुधार्त	१०	१०१	मन्त्रैः शाकलहो	११	२५६
भर्तारं लङ्घयेद्या	८	३७१	मन्यन्ते वै पाप	८	८५
भर्तुः पुत्रं विजान	९	३२	मन्येतारिं यदा	७	१७३
भर्तुः शरीशु	८	८६	ममायमिति यो	८	३५
भाण्डपूर्णानि वा	८	४०५	ममेदमिति योब्र	८	३१
भार्या पुत्र...त्रय	८	४१६	महर्षिभिश्च देवै	८	११०
भार्या पुत्र प्रेष्यो	८	२९९	महापशूनां हरणे	८	३२४
भिक्षुका बन्दिन	८	३६०	महापातकसं	११	२५७
भिन्दन्त्यवमता	७	१५०	महापातकिन	११	२३९
भिन्द्याच्चैवतडा	७	१९६	महाव्याहतिभिः	११	२२२
भुक्तवान् विहारे	७	२२१	मांसं गृध्रो बपां	१२	६३
भूमावप्येककेदारे	९	३८			

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
मातरं पितरं	८	२७५	यजेत राजा क्रतु	७	७९
मातापिता वा	९	१६८	यजेत वाऽश्वमेधे	११	७४
मातापितृभ्याम्	९	१७१	यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः	११	११
मातापितृविहीनो	९	१७१	यज्ञार्थमर्थं भि	११	२५
मातुस्तु यौतकं	९	१३१	यज्वान ऋषयो	१२	४९
मातुः प्रथमतः	९	१४०	यतश्च भयमाश	७	१८८
मानसं मनसैवा	१२	८	यतात्मनोऽप्रम	११	२१५
मार्गशीर्षे शुभे	७	१८२	यत्करोत्येकरात्रे	११	१८८
मार्जारनकुलौ	११	१३१	यत्कर्म कृत्वा	१२	२५
मारुतं पुरुहूतञ्च	११	१२१	यत्किञ्चित्पितरि	९	२०४
मासिकात्रं तु	११	१११	यत्किञ्चिदपि वर्ष	७	१३७
मिथो दायः कृतौ	८	१९५	यत्किञ्चिदेनः कु	११	२४१
मुखबाहूरुपज्जा	१०	४४	यदि न प्रणयेद्रा	७	२०
मृगयाऽक्षो दिवा	७	४७	यदि संशय एव	८	२५३
मृतवस्त्रभृत्सु	१०	३५	यदि समाधयेत्तत्तु	८	२१३
मैत्राक्षज्योतिकः	१२	७२	यदि स्वाश्चापरा	९	१५
मैत्रेयकं तु वैदे	१०	३३	यद्गर्हितेनार्जय	११	१९३
मैथुनं तु समासे	११	१७४	यद्दुस्तरं यद्दु	११	२८३
मोहाद्राजा स्वरा	७	१११	यद्द्वयोरनयोर्वै	८	८०
मौण्ड्यं प्राणा	८	३७९	यद्धनं यज्ञशीला	११	२०
मौलाञ्छास्त्रविदः	७	५४	यद्यपि स्यात्तु	९	१५४
प्रियसाणोऽप्याद	७	१३३	यद्यर्थिता तु दारैः	९	२०३
य			यद्याचरति धर्म	१२	२०
य एतेऽन्ये त्वभो	९	१८१	यद्येकारिक्थिनौ	९	१६२
यं वदन्ति तमो	१२	११५	यद्राष्ट्रं शूद्रभूयि	८	२२
यः क्षिप्तो मर्षय	८	३१३	यद्वा तद्वा परद्र	१२	६८
यः साधयन्तं	८	१७६	यं त पश्येन्निधिं	८	३८
यः स्वयं साधयेद	८	५०	यन्नानि किञ्चिद्वा	८	४८०
यः स्वामिनाननु	८	१५०	यन्मे माता प्रलुलु	९	२०
यक्षरक्षःपिशाचा	११	९५	यमिद्धो न दहत्य	८	११
यच्चास्य सुकृतं	७	९५	यमो वैवस्वतो	८	९२

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
यं ब्राह्मणस्तु	९	१७८	यां यां योनिं तु	१२	५३
यवीयाज्येष्ठभार्या	९	१२०	या गर्भिणी	९	१७३
अश्वापि धर्मसमया	९	२७३	याजनाध्यापने	१०	११०
यस्तल्पजः प्रमीत	९	१६७	या तु कन्या प्रकु	८	३७०
यस्तु तत्कारयेन्मो	९	८७	यादृग्गुणेन भर्त्रा	९	२२
यस्तु दोष य प्रयं	८	२२४	यादृशं तूप्यते	९	३६
यस्तु पूर्वनिविष्टस्य	९	९८१	यादृशं भजते हि	९	९
यस्त भीतः परावृ	७	९४	यादृशं फलमाग्नो	९	१६१
यस्तु रज्जुपटं	८	३१९	यादृशेन तु भावे	१२	८१
यस्त्वधर्मेण कार्या	७	१७४	यानस्य चैव यानु	८	९०
यस्त्नाक्षारितः	८	३५५	यानि चैवं प्रकारा	७	२५१
यस्त्वेताव्युपक्ल	८	३३३	या नियुक्ताऽन्यत	९	१४७
यस्मादेषां सुरेन्द्रा	७	५	यानि राजप्रदेया	७	११८
यस्माद्बीज	१०	७२	यानुपाश्रित्य तिष्ठ	९	३१६
यस्मिन् कर्मणि	८	२०८	या पत्या वा परि	९	१७५
यस्मिन् कर्मण्य	११	२३३	यामीस्ता यातना	१२	२२
यस्मिन्देशे निषी	८	११	या रोगिणी स्या	९	८२
यस्मिन्ननृणं संन	९	१०७	यावतो बान्धवा	८	९७
यस्मिन् कस्मिन्	८	२२८	यायानवध्यस्य	९	२४९
यस्मिन् यस्मिन्	८	११७	या वेदबाह्या	१२	९५
यस्य कायगतं	११	९७	यास्तासां स्युर्दुहि	९	१९३
यस्य त्रिवार्षिकं	११	७	ये काविकेभ्योऽर्थ	७	१२४
यस्य दृश्येत सप्त	८	१०८	येऽक्षेत्रिणो बीजव	९	४९
यस्य प्रसादे पद्या	७	११	ये तत्र नोपसर्पयुः	९	२६९
यस्य मन्त्रं न	७	१४८	ये द्विजानामपस	१०	४६
यस्य राजस्तु	७	१३४	येन केनचिदङ्गेन	८	२७९
यस्य विद्वान् हि	८	९६	येन यस्तु गुणेनै	१२	३९
यस्य शूद्रस्तु करु	८	२१	येन येन यथाङ्गेन	८	३३४
यस्य स्तेनः पुरे	८	३८६	येनास्मिन् कर्म	१२	३६
यस्य म्रियेत	९	६०	येन नियुक्तास्तु	९	२३१
यस्यास्तु न भवेन्	१०	११	ये शूद्रादभिगम्या	११	४२

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
येषां ज्येष्ठः कनि	९	२११	राजभिः कृत	८	३१८
येषां द्विजानां	११	१९१	राजा कर्मसु	७	१२५
यैः कर्मभिः प्रचा	१०	१००	राजानः क्षत्रिया	१२	४६
यैः कृतः सर्वभ	९	३१४	राजा भवत्यनेना	८	१९
यैरभ्युपायैरेनां	११	२१०	राजा स्तेनेन	८	३१४
यैर्यैरुपाथैरर्थं स्वं	८	४८	राज्ञः कोषापहर्तु	९	२७५
योऽकामां दूषये	८	३६४	राज्ञः प्रख्यात	८	३१९
योगाधमनविक्री	८	१६५	राज्ञश्च दधुरुद्धारं	७	९७
याग्रामदेशङ्गानां	८	२१९	राज्ञो हि रक्षाधि	७	१२३
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठ	९	११०	राष्ट्रस्य सग्रहे	७	११३
यो ज्येष्ठो विनि	९	२१३	राष्ट्रेषु रक्षाधि	७	२७२
योऽदत्तादायिनो	८	३४०	रेतः सेकः स्वयो	११	५८
योऽनाहिताग्निः	११	१४	ल		
यो निक्षेपं याच्च	८	१८१	लक्ष्यं शस्त्रभृ	११	७३
यो निक्षेपं नार्पय	८	१९१	लूनाहिसरटाना	१२	५७
यो यथा निक्षिपेद्ध	८	१८०	लोकसंव्यवहारा	८	१३१
यो यदैषां गुणो	१२	२५	लोकानन्यान्	९	३१५
यो वस्य प्रतिभू	८	१५८	लोभः स्वप्नो	१२	३३
यो यावन्निहवी	८	५९	लोभात्सहस्रं	८	१२०
यो येन पतितेनै	११	१८१	लोभान्मोहाद्भया	८	११८
योऽरक्षन् बलिमा	८	३०७	व		
यो लोभादधमो	१०	९६	वत्सस्य ह्यभिशा	८	११६
यो वैश्यः स्या	११	१२	वधेनापि यदा	८	१३०
योऽसाधूभ्योऽर्थ	११	१९	वध्यांश्च हन्युः	१०	५६
योऽस्यात्मनः	१२	१२	वनस्पतीनां सर्वेषां	८	२८५
र			वन्ध्याष्टनेऽधिवे	९	८१
रक्षणादार्यवृत्तानां	९	२५३	वपनं मेखला	११	१५१
रक्षन्धर्मेण भूता	८	३०६	वर स्वधर्मोविगु	१०	९७
रथं हरेत वाध्वर्युः	८	२०९	वरुणेन यया	९	३०८
रथाश्च हस्तिनं	१०	९४	वर्णपितमविज्ञानं	१०	५७
राजधर्मान्	७	१	वशापुत्रासु चैवं	८	२८

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
वसिष्ठविहितां	८	१४०	विप्रस्य त्रिषु	१०	१०
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं	९	२१९	विप्राणां वेदविदु	९	३३४
वाग्दण्डं प्रथमं	८	१२९	विभक्तः सह	९	२१०
वाग्दण्डोऽथ	१२	१०	विविधश्चैव	१२	७६
साग्दुष्टात्तस्करा	८	३४५	विशिष्टं कुत्रचि	९	३४
वाग्दैवत्यैश्च चरुः	८	१०५	विश्वैश्च देवैः	११	२९
वाणिज्यं काराये	८	४१०	विषघ्नरगदैश्च	७	२१८
वानस्पत्यं मूलफ	८	३३९	सिस्त्रज्य ब्राह्मणः	८	४१७
वान्ताश्युल्कामु	१२	७१	वृको मगेभं	१२	६७
वार्षिकांश्चतुरो	९	३०४	वृद्धांश्च नित्यं	७	३८
वासांसि मृत	१०	५२	वृषभैकादशा	११	११६
वासो दद्याद्धयं	११	१३६	वृषो हि भगवान्	८	१६
विंशतीशस्तु तत्स	७	११७	वेणुवैदलभाण्डा	८	३२७
विक्रयाद्यो धनं	८	२०१	वेतनस्यैव चादा	८	५
विक्रणीते परस्य	८	१९७	वेदशास्त्रार्थतत्त्व	१२	१०२
विक्रोशन्त्यो	७	१४३	वेदाभ्यासं....	१२	३१
विधुष्य तु हतं	८	२३३	वेदाभ्यास...	१२	८३
विदूशूद्रयोरेवमेव	८	२७७	वेदाभ्यासोऽन्व	११	२४५
विड्वराहखरोष्ट्र	११	१५४	वेदाभ्यासो ब्रा	१०	८०
विद्याधनं तु यद्य	९	२०६	वेदोदितानां	११	२०३
विद्या शिल्पं	१०	११६	वेनो विनष्टो	७	४१
विद्वांस्तु ब्राह्मणी	८	३७	वैदिके कर्मयोगे	१२	८७
विधवायां नियुक्त	९	६०	वैशेष्यात्प्रकृति	१०	३
विधवायां नियो	९	६२	वैश्यः सर्वस्वद	८	३७५
विधाता शासि	११	३५	वैश्यं प्रति तथै	१०	७८
विधाय प्रोषिते	९	७५	वैश्यवृत्तिमना	१०	१०१
विधाय वृत्तिं	९	७४	वैश्यवृत्त्यापि	१०	८३
विधिवत्प्रतिगृह्या	९	४२	वैश्यशूद्रौ प्रय	८	४१८
विनाद्भिरप्सु	११	२०२	वैश्यश्चेत्क्षत्रि	८	३८२
विप्रदुष्टां स्त्रियं	११	१७६	वैश्यस्तु कृतस	९	३२६
विप्रसेवैष शूद्रस्य	१०	१२२	वैश्यात्तु जायते	१०	२३

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
वैश्यान्मागध	१०	१७	शुभाशुभफल	१२	३
वैश्वोऽजीवन्	१०	८९	शुल्कस्थानं परिह	८	४००
व्यभिचारेण	११	२४	शल्कस्थानेन कुश	८	३९८
व्यवहारान् दिदृ	८	१	शुष्काणि भुक्त्वा	११	१५५
व्यसनस्य च	७	५३	शूद्रं तु कारये	८	४१३
व्याधञ्छाकुनिका	८	२६०	शूद्रविट्क्षत्रविप्रा	८	१०४
व्रात्यता बान्धव	११	६२	शूद्रस्तु वृत्तिमा	१०	१२१
व्रात्यातु जायते	१०	२१	शूद्रस्य तु सवर्णै	९	१५७
व्रात्यानां याजन	११	१९७	शूद्रादायोगवा	१०	१२
व्रीहयः शालयो	९	३९	शूद्रायां ब्राह्मणा	१०	६४
श			शूद्रो गुप्तमगुप्त	८	३७४
शक्तः परजने	११	९	शूद्रो ब्राह्मणता	१०	६५
शक्तेनापि	१०	२९	शोणितं.....ताव	११	२०७
शतं ब्राह्मणमा	८	२६७	श्रुतवृत्ते विदि	७	२२५
शत्रुसेविनि मित्रे	७	१८६	श्रुतं देशञ्च	८	२७३
शनकैस्तु क्रिया	१०	४३	श्रुतीरथर्वाङ्गिर	११	३३
शब्दः स्पर्शश्च	१२	९८	श्रेयसःश्रेयसो	९	१८४
शय्याऽऽसनम	९	१७	श्रोत्रियं व्याधि	८	१९५
शरणागतं	११	१९८	श्रोत्रियः श्रोत्रियं श्रोत्रियं	८	३९३
शरीरकर्षणात्	७	११२	श्वमांसभिच्छ	१०	१०६
शरीरजैः कर्म	१२	९	श्वसृगालखरैर्दृ	११	१९९
शस्त्रं द्विजातिभि	८	३४८	श्वसूकरखरोट्टा	१२	५५
शस्त्रास्त्रभृत्वं	१०	७९	ष		
शात्मलीफलके	८	३९६	षण्णां तु कर्मणा	१०	७६
शासनाद्वा विमो	८	३१६	षण्णामेषां तु	१२	८६
शिरोभिस्ते गृही	८	२५६	षष्ठं तु क्षेत्रजस	९	१६४
शिलोज्छमप्याद	१०	११२	षष्ठान्नकालता	११	२००
शिष्टवा वा भू	११	८२	स		
शुक्तानि च कषा	११	१५३	संयोगे पतितैर्ग	१२	६०
शुचिना सत्यस	७	३१	संरक्ष्यमाणो	७	१३६
शुचिरुत्कृष्टशुश्र	९	३३५	संवत्सरं प्रतीक्षेत	९	१७

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
संवत्सराभिशास्त	८	३७३	सन्धिं दित्वा	९	२७६
संवत्सरेण	११	१८०	सन्धिं तु द्विविधं	७	१३२
संशोध्य त्रि	७	१८५	सन्ध्यां योपास्य	७	२२३
संस्थितस्यानप	९	१९०	सप्तकस्यास्य वर्ग	७	५२
संहतान्योधयेद	७	१९१	सप्त वित्तागमा	१०	११५
सकामां दूषयंस्तु	८	३६८	सप्ताङ्गस्येह राज्य	९	३९६
सकृज्यप्त्वास्य	११	२५०	सप्तानां प्रकृतीना	९	२९५
सकृदशो निपतति	९	४७	सभान्तः साक्षिणः	८	७९
सङ्करापत्रकृत्या	११	१२५	सभाप्रपाषूपशा	९	२६४
सङ्करे जातय	१०	४०	सभां वा न प्रधेष्ट	८	१३
सङ्कीर्णयोनयो	१०	२५	समक्षदर्शनात्सा	८	७४
सङ्क्रमध्वजयष्टी	९	२८५	सममब्राह्मणे	७	८५
संग्रामेष्वनिर्वर्ति	७	८८	समवर्णासु ये	९	१५६
से चेतु पथिसं	८	२९५	समवर्णे द्विजाती	८	२६९
सजातिजानन्त	१०	४१	स महीमखिलां	९	६७
सताननुपरिक्रामे	७	१२२	समानयामकर्मा	७	१६३
स तानुवाच....	१२	२	समीक्ष्य स धृतः	७	१९
सत्त्व ज्ञानं तमो	१२	२६	समुत्सृजेद्राजमार्गे	९	२८२
सत्त्वं रजस्तम	१२	२४	समुद्रयान	८	१५७
सत्यं साक्ष्ये	८	८१	समैर्हि विषयं	९	८७
सत्यमर्थं च सप	८	४५	समोत्तमाधमै	७	८७
सत्यमुक्त्वा तु	११	१९६	सम्प्रीत्या भुज्य	८	१४६
सत्या न.भाषा	८	१६४	सम्भवांश्च वियो	१२	७७
सत्येन पूयते सा	८	८३	सम्भूय स्वानि	८	२११
सत्येन शापयेद्वि	८	११३	सम्भोगो दृश्यते	८	२००
सदावप्सु तं घटं	११	१८७	सम्यङ्निविष्टदेश	९	२५२
सदृशं तु प्रकुर्या	९	१६९	स यदि प्रतिपद्येत	८	१८३
सदृशं स्त्रीषु जाता	९	१२५	स राजा पुरुषो	७	१७
सद्भिराचरितं च	८	४६	सर्व एव विकर्म	९	२१४
सद्यः पतति	१०	९२	सर्व वा रिक्थजा	९	१५२
सन्धिश्च विग्रह	७	१६०	सर्व कण्टकपापि	९	२९२

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
सर्व कर्मदमाय	७	२०५	सांवत्सरिकमाप्ते	७	८०
सर्वतः प्रतिगृ	१०	१०२	साक्षिणः सन्ति	८	५७
सर्वतो धर्मषड्	८	३०४	साख्यभावे तु	८	२५८
सर्वभूतेषु चा	१२	९१	साक्ष्यभावे प्राणि	८	१८२
सर्वमात्मनि	१२	११८	साक्ष्येऽनुतं वदन्	८	८२
सर्वस्नानि	११	४	सा चेत्पुनः प्रदु	११	१७७
सर्ववर्णेषु तुल्या	१०	५	सा चेदक्षतयो	९	१७६
सर्वस्वं वेदवि	११	७६	सान्तानिकं	११	१
सर्वाकरेष्वधी	११	६३	सामन्ताश्चेन्मृ	८	२६३
सर्वान् रसानपो	१०	८६	सामन्तानामभा	८	२५९
सर्वासामेकपत्नी	९	१८३	सामादीनामुपा	७	१०९
सर्वेण तु प्रय	७	७१	साम्ना दानेन	७	१९८
सर्वेषां तु विशि	७	४८	सारासारञ्चमा	९	३३१
सर्वेषां तु विदि	७	२०२	सावित्रीञ्च	११	२२५
सर्वेषां धनजाता	९	११४	साहसे वर्तमानं	८	३४६
सर्वेषा.....षां	१२	८४	साहसेषु च सर्वेषु	८	७२
सर्वेषा.....षामा	१२	८५	सीताद्रव्यापहरणे	९	२९३
सर्वेषामपि तु	९	२०२	सीदद्भिः कुप्य	१०	११३
सर्वेषामप्यभावे	९	१८८	सीमां प्रति समु	८	२४५
सर्वेषामर्धिनो	८	२१०	सीमायामविषह्या	८	२६५
सर्वेषां ब्राह्मणो	१०	२	सीमाविवादधर्मश्च	८	६
सर्वो दण्डजितो	७	२२	सीमावृक्षांश्च	८	२५६
सर्वोपायैस्तथा कु	७	१७७	सुखाभ्युदयिक	१२	८८
सर्वषाः षड् यवो	८	१३४	सुबीजञ्चैव सुक्षे	१०	६९
स विद्यादस्य	७	६७	सुरां पीत्वा	११	९०
सव्याहतिप्रणव	११	२४८	सुरां वैमल	११	९३
सह वाऽपि ब्रजेद्यु	७	२०६	सुवर्णचौरः कौन	११	४९
सह सर्वाः समुत्प	७	२१४	सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः	११	९९
सहस्रं ब्राह्मणो	८	३७८	सुक्ष्मेभ्योऽपिप्रस	९	५
सहस्रं ब्राह्मणो द	८	२८३	सूतानामश्वसा	१०	४७
सहासनमभिप्रे	८	२८१	सूतो वैदेहक	१०	२६

श्लोकः	अ०	श्लो०	श्लोकः	अ०	श्लो०
सूत्रकार्पासकिण्वा	८	३२६	स्वयं वा शिश्न	११	१०४
सेनापतिबलाध्य	७	१८९	स्वयंकृतश्च कार्या	७	१६४
सेनापत्यञ्च	१२	१००	स्वयमेव तु यो	८	१८६
सोऽग्निर्भवति	७	७	स्वराष्ट्रे न्याय	७	३२
सोदर्या विभजेरं	९	२१२	स्वर्गार्थमुभयार्थ	१०	१२२
सोऽनुभूयासुखो	१२	१८	स्वावीर्याद्राज	११	३२
सौमारौद्रं तु	११	१५४	स्वदानाद्वर्णसंस	८	१७२
सोऽसहायेन	७	३०	स्वानि कर्माणि कु	८	४२
सोऽस्य कार्याणि	८	१०	स्वाम्यामात्यौपुरं	९	२९४
स्कन्धेनादाय	८	३१५	स्वां प्रसूतिं चरित्रं	९	७
स्त्रय स्पृशेदशेयः	८	३५८	स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु	९	११८
स्त्रियां तु यद्भवे	९	१९८	स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु	१२	७०
स्त्रियाप्यसम्भवे	८	७०	स्वे स्वे धर्मे निवि	७	३५
स्त्रियोऽप्येतेन	१२	६९	ह		
स्त्रीणां साक्ष्यं	८	६८			
स्त्रीपुं धर्मो	८	७	हत्वा गर्भमविज्ञा	११	८७
स्त्रीबालोन्मत्त	९	२३०	हत्वा लोकान	११	२६१
स्त्रीष्वनन्तर	१०	६	हत्वा हंसं बला	११	१३५
स्थानासमाभ्यां	११	२२४	हन्ति जातान	८	९९
स्थवराः कृमि	१२	४२	हरेत्तत्र नियुक्ता	९	१४५
स्पृष्ट्वा दत्त्वा च	११	१४८	हविष्यान्तीयम्	११	२५१
स्यन्दनाश्वैः समे	७	१९२	हस्तिनश्च तुरङ्ग	१२	४३
स्यात्साहसं त्वन्व	८	३३२	हिरण्यभूमि	७	२०८
स्वक्षेत्रे संस्कृता	९	१६६	हिस्त्रा भवन्ति	१२	५९
स्वधर्मो विजय	१०	११९	हुत्वाग्नौ विधिव	११	११९
स्वभावेनैव यद्	८	७८	हुङ्कारं ब्राह्मण	११	२०४



हमारे प्रमुख ग्रन्थ

कर्मकाण्डप्रदीपः (शुक्लयजुः शाखीय)। सन्त्यत्र परिभाषा-संस्कार-आहिकं-मिश्र- अन्येष्टिरिति पञ्चप्रकरणानि । सं. अत्राशास्त्री वारे (सचित्र)	२५०.००
याज्ञवल्क्यस्मृतिः । श्रीमित्रमिश्रविरचित 'वीरमित्रोदय' श्रीविज्ञानेश्वर कृत 'मिताक्षरा' टीकाद्वयसहिता । सम्पादक— म. म. नारायणशास्त्री खिस्ते । सम्पूर्ण	६००.००
याज्ञवल्क्यस्मृतिः । विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा' व्याख्या संवलिता । संपा. श्रीवासुदेव शास्त्री पणशीकर आचार्याध्याय	१००.००
Yājñavalkya-smṛti. With the Commentary of Vijnānēśvara Called The Mitākṣarā And Notes From the Gloss of Balambhaṭṭa Translated into English By Late Rai Bahadur Srisa Ch. Vidyarnava. Along with Text and Mitākṣarā Sanskrit Commentary. Ed. by Vasudev Laxman Panashikar. Ācārādhyāya	500.00
श्रीलक्ष्मीनारायणसंहिता । श्रीकृष्णद्वैपायनव्यासप्रणीता । सम्पा—स्वामी श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः १-४ खण्ड, (५ जिल्द में) सम्पूर्ण	३०००.००
विधानपरिजातः । श्रीमदनन्तभट्टविरचितः । सम्पादक—पण्डित ईश्वरचन्द्रशास्त्री। १-४ भाग	१०००.००
विवादरत्नाकरः । चण्डेश्वरठकुरप्रणीत । सं.—म. म. कमलकृष्णस्मृतितीर्थ	२५०.००
वीरमित्रोदयः । (An extensive treatise on Dharma Śāstra) म. म. श्रीमित्रमिश्रविरचितः । (१-१२ प्रकाश सम्पूर्ण	३५००.००
i-ii परिभाषाप्रकाशः । संस्कारप्रकाशश्च । सापिण्ड्यदीपकः । सम्पादक—म. म. पं. नित्यानन्दपन्त पर्वतीय	७००.००
iii आहिकप्रकाशः । सम्पादक— म. म. पण्डित नित्यानन्द पन्त पर्वतीय	३५०.००
iv पूजाप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	२५०.००
v लक्षणप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	३५०.००
vi राजनीतिप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	३२५.००
vii तीर्थप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	३५५.००
viii व्यवहारप्रकाशः सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	३५५.००
ix श्राद्धप्रकाशः सम्पा.—पण्डित पद्मप्रसाद उपाध्याय	२४५.००
x समयप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	२००.००
xi भक्तिप्रकाशः । सम्पा.—पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी	१७०.००
xii शुद्धिप्रकाशः । सम्पा.—पद्मप्रसाद उपाध्याय	२००.००
संस्कारगणपतिः । श्रीमद्रामकृष्णप्रणीता पारस्करगृह्यसूत्र-स्यातिविस्तृतव्याख्यानस्वरूपा । सं.— पं. दुर्गाद्वाराज शास्त्री । सम्पूर्ण १-१० खण्ड में	५००.००

Also can be had from : **Chowkhamba Sanskrit Series Office , Varanasi.**

ISBN : 81-218-0220-2 (Vol. II), 81-218-0221-0 (Set)

C. K. D. Academy

Rs. 1000/- Set